अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक १

सही स्वराज

सही स्वराज, केवल कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में सत्ता के आ जाने से नहीं आयेगा, बल्कि वह तब आयेगा, जब कि सत्ता का दुरुपयोग होने पर सभी लोग उसका प्रतिकार कर सकेंगे। दूसरे शब्दों में, जनता को इस हद तक प्रशिक्षित करने से कि वह सत्ता को अपने नियमन और नियंत्रण में रख सके - स्वराज मिलता है।

—गांधीजी

वार्षिक चन्दा ४-००
एक प्रति ०-३७

अगस्त १९६२

नयी तालीम

अनुक्रम

पाठकों से

'नयी तालीम' मासिक का अगस्त १६६२ का यह अंक काशी से प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। अब तक 'नयी तालीम' का प्रकाशन सेवाग्राम (वर्धा) से होता रहा है। लेकिन जैसा कि हमारे पाठक जानते हैं, श्री देवीप्रसाद विदेश चले गये हैं, अतः पत्रिका काशी से निकाली जा रही है।

स्थान-परिवर्तन तथा प्रकाशन की व्यवस्था करने के सिलसिले में हम जुलाई का अंक प्रकाशित नहीं कर सके, इसके लिए पाठक क्षमा करेंगे।

सम्पादकीय या व्यवस्थापकीय पत्र-व्यवहार अब से नीचे पते पर करें—

'नयी तालीम'
अ० भा० सर्व सेवा संघ
राजघाट वाराणसी-१

नयी तालीम

संपादकीय

वर्ष ११ अंक १ ● अगस्त १९६२

'नयी तालीम' परिवार के भाई बहन,

'नयी तालीम' का जुलाई-अंक आपको नहीं मिला। देवीभाई के विदेश चले जाने के कारण यह स्थिति आयी। सबको चिंता जरूर थी लेकिन उपाय नहीं सूझ रहा था। देवीभाई-जैसे व्यक्ति के छोड़े काम को निभाना आसान भी नहीं है, पर उनका छोड़ा काम छूटा रह जाय यह ग्लानि की बात होती। हम लोगों ने तय किया कि 'नयी तालीम' की धारा खंडित न होने दी जाय। 'नयी तालीम' निकलती रहेगी और हर महीने आपके पास पहुँचती रहेगी। हाँ, अब सेवाग्राम से न निकलकर वाराणसी से निकलेगी। हम प्रयत्न करेंगे कि समय से निकले, ढंग से निकले। यह सब होगा लेकिन हम जो कठिनाई महसूस कर रहे हैं वह दूसरी है। 'नयी तालीम' अगर केवल पत्रिका होती तो काम आसान होता। दो-चार आदमी मिलकर पूरा काम कर लेते।

"नयी तालीम मेरी सबसे बड़ी देन है"—बापू की इस विरासत को कौन निभाये ? नयी तालीम एक संपूर्ण जीवन-दर्शन है, मानवीय क्रांति की कला है, समाज-निर्माण का समग्र कार्यक्रम है। उसे अहिंसा का साधन बनाना है, इसीमें उसकी सार्थकता और पूर्णता है। नयी तालीम का यह भार बहुत सुखद है किंतु किन्हीं दो-चार की शक्ति के बाहर है। इसके लिये पूरे परिवार की शक्ति चाहिये—जो जहाँ हो, कोई काम करता हो, शिक्षक हो, सामान्य नागरिक हो, रचनात्मक कार्यकर्ता या शांति-सैनिक हो; कुछ न करता हो तो नये मानव का सपना ही देखता हो। इन सबका चिंतन मिले तो 'नयी तालीम' क्रांति का दूत बने। जो जहाँ है उसे वहाँ हम 'नयी तालीम' का दूत मानते हैं।

कलम और कुदाल के मेल से नयी तालीम का अभ्यासक्रम बनता है, इसलिये जिन मित्रों के हाथ में कलम है वे कुदाल लेकर कलम को जरा सजीव करें और जिनके हाथ में कुदाल ही कुदाल है वे थोड़ा कलम को भी पकड़ें। हमें दोनों चाहिये, हर तरह के विचार और अनुभव चाहिये, क्योंकि अगर समग्रता न आयी तो नयी तालीम का नयापन क्या रहेगा ? हमारी कोशिश होगी कि समग्रता आँखों से ओझल न होने पाये। इस कोशिश में हम आपमें से हरएक के सक्रिय सहयोग के प्रार्थी हैं।

आपका भाई
राममूर्ति

आचार्य कृपालानी

हमारी शिक्षा *

सामाजिक लक्ष्य

हमारे जीवन का शायद ही अन्य कोई क्षेत्र इतना उलझा हुआ होगा जितना शिक्षा का। शिक्षा से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह विद्यार्थी हो या शिक्षक, माता-पिता हो या जन-सामान्य, यहाँ तक कि सरकार भी आज शिक्षण के नाम से जो कुछ चल रहा है उससे संतुष्ट नही है। सरकारी वक्ता अकसर कहते रहते है कि हमारे युवको का शिक्षण खराब है। इसका क्या कारण है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम शिक्षण का सही अर्थ ही न समझते हो और यह हमें पता ही न हो कि शिक्षण से किन व्यक्तिगत और सामाजिक लक्ष्यो की सिद्धि हम चाहते है?

प्रत्येक समाज अपनी नयी पीढ़ी को वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। आज तक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक जितनी भी क्रांतियाँ हुई हैं वे तभी सफल हो सकी हैं जब कि नयी पीढ़ी के लिए नयी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल शिक्षण का प्रबंध हो पाया है। कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो या क्रांति हो उसमें जीवन के मूलभूत मूल्यों के परिवर्तन की बात रहती ही है। इन नये मूल्यो के आधार पर नयी समाज-व्यवस्था खडी की जाती है। शिक्षण का पहला उद्देश्य यह है कि बच्चो को जो कि भावी नागरिक हैं, वर्तमान समाज के या जिस नये समाज के निर्माण की बात सोची जाती हो उस समाज के लिये समर्थ और सुयोग्य बनाया जाय। अगर नागरिक को संघर्ष रहित और सुगम जीवन व्यतीत करना है तो उसे जिस समाज में वह रह रहा है उसकी या जिस समाज में उसे आगे रहना है उसकी मूल मान्यताओ को स्पष्ट समझ लेना चाहिये। वास्तव में शिक्षण का आरंभ जन्म के साथ ही होता है। जो शिक्षण घर में माता पिता ने, मित्रो ने और पडोसियो ने आरंभ किया है उसे ही आगे ले चलना शैक्षणिक संस्थाओ का काम है। इस स्थिति मे ही व्यक्ति और समाज के संबंध समाधानकारक होंगे और वे एक-दूसरे के सहायक और सहयोगी होंगे। आखिर, बडा-से-बडा प्रतिभाशाली व्यक्ति या क्रांतिकारी भी बहुत हद तक अपने समाज की ही देन होता है। कोई क्रांतिकारी समाज की संपूर्ण व्यवस्था को पूरा-पूरा नहीं बदल सकता। कुछ-न-कुछ पुराने समाज का अंश अविकल रूप से बचा ही रहता है। कम-से-कम इतना तो होता ही है कि जाति अथवा राष्ट्र की विलक्षण प्रतिभा, उसकी मूल प्रकृति (स्वभाव) और आचार में उसकी अभिव्यक्ति (स्वधर्म) प्राय ज्यों की त्यो बनी रहती है। इसलिये हर सुधारक या क्रांतिकारी उसी समाज के परिवर्तन से आरंभ करता है जिसमें उसका पालन-पोषण हुआ रहता है, क्योंकि वह उस समाज को भलीभाँति समझता है। इसके अलावा वह समाज का चाहे जितना विरोध करे, फिर भी उसके मन में अपने समाज के प्रति कुछ अनुकूल भावना रहती ही है। चरित्र क्या है? बच्चे का सामाजिक विकास इस तरह हो कि वह अपने वातावरण के साथ एकरूप होकर सहज भाव से रह सके, इसीको चरित्र का निर्माण कहते है। चरित्र उन बुनियादी मूल्यो के अनुरूप बनता है जिन्हें समाज मान्य करता है और अपना बना लेता है।

नागरिक को पुराने या नये समाज की व्यवस्था के अंतर्गत अपना काम और पेशा खोज लेना होता है। सामाजिक व्यवस्था में उसे सम्मानपूर्ण जीविका का साधन भी मिलना चहिये। अच्छे और सफल शिक्षण का यह भी एक काम है कि वह प्रत्येक नागरिक में कोई धंधा अपनाने की—जिसे वह अपनी जीविका के लिये चुने—क्षमता पैदा करे, अन्यथा नागरिक समाज के लिये भार बन जाता है। ऐसी स्थिति में वह समाज को अपनी तरफ से कुछ देता नही लेकिन अपने लिये पोषण तो लेता ही है, और इस प्रकार वह या तो समाज-... तत्त्व बन जाता है या दूसरो के मत्थे जीता है।

* 'गांधियन थॉट' अंग्रेजी पुस्तक) से साभार।

ये दो क्रियायें—एक, बालक को समाज के जीवन के योग्य बनाना और दूसरा, उसे अपने जीवन में कोई न कोई समाजोपयोगी कला, उद्योग, धंधा या काम करने लायक शिक्षण देना-ठीक प्रकार से और दक्षतापूर्वक चले तभी समाज अपना स्वास्थ्य और शक्ति बनाये रख सकेगा। स्वास्थ्य और शक्ति का बना रहना प्रगति और उन्नति के लिये आवश्यक है। स्वस्थ समाज में शिक्षण का तीसरा काम विद्या का विकास है जो शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच सीखने सिखाने की प्रक्रिया में अपने-आप हो जाता है। आवश्यकतानुसार ज्ञान के अधिक विकास की दृष्टि से विशिष्ट संस्थायें भी खड़ी की जा सकती है, परंतु यथासंभव ये संस्थायें शैक्षणिक संस्थाओं के साथ ही जुड़ी होनी चाहियें।

हमने ऊपर कहा है कि जब तक नयी समाज-व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से युवकों के शिक्षण को बदला नहीं जाता तब तक कोई क्रांति परिपूर्ण नहीं होती। इतिहास इसका साक्षी है। भारत में शिक्षा की जो पुरानी ब्राह्मण-पद्धति थी वह बौद्ध-काल में बदल गयी। इस्लाम के प्रवेश के साथ-साथ नयी आवश्यकताओं और माँगों के अनुसार शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन हुए। अंग्रेजी के समय में तो शिक्षा-पद्धति में जोरों से मौलिक परिवर्तन किये गये। यूरोप में पहले ग्रीक और यूनानी शिक्षा-पद्धति चलती थी। ईसाई-धर्म की स्थापना के बाद वह पद्धति बदल गयी। अर्वाचीन युग के प्रारंभ में, ज्ञान और कला की नयी जाग्रति के बाद पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति में फिर से परिवर्तन किये गये और फिर औद्योगिक क्रांति के पश्चात् समाज की नयी आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षण की नयी पद्धति अपनाना अनिवार्य हुआ। पहले प्राचीन भाषाओं और तत्कालीन विद्याओं के अध्ययन पर जो बल दिया जाता था, अब उसका स्थान विज्ञान और तंत्रशास्त्र (टेक्नालॉजी) ने ले लिया है। आज स्थिति यह है कि जो विद्वान् विज्ञान के मूलभूत सिद्धांतों को नहीं जानता है उसकी गणना शिक्षित व्यक्तियों में शायद ही की जायगी, भले ही वह अन्य विद्याओं का ज्ञाता हो। समाज-में परिवर्तन होने के साथ-साथ शिक्षण के केवल उद्देश्यों में ही परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि उसकी पद्धति में भी परिवर्तन हो गया है। आज के युग में बच्चों के शिक्षण की जो पद्धति अपनायी जा रही है उसमें बच्चे के मनोविज्ञान का ध्यान रखा जा रहा है और वह अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक होती जा रही है। साम्यवादियों को शिक्षण के उद्देश्य और पद्धति दोनों में ऐसा परिवर्तन करना पड़ा जो उनके नये समाज के लिये अनुकूल और सहायक हो।

हमारे देश के पुनरुत्थान के दिनों में इस विषय पर विभिन्न पहलुओं से विचार और प्रयत्न चले हैं। उत्तर-भारत में एक धार्मिक उफान हुआ जिसके कारण हिन्दुओं के अंदर आर्य-समाज का संगठन हुआ। उसने हिन्दू-समाज की जीवन-पद्धति में परिवर्तन करना चाहा और उसके लिये शिक्षण-पद्धति में परिवर्तन किया। इस पद्धति में गुरुकुलों का आदर्श रखा गया जहाँ शहरों के व्यस्त और निबिड जीवन से दूर शांत तपोवनों के वातावरण में ब्रह्मचारी पलते थे, गुरु और शिष्य एक साथ रहते थे और एक-दूसरे के अत्यंत निकट संपर्क में आते थे।

हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात बंग-भंग से हुआ। उस आंदोलन को शिक्षण-समस्या में गहरी रुचि थी, क्योंकि उसे ऐसी शिक्षा चाहिये थी जो उस सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप हो जिसे राष्ट्रवादी स्थापित करना चाहते थे। इस शिक्षण ने सबसे अधिक जोर देश प्रेम पर तथा विज्ञान और तंत्रशास्त्र पर दिया। सन् १९०८ में सूरत-कांग्रेस में जिन प्रश्नों को लेकर मत-भेद पैदा हुआ उनमें एक शिक्षा का भी था। उदार-मतवादी (नरम दल के, मॉडरेट) लोग अंग्रेजों द्वारा चलायी हुई शिक्षा-पद्धति को बदलने के पक्ष में नहीं थे। उनकी दृष्टि में वह शिक्षण भारत के लिये बहुत उपयुक्त था। राष्ट्रवादी या गरम दल के लोग (एक्स्ट्रीमिस्ट) उसमें परिवर्तन चाहते थे। उनकी दृष्टि में वह पद्धति दोषपूर्ण और अराष्ट्रीय थी। स्वतंत्र और प्रगतिशील समाज के शिक्षण के संबंध में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर के अपने विचार थे। वह मानते थे कि बच्चों को स्वतंत्र और आनंदपूर्ण जीवन में पलने देना चाहिये। उन्होंने

अपने विचारों के अनुकूल एक शिक्षा-संस्थान की स्थापना शांति निकेतन में की लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वह भी भवल्नि सांचे में ढाल दिया गया यहां तक कि उसका आदर्श वाक्य 'शान्तम् शिवम् अद्वैतम्' भी खत्म कर दिया गया।

'होमरूल मूवमण्ट' ने फिर से स्वतंत्र भारत के लिये राष्ट्रीय शिक्षण के प्रश्न को उठाया। 'सविनय अवज्ञा' आंदोलन के समय फिर एक बार राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आया। विदेशी शासन के विरुद्ध जो कार्यक्रम चला उसमें शिक्षण-संस्थाओं के बहिष्कार का एक प्रमुख स्थान था क्योंकि उनके ही द्वारा विदेशी सरकार ने युवकों के दिमाग पर अपना सिक्का जमा रखा था। जल्दी-जल्दी राष्ट्रीय शालाओं और महाविद्यालयों की स्थापना की गयी ताकि उन सरकारी और सरकार की मदद से चलनेवाले स्कूल कॉलेजों से निकलनेवाले विद्यार्थियों को स्थान दिया जा सके। इन नयी शालाओं में शिक्षण मातृभाषा में दिया जाने लगा। इनमें उग्र देशभक्ति, राष्ट्र-सेवा और स्वतंत्रता का वातावरण रखा गया।

जनता की प्रतिभा और शिक्षण

विदेशी शासन द्वारा स्थापित शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन क्यों आवश्यक समझा गया ?

मोटे तौर पर परिवतन इसलिये आवश्यक था कि वह शिक्षा-व्यवस्था लक्ष्य और पद्धति दोनों दृष्टियों से दोषयुक्त थी। वह भारतीय मस्तिष्क की उपज नहीं थी। उसका भारतीय समाज और भारतीय मानस के साथ मेल नहीं बैठता था। वह बाहर से थोपी हुई चीज थी। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसकी रूपरेखा तैयार की गयी था उसमें और भारत के ध्येयों में कोई सामंजस्य नहीं था। उसका उद्देश्य यही था कि विदेशी शासन को बनाये रखने के लिये निम्न स्तर का सहायक नौकर-वर्ग तैयार हो। भारत जैसे विशाल राष्ट्र के शासन में लगने वाले छोटे-छोटे कामों के लिये सहायकों की सेना इंग्लैंड से लाना संभव नहीं था। वे यही कर सकते थे कि जो ऊँचे पद थे और जो अत्यंत प्रमुख जिम्मेदारियाँ थीं उनके लिये मुट्ठीभर अंग्रेजों को अपने देश से लाते। वे यहां की जनता के साथ घुल मिलकर रहना नहीं चाहते थे क्योंकि अगर वे ऐसा करते तो उनकी जाति चली जाती, शासक की शान चली जाती। इसलिये उन्होंने यहाँ की भाषा न सीखकर काम चलाने के लिये अपने सहायकों को ही अपनी भाषा सिखायी, साथ-साथ हीन महत्त्वाकांक्षा और जी-हुजूरी की भी घूंट पिलायी। उन्होंने शिक्षण के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को दाखिल करने की मूर्खता तो की ही, इसके अलावा अत्यंत सस्ते कर्मचारियों को तैयार करने का उनका काम तो निश्चित ही अत्यंत नीच था। उस उद्देश्यहीन शिक्षण से जो भी थोड़ा-बहुत प्राप्त किया जा सकता था वह भी इस विदेशी भाषा के माध्यम के कारण कष्टसाध्य हो गया। विद्यार्थियों को विदेशी भाषा सीखने में बहुत समय लगता था। इतने पर भी वे केवल शब्दों से ही परिचित हो पाते थे, उन शब्दों के पीछे जो वास्तविकता है या उनसे जिस वस्तु का बोध है, उससे वे अछूते ही रह जाते थे। उनके हाथ ऐसा सिक्का लगता था जो बाजार में भुनाया नहीं जा सकता था। अक्सर तोते की तरह विदेशी भाषा के उन पाठों को वे रट रटकर याद कर लेते थे। अपने आसपास के वातावरण से परिचित होने से पहले ही उनको ऐसे विषयों, विचारों और भावनाओं का शाब्दिक परिचय कर लेना पड़ता था जो उनसे बिलकुल संबंध नहीं रखते थे और जो अंग्रेज बच्चों के लिये ही अधिक स्वाभाविक होते थे। जैसे भारत के प्राचीन और नवीन भागों को जानने से भी पहले विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे इंग्लैंड के जिलों के नाम याद करें। परीक्षाओं के सिवा इन सबका और कोई प्रयोजन उनके जीवन में नहीं होता था। उनके पाठों में आनेवाली बातों घटनाओं और प्रसंगों का उनके जीवन के साथ कोई संबंध नहीं रहता था उन पाठों का विद्यार्थियों के पारिवारिक या सामाजिक परिस्थितियों के साथ कोई सामंजस्य नहीं होता था।

इस शिक्षा का यदि कोई ऊँचा उद्देश्य था तो उसे लॉर्ड मेकाले ने बताया। वह शिक्षित भारतीयों को ऐंग्लो सैक्सन बनाना चाहता था—इस अंतर के साथ कि चमड़े का रंग और खून भिन्न हो। उसकी दृष्टि में पूर्व का एक पूरा पुस्तकालय भी पश्चिम के ज्ञान से भरी

एक महामारी का मुकाबला नहीं कर सकता था। सारे शिक्षित हिन्दुस्तानियों को नकली और निस्तेज अंग्रेज बना देना साम्राज्यवादियों के लिये भले ही ऊँचा लक्ष्य रहा हो लेकिन उसका पूरा होना आसान नहीं था। यह बहुत कुछ पीटर महान् और उसके बाद के जार बादशाहों के प्रयत्न के समान था जो रूस के पाश्चात्यीकरण के स्वप्न देखते थे। लेकिन जिनकी अपनी संस्कृति इतनी भव्य और ऊँची हो, भले हा वह कुछ अवरुद्ध-सी हो गयी हो, उन्हें अंग्रेज नहीं बनाया जा सकता था हाँ, उनकी नकल में 'भूरे बंदर' बनाये जा सकते थे।

नतीजा यह हुआ कि उन लोगों ने जो कुछ ज्ञान दिया वह केवल बौद्धिक और किताबी था जो तोते की रट की तरह याद कर लिया जाता था। मजे की बात यह थी कि जिस अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की नकल यहाँ की गयी वह खुद इंग्लैंड में पुरानी पड़ती जा रही थी।

इसके अलावा उन लोगों ने जो पद्धति यहाँ चलायी उसने ऐसा दिमाग पैदा किया जो विवेकशून्य होकर कही हुई बात मान ले जो वस्तुनिष्ठ न हो और जिसमें छान-बीन करके परिणामों पर पहुँचने की क्षमता न हो। इसलिये वह शिक्षार्थी के पूरे व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकी। बढ़ते हुए बच्चे को वह कोई स्वस्थ प्रवृत्ति भी नहीं दे सकी। इस शिक्षा में बच्चे की भावनाओं और उनके संवेगों का विकास नहीं हो पाता था। भारतीय बच्चे को अपरिचित 'ककू' की पुकार में या विदेशी चातक 'स्काइलार्क' के गीत में, जिसे उसने जीवन भर कभी देखा नहीं, क्या आनंद आ सकता था? पाश्चात्य संगीत में वह कैसे रस ले सकता था? पाश्चात्य कला से जिसे वह गंदी और सस्ती तस्वीरों में ही देखता था कैसे अपनी सौंदर्य भावना को संतुष्ट कर सकता था? उसके लिये भारतीय कला तो जैसे किताबों के अंदर बंद थी। इतना ही नहीं उसको यहाँ तक सिखाया जाता था कि भारतीय कला बर्बरतापूर्ण और विसंगत है उसमें वास्तविकता और प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं है। ऐसा नहीं था कि उनके विदेशी शिक्षक ही यह सब पढ़ाते थे, बल्कि विदेशी शिक्षा प्राप्त देशी शिक्षकों ने भी यही पढ़ाया। इसका परिणाम कुछ अच्छा नहीं हुआ। कहा जाता था कि भारत का राष्ट्रीय कांग्रेस का जो पहला अध्यक्ष था वह शत प्रतिशत अंग्रेज था, यहाँ तक कि उसका सिगरेट पकड़ने का ढंग भी अंग्रेजी था। शिक्षित भारतीय विदेशी भाषा में पढ़ता था और विदेशी भाषा में ही सोचता था। उसकी बड़ी-से-बड़ी ख्वाहिश यह रहती थी कि वह अंग्रेजों में ही चले, बोले, खाये, हँसे, अपने कंधे को झटके, यानी जो कुछ करे अंग्रेजी ढंग से करे। सपना भी वह अंग्रेजी में ही देखना चाहता था। मैं जानता हूँ कि कुछ शिक्षित भारतीय अपनी यह ऊँची आकांक्षा पूरी कर सके थे।

यह तो रहा शिक्षा के उद्देश्य के बारे में। जहाँ तक पद्धति का प्रश्न है, वह भी न तो शास्त्रीय थी न बाल-मनोविज्ञान के अनुकूल। उसमें सर्जनात्मक क्रियाशीलता का अभाव था। वह सारे अभिक्रम और क्रियात्मक जीवनीशक्ति को ही हर लेती थी। उसने जीवन के समृद्ध आनन्द को ही खतम कर दिया जो स्कूल और कॉलेज में पढ़नेवाले यूरोपीय बालकों में भरपूर पाया जाता है।

यह शिक्षण जो स्वतंत्रता से पहले लक्ष्य और पद्धति दोनों दृष्टियों से अत्यंत दोषपूर्ण और राष्ट्रीयता के विरुद्ध माना जाता था, अब स्वतंत्र भारत में आज एक उत्तम राष्ट्रीय शिक्षण मानकर प्रतिष्ठित और प्रचलित किया जा रहा है। लोग समझते हैं कि गोरे हाथों से काले हाथों में सत्ता के हस्तांतरण के जादू के चमत्कार से ऐसा हुआ होगा। आज वर्तमान परिस्थिति से सभी लोगों के दिल में जो असंतोष है उसीसे स्पष्ट है कि यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात हुई है। सन १९५२ में सेकेण्डरी एजुकेशन कमेटी ने शिक्षा का जो विवरण दिया है उससे जाहिर है कि स्वतंत्रता से पहले जो शिक्षण पद्धति थी उसमें कुछ भी रद्दोबदल नहीं किया गया है। उस कमेटी का कहना है: एक तो हमारा स्कूली शिक्षण प्रत्यक्ष जीवन से बिलकुल अलग है दूसरे वह अत्यंत संकुचित और एकांगी है और विद्यार्थी के समग्र व्यक्तित्व का विकास करने में असमर्थ है तीसरे, अभी तक अंग्रेजी भाषा पढ़ाई का माध्यम भी थी और अध्ययन का अनिवार्य विषय भी, इसलिये जो विद्यार्थी उस भाषा में भी कुछ

[शेष पृष्ठ १८ पर]

बलिया गाँव में समग्र नयी तालीम के अनुभव

धीरेन्द्र मजूमदार

ग्रामभारती का श्रीगणेश

बलिया में ग्रामभारती की शुरुआत सात लड़कों से हुई थी। क्रमशः वह संख्या १२ तक पहुँचा। अपनी कुटिया के सामने थोड़ी-सी जमीन खोदकर इसका 'श्रीगणेश' हुआ था। उस जमीन पर खेती तथा बच्चों के घर के काम शिक्षा के माध्यम रहे। इस प्रक्रिया से, तालीम की दृष्टि से काफी प्रगति होने लगी। फिर भी बच्चों को पूरा समय शिक्षक के साथ रहने का अवसर मिले, इसका कोई छोर नहीं निकल रहा था। हम लोग विभिन्न कार्यों के समवाय में विषयों की जानकारी कैसे दी जाय, इसके प्रयोग में लगे।

एक बात विशेष रूप से देखने को मिली—वह यह कि जिन लोगों के बच्चे स्कूल नहीं जाते थे और घर के काम में भी बहुत फँसे नहीं थे वे ही 'ग्रामभारती' में तालीम के लिए आते थे। जो दो-चार लड़के स्कूल छोड़कर आये थे वे इसलिए आये थे कि यहाँ पढ़ाई अच्छी थी। उनके माता-पिता अच्छी खेती सिखाने के लिए नहीं भेजते थे। दूसरी चीज यह देखने को मिली कि हमारी कोशिश करने के बावजूद बाबू लोगों के बच्चे इसमें नहीं आते थे। वे इसे 'मजदूर-स्कूल' ही कहते थे। फिर भी 'ग्रामभारती' के द्वारा दोनों वर्गों के लोग एक साथ आयें, इसकी कोशिश जारी रही।

इस प्रकार 'ग्रामभारती' का काम अपने ढंग से रबी की फसल तक चलता रहा। रबी की फसल की कटाई के समय पूरे ग्रामभारती के लिए एक अच्छा कार्यक्रम मिल गया।

यद्यपि पहले साल परस्पर अविश्वास और कटुता के कारण सामूहिक खेती आखिर में बरबाद हो चुकी थी फिर भी उस खेती के चलते तथा आम शिक्षण और प्रचार के फलस्वरूप गाँव में संघर्ष के प्रसंग कम पैदा हुए। यह बात सहकारिता का वातावरण बनाने के लिए निस्संदेह अनुकूल रही है लेकिन बच्चों में मिलकर काम करने के फलस्वरूप परस्पर सहकारिता के भी दर्शन होने लगे। सब अपने-अपने घर से सामग्री लाकर 'सह-भोज' का अनुष्ठान करते थे। फसल-कटाई में सहकार-वृत्ति निश्चित रूप से प्रकट हुई, यद्यपि विजयभाई ने उनसे कह दिया था कि वे अलग-अलग कटाई कर सकते हैं। फिर भी उन्होंने यही तय किया कि वे सामूहिक रूप से कटाई करेंगे और जितनी मजदूरी मिली उसमें से काफी हिस्सा सामूहिक रूप से रख दिया ताकि वे एक साथ खर्च कर सकें।

स्कूल भैंस की पीठ पर

फसल-कटाई समाप्त होने पर 'ग्रामभारती' की प्रगति के लिए एक नया अवसर हाथ में आया। खेत खाली हो जाने पर सबके पशु एक तरफ चरने जा सकें, इसका अवसर मिला। मैं हमेशा ग्रामीण जनता से कहा करता हूँ कि भाई, इस विज्ञान के युग में हरएक को ज्ञान प्राप्त करना ही होगा इसके लिए यह आवश्यक है कि सब लोग स्कूल जायें! लेकिन अगर सब लोग स्कूल चले जायेंगे तो घर-गृहस्थी का काम नहीं चल सकेगा। इसलिए यह जरूरी है कि गाँवभर के सारे घर-गृहस्थी के काम भी स्कूल के काम के रूप में परिणित किये जायें। उनसे विनोद में यह कहता हूँ कि अगर भैंस की पीठ पर बैठनेवाले बच्चों को स्कूल भेजना संभव नहीं है तो स्कूल को ही भैंस की पीठ पर ले जाना होगा। फसल कट चुकने के बाद इस विनोद को साकार करने का अवसर मिला। 'ग्रामभारती' के बच्चों के घर के सब पशुओं को एक तरफ चराने की योजना बनी और शिक्षक भी उनके साथ जाने लगे। ऐसे चराने के स्थान पर जो वर्ग लिया जाता था उसका नाम 'बहियार-वर्ग' रखा गया। बहियार का मतलब है—खेती का मैदान। आस-पास के लोगों को यह एक दिलचस्प चीज लगी। उन्होंने कभी इस प्रकार की चीजों का स्वप्न भी नहीं देखा होगा।

इस 'बहियार-वर्ग' से आकर्षित होकर चारों तरफ से लोग अपने बच्चों को 'ग्रामभारती' में शामिल करने लगे। और थोडे ही दिनों में बच्चों की संख्या १२ से बढकर ४५ तक हो गयी। अधिक संख्या में बच्चे होने के कारण तीन शिक्षक अलग-अलग तीन बहियार में जाने लगे। इस 'बहियार-वर्ग' के अलावा भी भैंस की पीठ पर स्कूल ले जाने की एक प्रक्रिया निकाली गयी! जो बच्चे अलग-अलग भैंस की पीठ पर बैठकर चराने जाते थे और रात को 'ग्रामभारती' में आकर पढ़ते थे उनकी किताबों में रस्सी बाँधकर उनके गले में लटका दिया जाता था और वे मस्ती से भैंस की पीठ पर बैठकर पढा करते थे। इस प्रकार पूरे क्षेत्र में एक अजीब वातावरण फैल गया। जहाँ पहले पशु चरानेवाले बच्चे आपस में लडने, गाली देने तथा दूसरे की सम्पत्ति बरबाद करने के काम में लगे रहते थे वहाँ अब वे पशु चराते समय पढाई, अच्छे-अच्छे गीत गाने तथा रामायण का उच्चारण करने लगे। इससे 'ग्रामभारती' के प्रति क्षेत्र-भर के लोगों की दिलचस्पी बढ़ी।

लेकिन बच्चों की संख्या बढी, वह इसलिए नहीं कि लोग 'ग्रामभारती' के विचार को समझ रहे थे बल्कि इसलिए कि हम लोगों के नये तरीकों को देखकर उनके दिमाग में अजीब किस्म की अभिरुचि की प्रतिक्रिया होती थी। अत. थोडे दिन में छात्रों की संख्या ४५ से घटकर १५-१६ हो गयी, लेकिन इस दिलचस्पी के कारण हम लोगों को व्यापक रूप से विचार-प्रचार का प्रसंग मिल गया।

'मजदूर-स्कूल'

यह सब हुआ लेकिन बाबू-वर्ग के दिमाग से 'मजदूर-स्कूल' की भावना नहीं मिटी। जो लोग 'ग्रामभारती' का प्रचार करते थे और मजदूरों के बच्चों को शामिल कराने की कोशिश भी करते थे, वे भी अपने बच्चों को वहाँ नहीं भेजते थे, यद्यपि वे यह कहते थे कि ऐसी पढ़ाई कहीं नहीं होती है, लेकिन सोचते थे कि मजदूरों के साथ अपने बच्चों को कैसे बिठायें। इसका कारण यह है कि यह क्षेत्र घोर सामन्तवादी मानस से भरा हुआ है।

बाबू लोगों के बच्चों को न भेजने का एक दूसरा भी कारण है—वह यह कि वे मानते हैं कि शिक्षित व्यक्ति को नौकरी करनी है, और ग्रामभारती में नौकरी के लिए कोई सर्टिफिकेट उपलब्ध नहीं है। यह समस्या पिछले २५ साल से 'नयी तालीम जगत्' के सामने निरन्तर खडी है। यह ऐसा प्रश्न है जिस पर नयी तालीम जगत् के समस्त कार्यकर्ताओं को सोचने की जरूरत है। तालीम का लक्ष्य नौकरी है, इस मान्यता का निराकरण क्या है? और जब तक इसका निराकरण नहीं होता है तब तक नयी तालीम का स्वरूप क्या हो, जिससे वर्तमान मान्यता के बावजूद नयी तालीम प्रक्रियाओं के लिए लोक-सम्मति प्राप्त हो? इस दिशा में सोचने पर मुझको ऐसा लगा कि नयी तालीम की प्रक्रिया अलग से बच्चों को लेकर नहीं हो सकती। अगर पूरे समाज को लेकर नयी तालीम की पद्धति चलेगी तो समाज की इकाई-परिवार ही नयी तालीम की इकाई हो सकती है। इसी विचार के आधार पर शिक्षा-पद्धति की रूपरेखा तैयार हो सकती है। उसीकी टेक्नीक निकालना नयी तालीम के कार्यकर्ताओं के लिए बुनियादी कार्यक्रम है।

जनता केवल नौकरी चाहती है, शिक्षा नहीं

किसीको शिक्षा दी नहीं जाती है। शिक्षा की चाह होने पर उसकी पूर्ति ही वास्तविक तालीम है। हम जब यह सोचते हैं कि हमें नयी तालीम का काम चलाना है और उसकी पद्धति यह होगी तो निस्सन्देह हमारे दिमाग में अपनी तरफ से तालीम देने का विचार है, ऐसा मानना पडेगा। अतएव नयी तालीम के लिए आवश्यक है कि वह खोज करे कि देश की जनता चाहती क्या है। निस्सन्देह आज की जनता की उत्कट माँग बच्चों की तालीम है। लेकिन उसका कारण यह नहीं है कि देश का जन-समुदाय यह चाहता है कि बच्चों का सांस्कृतिक विकास हो और उसके माध्यम से देश सुसंस्कृत हो। बल्कि लोग मानते हैं कि आज अपने आर्थिक प्रश्न हल करने के लिए नौकरी चाहिए और नौकरी के लिए शिक्षा चाहिए। इसका अर्थ यह है कि नयी तालीम का जो लक्ष्य है वह लक्ष्य जनता का नहीं है। अत. केवल बच्चों की तालीम आज की परिस्थिति में नयी तालीम नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह है कि जनता चाहती क्या है। अभी ऊपर कहा है कि वह आर्थिक कारणों से बच्चों को पढ़ाना चाहती है अर्थात् उनकी चाह आर्थिक समृद्धि की प्राप्ति है। जब तक यह साबित नहीं होगा कि हमारी तालीम की प्रक्रिया इस लक्ष्य की पूर्ति का माध्यम है, तब तक उसके लिए लोक-सम्मति प्राप्त नहीं हो सकेगी। यही कारण है कि मैं आजकल कहता हूँ कि गाँव के जितने कार्यक्रम हैं उन सारे कार्यक्रमों की तरक्की ही नयी तालीम है और चूँकि वे कार्यक्रम पूरे परिवार के हैं इसलिए पूरे परिवार ही 'विद्यार्थी' हो सकते हैं, न कि अलग-अलग बच्चे।

गाँव के बाबू लोग उपर्युक्त कारणों से अपने बच्चों को तो भेजते नहीं थे, फिर भी 'ग्रामभारती' की प्रगति को देखकर उनमें काफी संतोष था। और दूसरे साल खेती के लिए उन्होंने २ बीघा जमीन बच्चों के लिए अलग कर दी। बच्चे मिलकर उत्साह से उसमें खेती करने लगे। इससे कृषि विज्ञान तथा देश के भिन्न भिन्न आर्थिक प्रश्न सुलझाने की चर्चा के लिए भिन्न भिन्न प्रसंग उपस्थित होने लगे और बच्चों का बौद्धिक स्तर काफी ऊँचा उठा। लेकिन बच्चों की इस दिलचस्पी के साथ मेहनत करने से दूसरी समस्या खड़ी हो गयी। वह यह कि उनके माता पिता के मन में लालच पैदा होने लगी। जो बच्चे पहले घर का काम नहीं करते थे व ग्रामभारती में विजयभाई और दूसरे लोगों के साथ जब मेहनत करने लगे और उसके फलस्वरूप अपने हिस्से की प्याज, पाट आदि सामग्री घर ले जाने लगे तब उन्होंने समझा, अगर ये बच्चे मेहनत करके पैदा कर सकते हैं तो ग्राम भारती में क्यों मेहनत करें, घर के काम में क्यों न करें। यह सोचना धीरे धीरे बढ़ने लगा और किसी न किसी बहाने वे अपने बच्चों के लिए शाला से छुट्टी लेने लगे। यह छुट्टी इतनी अधिक होने लगी कि बाद को विजय-भाई के लिए दो बीघे की खेती भी सँभालना कठिन हो गया।

हम जब बच्चों के पालकों को समझाते थे तो वे विचार समझ जाते थे लेकिन कुछ दिन के बाद फिर उसी पुराने ढर्रे पर चले जाते थे। काफी दिन तक इस प्रकार से समझा-समझाकर काम चला और हम लोग किसी तरह भदई की फसल सँभाल पाये। फसल काटने के बाद हम लोग इस प्रश्न पर फिर से विचार करने लगे। हमने देखा कि बच्चों को भी घर के कामों में ग्रामभारती की खेती की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी है, यद्यपि भदई की फसल में उनका हिस्सा काफी संतोषजनक था। उनका हिस्सा इतना अधिक था कि वह गाँवभर की चर्चा का विषय रहा। जो कोई भी मुझसे मिलता था यही कहता था 'आपने तो बहुत बड़ी बात कर दी'! पढ़ाई के साथ-साथ इतनी कमाई हो जाय तो कहना ही क्या?

काम करना है तो घर का काम अच्छा

यह सब हुआ लेकिन न बाबू लोगों ने अपने बच्चे भेजे और न ग्रामभारती के बच्चों की हाजिरी के रवैये में कोई परिवर्तन हुआ। घूम फिरकर पालक और बच्चे दोनों इसी बात पर आ जाते थे कि घर का काम ही करना है। हम लोगों ने सोचा कि ग्रामभारती में प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी के रूप में दो विभाग रखे जायँ। प्रथम विभाग में वे बच्चे रहें जो २४ घण्टे 'गुरुकुल' में ही रहें, सिर्फ खाना खाने के लिए घर जायँ। अर्थात् हमने 'ग्रामभारती' के साथ एक 'सूखा छात्रावास' (ड्राइ होस्टल) का भी सिलसिला शुरू किया। हमने सब पालकों से कहा कि जिन बच्चों को वे घर के काम से खाली करके 'गुरु-गृह' में चौबीस घंटे रख सकेंगे वे प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी होंगे, वे ग्राम भारती की भूमि पर खेती करके मुख्यतः खेती का विज्ञान सीखेंगे और साथ ही साथ प्रातःकाल और रात्रिकाल में गणित और भाषा आदि भी पढ़ेंगे। द्वितीय श्रेणी के बच्चे वे होंगे जो केवल प्रातः और रात्रिकाल में पढ़ने आयेंगे और बाकी समय में घर के काम करेंगे। हमने सोचा कि इतने दिन के सांस्कृतिक विकास से अब बच्चों की स्थिति ऐसी हो गयी है, जब घर के काम को शिक्षा के माध्यम के रूप में पहले से अधिक व्यवस्थित कर सकेंगे। पालकों ने २-३ दिन तक विचार किया। वे मानते थे कि अगर पूरा समय विजयभाई के साथ बच्चे रहें, उनके साथ काम करें और पढ़ें तो बच्चों में उत्पादन-शक्ति और सांस्कृतिक विकास दोनों में काफी वृद्धि होगी। लेकिन परम्परागत स्वार्थ उनके इस विचार को भी दबा देता रहा। आखिर में १२ में से ८ बच्चों के पालकों ने कह दिया कि वे अपने बच्चों को प्रथम श्रेणी में ही रखना

चाहते हैं। और धीरे धीरे ११ बच्चे उसमें शामिल हो गये। जो एक बच्चा शामिल नहीं हुआ वह २ भाई था, उनके पिता ने छोटे बच्चे का 'ग्रामभारती' में शामिल करके बड़े बच्चे को घर के काम में लगा लिया। इससे स्पष्ट है कि लोग निश्चित रूप से 'ग्रामभारती' की प्रक्रिया का महत्व समझने लगे थे।

'सांस्कृतिक विकास' से निकली समस्याएँ

बच्चों के पूरे समय के लिए छात्रावास में आ जाने पर उनके जीवन पर प्रभाव डालने का मौका अधिक मिलने लगा और उनका सांस्कृतिक विकास तेजी से आगे बढ़ने लगा। खेती के काम भी सुव्यवस्थित होने लगे। लेकिन इसमें से दो-एक ऐसी समस्यायें खड़ी हुईं जिन पर हर-एक नयी तालीम के सेवक को विचार करने की आवश्यकता है। जब बच्चे घर के काम में लगे रहते थे उस समय व जितना आराम चाहते थे उससे अधिक आराम यहाँ चाहने लगे। यह सही है कि ग्रामभारती में जो मेहनत करते थे उसका फल उन्हीको मिलता था और यह प्रत्यक्ष रूप में था जब कि घर के काम का कोई नतीजा उन्हें दिखाई नहीं देता था। फिर भी हजारों वर्षों की व्यक्तिवादी, सम्पत्तिवादी मनोवृत्ति के कारण ग्राम भारती के काम में घर के काम-जैसी अभिरुचि पैदा न हो सकी। हम भी मानते हैं कि दैनिक कार्यक्रम म हरएक को आराम चाहिए इसलिए इस समस्या पर हमने अधिक ध्यान नहीं दिया और उनके लिए उतन आराम की व्यवस्था कर दी।

लेकिन दूसरी समस्या अधिक चिंता की हो गयी! वह यह थी कि हमारे साथ रहने के कारण उनमें सफाई की आदत, सुव्यवस्थित ढंग से रहने का अभ्यास तथा सामाजिक शिष्टाचार के विकास के कारण उनका जीवन स्तर घरवालों के जीवन-स्तर से काफी ऊँचा हो गया। और धीरे धीरे कुछ लड़कों का ऐसा भी मानस बनने लगा जिससे वे घर के दूसरे लोगों से घृणा करने लगे। मैंने सुना था कि किसी कालेज के छात्रावास के एक लड़के से उसके पिता मिलने गये थे तो उस लड़के ने अपने साथियों को बताया था कि घर का नौकर उससे मिलने आया था। मैं मानता था कि शहर के आडम्बरपूर्ण जीवन-क्रम के कारण लड़कों में ऐसी मनोवृत्ति बनती है लेकिन गाँव में किसान-जैसे ही ६ ७ घण्टे खेत में काम करनेवाले तथा अपने घर की झोपड़ी जैसे ही स्थान पर रहनेवाले बच्चों के मन में भी जब ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है तब पूरी शिक्षा पद्धति के बारे में ही विचार करने की आवश्यकता हो जाती है। विचार कर किसी निश्चित नतीजे पर पहुँचना कोई आसान काम नहीं है। हम चाहे जितना खेती-बारी आदि उत्पादक श्रम करें और चाहे जितनी टूटी झोपड़ी में रहें हमारा सांस्कृतिक स्तर अवश्य ही कुछ ऊँचा रहेगा और हमारे सम्पर्क में तालीम पाये हुए बच्चों का स्तर भी ऊँचा ही हो जायगा। फिर जब ये बच्चे घर के लोगों के मैले और अव्यवस्थित जीवन को देखेंगे तो स्वभावतः अपने को कुछ 'अलग' समझने लगेंगे। हम चाहे कोई भी शिक्षा-पद्धति अपनायें, शिक्षित बच्चे निस्सन्देह 'विकसित संस्कृति' के होंगे और उनका मेल घर के दूसरे लोगों से नहीं बैठेगा। जब स्थिति ऐसी है तब शिक्षा द्वारा समाज में भेद भाव के निराकरण की बात तो दूर रही, हम तत्काल ही शिक्षा द्वारा परिवार में ही भेद भाव पैदा कर देते हैं। कहते हैं कि चले थे हरि भजन को ओटन लगे कपास। उसी तरह हम ग्रामभारती द्वारा चले थे सामाजिक विषमता का निराकरण करने, लेकिन उस प्रक्रिया द्वारा हमने पारिवारिक विषमता का ही निर्माण कर डाला।

स्कूल बंद—पूरा परिवार विद्यार्थी

इस प्रश्न पर हम लोग गम्भीरता से सोचने और आपस में चर्चा करने लगे लेकिन कोई तात्कालिक हल नहीं निकाल सके। पूरा परिवार ही नयी तालीम का विद्यार्थी हो, यह विचार यद्यपि पहले ही हमारे मन में आ गया था लेकिन उसका तुरन्त कोई छोर न दिखाई देने के कारण उपयुक्त परिस्थिति के बावजूद बच्चों के शिक्षण को बन्द करने की बात सोच नहीं सकते थे। लेकिन इस बीच कुछ दूसरी परिस्थितियों ने हमको फिर से पारिवारिक शिक्षण की दिशा में सोचने के लिए प्रेरित किया। यद्यपि पालकों ने बहुत उत्साह से बच्चों को पूरे समय के लिए ग्रामभारती के छात्रावास में शामिल कर दिया था तथापि व्यक्तिवादी संस्कारों के कारण धीरे-धीरे बच्चे गैरहाजिर होने लगे और हम

२-३ महीने में फिर उसी स्थिति पर पहुँच गये जहाँ से 'सूखा छात्रावास' की कल्पना शुरू हुई थी। बच्चे फिर से केवल पढ़ने के लिए हाजिर होते थे। इस परिस्थिति के कारण आखिर हमने निर्णय ही कर डाला कि बच्चों को घर से अलग करके तालीम की व्यवस्था 'समग्र नयी तालीम' की पद्धति में नहीं बैठेगी। और एक दिन बच्चों को बुलाकर उनसे कह दिया कि केवल पढ़ने के लिए जब गाँव में स्कूल मौजूद है तो फिर हम केवल पढ़ाई का काम नहीं करेंगे, इसलिए गाँव में जो स्कूल चल रहा है उसमें जाकर वे भरती हो जायें। हमने गाँवभर के लोगों से कह दिया कि केवल पढ़ने के लिए गाँव का स्कूल काफी है। उसके लिए हम 'ग्रामभारती' नहीं चलायेंगे। इतनी सेवा हम अवश्य कर देंगे कि कोई भी छात्र कभी भी हमारे पास मदद के लिए आ जायगा तो हम मदद अवश्य कर देंगे।

इस प्रकार सालभर के अनुभव के बाद हम बच्चों की अलग से तालीम के कार्यक्रम को बन्द करके पूरे परिवार की तालीम के विचार को ग्रामवासियों के सामने रखना शुरू कर दिया। पूरे परिवार ही ग्रामभारती के विद्यार्थी हो सकते हैं। इस नतीजे पर हम किन परिस्थितियों में पहुँचे, यह जानना दिलचस्प होगा।

(१) सामूहिक खेती के अनुभव से यह प्रतीत हुआ कि गाँव के लोगों के आज जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं उनको देखते हुए परिवार में आपस का सहकार किसी प्रकार के राजनैतिक कानून या आर्थिक कार्यक्रम द्वारा विकसित नहीं हो सकता है। उसके लिए समग्र-शिक्षण की आवश्यकता है। और यह शिक्षण व्यक्तिगत न होकर पारिवारिक ही हो सकता है, क्योंकि समाज की इकाई व्यक्ति नहीं, परिवार है।

(२) अगर गाँव के सारे कार्यक्रम शिक्षा के माध्यम हैं तो आज की परिस्थिति में यह कार्यक्रम निस्सदेह पारिवारिक धन्धे ही है। 'ग्रामभारती' के लिए अलग धन्धा नहीं बनाया जा सकता। अगर वैसा बनाया गया तो उस धन्धे के लिए शिक्षार्थियों की उतनी दिलचस्पी नहीं हो सकती है, जितनी कि अपने घर के धन्धे के प्रति रहती है और यह स्पष्ट है कि बिना अभिरुचि के कोई भी धन्धा शिक्षा का माध्यम नहीं हो सकता है। अगर पारिवारिक धन्धा शिक्षा का माध्यम है तो चूँकि परिवार का हर एक सदस्य उस धन्धे में लगा रहता है इसलिए धन्धे का विकास पूरे परिवार के विकास से ही सध सकता है।

(३) अगर समाज का सांस्कृतिक विकास करना है तो वह विकास सारे समाज के साथ-साथ ही चल सकता है। बच्चों को अलग विकसित करने की प्रक्रिया का परिणाम क्या होता है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इस परिस्थिति की माँग हो जाती है कि समग्र नयी तालीम की इकाई पूरा परिवार ही हो।

उपर्युक्त तीनों कारणों से हमने निश्चित रूप से यह तय कर लिया कि परिवार के शिक्षण का सन्दर्भ निकालकर ही व्यवस्थित तालीम का प्रारम्भ किया जाय और जब तक ऐसा सन्दर्भ नहीं निकलता है तब तक उस सन्दर्भ का निर्माण ही समग्र नयी तालीम का कार्यक्रम माना जाय। हमने अब यह निश्चय किया है कि हम लोग अपने स्वावलम्बन के लिए सबके साथ खेती करें, पारिवारिक उद्योग चलायें और सामूहिक खेती के 'भूमि-सदस्य' और 'श्रम-सदस्य परिवारों' को अपना विद्यार्थी मानकर उनसे सम्पर्क करें, उनकी खेती-बारी, घर-द्वार, आहार-विहार के तरीकों में सुधार लाने की कोशिश करें और इसी कोशिश के सिलसिले में कुछ व्यवस्थित तालीम की पद्धति का छोर ढूँढें।

इस विचार से बलिया के सब साथी उत्साहपूर्वक सहमत हैं। अब देखना है कि समग्र नयी तालीम के इस नये अभियान का क्या परिणाम निकलता है।

[बलिया बिहार के पूर्णियाँ जिले का एक सुदूर गाँव है। वहाँ बैठकर गाँववालों के बीच, गाँववालों की तरह रहकर, उनका ही दिया खाकर, उनके साथ काम कर श्री धीरेनभाई ने ये अनुभव प्राप्त किये हैं। यहाँ उनके वे अनुभव दिये गये हैं जिनका सीधा सम्बन्ध 'समग्र नयी तालीम' से है।—सं०]

★

गाँव के काम के कुछ पहले कदम

राममूर्ति

गाँव में काम करनेवाले साथियों की ओर से अक्सर प्रश्न उठता रहता है 'गाँव में क्या काम करें ?'

१ आज से ही नहीं, वर्षों पहले जब गांधीजी ने गाँवों के पुनर्निर्माण की बात चलायी थी तब से यह प्रश्न लगातार बना हुआ है। सरकार की ओर से जो लोग गाँवों में जाते हैं उनके लिये यह आसानी होती है कि उनके सामने एक बनी-बनायी योजना रहती है, तैयार कार्यक्रम होता है, और काम भी ज्यादातर ब्लाक, पंचायत, सहकारी समिति आदि सरकारी या अर्ध-सरकारी संस्थाओं के द्वारा करने की कोशिश करते हैं। कई ऐसे ग्राम-सेवक होते हैं जिनका गाँव के मुख्य लोगों से अपना संपर्क भी होता है। लेकिन यह सुविधा रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सामने नहीं होती। खादी या ग्रामोद्योग आदि की जो संस्थाएँ होती हैं उनकी कोई कानूनी शक्ति नहीं होती, जो भी होती है नैतिक होती है। इनसे भी थोड़े भिन्न वे कार्यकर्ता हैं जो केवल भूदान या कुछ विशेष प्रकार के निर्माण का काम करते हैं। उनकी मुख्य शक्ति उनके अपने संपर्क और प्रभाव में होती है।

२ जब अंग्रेजी राज्य था तो गाँवों में जो भी काम होता था कांग्रेस की ओर से होता था। बाढ़ भूकंप आदि के अवसर पर स्फुट सेवा के अलावा नियमित रूप से कुछ चुने हुए क्षेत्रों में खादी-ग्रामोद्योग का काम होता था। सरकार की ओर से रूरल डवलपमेंट का जो काम शुरू हुआ वह ग्राम विकास का कोई व्यापक कार्यक्रम नहीं बन सका। गांधीजी ने कांग्रेस के तत्त्वावधान में कई रचनात्मक संस्थाएँ—जैसे चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गो-सेवा संघ, हिंदुस्तानी तालीमी संघ आदि कायम की थी जो उनके मार्गदर्शन में काम करती थीं लेकिन उनका क्षेत्र सीमित था। उनका महत्त्व मुख्यतः इस बात में था कि उनसे ग्रामनिर्माण के विचार की व्यापक संभावना प्रकट होती थी, भले ही सीमित दायरे में हो। उनके अठारह रचनात्मक कार्यक्रम बुनियादी तौर पर तीन श्रेणी के थे—१ उत्पादन के, जैसे ग्रामोद्योग आदि २ संगठन के, जैसे मजदूरों, स्त्रियों, विद्यार्थियों आदि का, ३ शुद्ध सेवा का जैसे कुष्ठ-सेवा, प्राकृतिक चिकित्सा आदि। नयी तालीम को वह रचनात्मक काम के शरीर की आत्मा मानते थे। कहते भी थे कि सब रचनात्मक कामों की नदियाँ नयी तालीम के समुद्र में विलीन होती हैं। उनकी बराबर यह कोशिश रहती थी कि रचनात्मक कार्य इस ढंग से किया जाय कि जनता का स्वावलंबी पुरुषार्थ विकसित हो और जिस क्षेत्र में रचनात्मक कार्य किया जाय उसमें विदेशी शासन के अत्याचार तथा अपने जीवन की अनीति के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार (रेजिस्टेंस) की शक्ति संगठित हो। इस तरह वह पूरे देश में रचनात्मक कार्य के माध्यम से जनता की अहिंसात्मक सहकार-शक्ति का विकास देखना चाहते थे—यहाँ तक कि उसके बल पर एक दिन हर गाँव भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवस्था और सुरक्षा में अधिक-से-अधिक स्वावलंबी हो जाय और पूरा देश ऐसे स्वावलंबी और परस्परावलंबी गाँवों की एक विशाल इकाई बन जाय। हर गाँव (सावरेन रिपब्लिक) पूर्ण-अधिकार-संपन्न गणराज्य हो, ऐसी भाषा वह बोला करते थे।

गांधीजी की यह कल्पना थी कि अंग्रेजी राज के बाद एक तो स्वदेशी सरकार हर गाँव को स्वावलंबी इकाई के रूप में विकसित करने की नीति अपनाये और दूसरे, देश में ऐसे लोकसेवकों का एक समर्थ समुदाय बने जो सत्ता से अलग रहकर स्वतंत्र लोक शक्ति विकसित करे और जिनमें सत्यनिष्ठा की ऐसी शक्ति हो कि एक ओर वह अधिकारियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग का विरोध करे तो दूसरी ओर जन-जीवन में जो अनीति हो उसके विरुद्ध भी आवाज उठाये। इस तरह लोक-सेवक निस्पृह, निर्भीक, निष्पक्ष और निर्वैर हो और अपने जीवन द्वारा सत्य और अहिंसा का प्रतिनिधित्व करे।

३ सन् १९४४ में गांधीजी ने चरखा संघ को विघटित करने की जो योजना बनायी थी वह इसी लक्ष्य को

सामने रखकर बनायी थी। उसमें कार्यकर्ता के लिये कल्पना यह थी कि गाँव में जाकर वह धीरे धीरे जन-जीवन में विलीन हो जाय और उस अंदर से अहिंसा की दिशा में मोड़े। लेकिन उस वक्त यह विचार कुछ आगे नहीं बढ सका।

४ सन १९४७ में जिस विषम परिस्थिति में स्वराज हुआ कुछ उसके कारण और उससे भी अधिक इस कारण कि जिन नेताओं के हाथ में देश का जीवन गया वे जिस राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति और शिक्षा-नीति को माननेवाले थे वह गांधीजी के विचार की नहीं थी, देश में प्रधानता उसी मध्यम वर्ग को मिली जो गांधीजी की जीवन-नीति की अपेक्षा पश्चिम की जीवन-नीति को अधिक मानता था। सबने मिलकर जनता के सामने भविष्य का जो चित्र रखा वह इग्लैंड-अमेरिका के जीवन के चित्र से मिलता-जुलता था—उस चित्र से बिलकुल भिन्न जिसे गांधीजी ने अपने जीवन में प्रस्तुत किया था। गांधीजी के मन में उत्पादकों का समाज बनाने की बात थी लेकिन ऐतिहासिक कारणों से उत्पादकों का स्थान न स्वराज की लड़ाई में था, न स्वराज के बाद देश के निर्माण में ही हो सका उनकी आवाज में बल नहीं आ सका। हमारा नेतृत्व और देश का ऊपरी वर्ग सत्ता और संपत्ति के मूल्यों को नहीं छोड़ सका, उसने गांधीजी के श्रम और सहकार के मूल्यों को आज की दुनिया में अनुपयुक्त कहकर छोड़ दिया। हर तरह से यही आवाज आने लगी कि बड़े बड़े कल-कारखाने खड़े करने हैं, बिजली बनानी है, नदियाँ बाँधनी है, देश की दौलत बढ़ानी है, दूनी-चौगुनी रफ्तार से दौड़कर दूसरे उन्नति-शील देशों के मुकाबले में पहुँच जाना है।

५ इस विचार धारा को लेकर प्रथम पंचवर्षीय योजना बनी। वह १ अप्रैल १९५१ को लागू हुई। स्थूल निर्माण का देशव्यापी कार्यक्रम चालू हो गया। गाँवों के लिये सामुदायिक विकास (कम्युनिटी डेवलपमेंट) और राष्ट्रीय विस्तार सेवा (नेशनल एक्सटेंशन सर्विस) के कार्यक्रम शुरू किये गये। स्कूल, सड़क, अस्पताल, पंचायत घर आदि के निर्माण पर जोर दिया गया। जो भूमि-व्यवस्था पूरे ग्रामीण जीवन की रीढ है और जिसे लेकर गाँव के जीवन का असली स्वरूप बनता है, वह ज्यों-की-त्यों रहने दी गयी। केवल जमींदारी तोड़ी गयी, लेकिन जमीन की मालिकी बनी रही। जब मालिक-मजदूर का रिश्ता नहीं बदला तो समाज कैसे बदलता, क्योंकि हर नया समाज नये संबंधों से बनता है?

६ पंचवर्षीय योजना शुरू होने के १७ दिन बाद १८ अप्रैल १९५१ को भूदान यज्ञ आंदोलन शुरू हुआ। पंचवर्षीय योजना ने स्वामित्व के प्रश्न को छोड़ दिया था, इस आंदोलन ने उसीको मुख्य प्रश्न बनाया और विनोबाजी ने कहा कि जब तक जमीन, कल-कारखाने और व्यापार की निजी मालकियत नहीं मिटेगी तब तक नये अहिंसक समाज का निर्माण नहीं हो सकता। भूमि के ग्रामीकरण को उन्होंने बुनियादी रचनात्मक कार्य बताया। इस तरह सन् १९५१ में ही सरकार की ओर से शुरू की जानेवाली विकास की योजना और विनोबाजी द्वारा शुरू किये गये भू-क्रांति के कार्यक्रम की दिशा भिन्न हो गयी।

पंचवर्षीय योजना ने विकास और उत्पादन पर जोर दिया, भूदान-यज्ञ ने महत्व समता, शोषणमुक्ति और जनता के सामूहिक पुरुषार्थ पर दिया। एक ने देश के सामने एक चित्र (इमेज) प्रस्तुत किया, दूसरे ने दूसरा। विनोबा के सामने उत्पादकों के समाज का चित्र था। पंचवर्षीय योजना ने कहा कि राष्ट्र की समृद्धि बढ़ने दो तो जनता भी धीरे धीरे सुखी हो जायगी। भूदान-यज्ञ-आंदोलन ने बताया कि जनता एक बार स्वामित्व के पुराने बंधनों से मुक्त हो जाय तो गाँव-गाँव में अपार सामूहिक पुरुषार्थ जगेगा जिसके बल पर जनता समृद्ध होगी और जब जनता संपन्न होगी तो क्या राष्ट्र विपन्न रहेगा?

७ पिछले ग्यारह वर्षों से अपने देश में ये दोनों धाराएँ बह रही हैं। विनोबा ने अपनी योजना को 'ग्राम स्वराज्य' का नाम दिया है। इस वक्त दो के बाद तीसरी पंचवर्षीय योजना चल रही है लेकिन शोषण, बेकारी विषमता की दृष्टि से उसके जो परिणाम हुए हैं वे सामने हैं। पूँजी से, केंद्रित योजना से, सरकारी तंत्र की शक्ति से जिस तरह का जितना काम हो सकता है हो रहा है, लेकिन इतना स्पष्ट हो गया है कि ये शक्तियाँ साम्य और सहकार के आधार पर सुखी, शांत समाज नहीं बना

(२) श्रम बेचनेवालों और श्रम से बचनेवालों का सोचने का तरीका, अनुभूति, आशा और आकांक्षा, सब कुछ भिन्न हैं।

राजनीतिक दृष्टि से देखें तो गाँव तरह-तरह के गुटों (पावर एण्ड इफ्लूएंस ग्रुप) में बँटा हुआ है जो परिवार, जाति, वर्ग या दल की प्रतिद्वंद्विता के आधार पर बने हुए हैं।

ऐसा ताना-बाना है गाँव का। इसी कारण सरकार की ओर से या संस्थाओं की ओर से जो काम होते हैं व पूरे गाँव के जीवन को नहीं छू पाते, जो पूँजी, पहुँच या प्रभाववाले हैं वे फायदा उठा लेते हैं और गाँव जैसा का तैसा ही रह जाता है। उसके अंतर्विरोध किसी अंश में बढ़ जाते हैं, घटते नहीं। अलबत्ता वर्गगत शोषण और जातिगत दमन को सरकार और संस्था की शक्ति और कानून का नया सहारा मिल जाता है।

११ जब गाँव का यह हाल है तो स्पष्ट है कि हमारा पहला काम गाँव को गाँव बनाने का होना चाहिये। विनोबाजी इसीलिये बार-बार कहते हैं कि 'गाँव पहले, निर्माण बाद को'। तो सबसे पहले यह सोचना चाहिये कि गाँव गाँव कैसे बनेगा, उसमें ग्राम-भावना कैसे जगेगी। कार्यकर्ता (जिसकी हैसियत अब मित्र को ही होनी चाहिये) चेतन-तत्त्व है, उसके अंदर प्रेरणा है, उसके सामने एक चित्र है, उस प्रेरणा की छूत फैलाना, उस चित्र को गाँववालों के सामने प्रस्तुत करना उसका मुख्य काम है।

उसके व्यक्तित्व, चरित्र, प्रेरणा और परामर्श से प्रभावित होकर गाँव अपने लिये क्या काम हाथ में लेगा यह गाँव के अपने निर्णय की बात है। लेकिन कार्यकर्ता केवल शब्दों से दूसरों के जीवन में प्रेरणा नहीं पैदा कर सकता। उसे भी काम के कुछ ढंग, तरीके अपनाने पड़ेंगे जो लोगों के मन को छूयें। वे तरीके क्या होंगे?

१२ हमारे गाँवों का परंपरागत संस्कार ऐसा है कि वहाँ के लोग विचार से अधिक आचार से प्रभावित होते हैं—शायद इसलिये कि हमारे धर्म हमेशा से आचार-प्रधान रहे हैं। कार्यकर्ता जो कथनी करे उसके अनुसार उसकी करनी न हो तो वह प्रतिष्ठा खो देता है। आज गाँव में पार्टियों की ओर से, सरकार की ओर से, अन्य संस्थाओं की ओर से अनेक लोग काम करते हैं। कई कारणों से सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये गाँववालों के मन में इज्जत बहुत कम हो गयी है, इसलिये और भी ज्यादा जरूरत है कि हम अपने आपको बराबर जाँचते रहें। दल या जाति का पक्षपात, छुआछूत, श्रम से बचना, बीड़ी, सिगरेट आदि का इस्तेमाल, अपना काम छोड़कर ज्यादा अनुपस्थित रहना, बर्तन आदि साफ करने के लिये नौकर रखना, अपनी पोशाक में खादी और मिलावट, एक से अधिक कार्यकर्ता एक जगह रहें तो आपस में लड़ना या अलग-अलग चूल्हे जलाना, परिवार साथ हो तो पत्नी का असहयोग प्रकट होना, गाँव के बड़े-बूढ़ों के प्रति अमद्रता, गाँव के पर्व-उत्सव आदि के प्रति अनुत्साह, स्त्रियों से बहुत खुला व्यवहार,—पर्दे के क्षेत्र में यह बहुत नाजुक प्रश्न है—गाँव के लोगों से पैसे का लेन देन, पैसे के संबंध में लालच या अप्रामाणिकता, सरकारी अधिकारियों या प्रभाववाले स्थानीय व्यक्तियों के पास इस दृष्टि से बहुत उठना-बैठना कि अपना भी प्रभाव जम जाय—ये सब ऐसी बातें हैं, जो कार्यकर्ता की प्रतिष्ठा में धक्का पहुँचाती हैं। सर्वोदय का नाम लेनेवाले से लोग विनम्रता, श्रमशीलता, सत्यवादिता, मितव्ययिता, समभाव, नेकनीयती, ईमानदारी, मृदुभाषिता आदि की अपेक्षा रखते हैं। वे चाहते हैं कि कार्यकर्ता गाँव का नागरिक बनकर उनके दुख-सुख में शरीक हो और उनके प्यार और आदर का पात्र बने। उनकी सब अपेक्षाएँ गलत नहीं होतीं।

यहाँ एक बड़ा प्रश्न उठता है। बाहर का कार्यकर्ता और शुरू में कार्यकर्ता बाहर का ही होना चाहिये क्योंकि स्थानीय कार्यकर्ता परिवार और जाति आदि की प्रतिद्वंद्विता के कारण पूरे गाँव का मित्र नहीं बन सकता—गाँव के साथ किस तरह समरस हो, यह एक बहुत बड़ी समस्या है। वेतन लेकर काम करनेवाले हरएक को गाँववाले 'नौकर' समझते हैं, इसलिये उसे अपनी निगाह से गिरा देते हैं। श्रमाधार आदि के विचार ऊँचे हैं और कार्य-

कर्ता में व्यक्तित्व को ऊपर ले जानेवाले हैं लेकिन उस कोटि की समरसता पर हम अभी विचार नहीं कर रहे हैं। वेतन लेने पर भी कार्यकर्ता का इतना ध्यान तो रखना ही चाहिये कि अगर गाँव में कोई ग्रामकोष, साहकारिक या स्थायी, बनता है तो वह अन्य नागरिकों की ही तरह उसमें शरीक हो, कजूसी न दिखाये। जहाँ तक सम्भव हो उसे अपने को गाँव का एक उद्बुद्ध 'नागरिक' मानना चाहिए और उसी तरह आचरण करना चाहिए।

१३ गाँव को गाँव बनाने की ये सीढ़ियाँ मानी जा सकती हैं।

प्रवेश

इतनी तैयारी के साथ गाँव के जीवन में प्रवेश शुरू होता है। गाँव में पहुँचते ही बड़ी सभा आदि करने का आग्रह रखना ठीक नहीं है। हमें यह मानना चाहिये कि सपर्क की इकाई परिवार है न कि गाँव। धनी, गरीब या जाति आदि के भेद भाव को भूलकर क्षेत्र के एक-एक परिवार से पक्का सपर्क साधना चाहिये। सपर्क के तीन साधन हो सकते हैं

(क) बच्चो के साथ खेल
(ख) युवको के साथ श्रम,
(ग) बूढ़ो के साथ गप।

गाँव के ऐसे गृहस्थों के खेत पर सुबह दो घंटा काम किया जा सकता है जो अच्छी खेती में रुचि रखते हों और हमारे साथ मिलकर खुद मेहनत करने को तैयार हो।

इस तरह के सपर्क से कुछ दिन बाद अपने-आप गाँव में ग्राम भावना रखनेवाली एक टीम बन जायगी जो सोचने लगेगी कि गाँव के लिये कुछ किया जाय। अत में श्रम की बिरादरी में से गाँव का नया नेतृत्व निकलेगा। नया नेतृत्व बनाना और पुराने नेतृत्व को मिलाना, ये दोनो प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलनी चाहियें लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से, नहीं तो कार्यकर्ता अनावश्यक विरोध के दलदल में फँस जायगा।

जैसा पहले कहा है सभा करने की जल्दी नहीं करनी चाहियें। अलग अलग परिवारों के दरवाजा पर बैठे-बैठे अपने-आप 'परिवार गोष्ठी' के बाद 'टोला गोष्ठी' का नंबर आ जायगा। और जब गाँव के सब टोले में गोष्ठियाँ हो चुकेंगी तो स्वय अलग-अलग टोला के दो चार प्रमुख व्यक्ति 'गाँव की सभा' बुलायेंगे। इस तरह का क्रम हर गाँव में चल चुके तो 'क्षेत्रीय सभा' बुलानी चाहिये।

१४ हमारा ध्यान मुख्य रूप से गाँव के जीवन के तीन पहलुओं की ओर जाना चाहिये :

(क) अशांति निवारण—आतरिक झगड़े, बाह्य उपद्रव।
(ख) उत्पादन-वृद्धि—खाद, खेती, खादी।
(ग) सस्कार शिक्षण—बाल-सभा, खेल, पर्व, उत्सव।

१५ इतना हो चुकने पर गाँव में पुरुषार्थ-स्वावलंबन के लक्षण प्रकट होने लगेंगे। पुरुषार्थ सही दिशा में जाय इसके लिये नीचे लिखी बातें सुझायी जा सकती हैं

(१) धर्मगोला या ग्रामकोष।
(२) जिन चार-छह परिवारों में विशेष सामीप्य हो उनमें 'पच सहकार', जैसे—श्रम-सहकार, उद्योग सहकार, शिक्षण-सहकार, न्याय-सहकार, मत्रणा-सहकार।

इस तरह की सहकारी इकाई बनने के लिये किसी बाजाब्ता सहकारी समिति की जरूरत नहीं है। ग्राम स्वराज्य की भूमिका में हमेशा कोशिश इस बात की होनी चाहिये कि जीवन की जो भी परिस्थिति आज है उसीमें से सहकार प्रकट हो। जिन परिवारों में सहज सामीप्य हो, व एक-दूसरे के खेत पर काम करें जो शिक्षित हैं वे अशिक्षित को पढ़ा दें, जो चरखा चलाना जानता हो वह न जाननेवाले को बता दे आपस में कोई विवाद हो तो आपस में ही तय कर लें पचायत के सामने मुकदमा लेकर न जायें तथा घर-गृहस्थी खेती-बारी आदि के बारे में आपस में सलाह करके काम करें।

धीरे धीरे सहयोग की परिधि और सहयोगी परिवारों की सख्या बढ़ेगी। विरोधों के बावजूद सहमति और सहयोग के क्षेत्र बढ़ाते जाना हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है और यही हमारे लोक शिक्षण की कसौटी भी है।

(३) ग्राम शाला—सुबह या रात को इसमें कार्यकर्ता गाँव के शिक्षित युवकों का सहयोग ले सकता है।

(४) सेवा-सेना का संगठन—पहले गाँव की, फिर क्षेत्र की। सेवा-सेना की अलग-अलग टोलियाँ हो सकती हैं। बाल-टोली, युवक-टोली, नारी-टोली, वृद्ध-टोली और हरएक के अलग-अलग काम हो सकते हैं।

ये प्रवृत्तियाँ ग्राम-भावना के आधार पर नया नेतृत्व विकसित करने में सहायक होंगी। साथ ही गाँव की पंचायत को अपने सेवा-धर्म का भान होगा और वह गाँव की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने लगेगी। आज हालत ऐसी है कि जो भी समस्याएँ हैं वे परिवार की हैं, गाँव की कोई समस्या जैसे है ही नहीं, क्योंकि गाँव को एक मानकर सोचनेवाला कौन है! कार्यकर्ता शुरू में अलग अलग परिवारों की समस्या के—जिस परिवार की जो भी समस्या हो—निराकरण में सहायक होगा। परिवारों की सहायता करते-करते वह ग्राम भावना और ग्राम-सहकार विकसित करने की कोशिश करेगा। वह अपनी चर्चाओं में बतायेगा कि किस तरह परिवार की समस्याएँ भी ग्राम-स्तर पर सामूहिक प्रयत्न से आसानी से हल हो सकती हैं। आज हमारी यह हालत क्यों है, इसके कारण समझायेगा आदि।

(५) न्याय—

गाँव में भूदान द्वारा भूमिहीनता मिटाने का प्रयत्न।

प्रतिकार—

मान्य अन्यायों के सम्बन्ध में जनमत का संगठन तथा नये मूल्यों के लिए विचार-शिक्षण।

प्रतिकार का प्रश्न नाजुक है। गाँव का आज जिस तरह का जीवन है उसमें प्रतिकार किसी समय गुटबन्दी और संघर्ष का रूप ले सकता है, इसलिए बहुत सतर्कता से कदम उठाना चाहिए। शुरू में ऐसा कोई काम हाथ में लेने की बात नहीं सोचनी चाहिए जिसको लेकर गाँव में उग्र विवाद की स्थिति पैदा हो जाय। लेकिन ऐसे प्रसंग पैदा हो सकते हैं जिसमें चुप बैठना अनुचित हो। कई ऐसे अन्याय होते हैं जिनको गाँव के लोग भी अपने मूल्यों में अन्याय मानते हैं, किन्तु गाँव के जीवन में वह अन्याय होता रहता है। ऐसी हालत में गाँव के विवेक और सद्भावना को आग्रहपूर्वक जगाना और जगाकर अन्याय के निराकरण की परिस्थिति तैयार करना कार्यकर्ता का कर्तव्य है। लेकिन जिस अन्याय को गाँव अन्याय मानता ही नहीं वह प्रतिकार का विषय नहीं बन सकता। वह शिक्षण का विषय है। यह विचार-शिक्षण का काम है कि वह जन-जीवन में नया मूल्य विकसित करे। इस तर्क से भूमिहीनता मिटाने के लिए भूमिवानों के विरुद्ध तुरत कोई प्रतिकारात्मक कार्यवाही नहीं की जा सकती, ऐसा करना सिद्धांत की दृष्टि से नहीं, व्यवहार की दृष्टि से भी गलत होगा।

(६) अन्तर-ग्रामीण सम्बन्धों का विकास—क्षेत्रीय सेवा-सेना, श्रमदान, भूदान, कीर्तन-भजन, नाटक, मेले, आपसी प्रश्नों पर सम्मिलित चर्चा आदि के द्वारा एक पंचायत-क्षेत्र के विभिन्न गाँवों में सामीप्य पैदा किया जा सकता है।

(७) सहकारी जीवन का अभ्यास—प्रारंभिक सहकार का अभ्यास बढ़ता जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है कि कुछ परिवार या पूरा टोला या पूरा गाँव सहकारी जीवन की बात सोचे। सहकार का पहला क्षेत्र खेती है, दूसरा उद्योग, तीसरा व्यापार। अगर सहकारी खेती होती है तो उसमें खर्च काटकर उत्पादन के बँटवारे का यह अनुपात सोचा जा सकता है.

१० प्रतिशत स्थायी पूँजी के लिए,

६० प्रतिशत श्रम के लिए,

३० प्रतिशत मालिक के लिए।

धीरे-धीरे सहकारी इकाई यह तय कर सकती है कि भूमि का स्वामित्व सामूहिक हो और उत्पादन में केवल श्रम के आधार पर सबको समान हिस्सा मिले। अगर गाँव में एकता के तत्त्व मजबूत हैं तो सहकारी जीवन में शरीक होनेवाले परिवारों की संख्या और सहकार की परिधि बढ़ सकती है, जो हमारा लक्ष्य है। ग्रामदान होते ही गाँव में प्रथम स्वराज्य के तत्त्व आ जाते हैं और वह प्रतिकूल शक्तियों के मुकाबले में एक मर्यादित मोर्चा बन जाता है। बिना इस शक्ति के अनीति और अनाचार से नहीं बचा जा सकता और ग्राम स्वराज्य की बुनियाद भी नहीं पड़ सकती।

१६. (१) ये शुरू की सात सीढ़ियाँ हैं। इनके क्रम में हेर फेर हो सकता है। गाँव के काम का कोई बना-बनाया कार्यक्रम नहीं हो सकता, होना भी नहीं चाहिए। कार्य तो कार्यकर्ता और गाँव के मेल से अपने-आप पैदा होगा। ऊपर जो कुछ सुझाया गया है वह इसलिए कि कार्यकर्ता के ध्यान में ये बातें रहें क्योंकि वह सामाजिक क्रान्ति का सिपाही है। वह इस लक्ष्य को भूलकर गाँव की सेवा की जिम्मेदारी नहीं ले सकता। वह प्रेरक-शक्ति है। अगर उसे केवल सेवा का काम करना हो तो उसकी हैसियत दूसरी होगी।

(२) गाँव का वास्तविक निर्माण उस दिन शुरू होगा जिस दिन गाँव में भूमिका न कोई मालिक रहेगा, न मजदूर। उसी दिन सामूहिक पुरुषार्थ प्रकट होगा, गाँव के साधन, गाँव की बुद्धि और गाँव के श्रम की सुखद साझेदारी प्रकट होगी। तब तक गाँव को एक और नेक बनाने की शैक्षणिक, सहकारी प्रक्रिया चलेगी।

(३) गाँव की भूमिका में नयी तालीम के दो अर्थ हैं—एक, हर चीज में आग्रहमुक्त वैज्ञानिक दृष्टि, दो, विरोधों के होते हुए सहमति और सहकार की निरंतर खोज और विकास। शिक्षण के सिवा दूसरी कोई प्रक्रिया मनुष्य के मन को संघर्ष से हटाकर रचनात्मक नहीं बना सकती। इसलिए कार्यकर्ता मित्र होने के साथ-साथ गाँव का शिक्षक, सेवक और सहयोगी भी है। बहुमुखी व्यक्तित्व लेकर ही वह गाँव का हृदय-परिवर्तन करने की आशा रख सकता है। हृदय-परिवर्तन के शास्त्र में उस संघर्ष के लिए स्थान नहीं है जिसमें हार-जीत की व्यूह-रचना हो।

(४) इन सीढ़ियों के बाद आगे की सीढ़ियाँ अपने-आप सूझेंगी। ये जो सीढ़ियाँ बतायी गयी हैं उनकी तफसील पर विचार करने की जरूरत है। ये पंक्तियाँ उन साथियों को ही सामने रखकर लिखी जा रही हैं जो गाँव में वैतनिक कार्यकर्ता की हैसियत से काम कर रहे हैं और वहाँ की कठिनाइयों को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं।

★

['हमारी शिक्षा' पृष्ठ ६ का शेषांश]

भी बच्चे रह जाते हैं, समूचे शिक्षण में उनकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है, चौथे, पढ़ाई की जो पद्धति है वह विद्यार्थियों में स्वतंत्र चिंतन-शक्ति और सक्रियता निर्माण करने में असमर्थ सिद्ध हुई है, पाँचवें, शालाओं में विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि शिक्षक और विद्यार्थी का निकट सम्पर्क और आत्मीय संबंध पुष्ट नहीं पाता और अंतत परीक्षाओं पर जो जोर दिया जाता है उससे शिक्षकों का उपक्रम क्षीण हो गया है, पाठ्यक्रम पत्थर की लकीर बन गया है, शिक्षण की पद्धति यंत्रवत् और प्राणहीन बन गयी है, प्रयोगात्मक वृत्ति समाप्त हो गयी है और शिक्षण में गलत और गौण बातों पर अधिक जोर दिया जा रहा है।" (क्रमश.)

★

रवीन्द्रनाथ का शिक्षण-दर्शन

काका कालेलकर

●

शिक्षण दर्शन का कोई निश्चित साँचा नहीं बन सकता है। शिक्षण दर्शन तत्त्व दर्शन नहीं है, जीवन दर्शन है। उसके सभी पहलुओं में परस्पर सुसगति सिद्ध करना आसान नहीं है। आखिर जीवन दर्शन नित्य विकासशील होता है।

क्योंकि स्वय जीवन प्रतिक्षण अभिनव उन्मेषों के साथ विकसित होता रहता है। इसलिए जीवन के सबध मे हमने कल जो मत निश्चित किया उसम आज कुछ न कुछ सशोधन, परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। चूँकि जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति नयी होती है और पुराने अनुभव नये प्रकाश में दरसने लगते हैं इसलिये पुराने का अर्थ भी बदलना पड़ता है।

यह है जीवन की कठिनाई। लेकिन अपने लिये या किसी और के लिये निर्मित शिक्षण दर्शन के सबध में लिखना या बोलना पड़े तो पहले तीन बातों पर विचार करना पड़ता है। एक अपनी योग्यता, दूसरी अपने को प्राप्त अवसर और तीसरी अपनी जीवन-दृष्टि। और जब ये बातें एकदम बदल जाती हैं, अनुभव कुछ अधिक परिपक्व होते हैं और दृष्टि निखरती और सूक्ष्म बनती है तब शिक्षण पर नये सिरे से विचार करना पड़ता है। अतएव किसीके शिक्षण दर्शन के सबध में लिखना आसान नहीं होता है।

रविबाबू ने जब अपना शिक्षण-सबधी प्रयोग आरभ किया तभी उन्हें इस बात का भान था ऐसा लगता है। शायद इसीलिये शाति निकेतन के शिक्षण कार्य के सबध म उन्होंने बहुत कुछ लिखा नहीं, बल्कि शाति निकेतन म भिन्न भिन्न भिन्न विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता है उनके लिये उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने का काम भी वे कई वर्षों तक टालते रहे। वे कहते थे-"पढ़ाने-पढ़ाते ज्यों-ज्यों अनुभव आता जायगा त्यों-त्यों हम परिवर्तन करते जायेंगे। अध्यापक अपनी पढ़ाई के नोट तैयार करेंगे और सुधारते जायेंगे। जब विश्वास हो जाय कि सारा प्रयोग परिपक्व हुआ तब पाठ्यपुस्तक बना लेंगे।" यह थी उनकी नीति।

शिक्षण के सबध में उन्होंने जो आदर्श माना था उसमे भी बार-बार हेरफेर होता रहा। इसी एक उदाहरण से इस बात का समर्थन हो जाता है कि प्रारभ म उन्होंने बगाल के एक उग्र क्रातिकारी श्री ब्रह्मबाधव उपाध्याय को अपने साथ लेकर शाति निकेतन का प्रारभ किया था। रवींद्रनाथ ने बग भग के बाद के राष्ट्रीय आदोलनों और स्वदेशी आदोलनों म बड़े उत्साह से भाग लिया था। आगे चलकर जब उन्होंने देखा कि उनके और दूसरे नेताओं के विचारों में बहुत अतर है तब तुरत खुद इन आदोलनों से अलग हो गये और उन्होंने अपनी सारी शक्ति अपनी कल्पना के अनुरूप शाति निकेतन का विकास करने मे लगायी। धनी परिवार में पला हुआ यह तरुण कवि सरकारी दमन-नीति देखकर डर गया ऐसा आरोप इन पर कई लोगों ने किया। पर रविबाबू ने उस पर ध्यान नहीं दिया। खुद को जो ठीक लगे उस पर रचनात्मक ढग से अमल करना और सार्वजनिक आलोचनाओं की झझट म न पड़ना यह उनकी वृत्ति थी।

शाति निकेतन की स्थापना करते समय उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि अग्रेजी राज्य के प्रारभ से ही सरकारी पद्धति म जो दोष उनको दीखे थ उन्हें अपने प्रयोग म न आने देने का उनका निश्चय था। शिक्षण पद्धति और शिक्षण का वातावरण हमारी सस्कृति, हमारे देश की प्रकृति और राष्ट्रीय स्वभाव के अनुकूल ही होने चाहिए। उनके मन म यह निश्चय हो गया था कि शासकों की सास्कृतिक दृष्टि उन्हें पसन्द नहीं आ सकती।

प्रकृति-माता और मानव-स्वभाव पर रविबाबू का आस्तिक विश्वास था। दैनिक सौंन में ट्‌ग हुइ

व्यवस्था के प्रति उनके मन में गहरी घृणा थी। इसी लिए उनका आग्रह था कि शान्ति निकेतन में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के बीच मुक्त-सम्पर्क रहना चाहिए।

आश्रम का अर्थ 'वैराग्य-परायण ऋषि मुनियों की तपोभूमि' करना रवीन्द्रनाथ के लिए सर्वथा असम्भव था। लेकिन बच्चों का विकास उन्मुक्त नैसर्गिक वातावरण में हो इस दृष्टि से बच्चों की पाठशाला के लिए भवन निर्माण करने के बजाय उन्होंने वृक्षों के नीचे ही वर्ग चलाने की परंपरा आरंभ की। आम के पेड़ों की घना छाया में विद्यार्थियों के ही बनाये हुए छोटे से चबूतरे पर शिक्षक बैठते और आस-पास उनकी ओर अभिमुख होकर विद्यार्थी बैठते और शिक्षण-संस्कार पाते।

रविबाबू का यह आग्रह था कि किसी भी विशिष्ट धर्म या पंथ के सिद्धान्तों का कुछ भी आग्रह रखे बिना संस्था में धार्मिकता का वातावरण बना रहे। दिन के प्रारंभ में सभी विद्यार्थी वर्गों में जाने से पहले स्नान करके एक मैदान में एकत्रित होते। उपनिषदों का किसी एक सर्वसम्मत मंत्र का उच्चार करते और फिर अपनी अभिरुचि के अनुसार कोई एक स्थान चुनकर ध्यान करने बैठते। विद्यार्थियों को अमुक ध्यान ही करना चाहिए ऐसा कोई बंधन नहीं रहता था। मुक्त वातावरण में कुछ क्षण अंतर्मुख होकर बैठने का अवसर मिले यही पर्याप्त था। तब कोई भले ध्यान करे या वृक्षों पर फुदकनेवाले पक्षियों को देखता रहे जैसा मर्जी। ध्यान का समय समाप्त होते ही बच्चे अपने-अपने वर्ग में जाते।

प्रातः उठना भी कैसा? पूर्व दिशा में लालिमा फैलने से पहले ही दो-चार विद्यार्थी मिलकर तय करते कि आज कौन सा गाना गाया जाय। फिर वह वैतालिक दल गाते हुए छात्रालय के चारों ओर परिक्रमा कर आता। उच्च भावना का एक गीत उत्तम स्वरों में सुनते हुए दिन का आरंभ करने का सुयोग मिलना कितना बड़ा भाग्य है! आधुनिक प्रकार के इन गायकों का स्वर कान में पड़ते ही विद्यार्थी बिस्तर से उठ जाता है और प्रार्थना में शामिल होने की खिन्नता में लगता है। यही इस संस्था की विशेषता थी।

सन् १९१५ में मैंने कुछ महीनों तक शांति निकेतन में अध्यापन कार्य किया था। तब के अनुभवों के आधार पर यह सारा लिख रहा हूँ। बंगाली विद्यार्थी शिक्षण के बारे में शायद ही प्रमाद करता है। उसे बाल्यकाल से ही निश्चय रहता है कि उसका सारा भावी जीवन अध्ययन पर ही निर्भर है। ऐसे विद्यार्थी को अध्ययन करने के लिये बार-बार चाबुक लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वहाँ यह आग्रह नहीं था कि विद्यार्थी सभी विषयों की तरफ एक साथ ध्यान दें। शिक्षकों को तथा संस्था को इतने से संतोष होता था कि विद्यार्थी वर्ग में आता है, ध्यानपूर्वक सब सुनता है और उसके विषय में उसकी अभिरुचि है। उनके अपने विषय में उनकी रुचि निर्माण करने तक की जिम्मेवारी शिक्षकों की रहती थी। आगे उसे जैसा रुचे, जैसा सूझे और जैसा लगे वैसा प्रगति वह करने लगेगा—यह विश्वास वहाँ के शिक्षणक्रम के मूल में था।

इस सहज वातावरण में उस समय एक ही दिक्कत थी। शांति निकेतन का शिक्षण पूरा हुआ कि विद्यार्थियों को कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा में बैठाना पड़ता था। संस्था से बाहर जाने का अर्थ सरकारी दरवाजे से ही गुजरना था, इसलिये संस्था का वातावरण चाहे जितना स्पृहणीय हो, फिर भी उस पर कालिमा लग ही जाती।

जब मैं शांति निकेतन में था तब मैं इस व्यवस्था से बेचैन हो जाता था। इसलिये इस संबंध में मैंने रविबाबू से चर्चा की। उन्होंने कहा—'क्या करें? पालक वर्ग के आग्रह के सामने हमें घुटने टेकना पड़ता है।" मैंने कहा—पंजाब के आर्य-समाजी गुरुकुलों में ऐसा नहीं है। वहाँ की संस्थायें जन-साधारण के दान पर ही चलती हैं। यहाँ आप अकेले ही अपने घर का बहुत सारा धन इसमें लगाते हैं। आपको सरकारी विश्वविद्यालय का संबंध निभाने के लिये बाध्य होने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए उन्होंने कहा—"हमारे यहाँ की परिस्थिति

भिन्न है। लेकिन शास्त्री महाशय (श्री विधुशेखर शास्त्री) विश्वभारती प्रारंभ करना चाह रहे हैं। आप उनसे बात कीजिये। वे आपके ही विचारों के हैं।"

शांति निकेतन के शिक्षा-क्रम में कला का स्थान मुख्य था। कला के बारे में ऐसी कोई कल्पना नहीं थी कि वह धनी लोगों का विलास है, ऐयाश लोगों का विभ्रम है। पक्षी गाते हैं, लेकिन वे विलास के लिये नहीं गाते। गाना उनके जीवन का एक अविभाज्य अंग है। कला के बिना जीवन निष्फल है, निष्प्राण है—इस श्रद्धा के आधारपर ही शांति निकेतन का शिक्षण-क्रम बना हुआ था। यह श्रद्धा उधार ली हुई नहीं थी, 'पर-प्रत्यय' नहीं थी। उपनिषदों के ऋषियों ने स्पष्ट कहा है कि इस हृदयाकाश में यदि आनंद न होता तो कोई कैसे जीवित रह सकता या श्वास ले पाता। "को हि एव अन्यात् क: प्राण्यात्। यद् एष आकाश आनन्दो न स्यात्।" मुक्त वायु, वृक्ष-लता पुष्पमय वातावरण, सूर्योदय और सूर्यास्त, आकाश में मेघों के विविध आकार और वर्ण, इन सबको निनादित करनेवाला पक्षिसमूह का संगीत और कवि-गुरु रवींद्रनाथ की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की कृति के प्रत्येक ऋतु में नये-नये रागों में श्रवण और गायन का आनंद। इन कारणों से बच्चे भी फूल-पत्तों की तरह ही आनंदपूर्वक बढते।

लेकिन समाज-सेवा? कवियों में यह सामर्थ्य होती है कि अपनी कविताओं की प्रेरणा से जनता को उद्बोधन कर सकें। लेकिन सामान्य विद्यार्थियों के लिए प्रारंभ से ही सामाजिक सेवा के अभ्यास की क्या आवश्यकता नहीं रहेगी!

इस प्रकार के आलोचकों से पहले यह कहना होगा कि रवींद्रनाथ के निजी जीवन में भी सेवा का अभाव नहीं था। काव्यमय मनोवृत्ति और साहित्यिक वातावरण में रहते हुए भी उन्होंने अनेक प्रकार की समाज-सेवा का चिंतन किया था। साथ ही शांति-निकेतन के पास ही शिलैदह नामक गाँव में उन्होंने श्रीनिकेतन के नाम से एक संस्था प्रारंभ की, जहाँ विविध ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने और आस-पास के ग्रामों में कला-कौशल्य का पुनरुज्जीवन करने के प्रयत्न किये जाते थे।

गांधीजी ने स्वराज्य-आंदोलन का सूत्र अपने हाथों में लिया, इसलिये अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति को राष्ट्रीय स्वरूप देने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया। रविबाबू को प्रतिकूल परिस्थिति में स्वराज्य की पूर्व-तैयारी करनी थी। इसलिए उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति की योजना उतनी ही बनायी थी जितनी उनके वश की थी। इस बात पर यदि हम ध्यान रखें तो हम आसानी से समझ सकेंगे कि इन दोनों महापुरुषों के आदर्शों में बहुत कुछ समानता तो दीखेगी ही बल्कि कार्य-पद्धति और रचनात्मक-कार्यक्रम तक में भी कई प्रकार की समानतायें स्पष्ट दीखेंगी।

शांति-निकेतन के बच्चे फुरसत के समय में आस-पास के गाँवों में जाते और वहाँ के संथाली बच्चों को पढ़ाते। अगर उन गाँवों पर अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ आदि कोई भी विपत्ति आती थी तो शांति निकेतन के बच्चे उनकी सहायता में जुट जाते।

रवीन्द्रनाथ के समय में राष्ट्र को अपनी परंपरागत संस्कृति का साक्षात्कार कराना था। संस्कृत विद्या का नया और जीता-जागता पुनरुज्जीवन कराना था। अपना इतिहास, अपना धर्म, अपने सामाजिक प्रयोग, साहित्य, संगीत, कला, वैज्ञानिक अन्वेषण आदि सभी विषयों में आत्मविश्वास के साथ लगे हुए राष्ट्र को आत्मपरिचय करा देना था। अपनी विरासत कितनी संपूर्ण और सप्राण है इसका साक्षात्कार कर लेना राष्ट्र का प्रथम कर्तव्य था। रविबाबू कभी-कभी राज्यशासकों से कहते—"प्रत्येक राष्ट्र को, प्रत्येक समाज को आत्मविश्वास का पोषक, थोड़ा-बहुत स्तुतिपरक आहार भी मिलना चाहिये। आप लोग हमें वह भी नहीं लेने देते हैं। उठते-बैठते आप लोग हमें तुम लोग नीच हो पराज हो आदि निंदा करते हुए टोकते हैं, इसका क्या मतलब?" एक धीरोदात्त राष्ट्रीय नेता को उपर्युक्त उद्गार व्यक्त करने की आवश्यकता महसूस हो इससे बढ़कर ब्रिटिश शासकों का वैगुण्य और क्या हो सकता है!

रवींद्रनाथ हमेशा कहते कि "अगर हम यह कहते रहें कि ससार से हमें कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है तो काम नहीं चलनेवाला है। ससार के विजेता राष्ट्र बार-बार हमारी निंदा और अवहेलना करते रहेंगे तब भी हमें उससे प्रभावित न होकर अपना आत्मविश्वास बनाये रखना तो है ही, परतु हमारी मनोवृत्ति यह नहीं रहनी चाहिये कि हम ससार के गुरु हैं, ससार को हमसे ही सीखना चाहिये, हमें दूसरों से क्या सीखना ? इसके विपरीत हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर यूरोप के दरवाजे पर गिड़गिड़ाने से भी हमारा उद्धार नहीं होगा। हमें समझ लेना चाहिए कि ससार में हमारा भी सम्मानपूर्ण स्थान है और समान भूमिका से परस्पर आदान प्रदान करने की सिद्धता रखनी चाहिए। न सर्व सर्व वत्ति। जिसमें हम प्रवीण हैं उसे दूसरों को सिखायें और हमें जो चाहिए वह दूसरों से सीखें तथा विश्व-कुटुम्ब के सदस्य बनें'—यही रविबाबू का आदर्श था। इस आदर्श की सिद्धि के लिए ही उन्होंने विश्वभारती की स्थापना की और घोषित किया कि यह अतर्राष्ट्रीय आदर्श की सस्था है।

ऐसे वातावरण में समन्वय-दृष्टि अपने आप आ जाती है। आज शाति निकेतन में बौद्ध-सस्कृति के अध्ययन की सुविधा है। 'चीना भवन' की तरह 'हिन्दी भवन' भी है, जहाँ राष्ट्रभाषा हिंदी के विकास का प्रयत्न हो रहा है। आज विश्वभारती एक राष्ट्र की मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय बनी है। भारत भाग्य विधाता श्री जवाहरलाल नेहरू उस सस्था के वाइस चान्सलर हैं। सस्था ने गुरुदेव रवींद्रनाथ के प्रारभ किये हुए सस्कृति-समन्वय का विश्वजनीन कार्य हाथ में लिया है।

यह सस्कृति-समन्वय का आदर्श आज विश्वमान्य हुआ है। पाश्चात्य देश अपनी खर्चीली और यांत्रिक पद्धति से युनेस्को के मार्फत यह काम करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यहाँ भारत राज्य-सरकारों के द्वारा अपने ढग का समाजवाद स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। गाधीजी की विचारधारा और रचनात्मक कार्य-परपरा सामाजिक क्राति के द्वारा सर्वोदय की जीवनक्राति और विश्वक्राति करने के प्रयत्न में है। साम्यवादी रूस विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करके नव मानव-समाज स्थापित करने का साहस कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में रवींद्रनाथ के शिक्षण विचार, गाधीजी के शिक्षण विचार और पाश्चात्यों के नव-मानव शास्त्र निर्मित नव शिक्षण विचार का समन्वय किस प्रकार हो पाता है यह देखना है।

['साधना' (मराठी) रवींद्र विशेषाक से साभार]

★

मैं देह नहीं देह से अलग हूँ। मेरा सत्य-स्वरूप सुन्दर और परिशुद्ध है वह अशुद्ध नहीं होता। गलतियाँ तो देह के द्वारा होती हैं मेरा शरीर अस्वच्छ होता है, पर मैं अस्वच्छ नहीं होता। देह से भिन्न आत्मा का भान ही शिक्षण है। जहाँ यह भान नहीं होता वह हमारी शिक्षण-व्यवस्था नहीं, वह शिक्षण-सस्था नहीं।

—विनोबा

सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षण के आगामी अवसर

रुद्रभान

●

सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक—तीनों दृष्टियों से अगस्त, सितंबर और अक्तूबर के महीने अपनी अलग विशेषता रखते हैं। इन तीन महीनों के अंदर हमारे देश के कई सांस्कृतिक पर्व, राष्ट्रीय महत्त्व की स्मरणीय तिथियों और अनेक महापुरुषों की जयंतियों का संगम होता है। देश के करोड़ों लोग और लाखों संस्थायें इनके कार्यक्रमों में शामिल होकर इस लोकव्यापी परम्परा के प्रवाह को कायम रखती हैं। बच्चे से बूढ़े तक और साधारण नागरिक से राष्ट्र-नेता तक, समाज के प्रत्येक सदस्य और वर्ग पर इनका असर होता है, हर व्यक्ति पर कुछ न कुछ हल्की या गहरी छाप पड़ती है।

ये आयोजन सांस्कृतिक और सामाजिक शिक्षण के साध्य भी हैं और साधन भी। इनमें शरीक होकर व्यक्ति स्वयं भी इनसे प्रभावित होता है और दूसरों को भी प्रभावित करता है। एक ओर इनमें भागीदार होनेवाले लोग गौरव, उल्लास और समाज-साक्षात्कार अनुभव करते हैं और दूसरी ओर वे नयी पीढ़ी के लिये एक सजीव और मूर्त परंपरा का चित्र उपस्थित करते हैं। इन आयोजनों का दायरा जितना फैला हुआ होता है इनकी छाप भी उतनी ही सूक्ष्म और मोहक होती है। वस्तुतः इनमें लोक-शिक्षण की मार्मिक और समाजव्यापी संभावनायें मौजूद हैं।

राष्ट्रीय संस्थाओं के लिये १५ अगस्त, ११ सितंबर और २ अक्तूबर तथा सार्वजनिक संस्थाओं के लिये १५ अगस्त, २८ और २९ अक्तूबर के दिन महान् और महत्त्वपूर्ण हैं। इन दिनों के विशेष आयोजनों के अवसर पर लोगों में प्रायः सहज-स्वाभाविक उत्साह और उल्लास की लहर उठती है। हरएक आदमी इनके लिये अपना सहयोग देने को उत्सुक रहता है। सबसे सहयोग पाने की इतनी अनुकूलता के होने पर भी ये अवसर अब नीरस, निरुत्साहजनक और निरानन्दमय कार्यक्रमों के रूप में ढोये जाते हैं। एक दो मिसाल लीजिये :

स्वतंत्रता-दिवस के दिन प्रभात फेरी और झंडोत्तोलन के कार्यक्रम बनते हैं। प्रभातफेरी के समय कौन से गीत गाये जायेंगे? कौन लोग गायेंगे? किस रास्ते से प्रभातफेरी की टोली गुजरेगी? झंडोत्तोलन के समय लोग किस ढंग से खड़े होंगे? कौन व्यक्ति मुख्य वक्ता होंगे आदि बातें पहले से तय नहीं होतीं। अवसर आने पर जो सामने दीख गया उससे ही काम लिया जाता है। इस ढंग से, खींच-तान करके किसी प्रकार कार्यक्रम तो पूरे होते हैं लेकिन इनका नयी पीढ़ी के मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। सारा कार्यक्रम अतीत की मुर्दा-परंपरा का अप्रिय बोझ बन जाता है। उसमें निहित प्रबल और आनन्दमय आकर्षण क्रमशः लुप्त होने लगता है।

यदि इन कार्यक्रमों का संयोजन और कार्य-संपादन शैक्षणिक दृष्टि से हो तो थोड़े प्रयत्न से ही ये अवसर नयी चेतना और संस्कार के प्रेरक वाहक बन सकते हैं।

शिक्षण-संस्था में भू-जयंती का आयोजन

उदाहरण के लिये हम एक बुनियादी शाला में होनेवाले आयोजन को लेते हैं।

पूर्व-तैयारी

भू-जयंती के कम-से-कम २ सप्ताह पहले बुनियादी शाला के छात्रों तथा अध्यापकों की एक सम्मिलित सभा की जाय। छात्रों के सांस्कृतिक मंत्री के संयोजकत्व में सांस्कृतिक रुचि और सूझ-बूझवाले छात्रों की एक समिति गठित हो जो अपनी-अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार उसकी कुछ न कुछ जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सके। शाला के अध्यापकों में से कोई एक अध्यापक उस समिति को यथासमय परामर्श

देने के लिये प्रस्तुत रहें। भू-जयंती किस प्रकार मनायी जाय यह कार्यक्रम बनाना छात्र-समिति का कार्य होगा। यह समिति दो दिन के भीतर अपनी प्रारंभिक योजना बनाकर संबंधित अध्यापक के पास पेश करे।

कार्यक्रम बनाते समय छात्र प्रायः वही कार्यक्रम तय करते हैं जो पिछले वर्ष उन्होंने देखा हो, जैसे—प्रभातफेरी, श्रमदान, पदयात्रा, विनोबा-जीवन-चर्चा या नाटक आदि। बिल्कुल नये नये कार्यक्रम बनाने की अपेक्षा यह अच्छा होता है कि पिछले कार्यक्रम ही नयी सरसता और आकर्षण के साथ मनाये जायँ। कार्यक्रम की प्रथम रूपरेखा छात्र-समिति स्वयं ही तैयार करे। शिक्षक अपना सुझाव या मार्गदर्शन उसमें बाद में जोड़ें। कार्यक्रम के मुद्दे तय हो जाने पर छात्र-समिति के सदस्य अपने-अपने ऊपर उसकी जिम्मेदारी लें। प्रत्येक सदस्य अपने-अपने मुद्दे के हर पहलू पर पहले से सोच ले और उसके लिये जिस साधन सामान, अभ्यास या पूर्व-तैयारी की आवश्यकता हो उसकी पूर्ति में लग जाय।

कार्यक्रम का संपादन

निश्चित दिन पूर्वयोजना के अनुसार भू-जयंती मनायी जाय। शाला के अध्यापक-गण अपनी-अपनी कक्षा के छात्रों की रुचि और ग्रहणशीलता के अनुसार पाठ-सूत्र बनायें या छात्रों की सामूहिक सभा में विशेष वार्ता का आयोजन करें। छात्रों की ओर से प्रस्तुत संवाद या नाटक द्वारा सभा की समाप्ति हो तो अच्छा रहेगा।

सिंहावलोकन

कार्यक्रम समाप्त हो जाने के बाद अगले दिन छात्र-समिति एक बार फिर एकत्र होकर इस बात का विचार करे कि कार्यक्रम कहाँ-कहाँ अच्छा रहा और उसके संपादन में कहाँ कमी रही। यह चिंतन अगले वर्ष का कार्यक्रम बनाने में सहायक होगा।

सार्वजनिक अथवा रचनात्मक संस्थाएँ भी अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार इसी प्रकार पूर्व-तैयारी, कार्य-संपादन तथा सिंहावलोकन कर सकती हैं।

सेवाग्राम में नयी तालीम का परिसंवाद

सन् १९५९ में जब हिन्दुस्तानी तालीमी संघ और सर्व-सेवा-संघ का संगम हुआ तब विनोबाजी ने संघ को संबोधित करते हुए कहा था कि उसके सारे कार्यक्रम पर नयी तालीम का रंग चढ़ना चाहिए। हमारे सब काम नयी तालीम के हैं ऐसा समझकर हम उसे उठायें, तो एक बहुत बड़ी जमात हमारे अनुकूल होगी। शांति सेना के लिए नयी तालीम जरूरी है और ग्राम-स्वराज के लिए भी। इसलिए सर्व सेवा-संघ की पूरी ताकत उसमें लगे, इस पृष्ठभूमि में आगे के कार्यक्रम के लिए सर्वविध उद्देश्य सोचे गये हैं। उसमें से निम्नलिखित चार उद्देश्य विशेष महत्त्व के हैं

१—नयी तालीम राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम बने,

२—ग्रामदान और ग्राम स्वराज्य की भूमिका में नयी तालीम का नया विकास हो,

३—नयी तालीम की शिक्षा-पद्धति और शिक्षण शास्त्र का वैज्ञानिक विकास करना,

४—सर्वोदय का काम करनेवाली संस्थाओं की सब प्रवृत्तियों पर नयी तालीम का रंग हो।

सन् १९४४ में नयी तालीम का व्यापक अर्थ रखते हुए गांधीजी ने कहा था कि अभी तक हमारा कार्यक्रम बँधा हुआ है, अब हमारा क्षेत्र ७ से १४ साल के बालक का ही नहीं बल्कि गर्भ से मृत्यु तक का है। इस व्यापक व्याख्या के आधार पर और भूदान-यज्ञ मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रान्ति के संदर्भ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने सन् १९५७ में निर्णय किया कि ग्रामदान से अहिंसक समाज-क्रान्ति का समय आ गया है, और चूँकि अहिंसक समाज-क्रान्ति राजसत्ता के द्वारा न होकर शिक्षा के द्वारा ही हो सकती है, इसलिए इसमें हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने यथासंभव योग देना अपना कर्तव्य माना।

पिछले दो साल से खादी-ग्रामोद्योग के क्षेत्र में ग्रामीण आर्थिक संयोजन पर समग्र दृष्टि से विचार हुआ है और ग्राम इकाई में नये मोड़ का कार्यक्रम शुरू किया गया है। इसके साथ ही यह भी विचार चल रहा है कि हमारे कार्यों में जो कारीगर लगे हैं—कत्तिन, बुनकर आदि—उनका प्रशिक्षण कैसे हो, आगे सर्वोदय के सब कार्य नयी तालीम के रूप में कैसे चलें और रचनात्मक काम समग्रता की ओर कैसे बढ़ें।

इस संबंध में विचार करने के लिए चुने हुए कार्यकर्ताओं का एक परिसंवाद अगस्त के अंतिम सप्ताह में ता० २८, २९ और ३० को सेवाग्राम में आयोजित किया गया है। इस संबंध में किसी मित्र के कोई विचार हों तो लिखकर भेज दें। —राधाकृष्ण

अखिल भारत बुनियादी तालीम सम्मेलन

अध्ययन-मण्डल

की

पहली बैठक की कार्यवाही

अगस्त १९६१ म पचमढ़ी में अखिल भारत नयी तालीम सम्मेलन हुआ था। उसमें एक अध्ययन-मण्डल का निर्माण हुआ था जिसकी पहली बैठक ता० २२ और २३ जुलाई '६२ को गांधीग्राम (मद्रास) में श्री जी० रामचद्रन् की अध्यक्षता में हुई। उसमें निम्न सदस्य उपस्थित थे :

१—श्री जी० रामचद्रन्
२—श्री डॉ० सौन्दरम्
३—श्री मुनीयाडी
४—श्री प्रभाकर जी
५—श्री मह्नागिरी
६—श्री कुमारन्
७—श्री डी० पी० नैयर
८—श्री राधाकृष्ण
९—श्री आर० श्रीनिवासन्
१०—श्री आचार्लु
११—श्रीमती ललिताम्बिका
१२—श्रीमती सुमन बग
१३—श्रीमती मार्जरी साइक्स
१४—श्री एस० रामम्
१५—श्री अण्णाकन्
१६—श्री के० कुजम्न्
१७—श्री राधाकृष्ण मेनन
१८—श्री एस० मणी
१९—श्री पे० अरुणाचलम्
२०—श्री ग० उ० पाटणकर

सबसे पहले इस अध्ययन-मडल के सामने ये प्रश्न थे : (१) गैर-सरकारी सस्थाओं के कार्यकर्ताओं से बने हुए इस अध्ययन-मडल का स्थान और काम, (२) बेसिक शिक्षा के सबध म सरकार की नीति के प्रति इसका रुख। यह सही है कि प्राथमिक स्थाओं क लिये बुनियादी शिक्षा राष्ट्र की शिक्षा-नीति के तौर पर मान्य हो चुकी है, लेकिन उसके बारे में सामान्यतः धारणा यह बनी हुई है कि शिक्षकों में पर्याप्त योग्यता की कमी के कारण उस पर सफलता के साथ अमल नहीं किया जा सकता। उस कार्यक्रम के प्रति जनता का सक्रिय समर्थन प्राप्त नहीं है, बल्कि सहानुभूति का अभाव और विरोध ही है, इस डर के कारण कि बुनियादी शालाओं म बच्चों को दूसरे स्कूल-कॉलेजों की बराबरी का बौद्धिक ज्ञान नहीं मिलता है। शिक्षा-विभाग के बहुत से उच्च अधिकारी भी ऐसे हैं जिनको बुनियादी शिक्षा का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है और इसके बारे म उनकी अति अपूर्ण जानकारी भी है। वे जिस शिक्षाक्रम म शिक्षित हुए हैं उसमें कुछ भी परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते हैं।

इस परिस्थिति में अध्ययन-मण्डल ने निम्न तीन प्रमुख मुद्दों पर गहराई से विचार करना आवश्यक समझा :

(१) कैसे सिद्ध किया जाय कि बुनियादी स्कूल में सर्वोदय सिद्धांत और बौद्धिक स्तर–दोनों दृष्टियों से सफल शिक्षण दिया जा सकता है,

(२) बुनियादी शिक्षा के मूल्यों और सिद्धांतों की दिशा में लोक शिक्षण, ताकि जनता को सही जानकारी प्राप्त हो सके, और

(३) जिन लोगों के हाथ म शिक्षा-नीति निर्धारित करने का अधिकार है उन्हें प्रभावित करना।

अध्ययन-मण्डल की सर्वसामान्य राय रही कि बुनियादी शिक्षा की प्रगति के लिये यह अत्यत आवश्यक है कि जनता अपना विस्तृत पाठ्यक्रम और कार्य-पद्धति निर्धारित करने की स्वतंत्रता प्रत्येक प्रान्त और

शाला के व्यवस्थापकों को होनी चाहिए। सभी वर्गों में निर्धारित पाठ्यपुस्तकों को ही पढ़ाने के लिए विवश करने का अर्थ है उस स्वतन्त्रता का अपहरण। प्रत्येक स्कूल को यह अधिकार होना चाहिये कि वह अपने विद्यार्थियों को बाहरी परीक्षाओं में भेज सके, लेकिन उसके काम में बाहर का हस्तक्षेप न हो।

अध्ययन-मण्डल निम्न दो विषयों पर चर्चा करने के लिये दो टुकड़ियों में विभक्त हुआ

(१) बुनियादी शिक्षा और शिक्षक प्रशिक्षण

(२) उत्तर-बुनियादी शिक्षा

१—बुनियादी शिक्षा और शिक्षक प्रशिक्षण पर विचार करनेवाली पहली टुकड़ी का निवेदन।

उपस्थिति :

१—श्रीमती मार्जरी साइक्स (चेयरमैन)

२—श्री डी० पी० नैयर

३—श्री आर० श्रीनिवासन्

४—श्री आचार्लु

५—श्री एस० राजम्

६—श्री पाटणकर

७—श्री अन्नाकम्

८—श्री के० मुनीयण्डी

९—श्री कुनम्बु

इस टुकड़ी ने विचार किया कि हमारी अपनी बुनियादी शालायें अच्छे शिक्षण-स्तर और शिक्षा-पद्धति के विकास के लिये अपनी ओर से क्या प्रयत्न कर सकती हैं। अच्छी पढ़ाई इसका मुख्य तत्त्व है लेकिन प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षक को काम के वे सब साधन और सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहियें जो सफल बुनियादी शिक्षा के लिये आवश्यक हैं। उसके लिये आवश्यक प्रेरणा, ज्ञान और तकनीकी सहायता के लिये जो सुझाव प्रस्तुत किये गये वे निम्न प्रकार हैं

१—उत्पादन, उद्योग और प्रवृत्तियाँ

(अ) लक्ष्य—उत्पादक-उद्योगों की योजना वैज्ञानिक होनी चाहिये जिससे निर्धारित लक्ष्य सार्थक हो और बच्चों का दिलचस्पी बना रहे। उद्योग-मात्र के संयोजन में इस सिद्धांत का पालन होना चाहिये। उदाहरणार्थ—कताई-बुनाई का लक्ष्य किसी काल्पनिक आधार पर होने के बजाय बच्चों की वस्त्र-संबंधी आवश्यकता को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाना चाहिये। बागवानी और कृषि के उत्पादन लक्ष्य का संबंध शाला के बच्चों के दोपहर के भोजन के साथ होना चाहिये।

(आ) स्तर—अधिक परिश्रम या अधिक ज्ञान युक्त कर्म के द्वारा उत्पादन का गुण सुधरना चाहिये। शालाओं को अपने क्षेत्र में उपलब्ध सभी साधन-स्रोतों का लाभ, जैसे—विकास-योजना के कर्मचारी आदि जो भी ग्रामीण विकास-कार्य में लगी हुई संस्थायें हैं, सबकी सहायता प्राप्त करनी चाहिये।

(इ) मूल्यांकन—प्रगति का मूल्यांकन बारहों महीने लगातार होता रहना चाहिये, न कि केवल वर्ष के अंत में। निरीक्षकों को निरीक्षण कार्य का विशेष शिक्षण देना चाहिये जिसमें उद्योग शिक्षण को भी उचित बल रहे।

(ई) प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम—शालाओं के शिक्षकों के ज्ञान और कला के विकास की दृष्टि से उनके कार्यकाल में भी योग्य प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये। इसके लिये सर्व-सेवा संघ के तत्त्वावधान में स्थानीय गोष्ठियों का तथा कुछ विशेष शिक्षा-केंद्रों में अल्पकालीन अभ्यासक्रमों का आयोजन किया जा सकता है।

(उ) कार्यक्रमों में दिशा-संकेत—इन सारे कार्यक्रमों में कुशलतापूर्वक तथा मेहनत के साथ काम करने की आदत डालने पर जोर होना चाहिये।

२—शाला और समाज

(अ) अगर शालाओं द्वारा समाज की सेवा होती है तो उन्हें जनता की अनुकूल भावना प्राप्त होगी।

(आ) शिक्षकों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिये जिससे वे बुनियादी शिक्षा की अच्छाई को अच्छी तरह समझा सकें ताकि लोगों के मन में जँचे

जैसे ग्रामीण क्षेत्र के सेवाकार्यों के प्रशिक्षण के रूप में उत्तर-बुनियादी शिक्षा का संगठन।

निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की गयीं :

१—उत्तर-बुनियादी शिक्षा को देश में आज प्रचलित सेकेंडरी शिक्षण के अंतर्गत मान्यता मिलनी चाहिये। देश में जगह-जगह बुनियादी शालाओं को सचालन करनेवाली गैर-सरकारी सस्थाओं को जिन्होंने बुनियादी शालाएँ विकसित की हैं उत्तर-बुनियादी शालाएँ चलाने के लिये भी प्रोत्साहित करना चाहिये ताकि वे इस शिक्षा की सभावनाओं को ऊँचे स्तर पर सिद्ध कर सकें।

सरकार को चाहिये कि जिस प्रकार की सुविधायें आज दूसरे प्रकार के सेकेण्डरी स्कूलों को दी जाती हैं वे सारी सुविधायें ऐसी गैरसरकारी सस्थाओं को भी दे। जनमानस को प्रभावित करने की दृष्टि से प्रत्येक राज्य में कम-से कम १०-१५ ऐसी शालायें स्थापित होनी चाहियें। अध्ययन मण्डल ने विश्वास प्रकट किया कि अ० भा० सर्व-सेवा सघ, गाधी स्मारक निधि, कस्तूरबा स्मारक निधि तथा खादी-ग्रामोद्योग आदि गैरसरकारी सेवा-सस्थायें इस प्रकार की बुनियादी शालाओं का सगठन और विकास जहाँ सभव हो करेंगी।

२—राज्य सरकारों को चाहिये कि वे अपने राज्य में उत्तर-बुनियादी शिक्षा के कुछ स्कूल स्वय खोलें क्योंकि उत्तर-बुनियादी शिक्षा माध्यमिक शिक्षा के लिये मान्य हो चुकी है।

३—चूँकि उत्तर-बुनियादी शिक्षण और वर्तमान सेकेण्डरी शिक्षण के बीच समन्वय स्थापित होना है इसलिये यह आवश्यक है कि सेकेण्डरी एजुकेशन बोर्ड ही उत्तर-बुनियादी शालाओं के काम का मूल्यांकन करे। उस बोर्ड को उत्तर-बुनियादी शिक्षण के उद्देश्यों और लक्ष्यों के आधार पर उनके मूल्यांकन की योजना तैयार कर लेनी चाहिये और एक छोटी समिति के द्वारा जिसमें बुनियादी शिक्षण क्षेत्र में काम करनेवालों के प्रतिनिधि भी हों, मूल्यांकन करके विद्यार्थियों को प्रमाणित करना चाहिये कि वे सार्वजनिक सेवा-कार्य या विश्वविद्यालयीन उच्च शिक्षण के लिये योग्य हैं। आतरिक मूल्यांकन (इण्टरनल असेसमेंट) के प्रश्न का भी उस बोर्ड को अध्ययन करना चाहिये कि उसे कितना महत्त्व देना चाहिये। सेकेंडरी बोर्ड के निर्णयों को ही अंतिम निर्णय मानना चाहिये। विद्यार्थियों के प्रमाणपत्र में इसका भी उल्लेख होना चाहिये कि उत्तर-बुनियादी शिक्षण में विद्यार्थी ने अमुक कार्य विशेष तौर पर किया है।

४—जब यह कल्पना की गयी है कि उत्तर-बुनियादी शालाओं के अभ्यासक्रमों में प्रत्येक राज्य में कुछ न कुछ भिन्नता रहेगी तब शिक्षकों को भी इतना जागरूक रहना चाहिये कि बुनियादी शिक्षण के सिद्धान्तों के आधार पर शाला के आतरिक जीवन तथा काम की स्वतत्रता बनी रहे। उत्तर-बुनियादी शाला के स्वस्थ विकास के लिये यह स्वतत्रता बुनियादी शर्त है।

५—खादी और ग्रामोद्योगों के क्षेत्र में आज प्रयत्न हो रहे हैं कि बड़ी सख्या में ऐसे कार्यकर्ता तैयार किये जायँ जो स्वय कारीगर और शिक्षक के रूप में काम कर सकें। उनकी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये उत्तर-बुनियादी शिक्षण-प्राप्त विद्यार्थी अधिक उपयोगी होंगे, क्योंकि उनके शिक्षण में ही उत्पादक कार्य, सामुदायिक जीवन और पास-पड़ोस के क्षेत्र से सपर्क पर जोर दिया जाता है। इस प्रकार उत्तर-बुनियादी शालाओं का विकास अनिवार्य हो जाता है जिससे इन विद्यार्थियों को खादी आदि ग्रामीण उद्योगों के क्षेत्र में लगनेवाले कार्यकर्ताओं के रूप में तैयार किया जा सके। आवश्यकतानुसार आगे के प्रशिक्षण के लिये कुछ अधिक समय की भी व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार ग्रामीण औद्योगीकरण के प्रयत्न में लगी हुई विभिन्न सस्थाओं के बीच परस्पर सहयोग का एक नया रास्ता खुल जाता है, क्योंकि इससे ग्रामीण औद्योगीकरण के काम में लग सकनेवाले कार्यकर्ताओं की तैयारी करने का अवसर उत्तर-बुनियादी शालाओं को मिलेगा।

३—शालाओं में भाषाओं की पढाई।

इसके बाद अध्ययन-मडल ने शालाओं में मातृ-भाषा के अलावा दूसरी एक भाषा पढ़ाने के प्रश्न पर

विचार किया। इसके सम्बध में विभिन्न प्रदेशों की परिस्थिति स्पष्ट की गयी। अत में समिति ने निम्न निवेदन स्वीकार किया

"बच्चों को उनकी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा के अतिरिक्त किसी दूसरी अपरिचित भाषा की पढ़ाई प्रारम्भ करने के लिए, खासकर अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू करने के लिए, कौन-सा वर्ष ठीक रहेगा इस पर आज देश में सर्वत्र चर्चा चल रही है। इस बात का दावा किया जाता है कि इस समान भाषा (अंग्रेजी) के सार्वत्रिक अध्ययन से राष्ट्रीय एकता सिद्ध होगी और कई राज्यों में तीसरे दर्जे से ही अंग्रेजी पढ़ाने की योजनायें बनायी जा रही हैं। यह भी सुझाव दिया जा रहा है कि हाईस्कूलों में अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने की व्यापक सुविधा रहनी चाहिये और प्रत्येक जिले में कम-से-कम एक हाई स्कूल ऐसा होना चाहिये जहाँ पढ़ाई का माध्यम अंग्रेजी ही हो।

"इस अध्ययन-मण्डल की राय है कि जिस राग नैतिक भावना के वातावरण में ये सुझाव दिये जाते हैं वह किसी सुसगत और स्वस्थ निर्णय पर पहुँचने के लिये अनुकूल नहीं है। इन सारे विषयों पर वस्तु निष्ठ और भावुकतारहित होकर केवल शिक्षा-नीति की दृष्टि से ही विचार करना चाहिये। इन सुझावों का असर जिन लाखों लाख बच्चों के शिक्षण पर पड़ता है उनकी वास्तविक आवश्यकताओं और सही परिस्थिति पर अंग्रेजी विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी ध्यान नहीं दिया है, न राजनीति से प्रभावित अंग्रेजी समर्थकों ने ही दिया है। राष्ट्रीय एकता के सदर्भ में विचार करने के लिये भी बहु भाषा-भाषी राष्ट्रों के अनुभवों पर शांति और सजगता के साथ बैठकर अध्ययन करना कहीं अधिक मूल्यवान् है बनिस्बत इसके कि भावावेग से प्रेरित होकर उतावली से काम लिया जाय।

'तीसरे दर्जे से अंग्रेजी दाखिल करने का नियम व्यवहार में निश्चित ही केवल कागज पर रहेगा। आज प्राथमिक शिक्षण को व्यापक बनाने में किस प्रकार के अच्छे शिक्षकों की व्यापक कमी महसूस हो रही है, तिस पर शुरू के विद्यार्थियों को अंग्रेजी पढ़ाने लायक शिक्षकों का तो नितान्त अभाव है। भाषा की खराब पढ़ाई न करना निरर्थक है, बल्कि हानिकर भी है। एक बार गलत आदत पड़ जाय तो फिर आगे वह सुधारी नहीं जा सकती। साथ ही यदि प्रशासन का एक निर्णय अमल में न आ सके तो उसका बहुत बुरा प्रभाव नैतिकता और अनुशासन पर अवश्य पड़ेगा। एक नयी भाषा को सफलतापूर्वक किस समय से पढ़ाया जाना चाहिये, इस प्रश्न से और शाला के अभ्यासक्रम में किसी भी भाषा को स्थान देने के सबध में जिस सामाजिक और सांस्कृतिक सदर्भ का अवश्य ध्यान रखना पड़ता है, उससे भी बिल्कुल भिन्न ये उपयुक्त व्यावहारिक विचार विशेष महत्त्व के हैं। यह अध्ययन-मण्डल इस सबध में अपना विचार स्पष्ट करता है कि तीसरे दर्जे जैसे प्रारम्भिक समय में ही दूसरी भाषा का पढ़ाना कुल मिलाकर प्राथमिक शिक्षण के लिये अहितकर होगा। छठे दर्जे से पहले दूसरी भाषा के सामान्यत दाखिल करने की उपयुक्तता के सबध में बहुत सदेह है।

अत इस विषय को राजनैतिक क्षेत्र से बाहर निकालकर निष्पक्ष और सुयोग्य व्यक्तियों के द्वारा इसका निर्णय करा लेना चाहिये जो अपने निर्णय शैक्षणिक और सामाजिक तथ्यों के आधार पर दें। यह अध्ययन-मण्डल अ० भा० सर्व-सेवा-सघ से निवेदन करता है कि वह इस विषय में आवश्यक कार्यवाही करे ताकि इस महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक समस्या का सही दृष्टिकोण से अध्ययन हो और उस अध्ययन का सार जन-साधारण के मार्गदर्शन के लिये उपलब्ध हो।

४—बुनियादी शिक्षा में शोध कार्य।

शोध कार्य के लिए समस्यायें

बुनियादी शिक्षा के शोध कार्य के सबध में जो एक नोट तैयार किया गया था उस पर अध्ययन मण्डल ने विचार किया और निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा

सर्वोदय-पर्व

[११ सितम्बर से २ अक्तूबर]

११ सितम्बर (विनोबा-जयन्ती) से २ अक्तूबर (गांधी जयन्ती) तक का समय देशभर में 'सर्वोदय पर्व' के तौर पर मनाया जाय, ऐसा सुझाव है। इस युग की समस्याओं के समाधान के लिए सर्वोदय विचार को गांधी और विनोबा ने एक नया स्वरूप दिया है। अतः इन दोनों के जन्म दिनों तथा उनके बीच की अवधि का उपयोग लोक-मानस को सर्वोदय विचार की ओर प्रवृत्त करने में हो, यह उचित ही है। कार्यक्रमों के कुछ प्रकार नीचे सुझाये गये हैं

कार्यक्रम

(१) 'सर्वोदय-पर्व' के दिनों में जगह जगह छोटे-बड़े कार्यकर्ता पदयात्राएँ करें। नगर-पदयात्राएँ, अर्थात् शहरों में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की पदयात्रा तथा घर-घर से सम्पर्क भी इसमें शामिल है। इन पदयात्राओं में साहित्य बिक्री का तथा पत्र-पत्रिकाओं के ग्राहक बनाने का विशेष कार्यक्रम रहे। कोशिश यह होनी चाहिए कि देश के हर जिले में और हर शहर में कम-से-कम एक पदयात्रा जरूर हो। पदयात्राओं में लोगों को भी शामिल करने का प्रयत्न हो।

(२) पदयात्रा के अलावा कार्यकर्ता पर्व की अवधि में जहाँ कहीं भी जायँ, अपने साथ थैले में कुछ-न-कुछ सर्वोदय साहित्य अवश्य रखें। इसे किसी भी समय वे लोगों को दिखा सकते हैं, उसका परिचय दे सकते हैं। तथा बेच भी सकते हैं।

' उपर्युक्त दोनों कार्यक्रमों से सर्वोदय कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत निष्ठा प्रकट होगी। साथ ही साथ स्थानीय परिस्थिति और उपलब्ध शक्ति के अनुरूप यहाँ दिये हुए सामूहिक और सार्वजनिक कार्यक्रमों का आयोजन भी किया जा सकता है

(३) विचार गोष्ठियाँ तथा व्याख्यानमालाएँ।

(४) शहरों, कस्बों तथा सार्वजनिक स्थानों पर छोटी-बड़ी साहित्य प्रदर्शनियाँ।

(५) सद्विचारों को प्रेरित करनेवाले नाटक, भजन, कीर्तन आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम।

(६) शिक्षण-संस्थाओं में निबन्ध या वक्तृत्व प्रतियोगिताएँ।

(७) ग्राम-पंचायतों, ग्राम और नगर के पुस्तकालयों, शाला मण्डल, व्यापार-मण्डल, विकास-खण्ड आदि संस्थाओं के संचालकों से मिलकर साहित्य प्रचार के बारे में उन्हें अनुकूल कर उन संस्थाओं से संबंधित विशेष वर्गों या क्षेत्र में साहित्य प्रचार तथा पत्र-पत्रिकाओं के ग्राहक बनाने का आयोजन किया जाय।

(८) खादी-संस्थाओं का देश के हजारों गाँवों तथा कस्बों से सम्पर्क है, अतः खादी-कार्यकर्ता अपने-अपने क्षेत्र में परिस्थिति के अनुसार ऊपर बताये हुए विभिन्न कार्यक्रम उठा सकते हैं। खादी बिक्री के लिए खादी संस्थाएँ कभी कभी विशेष 'कमीशन' देती हैं। उसका कुछ अंश सर्वोदय-साहित्य के रूप में दिया जा सकता है।

(९) 'सर्वोदय पर्व' के दिनों में खादी-भण्डारों पर साहित्य की विशेष बिक्री का प्रयत्न व प्रबन्ध।

इस वर्ष के लिए खास विषय

सर्वोदय-आन्दोलन की परिस्थिति और आवश्यकता तथा देश विदेश की चालू समस्याओं को ध्यान में रखते हुए हर साल 'सर्वोदय-पर्व' के लिए दो-चार खास विषय चुन लिये जायँ, जो सारे कार्यक्रमों के केन्द्र बिन्दु हों। विभिन्न कार्यक्रमों के जरिये इन विषयों पर सर्वोदय-दृष्टिकोण से प्रकाश डाला जाय। इस वर्ष 'सर्वोदय पर्व' के लिए नीचे लिखे पाँच विषय सुझाये जाते हैं

(१) शांति-सेना की आवश्यकता और इस कार्यक्रम के विभिन्न पहलू।

(२) भूमि-समस्या को हल करने का और इस सम्बन्ध में भूदान दृष्टिकोण का महत्त्व।

(३) देश की भावनात्मक एकता—'नेशनल इण्टेग्रेशन'।

(४) ग्राम-स्वराज्य के सन्दर्भ में पंचायती राज का महत्त्व और उसका उपयोग।

(५) अणुशस्त्र और अणुशस्त्रों के प्रयोगों का विरोध।

सर्वोदय-पर्व

गये साल शरदारंभ में शारदोपासना के लिए, अर्थात् सर्वोदय-साहित्य के प्रचार के लिए, सर्व-सेवा-संघ ने सारे भारत में तीन सप्ताह का एक अभियान चलाया और उसका लोगों में काफी स्वागत हुआ था, यद्यपि प्राथमिक तैयारी के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला था। इस साल वही अधिक व्यापक दृष्टि से चलाने का सोचा गया है और इसलिए उसका 'सर्वोदय-पर्व' नाम दिया गया है।

सर्वोदय-पर्व में सर्वोदय-साहित्य-प्रचार को मध्य-बिन्दु में रखकर शांति-सेना, भूदान, राष्ट्रीय एकता, ग्राम-स्वराज्य, निःशस्त्रीकरण—इस पंचविध कार्यक्रम के विषय में लोक-जागृति की जायगी।

मैं आशा करता हूँ, यह उपक्रम सर्वोदय के माने गये चंद कार्यकर्ताओं तक सीमित नहीं रहेगा और उसको सार्वजनिक रूप दिया जायगा। सर्वोदय-कार्यकर्ताओं के लिए तो यह नित्य-कार्यक्रम है। सारे देश का ध्यान खींचने और सहयोग हासिल करने के लिए यह नैमित्तिक आयोजन है।

भूदान यात्रा
जि० कामरूप
(आसाम)
दि० २७-७-'६२

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, वाराणसी में मुद्रित और प्रकाशित।
केवल कवर मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक २

वार्षिक चंदा ४-००
एक प्रति ०-३७

सितंबर १९६२

नयी तालीम

सूचनायें

- 'नयी तालीम' हर महीने की १५ तारीख को प्रकाशित होता है।
- इसका वर्ष अगस्त मास से आरम्भ होता है।
- किसी भी महीने से ग्राहक बना जा सकता है।
- चन्दा पेशगी लिया जाता है। वी॰ पी॰ डाक से मँगाने पर ६२ न॰पै॰ अधिक लगते हैं।
- पत्र-व्यवहार के समय अपनी ग्राहक सं॰ का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पूरा पता स्पष्ट अक्षरों में लिखने की कृपा करें।
- 'नयी तालीम' का वर्तमान पता—

नयी तालीम
अ॰ भा॰ सर्व-सेवा संघ
राजघाट, वाराणसी-१

अनुक्रम

नयी तालीम

क्या पढ़ायें, किसे पढ़ायें, किसलिए पढ़ायें ?

इन तीन प्रश्नों में से एक प्रश्न हमेशा के लिए हल हो चुका है। कोई भी देश हो, किसी भी विचार को माननेवाला हो, उसके सामने यह प्रश्न रहा ही नहीं कि कुछ लोगों को पढ़ाना है और बाकी को छोड़ देना है।

लेकिन बाकी दो प्रश्नों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। क्या पढ़ायें, किस लिए पढ़ायें—युग-युग में उठनेवाले इन प्रश्नों का अभी तक कोई निश्चित, प्रामाणिक, एक उत्तर नहीं मिला है। लेकिन एक बात तय है। यह नया युग "प्लैनिंग" का है, इसलिए शिक्षा का प्रश्न, या कोई भी प्रश्न अपने भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। अगर मनुष्य के जीवन को सुनियोजित करना है तो समाज की व्यवस्था सत्तालोलुप राजनीतिकों और शिक्षा के व्यवसायी शिक्षकों के हाथ में नहीं छोड़ी जा सकती। समाज की शिक्षा पूरे समाज की चिंता और चिंतन का विषय होना चाहिए, केवल 'विशेषज्ञों' के नहीं।

एक दूसरी बात भी है। इस युग का जीवन दो शक्तियों से प्रभावित (गवर्न्ड) है—विज्ञान और लोकतंत्र। हजारों वर्षों के बाद ये दो शक्तियाँ मनुष्य के हाथ आयी हैं। इसलिए इनसे अलग रहकर न राजनीति टिक सकती है, न धर्मनीति, और न अर्थनीति, समाजनीति या शिक्षानीति।

विज्ञान एकांगी नहीं है, समग्र है। संहार उसका विकार है, स्वधर्म नहीं। लोकतंत्र का दमन या शोषण से मेल नहीं है, उसका सही स्वरूप समता और सहकार में प्रकट होता है। इसलिए विज्ञान से मेल खानेवाली जीवन-नीति समता और समग्रता की ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

विज्ञान और लोकतंत्र के कारण जीवन की परिस्थिति नित्य नयी होती जा रही है, इसलिए अब तालीम भी केवल नयी नहीं, नित्य नयी होगी। इसके अलावा विज्ञान और लोकतंत्र की अनेक असीम अपेक्षाओं की पूर्ति कुछ वर्षों की स्कूली शिक्षा से नहीं हो सकती। उसके लिए पूरे जीवन यानी गर्भ से मृत्यु तक की शिक्षा होनी चाहिए।

गर्भ से मृत्यु तक की शिक्षा क्या होगी, कहाँ होगी ? कुछ किताबों की और किसी बँधे हुए स्कूल में ? वह तो वहाँ होगी जहाँ मनुष्य रहता है, कमाता है, खाता-पीता और परिवार को पालता है। उसकी हर क्रिया—खेती बारी, उद्योग-धन्धे, सामाजिक कृत्य और सम्बन्ध, घर का जीवन, पर्व और उत्सव—शिक्षण का माध्यम होगी। उसके जीवन का हर पहलू शिक्षण का विषय होगा। इस भूमिका में समवायी ज्ञान का क्रम बच्चे और प्रौढ़ दोनों के लिए बिठाना होगा। इस तरह आर्थिक और सांस्कृतिक विकास दोनों शिक्षण की प्रक्रिया के अंतर्गत आ जायँगे और जीवन का द्वैत मिट जायगा।

तो विज्ञान और लोकतंत्र की भूमिका में ऊपर के दो प्रश्नों के ये उत्तर होंगे क्या पढ़ायें ? जीवन के लिए उपयोगी हर क्रिया, हर ज्ञान केवल कुछ विषय नहीं। किसलिए पढ़ायें ? मनुष्य के साथ रहकर सुखी रह सके इसलिए। इसी का नाम समग्र नयी तालीम है।

•

समता और शिक्षक

आज स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षण-पद्धति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया गया हो, ऐसा नहीं है। उसमें जो प्रमुख दोष पहले थे, वे ज्यों के त्यों मौजूद हैं। यह केवल शिक्षण की ही बात नहीं है, बल्कि प्रशासन की *पद्धति की भी यही स्थिति है।* स्वतन्त्रता के पहले बार बार सभी कहते थे कि यह नौकरशाही जड़ है, कल्पना शून्य है, प्रतिभा विहीन है, अल्फातातशाही का प्रतीक है, सर्व-साधारण जनता के सम्पर्क से बिल्कुल दूर तथा राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। सत्ता के हस्तान्तरण के तुरन्त बाद ही नौकरशाही मानो किसी चमत्कार से बदल गयी हो। आज उसी नौकरशाही की प्रशंसा बार-बार हमारे नेता प्रत्येक प्रसंग में मुक्तकण्ठ से करते हैं।

मैंने पहले ही कहा है कि अच्छे शिक्षण का अनिवार्य परिणाम यह होना चाहिए कि बच्चे उस समाज के जिसमें वे रहते हैं या यदि समाज में कोई परिवर्तन करने का विचार हो तो उस भावी समाज के नये आदर्शों और नये मूल्यों को आत्मसात् कर सकें। यहाँ भारत में हमने स्वतन्त्रता के पहले और स्वतन्त्रता के बाद अपने संविधान में उन आदर्शों का बहुत विस्तार के साथ विश्लेषण किया है जिसके अनुकूल हम अपना देश बनाना चाहते हैं। हम प्रजातन्त्र और समाजवाद चाहते हैं। ऐसा है तो फिर हम अपने बच्चों को प्रजातन्त्रीय और समाजवादी आदर्शों की शिक्षा देना चाहिए अर्थात् हमारी शिक्षण पद्धति प्रजातन्त्रीय और समाजवादी होनी चाहिए। क्या हमारा शिक्षण इन दो में से कोई एक भी है?

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि स्कूल और कॉलेजों द्वारा दिया जानेवाला शिक्षण हमेशा बहुत खर्चीला रहा है वह खास कर ऊँचे वर्ग के लोगों की दृष्टि से ही चलाया गया है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे यहाँ प्रजातन्त्र की स्थापना हो उसकी नींव मजबूत हो और वह समाजवादी समाज में विकसित हो, तो हमारे शिक्षण को प्रजातन्त्र और समाजवादी आदर्शों को पूरे तौर पर अपनाना चाहिए। उसका दायरा व्यापक और सर्वसुलभ होना चाहिए। किसी लड़के के अभिभावक किन्हीं व्यक्तिगत कठिनाइयों के कारण लड़के के शिक्षण का भार वहन नहीं कर सकते हों, लेकिन उस लड़के में शिक्षण पाने की पूरी बौद्धिक योग्यता है, तो ऐसे एक भी लड़के को मौका न मिलने जैसी स्थिति नहीं रहनी चाहिए। मैं कोई साम्यवाद का समर्थक नहीं हूँ, पर इतना तो मानना ही होगा कि साम्यवादी देशों में शिक्षण किसी विशिष्ट जाति या वर्ग तक ही सीमित नहीं है। यहाँ शिक्षण सर्वसुलभ है। वहाँ ऐसी स्थिति नहीं है कि उच्च शिक्षण लेनेवाले उच्च वर्ग के ही बच्चे हों। साम्यवादी लोग यह अनुभव करते हैं कि उच्च शिक्षण को सर्वसुलभ बनाने के लिए आवश्यक धनराशि एकत्रित करना सम्भव नहीं है। साथ-साथ यह भी मानते हैं कि प्रत्येक नागरिक को उच्च शिक्षण दिलाया जाय तब भी हर कोई उसका पूरा लाभ उठा नहीं पायेगा और समाज के लिए उसका विशेष उपयोग नहीं हो पायेगा। इसलिए वे उच्च शिक्षण के लिए कुछ उत्तम होनहार विद्यार्थियों को चुनते हैं। इसमें इस बात को तनिक भी महत्त्व *नहीं देते कि वे विद्यार्थी खर्च के बोझ उठा सकेंगे या* नहीं, अथवा उनके माता पिता का समाज में क्या स्थान है। इससे होता यह है कि उच्च शिक्षण के लिए विशिष्ट वर्ग से ही आने के बजाय सर्वसाधारण जनता में से जितने भी उत्तम युवक होते हैं वे आते हैं। यही कारण है कि उन देशों में सक्षम और उत्कृष्ट युवकों की कमी नहीं दिखायी देती है। युगोस्लाविया जैसे छोटे से देश में भी प्रशासन के लिए या खेती और अन्य उद्योगों के सफल संचालन के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त युवकों की कमी नहीं है। रूस में कुल

डॉक्टरों और चिकित्सा-कार्य में लगे व्यक्तियों का ६० प्रतिशत स्त्रियाँ हैं। इनमें अधिकतर स्त्रियाँ ग्रामीण हैं। एक या दो दशक पहले ये स्त्रियाँ हमारी ग्रामीण महिलाओं की तरह, बल्कि इनसे भी बुरी हालत में थीं, बिल्कुल अनपढ़ और संस्कारशून्य थीं। सोचने की बात है कि उन्होंने डॉक्टर और नर्स का ज्ञान कैसे प्राप्त किया। इसका कारण यही था कि वहाँ इन कामों के लिए उम्मीदवारों का चुनाव विशिष्ट वर्ग या जाति में से न होकर सर्वसाधारण जनता में से हुआ। यह सत्य है कि जिन्हें हम निम्न वर्ग के लोग कहते हैं, उनके नई बच्चों में बौद्धिक क्षमता उच्च वर्ग के बच्चों की अपेक्षा अधिक रहती है। अगर उन्हें अवसर दिया जाय, तो उच्च वर्ग के बच्चों की अपेक्षा अधिक कार्यक्षमता और प्रतिभा का परिचय वे दे सकते हैं। एक ओर उनमें अधिक जीवनीशक्ति है, तो दूसरी ओर कुछ जानने की उनके अन्दर उत्कटता है। आज भारत में उनकी जो स्थिति है, उसके कारण उनके अन्दर अपनी स्थिति को उत्तम बनाने और उच्च शिक्षण का अवसर प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा है। मुझे विश्वास है कि भारत की कई उच्च जातियाँ पतनोन्मुख हैं। देश में यदि चेतना का संचार करना है, तो जो पिछड़े हुए और अज्ञानी माने जाते हैं, पर जिनमें प्राण शक्ति है, लेकिन वह अभी सोयी पड़ी है, उसका उपयोग देश के प्रजातंत्रीय और समाजवादी ढंग के नव निर्माण में करना चाहिए।

यह करने के बजाय स्वतंत्रता के बाद हम लोगों ने पहले से ज्यादा पब्लिक स्कूल खोले। ये स्कूल केवल पैसेवालों के लिए हैं। किसी पतनोन्मुख जाति या वर्ग का कोई जन्म से मूर्ख व्यक्ति भी वह शिक्षण ले सकता है, बशर्ते उसके अभिभावक स्कूल का खर्च उठा सकते हों। इन स्कूलों का शिक्षण अन्य स्कूलों से थोड़ा बहुत अच्छा हो सकता है, परंतु इसमें भी वे सारे दोष भरे हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। कहते हैं कि ये संस्थाएँ माइनस हैं। लेकिन इनको अमीर लोगों का और जिनके हाथों में राजनीतिक या प्रशासनिक बाग डोर है, ऐसे लोगों का समर्थन और आश्रय प्राप्त रहता है। मंत्रीगण इन संस्थाओं में अक्सर जाते रहते हैं और वहाँ के समारोहों में भाग लेते हैं। वे उन स्कूलों की बढ़-चढ़कर प्रशंसा करते हैं। जिस पब्लिक स्कूल की नकल यहाँ इंग्लैंड से की गयी थी, वहाँ भी ये स्कूल नये जमाने में कुछ बेमेल-से माने जाने लगे हैं। इंग्लैंड ऐसा देश है, जहाँ कुछ बेमेल पुरानी चीजों को संरक्षण आज तक मिलता जा रहा है, जैसे राजतंत्र को। फिर भी अंग्रेजों में एक प्रतिभा है, जिससे वे पुरानी संस्थाओं को उलट-पलटकर अपने काम की बना लेते हैं। आज इंग्लैंड में जो पब्लिक स्कूल और विश्वविद्यालय हैं, उन पर धनिकों का एकाधिकार नहीं रह गया है। वहाँ कालेज में प्रवेश देने के लिए बहुत कड़ी जाँच की जाती है और गरीब तथा योग्य बच्चों को कई स्थानीय सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से तथा सरकार की ओर से भी छात्र-वृत्तियाँ मिलती हैं। मैंने सुना है कि इन संस्थाओं में पढ़नेवाले ८० प्रतिशत छात्रों को छात्र-वृत्तियाँ मिलती हैं। हर हालत में यूरोप के दो एक देशों के अलावा अन्यत्र कहीं भी चाहे वे प्रजातंत्रीय देश हों चाहे साम्यवादी, पुराने ढंग के पब्लिक स्कूल नहीं मिलेंगे। जब तक हमारे देश में विशिष्ट वर्गों की ये शैक्षणिक संस्थाएँ चालू रहेंगी, तब तक हमारी शिक्षण पद्धति न तो प्रजातंत्रीय कही जा सकेगी, न समाजवादी ही। यह कहना बिल्कुल असंगत है कि हमारे यहाँ के पब्लिक स्कूल खानगी या व्यक्तिगत संस्थाएँ हैं। जो संस्थाएँ हमारे सामाजिक आदर्शों के अनुरूप नहीं हैं, उन्हें धीरे धीरे खतम करने की दिशा में कदम उठाया जाना चाहिए। क्या हमने अस्पृश्यता को खतम नहीं किया है? जमींदारी प्रथा का उन्मूलन नहीं किया? क्यों किया? इसलिए कि ये संस्थाएँ प्रजातंत्र और समाजवाद के प्रतिकूल थीं। जब तक वर्ग विशेष के शिक्षण का क्रम जारी रहेगा, तब तक यह घोषणा करना निरर्थक है कि हम प्रजातंत्र और समाजवाद को मजबूत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हमने कहा है कि बच्चे का शिक्षण उसके जन्म से प्रारम्भ होता है और बाद में स्कूलों कॉलेजों में जारी रहता है। इसका हेतु यह है कि बालक को एक विशिष्ट समाज के योग्य नागरिक बनाया जाय। आज

के इन पब्लिक स्कूलों में जो शिक्षण दिया जा रहा है उसके द्वारा किस प्रकार के समाज के नागरिक बनाये जा रहे हैं ? निश्चित ही विद्यार्थी इन पब्लिक स्कूलों के द्वारा भारतीय समाज के योग्य नहीं बनाये जा रहे हैं। इनके विद्यार्थी अपने को उच्चवर्गीय मानते हैं, अपना ही एक विशिष्ट वर्ग मानते हैं। रहन-सहन, आचार-विचार, रुचि और दृष्टि में पिछली पीढ़ी से अधिक यूरोपीय हैं, जिस समाज के ये हैं उसके नहीं रह जाते हैं। पुरानी पीढ़ी के लोग, पाश्चात्य-शिक्षण के बावजूद राष्ट्र के क्रांतिकारी आंदोलन के साथ एकरूप हो सकते थे, भारतीय संस्कृति और रहन-सहन को अपना सकते थे और अपनी भारतीयता का गर्व अनुभव करते थे—इन विद्यार्थियों से कहीं अधिक, जो इन पब्लिक स्कूलों में प्रशिक्षित होते हैं। इनका सारा आपसी व्यवहार अंग्रेजी में चलता है। अकसर यही भाषा ये अपने घरों में भी काम में लाते हैं। माता-पिता भी इसीलिए इन महँगे स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ने भेजते हैं, ताकि वे अन्य विषयों के अलावा अच्छी अंग्रेजी सीख सकें। निश्चित ही भारत के बच्चों को किसी प्रकार के भारतीय समाज के योग्य बनाने का यह कोई तरीका नहीं है।

हमारे सामने किन्हीं खास किस्म की संस्थाओं का प्रश्न नहीं है। चाहे वे दूसरी संस्थाओं से कितनी भी दक्ष हों, हमारे सामने तो देश के शिक्षण की समस्या है, जिससे हम अपने घोषित सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

अनुशासन

वृक्ष का निर्णय उसके फल से करना होता है। हमारी शिक्षा का फल निश्चित ही कड़ुआ आया है। आज यहाँ के ज्ञान-पीठों में, खासकर कालेजों और विश्वविद्यालयों में जो कुछ चल रहा है, उससे किसी भी स्वाभिमानी देश का मस्तक लज्जा से झुक जायगा। इन विश्वविद्यालयों के शिक्षकों और छात्रों की अनुशासन-हीनता की यह स्थिति है कि बार-बार विश्वविद्यालयों को अनिश्चित अवधि तक बंद रखना पड़ता है। उन पवित्र विद्यापीठों के पास शांति और व्यवस्था बनाये रखने और छात्रों को हटाने के लिए पुलिस का सहारा लेना पड़ता है। शिक्षा-संस्थाओं से यों बाहर कर देने पर वे छात्र तो बिलकुल स्वच्छंद बन जाते हैं। शिक्षक और छात्र दोनों एक-दूसरे के द्वारा या उच्च अधिकारियों द्वारा फौजदारी अदालतों में ले जाये जाते हैं। इन विद्या-स्थानों में अकसर हड़तालें होती हैं, मानो ये कोई मिल-कारखाने हों और यहाँ के शिक्षकों और छात्रों का संबंध शोषक पूँजीपतियों और शोषित मजदूरों का-सा संबंध हो। और यह सारा उस देश में हो रहा है, जहाँ शिक्षक माता-पिता के समान, गुरु या भगवान् के समान पूजनीय माना जाता था।

छात्राओं की शिकायत है कि लड़के उन्हें बार-बार छेड़ते हैं, दिक करते हैं और उनका मजाक उड़ाते हैं। अखबारों तक में निःसहाय लड़कियों के प्रति ऐसे हेय, घृणास्पद और कायरतापूर्ण व्यवहारों के बारे में पढ़ने को मिलता है। ऐसे यौवन-सहज, लेकिन निरर्थक और खतरनाक उपद्रवों के विरुद्ध कुछ भी कार्रवाई नहीं की जाती है। छात्राओं और उनके माता-पिताओं की प्रत्यक्ष शिकायत पर भी अधिकारीगण पुरुष-छात्रों के भय के कारण उदासीन रह जाते हैं। ऐसी नृशंसता के विरुद्ध, जो कि केवल शिक्षकों और छात्रों के लिए ही नहीं, परंतु देश के लिए भी कलंक है, छात्र-समाज की आम राय नहीं बन पाती। मैं ऐसे कई प्रसंग जानता हूँ, जिसमें लड़कियाँ कालेज के शिक्षण की समाप्ति के बाद विश्वविद्यालयीन उच्च शिक्षण के लिए, केवल पुरुषों के अत्याचार के भय के मारे, तैयार नहीं हुई हैं।

गांधीजी के नेतृत्व में हमारे राष्ट्रीय आंदोलन ने महिलाओंको परदे और घर से बाहर निकाला। इससे महिलाएँ राष्ट्रीय आंदोलन की कठोर मुसीबतें झेल सकीं। देश-सेवा की इस उत्कृष्ट प्रवृत्ति के कारण वे मुक्त हुईं। हमारे विद्यापीठ, हमारे शिक्षक और हमारे छात्र महिलाओं को परदे के पीछे ही रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह एक प्रतिक्रांति है। इसके लिए हमारी शिक्षा-पद्धति बहुत हद तक जिम्मेदार है।

लेकिन इसमें आश्चर्य क्या है, जब शिक्षक के चारित्र्य को उसकी एक आवश्यक योग्यता नहीं माना

जाता। यह ठीक है कि जनता किसी प्रशासक या पदों में लगे व्यक्ति के निजी जीवन का भेद लेने का प्रयत्न न करे, जब तक कि वह कोई बड़ा अपमानजनक कार्य न कर दे। लेकिन जो उपदेशक है या जो सामाजिक व्यक्ति है और शिक्षक हैं, उसका चारित्र्य जनता के लिए उपेक्षा का विषय बिलकुल नहीं है। शिक्षक के चारित्र्य का संबंध शिक्षा-संस्था से है, छात्रों से है और माता पिताओं से है। परन्तु अकसर यह दीखता है कि नियुक्ति करनेवाले अधिकारी शिक्षकों के, यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों के भी चारित्र्य के संबंध में बिल्कुल उदासीन रह जाते हैं। जिन्हें युवकों का चारित्र्य निर्माण करना होता है, जिन्हें भावी नागरिकों और नेताओं को तैयार करना है, ऐसे शिक्षकों की नैतिकता के संबंध में समाज के अंदर यदि कानाफूसी चलती है, तो उनके इस मिथ्या आरोप की छानबीन करनी चाहिए या उनकी नियुक्ति ही नहीं करना चाहिए। ऐसे प्रसंगों में वास्तविकता की अपेक्षा समाज की निगाह में प्रतिष्ठा का अधिक महत्त्व है। हमारे शिक्षक और उपकुलपति उन्नत चारित्र्य के हों यही पर्याप्त नहीं है, बल्कि होना यह चाहिए कि वे छात्रों और जनता की दृष्टि में ऐसे दिखाई भी दें। मुझे नहीं लगता कि हमेशा ऐसा होता है। मानो यह बुराई काफी नहीं है इसके अलावा राजनीतिक व्यक्ति और पक्ष इन शिक्षकों का अपने राजनीतिक खेल में अकसर उपयोग-बल्कि दुरुपयोग-कर लेते हैं। कई कॉलेजों में खुद शिक्षक और छात्र ही अपने अंदर इस प्रकार के गंदे राजनीतिक खेल रच लेते हैं और ज्ञान-मंदिर के उस निर्मल वातावरण को दूषित कर देते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप अनुशासन या व्यवस्था खतम हो जाता है। उस अव्यवस्था के बीच कोई भी ऊँचा या अध्ययनपूर्ण मौलिक कार्य नहीं किया जा सकता। ऐसी बात नहीं है कि हमारे छात्र मंद बुद्धि हैं, बल्कि ज्ञान और शोध के लिए जो वातावरण आवश्यक है, वह नहीं है। बहुत सारी उपयोगी साधन-सामग्री का अपव्यय हो रहा है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि समूची शिक्षा-पद्धति में शिक्षक धुरी है। पहले उसका क्या स्थान था और आज क्या है। बहुत दूर की बात नहीं है, पहले उसकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी, लेकिन उसका सामाजिक स्थान निश्चित ही ऊँचा था। पचास वर्ष पहले, जब मैंने अपना अध्ययन समाप्त किया, तब शिक्षित व्यक्ति के लिए अवसरों की कमी नहीं थी। मैं किसी भी काम में, जिसमें पैसे की खूब आमदनी हो सकती थी, लग सकता था। लेकिन मैंने शिक्षा के काम को पसंद किया। उस समय दूसरे किसी काम की अपेक्षा शिक्षक का काम अधिक प्रतिष्ठित था। शिक्षक का समाज में स्थान बहुत ऊँचा और आदरणीय होता था। उसकी निर्धनता के बावजूद, अपने क्षेत्र में उसके लिए उन्नत समाज का द्वार खुला हुआ था। आज की क्या स्थिति है? उसका जितना अनादर होता है, उतना शायद ही और किसीका होगा।

शिक्षण कार्य के लिए योग्य शिक्षक प्राप्त किये जा सकें, तो अनुशासन हीनता का समस्या बड़ी आसानी से हल हो सकती है। शिक्षक के लिए पहली आवश्यक चीज यह है कि उसके चारित्र्य पर एक भी दाग न हो। दूसरा यह कि उसे अपने विषय में अच्छा ज्ञान हो। तीसरी चीज, वह अपने छात्रों के लिए माता पिता-तुल्य हो। आदर्श शिक्षक में ये तीनों गुण अवश्य होने चाहिएँ। इनमें पहला गुण सबसे अधिक आवश्यक है। दूसरे दो गुणों में कोई एक भी उसमें हो, तो भी अनुशासन की दृष्टि से उसे कोई दिक्कत नहीं उठानी पड़ेगी। शिक्षक अपने छात्रों के साथ उनके माता या पिता के समान व्यवहार करे और उनके प्रति अपने बच्चों के समान हो सहिष्णु और प्रेमल रहे, तो उसमें उसके अध्यापन विषय का यदि कोई कमी हो, तो वह भी क्षम्य हो जायगी। छात्र कहेंगे 'यह भले आदमी हैं, इन्हें परेशान नहीं करना चाहिए।' जिसपर शिक्षक अपने विषय में भी अच्छा रहे, तब तो छात्र उसकी सारी सख्तों को भी बरदास्त कर लेंगे। छात्रों के प्रति वह कठोर हो, चाहे उग्र भी हो, छात्र उसका आदर करेंगे और उसको मानेंगे। हमारे

गर्मों के छात्र और कहीं के छात्रों की शिक्षा अपेक्ष भावुक हैं। अगर उनसे अच्छी तरह पेश आया जाय, तो वे भी भले प्रकार का व्यवहार करेंगे। आखिर नमक ही अपने खारेपन का त्याग करता हो, तो फिर उसे नमकीन कैसे किया जाय?

इसका यह अर्थ नहीं कि मैं छात्रों की अनुशासन-हीनता के लिए शिक्षकों को ही दोषी मानता हूँ, जो कि पहले से ही भारी बोझ ढो रहे हैं। इस दोष में विद्यार्थियों को भी काफी भागीदार बनना होगा। उनको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि उन शिक्षकों के अधीन रहने का निश्चय उन्होंने अपनी इच्छा से लिया है। उनके माता पिताओं ने उन्हें स्कूल और कॉलेजों में यही मानकर दाखिल किया है कि वहाँ के शिक्षक उनसे अच्छे हैं, कम-से-कम ज्ञान में तो उत्तम हैं ही। जो व्यक्ति ज्ञान देता है, उसका स्थान माता पिता जैसा माना जाता है। वह बच्चों को बौद्धिक जीवन में पुनर्जन्म देता है। हममें से कितनों के माता पिता आदर्श-स्वरूप हैं? कई तो अक्सर विवेक-हीन होते हैं और कई क्रूर भी होते हैं। लेकिन कोई ऐसा नहीं होगा, जो उनको आदर के साथ न देखता हो, क्योंकि वे उनके माता पिता हैं। नहीं, बल्कि हम ज्ञान में उनसे अधिक आगे बढ़े, तब भी हम उनका आदर करते ही हैं। सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि नयी पीढ़ी पिछली पीढ़ी की अपेक्षा अधिक और उत्तम ज्ञान का वारिस है। लेकिन इससे हम अपने बड़ों को जो आदर देना है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उनके अन्दर बदले में पाने योग्य कुछ गुण होते हैं, जैसे अनुभव और विवेक उनसे मिलता है। शिक्षकों को भी माता पिता की श्रेणी में ही मानना चाहिए, जिसका स्वभाव, दृष्टिकोण और ज्ञान की कमी भी हम सहन कर लेते हैं और जिनके प्रति अपना आदर और मान रखते हैं।

दिशा निर्देश की कमी

शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों की बात छोड़ दें, कम से कम विद्यार्थियों के जीवन में उनके काम और पेशे के लिए आवश्यक योग्यता भी क्या इन शिक्षा-संस्थाओं से मिलती है? यद्यपि देश में शिक्षित बेकारों का ऐसा वर्ग पैदा हुई है और उनकी संख्या नित्य बढ़ रही है तथा उच्च शिक्षण की सुविधाएँ कम करने के लिए आवाजें उठ रही हैं, तो भी सार्वजनिक क्षेत्र में तथा निजी क्षेत्र में भी काम देनेवालों की सामान्य शिकायत रहती है कि कामों के लिए जिनमें बुद्धि शक्ति और अभिक्रम, प्रामाणिकता, परिश्रम और टिककर काम करने की आवश्यकता है, योग्य युवक नहीं मिलते हैं।

परिणाम यह आया है कि जैसे हमने पहले कहा है, प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान शिक्षा प्रणाली से असंतुष्ट है, फिर भी उसे दूर करने का कोई उपाय खोजा नहीं जा रहा है। पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति में शिक्षित जो पीढ़ी इस समय समाप्त हो रही है, उसे कम-से-कम इतना तो संतोष था—भले ही वह उचित न हो कि उन्होंने अपना और अपने समाज का भला किया है। उसने सोचा कि उस पद्धति में चाहे जो दोष रहे हों, फिर भी उससे सारी लाभ उठाया। आज शिक्षा संस्थाओं में जो छात्र उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या में भरे जा रहे हैं, उनको चूँकि करने को कुछ अच्छा काम नहीं है, इसलिए यह संतोष भी नहीं है कि वे अपने लिए या अपने समाज के लिए कुछ भी भलाई का काम कर रहे हैं। जहाँ तक व्यक्तिगत उपयोगिता का प्रश्न है, वे इतना जानते हैं कि यह एक प्रकार का आकस्मिक अवसर या जुआ है, जिसमें बहुत लोग परिश्रम से कमाया हुआ धन लगाते हैं, लेकिन सफल होते हैं कुछ ही। प्रत्येक व्यक्ति यही मानकर कि सफलता का भाग्य उसका ही है, अधिक मात्रा में धन लगाता है। यदि इस शिक्षा-पद्धति को हमें चलाये रखना ही है, तो इसकी वर्तमान स्थिति के लिए जो जिम्मेदार हैं, कम-से-कम उनको तो इसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वे एक ओर इस लिए समझें और साथ ही यह भी कहें कि इस पद्धति को चलाकर उन्होंने लोगों पर बड़ा उपकार किया, दोनों बातें ठीक नहीं हैं।

जब कभी पिछली पीढ़ी के लोग इस शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध बोलते हैं, तो अक्सर उनसे कहा जाता है कि उस पद्धति से ही वे भी शिक्षित हुए थे, जो हमारे

नेता हो चुके हैं, जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए काम किया है, कष्ट सहे हैं और त्याग किया है तथा बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त भी कर सके हैं और वे हर प्रकार से महान् सिद्ध हुए हैं। यह सही है। लेकिन लोग यह भूल जाते हैं कि वे हमारे नेता स्वयं महान् थे और उस विदेशी शिक्षा के पेचीदा प्रभावों के बावजूद उन्होंने महान् कार्य किये। सबसे पहले जिन जातियों और वर्गों ने अधिकारपूर्वक यह शिक्षण लिया, यद्यपि उन्होंने पाश्चात्य पद्धति को अपनाया, तो भी अपनी भूमि से, अपने घर से और अपने पूर्वजों की श्रद्धा और संस्कृति से जड़ काटकर अपने को अलग नहीं कर डाला। दफ्तरों में और अपने धन्धों के जीवन में उन्होंने पाश्चात्य लोगों का अनुकरण किया, तो घर और समाज में वे हिन्दू ही बने रहे। पारिवारिक और साम्प्रदायिक परम्परा का प्रभाव तब भी बहुत था।

आगे चलकर, विदेशी सत्ता के मजबूत होने के बावजूद राष्ट्रीय जागृति हुई और भले ही वह अपने देश की स्वतन्त्रता की न हो, पर कम-से-कम अपने घर को व्यवस्थित रखने की इच्छा जगी। विदेशी साम्राज्य एक चुनौती था। आध्यात्मिक क्षेत्र में सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, यह भारत के लिए स्वाभाविक था। उत्तर भारत में आर्य समाज ने और बंगाल में ब्रह्म-समाज ने धार्मिक और सामाजिक सुधार आरम्भ कर दिया। इन आन्दोलनों की तफसील में उतरने का यह स्थान नहीं है। एक आन्दोलन बड़े जोरों से चला, जो जन-सामान्य तक फैला और स्पर्श करने लगा और हिन्दू धर्म के बौद्धिक, दार्शनिक और पौराणिक पहलुओं को नये सिरे से स्पष्ट करने की कोशिश का। उसने अपना सुधार-कार्य इस प्रकार किया कि वर्तमान अनेक पन्थों के अलावा कोई नया पन्थ न बन जाय। इस आन्दोलन के प्रवर्तक महान् योगी-भक्त रामकृष्ण परमहंस थे और उसे स्वामी विवेकानन्द ने मजबूत किया। ये सभी आन्दोलन मानवतावादी दृष्टिकोण रखते थे। इन आन्दोलनों ने हिन्दू-धर्म को सुधारने का, अस्पृश्यता मिटाने का, जातिभेद हटाने का, स्त्रियों को दासत्व से मुक्त करने का, हिन्दू-समाज में विद्यमान सामाजिक दोषों को, जो जन मानस में धर्म के साथ जुड़ गये थे, दूर करने का प्रयत्न किया। ये दोष धर्म के कारण नहीं, राष्ट्र-भावना के अधिकाधिक शिथिल होने के कारण पैदा हुए थे। इन धार्मिक सुधार-आन्दोलनों के अलावा भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति के पुनरुद्धार के भी आन्दोलन चले। इस बहुमुखी जागरण के साथ राष्ट्र की स्वतन्त्रता का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। उसने पढ़े लिखे भारतीयों को वापस अपने घर और उत्तराधिकार की ओर लौटने का आह्वान किया। तत्त्वत: वह स्वदेशी था। उसके कारण विदेशी शिक्षा प्राप्त लोगों और सामान्य जनता के बीच की खाई पटने लगी। गांधीजी के नेतृत्व तथा राजनीतिक संग्राम की नयी प्रक्रिया के कारण, जो कि भारतीय जनता की संस्कृति और प्रतिभा के आधार पर रची गयी थी, राष्ट्रीय आन्दोलन शक्तिशाली बना। जनता से, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना उचित योगदान दिया, घुलने मिलने का प्रयत्न हुआ। इन सारे धार्मिक, सामाजिक, कला-सम्बन्धी और राजनीतिक आन्दोलनों का संचित प्रभाव विशेषत: दोषपूर्ण विदेशी शिक्षा के दुष्प्रभावों को बदलने लगा। सामान्यत: यह प्रभाव पाश्चात्य जगत् के सांस्कृतिक बड़प्पन के लिए ललकार था। शिक्षित भारतीय ने भारत को दुबारा पहचाना।

यह जो पुनर्शिक्षण है इसके कारण इस देश की स्वतन्त्रता और मुक्ति सम्भव हो सकी। जिस गति से काम सम्पन्न हुआ, वह इस क्रांतिकारी पुनर्शिक्षण के बिना नहीं हो सकता था।

आज स्थिति ऐसी नहीं है कि केवल कुछ लोगों को यह पुनर्शिक्षण देने से काम चलाया जाय। यदि हमें प्रजातन्त्र और समाजवाद का लक्ष्य सिद्ध करना है, तो हमें व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक, भौतिक और राजनीतिक अर्थात् समूचे राष्ट्र का ही संपूर्ण पुनर्निर्माण करना है। इसके लिए हमें एक सर्वव्यापी शिक्षण की नयी पद्धति की आवश्यकता है, जिसमें हम सारी जनता को, खासकर उन समूहों को, जिनकी क्षमता सदियों से अवसर और प्रेरणा के

समाज में शुरू पड़ी रह गयी है, दलितों और शोषित-होनों को विकसित होने का अवसर पा सकें । यह ऐसा समान अवसर नहीं है, जिसकी चर्चा हमारे यहाँ विशेष सुविधा प्राप्त लोग कर दिया करते हैं । शेर और मेमना दोनों को मुक्त छोड़कर कोई यह नहीं कह सकता कि दोनों को समान अवसर प्राप्त हैं । जब तक शेर के पंजे रहेंगे और मेमने का चमड़ा नरम रहेगा, तब तक उनके लिए समानता का अवसर नहीं हो सकता । समान अवसरों का सच्चा उपयोग हो सके ऐसी परिस्थितियाँ हमें निर्माण करनी होंगी । या तो मेमने को पैने पंजे और नाखून देने होंगे या शेर से उन्हें छीन लेना होगा ।

नयी तालीम

स्वतन्त्रता से पहले गांधीजी ने देश के सामने एक व्यापक शिक्षा-योजना रखी, जो लोकतन्त्रात्मक और समाजवादी थी । तब राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा यह योजना स्वीकृत की गयी । गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने यह सामाजिक लक्ष्य तय कर लिया था, जिसके लिए राष्ट्र को उद्यम करना था । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उस लक्ष्य को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करना था । वह लक्ष्य यह था कि एक ऐसी समतायुक्त प्रजातन्त्रीय समाज-व्यवस्था कायम की जाय जिसमें, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण न हो । प्रत्येक व्यक्ति के लिए और राष्ट्र के लिए भी प्रयत्न करने योग्य लक्ष्य स्थिर किया गया था । इस समाज व्यवस्था में वर्धमान भारतीय नागरिक को इस प्रकार तैयार करना होगा और शिक्षित करना होगा, ताकि वह अपना योग्य स्थान कम-से-कम कठिनाई के साथ खोज ले ।

एक अमूल्य सामाजिक लक्ष्य के अलावा गांधीजी वातावरण और बाल-मनोविज्ञान के अनुकूल शिक्षण को नियन्त्रित करने की वैज्ञानिक पद्धति भी अपने पीछे छोड़ गये । उसमें शिक्षण किसी एक उपयोगी और सफल प्रवृत्ति के द्वारा देने की बात थी । उस निमित्त बच्चे को काम करना था और साथ ही कमाना और सीखना भी था । उस महत्त्वपूर्ण उद्योग के साथ पढ़ाई के माध्यम के रूप में मातृभाषा का जोड़ रहता था । इस प्रकार यह नयी पद्धति बाहर से आयात की हुई कोई विदेशी चीज नहीं थी, जिसकी जड़ भारत की भूमि या समाज में न हो ।

नयी तालीम के प्रयोग हुए । इसे बुनियादी तालीम भी कहते हैं । प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान निर्जीव और निष्प्राण शिक्षा-पद्धति की अपेक्षा इस नयी पद्धति में बालक अधिक अच्छा सीखता है और जल्दी भी सीखता है । अपेक्षा यह थी कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जब कि समूचे राष्ट्रीय साधन-स्रोत देश के हाथ में आ जायेंगे, तब सारे शिक्षा-क्षेत्र को छा सकें, इस ढंग से इस पद्धति को बढ़ाया जायगा, विकसित किया जायगा और व्यापक किया जायगा । खेद का विषय है कि यह नहीं हुआ । अधिकांश बुनियादी शालाओं में पुरानी लीक पर ही उद्योगों और प्रवृत्तियों का ढोंग चल रहा है । उनमें कुछ कुछ भी हों, जो लोग यह शिक्षा राष्ट्र के लिए चलाते हैं, वे भी अपने बच्चों के द्वारा इन शालाओं को संरक्षण नहीं देते हैं । न तो कोई राजनीतिक व्यक्ति और न प्रशासक अपने बच्चों को इन शालाओं में भेजता है । अधिकार जिनके हाथ में है, उनके बच्चे यदि इन शालाओं में आते हैं, तब कुछ सुधार होने की उम्मीद हो सकती है । यद्यपि इस बुनियादी शिक्षण का, भले वह सिद्धान्त न हो, पर प्रत्यक्ष व्यवहार में निषेध हो रहा है । फिर भी स्वतन्त्रता के बाद कोई दूसरी शिक्षा-पद्धति विकसित नहीं हुई है । न तो हममें इतनी प्रतिभा दीखती है कि कोई नयी शिक्षा पद्धति की खोज करें, न ही उन प्रतिभाशाली व्यक्तियों के चरणों पर, जो हमें यह भाग्य से मिले थे, चलने की सुबुद्धि हममें है । हम हैं तो अंधे, पर किसीके मार्ग दर्शन भी स्वीकार नहीं करते । अन्य अनेक क्षेत्रों की तरह ही स्वतन्त्र लोकतान्त्रिक और समाजवादी भारत के भावी नागरिकों के शिक्षण के संबंध में भी यदि हम आज भी गांधीजी के चरणचिह्नों पर चलें, तो बहुत अच्छा होगा । अर्वाचीन युग में गांधीजी ने भारत को और भारतीय जनता को, बाकी सबसे अधिक, अच्छी

[शेष पृष्ठ ५१ पर]

वर्ग-निराकरण की नयी क्रांति का वाहन

नयी तालीम

श्री धीरेन्द्र मजूमदार

[श्री धीरेन्द्र मजूमदार की नयी पुस्तक 'क्रांति की अहिंसक प्रक्रिया-नयी तालीम' का, जो आगामी नवम्बर में सर्व-सेवा-संघ से प्रकाशित होने जा रही है, एक अंश। सं०]

शासन का विकल्प क्या ?

सन् १९४४ के सितम्बर में गाधीजी जेल से लौट कर आये। लौटते ही वह सन् '४२ के छूटे हुए काम को आगे बढ़ाने के काम मे लग गये। चरखा सघ, ग्रामोद्योग सघ, तालीमी सघ आदि सभी सघों के कार्यकर्ता वर्धा मे बुलाये गये। चरखा, ग्रामोद्योग और नयी तालीम का एक चरण पूरा हो गया था। जन-कल्याण और जन-सपर्क साधने के रूप म उसे सघटित करना और उसके द्वारा स्वतन्त्रता-सग्राम के लिए जनता को सघटित करने का काम हो चुका था। साथ साथ गाधीजी द्वारा परिकल्पित क्रान्ति की बुनियाद डालना भी इन कार्यक्रमों का एक बडा काम था। स्वतन्त्रता-सग्राम की दौरान मे हो अगली क्रांति की व्यूह-रचना की पूर्व तैयारी सफलता-पूर्वक कर लेना क्रान्ति के इतिहास म वस्तुत: गाधीजी की एक बहुत बड़ी देन थी। इस व्यूह-रचना की प्रक्रिया में चरखा तथा ग्रामोद्योग के विभिन्न पहलुओं पर सोचना, प्रयोग करना तथा कार्यकर्ता तैयार करना अत्यन्त आवश्यक था। हम कहते हैं कि अहिंसक समाज के लिए शासन-मुक्त समाज होना चाहिए। शासन-हीन समाज एक चीज है और शासन-मुक्त समाज बिल्कुल दूसरी चीज। शासन-मुक्त समाज वह है, जिसमें शासन निरपेक्ष, आत्मानुशासित सगठन द्वारा समाज से शासन की आवश्यकता को समाप्त कर दिया गया हो। लेकिन सबसे बड़ा सवाल यह है कि यह हो कैसे ? समाज को नियमित रूप से चलाने के लिए आवश्यक है कि समाज में अमन-चैन कायम रहे। इस आवश्यकता की पूर्ति में मानव-समाज ने दड शक्ति का आविष्कार किया। अब हम उस दण्ड के शासन को हटाना चाहते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि इसके विकल्प में अमन-चैन कायम रखने के लिए कौनसा अहिंसक उपाय है। स्पष्ट है कि जब तक जनता में प्रेरणा, नेतृत्व, अनुशासन आदि की दृष्टि से स्वावलम्बन नहीं होता है, तब तक दण्ड शासन का निराकरण सभव नहीं है, क्योंकि मानव प्रकृति म सस्कृति और विकृति दोनों चीजों का समावेश है। जब तक मनुष्य में सास्कृतिक सगठन अत्यन्त सुदृढ नहीं होगा, तब तक विकृति के प्रकोप को सास्कृतिक प्रक्रिया द्वारा सँभालना सभव नहीं होगा। अगर सास्कृतिक प्रक्रिया मानव की विकृति को नहीं सँभाल सकती है, तो उसे सँभालने के लिए दण्ड शक्ति को निश्चित रूप से स्वीकार करना होगा। यही कारण है कि गाधीजी कहा करते थे कि सगठन अहिंसा की कसौटी है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का सास्कृतिक सघटन अत्यत कठिन है। कठिन इसलिए है कि उसे चलाने के लिए सारी जनता को जाग्रत तथा सक्रिय रहना पड़ेगा। वस्तुत सहूलियत की खोज में रहनेवाला मानव आज कहाँ पहुँच रहा है, यह देखने की बात है। कुछ शताब्दी पहले मानव ने अपनी स्वतन्त्रता की बात सोची थी और एकतत्र को समाप्त करके जनतत्र का प्रयोग शुरू किया था। लेकिन सहूलियत की आकाक्षा ने उसे अपने ही हाथों से अपनी पैदा की हुई गणतत्र-रूपी सतान को मार डालने के लिए विवश किया। आर्थिक तथा राजनैतिक केन्द्रीकरण में सघटन का काम आसान होता है, क्योंकि उसमें एक स्थान पर एक शक्तिशाली मनुष्य बैठकर काम देखता है। मनुष्य इस आसानी के मोह मे पड़ गया। इसलिए यद्यपि गणतत्र के विचार के अनुसार उसने सोचा था कि समाज का शासन अब जनता द्वारा चलाया जाय, फिर भी केन्द्रीकरण के मोह ने 'जनता द्वारा' का अर्थ यह कराया कि शासन 'जनता-पसन्द व्यक्तियों द्वारा' चलाया जाय। फलस्वरूप धीरे धीरे दुनिया में केन्द्री–

करण बढ़ता गया। और बढ़ते-बढ़ते वह आज दुनिया के प्राय हर मुल्क में तानाशाही प्रतिष्ठित कर रहा है। कहीं वर्ग की अधिसत्ता, कहीं दल की अधिसत्ता और कहीं व्यक्ति की अधिसत्ता अधिष्ठित हो रही है। लोग कहने भी लगे हैं कि अधिनायक-तन्त्र में समाज का संघटन अच्छा और आसान होता है। एक तन्त्र शासन तथा पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था में क्षमता अधिक रहती है, ऐसा भी लोग मानने लगे हैं। इसका मतलब यह है कि लोग मानने लगे हैं कि व्यक्तिवाद से सत्ता वाद अधिक कठिन है। अगर ऐसा है, तो सत्तावाद से समाजवाद कितना अधिक कठिन होगा, यह हर एक समझ सकता है। इसलिए गाधीजी ने कहा था कि संघटन अहिंसा की कसौटी है। अगर अहिंसा संगठन में नहीं उतर सकती, तो वह टिकेगी कैसे?

जीवन की नयी भूमिका : विज्ञान और लोकतन्त्र

लोग कह सकते हैं कि गाधीजी जो चाहते हैं, वह हो जाय तो अच्छा है, लेकिन वह हो कैसे। आदर्श को आम व्यवहार में लाने की चेष्टा में दुनिया में आज जो शक्ति मौजूद है उसे छोड़ दें, तो समाज में जो विशृंखलता पैदा होगी, उसके कारण क्या समाज टिक सकेगा? इसलिए कई विचारक यह कहते हैं कि संस्कृति के संगठन द्वारा विकृति को सभालने की बात आदर्श रूप में रखकर निरन्तर उसकी प्राप्ति की कोशिश भले ही की जाय, लेकिन विकृति शमन के लिए सैनिक शक्ति के निराकरण की बात सोचना नितान्त मूर्खता है। हमें इस विचार की भूमिका का विश्लेषण करना चाहिए। हम सोचें, आज जमाने की परिस्थिति क्या है। वैज्ञानिक प्रगति ने इतिहास को ऐसे चौराहे पर पहुँचा दिया है कि अब पुराने ढग से सोचने से काम नहीं चलेगा। जिस सैनिक शक्ति के सहारे अब तक जनता निश्चिन्तता के साथ बैठी हुई थी, उस सैनिक शक्ति की आज क्या दुर्दशा है, इस पर थोड़ा विचार करने की जरूरत है। मनुष्य ने विकृति के नियन्त्रण के लिए दण्ड शक्ति का आविष्कार किया। दण्ड शक्ति के प्रयोग के लिए अस्त्र शस्त्रों का निर्माण किया। वैज्ञानिक प्रगति ने संहार के एक से एक साधनों और उपकरणों का विकास किया। इस प्रकार विज्ञान ने बढ़ते-बढ़ते आज अणुशक्ति द्वारा चालित भयकर अस्त्र शस्त्रों का आविष्कार कर डाला है। ये शस्त्र दिन-ब-दिन इतने भयकर होते चले जा रहे हैं कि इनका निर्माण करनेवाले मुल्कों के नेताओं को यह कहना पड़ रहा है कि अब सारी दुनिया के शस्त्रों को समुद्र के गर्भ में फेंक देने की जरूरत है। क्योंकि वे देख रहे हैं कि शस्त्रों के इस्तेमाल का अर्थ है सारे विश्व का विनाश। अगर सचमुच ऐसा है, तो शस्त्र मानव के संरक्षण के साधन कैसे बन सकते हैं? केवल बड़े-बड़े मुल्कों के नेता ही नहीं, सारे विश्व की जनता इस बात को महसूस कर रही है कि अब समय आ गया है कि शस्त्रों को समाप्त कर दिया जाय। शस्त्र की समाप्ति की आवश्यकता ने समाज शास्त्र में एक गंभीर प्रश्न उपस्थित कर दिया है। अगर शस्त्र नहीं रहेगा, तो सैनिक क्या लेकर अपनी शक्ति का परिचय देगा? अब शस्त्र के साथ-साथ सैनिक का भी विघटन करना होगा। और अगर सैनिक नहीं रहेगा, तो शासन या राज्य किसके जरिये दण्ड शक्ति चला सकेगा? फिर दण्ड शक्ति न चल सकने पर शासन-संस्था की आवश्यकता क्या रहेगी? अगर राज्य-संस्था यानी शस्त्र-संस्था नहीं रहेगी, तो मानव विकृति का नियन्त्रण किस शक्ति से होगा? इस प्रकार गहराई से विचार और विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जायगा कि मानव आज विकास की जिस मंजिल पर पहुँचा है, उस पर शांति और सुव्यवस्था को कायम रखने के लिए दण्ड शक्ति यानी सैनिक शक्ति के विकल्प में किसी दूसरी शक्ति की खोज करना अनिवार्य है। विज्ञान का शस्त्र धारित सैनिक शक्ति से कहीं मेल नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि शस्त्र द्वारा स्वय विज्ञान के समाप्त हो जाने का भय है। विज्ञान के साथ मनुष्य की बौद्धिक और भौतिक उपलब्धि जुड़ी हुई है, शायद इससे भी बढ़कर सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में उसकी उपलब्धि है लोकतन्त्र। कितनी शताब्दियों के संघर्ष और साधना के बाद मनुष्य सम्मति से शासन की स्थिति पर पहुँचा है और आज वह इस चेष्टा में है कि लोकतन्त्र में से दण्ड शक्ति का हाथ हटता जाय और लोक सम्मति संगठित होती जाय और अंत में सहकारी

समाज स्थापित हो। दंड (coercion) से सम्मति (consent) तक कैसे पहुँचा जाय, यह लोकतंत्र की मुख्य समस्या है। इस समस्या के समाधान में लोकतंत्र की सिद्धि है। इसलिए लोकतंत्र के उपासकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे अविलम्ब समाज के आधार के रूप में सैनिक यानी दंड शक्ति का विकल्प ढूँढें। गांधीजी ने इसी वैकल्पिक शक्ति की बात सोची थी। अतएव यद्यपि गांधीजी की बात आदर्श है, फिर भी आज की परिस्थिति ने मानव के लिए अनिवार्य बना दिया है कि उसे व्यवहार में लावे। आखिर आदर्श और व्यवहार कोई दो चीजें तो हैं नहीं। किसी सिद्धान्त को जब मनुष्य केवल अच्छा और वाछनीय मानता है कि तब वह आदर्श है, लेकिन जिस क्षण वह उसकी जिन्दगी के लिए आवश्यक हो जाता है, उसी क्षण से वह व्यावहारिक हो जाता है। फिर उसे व्यवहार में लाने के सिवा मानव के सामने कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता है। शस्त्रों के बेकार होने के कारण सैनिक शक्ति का कोई स्थान नहीं रह गया है। सैनिक शक्ति के अभाव में मनुष्य के लिए सांस्कृतिक सगठन ही एकमात्र शक्ति बच जाता है, जो मानव की विकृति को संयमित रख सके। इसकी प्राप्ति का तरीका क्या हो ?

शासन-मुक्ति के लिए संघर्ष-मुक्ति

अब प्रश्न यह है कि ऐसा सगठन किस प्रक्रिया से होगा। समाज में आज जो परिस्थिति है, उसके कारण क्या तत्काल सांस्कृतिक सगठन सभव होगा? कारण चाहे जो हो, आज सारे विश्व में वर्ग भेद का ज्वालामुखी इतना उत्कट हो चुका है कि हर जगह समाज छिन्न भिन्न हो रहा है। सभी सामाजिक विचारक वर्ग भेद निराकरण की बात करते हैं, लेकिन यह नहीं बता रहे हैं कि उपाय क्या है। अब तक वर्ग-भेद के निराकरण के लिए वर्ग-सघर्ष का तरीका सामने रहा है। कार्ल मार्क्स से लेकर आधुनिक समाजवादी तक सब इस तरीके की बात करते हैं। लेकिन वर्ग-सघर्ष के नतीजे से वर्ग निराकरण हो सकता है, ऐसा दिखायी नहीं देता। वर्ग के नाम पर दल की अधि-सत्ता के स्थापित होने से नये वर्ग भेद की सृष्टि हो रही है। केवल वर्ग-भेद की ही सृष्टि नहीं हो रही है, बल्कि इसके कारण सामाजिक विकृति के उत्कट प्रकोप को शान्त करने के बहाने दुनिया मे उस सैनिक-शक्ति का भयकर सगठन हो रहा है, जो विज्ञान के इस युग में अपनी अंतिम सासे गिन रहा है। शस्त्र का विज्ञान के साथ किसी तरह मेल नहीं बैठता। वर्ग-सघर्ष से वर्ग निराकरण न होकर नये वर्ग की सृष्टि होती है और सघर्ष के कारण नये प्रकार के द्वेष का जन्म होता है, जो फिर नये सघर्ष को पैदा करता है। इसलिए यद्यपि लोग यह महसूस करते हैं कि सास्कृतिक प्रगति के लिए वर्ग-निराकरण की आवश्यकता है, फिर भी निराकरण के लिए सघर्ष के विकल्प से कोई दूसरी सामाजिक शक्ति नहीं निकल पा रही है। गांधीजी ने स्वतन्त्रता-सग्राम के दौरान में दबावमूलक शांतिपूर्ण सत्याग्रह का मार्ग प्रतिकार-शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया था। तब से हम वर्ग-सघर्ष के विकल्प में सत्याग्रह की बात सोचते हैं। लेकिन उस पर भी गहराई से विचार करने की जरूरत है। जिस जमाने में साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए आतंकवाद का मार्ग अपनाया जा रहा था, उस समय गांधीजी ने दबावमूलक सत्याग्रह का रास्ता पकड़कर प्रतिरोध के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। हिंसा से अहिंसा की ओर जाने के लिए प्रथम कदम के रूप में वह अत्यत क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे लोगों ने उसे अपनाया और विश्व ने उस हिंसा से मुक्ति पाने का एक रास्ता देख लिया। आज जब मारकाट का मार्ग अव्यावहारिक और करीब-करीब असभव हो रहा है, तो हिंसावादी भी सघर्ष के लिए दबावमूलक सत्याग्रह को अपना रहे हैं। इसका परिचय हमें विश्व के कई भागों में मिलता रहा है। इस तरह जब विज्ञान ने हिंसा को सूक्ष्म रूप धारण करने के लिए मजबूर किया, तो हिंसा के पुजारियों ने भी गांधीजी के बताये हुए शांतिमय दबावमूलक सत्याग्रह को अपने शस्त्रागार में दाखिल कर लिया। इस तरह जब हिंसा को भी सूक्ष्मता की ओर बढ़ना पड़ रहा है, तो क्या अहिंसा का शस्त्र जहाँ था वहीं हो रहेगा या उसे भी सौम्य

और सौम्यतर बनना होगा। ऐसी हालत में आज आवश्यकता इस बात की है कि हम आगे नया शोध करें। लोग प्रश्न करेंगे कि क्या शांतिपूर्ण प्रतिकार को अहिंसक सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता? हम मान लें कि हाँ, कहा जा सकता है। तो दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जिस समय हिंसा को भी सूक्ष्म रूप धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है, उस समय क्या यह देखने की जरूरत है, 'फलेन परिचीयते'। फल देखकर वृक्ष का परिचय मिलता है। जिसे हम सत्याग्रह कहते हैं उसकी अंतिम परिणति क्या होती है, यह देखने की जरूरत है। शोषक और शोषित के बीच शोषण के निराकरण के लिए जो सत्याग्रह की प्रक्रिया होगी, उसके नतीजे से दोनों पक्षों के बीच का संबंध क्या बच जाता है, सबसे अधिक इसे देखने की जरूरत है। अगर सत्याग्रह के बाद दोनों में परस्पर सद्भावना का निर्माण होता है, तो अहिंसक प्रक्रिया कही जायगी और अगर दुर्भावना बचती है, तो वह हिंसक प्रक्रिया है, भले ही शांतिमय होने के कारण उसे सूक्ष्म हिंसा कहा जाय। अहिंसा का वास्तविक स्वरूप प्रेम है। अहिंसा की प्रक्रिया में सामनेवाले के प्रति प्रेम होना चाहिए। प्रेम किसीके साथ किया जाता है, उसके खिलाफ नहीं। सत्याग्रह नाम की किसी प्रक्रिया का अगर किसीके खिलाफ प्रयोग होता है, तो वह शांतिमय भले ही हो, अहिंसात्मक नहीं है। हिंसा अहिंसा के इस सूक्ष्म भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। सिर फूटे, खून बहे, तभी हिंसा हुई, यह व्याख्या पुरानी हो गयी। समाज की भूमिका में हिंसा अहिंसा की कसौटी भावना की निष्पत्ति है। अगर दुर्भावना की निष्पत्ति हुई है, तो साधन हिंसात्मक है—बाह्य रूप उसका चाहे जो हो, क्योंकि दुर्भावना से विरोध और विरोध से संघर्ष—ये सीढ़ियाँ सहज ही बन जाती हैं। इसके विपरीत अगर सद्भावना की निष्पत्ति हुई है, तो संघर्ष के स्थान पर सहकार और उसके बाद समन्वय प्रकट होता है।

वर्ग निराकरण के संदर्भ में आज सत्याग्रह वर्ग-संघर्ष के रूप में भी इस्तेमाल किया जा रहा है। इसका जिक्र हमने हिंसात्मक सत्याग्रह के सिलसिले में किया है। हमने यह भी देखा है कि वर्ग-संघर्ष से वर्ग निराकरण नहीं होता, बल्कि नये वर्ग की सृष्टि होती है। तो अगर हम यह मानें कि संघर्ष का विकल्प सत्याग्रह ही है, तो सत्याग्रह का स्वरूप और प्रक्रिया क्या होगी, यह विचारणीय है। सत्याग्रह हिंसात्मक है या अहिंसात्मक है, इसकी परख के लिए हमने कहा है कि अगर दोनों पक्षों में सत्याग्रह के बाद सद्भावना पैदा होती है, तो वह अहिंसात्मक सत्याग्रह है। लेकिन इस अहिंसात्मक सत्याग्रह के फलस्वरूप अगर दोनों पक्ष ज्यों के त्यों दो विरोधी वर्गों के रूप में कायम रह गये, चाहे उनका परस्पर संबंध सद्भावनापूर्ण ही क्यों न हो, तो निश्चित ही वर्ग निराकरण की सिद्धि नहीं हुई। अतएव स्पष्ट है कि हमारी जो प्रक्रिया होगी, उस प्रक्रिया से विभिन्न वर्गों में न केवल सद्भावना पैदा हो, बल्कि वर्गों का ही तिरोधान हो, यह जरूरी है। इस प्रक्रिया का लक्ष्य वर्गों का सह-अस्तित्व नहीं है, क्योंकि सह-अस्तित्व में अलग-अलग और शायद विरोध के साथ अस्तित्व निहित है। लक्ष्य यह है कि वर्ग रह ही न जायँ।

भूदान की देन

भूदान-आन्दोलन से विनोबाजी ने सत्याग्रह के शास्त्र में एक नयी कड़ी जोड़ी है। सामाजिक अन्याय के प्रतिकार के रूप से दबावमूलक सत्याग्रह (Pressure) के स्थान पर उन्होंने मनाव (persuasion) वाली पद्धति चलायी। मनुष्य के हृदय का परिवर्तन उसके विचार का परिवर्तन कराकर करना सत्याग्रह नहीं तो और क्या है? यह सिद्धांत इस आन्दोलन का मूल तत्त्व है। जब कोई उनसे कहता है कि वह सत्याग्रह क्यों नहीं करते, तो वह कहते हैं कि वह सत्याग्रह नहीं तो और क्या कर रहे हैं। ठीक है, सत्याग्रह का अर्थ ही है सत्य के लिए आग्रह। जो लोग जमीन पर मेहनत करते हैं, उन्हें भी जमीन मिलनी चाहिए, यह सत्य है। विनोबा जब सातत्य और आग्रह के साथ जमीनवालों के हृदय से अपील करते रहे हैं, तो निस्संदेह यह सत्याग्रह की ही प्रक्रिया है। लेकिन दबाव के सत्याग्रह से यह आगे का कदम है और इसे हम सौम्य सत्याग्रह कह सकते हैं। 'सबै भूमि गोपाल

की' यह भी सत्य है, क्योंकि उसका जन्मदाता गोपाल है। तो जब यह ग्रामदान की बात समझाते हैं, उसका विचार लोगों के मस्तिष्क में प्रवेश कराने की कोशिश करते हैं, तो यह सौम्य सत्याग्रह का ही कार्यक्रम है।

प्रतिकार और वर्ग-निराकरण

इस प्रकार अन्याय के प्रतिकार के लिए विनोबाजी सौम्य सत्याग्रह का स्वरूप और प्रक्रिया बता रहे हैं। लेकिन केवल अन्याय का प्रतिकार एक चीज है और वर्ग-निराकरण दूसरी चीज है, यद्यपि बारीकी से देखा जाय, तो यह स्पष्ट होगा कि वर्ग के रहते अन्याय का निराकरण नहीं हो सकता है। फिर भी आज की सामाजिक मान्यता को देखते हुए विरोधियों में साधारणतः मीठा बर्ताव होने पर अन्याय का प्रतिकार हुआ, ऐसा मान लिया जाता है। लेकिन कोई सोचने-समझनेवाला यह नहीं मान लेगा कि मीठा बर्ताव होने मात्र से वर्गों का निराकरण भी हो गया।

केवल शोषक और शोषितों में नहीं, केवल अमीर और गरीब के बीच नहीं, केवल मजदूर-मालिक के साथ नहीं, बल्कि एक ही वर्ग में विभिन्न सांस्कृतिक स्तर पर लोगों के बीच भी वर्ग विषमता है, ऐसा समझना चाहिए। खासकर वर्ण व्यवस्था के होने से हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक स्तर की विषमता के कारण वर्गभेद स्पष्ट है। एक मजदूर दौलत कमाकर जमीन का मालिक हो सकता है, लेकिन उसके जीवन का तर्ज अपने वर्गवालों की तरह निम्न प्रकार का रह सकता है। इसके मुकाबले में यह नहीं माना जाता कि उसी आर्थिक हैसियत का एक ब्राह्मण और क्षत्रिय भी उसके ही वर्ग का है। ब्राह्मण और क्षत्रिय मालिक-वर्ग यानी शोषक-वर्ग का ही रहेगा। अतएव केवल आर्थिक योजना से हम अन्याय का अंत भले ही कर डालें, उससे वर्ग निराकरण नहीं होगा, उसके लिए तो स्थायी रूप के सत्याग्रह की आवश्यकता है।

गांधीजी की नयी तालीम वर्ग-निराकरण की नयी क्रांति का वाहन है; क्योंकि इस तालीम की प्रक्रिया के परिणाम से न केवल सामाजिक विषमता का निराकरण होगा, बल्कि सांस्कृतिक भेद का भी अंत होगा। जब तालीम जन्म से मृत्यु तक होगी, हरएक वर्ग के लिए यह समान रूप से उपलब्ध होगी और उसकी प्रक्रिया सब वर्ग को एक साथ मिलाकर चलनेवाली होगी, तो सामाजिक रूप से भेद और भिन्नता मिट जायगी। नयी तालीम वर्ग-निराकरण का वाहन है। इसे तथा इसकी व्यूह-रचना को समझने के लिए आज वर्ग-भेद का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस पर विचार करना जरूरी है।

शोषण का वास्तविक स्वरूप

प्रायः यह समझा जाता है कि अमीर और गरीब के नाम से पूँजीपति और मजदूर के रूप में दो वर्ग हैं। ऊपर देखने से ऐसा लगता भी है। लेकिन शोषण अगर वर्ग-भेद का कारण है, तो शोषण का साधन क्या है, इसे देखना चाहिए। किसीके पास पूँजी हो जाय और बुद्धि नहीं हो, तो क्या वह शोषण कर सकता है? लेकिन इसके विपरीत अगर किसी दूसरे के पास बुद्धि है और पूँजी नहीं है, तो वह अच्छी तरह शोषण कर सकता है। ऐसा समझना कि पूँजी ही शोषण का जरिया है, ठीक नहीं है। शोषण का वास्तविक जरिया बुद्धि है। पूँजी बुद्धि को खरीद लेती है, लेकिन शोषण की जड़ में बुद्धि ही रहती है। समाज में बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के रूप में जो दो श्रेणियाँ बन गयी हैं, उसीको वर्ग भेद का असली रूप समझना चाहिए। वर्ग विषमता के शास्त्र में लोग बुद्धिजीवियों को भी श्रमिक-श्रेणी में गिनते हैं, यह गलत है। अगर किसी शरीर-श्रमिक से पूछा जाय कि उसे बुद्धि चलाकर खाना पसंद है या शरीर चलाकर, तो निश्चित ही वह बुद्धिजीवी बनना पसंद करेगा। फिर दोनों को एक श्रेणी में डालना कहाँ तक ठीक है? रूस ने पूँजीपति-वर्ग को खत्म कर दिया है, लेकिन यह सभी जानते हैं कि वहाँ भी सफेदपोश-वर्ग (व्हाइट कलर्ड क्लास) की सृष्टि हो रही है। इसका कारण यह है कि उन्होंने पूँजी को ही वर्ग भेद का आधार माना है, और बुद्धि को श्रम के साथ जोड़ रखा है।

पूँजी-श्रम बुद्धि

यह ठीक है कि आज शोषक-वर्ग के पास पूँजी और सुख-सुविधा के साधन दोनों हैं, मजदूर-वर्ग के

पास नहीं है। ऐसा इसलिए है कि बुद्धिजीवी-वर्ग के हाथ में समाज-व्यवस्था है और उसने व्यवस्था का तरीका ऐसा बनाया है कि ये दोनों चीजें उसीके हाथ में रह जायँ। अत वर्ग निराकरण की जो प्रक्रिया होगी, वह शोषण-मुक्ति की अगली सीढ़ी है। केवल पूंजी से होनेवाले शोषण से मुक्त होने का रास्ता समाजवादियों ने दिखा दिया था, लेकिन उससे शोषण की जड़ नहीं मिटी थी। उल्टे यह हुआ कि समाज की सम्पत्ति के सरकार या अन्य केन्द्रित संस्थाओं के हाथ में चले जाने के कारण बुद्धि जीवियों को अधिक अनुकूल अवसर मिल गया कि वे श्रमिकों के नाम पर उन पर आधिपत्य बनाये रखें और उनका शोषण करते रहें। गांधीजी ने नयी तालीम की प्रक्रिया से बुद्धि द्वारा होनेवाले शोषण के अंत का उपाय बताया। उनकी योजना में पूँजी श्रम या बुद्धि में से किसीका किसी पर प्रभुत्व नहीं है, बल्कि तीनों का समन्वय है, किसीका अलग अस्तित्व तक नहीं है। अत अगर वर्ग भेद को मिटाना है तो आवश्यक है कि बुद्धिजीवी और श्रमजीवी अलग न रहें सभी अपनी बुद्धि और अपना शरीर चलाकर समाज की सेवा करें। यह केवल इष्ट है ऐसा नहीं, वह आवश्यक भी है। प्रकृति ने हरएक मनुष्य को मस्तिष्क और शरीर दोनों दिये हैं। दोनों का पूर्ण विकास कर प्रकृति की सेवा न करके कुछ को बौद्धिक विकास का अवसर मिले और कुछ को शरीर-श्रम का, तो समझना चाहिए कि मानव ने प्रकृति के साथ द्रोह किया है। अगर मनुष्य प्रकृति से द्रोह करता है, तो प्रकृति उसका बदला अवश्य लेती है और ले भी रही है।

नयी तालीम का माध्यम उत्पादन की प्रक्रिया और सामाजिक वातावरण होने से प्रत्येक को शिक्षा का अवसर मिलेगा और शिक्षा की प्रक्रिया से प्रत्येक को शरीर-श्रम से (जिसमें बुद्धि का पूरा उपयोग शामिल है) उत्पादन का अभ्यास होगा। साथ ही सामाजिक वातावरण के माध्यम से शिक्षा होने के कारण व्यवस्था की शक्ति हरएक को मिलेगी और हरएक का समुचित सांस्कृतिक विकास होगा ताकि समाज में अलग से व्यवस्थापक-वर्ग रखने की जरूरत न हो। इस आवश्यकता के निराकरण से समाज में ऊपर से संचालन की जरूरत नहीं होगी। परस्पर सहकार से ही समाज चल सकेगा। ऐसे सहकारी समाज में वर्ग भेद की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। (क्रमश)

★

संस्थाओं पर समग्र नयी तालीम का रंग

राममूर्ति

ग्रामभारती के द्वारा समग्र नयी तालीम का स्वरूप प्रकट करने का प्रयत्न हो रहा है लेकिन संगठित संस्थाओं के द्वारा दूसरे भी बहुत से काम हो रहे हैं जिनसे समाज के सामने जीवन का कोई-न-कोई चित्र प्रस्तुत होता रहता है। ऐसी तमाम प्रवृत्तियों को समग्र नयी तालीम की दिशा में ले जाने का दृढ़तापूर्वक और सुनियोजित प्रयत्न होना चाहिए। इस दिशा में कुछ सुझाव प्रस्तुत करता हूँ।

१. ग्राम इकाई क्षेत्रों में, ग्रामसेवा केन्द्रों में या हमारे काम के अन्य क्षेत्रों में ग्रामभारती की प्रक्रियाएँ अपनायी जायँ ताकि देश के अनेक स्थानों में विकास और शिक्षण कुछ कार्यकर्ताओं या सरकार की ही चिन्ता का विषय न रहकर स्वयं ग्राम-समुदाय का या कम से कम उसके चेतन व्यक्तियों की भी, चिन्ता और चिन्तन का विषय बन जाय और वह अपने चिंतन के आधार पर अपनी परिस्थिति के अनुरूप आरोहण की प्रक्रियाएँ निकाल सके।

२. भूदान और ग्रामदान के गाँवों में जो समस्याएँ पैदा हो गयी हैं उनका सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाय। दाता-आदाता का भूदान के बाद भी परस्पर विरोध, गाँव की पूरी भूमि का गाँव के लिए उपलब्ध न होना, खेती के साथ दूसरे किसी भरोसे के उद्योग का न मिलना, ग्रामदानी गाँवों का अपने पड़ोसी क्षेत्र के साथ जो सम्बन्ध रहा है उनमें नयी भूमिका का प्रस्तुत न होना, आदि कई गम्भीर रुकावटें हैं जिनके कारण हमारी हृदय-परिवर्तन यानी शिक्षण की प्रक्रिया के प्रति समाज की आस्था नहीं जम पा रही है, और स्वयं हमारे अन्दर भी निराशा घुस रही है। भूदान और ग्रामदान ने बहुत अच्छा अवसर दिया था जिसका इस्तेमाल हम बाल-शिक्षण, प्रौढ़ शिक्षण और गाँव के आर्थिक विकास के लिए तो कर ही सकते थे, उसके अलावा यह प्रयोग भी कर सकते थे कि मालिक-मजदूर का सम्बन्ध कैसे बदले ताकि वर्ग-संघर्ष का विकल्प विकसित हो सके। नये मानवीय सम्बन्धों के विकास की शैक्षणिक प्रक्रिया के शोध के जो क्षेत्र भूदान, ग्रामदान ने बनाये थे उन्हें हम तेजी से खोते जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि काफी खो चुके हैं, फिर भी अभी कुछ कच्चे धागे बचे हुए हैं।

३. आज अनेक क्षेत्रों में खादी का सघन काम हो रहा है, और यह भी कहा जा रहा है कि ग्रामस्वराज्य की भूमिका में हो रहा है। लेकिन प्रायः यह होता है कि हम गाँव के जीवन में "इन्स्टिट्यूशनलाइजेशन" का नया ताना-बाना बुन देते हैं और लोकशक्ति के लिए रास्ता साफ करने के स्थान पर नयी रुकावटें पैदा कर देते हैं। हो सकता है ऐसा शैक्षणिक प्रक्रिया की प्रतीति के अभाव में होता हो। हम यह भी तो नहीं करते कि काम के सिलसिले में हमारे क्षेत्र में स्थानीय युवकों को खेती में, विभिन्न उद्योगों में, स्वास्थ्य-सफाई में, सुरक्षा आदि में कुछ टेक्नीकल 'स्क्वाड' तैयार हो जायँ जिनसे आगे चलकर ग्रामस्वराज्य को आवश्यक शक्ति प्राप्त हो।

४. हमारी रचनात्मक संस्थाओं के द्वारा कई निर्माण कार्य होते हैं जिनमें मजदूर लगाये जाते हैं। हमें यह स्थिति बदलने के बारे में दो दिशाओं में सोचना चाहिए। एक यह कि खेती के स्थायी मजदूरों के साथ किसी प्रकार की भागेदारी हो, दूसरी यह कि हम १६ से २१ साल तक के युवक लें जो ६ घंटे कमाई का काम करें और २ घंटे पढ़ें। जहाँ यह सम्भव न हो वहाँ उनके लिए रात्रि-पाठशालाएँ चलायी जायँ। इस तरह श्रमशालाएँ युवक संगठन में तथा मजदूरों की सहकारी समितियाँ संगठित करने में बड़ी सहायक सिद्ध होंगी।

५. हर संस्था को अपने अपने आँगन से बाहर निकल कर एक कार्य-क्षेत्र तो बनाना ही चाहिए। हर ग्रामीण केन्द्र, छोटा या बड़ा, अपने क्षेत्र की समस्याओं के शोध और प्रयोग के केन्द्र के रूप में विकसित हो ऐसी स्थिति हर दृष्टि से शुभ होगी।

६. शहरों के काम में हम श्रम बेचकर जीनेवालों का कोई क्षेत्र या समुदाय ले लें, उसकी सारी समस्याओं का अध्ययन करें, जनमत संगठित करें और उन्हें हल करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी साधन 'मोबिलाइज' करें। ✱

श्रीमती मार्जरी साइक्स

मूल्यांकन और समीक्षा

●

भूमिका

शिक्षा म सफलता का मूल्यांकन करते समय हम इन बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१ सामान्यत छात्र का शैक्षणिक स्तर क्या है और कहाँ तक शाला अपने निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने म सफल हुई है।

२ उन उद्देश्यों के प्रकाश म वहाँ के छात्रों का विकास कहाँ तक हुआ है।

उत्तर-बुनियादी स्कूल में पहली शर्त के अनुसार मूल्याकन निरीक्षकों की एक छोटी समिति के द्वारा होना चाहिए। इस लेख म हम छात्रों के व्यक्तिगत विकास के सम्बन्ध म अर्थात् उपर्युक्त दूसरे विषय के बारे म चर्चा करेंगे।

मूल्यांकन के सिद्धान्त

१ इसमें सफलता का विविधता (diversity) झलकनी चाहिए।

इस देश म यह प्रथा रही है कि छात्र जब ७-८ साल तक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र प्राप्त करता है तभी माध्यमिक विद्यालय में वह भर्ती किया जाता है, और जब वह अपना माध्यमिक अभ्यासक्रम पूरा कर लेता है, तो उसे दूसरा सर्टिफिकेट दे दिया जाता है। वास्तविक मूल्याकन की दृष्टि से इनमें से कोई भी पद्धति सतोषजनक नहीं है। किशोरावस्था की शिक्षा को चाहिए कि वह बालकों की व्यक्तिगत रुचियों की खोज करे और विविधता को प्रोत्साहित करे। मूल्याकन में इस विकास और सफलता की विविधता प्रतिबिम्बित हो और उसमें उसका स्पष्ट उल्लेख हो।

२ मूल्याकन घोषित उद्देश्यों की भूमिका में किया जाय।

मूल्याकन की पद्धति को इस प्रकार आयोजित करना चाहिए, जिससे उत्तर-बुनियादी *विद्यालय* के कार्यक्रमों के सारे पहलुओं के अतर्गत विकास को भलीभाँति आँका जा सके। *लिखित परीक्षा-पद्धति में* बहुत हुआ तो किसी एक सीमित क्षेत्र पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसलिए परीक्षा-पद्धति की पूर्ति *म अन्य उपायों का जोड़ लेना चाहिए।*

३ यह बात स्पष्ट हो कि मूल्याकन का आरम्भ बिन्दु क्या है।

परिवर्तन और विकास का मूल्याकन तभी ठीक ठीक हो सकेगा, जब यह मालूम हो कि उनका आरम्भ कहाँ से हुआ है। इसलिए छात्र का पहला मूल्याकन उसी समय कर लेना चाहिए, जब वह उत्तर-बुनियादी पाठ्यक्रम में प्रवेश करता है।

४ उसे सतत चलता रहना चाहिए।

अध्यापक के लिए छात्रों के विकास की दिशा और गति जानना उसके अन्तिम स्तर को जानने से अधिक आवश्यक है। अत किसी भी अच्छी मूल्याकन-पद्धति में सिलसिला बहुत अधिक आवश्यक है, ताकि विश्वसनीय और सर्वांगीण रिकार्ड तैयार किया जा सके। मासिक अथवा त्रैमासिक मूल्याकनों के द्वारा यह बनाया जा सकता है।

५ मूल्याकन ऐसा हो, जिसमें छात्र भी शरीक हों।

अध्यापकों ने जो कुछ रेकार्ड तैयार किया हो या छात्रों के कामकाज की अध्यापकों के मन पर जो छाप पड़ी हो, वही इस मूल्याकन का आधार नहीं *होना चाहिए। सामाजिक शिक्षा का यह एक बहुत* आवश्यक पहलू है कि छात्र अपनी व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की सफलताओं का मूल्याकन करना सहज ही प्राप्त कर ले। अत यह आवश्यक है कि इस मूल्याकन के काम में आरम्भ से अन्त तक व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर छात्र भी सक्रिय रूप से जुड़े रहें और जो निर्णय निकलता है, उसके प्रति उनकी धारणा बने कि यह न्यायपूर्ण और विश्वसनीय है।

मूल्यांकन के तरीके

छात्रों के विकास के कुछ पहलुओं को यथार्थ और स्टैंडर्ड तरीकों से आँका जा सकता है, जैसे शारीरिक विकास, हाथ का हुनर, शिक्षा के औजारों के उपयोग की कुशलता आदि। दूसरे पहलुओं को, जो इतने ही महत्त्व के हैं, इस प्रकार नापा नहीं जा सकता, जैसे सामाजिक विकास। उसका मूल्यांकन करने के लिए अवश्य ही नया पद्धतियों की खोज करना होगी। शिक्षा के कुछ उद्देश्य ऐसे भी हैं, जिनका मूल्यांकन करना सम्भव ही नहीं है, जैसे चारित्र्य, सौंदर्य के प्रति संवेदनशीलता, करुणा आदि। इनमें व्यक्ति-व्यक्ति का कितना विकास हुआ, यह सिद्ध करना वाछनीय भी नहीं है।

मूल्यांकन करने में निम्न साधन उपयोगी सिद्ध हुए हैं

(१) छात्र के काम का कुछ वस्तुनिष्ठ स्टैण्डर्ड कसौटियाँ।

(२) किसी कार्यक्रम-विशेष के अन्तर्गत ज्ञान और समझने की शक्ति को जाँचने के लिए शिक्षक समय-समय पर जो टेस्ट बना लेते हैं।

(३) छात्रों और अध्यापकों द्वारा लिखी गयी दैनंदिनी।

(४) विशेष कार्यों का लिखित विवरण।

(५) दस्तकारी में की गयी उन्नति का लिखित विवरण।

(६) विभिन्न विषयों की नोटबुक।

(७) संगीत, नाटक आदि सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के सम्बन्ध का रेकार्ड।

(८) ललित कलाओं में या लेखन में छात्रों का कोई मौलिक कार्य।

(९) शिक्षकों द्वारा लिखित ऐसी घटनाओं का रेकार्ड, जिनसे छात्रों के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास पर प्रकाश पड़ता हो। इसमें उन प्रसंगों का भी समावेश होगा, जिनका उल्लेख माता-पिताओं ने या बाहरी लोगों ने शाला के बाहर के इनके व्यवहार के सम्बन्ध में किया हो। व्यक्तिगत या सामूहिक तौर पर किसी छात्र के विविध प्रवृत्तियों में विकास के मूल्यांकन के लिए ये साधन इस्तेमाल किये जा सकते हैं। शिक्षकों को चाहिए कि वे आपस में तथा छात्रों के साथ चर्चा करके विविध क्षेत्रों में मूल्यांकन के लिए उपयुक्त तरीके निकालें।

मूल्यांकन का विस्तार

उत्तर बुनियादी शाला के चार प्रमुख उद्देश्यों को आधार मानकर जिन क्षेत्रों का मूल्यांकन करना है, उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है

(१) व्यक्तित्व का विकास

(अ) शारीरिक वृद्धि, विकास और स्वास्थ्य।

(आ) खेलों में कुशलता और सफलता।

(इ) बौद्धिक क्षमता, ज्ञान-साधन के रूप में पढ़ने, लिखने और गणित में कुशलता।

(ई) बोलने में और लिखने में अपने भावों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने की शक्ति।

(उ) समस्याओं का छानबीन करने तथा नया ज्ञान प्राप्त करने में पुस्तकालय, प्रयोगशाला, सदर्भ सामग्री आदि का उपयोग करने की क्षमता।

(ऊ) व्यक्तिगत रुचि और रुझान।

(ऋ) विशेष कुशलताएँ और क्षमताएँ, खास कर सांस्कृतिक क्षेत्र का।

(२) नागरिकता अथवा सामाजिक योग्यता

(अ) भरती होने के समय की या घर की स्थिति और पिछले सामाजिक और सांस्कृतिक अनुभव।

(आ) समाज में विभिन्न स्तरों पर उपस्थित दिक्कतों और जिम्मेदारियों के अवसर पर अपना कर्तव्य निभाने के सम्बन्ध का जानकारी।

(इ) सौजन्य, आत्मसंयम, सहिष्णुता का प्रगति तथा लोगों और परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना लेने का सद्भावता।

(ई) प्राथमिक उपचार तथा रोगी-सेवा में निपुणता।

(उ) शाला के बाहर सार्वजनिक सेवा कार्य की सफलताएँ।

(ऊ) सामूहिक कार्य करने में एक सदस्य के नाते और नेता के नाते सहयोग देने की वृत्ति।

(ऋ) सामाजिक संबंधों में अपने अभिक्रम वस्तु-निष्ठा और तटस्थता की वृद्धि।

(३) अपने धंधे और उद्योग में

(अ) भरती होने के समय की योग्यता—यदि कुछ हो तो।

(आ) उत्पादन-गति की वृद्धि और उत्पादित वस्तु के गुण—इनका रेकार्ड।

(इ) लगातार और उद्देश्यपूर्ण काम करने की क्षमता में वृद्धि।

(ई) औजारों का उपयोग और उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी।

(उ) दस्तकारियों में पैदा होनेवाली समस्याओं के प्रति सर्जनात्मक और प्रयोगात्मक वृत्ति।

(ऊ) दस्तकारी को समाज-सेवा के साधन के रूप में काम में लाने की वृत्ति।

(४) शैक्षणिक योग्यता

(अ) स्वास्थ्य-रक्षा और रोग निरोध विज्ञान की जानकारी।

(आ) भारत तथा विश्व की सामयिक समस्याओं को उनके ऐतिहासिक और भौगोलिक संदर्भ में ज्ञान।

(इ) किसी विशिष्ट योजना के या दिये हुए किसी विषय के बारे में विवरण प्रस्तुत करने की क्षमता।

(ई) वर्तमान जीवन के अंगभूत वैज्ञानिक खोजों और आविष्कारों की सामान्य जानकारी।

✱

"सर्वोदय-पर्व"

'पर्व' को काका कालेलकर ने समाज का जीवित इतिहास कहा है। वर्ष के किसी निश्चित समय में जब कोई सामाजिक वृत्ति विशेष रूप से समाज में दिखाई देती है, तो उसे 'पर्व' की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक पर्व का कोई न कोई विशेष आशय होता ही है। जिस पर्व का आशय समाप्त हो जाता है वह पर्व भी समाज से शनैः शनैः लुप्त हो जाता है। उसके बदले नया 'पर्व' नये आशय का संदेश लेकर आता है। 'सर्वोदय पर्व' नया है। इसका नयापन या आशय क्या है?

समाज के अधिकांश लोगों का जीवन युग के प्रामाणिक ज्ञान के संस्पर्श से दूर है। लोक शिक्षण तथा ज्ञानार्जन के प्रचलित साधन पुस्तकें, समाचार पत्र और रेडियो दलीय अथवा एक पक्षीय प्रचार भावना से दूषित हैं। तथ्य जो बुद्धि-विभ्रम और अज्ञान के पर्दे को भेद सकें अब दुर्लभ हो गये हैं।

इस सामाजिक विसंगति का क्या कोई हल हमें दीखता है?

वाद और एकांगिता से परे हमें निपट ज्ञान मिलना चाहिए। यह ज्ञान अपने आप हमारे पास न आये तो हमें उसके संस्पर्श में आने का स्वयं प्रयास करना है। वैज्ञानिक-युग के आगमन के पहले ज्ञानी, महात्मा पैदल चलकर द्वार द्वार पहुँचते थे और अनवरत समाजोपयोगी, लोक कल्याणकारी ज्ञान का प्रसाद वितरित करते थे। आज वैज्ञानिक उपकरणों की पहुँच घर घर तक हो गयी है किन्तु लोक-कल्याणकारी ज्ञान लोक निर्वासित है। हमें उस लोक निर्वासित ज्ञान की आकांक्षा है, तो उसकी तलाश भी करनी होगी, उसके सम्पर्क में आने का स्वयं ही प्रयास करना होगा। 'सर्वोदय-पर्व' का यह सूक्ष्म संकेत है।

—वर्धमान

'नयी तालीम' का यह अंक आपको कैसा लगा? नयी तालीम को अधिक से अधिक रोचक और उपयोगी बनाने के लिए आपके सुझाव और विचार सादर अपेक्षित हैं।

भाषा ज्ञान

श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला

●

प्राचीन काल से हमारे इतिहास की जाँच की जाय, तो पता चलेगा कि अलग-अलग भाषाओं में उनके बोलनेवालों के जैसी ही प्रवीणता प्राप्त करने का प्रेम और स्वभाषा की अपेक्षा परभाषा के लिए अधिक आदर हमारे देश में बड़े लम्बे समय से चला आया है। आज हम अंग्रेजी को जो महत्त्व देते हैं, वही महत्त्व किसी समय संस्कृत भाषा को देते थे और आज भी उस भाषा के प्रति हमारा आदर बहुत बार स्वभाषा से अधिक होता है। जिस तरह हमारे विद्वानों को मातृभाषा में बोलने की अपेक्षा अंग्रेजी में बोलना आज अधिक पसंद होता है और बहुत ज्यादा परिश्रम करने के कारण वे अंग्रेजी में अच्छी तरह बोल सकते हैं। जिस प्रकार स्वभाषा में लिखने या व्याकरण की भूलें होने की अपेक्षा अंग्रेजी में वैसी भूलें होने पर हम बहुत लज्जित होते हैं या वैसी भूलें करनेवाले का मजाक उड़ाने की हमारी इच्छा होती है, उसी प्रकार एक समय हमारी दशा संस्कृत के संबंध में थी। जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा सीखने के बाद मातृभाषा बोलने को जंगलीपन माननेवाले और बालकों को मातृभाषा से पहले अंग्रेजी बोलना सिखाने के लिए घर में अंग्रेजी का उपयोग करनेवाले हमारे देश में कुछ लोग हैं, उसी प्रकार संस्कृत में ही बोलने का व्रत लेनेवाले और उपनयन-संस्कार के साथ ही या उससे भी पहले बालकों को शब्दरूपावली और धातुरूपावली सिखानेवाले शास्त्री भी हमारे देश में किसी समय थे और आज भी कुछ होंगे। आज जैसे गांधीजी अंग्रेजी भाषा के मोह के लिए प्रजा को उलाहना देते हैं, वैसे ही संस्कृत भाषा के अनुचित मोह के लिए अखा, एकनाथ और ज्ञानेश्वर जैसे ज्ञानियों और सन्तों को अपने समय के लोगों को उलाहना देना पड़ा था और स्वभाषा में ही ग्रन्थ रचने का आग्रह रखनेवाले एकनाथ जैसे लोगों को संस्कृत के आग्रहियों द्वारा दिये गये कष्ट भी सहने पड़े थे।

प्राचीन काल में संस्कृत के बजाय मातृभाषा का आदर बढ़ानेवालों में बुद्ध और महावीर अग्रणी मालूम होते हैं। उसके बाद महाराष्ट्र के संतों ने मराठी भाषा को संस्कृत जितना ही महत्त्व देने का प्रयत्न किया। गुजरात में प्रेमानन्द ने गुजराती भाषा की सेवा आरंभ की। परन्तु प्रेमानन्द को संस्कृत और गुजराती की तुलना नहीं करनी थी उन्हें प्रान्तीय भाषाओं में गुजराती को उच्च स्थान दिलाना था। गुजरात में संस्कृत के साथ स्वभाषा की तुलना तो अखा ने की। एकनाथ जैसी ही, परन्तु अधिक तीखी भाषा में उन्होंने कहा था --"हे मूर्ख, तू भाषा से क्यों चिपटा रहता है? जो रण में जीतता है, वही शूर है। संस्कृत भाषा बोलने से क्या हुआ? क्या इस कारण प्राकृत भाषा में से कुछ नष्ट हो जाता है? सारा विस्तार ५२ अक्षरों का ही है। परन्तु अखा कहता है कि इसके परे रहनेवाला ५३ वाँ ब्रह्मतत्त्व हम जानें, तभी इस संसार-सागर से पार हो सकते हैं। संस्कृत प्राकृत की मदद से पढ़नी होती है। जिस प्रकार लकड़ियाँ गट्ठर के रूप में घुमाते रहने से कोई लाभ नहीं होता, गट्ठर को खोलने पर ही लकड़ियों का उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार प्राकृत के बिना संस्कृत व्यर्थ है। व्यापारी हजारों की रकम बही-खाते में लिखता है, परन्तु जब तक पैसों को भुनाता नहीं, तब तक व्यापार नहीं हो सकता।"

परन्तु शास्त्रियों में आन्तर प्रान्तीय भाषा के रूप में तो संस्कृत ही आज तक उपयोग में आती रही है।

किन्तु परभाषा सीखने का हमारा यह उत्साह संस्कृत के विषय में थोड़ा कम हुआ, तो दूसरी किसी भाषा के विषय में बढ़ा। इस प्रकार मुसलमानों का राज्य स्थापित होने पर हमारे पूर्वजों ने फारसी भाषा को वही महत्त्व दिया, जो आज हमने अंग्रेजी भाषा को दिया है। फारसी भाषा के ज्ञान में मुसलमानों से भी टक्कर लेनेवाले फारसी के समर्थ विद्वान् हिन्दुओं में हो गये

हैं। उस जमाने में फारसी जाननेवाले आदमी की सब इज्जत करते थे। जिस तरह रास्ते पर बैठे हुए किसी मोची को अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान है, ऐसा जानकर हमें आश्चर्य होता है और जिस तरह रेल्वे स्टेशन पर जो काम गुजराती बोलने से नहीं हो सकता, वह अंग्रेजी में एक वाक्य बोल देने से हो जाता है, वैसी ही उस समय फारसी की स्थिति थी। 'पढ़े फारसी बेचे तेल, यह देखो कुदरत का खेल' इस कहावत का अर्थ ही यह है कि फारसी का ज्ञान रखनेवाला तेल बेचनेवाले की सामान्य स्थिति में हो यह बात उस जमाने में आश्चर्य की मानी जाती थी।

जिन लोगों की अधीनता हमने स्वीकार की उनकी पोशाक, भाषा, रीति-रिवाज, सब कुछ अपना लेने की हमें पुराने जमाने से आदत पड़ गयी है। शिवाजी महाराज ने हिन्दू-राज्य स्थापित किया, परन्तु राजभाषा, वेशभूषा और लिपि तो बहुत समय तक मुसल्मानों की ही रहा। राजपूताने के बहुत से हिन्दू राज्यों में आज भी राजभाषा उर्दू है और पहले वह शायद फारसी रही होगी। उत्तर भारत में अनेक हिन्दू ऐसे हैं, जिन्हें बचपन से उर्दू लिपि ही सिखायी जाती है और देवनागरी लिपि वे पढ़ ही नहीं सकते।

यही कारण है कि अंग्रेजी राज्य के आते ही अंग्रेजी भाषा ने भी स्वभावतः वही प्राधान्य ग्रहण कर लिया। प्रारंभ से ही उच्चारण शुद्धि और व्याकरण पर हमारे देश में बहुत जोर दिया जाता था और उसके लिए खूब परिश्रम किया जाता था। इसलिए किसी भी भाषा के शुद्ध उच्चारण करने और भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में दूसरी प्रजाओं से हम अधिक सफल रहे हैं। दो-चार भाषाएँ सीख लेना हमारे लिए बायें हाथ का खेल है। अतः राष्ट्रीय शिक्षण का आन्दोलन आरंभ होने पर हिन्दी को पाठ्यक्रम में स्थान देने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उस समय कुछ लोगों की यह धारणा थी कि हिन्दी को अनिवार्य बनाकर अंग्रेजी को वैकल्पिक स्थान दिया जाय अर्थात् उसे कोई-कोई विद्यार्थी ही सीखें परन्तु अधिकतर शालाओं और विद्यार्थियों ने अंग्रेजी को तो जारी रखा हा, ऊपर से हिन्दी को और दाखिल कर दिया। इसलिए आज अनेक विद्यार्थी गुजराती, अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत, फारसी या फ्रेन्च इस तरह चार भाषाएँ सीखते हैं। जो लोग चाहें नहीं, वे एक भाषा अधिक सीखें, ऐसा विकल्प यदि रखा जाय, तो बहुत से विद्यार्थी एक और भाषा का आभूषण पहनने को तैयार हो जायँगे।

बेशक यह हमारी जनता द्वारा प्राप्त की हुई एक सिद्धि कही जायगी। परन्तु प्रत्येक सिद्धि जैसे अंतिम ध्येय को प्राप्त करने में बाधक होती है, वैसे ही यह सिद्धि भी बाधक होता है। सिद्धि अपना मूल्य बढ़ाकर ध्येय को भुला देती है। किसी भाषा की विशेषता, किसी भाषा का प्राण उसके शब्दों में नहीं, बल्कि उसके बोलनेवालों के चरित्र में होता है। इस बात को हम भूल जाते हैं और यह मानते हैं कि अमुक भाषा में ही अधिक तेज, माधुर्य, कर्कशता आदि गुण हैं और उस भाषा को सीखने से हममें भी वे गुण आ जायँगे। एक अमेरिकन व्यायाम शास्त्री ने शौर्य का विकास करने की एक विचित्र सलाह दी है। वे कहते हैं कि पीठ, गरदन और सिर को एक विशेष स्थिति में रखकर चलने से आप लोगों पर रोब जमा सकेंगे। सच बात है, इस तरह रोब से चलने का ढोंग तो किया जा सकता है, परन्तु जब तक कोई सच्चा रोबदार आदमी सामने आकर खड़ा नहीं होता, तभी तक। ऐसे किसी आदमी के सामने आ जाने पर रोब जमाने की आदत होने हुए भी पीठ, गरदन और सिर विशेष स्थिति में रखना संभव नहीं होता, क्योंकि धड़कते दिल से यह सब कैसे हो सकता है?

शोरगुल होने पर सभी लोग घर से बाहर निकल आते हैं, परन्तु सच्चे और पक्के वीर की परीक्षा तलवार निकलने पर ही होती है।

इसी प्रकार हमारा यह ख्याल है कि जिस भाषा में हम बोलते हैं, उस भाषा के बोलनेवालों के गुण हममें आ जाते हैं। दूसरे लोगों की भाषा और वेशभूषण अपनाने से यदि उनके गुण किसीमें आते हों तो गधा सिंह का चमड़ा ओढ़कर सिंह बनने की आशा क्यों न रखे? गुण या ज्ञान चित्त के गुण हैं वाणी या कपड़ों

के नहीं, वाणी और वेश उनकी थोड़ी झाँकी करा सकते हैं, परन्तु उन्हें पैदा नहीं कर सकते।

मातृभाषा का अनादर हमारा प्राचीन काल का रोग मालूम होता है। हमें अपनी भाषा सदा पंगु ही मालूम हुई है और स्वभाषा का यह अनादर हममें आत्मविश्वास के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार गुलामी के स्वीकार की जड़ में स्वाभिमान और आत्मविश्वास का अभाव है, उसी प्रकार परभाषा के मोह में भी इन गुणों का अभाव है।

स्वभाषा का आदर बढ़ाने का उपाय यह नहीं है कि दूसरी भाषाएँ सीखी या सिखायी न जायें। यह तो काका का अपमान करके पिता का मान बढ़ाने जैसा विचित्र मार्ग होगा। परन्तु यह ख्याल मिट जाना चाहिए कि परभाषा जानना कोई मान, बड़प्पन या विद्वत्ता की बात है। किसी प्रयोजन के अभाव में मनुष्य को मातृभाषा के सिवा एक भी दूसरी भाषा जानने की आवश्यकता नहीं, परन्तु आवश्यकता होने पर उसे बार-बार नयी नयी भाषाएँ सीखना पड़ती हैं। लेकिन जिन भाषाओं के बारे में उन्हें विश्वासपूर्वक यह मालूम हो कि जीवन में जरूरत पड़ेगी, उन्हें सीखने की सुविधा प्रयोजन के अनुसार की जानी चाहिए। परन्तु यह नहीं मानना चाहिए कि उस भाषा के ज्ञान के कारण विद्यार्थी कुछ ज्यादा आदर पाने का अधिकारी हो जाता है, न हमारे मन में यह भ्रम रहना चाहिए कि दूसरी भाषाएँ न जानने से विद्यार्थी के विकास में कोई रुकावट आती है।

दूसरों की भाषा हमें उसके बोलनेवालों की तरह ही शुद्ध रूप में बोलने और लिखने आना चाहिए, ऐसा मिथ्याभिमान हमारे ही लोगों ने बढ़ाया है और वह जिस प्रकार की गुलामी हमने स्वीकार की, उसके हम पर पड़े हुए प्रभाव का परिणाम है। जापानी लोग टूटी-फूटी अंग्रेजी से लाखों का व्यापार चला सकते हैं, अच्छी अंग्रेजी न जानने से उन्हें शर्म नहीं मालूम होती। श्री पाल रिशार जैसे पुरुष भी अशुद्ध अंग्रेजी बोलने में शरमाते नहीं, क्योंकि वे लोग जानते हैं कि अंग्रेजी उनकी भाषा नहीं है, काम चलाने जितनी ही अंग्रेजी वे जानते हैं। परन्तु हमारे दफ्तरों में अंग्रेजी पर प्राप्त किये हुए अधिकार की बेहद कीमत आँकी जाती है। बरसों से बम्बई में रहने पर भी हम मराठी बोलने में गल्ती करें या महाराष्ट्रीय लोग गुजराती बोलने में गल्ती करें, तो बोलनेवालों या सुननेवालों को हास्यास्पद नहीं मालूम होता। परन्तु अंग्रेजी में एक मामूली-सी भी गल्ती हो जाय, तो हम ऐसी शर्म लगती है कि पृथ्वी जगह कर दे, तो हम उसके भीतर समा जायें।

गुजराती या बंगाली का भाषा-संबंध होने के कारण गुजराती का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक माना जाय, इसे तो मैं समझ सकता हूँ। परन्तु जब कोई यह कहता है कि जो संस्कृत नहीं जानता, वह पूरी तरह शिक्षित नहीं है या संस्कृत के ज्ञान के बिना कोई हिन्दू अपना पूरा विकास नहीं कर सकता, तब ये शब्द मुझे बड़े विचित्र मालूम होते हैं। ऐसी बात सुनकर मुझे लगता है कि हम इस बात को समझे ही नहीं हैं कि ज्ञान पदों का नहीं, पदार्थों का विषय है। जो पदार्थ जानता है, वही ज्ञान प्राप्त करता है। किसी पदार्थ के लिए किसी विशेष भाषा में दिया हुआ नाम न जानता हो, तो वह उसे नया नाम दे सकेगा, परन्तु केवल पद को जाननेवाला पदार्थ को नहीं पहचान सकता।*

* 'तालीम की बुनियादें' पुस्तक से साभार।

★

नयी तालीम के एक श्रेष्ठ साधक

किशोरलाल भाई

गोपाल कृष्ण मल्लिक

बापू के साथ उदित होने वाले स्व० किशोरलाल भाई जैसे विमल विभूति से, जिन्होंने अपनी प्रखर विचार शक्ति, *अविरत कर्मयोग और निर्मल चारित्रिक* गुणों से देश, काल और समाज को प्रभावित किया, सर्वोदय-जगत् के ही नहीं बल्कि विचार जगत् के सारे लोग परिचित हैं। श्री किशोरलाल भाई तत्ववेत्ता और समाज सुधारक ही नहीं, अपितु शिक्षा शास्त्री और शिक्षक भी हुए। युवावस्था में ही गांधीजी से वे प्रभावित हुए और उनके साथ काम करने के लिए चम्पारन (बिहार) गये। पर गांधीजी ने उन्हें देखते ही साबरमती आश्रम की राष्ट्रीयशाला के लिए भेज दिया। उन्होंने स्वयं लिखा है कि, 'बापू ने मुझ से आग्रह किया कि मुझे आश्रम पर जाकर राष्ट्रीयशाला में काम करना चाहिए।' बापू ने पहली ही नजर में उनके इस गुण को भाँप लिया पकड़ लिया।

किशोरलाल भाई आश्रम की शाला में शरीक हो गये, जड़वत् नहीं बल्कि इस काम में उन्हें पूरी दिलचस्पी थी। स्वयं लिखा है 'मैं जब कालिज में था, तभी से मेरा दिल प्राथमिक शिक्षा की ओर आकृष्ट हो गया था। शिक्षण के क्षेत्र में अपने को लगाने की अभिलाषा का पोषण उस समय से ही मेरे मनमें होता रहा है। परन्तु यह कल्पना तो थी ही नहीं कि जीवन का प्रवाह इसी दिशा में मुड़ेगा। गांधीजी के सम्पर्क के कारण पुरानी अभिलाषाएँ जागृत हो गयी।''

जब बी० ए० में थे तभी इस विषय पर उन्होंने एक निबंध लिखा था, जिसमें पाठ्यक्रम की एक योजना भी सुझायी थी। उसमें मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी, धार्मिक शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण और ग्रामजीवन के सुधार के विषय रखे थे। और जब राष्ट्रीयशाला के शिक्षक हुए तो एक न एक नवीन प्रयोग करते रहे। बाल मानस के विशेष अध्ययन के लिए बच्चों के जीवन में अधिक शरीक हो गए और रस लेने लगे। वे चाहते थे कि बच्चे अत्यन्त विनयी, परिश्रमी और संयमी बनें।

उनके सरल जीवन का असर विद्यार्थियों पर बहुत हुआ। उनकी नियमितता ने तो बच्चों के मन को ही हर लिया। संयम, जादू-सा असर जमाने लगा। *बच्चों को लेकर वे मीलों पैदल चले जाते, रास्ते भर* हँसी-हँसी में ज्ञान की बातें करते हँसी-खुशी लौट आते। थकान से अधिक, ज्ञान रस से वे भरे होते। राष्ट्रीयशाला में आते ही जो पहली चीज उन्होंने की—वह थी शिक्षा के साथ शरीरश्रम और जीवनोपयोगी उद्योगों को अनिवार्य रूप से जोड़ना। तब बुनियादी या नई तालीम का जन्म नहीं हुआ था, पर उसकी बुनियाद इस प्रकार प्रयोगवत् पड़ रही थी। शिक्षा के साथ कला का कैसा सम्बन्ध हो, *क्या अनुबन्ध हो, यह भी वे अच्छी तरह* जानते थे और मानते थे कि शिक्षण का उद्देश्य विद्यार्थियों की रसवृत्ति को संस्कारी और विशुद्ध बनाने के लिए है, न कि विलास की ओर प्रवृत्त करने के लिए। वे मानते थे, इस प्रकार शिक्षण देने से ही मनुष्य में दया, समभाव, सार्वजनिक सेवा आदि मनोवृत्ति का पोषण हो सकता है। जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं और जिसकी रस-वृत्ति सुसंस्कृत नहीं है, हीन प्रकार की है, उसमें उच्च मनोवृत्तियों को पोषण नहीं मिलता। यही न्याय कला को भी लागू है, उनकी दृष्टि में। जीवन के साथ स्वाभाविक रीति से ताने-बाने की भाँति जो कला और लालित्य एकरूप हो सकता है, उसे ही वे सच्ची कला और सच्चा लालित्य मानते थे।

शिक्षक रस की नदियाँ बहा दें बच्चों को खूब खुश रखें और उनके साथ खुद भी बालक बनकर नाचें *कूदें इस सहज कला रस से उन्होंने कभी अपने आपको अलग नहीं रखा।* और मीठी हँसी के सिवा उन्होंने कभी एक भी कठोर शब्द बच्चों के लिए भूल से भी *नहीं प्रकट किया।* अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता और स्वभाव की मधुरता से वे विद्यार्थियों की श्रद्धा को अपनी ओर इस प्रकार झुकाते थे, कि फिर उनसे जो ! *भी करा लें। उनकी बुद्धि चाहे कितनी ही जाज्वल्यमान* हो पर उनके स्वभाव की मधुरता तो हिमालय के ऊँचे-से ऊँचे शिखर को भी मात कर देती थी। शिक्षक का यही तो सबसे बड़ा गुण है।

[शेष पृष्ठ ६१ पर]

मल-मूत्र त्याग

(पहले तीन साल)

रामपूर्ति

●

बहुत वर्ष पहिले की बात है पढ़ते समय मेरा एक अंग्रेज सहपाठी था। एक दिन हमलोग साथ मैच देखने जा रहे थे, और चलते चलते अंग्रेजी और भारतीय जीवन की कई चीजों को लेकर तुलना करते जाते थे। बातचीत की दौरान में जार्जफालोज (उसका नाम) ने कहा—"तुमलोगों को चलना तक नहीं आता। सिखाया भी नहीं जाता।" मैं दंग रह गया कि चलना भी कोई सीखने-सिखाने की चीज है। लेकिन आज जब देखता हूँ कि हममें से शायद ही दो ऐसे हों जो साथ चलें और कदम मिला कर चलें, या अकेले चलें तो शरीर सीधा हो, कदम नपे हुए पड़े, गर्दन झुकी न हो और आँखें लगभग सौ गज सामने देखें। तो जार्ज की बात याद आती है कि सचमुच हमलोगों को चलना नहीं आता और कभी किसी ने सिखाया भी नहीं—न माता-पिता ने, न शिक्षक ने। इसी तरह हम कई क्रियाओं को जैसे मल-मूत्र-त्याग करना, खाना, सोना, प्रजनन आदि को इतना सहज मान लेते हैं कि सोचते ही नहीं कि इसमें क्या सीखना है। क्या हम जानते हैं कि सही ढंग से सांस लेना भी सीखने की चीज है ?

बच्चे के जीवन में अगर शुरू से उसकी शिक्षा-दीक्षा पर ध्यान न दिया जाय तो उसका समुचित सांस्कृतिक विकास नहीं होगा। मनुष्य की यह बहुत बड़ी विजय है कि उसने हर क्रिया को सांस्कृतिक रूप दे रखा है। बिल्कुल स्थूल शारीरिक क्रियाओं में टट्टी जाने और पेशाब करने का बहुत अधिक महत्व है। बच्चा सही समय पर, सही स्थान पर, सही ढंग से टट्टी करे, इसे शुरू से ही सिखाना चाहिए। सफाई का गुण जन्मजात नहीं होता, सिखाने से ही आता है। कई माता-पिता यह सोच लेते हैं कि बच्चे को सिखाना बहुत मेहनत का काम है। ऐसी बात नहीं है। बच्चे की शिक्षा में इस बात का ध्यान रखने की जरूरत है कि तैयारी को परख रखी जाय और जैसी उसकी तैयारी हो उसका ध्यान रखकर ठोस प्रोत्साहन दिया जाय। एक आयु और दूसरी आयु में, एक बच्चे और दूसरे बच्चे में बहुत अंतर होता है। शिक्षण में इस अंतर का ध्यान हमेशा रखना चाहिए।

जन्म के पहले साल में बहुत कम बच्चों का ध्यान मल, मूत्र की क्रिया की ओर जाता है। शरीर की आवश्यकता के अनुसार ये क्रियाएँ अपने आप होती रहती हैं। लेकिन कई बच्चे ऐसे होते हैं जिन्हें सुबह उठने पर या दूध आदि पीने के तुरंत बाद टट्टी होती है। ऐसे बच्चों को समय पर सही स्थान पर बिठा देना आसान होता है। लेकिन जो बच्चे दिन में किसी समय और कई बार टट्टी कर देते हैं उनके लिए पहले साल में कुछ करना संभव नहीं होता। दूसरे साल में बच्चे की मानसिक रुझान में कई अंतर हो जाते हैं जिनका उसके शिक्षण पर गहरा असर होता है। एक खास बात यह होती है कि बच्चा यह समझने लगता है कि वह अपनी मा को प्यार करता है और अपनी मा को खुश करने में उसे आनन्द आता है। इसलिए अगर मां भी प्यार से काम ले तो बच्चे को ऐसे काम करना अच्छा लगता है जिनसे मा खुश हो। लेकिन इसके साथ और बातें होती हैं।

दूसरे साल के प्रारम्भ में बच्चे का ध्यान मल-मूत्र-त्याग की क्रिया की ओर जाने लगता है। वह कभी-कभी अपनी मर्जी से टट्टी रोक लेता है, या कर देता है। एक बात और है। अपनी टट्टी को देखकर उसके अन्दर यह भावना जगती है कि यह उसकी चीज है जिस पर उसका अधिकार है। कभी-कभी टट्टी करके वह मां को बुला लाता है मानो यह कहने के लिए—'देख, कैसी है यह मेरी कृति।' गन्दगी के प्रति घृणा जैसी चीज उसके अन्दर नहीं होती। वह टट्टी को हाथ में लेकर खेलता है और कोई न रोके तो उठाकर मुंह में भी रख लेता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बच्चा कुछ दिन पहले तक कायदे से, सही जगह पर बैठकर टट्टी करता था वह अचानक आदत बदल देता है और करता क्या है कि जब तक टट्टी की जगह पर बठा रहेगा टट्टी नही करेगा बल्कि उठने के बाद कमरे या बरामदे के कोने में जाकर कर देगा। वह ऐसा क्यो करता है ? क्या वह यह सोचता है कि अपनी चीज इस तरह क्या छोड दूँ ? या अब वह हर चीज में—टट्टी में भी—अपनी मर्जी चलाना सीख रहा है ? यह सही है कि पहले साल में जिनको आदत सही जगह पर बैठकर टट्टी करने की अच्छी तरह पड जाती है व प्राय "बगावत" नही करते। "बगावत" लडके ज्यादा करते हैं, लडकियाँ कम। कुछ भी हो, माता पिता के लिए यह उचित नही है कि इस उम्र के बच्चे की जिद का जवाब जिद से दें। माँ को धैर्य और प्यार से ही काम लेना चाहिए दबाव से नही।

दूसरे साल १८ से २४ महीने के बीच बच्चे एक नया काम करने लगते हैं। अब उन्हें टट्टी या पेशाब की हाजत महसूस होती है तो वे इशारा करते हैं। वे चाहते है कि माँ आये और उनकी मदद करे। अगर माँ बच्चे को टट्टी या पेशाब करने के पहले इशारा कर देने के लिए प्रोत्साहित करती रही है तो मानना चाहिए कि बच्चे न ऐसा करना सीख लिया। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि माँ के प्रोत्साहन से ही बच्चे ने ऐसा करना सीखा हो। ऐसा भी होता है कि इस उम्र में टट्टी या पेशाब के कारण कपडे या बिस्तर के खराब होन पर बच्चा घिन और असुविधा दोनो महसूस करने लगता है। यह आग के विकास के लिए शुभ लक्षण है।

दूसरे साल के दूसरे हिस्से में बच्चे की अनुकरण वृत्ति तेजी के साथ प्रकट होती है। वह अपने भाई या बहन को देखकर सीख लेता है कि टट्टी कहाँ की जाती है, कैसे की जाती है। इस नयी कला के प्रति उसे इतना उत्साह होता है कि कभी-कभी वह थोडी-थोडी देर पर टट्टी के लिए बैठना चाहता है। इससे हर प्रौढ को यह चेतावनी लेनी चाहिए कि बच्चे के सामन कोई गलत नमूना न आने पाये क्योंकि न जाने कब वह किस चीज की नकल करने लग जाय।

दो-ढाई साल की उम्र में बच्चा पूरी क्रिया अपने आप करने लगता है। बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि माँ से उसे कितना प्रोत्साहन मिलता है और वह आसानी से अपने कपडे खुद उतार और पहन लेता है या नही। फिर भी ३ साल तक खेल में व्यस्त रहने पर या और किसी समय टट्टी करने में उससे असावधानी हो ही जाया करेगी।

[डा० स्पॉक की 'बेबी एण्ड चाइल्ड केयर' के आधार पर]

★

श्री अमरनाथ

प्रशिक्षण-कार्य के कुछ अनुभव

१५ अगस्त १९४७ में देश को स्वतन्त्रता मिली। उसके बाद देश के नवनिर्माण का प्रश्न सामने आया। सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, गैर-सरकारी एजेन्सियों द्वारा ग्राम विकास-कार्यक्रम आरंभ हुआ। दो पचवर्षीय योजनाएँ पूरी हुईं तथा तीसरी प्रारम्भ हुई। खादी तथा अन्य रचनात्मक कार्यों का भी प्रसार हुआ। समय-समय पर इन कामों का मूल्यांकन होता रहा और १३ वर्षों के अनुभव से ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रगति की निर्दिष्ट दिशा मिल नहीं पा रही है। जन शक्ति कुंठित होती गयी। लोगों में पराबलम्बन की भावना जगी। जनता ने माना कि हमारे गाँव के निर्माण की जिम्मेदारी हमारी नहीं, वरन् सरकार की या अन्य संस्थाओं की है। बाहरी सहायताएँ उनके पास पहुँची जो जरूरतमन्द नहीं थीं। आवश्यकता यह महसूस हुई कि ग्राम विकास की विभिन्न एजेन्सियों का पारस्परिक समन्वय हो, स्वतन्त्र लोकशक्ति का निर्माण हो, तथा जनता की संकल्प शक्ति एवं प्रेरणा जगे। इसके लिए ग्राम इकाई कार्यक्रम का जन्म हुआ। ग्राम इकाई क्षेत्र में काम करनेवाले ग्राम-सहायकों के प्रशिक्षण के लिए देश के कई प्रदेशों में ग्राम स्वराज्य विद्यालयों की स्थापना हुई। उत्तर प्रदेश में ग्राम-स्वराज्य विद्यालय की शुरुआत १५ जुलाई '६१ से श्री गांधी आश्रम, सेवापुरी में हुई।

एक-एक माह के ५ सत्रों में १४३ ग्राम-सहायकों ने प्रारम्भिक अभ्यासक्रम पूरा किया। दो सत्रों में क्रमशः २२ तथा १७ ग्राम-सहायकों ने विद्यालय से १ माह का प्रारम्भिक प्रशिक्षण पूरा कर ९ माह क्षेत्र में काम करने के बाद पुनः ११ माह के लिए विद्यालय में प्रशिक्षण हेतु आये थे। इस १ वर्ष की अवधि में कार्यकर्ताओं के मानस, प्रवर्तक संस्थाओं का दृष्टिकोण, क्षेत्रीय कार्य तथा प्रशिक्षण पद्धति आदि की दृष्टि से जो अनुभव आ रहे हैं, उनका उल्लेख निम्न प्रकार है

१ प्रदेश में ग्राम इकाइयों को प्रवर्तन करनेवाली संस्थाओं में श्री गांधी आश्रम, विकास खण्ड, सघन क्षेत्र, गांधी स्मारक निधि तथा स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं। इकाई-कार्य की प्रगति विभिन्न संस्थाओं की भिन्न भिन्न प्रकार की है।

२ ग्राम इकाई कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्धारित कार्यकर्ताओं की प्रवेश-योग्यता के अनुसार ग्राम-कार्यकर्ता नहीं आ पाते हैं। गांधी आश्रम, गांधी स्मारक निधि तथा सघन क्षेत्रों के कुछ कार्यकर्ता ५-७ वर्षों से इस क्षेत्र में काम करते आ रहे हैं। विकास-खण्डों से आने वाले कार्यकर्ता इस क्षेत्र के लिए बिल्कुल नये रहते हैं। अधिकांश कार्यकर्ताओं में गाँव की समस्याएँ, वर्ग-शोषण, जातिगत दमन, ग्रामीणों के आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक अर्थात् समग्र दृष्टि से ग्रामीण जीवन के समस्त ताने-बाने को समझने की आवश्यक बौद्धिक क्षमता का अभाव तो दीखता है, किन्तु इस नये कार्यक्रम के संबंध में भ्रमण, स्वाध्याय, चिंतन मनन, परस्पर विचार विमर्श आदि के फलस्वरूप उनमें उत्साह एवं निष्ठा जगती है, किंतु भिन्न कार्यकर्ताओं के समुचित भरण-पोषण, आवश्यक स्वतन्त्रता, स्पष्ट मार्ग दर्शन एवं अपेक्षित साधन समय-समय पर सुलभ नहीं हो पाते वे सुस्त पड़ रहे हैं। अधिकांश कार्यकर्ताओं के साथ ये कठिनाइयाँ हैं। संस्थाओं के उन्हीं पुराने कार्यकर्ताओं को ग्राम सहायक के रूप में लिया जाय, जो स्वेच्छा से आने को तैयार हों। कई संस्थाओं ने परिपत्र द्वारा अपने कार्यकर्ताओं को चुनाव में भेज दिया, यह नहीं देखा गया कि उनकी दिलचस्पी इस काम में है या नहीं और व स्वतः आने को तैयार हैं या नहीं।

३ वेतन का प्रश्न कार्यकर्ता के चिंतन का विषय बना रहता है। यदि स्वेच्छा से कार्यकर्ताओं के मन में वेतन कम करने की प्रेरणा जगे तो ठीक है,

अन्यथा आज की महँगाई को देखते हुए उन्हें इतना वेतन तो मिलना चाहिये, जिससे वे अपने परिवार के भरण-पोषण की चिंता से मुक्त होकर कार्य में लग सकें, क्योंकि आमतौर पर कार्यकर्ता अपने भरण-पोषण तथा कुछ समाज-सेवा की दृष्टि से आते हैं।

४ बिल्कुल नये आनेवाले कार्यकर्ताओं को रचनात्मक क्षेत्र का अनुभव तो नहीं रहता, किन्तु उनमें उत्साह अधिक दीखता है।

५ इकाई कार्यक्रम में यह स्पष्ट है कि जनता के अभिक्रम तथा नेतृत्व की ही प्रधानता है। किन्तु प्राय इकाई निश्चित करते समय तथा किसी कारणवश उसे समाप्त करते समय क्षेत्र के चेतन लोगों की सम्मति और समाधान का प्रयत्न नहीं किया जाता। इसका परिणाम यह होगा कि भविष्य में इस प्रकार के कार्यक्रम के लिए उनके मन में सद्भावना नहीं रह जायगी। साथ ही इकाई समाप्त करते समय ग्राम-सहायक व सहायक संगठक की भी सम्मति एवं समाधान का ध्यान रखा जाना चाहिए।

६ प्रदेश के खादी ग्रामोद्योग मंडल को कार्यान्वय शक्ति न रहने के कारण वेतन तथा अन्य सहूलियतें प्राप्त करने में कठिनाई होती है। प्राय देखा जा रहा है कि विद्यालय में हुई चर्चा के अनुसार क्षेत्रीय कार्य पूर्णरूपेण नहीं जम पा रहा है। प्रवर्ती संस्थाओं में इस कार्यक्रम के प्रति अधिक विश्वास एवं सक्रियता का आवश्यकता है। श्री गांधी आश्रम के अधिकांश इकाई क्षेत्रों में विद्यालय से आने के बाद ग्राम सहायक उसी प्रकार व्यापारिक तथा स्वावलम्बी खादी कार्य में लग जाता है, जिस प्रकार विद्यालय में आने के पूर्व लगा था। फलस्वरूप क्षेत्र की जनता से उसका संपर्क नहीं जम पाता है। केन्द्र में घाटा होने पर वतन काट लेने की बात भी उनसे कही जाती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि इकाई कार्यक्रम के प्रति उनका उत्साह फीका पड़ने लगता है। गांधी आश्रम के पश्चिमी जिले के अधिकांश इकाई क्षेत्रों में चालवाड़ी, सहकारिता आदि का कार्य भी चल रहा है।

प्रवर्ती संस्थाओं के उस मंत्री या व्यवस्थापक को ग्राम इकाई-कार्यक्रम की स्पष्टता तथा उसमें विश्वास होना आवश्यक है, जिनकी प्रत्यक्ष देख रेख में ग्राम सहायक काम कर रहा हो।

जिन प्रवर्ती संस्थाओं की ओर से ग्राम-सहायक को थोड़ी स्वतन्त्रता मिली है, उन्होंने क्षेत्र की जनता में संपर्क, क्षेत्रका अध्ययन तथा क्षेत्र की जनता को उनकी समस्याओं का भान कराने की दिशा में प्रयत्न किया है। साथ ही स्थानीय परिस्थिति के अनुसार कुछ उद्योग धन्धे भी प्रारंभ हुए हैं।

७ कार्यक्रम के अनुसार विभिन्न सरकारी, गैर सरकारी एजेन्सियों का समन्वय भी अभी नहीं जम सका है।

८ क्षेत्र में हम जिस उत्साह तथा वादे के साथ काम आरम्भ करते हैं, बाद में न तो वह उत्साह ही शेष रह जाता है, न तो उन वादों की पूर्ति ही हो पाती है। प्राय ऐसे वादे उद्घाटन, निरीक्षण आदि अवसर पर किये जाते हैं। इसका असर जन-मानस पर अनुकूल नहीं पड़ता।

प्राय ऐसा होता है कि डाइरेक्टर, इन्सपेक्टर, आडीटर, व्यवस्थापक, संचालक उसी क्षेत्र में कुछ काम हुआ मानते हैं, जिस क्षेत्र में कुछ सहकारी समितियाँ खुल गयी हों कुछ चरखे चल रहे हों, सहकारी दूकान खुल गयी हो कम्पोस्ट के गड्ढे बन गये हों आदि। ये सारे काम गाँव में आन्दोलन (टेम्पो) पैदा कर ग्रामीणों को सम्बन्धित विचारकर अल्प अवधि में ही सरलता पूर्वक किये जा सकते हैं, किन्तु ठोस वैचारिक आधार तथा परिवर्तित जनमानस के अभाव में उपयुक्त सारे काम एक निश्चित सीमा पर पहुँचकर ह्रासोन्मुख हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि लोक शिक्षण के माध्यम से जन अभिक्रम जाग्रत कर जनता द्वारा ही कार्य आरम्भ किये जायँ, तो उसके लिए हमें धैर्यसहित प्रतीक्षा करनी होगी, क्योंकि जन-सम्पर्क, लोक शिक्षण, लोक शक्ति तथा लोक-चेतना न तो अल्पावधि में जाग्रत की जा सकती है और न कागज पर आँकने योग्य कोई परिणाम ही आ सकता है। लोक शिक्षण

का मूल्यांकन प्रारम्भ में आँकड़ों से किया जाना सम्भव नहीं दीखता। हमने सिद्धांत में माना है कि कार्यकर्ता कार्यक्रम का बंडल लेकर गाँव में न जायँ किन्तु मन में थोड़े समय में ही अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ देखने की आकांक्षा रहती है, चाहे वह कार्यकर्ता के प्रयास से ही क्यों न हो। इस प्रकार गाँव की जिम्मेदारी, गाँव का नेतृत्व, गाँव की प्रेरणा तथा गाँव के पुरुषार्थ की संभावना अधिक नहीं रह जाती और सारी प्रवृत्तियाँ कार्यकर्ता केंद्रित हो जाती हैं।

९ गाँव का जन-मानस इस प्रकार का बन गया है कि वे गाँव में जाने पर गाँव के लोग आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में अधिक पूछते हैं। स्वावलम्बन व सामूहिक पुरुषार्थ की बात अच्छी तो लगती है, किन्तु वे उस दिशा में बढ़ने की तैयारी नहीं कर पाते। वे विभिन्न विकास एजेंसियों के कार्यकर्ताओं द्वारा लम्बी-चौड़ी बातें सुनते-सुनते ऊब चुके हैं और गाँव में जानेवाले कार्यकर्ता को उपेक्षा तथा शंका की दृष्टि से देखते हैं। जनता का विश्वास प्राप्त करना कठिन हो रहा है।

सामान्य जनता भी अपना विकास तो चाहती है, किन्तु पिछले अनुभवों के आधार पर उसे विश्वास नहीं हो पाता कि उसके कल्याण के लिए भी सचमुच कुछ हो सकता है। वह तो यह समझ बैठी है कि ये सारी योजनाएँ गाँव के उच्च वर्ग को लाभ पहुँचाने के लिए ही हैं।

चुनाव एवं विकास के नाम पर ग्रामीणों के पारस्परिक सम्बन्ध स्पर्द्धामूलक बन रहे हैं, आपस के तनाव भी बढ़ते जा रहे हैं।

गाँव में उत्पादन के वातावरण का सर्वथा अभाव है। अधिकांश लोग खेती में धन्धा मानकर नहीं, विवशता के कारण लगे हुए हैं। उद्योग धन्धे भी उपेक्षित दशा में ही हैं।

१० गाँव की उपर्युक्त परिस्थिति का भान रखते हुए हमारे कार्य का संयोजन अत्यधिक स्पष्टता एवं गहराई के साथ होना चाहिए। ग्राम इकाई कार्यक्रम के वास्तविक स्वरूप का जितना दर्शन अब तक हो पाया है, उसके कार्यान्वय के लिए सभी प्रकार से अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।

जहाँ तक हो सके, विद्यालय को क्षेत्रीय स्वरूप दिया जाय। क्षेत्र में ही विद्यालय चले, यह आवश्यक है। शिक्षकों को कुछ वर्षों का गाँव का अनुभव होना चाहिए।

उपर्युक्त अनुभवों के अनुसार प्रतिकूलताओं के निवारण का प्रयत्न तथा अनुकूलताओं की मुख्यता का ध्यान रखने से कार्यक्रम में प्रगति होगी, ऐसी आशा है।

['हमारी शिक्षा' पृष्ठ ४० का शेषांश]

तरह समझा था। इसलिए लोगों ने सहज प्रेरणा से उन्हें महात्मा कहा, राष्ट्रपिता कहा। प्राचीन भारत में जनता के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को बाँधने वाले और प्रगति के नियमों को लागू करनेवाले ऋषि और महात्मा ही थे।

गांधीजी ने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-योजना की नींव डाली है, जो हमारी आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और प्रतिभा के अनुकूल है। हमारा कर्तव्य है कि उसे बढ़ायें और पूर्णता दें, ताकि समूचे शिक्षा-क्षेत्र को वह व्याप्त कर सके। इस प्रक्रिया में जोड़-घटाव भी करना पड़ेगा। लेकिन यह सारा काम समाज और व्यक्ति के प्रति गांधीजी का जो समग्र दर्शन था, उस भावना पर आधारित रहकर करना होगा। क्या हममें वैसा करने की कल्पना, हिम्मत और इच्छा है ?

समाप्त

★

"शिक्षक-दिवस"

(५ सितम्बर, ६२)

राममूर्ति

•

जिस देश में स्वयं राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति शिक्षक रह चुके हों उसमें शिक्षक दिवस न मनाया जाय, यही आश्चर्य की बात होती। ५ सितम्बर को एक एक शिक्षक ने गर्व का अनुभव किया होगा कि उनकी बिरादरी के दो पुराने सदस्यों को राष्ट्र ने ऊँचा-से-ऊँचा सम्मान दिया है। अब बारी है कि हर गाँव और शहर का हर मुहल्ला अपने प्राइमरी स्कूल के शिक्षक को सम्मान देना सीखे। शिक्षक के सम्मान से जनता का, नये मूल्यों के संदर्भ में, नया शिक्षण होगा।

इतना मानते हुए भी मन में कई प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर नये हिन्दुस्तान में अभी तक नहीं मिल रहा है। क्या कारण है कि ऐसी स्थिति पैदा हुई कि सरकार को जनता से कहना पड़ा कि वह अपने शिक्षकों का सम्मान करे? क्या जनता के साथ साथ सरकार भी अब अपने शिक्षकों को दूसरी दृष्टि से देखना शुरू कर देगी? आखिर शिक्षक ने अपना पुराना सम्मान खोया ही क्यों? मान लीजिये कि ५ सितम्बर को कुछ औपचारिक सम्मान मिल भी गया तो वह स्थायी कैसे होगा और उसे स्थायी बनने के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थिति का निर्माण कैसे होगा? क्योंकि अनुकूल परिस्थिति के बिना किसी गुण का विकास कभी होता नहीं।

शिक्षा और शिक्षक को लेकर आज अपने देश में परिस्थिति क्या है? हम जरा गहराई से देखें तो तीन बातें स्पष्ट दिखाई देंगी। सबसे पहली बात यह है कि आज अपने देश में शिक्षा चाहता कौन है। हरेक नौकरी चाहता है और शिक्षा को नौकरी का पासपोर्ट मानकर उसमें पैसा लगाता है। दूसरी बात यह है कि समाज की सारी संगठित शक्ति शासक और सैनिक के हाथ में केन्द्रित है। शासक सिरमौर है—समाजवाद और लोक-कल्याण के नाम में, और सैनिक सिरमौर है शान्ति और सुरक्षा के नाम में। ये दोनों मिलकर जिस तरह चाहें सेवक और शिक्षक का इस्तेमाल कर लेते हैं। इनके बाद तीसरी बात यह है कि स्वयं सरकार के शिक्षा विभाग में शिक्षक की तरक्की का यह सिलसिला है कि वह शिक्षक की पंक्ति से अलग करके 'शासकों' की लाइन में बैठा दिया जाय। सब डिप्टी इंस्पेक्टर से लेकर डायरेक्टर तक सब आदेश देनेवाले 'अधिकारी' हैं, प्रत्यक्ष शिक्षण-कार्य करनेवाले कोई नहीं। शिक्षण का काम करते-करते पद और प्रतिष्ठा किसको मिलती है? जो शिक्षण छोड़कर प्रशासन में आया, राजनीति में आया, प्रतिष्ठा उसको मिली। हमारे देश में बड़ा-से-बड़ा वैज्ञानिक, साहित्यिक, वेद-शास्त्र का ज्ञाता, पंडित, दार्शनिक, कलाकार या समाजशास्त्री—सब पार्लियामेंट के सदस्य होना चाहते हैं। सत्ता के सहारे खड़ा होने पर सम्पत्ति भी मिलती है, सम्मान भी मिलता है। ऐसी स्थिति में कोई आश्चर्य है कि अपने देश में गैर-सरकारी जीवन जैसे रहा ही नहीं। जो कुछ है सरकार है, जनता कहाँ है, देश कहाँ है? जिधर देखिये सत्ता और सम्पत्ति की माया है।

वह सम्मान कब तक टिकेगा जो दूसरे द्वारा दिया जायगा? आदमी सम्मान का पात्र होता है। जब सम्मान प्रदान करने की इतनी विधियाँ सोची जा रही हैं तो यह भी सोचना चाहिए कि शिक्षक की पात्रता कैसे बढ़े। उसकी पात्रता कैसे बढ़ेगी? शिक्षक नौकर है। प्राइमरी और विश्वविद्यालय के शिक्षक में जमीन आसमान का अन्तर है। वह शिक्षा के नाम में ऐसे माल का व्यापार करता है जिसको कोई खुशी से लेना नहीं चाहता, लेकिन हरेक को मजबूर होकर महँगा—अत्यंत महँगा—मूल्य चुकाना पड़ता है। भयंकरी विद्या के सौदागर का सम्मान कौन करेगा, और कबतक? शिक्षक शिक्षक हुआ ही इस लिए कि उसे सत्ता और सम्पत्ति के दरबार में जगह नहीं मिली। जो एक बार इज्जत की बाजी हार चुका उसे दुबारा बुलाकर चाहे जितनी इज्जत दीजिए होगी वह मालिक की खैरात।

शिक्षक की प्रतिष्ठा का संबंध समाज की रचना से है, उसके मूल्यों से है। और प्रश्न भी अकेले शिक्षक की प्रतिष्ठा का नहीं है। खेत और कारखाना में काम करने वाला मजदूर, रेल का फायरमैन और ड्राइवर, पुलिस का सिपाही और नदी किनारे का मछुवाहा, इन सबको प्रतिष्ठा का प्रश्न है। आखिर, प्रतिष्ठा का मापदंड क्या है? सारा समाज जिस शेषनाग यानी मजदूर पर टिका हुआ है उसकी प्रतिष्ठा पहले होनी चाहिए। जो शिक्षक इस मूल्य को नहीं मानता वह अपनी असलियत को भूल रहा है। उसे जानना चाहिए कि कल की दुनिया में कुछ नोट रटाकर किसी तरह इम्तहान पास करा देनेवाली शिक्षा के लिए स्थान नहीं है, उसमें उस शिक्षक के लिए स्थान होगा जो किताब के साथ कुदाल का मेल बिठा सकेगा। शिक्षक का सही स्थान उत्पादक के साथ है, सैनिक, शासक, और उपदेशक के साथ नहीं। उसका भविष्य शोषण मुक्ति और शासन-मुक्ति से जुड़ा हुआ है। जब तक शिक्षक सरकार के एक विभाग का नौकर है, और उसकी शिक्षा दूसरों को नौकरी दिलानेवाली लाइसेंस मात्र है, तब तक उसके सम्मान में कोई दम नहीं। शासन-मुक्ति के सारे आन्दोलन में शिक्षा की मुक्ति सबसे पहले जरूरी है। मुक्त शिक्षा का ही शिक्षक सच्चे सामाजिक सम्मान और कृतज्ञता का अधिकारी हो सकता है।

★

[पृष्ठ ५४ का शेषांश]

राष्ट्रीयशाला के विद्यार्थियों पर उनके एक दूसरे गुण की जो बहुत बड़ी छाप पड़ी थी वह है—उनका स्वाश्रयी स्वभाव और दूसरे का सहारा न लेने की वृत्ति। राष्ट्रीयशाला के एक विद्यार्थी ने किशोरलाल भाई के विषय में उस काल का संस्मरण लिखा है "सबेरे चार बजे उठने की घंटी लगती, उस समय कोई अपना बिस्तर समेटता, तो कोई अँगड़ाई लेकर आलस्य को भगाता। परन्तु उस समय किशोरलाल भाई अपने घर की सफाई में लगे होते। डेढ़-दो घन्टे वे अपने घर का (शरीर-श्रम का) काम करते। जो काम गृहिणी का माना जाता है, उसे भी वे आधा या अधिक भी कर डालते। इस बीच उनके मुँह से सुन्दर भजनों का प्रवाह अप्रवाहत गति से, स्वर के किसी उतार-चढ़ाव के बिना चलता रहता। कुएँ से पानी लाने में, नदी से बाल्टी भर कर धुले हुए कपड़े लाने में अथवा भोजन पकाते वक्त लकड़ी की जरूरत पड़े, तो उसे लाने में, वे किसी विद्यार्थी या अन्य व्यक्ति की मदद न लेते। कोई मदद करना चाहता भी, तो मीठी हँसी हँसकर कह देते कि मदद की जरूरत नहीं है। पिछले वर्षों में जब वे बीमार हो गए, तब भी ।"

इन कामों के अलावा शाला के अभ्यास-क्रम में कठिन शरीरश्रम के काम में, अपनी दुर्बलता के बावजूद भी वे किसी से पीछे नहीं रहते। शाला के मकानों की चुनाई का काम चल रहा था। शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर ईंटें पहुँचाने, छप्पर पर खपड़े चढ़ाने और बालू की टोकरियाँ भरकर लाने आदि का काम करते। किशोरलाल भाई भी सबके साथ ये कठिन शरीर-श्रम करते। अत्यधिक श्रम भार से वे हाँफने लगते, फिर भी कतार छोड़कर अलग नहीं होते। उन्हीं दिनों बड़ा सूखा पड़ा। शाला में सब कुएँ तैयार नहीं हुए थे। जमीन कड़ी थी, और गैंती जमीन में एक-दो इन्च से अधिक गहरी नहीं जा पाती थी। ऐसी कड़ी जमीन में खाई खोदकर सड़क के दोनों तरफ आश्रम की हद पर काँटे की बाड़ (झाड़) लगाने का काम शुरू हुआ। सूखा के कारण जमीन बिलकुल कड़ी पड़ी थी। झाड़ काटकर लाने का काम विद्यार्थी कर रहे थे और शिक्षक खाई खोद रहे थे। किशोरलाल भाई दो-दो घंटे गैंती लेकर खाई खोदने के काम में बराबर लगे रहते। उनकी शारीरिक कमजोरी पर रहम खाकर कोई उनसे गैंती लेना चाहते, पर खाई खोदने का काम वे अन्त तक करते ही रहते। जमाना गुजर गया। वे भी गुजर गये, पर साबरमती की राष्ट्रीयशाला में उन दिनों के लगाये वे झाड़ लहलहाते हुए, आदर्श शिक्षक-जीवन की मधुर-स्मृति का गान अब भी गा रहे हैं।

किशोरलाल भाई एक आदर्श और कुशल शिक्षक ही नहीं थे, अपितु एक शिक्षा-विशेषज्ञ, तत्व शास्त्री और प्रकांड विद्वान थे। शिक्षा-विषयक, तथा शिक्षा शास्त्र पर उन्होंने बहुत तरह से अनुसंधान किया, सैकड़ों लेख और दर्जनों पुस्तकें लिखीं। "शिक्षा की बुनियाद" (केलवणीना पाया) उनकी बहुत ही प्रसिद्ध पुस्तक है। ●

मैं, मेरे बच्चे और उनका स्कूल

श्री यादमव

निकटता से जाननेवाले मित्र मुझे भावुक कहते हैं। वैसे मैं अपने को कोरा भावुक नहीं मानता हूँ। फिर भी अपने बच्चों के भविष्य-जीवन के बारे में मेरी अपनी कुछ आशाएँ और कल्पनाएँ जरूर हैं। मेरी तीन लड़कियाँ हैं। अभी छोटी ही हैं। बड़ी का नाम अचला है, दूसरी उषा है और तीसरी ममता है। ये नाम रखने में मेरा अपना एक विचार था। अचला नाम स्थूल प्रकृति का प्रतीक है, उषा सूक्ष्म प्रकृति का और ममता अंतर्जगत् का प्रतीक। तीनों नामों के प्रथमाक्षर एक साथ जोड़ दूँ, तो 'ओं' बन जाता है। आप इसे मेरी भावुकता ही भले कह लें, पर नाम के अलावा भी बच्चों के शिक्षण के साथ भी मेरी कुछ कल्पना है। अचला को भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, उषा को कला-क्षेत्र में और ममता को दार्शनिक क्षेत्र में विकसित करूँ, यह मेरी कल्पना आरंभ से ही रही है। इतने में नया एक और सदस्य आ गया। बच्चा है। अब दस महीने का हो गया है। उसके भविष्य के बारे में अभी क्या कल्पना की जा सकती है ? फिर भी बिना कल्पना किये मन मानता भी तो नहीं ! यह दस महीने का हो गया, फिर भी एकदम भोला है। कुछ भी समझता बूझता नहीं। कोरा का कोरा है। एक माँ को छोड़ और किसीको पहचानता तक नहीं। यह देखकर मन ने कहा कि यह जे० कृष्णमूर्ति बनेगा। संसार के प्रति तटस्थ रहेगा। सांसारिक वस्तुओं को उनके नाम रूप आदि उपाधियुक्त अवस्था में देखने-समझने की इसे जल्दी नहीं है।

अपने बच्चों के साथ खेलते समय, बात करते समय और पढ़ाते समय भी उनके साथ मेरा रुख इसी प्रकार का रहता है। भले मेरा रुख बहुत स्पष्ट न हो, फिर भी मेरी इच्छा ऐसी रहती है कि अचला के साथ प्रत्येक घटना या पदार्थ की भौतिक छानबीन करूँ, उषा के साथ उस घटना या पदार्थ के सौंदर्य और माधुर्य की चर्चा करूँ और ममता के साथ सिरजनी वृत्ति से पेश आऊँ। सदा दार्शनिक को संसार में खिलाड़ी वृत्ति से जाना चाहिए, ऐसी मेरी कल्पना है।

बच्चियाँ ज्यों-ज्यों बड़ी होती जा रही हैं, संयोग ही समझिये, तीनों बच्चियों के स्वभाव में परस्पर भिन्नता ही नहीं है, बल्कि मेरी कल्पना के अनुरूप ही उनका स्वभाव दिख रहा है। बड़ी को तोड़-फोड़ का काम पसंद है, दूसरी को नाचना गाना और पढ़ना पसंद है और तीसरी को खेलना-कूदना पसंद है। इन स्वभाव भेदों और स्वभाव विशेषों के कारण मुझे *बड़ा उत्साह मिलता है कि मेरी इच्छा जरूर पूरी होगी।* लेकिन जे० कृष्णमूर्ति बीच बीच में मेरे मन में खलबली मचा देता है। सोचता हूँ कि इन बच्चों को मैं अमुक रूप देना चाहता हूँ, इनमें अमुक रुचि पैदा करना चाहता हूँ और संसार को देखने की मेरी अपनी दृष्टि थोपना चाहता हूँ, यह सरासर गलत है। इनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है ग्राह्य और त्याज्य का, भले और बुरे का निश्चय करने की इनकी स्वतंत्र कसौटी और दृष्टि हो सकती है। मुझे इनकी वह दृष्टि और रुचि बिगाड़ना नहीं चाहिए।

लेकिन मैं अपने संस्कारों से इतना जकड़ा हुआ हूँ कि जानते-समझते हुए भी अपने को समेट नहीं पाता हूँ। बुद्धि जो बात समझाती है वह गले नहीं उतरती है। लेकिन एक बात से संतोष भी कर लेता हूँ कि लड़के को पूर्णतया स्वतंत्र कर दूँगा उस पर कोई चीज लादूँगा नहीं। वह जैसा बने वैसा बने। उसके बारे में अपनी कोई इच्छा या आकांक्षा नहीं रखूँगा।

तब आती हैं बच्चे की माँ। उनकी दृष्टि से मेरी यह उपेक्षा बच्चे के प्रति घोर अपराध है। भगवान् ने एक लड़का दिया तो क्या यों उपेक्षा करने और आवारा बनने देने के लिए दिया ? नहीं, मैं हरगिज ऐसा नहीं होने दूँगी। अब शुरू होती हैं उनकी इच्छाएँ और आकांक्षाएँ। शायद मेरे रुख की प्रतिक्रिया ही समझिये वे उस बच्चे के भविष्य के बारे में ही

नहीं, बल्कि इस अनजान अवस्था में भी उसकी पोशाक, उसके बिस्तर, उसके खिलौने और उसके उठने-बैठने तक के बारे में अपनी कल्पनाएँ स्थिर करने लगी हैं और उन कल्पनाओं को साकार करने के सपने देखने लगी हैं।

लेकिन एक बात में हम दोनों एकराय हैं। वह है सभी बच्चों को संस्कृत तो जरूर ही पढ़ानी चाहिए। परंपरा से हमारा खानदान संस्कृत-सेवी रहा है। संस्कृत का ज्ञान हमारे लिये श्रद्धा और आदर का विषय है। अपनी आगे की पीढ़ी को उससे वंचित कैसे रखें?

बड़ी लड़कियों को स्कूल में भर्ती किया है। बड़ा लड़की तीसरी में और दूसरी लड़की दूसरी कक्षा में दाखिल हुई है। यहाँ घर के पास ही एक बेसिक कन्या शाला है। मैं जानता हूँ कि इन बेसिक शालाओं की क्या स्थिति है, फिर भी बेसिक शब्द से एक प्रकार का मोह सा हो गया है।

शाला के प्रारंभ हुए सप्ताहभर बीता होगा। बेसिक रीडर से लेकर कई कापियों, पेन्सिलों, दवातों आदि की खरीद हुई। मन में चिन्ता रहती थी कि स्कूल में जाकर बच्चियाँ ठीक पढ़ना लिखना सीखें, उच्चारण में, ह्रस्व दीर्घ आदि मात्राओं की पहचान में कोई गलती न करें। बच्चियों की माँ ने एक दिन कहा "मैं जाकर मास्टरनी से मिलकर आऊँ और इन बच्चों की ओर खास ध्यान देने के लिए उससे प्रार्थना कर आऊँ"। मैंने कहा 'जरूर जाइये।' वो गयीं। दूसरी कक्षा की मास्टरनी के पास जाकर उषा के बारे में पूछताछ की, तो उन बहनजी ने उषा को नीचे से लेकर ऊपर तक दो-तीन बार अच्छी तरह देखने के बाद पूछा "क्या यह लड़की यहाँ पढ़ने आती है?" उषा की माँ के मन को बड़ा धक्का लगा। १० १२ दिन से अधिक समय हो गया, पर अभी तक इस बहनजी को यह पता भी नहीं कि यह लड़की इसी कक्षा में जाकर बैठती है। हाजिरी-रजिस्टर देखा गया, तो उसमें उषा का नाम भी नहीं था। भर्ती करते समय ही फीस दे दी है, फिर भी नाम क्यों नहीं? बड़ी मुश्किल से अंत में बहनजी ने कहा "आप चार आना दे जाइये, कल रजिस्टर में नाम लिखा दे गे।" फिर हमारी तसल्ली के लिए हेडमास्टरनीजी के पास जाकर उषा का प्रवेश नंबर ले आयीं और एक पुर्जे पर नाम और नंबर लिख दिया। मजे की बात यह कि पुर्जे में उषा के लिए 'कक्षा' लिखा। उषा की माँ को सूझ नहीं रहा था कि क्या कहे, क्या न कहे। इस बहनजी से वह सिफारिश करने गयी थीं कि बच्ची की लिखाई की शुद्धता का ख्याल रखें। तीसरी कक्षा में भी करीब-करीब इसी प्रकार का अनुभव उनको आया। इन मास्टरनियों से अधिक बातचीत करने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। आघात सहने की उनकी सीमा खतम हो गया थी। मायूस चेहरा लेकर घर लौट आयीं।

चार-पाँच रोज बीते कि एक दिन अचला स्कूल से बीच समय में घर चली आयी और कहने लगी कि अंग्रेजी की किताब चाहिए। उस दिन तो मेरा भी जी दुखने लगा। नन्हीं-सी बच्ची है। एक हिंदी का बोझ ही, मुझे लगता था, उसके लिए काफी से ज्यादा है और इसीलिए अभी संस्कृत तक का आरंभ मैंने नहीं किया। अब क्या अंग्रेजी भी इसे पढ़नी ही पड़ेगी? तिस पर वे लोग एक हिंदी का ही सत्यानाश करके भेजते, तो मैं जैसे-तैसे समय निकालकर सुधार लेता, अब वे हिंदी के साथ-साथ बेचारी अंग्रेजी का भी खून करके ही छोड़ेंगे दीखता है। मुझे अपनी बच्ची और भाषा दोनों दृष्टियों से बहुत दुःख हो रहा था, क्योंकि इन स्कूलों और इन मास्टरनियों के हाथ पड़ कर दोनों भ्रष्ट हो जानेवाली हैं। एक बार बचपन में गलत आदत पड़ जाए तो आगे सुधारना बड़ा कठिन होता है। फिर भी स्कूल में भेजना तो पड़ेगा ही। वरना सर्टिफिकेट नहीं मिलेगा और सारे सपने अधूरे ही रह जायेंगे।

★

प्राप्त पुस्तकें

१ बुनियादी शिक्षा में अनुबन्ध की कला

लेखक अमरसिंह सोलंकी, अनुवादक-रामनारायण चौधरी, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ २४०, मूल्य २-५० ।

इस पुस्तक में अनुबन्ध पर गांधीजी के विचारों को स्पष्ट करने की तथा अनुबन्ध की प्रक्रिया, माध्यम और प्रकारों पर भी उनके विचारों का स्पष्टीकरण करने की कोशिश की गयी है । अनुबन्ध की कला के मनोवैज्ञानिक और शिक्षा-सम्बन्धी औचित्य की चर्चा इस दृष्टि से की गयी है कि शिक्षण कला के रूप में उसका ठीक महत्त्व समझा जाय । अनुबन्ध की कला के प्रणाली सम्बन्धी पहलुओं के स्पष्टीकरण की खातिर अनुबन्ध मूलक शिक्षण के विविध सोपानों और पाठ्यक्रम, समय पत्रक और मूल्यांकन कार्य के बारे में भी कुछ सुझाव और संकेत दिये गये हैं ।

२ ग्राम-संस्कृति का अगला चरण

लेखक झवेरभाई पटेल, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ १३७, मूल्य १-८० ।

किसान का, उसके गाँवों का और इन दोनों के आसपास विकसित जीवन का भविष्य क्या होगा ? और क्या होना चाहिए, इस विषय पर लेखक ने वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है ।

३ बा और बापू

सम्पादक मुकुलभाई कलार्थी, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ १७६, मूल्य १ ५० ।

यह पुस्तक बापू और बा के जीवन का असावधानी से छूट सकनेवाले परन्तु एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पवित्र पहलू पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है ।

४ मेरे जेल के अनुभव

लेखक गांधीजी, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ ९१, मूल्य ०-७५ ।

इस पुस्तक में दक्षिण अफ्रीका की जेल यात्रा के अनुभव हैं ।

५ गांधीजी : एक झलक

लेखक श्रीपाद जोशी, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ ७१, मूल्य १ २५ ।

इस पुस्तक में लेखक के गांधीजी-सम्बन्धी संस्मरण तथा कुछ पत्र हैं, जो सन् १९४२ के आन्दोलन से सम्बद्ध हैं ।

६ बापू की ये बातें

लेखक मनुबहन, अनुवादक काशिनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ ५५, मूल्य ०-७५ ।

यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी है । छोटी-छोटी बातों का कितना महत्त्व होता है, इसके कई उदाहरण गांधीजी के मिलेंगे ।

७ अण्डर दि शेल्टर ऑफ बापू

लेखक बलवंत सिंह, नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ २२७, मूल्य ३ ५० ।

यह किताब बापू की छाया में का हिन्दी से अंग्रेजी में रूपान्तर है ।

८ सामाजिक विश्लेषण

लेखक रामप्रवेश शास्त्री, प्रकाशक साहित्य सभा, सोहाँव (बलिया), पृष्ठ १२०, मूल्य १-५० ।

सामाजिक सुधार की दृष्टि से आज की समस्याओं का सुन्दर विश्लेषण ।

विनोबा जीवन के ६८ वें वर्ष में

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान में जागतिक विज्ञान ने प्रगति के पथ पर लम्बी छलाँगें भरी हैं । बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पहुँच कर वह अंतरिक्ष युग में दाखिल हो गया है ।

युग युग से अंतरिक्ष विहारी आध्यात्म-ज्ञान अट्ठारहवीं शताब्दी में सामान्य मानव की मनोभूमि पर अवतरित हुआ । काल पुरुष युग-पुरुष और विश्व पुरुष की भाव भूमि को स्पर्श करता हुआ वह आध्यात्मज्ञान अब आत्मज्ञान में रूपांतरित हुआ है ।

आज विनोबा जी आत्मज्ञान को लोक युग तक पहुँचाने के भगीरथ प्रयत्न में संलग्न हैं । 'जय जगत' उनका साध्य ग्रामदान उनका साधन और लोक चेतना उनकी प्रणाली है ।

विनोबाजी के जीवन के अड़सठवें वर्ष में प्रवेश करने के उपलक्ष में हमारी अन्तरमन से कामना है कि 'जय जगत' के पथका यह अन्यतम पथिक जीवन के अंतिम क्षण तक अपने प्रेय और श्रेय के पथ पर अग्रसर होता रहे ।

—रुद्रभान

नयी तालीम साहित्य

१–बच्चों की कला और शिक्षा ८–००
२–शिक्षण विचार २–५०
३–हमारा राष्ट्रीय शिक्षण (सजिल्द ३–००) २–५०
४–शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति १–००
५–बुनियादी शिक्षा : क्या और कैसे ? १–००
६–पूर्व बुनियादी ०–५०
७–बुनियादी शिक्षा पद्धति ०–६०
८–नयी तालीम ०–५०
९–सफाई : विज्ञान और कला १–००
१०–सुन्दरपुर की पाठशाला ०–७५
११–ग्रामशाला ग्रामज्ञान १–००
१२–हिन्दुस्तानी तालीमी संघ दस साल का काम २–००
१३–जाकिर हुसेन समिति की रिपोर्ट १–५०
१४–आठ साल का सम्पूर्ण शिक्षा क्रम १–५०
१५–पूर्व बुनियादी शिक्षकों का पाठ्य-क्रम ०–६२
१६–प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य १–००
१७–बुनियादी कौमी तालीम ०–७५
१८–विद्यार्थियों से ०–२५
१९–शिक्षकों से ०–२५
२०–बालक सीखता कैसे है ? ०–५०
२१–माता पिताओं से ०–३७
२२–मल मूत्र-सफाई ०–५०
२३–खेती शिक्षा १–००
२४–तरली २–००
२५–बुनाई ४–००
२६–कताई शास्त्र २–००
२७–घरेलू कताई की आम बातें १–२५
२८–घरेलू कताई की आम गिनतियाँ ०–७५
२९–कताई गणित भाग–१ १–००
३०–कताई गणित भाग-२, ३, ४ प्रत्येक ०–७५
३१–ताना बनाना ०–६०
३२–तकुआ ०–७५
३३–मगनदीप ०–५०
३४–सादा चरखा ०–७५
35–The Latest fad-Basic Education 1–00
36–The Community of the future 2–50
" " " (Bound 3–50
37–Village Health 2–00
38–Foundation of living 0–37
39–Basic National Education Syllabus 1–50
40–Card Board Moulding 1–00
41–Nai Talim & the Social order 0–50
42–Picture & Programme of Adult Education 0–75
43–The Idea of Rural University 1–00
44–Plan & Practice (Pre-Basic Education 1–25
45–Teachers Traing Syllabus 1–00
46–Work camp 0–50
47–Thoughts on Education 3–00
" " Bound 4–00

बाल साहित्य

१–बालनी पढ़नाई (पाँच भाग) प्रत्येक ०–५०
२–बिल्ली की कहानी (तीन भाग) २–००
३–बालक बनाम विज्ञान ०–७५
४–बाबा विनोबा (६ भाग) पूरा सेट १–८०
५–प्यारे भूले भाइयो (पाँच भाग) १–५०
६–प्रायश्चित (नाटक) ०–२५
७–नव प्रभात " १–००
८–एक सहारा " ०–३१
९–स्वामित्व विसर्जन (नाटक) ०–३१
१०–कुलदीप " ०–२५
११–एक भेंट " ०–६२
१२–जीवन परिवर्तन " ०–२५
१३–पावन प्रकाश (नाटक) ०–२५
१४–चन्द्रलोक की यात्रा " ०–२५
१५–पहली रोटी (संगीत नाटिका) ०–२५
१६–उतक थैयाँ धुन् घनइयाँ (गीत) ०–३०
१७–सर्वोदय की सुना कहानी (पाँच भाग) १–२५
१८–भूदान पोथी ०–२५
१९–पावन प्रसंग ०–५०
२०–भूदान लहरी ०–०६
२१–नये अंकुर (नाटक) ०–२५
२२–सामूहिक प्रार्थना ०–२५
२३–हमारी प्रार्थना ०–०३

—: बड़े सूचीपत्र के लिए लिखिए :—

"हिन्दुस्तानी हैं, पर्दा करती हैं"

करीब-करीब सभी अतिथि खाना खाने बैठ चुके थे। हरीतकी भी खत्म हो चला था कि इतने में रमेशजी ने पूछा—"शशि बहन कहाँ है ?

"नहीं आयी हैं"—उत्तर मिला।

"क्या, कहाँ हैं ? क्या खाना नहीं खायगी ?" रमेशजी ने फिर पूछा।

"खायेंगी क्यों नहीं लेकिन इतने लोगों के बीच कैसे आयें ?

"क्या हर्ज है, आकर आपलोगों के बीच बैठें।

"हिन्दुस्तानी हैं, पर्दा करती हैं" यह प्रेमा का अन्तिम उत्तर था, तिरस्कार और ऐंठ से भरा हुआ।

पर्दा अच्छी चीज नहीं है, अच्छी ही नहीं, अमानवीय है। लेकिन जो स्त्रियाँ पर्दा करती हैं वे हिन्दुस्तानी हैं, और जो अब पर्दे से निकल गयी हैं वे कहाँ की हैं ?

प्रेमा कालेज से निकलकर हाल में ही एक बड़े घर की बहू हुई है। अपनी शिक्षा-दीक्षा, आचार विचार और रहन-सहन से अब वह हिन्दुस्तानी नहीं रही। कभी-कभी सोचती भी होगी—"काश इंग्लैंड या अमेरिका में पैदा हुई होती।'

शशि का पुराना हिन्दुस्तान, प्रेमा का नया हिन्दुस्तान, क्या पुराने के शील और नये की शैली का मेल नहीं हो सकेगा ?

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अखिल भारत सर्व सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित।
केवल कवर मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमंदिर, वाराणसी।

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष [illegible] अंक ३

वार्षिक चंदा ४-००
एक प्रति ०-३७

बापू के शिक्षण का निचोड़ मैंने
तीन शब्दों में पाया है—

सत्य	जीवन का लक्ष्य
संयम	जीवन की पद्धति
सेवा	जीवन का कार्य

यह सब आचरण में उतरे
यही प्रार्थना भगवान से निरंतर है।

—विनोबा

अक्तूबर १९६२

नयी तालीम

वर्ष–११]   [अंक ३

नयी तालीम की जिम्मेदारी

पिछले अगस्त महीने में सेवाग्राम में नयी तालीम की जो गोष्ठी हुई थी उसमें श्री शंकरराव जी ने एक मार्के की बात कही थी। उन्होंने कहा था "आज भूदानयज्ञ जिस अर्थ में विफल हुआ है उस अर्थ में वह विफल नहीं होता यदि नयी तालीम उसे उठा ले सकी होती।" शंकरराव की यह राय पूरी-पूरी मान्य हो या न हो लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पिछले कुछ वर्षों में यह पहला अवसर है जब इस तरह खुलकर नयी तालीम का महत्त्व स्वीकार किया गया है जब नयी तालीम को यह मान्यता मिली है कि वह बच्चों को पढ़ानेकी पद्धति मात्र नहीं है बल्कि संघर्ष-मुक्त सामाजिक क्रांति की सम्पूर्ण प्रक्रिया है। अगर ऐसा न होता तो नयी तालीम को इतने बड़े आन्दोलन की विफलता के लिए जिम्मेदार कैसे ठहराया जाता।

भूदानयज्ञ आन्दोलन जिस तरह चला, और चल रहा है, जिन परिस्थितियों से उसे गुजरना पड़ा है, तथा अब तक उसकी जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निष्पत्ति हुई उन तमाम बातों को देखते हुए उसकी सफलता-विफलता का प्रश्न विवाद का विषय हो सकता है लेकिन विफल मानकर विफलता की जिम्मेदारी नयी तालीम पर डालना विवाद की अपेक्षा निष्पक्षता और गहराई से समझने की बात है।

शंकररावजी ने जो कहा है उसका अर्थ क्या है? क्या वह यह कहना चाहते हैं कि नयी तालीम को स्वतन्त्र रूप से इतनी अधिक शक्ति बनाकर रखनी चाहिए थी कि वह भूदानयज्ञ को भी संभाल सकती? या उनका यह कहना है कि भूदान-ग्रामदान आन्दोलन में पैदा होनेवाली उन समस्याओं का, जिनके कारण आन्दोलन में शिथिलता आयी, समाधान नयी तालीम के ही तरीके से हो सकता था, लेकिन उनका मुकाबिला करने के लिए वह आगे नहीं बढ़ी?

१९४३ में बंगाल के उस भीषण अकाल के समय स्वयं बापूने कहा था कि अगर नयी तालीम होती तो अकाल न होता। उनकी इस उक्ति में यह घोषणा स्पष्ट थी कि विज्ञान और लोकतन्त्र के इस युग में समाज के रक्षण, पोषण और निर्माण की एक ही प्रक्रिया है जिसका नाम है (समग्र) नयी तालीम। प्रगति की प्रक्रिया के रूप में युद्ध, षड्यन्त्र, संघर्ष के दिन हमेशा के लिए खतम हो गये।

१९४३ से १९५० तक का इतिहास अभी बहुत पुराना नहीं है। १९४४ में गांधीजी ने पूरे रचनात्मक कार्य का नयी तालीम की दिशा में जो मोड़ देना चाहा था वह किस तरह बुजुर्गों और रचनात्मक संस्थाओं को अमान्य हुआ, वह खुली बात है। और अगर कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस ने १९४८ में गांधीजी का वसीयतनामा नहीं माना लेकिन रचनात्मक जगत ने तो चार साल पहिले १९४४ में ही पुराने रास्ते को छोडने से इनकार कर दिया। बापू की योजना थी कि रचनात्मक कार्य संस्थाधारित न रहकर गांव-गांव में बिखर जाय, खादी-ग्रामोद्योग व्यापार न रहकर ग्राम-स्वावलम्बन का माध्यम और आधार बन जाय, और कार्यकर्ता 'शिक्षक सेवक संगठक' बनकर गाव में बैठ जायें। उन्होने सात लाख गावो के लिए सात लाख युवकों की मांग की थी। वह चाहते थे कि कार्यकर्ता अपने श्रम और जनता के प्रेम की रोटी खाय और नयी तालीम की प्रक्रिया से गांव का शिक्षण और संगठन करें। ग्राम स्वराज्य का जो नारा आज लगाया जा रहा है, लेकिन जिसमें कोई शक्ति आती नहीं दिखायी दे रही है, उसकी देशव्यापी व्यूह रचना बापूने १९४४ में ही करना चाही थी लेकिन हमने चाहा नहीं, समझा नही, हम उनके साथ चले नही। स्वराज्य के बाद ग्राम स्वराज्य की क्रान्ति को हम नहीं पहचान सके। एक दूसरे ढंग से हमेशा के लिए यह कहने को हो गया कि क्या कांग्रेस में, क्या रचनात्मक क्षेत्र में, मध्यम वर्ग विचार में भी अपना वर्ग-परिवर्तन नही कर सका।

१९५१ में जब भूदानयज्ञ शुरू हुआ तो नयी तालीम थी कहा? कहीं-कही संस्थाओं में जो तालीम चलती थी वह अच्छी तालीम भले ही रही हो नयी तालीम नही थी। जब नयी तालीम थी ही नहीं तो उसकी जिम्मेदारी का प्रश्न ही क्या है? अगर सचमुच नयी तालीम रही होती तो शायद भूदानयज्ञ की जरूरत ही न हुई होती।

विनोबा के मन में भूदानयज्ञ का चाहे जो स्वरूप रहा हो लेकिन जनता के सामने वह "कौतुक" के ही रूप में प्रकट हुआ। आगे चल कर जब उसमे आंदोलन की कुछ व्यापकता और गति आयी तब भी उसकी प्रक्रिया शैक्षणिक नही हुई। अगर नयी तालीम की प्रक्रिया अपनायी गयी होती, तो वर्ग-संघर्ष का यह ऐतिहासिक विकल्प आंकड़ों में फसकर न रह जाता, और बाद को भूदान ग्रामदान की जो समस्याए सामने आयीं उन्हें समझने की तैयारी या हल करने की शक्ति का इतना अभाव न प्रकट हुआ होता। फलतः दान हुआ लेकिन विसर्जन नहीं हुआ, दया की कुछ झलक मिली लेकिन मालिक-मजदूर के सम्बन्धों में मिठास नही आयी, जनता चकित हुई लेकिन उठकर खडी नहीं हुई। भूदान-ग्रामदान दोनों समाज-परिवर्तन का रास्ता छोडकर प्रचलित नमूने के निर्माण के दलदल में फस गये। अज्ञान, अभाव और अन्याय को लेकर ग्रामस्वराज्य की कोई शक्ति नही प्रकट हुई।

संघर्षमुक्त क्रान्ति के संदर्भ में कौन 'नयी तालीम वाला' है, कौन नहीं? जो 'नयी तालीम वाला" नहीं है क्या वह अहिंसा का सिपाही हो सकता है? सर्वोदय में यह प्रतीति आज भी अत्यंत अधूरी है।

बीती बातों को समझने की जरूरत है, ताकि समझ में आये कि चूक कहा हुई है। इसे समझने के लिए हमें भूदान या नयी तालीम तक सीमित न रहकर पूरे रचनात्मक कार्य–उसके विकास और वतमान–स्थिति पर विचार करना होगा। रचनात्मक कार्य की परिणति सच्चे स्वराज्य में हो, यह गांधीजी की मूल श्रद्धा थी। परिणति कैसे हो नयी तालीम की 'डायनेमिक्स' से। अगर यह तत्व हाथ से छूट जाता है तो जिम्मेदारी हम चाहे जिसपर डालें प्राण निकल जायेगा शरीर रह जाएगा।

लेकिन अब जिम्मेदारी बांटने में रखा भी क्या है? जिम्मेदारी सचमुच उनकी है जो जिम्मेदारी स्वीकार करें। ऐसे तमाम लोगों को मिलकर सोचना चाहिए कि ग्रामस्वराज्य का अभ्यासक्रम क्या होगा और हमारे रचनात्मक कार्यों में नयी तालीम की 'डायनेमिक्स' कैसे लागू होगी।

रामसूर्ति

नयी तालीम और गांधी-दर्शन

(पूर्वार्द्ध)

आचार्य कृपालानी

स्वाभाविक व्यवस्था

जब कभी संस्थाएँ अतिजटिल और अति औपचारिक बन जाती हैं और वहां भ्रष्टाचार और पतन के लक्षण दीखने लगते हैं तो साधारणतया उनमें उन संस्थाओंको जन्म देनेवाली बुनियादी और प्रमुख प्रेरणायें समाप्त हो गयी होती हैं। केवल कुछ बाहरी आकार और संगठन बचे रह जाते हैं। इसका कारण यह है कि वहां की स्वाभाविक व्यवस्था उलट जाती है, प्राथमिक चीजें प्राथमिक नहीं रहती हैं बल्कि गौण बातें ही सारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। इसलिए सुधार का पहला प्रयत्न यह होना चाहिए कि स्वाभाविक स्थिति कायम रहे और एक विशिष्ट मानवीय प्रवृत्ति का आरंभ करने के पीछे जो मौलिक प्रेरणा और ध्येय थे वे सामने रहें।

हमारी शिक्षा-पद्धति को, न केवल यहां, बल्कि संसार भर में, एक सी दु स्थिति का सामना करना पड़ा है जब उसकी प्राथमिक और मौलिक प्रेरणा व ध्येय तिरोहित हो गये। शुरू-शुरू में ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? हुआ यह कि पहले अमुक भौतिक वस्तु देखी, उसे छुआ-परखा, उसे किसी अंश में कुछ नया रूप दिया और इस तरह उसके बारे में जानकारी हासिल की। इसलिए हमारे शिक्षण में भी यदि सुधार करना है तो जनता को वापस प्रकृति की ओर, उस मूल प्रेरणा की ओर मोड़ना होगा जिससे सारा ज्ञान संभव हो सका था। एक सामान्य उदाहरण लें। जैसे हमारी पोशाक। आज के युग में जिसे सभ्य समाज कहते हैं वहां लोग, खासकर महिलायें, पोशाक से अपने को सजाती हैं। पोशाक का आरंभ कैसे हुआ? शरीर-रक्षा के लिए शरीर को बदलती हुई और असहनीय ऋतुओं से बचाने के लिए पोशाक का प्रचलन हुआ था। आज अकसर शरीर-रक्षा के उस मूल उद्देश्य तक का मूल्य चुकाकर, उस पोशाक को साज-सिंगार और तड़क-भड़क का माध्यम बना लिया गया है। पोशाक का असली हेतु पीछे रह गया है। हमारे खान-पान के तरीकों में भी इसी प्रकार का परिवर्तन हम देखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि हम अपने इन कीमती वस्त्रों और शानदार भोजन से विरत हो जाते तो उस खुरदरे मोटे कपड़े के लिए जिससे शरीर की कड़ी सरदी गरमी से रक्षा हो सकती है। तथा उस सादे भोजन के लिए जिससे पेट की भूख मिटती है, हम लालायित रहते। हमने आज फैशन, सजावट और तड़क-भड़क के नाम से जिन चीजों को अपनाया है उनकी अपेक्षा अधिक सुख हम उन चीजों से पाते जिन्हें हमने छोड़ दिया है। आज हमारी स्वाभाविक रुचि ही बिगड़ गयी है। इसलिए हमारी पोशाक और भोजन में सुधार करनेवाले लोग हमसे प्रकृतिकी ओर, उस मूल-प्रेरणा और बुनियादी ध्येय की ओर लौटने को कहते हैं जिन के कारण कपड़ा पहनना और भोजन करना आवश्यक हुआ।

हिंदू-दर्शन में कहा है कि सारा संसार नाम-रूपात्मक है। 'रूप' पहले आता है, 'नाम' बाद में। अगर भौतिक पदार्थ न हो और मानवीय क्रिया न हो तो उनको बोधित करनेवाले नाम कहां से आयेंगे। नाम और शब्द आगे नहीं चलते हैं, वरन् मूर्त पदार्थों और उनसे सम्बंध रखनेवाली क्रियाओं के पीछे चलते हैं। परन्तु हमने अपनी शिक्षा-पद्धति में इस स्वाभाविक क्रम को उलट दिया है। पहले शब्दों और सामान्य तथा अव्यक्त संज्ञाओं को रखते हैं फिर उसके बाद पदार्थों तथा क्रियाओं को लाते हैं। हम ऐसे ही शब्दों, वाक्यांशों और संकेतों के द्वारा शिक्षित हुए हैं। हम बच्चों को वस्तुओं से, मूर्त प्रकृति से, उसकी प्रक्रियाओं से प्रत्यक्ष क्रिया अथवा काम के द्वारा परिचित होने नहीं देते। हम धैर्य के साथ शब्दों को प्रकृति की प्रतीक्षा करने देने को तैयार नहीं हैं, बल्कि हम शब्दों के माध्यम से कुछ शिक्षा देने के लिए उतावले रहते हैं। हम भूल जाते हैं कि मनुष्य का सारा ज्ञान मूर्त वस्तुओं और ज्ञेय पदार्थों के अवलोकन तथा उनके साथ और उनपर क्रिया करने से प्राप्त होता है।

जब गांधीजी ने पहले पहल अपना सुधार—कर्म द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का विचार-प्रस्तुत किया तब हमारे शिक्षित लोगों को जिनका शिक्षण कोरे शब्दों और वाक्यांशों द्वारा ही हुआ था, बड़ा धक्का लगा। वे इस नयी योजना के विरुद्ध खड़े हो गये। वे इस प्राचीन लेकिन अब नये विचार को समझ नहीं सके कि अत्युत्तम और प्रभावशाली शिक्षा इन्द्रियगम्य वस्तुओं को माध्यम बना कर और औद्योगिक कार्यों द्वारा ही दी जा सकती है। गांधीजी को शिक्षित लोग नहीं समझ सके इसके लिए उन को दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि गांधीजी में उनको एक ऐसे व्यक्तित्व से पाला पड़ा जो विशिष्ट और विलक्षण था। गांधीजी किसी भी चीज की व्यावहारिकता की ओर इतनी उत्कटता के साथ बढ़ते थे कि किसी भी समस्या पर व्यवस्थित तात्विक विवेचन और विश्लेषण द्वारा विचार करने की बात अक्सर भूल जाते थे, और इसे ही आजकल के हमारे शिक्षित लोग समझ और पसंद कर सकते हैं। गांधीजी पण्डितों की पद्धति से नहीं चलते थे। देशके सामने वे जो भी सुझाव रखते थे उसके संबंध में वे कभी लंबी दलीलें नहीं देते थे बल्कि जैसे कोई चित्रकार अपने विषय को एक झलक में देख लेता है वैसे ही गांधीजी अपनी अचूक प्रतिभा और सजीव कल्पना से अपनी नयी नयी योजनाओं को परख लेते थे, और अत्यल्प भूमिका के साथ अति दूरगामी सुधार प्रस्तुत कर देते थे। हम उनके प्रयोगों, अनुभवों और निष्कर्षों को जिन के द्वारा वे अपने अनोखे और क्रांतिकारी विचारों तक पहुंचे थे नहीं देख सकते थे।

शब्द और वास्तविकता

अगर अर्वाचीन पाश्चात्य बौद्धिक वातावरण में पले हुए किसी सुधारकको नयी शिक्षा पद्धति का प्रतिपादन करना पड़ता तो वह पहले शिक्षा का छोटा सा इतिहास प्रस्तुत करता जिसमें आदि-मानव के समाज में शिक्षा का प्रारंभ कैसे हुआ इसका चित्र होता, इसके बाद वह शिक्षा के धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि प्रकारों के क्रमिक विकास की शृंखला का वर्णन करता। बादमें यह चित्र पेश करता कि ज्ञान अमुक निर्दिष्ट अवस्था तक पहुंच कर किस प्रकार भावात्मक और अर अनुमानगम्य (औपचारिक), तर्क-संगत और शास्त्रीय बनता है। फिर चमत्कारी व्यक्तियों, उपदेशकों दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों के प्रभाव के कारण वह ज्ञान किस प्रकार शब्दों और वाक्यांशों के जंगल में भटक जाता है। इसके बाद यह दर्शाता कि रूसो, पेस्टालजी, हर्बर्ट, फ्रोबेल, जान डूई तथा ऐसे ही अन्यान्य सुधारकों ने कैसे, क्यों और किस दिशा में शिक्षा के सुधार का प्रतिपादन किया तथा शिक्षा-पद्धति में क्या क्या सुधार दाखिल किये गये, फिर उनका वह आंदोलन कैसे और कहां तक सफल हुआ और कहां तक अपनी लक्ष्य-सिद्धि की दिशा में विफल हुआ और क्यों। इसी प्रकार शिक्षा को उत्पादक प्रवृत्तियों के साथ क्यों नहीं जोड़ा जा सका, तथा पूंजीवादी तंत्र में केंद्रित कारखानों के व्यापक उत्पादन ने सफलता को कैसे जटिल बना दिया। वह रूस में प्रचलित शिक्षा की बहुकलात्मकता—पाली टेक्नाइजेशन—का भी थोड़ा बहुत उल्लेख करता। अंत में यह दिखाते हुए अपना विवेचन समाप्त करता कि नया प्रयोग भारतीय परिस्थिति में किस तरह अनुकूल है। वह यह भी स्पष्ट करता कि उसने जो सुधार प्रस्तुत किया है वह काल-गति के साथ किस प्रकार संगत है। किस प्रकार वह ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्य है तथा शिक्षा के जो सर्व-मान्य वैज्ञानिक सिद्धांत हैं उन से मेल खाता है। हमें यह भूलना नहीं चाहिये कि शिक्षित लोगों के मनमें व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित सिद्धांतों के प्रति कितनी आसक्ति रहती है।

पण्डितों के लिए एक और अड़चन यह है कि वे शब्दों के भ्रमजाल में उलझे रह जाते हैं। उन की दृष्टि में अमुक कुछ शब्द अर्थ-विशेष में स्थिर हो चुके हैं, उनके लाक्षणिक अर्थ अपरिवर्तनीय हो गये हैं। मिसाल के तौर पर किसी को पूंजीपति या बुर्जुआ कह दिया कि बस उसे हृदयहीन और क्रूर शोषक की उपाधि दे डालने के लिए उसके निजी जीवन और कार्यों की कुछ भी जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता शिक्षित समाजवादी को नहीं रहती है। इसी प्रकार पुराणपंथी लोग जब किसी के बारे में सुनते हैं कि वह साम्यवादी है तो वे सीधा यही सोचने लगेंगे कि वह खूनी क्रांतिकारी है और समाज की वर्तमान व्यवस्था को खतम करने की

घात की प्रतीक्षा में है। जब शिक्षा की इस नयी पद्धति की बात आयी तब भी हमारे शिक्षित आलोचक इसी शाब्दिक नृशंसता के शिकार हो गये।

तिस पर यह नयी पद्धति गांधीजी के मस्तिष्क की उपज थी और वर्धा से निकली थी। तथा कथित बुद्धिवादी वर्ग की दृष्टि में वहां से कोईअच्छी चीज निकल ही नहीं सकती थी। फिर शिक्षा-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की गांधी जी की पात्रता ही क्या थी? वे शिक्षा के बारेमें क्या जानते थे? वे कभी किसीभारतीय या विदेशी विश्वविद्यालय में रहे नही। यह सब उन लोगों के लिए बिलकुल अकाट्य दलीलें थीं। इस लिए उस योजना को और उसके उद्देश्यों को समझने या उसका गुण–ग्रहण करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं हुआ। यदि गांधीजी के व्यक्तित्व और पात्रता को लेकर यों शब्दों में उलझने के बजाय उस योजना को समझने का प्रयत्न किया होता तो उस नये विचार का अधिक गुण ग्रहण किया जा सका होता, भले ही उसकी आलोचना भी की जाती, पर अधिक सही तौर पर उसे समझा जा सका होता वह अधिक रचनात्मक होना और सफल भी होता।

पद्धति

अगर पण्डित लोगों ने समझे-बूझे बिना फैसला कर देन के बदले उसका अध्ययन किया होता तो व पाते कि यह पद्धति प्रकृति के अनुरूप है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही और वैज्ञानिक है। ज्ञान हमेशा मूर्त से अमूर्त की ओर, व्यवहार से सिद्धांत की ओर बढता है। हम पहले अवलोकन करते हैं, प्रयोग करते हैं और तब उनके आधार पर ऐसे सामान्य सिद्धांत निकालते हैं जिनके अनुसार परिवतन होते हैं अनुमान (इंडक्शन) जब पूर्ण होता है तब हम सामान्य से विशेष की ओर–व्यापक से व्याप्य की ओर–बढ़ते हैं जहां फिर से प्रयोगों द्वारा उसकी छान-बीन की जाती है। इस प्रकार प्रत्यक ज्ञान को अव्यक्त से व्यक्त की ओर जाना होता है और मानवीय प्रयोगों और अनुभवों से उसका औचित्य सिद्ध करना होता है।

जब गांधीजी ने यह नयी योजना बनायी तब वे भी इसके बारे में बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से ही विचार करते थे। बच्चों के लिए यही स्वाभाविक और सरल होता है कि यथार्थ और व्यक्त से सामान्य और भावात्मक की ओर बढ़ा जाय। बच्चों में क्रिया शीलता की जो एक सहजवृत्ति है उसके कारण किसी भी वस्तु को काम में लेना और उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए सहज होता है। आज की शिक्षा-पद्धति इस बाल मनोविज्ञान के विपरीत चलती है। ज्ञान उसके कानों के जरिए-ठूंसा जाता है जिसे मुंह से या कलम से उस को वमन कर देना होता है। मुझे कई ऐसे शब्द याद हैं जिन्हें स्कूल में हमसे रटाया जाता था और कण्ठस्थ कराया जाता था। लेकिन कई वर्षों तक, यानी जब तक कि मैं उन वस्तुओं के प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं आया, तब तक उन शब्दों का सही आशय मैं समझ नहीं पाया था। इसके बजाय यदि प्रत्यक्ष वस्तु ही सेल और ठोस समस्याओं को सुलझाने का और इन्द्रियगम्य वस्तुओं को काम में लाने और सवारने का मौका देते तो, मुझे विश्वास है, मैंने अधिक शीघ्रता से और अच्छी तरह सीखा समझा होता।

यदि नयी तालीम की नयी पद्धति निसर्ग के अनुरूप है, मनोविज्ञान की दृष्टि से सही और वैज्ञानिक है तो शिक्षा का हेतु कुछ भी क्यों न हो, यह पद्धति अनुकूल सिद्ध होती। आधुनिक शिक्षा के इतिहास में यूरप और अमेरिका में शिक्षण देने की एक पद्धति के रूपमें परिश्रम, उद्योग या काम की हिमायत की गयी है, भले ही राष्ट्र की या शिक्षककी दृष्टि में शिक्षा का ध्येय कुछ भी रहा हो। ज्ञानार्जन की सही पद्धति शिक्षा के ध्येय को, वह चाहे कुछ भी रहे, शीघ्रता से और समग्र रूप से समझने में सहायक होती है। इसीलिए धार्मिक संगठनों को भी अपने धर्म का शिक्षण देने के लिए शिक्षा की वैज्ञानिक पद्धति की सिफारिश करनी पड़ी। क्रियात्मक पद्धति से क्षमता और शीघ्रता दोनों बातें सध जाती हैं।

लक्ष्य—

गांधीजी ने व्यक्ति और समाज के शिक्षण की इस पद्धति पर अपने जीवन-दर्शन के संदर्भ में प्रकाश डाला। अतः संक्षेप में ही सही गांधीजी जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन करते हैं उसका विवेचन करना अनुचित नहीं होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है कि जहां हमारी शिक्षा दोषपूर्ण और अवैज्ञानिक पद्धति के कारण दुःस्थिति

में पड गयी है, वहां उससे भी अधिक वह सारहीन लक्ष्यों और गलत आदर्शों के कारण भोग रहो है।

जब मैं कहता हूँ कि गोरे मालिकों के नीचे काम करने के लिए हलके रंग से रंगे हुए प्रशासनिक और कारकूनी-सहायकों को तैयार करने के लिए आज की शिक्षा की रूपरेखा बनायी गयी थी तो मैं कोई व्यंग्य नहीं कर रहा हूं। इसका यदि कोई भी मूल्यवान लक्ष्य था तो लार्ड मेकाले की भाषा में यही था कि आग्लो इण्डियनों की एक जाति का निर्माण किया जाय जो 'केवल अपने चमडे के रंग में और रगोंमें दौड़ने वाले खून म भारतीय रहें' और किसी चीज में नहीं। फिर भी यह लक्ष्य किसी परिस्थिति में मूल्यवान सिद्ध हो जाता बशर्ते सफल हो गया होता। अपने देश म आग्लो सैक्सन समाज में कई सराहनीय और उत्तम गुण हैं और भारतीयों को यों रगीन आग्लो सैक्सन बना भी दिया जा सका होता तो उस प्रयत्न मे कुछ तथ्य होता, यद्यपि भारतीय सस्कृति के लिए जिसके प्रति आज भी हमारे मन में गर्व है और विश्व सस्कृति के लिए जिसकी बडी देन रही है, यह कोई शोभा देनेवाली चीज न होती। कई सदियों के विदेशी शिक्षण के बावजूद यह असभव ही सिद्ध हुआ। शिक्षित भारतीय कुछेक मामलों में ही आग्लो सैक्सन बन पाया है, अपेक्षित सभी दिशाओं में नहीं। उसने अपने पूर्वजों के अच्छे गुणों को छोड दिया और अपने मालिक के रास्ते अपनाये जिनकी अच्छाई के बारे में शुबहा है। इस में कुछ आदरणीय अपवाद भी हो सकते हैं पर वे इने गिने और बिरले ही हैं। हर हालत में यह सोचना असभव ही था कि भारतीय जन सामान्य का इस हीन-पद्धति से आग्ली-करण हो जाय। इस प्रयत्न का परिणाम यही हुआ कि अग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय अपने ही जन-साधारण के समाज से एक दम कट गया, और उसने बडी कठिनाई के साथ विदेशी भाषा के माध्यम से जो कुछ सीखा वह उसी तक सीमित रह गया, वह छन कर नीचे तक नहीं आ सका। उसके और उनके बीच एक खाई बन गयी जो पट नहीं सकती थी, यही नहीं, बल्कि घर के अंदर उसके बुजुर्गों, मा बहनों तक के बीच में खाई बन गयी। यदि राष्ट्रीय आंदोलन प्रारभ न हुआ होता तो यह खाई और भी फैलती और बढती जाती, परन्तु राष्ट्रीय आदोलन ने सभी वर्गों, समाजो, स्त्री-पुरुषों, वृद्धों, बालकों और सब को एकत्र लाने का और सबके प्रयास के योग्य एक समान ध्येय प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इसलिए यदि शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करना है तो शायद पद्धति-परिवर्तन से भी अधिक महत्त्व की और आवश्यक बात यह है कि उसके सामने उदात्त ध्येय और आदर्श प्रस्तुत किये जायँ। गाधीजी ने देश के सामने कौन-सा आदर्श और ध्येय रखा?

अहिंसा

गाधीजी जैसे सुधारक के दर्शन को समझने के लिए उसे ऐतिहासिक पार्श्वभूमि में देखना जरूरी है। तभी समाज की वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए वे जो सुझाव देते हैं उसका पूरा मूल्याकन हो सकेगा और गुण-ग्रहण किया जा सकेगा।

मानव के विकास का ध्येय यह रहा है कि उसकी प्राकृत अवस्था बदले, मानव जो 'पशु, है उसे एक नैतिक और आध्यात्मिक प्राणी में परिवर्तित किया जाय और उसे नैतिक या आध्यात्मिक समाज का सदस्य बनाया जाय। यदि मैं कहूं कि नैतिक व्यक्ति की पहचान क्या है? भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न पहचान सुनाई जा सकती है। यदि मैं कहूँ कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक व्यक्ति एक स्वतंत्र-पुरुष होता है तो शायद ही किसी को आपत्ति होगी। स्वतत्रता के बिना नैतिक प्रगति असभव है। व्यक्ति की स्वतत्रता का यह अर्थ नहीं कि वह जो जीमें आये वह सब कर सके। यह तो जगली जानवरों की स्वतत्रता होगी जो समाज के जीवन को ही असभव बना देगी। मानवीय जिम्मेदारियों से अलग करके मानव की स्वतत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती। नैतिक मनुष्य स्वतंत्र निर्णय को उचित सयम के साथ तथा स्वतत्रता को नियमों और जिम्मेदारियों के साथ जोडता है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए उसे तदनुरूप स्वतंत्र समाज का सदस्य बनना होगा। इतिहास की गति इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था लाने का निरंतर प्रयास कर रही है।

मानवता का आरभ सघर्ष और हिंसा में हुआ, उसके साथ स्वाभाविक मक्कारी जुडी हुई थी। तब

जीवन विपत्तिमय था, अस्थिर था। जैसे-तैसे इस अराजकतापूर्ण परिस्थिति से मानव पार हो गया फिर वह कबीलों, गुटों, वर्गों और राष्ट्रों में संगठित होने लगा। इन सामाजिक संगठनों में एक प्रकार की व्यवस्था चालू हुई जिसमें कुछ नियम और पद्धति थी। इससे युद्ध और हिंसा थोडा पीछे हटी। फिर भी ये प्रारंभिक संगठन युद्ध और हिंसा के ही परिणाम थे। जो व्यक्ति अथवा समूह शक्तिशाली थे वे अपने अधीनस्थो और विजितो पर अपनी इच्छा और अपने नियम लादने लगे। इसलिए अधिकतर समाज मालिको और गुलामों में, शासको और शासितो में, राजाओ और प्रजाओ मे, कुलीनों और अकुलीनो में तथा रईसो और चाकरो में बंट गये। जहाँ अंदर से ये समूह यों बंट गये वहाँ बाहर से पडोसी समूहों के साथ लडने-झगडने लगे। एकता और समता को खतम करनेवाली अन्याय्य और हिंसापूर्ण व्यवस्था भी पिछली अस्तव्यस्त परिस्थिति के मुकाबिले प्रगति ही थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के जीवन में थोडा सुधार हुआ। ऐसे समाजों में राजाको देवांश माना जाता था, यह उचित भी था, क्योंकि राजाओंने एक प्रकार की व्यवस्था और समाज के कुछ भागों में स्थूल न्याय कायम किया था। यह एक नैतिक सिद्धि थी। स्मरण रखने की बात है कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था जिससे चाहे जैसा सभ्य जीवन संभव हो सके अव्यवस्था से तो अच्छी है ही; अराजकता से भी अच्छी है, लेकिन अगर अराजकता और अव्यवस्था थोडे समय के लिए हो और किसी उन्नत व्यवस्था के लिए जान बूझकर उत्पन्न की गयी हो तो बात दूसरी है। उस स्थिति में अराजकता और अव्यस्था को अनिवार्य मूल्य मानकर स्वीकार करना पडता है।

कुल मिला कर स्वतंत्रता की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग को यह समाज संतोष नहीं दे सका। जिन्होंने अपने अंदर से भलाई, न्याय और प्रेमपूर्ण व्यस्था की आवश्यकता की पुकार सुनी ऐसे अधिक चेतनाशील व्यक्तियों की माग को यह समाज पूरा नहीं कर सका। इस आकांक्षा की पूर्ति होती भी कैसे? मालिकों और गुलामों में बंटा हुआ समाज इस आंतरिक मांग को पूरा नहीं कर सकता था। इसलिए जब ऐसी माग कुछ लोगों में पैदा हुई तो उन्होंने उच्चतर स्वतंत्र जीवन की खोज में क्षुब्ध समूह से अलग हो कर यह संसार त्याग दिया। वे अकेले ही खडे रहे और अपना आदर्श प्राप्त करने का प्रयत्न शुरु करते रहे। वे अंतर्मुखी हो गये और इस संसार और उसके नातो को छोड दिया। बुद्ध का संसार-त्याग इसी प्रकार का था। ईसा मसीह ने भी यही कहा था कि उनका राज्य इस लोक का नहीं, दूसरे लोक का है। इन सुधारकों ने अपनी श्रद्धा का उपदेश व्यक्ति व्यक्ति की निजी मुक्ति और निजी श्रेय के लिए ही दिया। बुद्ध को बोधि प्राप्ति हुई तो उसने यह कहा कि "मैं तब तक इस धरती पर बार-बार जन्म लेना चाहूँगा, जबतक कि धरती पर एक भी व्यक्ति निर्वाण से वंचित रहेगा।" बुद्ध का विचार था कि समाज मानो पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का समूह जिसको तारने की आवश्यकता हो। उसकी यह आकांक्षा नहीं थी कि सामाजिक संबंधो को बदला जाय और नयी समाज-व्यवस्था कायम की जाय।

संत सत्पुरुषों के उपदेशों और उदाहरणों का प्रभाव सामाजिक संबंधो पर पडता था, लेकिन उसकी गति धीमी और परोक्ष थी। इसीलिए धार्मिक पुरुषों और सांसारिक लोगोंके बीच दरार पड गयी। महान आत्माओं को संसार और सांसारिक संबंधों का त्याग इस तरह करना होता था मानो यह कोई शरीर की थकान हो। बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश राजाओं और राजकुमारों को दिया, पर वह केवल उनके व्यक्तिगत जीवन और मुक्ति के लिए था, न कि उनके राजनीतिक व्यवहारों को सुधारने के लिए। ईसाई मठों ने राजनीतिक नेताओं और संगठनों को विश्वप्रेम और उदारता के नियमों से परे माना जिनका उपदेश उनके मसीहा ने दिया था। कई अहिंसावादी जैनोंने भी राजाओं और राजकुमारों को अहिंसाधर्म के पूर्ण पालन न करने की छूट दे रखी थी। लेकिन यह कभी नहीं कहा गया था कि इन में किसी भी राजा, शासक और योद्धा को व्यक्तिगत मोक्ष नहीं मिलेगा। जो समाज पहले से मालिक और गुलाम में विभक्त हो गया था वह आगे चल कर संसार और शरीर के मार्गपर चलनेवालों और संसार त्यागकर ईश्वर के मार्ग पर चलनेवालों में फिर

[शेष पृष्ठ ७९ पर]

संघर्ष-मुक्त क्रांति का वाहन

समग्र नयी तालीम

श्री धीरेन्द्र मजूमदार

सत्याग्रह की कसौटी

हमने कहा है कि वर्ग-संघर्ष वर्ग निराकरण की सिद्धि में असफल हो रहा है। यह बात आज बहुत से विचारक कहने लगे हैं। लेकिन जब लोग इसे कबूल करते हैं तो उनके सामने स्थूल हिंसात्मक वर्ग संघर्ष ही रहता है। परंतु यह जरूरी नहीं है कि वर्ग-संघर्ष हमेशा मारकाट का ही हो। शांतिमय वर्ग संघर्ष भी हो सकता है। इसका जिक्र हमने सत्याग्रह का विवेचन करते समय किया है। जगह जगह वर्ग संघर्ष के लिए शांतिमय असहयोग तथा अवज्ञा का तरीका अपनाया जा रहा है। ऐसे शांतिमय तरीके से जो वर्ग-संघर्ष होता है उसे लोग अहिंसा मानते हैं और इस प्रक्रिया को शायद वर्ग-संघर्ष की कोटि में नहीं रखते, लेकिन, जैसा कि हमने पहले कहा है, अगर यह शांतिमय तरीका किसी के खिलाफ दबाव डालने का है तो वह शांतिमय होने पर भी संघर्ष ही है। वस्तुतः अभी तक जो वर्ग-संघर्ष हुए हैं वे पूंजी और श्रम के बीच, लेकिन अब पूँजी के निजी स्वामित्व के मिटने के बाद जो विरोध प्रकट हो रहा है वह बुद्धि और श्रम के बीच। यह विचित्र विरोध संघर्ष से कैसे मिटेगा? अगर मिटाना है तो संघर्ष छोड़कर समन्वय की कोई प्रक्रिया निकालनी होगी, क्योंकि समन्वय की प्रक्रिया सब प्रकार के विरोधों को मिटा सकेगी।

साधारणतः लोग विनोबाजी की मनाने या समझाने की प्रक्रिया को सत्याग्रह नहीं मानते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि सत्याग्रह के संदर्भ में इस प्रक्रिया को हम समझ लें। मान लीजिये कि कोई जमीन का मालिक बटाईदार को जमीन से बेदखल करता है तो वह बटाईदार सार्वजनिक कार्यकर्ता के पास जाता है। वह कार्यकर्ता तथा बटाईदार दोनों जमीन पर डट जाते हैं। वे कुछ पड़ोसियों और साथियों को बटोर कर जमीन को घेर लेते हैं। इस प्रकार वे दबाव से जमीन-मालिक को बेदखल करने से विमुख करते हैं। इस प्रक्रिया को सभी लोग सत्याग्रह कहेंगे। लेकिन अगर वह कार्यकर्ता उस बटाईदार तथा दूसरे मित्रों आदि को लेकर जमीन के मालिक के पास जाता है, और वे उसे बार-बार समझाते हैं और अंत में उससे मनवा लेते हैं कि वह बेदखल नहीं करे तो लोग इसे सत्याग्रह नहीं मानेंगे। हमने कहा है कि सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए आग्रह करना। इस उदाहरण में जमीन को घेरने और आग्रह पूर्वक मालिक को समझाने दोनों में क्या फर्क है? दोनों ही सत्य के लिये आग्रह है। फर्क यह कि पहले तरीके में मालिक और बटाईदार में दुश्मनी का संबंध बाकी रहेगा और दूसरे में दोनों में सद्भावना कायम होगी। इस प्रकार विनोबा जी के समझाने और मनाने का जो तरीका है, वह सत्याग्रह है और वह सौम्य सत्याग्रह है, यह स्पष्ट है। इसी तरह लोकतंत्र में सत्य के लिए मत दाताओं का शिक्षण भी एक तरह का सत्याग्रह है क्योंकि उनके विचार परिवर्तन से राज्य-सत्ता के असत्याचरण का सुधार होता है। यही कारण है कि गांधीजी ने मतदाताओं के शिक्षण को रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग माना था।

वास्तविक वर्ग-निराकरण

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या "समझाने" का तरीका कोई स्थाई तरीका है? क्या यह कोई सामाजिक शक्ति बन सकता है? अगर दबाव का तरीका स्थाई सामाजिक शक्ति के रूप में मान्य है तो मनाव का तरीका इसके लिए अधिक मान्य होना चाहिये। आखिर दबाव भी कोई स्थाई सामाजिक कार्यक्रम नहीं है। वह भी तात्कालिक प्रसंग पर इस्तेमाल किया जाता है। इस तरह यद्यपि मनाव स्थायी सामाजिक कार्यक्रम नहीं है, फिर भी उपयुक्त प्रसंग पर दबाव

से अधिक सरलता तथा तत्परता से इस्तेमाल हो सकता है। दबाव के सत्याग्रह की शक्ति को संगठित करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि समाज में कुछ निर्भीक तथा कठोर संकल्प के नेता हों। वे किसी अन्याय या अत्याचार के प्रसग को लेकर अन्याय-पीड़ित तथा निर्दलित-वर्ग का संगठन करें, फिर संगठन मजबूत होने पर दबाव का इस्तेमाल करें। इस प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि अन्याय और निर्दलन का स्तर इतना अधिक हो कि जनता को उसका स्पष्ट अनुभव हो। ऐसा होने पर ही संगठन को प्रेरणा मिल सकेगी। केवल अन्याय का स्तर जबरदस्त हो, इतना ही नहीं, बल्कि उसे व्यापक भी होना चाहिए। इस तरह दबाव के सत्याग्रह का अवसर केवल गंभीर प्रश्न पर ही उपस्थित हो सकता है। दूसरी तरफ मनाव की प्रक्रिया के लिए भी नेतृत्व की आवश्यकता है। उसके लिए नेतृत्व में सेवा तथा स्नेह का गुण होना चाहिए। ऐसे नेतृत्व को संगठन के प्रारंभ के लिए किसी प्रकार के विशिष्ट अन्याय या अत्याचार के प्रश्न की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए सेवक समाज में जाकर बैठेगा, समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के साथ स्नेह-संबंध स्थापित कर अपना प्रेम-क्षेत्र बनायेगा और उस प्रेम-क्षेत्र के बनाने की प्रक्रिया से उसी समाज में कुछ विवेकशील मनुष्यों में आपसी संबंध भी पैदा करेगा। फिर कभी समाज में कोई मामूली अन्याय भी हो, चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक हो उसके लिए 'मनाव' की प्रक्रिया का इस्तेमाल किया जा सकेगा। इस तरह जहां दबाव वाली प्रक्रिया के संगठन के लिए विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता है तथा संगठन पूरा होने पर भी विशिष्ट प्रकार के अन्याय या अत्याचार होने की जरूरत है वहाँ मनाव के संगठन के लिए नित्य अवसर उपस्थित रहता है तथा उसके प्रयोग के लिए सामान्य जीवन के प्रसंग काफी हैं। इस तरह दबाव की प्रक्रिया से मनाव की प्रक्रिया सामाजिक शक्ति के रूप में अधिक स्थायी तथा अधिक व्यापक है, क्योंकि यह स्थायी समाज शिक्षण का कार्यक्रम है, प्रासंगिक प्रवृत्ति-मात्र नहीं है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि मनाने या समझाने का एक अत्यन्त प्रभावकारी सामाजिक शक्ति हो सकता है और नितानाजी दिखा रहे हैं कि वह है भी। लेकिन सवाल यह है कि क्या यह शक्ति अपने आप वर्ग निराकरण के लिए काफी है। वर्ग के संदर्भ में दो समस्याएं स्पष्ट हैं। प्रथम वर्ग भेद, और द्वितीय वर्ग विद्वेष। निस्सदेह वर्ग-विद्वेष अन्याय और अत्याचार की उपज है। हमने वर्ग भेद और वर्ग विद्वेष दो चीजें कही हैं। वर्ग भेद से विशेष प्रकार का सांस्कृतिक भेद प्रकट होता है, खासकर इस मुल्क में तो वह अत्यंत स्पष्ट है। इस मुल्क में ही नहीं दूसरे मुल्कों में भी ब्राह्मण-संस्कृति और शूद्र-संस्कृति के रूप में दो निश्चित संस्कृतियां दिखाई पड़ती हैं। हमने ऊपर कहा है कि रूस के विचारक भी इस बात से चिंतित हैं कि वहां एक सफेद-पोश वर्ग (White colured class) की सृष्टि हो रही है। जब वहां भी एक वर्ग अलग से दिखाई दे रहा है और उसका नाम सफेदपोश वर्ग बताया जाता है तो निस्सदेह उन वर्गों में सांस्कृतिक भेद परिलक्षित हो रहा है। इस *भेद का कारण अन्याय ही है, यह जरूरी नहीं है।* यह भी जरूरी नहीं है कि बुद्धिजीवी और श्रमजीवी वर्ग में विद्वेष हो या अन्याय का संबंध हो। कहा जाता है कि रूस में ऐसा नहीं है, फिर भी भेद है। यह भेद दोनों की रहन-सहन और तर्ज तरीके में दिखाई पड़ता है। बुद्धिजीवी चाहे अमीर हो, चाहे गरीब, उसके जीवन का तर्ज एक-सा है। उसी तरह श्रमजीवी चाहे अमीर हो या गरीब, उनके जीवन का तर्ज दूसरा है। यह आवश्यक नहीं है कि बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के जीवन-स्तर में अंतर हो, लेकिन श्रम और सुविधाओं के उपयोग में अंतर होने के कारण दोनों के जीवन के तर्ज में भेद हो जाना स्वाभाविक है। वर्ग निराकरण का मतलब केवल वर्ग विद्वेष का निराकरण नहीं है, बल्कि वर्ग भेद का भी निराकरण है। यह भी कहा जा सकता है कि वर्ग विद्वेष यानी अन्याय, अत्याचार आदि का निराकरण होने पर भी सांस्कृतिक भेद के कारण वर्ग भेद कायम रह सकता है। इसलिए वर्गों के निराकरण का मतलब वर्गों के बीच के अन्याय,

अत्याचार आदि का निराकरण ही नहीं बल्कि जीवन के वर्ग का भेद भी मिटाना है।

सब श्रमजीवी, बुद्धिजीवी दोनों

लोग कह सकते हैं कि अगर शोषण मिट जाय और अन्याय-अत्याचार न हो तो इस प्रकार के सांस्कृतिक भेद से हानि क्या है? एक वर्ग बुद्धिजीवी रहे, दूसरा वर्ग श्रमजीवी रहे, लेकिन संपत्ति के प्रश्न को लेकर मालिक-मजदूर का संबंध न रहे यानी सामूहिक मालिकी रहे तो क्या हर्ज है? मेरी समझ में हर्ज है। अगर बुद्धिजीवी वर्ग और श्रमजीवी वर्ग के नाम से दो वर्ग अलग रहेंगे तो निस्संदेह बुद्धिजीवी वर्ग के हाथ में ही समाज की व्यवस्था रहेगी और अगर व्यवस्था के लिए एक विशिष्ट वर्ग होगा तो वह व्यवस्था की प्रक्रिया में अपने लिए सुविधा और अधिकार बना लेगा। अपने लिए विशिष्ट स्थान बनाने की प्रक्रिया में ही उसे शोषण करना पड़ेगा। जब हम बुद्धिजीवी वर्ग के पढ़े लिखे नौजवानों से कहते हैं कि आप भी शरीरश्रम से उत्पादन कीजिये तो वे उत्तर देते हैं, अगर हमें स्वावलम्बन के लिए श्रम करना होगा तो ज्ञान, विज्ञान, कला और संस्कृति के विकास के लिए हमारे पास समय कहां से आयेगा? जब वे इस प्रकार की बात सोचते हैं तो यह नहीं सोचते कि अगर वे अपना गुजर के लिए उत्पादन नहीं कर सकते हैं क्योंकि ज्ञान, विज्ञान, कला और संस्कृति के विकास के लिए उन्हें फुर्सत चाहिए तो जो मनुष्य उनको फुर्सत देने के लिए श्रम से उत्पादन करेगा उसको अपनी जीविका के अलावा अन्य कला, संस्कृति और ज्ञान, विज्ञान के विकास करनेवालों के लिए भी अतिरिक्त उत्पादन करना होगा न? अगर एक आदमी अपने अकेले के लिए उत्पादन करने के कारण ज्ञान, विज्ञान, कला और संस्कृति के विकास के लिए अवसर नहीं निकाल सकता है, तो जिन्हें अपने स्वावलम्बन के अतिरिक्त बुद्धिजीवी वर्ग के हिस्से की भी सामग्री अपने श्रम से उत्पादन करना होगा, उनके ज्ञान, विज्ञान तथा कला और संस्कृति के विकास के लिए अवसर कहां से आएगा? अगर नहीं आयेगा तो सबको सब चीजों के लिए समान अवसर दिया जाय, यह सिद्धांत कैसे टिकेगा? अगर नहीं टिकता है और अंतिम विश्लेषण में यही बात आती है कि ज्ञान, विज्ञान, कला और संस्कृति के विकास के लिए एक वर्ग को श्रम से मुक्त कर उसकी सेवा के लिए दूसरे वर्ग को अतिरिक्त श्रम करना होगा, तो क्या यह परिस्थिति एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण की नहीं होगी? अगर एक वर्ग कला, संस्कृति आदि का विकास करता रहे और उसकी जीविका के लिए दूसरे वर्गों को सांस्कृतिक विकास से वंचित रखना अनिवार्य हो तो क्या इस बात से वर्ग व्यवस्था को कायम रखने के लिए माकूल दलील नहीं निकलती? इस तरह क्या ब्राह्मण और शूद्र के रूप में दो वर्गों का अस्तित्व कायम रखकर शोषण की प्रक्रिया को स्थाई बनाना नहीं होगा? जब समाज में बुद्धि के आधार पर वर्ग भेद रहेगा तो कोई शक्ति उस दूसरे वर्गों का शोषण करने से रोक नहीं सकती। चाहे जैसा भी सामाजिक विधान बने, बुद्धिजीवी किसी न किसी रूप में श्रमजीवी का आर्थिक शोषण कर ही लेगा क्योंकि बुद्धिजीवी में बिना श्रम से उत्पादन किये ही श्रमजीवी से अधिक सहूलियत की जिन्दगी बसर करने की प्रवृत्ति पैदा होगी। जब तक यह तत्व मान्य नहीं होता कि जीविका के लिए श्रम अनिवार्य है और सेवा तथा सामाजिक उत्तरदायित्व कमाई के लिए नहीं बल्कि समाज के प्रति कर्तव्य के निर्वाह के लिए है तब तक वर्ग निराकरण का स्थायी उपाय नहीं निकलेगा। स्थायी वर्ग निराकरण की दृष्टि से ही गांधी जी ने 'ब्रेड लेबर' को जीवन का अनिवार्य धर्म माना है।

स्थायी उपाय नयी तालीम विराट स्वरूप

अतएव यद्यपि समझाने या मनाने की प्रक्रिया समाज में अन्याय निराकरण के लिए सामाजिक शक्ति बन सकती है फिर भी वह एक तात्कालिक प्रक्रिया होगी और केवल एक पहलू के लिए कारगर होगा। लेकिन दोनों वर्गों के सांस्कृतिक भेद को मिटाकर समस्त मानव को एक विकसित सांस्कृतिक वर्ग में परिणत करने के लिए ज्यादा स्थायी तथा क्रमिक प्रक्रिया की आवश्यकता है। उस उद्देश्य को सामने रखकर ही बापू ने नयी तालीम का क्षेत्र जन्म से

मृत्यु तक बताया था। जब समाज के समस्त कार्यक्रम तथा उसकी सम्पूर्ण परिस्थिति के माध्यम से आजीवन शिक्षा का आयोजन होगा तथा वह शिक्षा समाज के स्वाभाविक वातावरण में दी जायगी, जैसा गांधी जी की कल्पना थी, तो यह सवाल नहीं उठेगा कि किसी को किसी चीज की प्राप्ति के लिए किसी दूसरी चीज को छोड़ना पड़े। सच बात तो यह है कि सांस्कृतिक विकास और जीविका का मेल मिलाये बिना-एक के लिए नहीं, सबके लिए वर्ग भेद का मिटना सम्भव नहीं है।

अतएव जब गांधीजी जेल से लौटे और उन्होंने समझ लिया कि अंग्रेजी राज जा रहा है और देश की आजादी जल्द ही आने वाली है तो उनके सामने अहिंसक समाज के लिए क्रांति की नयी व्यूह-रचना तत्काल शुरू करने का प्रश्न था। हमने कहा है कि इस व्यूह रचना की पूर्व तैयारी उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में ही कर ली थी और रचनात्मक संस्थाओं और कार्यकर्ताओं के रूप में आगे की क्रांति के औजार भी बना लिये थे। इसीलिए उन्होंने इस क्रांति के काम के लिए उन्ही को पहले बुलाया जिनको वह पहिले से धीरे धीरे तैयार कर रहे थे।

जब लोग सेवाग्राम में एकत्र हुए तो उन्होंने अपनी परिकल्पना सारी संस्थाओं के सामने रखी। उन्होंने स्पष्ट कहा अब हमारा काम कुछ लोगों को राहत देने का नहीं है। हमें अहिंसक समाज के लिए जन शक्ति का निर्माण करना है और उस जन शक्ति द्वारा क्रांति की व्यूह रचना करनी है। यही कारण था कि उन्होंने सबसे पहले चर्खा संघ के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि संघ अपने को विसर्जित करे और ७ लाख गावों में फैल जाय। इसका मतलब स्पष्ट है कि वे चाहते थे कि चर्खा किसी संस्था द्वारा केवल सेवा का जरिया न होकर जनता के स्वावलम्बन का साधन बने। संघ के ७ लाख गावों में फैलने का मतलब यह है कि जनता इस स्वावलम्बन के लिए चर्खा-संघ जैसी केंद्रित सेवा संस्था का भी मुहताज न रहे। अगर वस्त्रस्वावलम्बन जैसी एक छोटी-सी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी जनता को एक केंद्रित संस्था के अधीन रहना पड़े तो पूरा समाज शासन-संस्था के नियंत्रण से कैसे मुक्त हो सकेगा। उन्होंने तालीमी संघ से कहा अब तक हम बुनियादी शिक्षा के उपसागर में रहे। अब नयी तालीम के महासागर में जाना है तथा जन्म से मृत्यु तक की तालीम की पद्धति सोचनी है। स्पष्ट है कि किसी संस्था की चहारदीवारी के अंदर यह काम सम्भव नहीं हो सकता है। इस प्रकार जेल से निकलते ही गांधीजी ने सारे कार्यकर्ताओं के सामने अपना यह स्पष्ट विचार रखा कि मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सामाजिक व्यवस्था और शिक्षण के लिए जनता स्वावलम्बी हो और वह स्वावलम्बन उसके अपने सहकारी प्रयत्न से हो न कि बाहर के नियंत्रण से, चाहे वह सरकार का हो या संस्था का। इसके लिए उन्होंने ७ लाख गावों के मार्गदर्शन के लिए ७ लाख लोक-सेवकों का आह्वान किया जो अपने श्रम तथा जनता के प्रेम से जीविका चलायें और अपने को जन-जन में विलीन करके क्रांति का प्रकाश स्तंभ बनें।

ऊपर कहा गया है कि अहिंसक क्रांति विचार परिवर्तन तथा हृदय-परिवर्तन से होती है, और इसकी प्रक्रिया मनाने और समझाने की होती है। यह न प्रत्यक्ष हिंसा की प्रक्रिया है, और न कानून की प्रक्रिया है बल्कि वह शिक्षण की प्रक्रिया है। हमने कहा है कि विचार-परिवर्तन के साथ साथ संस्कृति को भी बदलने की जरूरत है तभी क्रांति पूर्ण हो सकती है। इस परिवर्तन के लिए स्थायी कार्यक्रम की जरूरत है। नि संदेह वह शैक्षणिक ही हो सकता है। इसलिए जब गांधीजी रचनात्मक कार्य को क्रांति की रीढ़ मानते थे तो वह यह कहते थे कि रचनात्मक कार्य रूपी सभी नदियों को अंत में नयी तालीम के समुद्र में विलीन होना है क्योंकि जब क्रांति के लिए शिक्षा सामाजिक शक्ति के रूप में अधिष्ठित होती है तो क्रांति के उद्देश्य से जो भी रचनात्मक कार्य किया जायगा वह अवश्य तालीम का माध्यम होगा। गांधीजीने उस समय इस विचार को रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सामने रखा और सभी रचनात्मक संस्थाओं के लोगों को लेकर एक मिलाप्री संघ का संघटन किया।

इस तरह १९४४-४५ ई० में नयी तालीम के बारे में नया विचार सामने आया। लेकिन इतने विराट विचार की कल्पना गांधीजी ही कर सकते थे। उनके प्रत्यक्ष मार्गदर्शन से शायद कुछ दिशा भी मिलती। नयी तालीम के प्रथम चरण में श्री आर्यनायकम् जी तथा आशा देवी के नेतृत्व में देश में जगह जगह नयी तालीम का जो प्रयोग चल रहा था उसके लिए भी गांधीजी का सतत मार्गदर्शन आवश्यक था। यही कारण था कि जब यह विचार होने लगा कि इसकी मुख्य प्रयोगशाला कहां रहे तो बिहार में सबसे अधिक उत्साह दिखायी देने पर भी उसे बापू के ही पास रखा गया ताकि सेवाग्राम में बैठकर बापू पग-पग पर मार्गदर्शन कर सकें। अगर तालाब में तैरने के लिए बापू का सान्निध्य आवश्यक था तो समुद्र विहार के लिए उनका नित्य-मार्गदर्शन कितना अधिक आवश्यक था, यह सहज ही समझा जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्य से यह हो नहीं सका। विश्व-युद्ध समाप्त हुआ। मुल्क के शासन का बागडोर भारतियों के हाथ में हस्तान्तरित करने के लिए इंगलैंड के मंत्री तथा उनके साथी देश के नेताओं से चर्चा करने आये तो स्वभावतः बापू का तात्कालिक ध्यान इस काम में लग गया।

बापू के नित्य-मार्गदर्शन के अभाव में हम चरखा संघ तथा तालीमी संघ के कार्यकर्ता अपने काम के नव-संस्करण की दिशा में विशेष आगे नहीं बढ़ सके। विचार के लिए बापूजी से जो मन मिला था उसकी आवृत्ति तो हम हमेशा करते रहे लेकिन व्यवहार में पुराने ढांचे को ही अधिक से अधिक सफल करने में लगे रहे। देश के चालू शिक्षण के काम में सुधार का हमारा यह प्रयास कुछ मददगार अवश्य हुआ, लेकिन शिक्षा में अहिंसक क्रांति के विकास या तालीम को क्रांति के वाहन के रूप में अधिष्ठित करने में हम कुछ विशेष नहीं कर सके।

दो साल तक गुलामी और आजादी के बीच का संधिकाल में बापू को निरंतर राजनीतिक नेताओं के नजदीक रहना पड़ा। जिस जाति ने अपनी कूट नीति के सारे विश्व को काबू में कर रखा था उसके चोटी के राजनीतिज्ञों से सौदा करने के लिए नित्य बापू की सलाह की आवश्यकता थी। अतः दो साल के बाद जब राज्य की बागडोर नेताओं के हाथ में आयी तो स्वाभावतः गांधीजी १९४५ में छोड़े हुए छोर को पकड़ कर आगे बढ़ते और हम लोगों के सामने समाज निर्माण के माध्यम के रूप में विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियों का, विशेषतः नयी तालीम का, स्वरूप प्रकट होता। लेकिन ऐसा हो नहीं सका। हाँ, हमें आजादी मिली, *लेकिन साथ-साथ बर्बादी का भी स्वाद चखना* पड़ा। भारत का विभाजन हुआ तथा पूंजीभूत साम्प्रदायिक असहिष्णुता तथा घृणा का घड़ा फूटा। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक कत्लेआम तथा अत्याचार का नंगा नाच होने लगा। अहिंसा का पुजारी सामान्यतः अहिंसक समाज की व्यूह-रचना में ही लगा रहता है, लेकिन जब समाज में हिंसा का विस्फोट होता है तो उस स्थायी निर्माण के काम को फिलहाल छोड़ना और विस्फोटक तत्वों के शमन के काम में लगना पड़ता है। इसलिए गांधीजी ने सब काम छोड़ कर साम्प्रदायिक विस्फोट के शमन के काम में अपनी सारी शक्ति और चिन्तन लगा दिया। अंत में शान्ति के इस अभियान में उन्होंने अपने प्राणों की आहुति भी दे दी।

१९४७ के दिसंबर का महीना था। गांधीजी नोआखाली से दिल्ली लौट आये थे। नोआखाली की यात्रा ने साम्प्रदायिक विस्फोट को काफी शान्त किया था। ऐसा आशा होने लगी थी कि अब गांधीजी उधर से फुर्सत पाकर बीच में छोड़े हुए काम पर लग सकेंगे। दिल्ली जाकर उन्होंने सारे रचनात्मक कार्यकर्ताओं को बुलाया। सारी संस्थाओं का बैठक रखी। रचनात्मक कार्यकर्ता अत्यंत आशा भरे दिल से दिल्ली में एकत्र हुए।

यद्यपि बापूजी की दो साल की अनुपस्थिति में नया मार्ग ढूंढने में कार्यकर्ता असमर्थ रहे, फिर भी स्वतंत्र रूप से काम करने के कारण उन्हें कुछ लाभ हुआ। मुख्य लाभ यह हुआ कि उन्हें मालूम हो गया कि वे हैं कहां। जब हम स्वतंत्रता संग्राम में लगे हुए थे तो हमारे मन में यह निश्चय था कि स्वराज्य पाने पर

गांधीजी द्वारा प्रवर्तित रचनात्मक कार्य सरकार के द्वारा आसानी से हो जायगा। कांग्रेस ने गांधीजी की चर्खा, ग्रामोद्योग, नयी तालीम आदि प्रवृत्तियों को स्वीकार कर लिया था। राष्ट्र के तमाम नेता गांधीजी के इन विचारों का घूम घूम कर प्रचार करते थे। तो ऐसी आशा होना स्वाभाविक था कि जब कांग्रेस के मातहत इन नेताओं के हाथ में देश की बागडोर आयेगी तो यही विचार राष्ट्र निर्माण की बुनियाद होगा जो गांधीजी द्वारा प्रवर्तित रचनात्मक कार्य के पीछे थे। लेकिन हमने देखा कि ऐसा नहीं हुआ। नेताओं ने आजादी की प्राप्ति के साथ-साथ पश्चिमी जगत के पुराने ढंग की मध्यम वर्गीय राजनीति तथा अर्थनीति को स्वीकार कर लिया। उन्होंने अंग्रेजों के चलाये हुए सामाजिक दर्शन को ही सगठित करने का निर्णय किया। कांग्रेस के मुख्य नेताओं ने गांधीजी के विचार को अस्वीकार करने की खुले आम ताईद की। देश के विभिन्न क्षेत्रों में भाषण करते हुए स्पष्ट कहा गया कि आजादी के संग्राम के लिए चर्खा आदि कार्यक्रमों का स्थान अवश्य था लेकिन आज के वैज्ञानिक युग मे आजाद भारत में इन प्रवृत्तियों के लिए जगह नहीं रह गयी है। हमारे नेता न गांधी विचार की मूल निष्ठाओं पर टिक सके और न वे विज्ञान और लोकतन्त्र के इस युग की मांग ही समझ सके। स्वतन्त्रता के जोश में व लोकप्रवाह में बह गये। वे इसे नया मोड़ देने की शक्ति नहीं दिखा सके।

सरकार शक्ति, बनाम लोक-शक्ति

इस प्रकार हम रचनात्मक कार्यकर्ता यह समझ गये कि सरकार द्वारा हमारा काम आगे नहीं बढ़ेगा। रचनात्मक कार्य के कुछ ऐसे नेता जो स्वराज्य के आन्दोलन के समय संघर्ष के काम में भी लगे हुए थे समझते थे कि राजनीतिक नेताओं ने गांधीजी को धोखा दिया। इसलिये वे सोच रहे थे कि अब समय आ गया है जब बापू के विचार के अनुयायी अपना संघटन बनाकर सत्ता पर कब्जा करें और सरकारी ताकत से बापू का स्वप्न पूरा करें। ऐसी मनोदशा में हम सब रचनात्मक कार्यकर्ता दिल्ली में इकट्ठा हुए। रचनात्मक प्रवृत्ति के बड़े-बड़े नेता उपस्थित थे। उन्होंने बापू जी के सामने अपनी भावना व्यक्त की। उन्होंने साफ कहा कि आज जिनके हाथ में राष्ट्र का बागडोर है उनके द्वारा गांधीजी की कल्पना आगे नहीं बढ़ेगा। उन्होंने अपना भावना को जाहिर करते हुए अधिकार हाथ में लेने की बात कही। कई दिनों तक चर्चा चलती रही। लेकिन बापू ने अधिकार हाथ में लेने की बात नामंजूर की। उन्होंने कहा कि हमें अधिकार को हाथ में लेने की कोशिश नहीं करना है बल्कि जनता में जाकर जन शक्ति निर्माण करना है। गांधीजी जिस तरह की क्रांति करना चाहते थे उस क्रांति की सिद्धि के लिए उनका ऐसा कहना जरूरी था। आखिर जब वर्ग भेद का निराकरण होने पर ही सैनिक शक्ति पर आधारित राज्य संस्था का विघटन संभव है तो वर्ग निराकरण की प्रक्रिया राज्य-आधारित कैसे हो सकता है? अतएव रचनात्मक कार्यकर्ता तथा नेताओं का यह समझना कि देश के राज्यकर्ताओं ने गांधीजी को धोखा दिया है और उनकी क्रान्ति की पूर्ति के लिए उन्हें सत्ता को अपने हाथ में लेना चाहिए भ्रामक था। आज जब विनोबा जी गांधी विचार को स्पष्टता के साथ हमारे सामने रख रहे हैं तो हमारी दृष्टि धीरे धीरे इस बात के लिए साफ हो रही है कि अगर साध्य और साधन की एकता आवश्यक है तो शासन-मुक्त समाज की स्थापना के लिए क्रान्ति भी शासन निरपेक्ष प्रत्यक्ष जन शक्ति के आधार पर ही चल सकती है।

साम्प्रदायिक विस्फोट के शमन में गांधीजी का जितना काम था वह हो चुका था। अब गांधीजी को अपने मौलिक काम में लगना था। निर्णय यह हुआ कि फरवरी १९४८ ई० के प्रथम सप्ताह में सेवाग्राम में देश भर के रचनात्मक कार्यकर्ताओं का सम्मेलन बुलाया जाय। गांधीजी उस सम्मेलन में रचनात्मक कार्य का दिशा निर्देश करनेवाले थे। दो साल भटकने के बाद हमें समुचित मार्ग मिलेगा ऐसी आशा हो चली थी। लेकिन इस बार की आशा भी प्रारम्भ में ही समाप्त हो गयी। बापू सेवाग्राम नहीं पहुंच सके। वह कांग्रेस के लिए अगले कदम की दिशा निर्धारित

कर सेवाग्राम के लिए रवाना होने वाले थे। उन्होंने जो सलाह रचनात्मक कार्यकर्ताओं को दी थी वही हिदायत कांग्रेस के लिए भी लिख रहे थे कि वह अधिकार में न जाकर लोक-सेवक-संघ के रूप में देश में फैल जाय। उन्होंने कांग्रेस के लिए जो मसविदा बनाया था उसके प्रारम्भ में ही आगे की क्रान्ति के मूलभूत तत्त्वों का दिग्दर्शन कर दिया था। उन्होंने साफ शब्दों में यह लिख दिया था कि लोकतंत्र की प्राप्ति के लिए हिंदुस्तान का भविष्य में जो संघर्ष करना पड़ेगा वह संघर्ष सैनिक शक्ति और जन शक्ति के बीच होगा। यही कारण है कि उन्होंने अत्यंत हिम्मत के साथ कांग्रेस को राय दी थी कि वह सत्ता में न जाकर जनता में फैल कर लोक शक्ति को संगठित करने के काम में लगे, *क्योंकि यह स्पष्ट है कि सैनिक* शक्ति और जन-शक्ति के संघर्ष में अगर जन शक्ति को विजयी होना है तो देश के सबसे शक्तिशाली और संगठित समुदाय को उस काम में लग जाना चाहिए। लेकिन सेवाग्राम की यात्रा से पहले ही ३० जनवरी ४८ ई० की शाम को भारत मातृ गाथा का निर्वाण हो गया। भारत स्तम्भित रह गया। एक बार सारा वातावरण निराशा से भर गया। गांधी के न रहने पर राजनैतिक नेताओं को विश्व के राजनैतिक इतिहास की परम्परा को छोड़कर नये मार्ग पर चलने की हिम्मत नहीं हुई। शायद बापू होते तो भी उनकी शिक्षा दीक्षा तथा सरकार उन्हें बापू की सलाह न मानने देता। बापू की अनुपस्थिति में यह और कठिन हो गया। रचनात्मक कार्यकर्ता भी निराश होकर बनी बनायी लीक पर ही चलने लगे।

ऊपर कहा गया है कि यद्यपि बापू के मार्ग दर्शन के अभाव में नयी तालीम पुराने ढर्रे पर ही चलती रही, फिर भी वह अधिक स्पष्ट और परिमार्जित होती गयी। यह प्रक्रिया नयी तालीम के प्रयोगों को अहिंसक समाज की क्रान्ति का वाहन तो नहीं बना सकी, लेकिन पुरानी तालीम के क्षेत्र में महत्त्व पूर्ण नमूना पेश कर सकी। सेवाग्राम के मार्गदर्शन में देश की विभिन्न रचनात्मक संस्थाओं में जो प्रयोग हुए उनसे देश के नेताओं को यह बताया जा सका कि शिक्षा में उत्पादक श्रम का स्थान क्या है। इन प्रयोगों से इतना साबित हुआ कि उद्योगों को शिक्षा में स्थान देने से *शिक्षित व्यक्ति अधिक व्यावहारिक तथा* व्यवस्थित बुद्धि का होता है। यद्यपि रूढ़िग्रस्त मानस होने के कारण लोगों को बुनियादी शिक्षा की बुनियाद को स्वीकार करने में कठिनाई होती रही फिर भी उसके व्यावहारिक स्वरूप को देश ने पहचान लिया और आज राष्ट्र की शिक्षा-नीति धीरे धीरे उस ओर झुक रही है। फलस्वरूप आज देश के सभी राज्यों में कुछ हेरफेर के साथ वर्धा शिक्षा-योजना को अपनाने का विचार चल रहा है।

इस प्रकार नयी तालीम की प्रगति के इतिहास का प्रथम अध्याय आखिरी दिनों में बापू जी के मार्ग दर्शन से वंचित होकर भी देश की शिक्षा के क्षेत्र में एक आवश्यक देन दे सका।

(गतांक से समाप्त)

[पृष्ठ ७२ का शेषांश]

विभक्त हुआ। इस प्रकार ईश्वरपरायण लोगों को स्वतंत्रता, समता और प्रेम प्राप्त होता जिसका मिलना बाहरके, संगठित समाजमें असंभव था। यद्यपि वे लोग सामान्य जनता के हृदय में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र के पारस्परिक संबंधों में कोई परिवर्तन नहीं कर सके, तो भी बाहरी पेचीदा परिस्थितियोंके बावजूद व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता का महत्व और व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दी। सामान्य जीवन के सपाट मैदान में वे एक ऊंचे टीले की तरह रहे। यह भी मानव समाज की प्रगति की दृष्टि से एक महान उपलब्धि ही थी।

●

शिक्षा और राष्ट्रीय एकता

श्री शंकरराव देव

आज कहीं का भी और कैसा भी सवाल हो उसका विचार विश्व के संदर्भ में ही करना पड़ता है और विश्व के संदर्भ में विचार करेंगे तो ही सही जवाब मिलना संभव है। विज्ञान देश और काल को नष्ट करके भिन्न भिन्न देशों और मानवों का समीप लाया है। लेकिन वह मानव के मनको समीप नही ला सका है और इसी में आज के संघर्ष और अशांति का मूल है। मानव के शरीर समीप आयें, लेकिन मन व्यापक नहीं हो तो जैसे आज हम देख रहे हैं मानव के शरीर और मन दोनों को ही खतरा है। विज्ञान देश और मानव को समीप ला सका इसका कारण विज्ञान में है उसी तरह मानव के मन को वह समीप नही ला सका इसका भी कारण विज्ञान में ही है। आज का विज्ञान अधिकांश फिजिकल है यानी वह भौतिक शास्त्र है। वह सृष्टि और मानव के अंदर जो जड़तत्व है उसीका शास्त्र है। लेकिन मानव केवल जड़ नहीं है। उसमें एक मनस्तत्व भी है जो चेतन से संस्पृष्ट है। यही कारण है कि केवल जड़तत्व को लेकर चलने वाला शास्त्र मानव के मन पर ज्यादा प्रभाव नहीं डाल पाता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र अभी तक एक भौतिक शास्त्र जैसा शास्त्र नही बन पाया है। बल्कि वह बन जाय तो भी मन के समग्र व्यापार का ज्ञान उसको हो जायगा ऐसा नहीं लगता है। क्योंकि आज मनोविज्ञान भी जड़तत्व को लेकर चलने वाल भौतिक शास्त्र ही है। चूँकि मन चेतन से संस्पृष्ट है इसलिए जब तक चेतन के शास्त्र का (सायन्स आफ स्पिरिट का) हम उपयोग नही करेंगे तब तक मनको वह जैसा और जितना है वैसा और उतना समझ नही पायेंग तथा मनको व्यापक बनाने का यह जो शिक्षण का काम है वह भी हम नही कर पायेंगे।

भारतीय शिक्षण परंपरा प्राचीन है और ऋषिमुनियों से प्रेरित और प्रसृत है। जिस चेतन शास्त्र को मनको व्यापक बनाने की शक्ति है उस चेतन के बारे में भारतीय ऋषि-मुनियों ने क्या कहा है यह जानना आवश्यक है। तभी आज की शिक्षा प्रणाली मन को व्यापक करने का काम कर सकेगी। नारद सनत्कुमार ऋषि के पास गया बड़ी नम्रता-पूर्वक उसका शिष्य बना और कहा "भगव शोचामि"। भगवन् मैं शोकमग्न हूं। "त मा भगव शोकस्य पार तारयतु" मुझे, हे देव, शोक के पार लगाइए। नारद मंत्रविद् था। फिर भी शोक-मुक्त नहीं था। इसका कारण वह स्वयं गुरु से कहता है–'सो अहं भगवो मंत्रविदेवास्मि। नात्मवित्"। हे भगवन् मैं केवल मंत्रवित् हूं, पर मैं आत्मा को नहीं जानता हूं। नारद शोक मुक्ति और सुख प्राप्ति चाहता है। 'सुख भगवो विजिज्ञास'। हे भगवन् मुझे सुख का मार्ग दिखाइये। यह नारद की गुरु से मांग है। इस पर सनत्कुमार ऋषि ने जवाब दिया-"यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति"। जो भूमा है वह सुख है, अल्प में सुख नही है। भूमा याना महान, व्यापक, निरतिशय। यानी जो व्यापक है वह अद्वैत है। एकमेवाद्वितीयम्। जो व्यापक है, जो अद्वैत है वही अमृत है और जो अल्प है, जहां द्वैत है वह मृत्यु है।" यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्प तन्मर्त्यम्।

जो एक महान और व्यापक (युनिवर्सल) है वह अनेक, लघु और विशिष्ट (पर्टिक्युलर) बनता है तब उसका" "बहुधा" स्वरूप हो जाता है। 'एकोहं बहुस्याम्' लेकिन यह जो 'बहु' है वह एक का ही स्वरूप है 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" सारी सृष्टि में और मानव समाज में जो विभिन्नता और विविधता हम देखते हैं उसका रहस्य यही है और यही मानव जीवन की बड़ी जटिल और गूढ़ समस्या है, 'गुह्यतमम्।' यह गुह्यतम है इसीलिए मानव मृत्यु और अमरत्व के बीच चक्कर काटता रहता है। वह नाना में एक को भूल जाता है तो मृत्यु को पाता है और नाना में एक को देखता है तो अमृतत्व को प्राप्त करता है। 'अविभक्तं विभक्तेषु।' युनिटी इन डायवर्सिटी–विविधता में एकता और डायवर्सिटी इन युनिटी–एकता में विविधता। जिन्होंने जीवन के इस रहस्य को पहचाना और जीवन में उसको उतारा, सुख

और शांति उन्हीको वरण करते हैं। भारतीय ऋषि-मुनियों ने इस जीवन-रहस्य को ठीक ठीक समझा था और धर्म (रिलीजन) अध्यात्म (स्पिरिच्युआलिटी) विचार या दर्शन (थाट) कला (आर्ट) संस्कृति (कलचर) आदि, जिन को (थिंग्स आफ दि माइण्ड) बुद्धि की चीजें कहते हैं उन मानवीय सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में उसे उतारने का प्रयास भी किया था और काफी हद तक सफलता भी प्राप्त की थी। उनकी इस सफलता का कारण यह था कि, बावजूद इसके कि यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे, वे सृष्टि के जन्म और स्थिति के इस धर्म को भी जानते थे कि-मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना कुण्डे कुण्डे नव पय.। (प्रत्येक दिमाग का अपना अपना विचार और प्रत्येक पोखर का अपना अपना पानी।) इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मान्यता देते हुए भी उन्होंने व्यक्ति को कुल या जनपद का एक घटक ही माना था और भौगोलिक और मानवीय भिन्नता क आधार पर जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में जो सह-धर्मी थे उनके विकास के लिए उनको स्वतन्त्रता या स्वायत्तता दी थी। यही कारण है कि भारतीय धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह हजारों वर्ष बहुत हद तक अबाध और शांत बहता रहा और यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने भिन्न भिन्न धर्म, संस्कृति और संप्रदायों को आत्मसात् करने की ओर समझौता करके उनके साथ सह-जीवन व्यतीत करने की एक विलक्षण धमिन दिखाई देती है। कई प्रकार के संकटों और आघातों के बावजूद भारत ही एक देश है जिसका आज भी अस्तित्व है-इसका भी यही कारण है। चीन एक ऐसा दूसरा देश था लेकिन वह आज अपनी प्राचीनता की आत्मा को खो बैठा है ऐसा लगता है।

आज देश के सामने नेशनल या इमोशनल इंटिग्रेशन (राष्ट्रिय या भावात्मक एकता) की एक बड़ी समस्या खड़ी हो गयी है ऐसा कहा जाता है और माना भी जाता है। लेकिन जिन शब्दों का हम उपयोग करते हैं उनका अर्थ स्पष्ट समझ कर करना चाहिए। नही तो साप साप कह कर रस्सी को ही पीटते रह जाने की संभावना है। कहा जाता है कि भारत के आज टुकडे-टुकडे हो रहे हैं और भारतीय लोगों में भावात्मक एकता का अभाव दीख रहा है। पर जब यह कहा जाता है कि भारत में कभी एक राष्ट्र की भावना नहीं थी तब मनमें प्रश्न उठता है कि जिन हमारे पूर्वजों ने 'दुर्लभ भारते जन्म, मानुष तत्र दुर्लभ' कहा उनके दिल में कौन सी भावना थी ? भारत के प्रति उनके मन में प्रेम या भक्ति न होती तो क्या वे कह पाते कि भारत में जन्म दुर्लभ है ? आज भी कौन भारतीय होगा जिसके मन में भारत के ऋषि मुनि, भारत का अध्यात्म, वेद, ब्रह्म-सूत्र, उपनिषद्, गीता, भिन्न भिन्न दर्शन, रामायण महाभारत आदि पुराणेतिहास-ग्रंथ, दर्शनकार, आचार्य, संत, कवि आदि के बारे में देश काल स्थान निरपेक्ष प्रेम या भक्ति की भावना नही है ? उनके नामस्मरण मात्र से आज भारतीय मन प्रफुल्लित होता है और उन ऋषि मुनियो, साधु संतो, आचार्य दर्शनकारों की कृति से उन्नत होता है। मस्तक झुक जाता है। प्राचीन काल में आजकी तरह यातायात और आवागमन के साधन नही थे, तो भी काशी के विश्वनाथ को रामेश्वर सेतु के पवित्र जल से रोज स्नान कराया जाता था। हम बच्चे थे तब तक भी यह सुनते आये हैं। हम जब सुनते थे तो हमारा मन पवित्र भावना से भर जाता था। और जो यह करते थे उनके प्रति नितांत आदर और भक्ति का अनुभव होता था। गंगा, नर्मदा, कावेरी आदि सात नदियां, सात पर्वत, सात नगरियां आदि का स्मरण हर एक भारतीय नित्य करता था। आज भी महाराष्ट्र के देहाती लोग कहते हैं-काशी जावे नित्य वदावे। रोज कहते रहना चाहिये कि काशी जाना है। वे केवल कहते ही नहीं है, उसके लिए पेट बाध कर पूंजी भी इकट्ठा करते रहते हैं। काशी पर किस का राज्य है या काशी पहुंचने के लिए बीच में कितने राज्यों में से गुजरना है यह उसे पता नही और पता लगाना वह जरूरी भी नहीं मानता। सदियों से काशी के पण्डितों का धर्म-निर्णय भारत के सभी पण्डित और सामान्य लोगों के लिए शिरोधार्य रहे हैं। आज उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सुप्त संघर्ष चल रहा है। लेकिन हम शंकराचार्य, कबीर, मीरा, या चैतन्य देव का नाम सुनते हैं, उनकी वाणी सुनते हैं या उनके गीत गाते हैं तो हमारे मन में दक्षिण, उत्तर, पश्चिम या पूर्व ऐसा कुछ ख्याल ही आता नहीं है

बल्कि ऐसा अनुभव होता है कि ये सारे हमारे हैं। किसी प्रकार भेद भाव के बिना उन सब को अमृत वाणी से हम पुष्ट हो रहे हैं।

इसको हम भारतीयो की भावनात्मक एकता नहीं मानेंगे तो क्या मानेंगे ? आज इसम कुछ कमी दीखती है तो इसका कारण दूसरा ही है। पश्चिम के साथ हमारा सपक आने के कारण हममें जो एक अभाव सी दशा से हम महसूस होने लगा और उसको दूर करने का हमने जो प्रयत्न शुरू किया वहुत वही इसका कारण है। भारतीयो में सदियो से इतनी भावात्मक एकता होते हुए भी यह जो कहा जाता है और वह कुछ हद तक सही भी है कि भारत कभी एक राष्ट्र नहीं था, पर इसका अथ इतना ही है कि समूच भारत को एक राज्य (One State) बनाने के प्रयत्न में भारत असफल रहा। इस क्षत्र म पाश्चात्यों की जो सफलता हम दीखने लगी उसके मुकाबले म हमारी यह असफलता हम ज्यादा खलन लगी। साथ ही इस एतिहासिक सत्य से कोई इनकार नही कर सकता कि भारत को अपनी इस असफलता के कारण काफी नुकसान उठाना पड़ा है। लेकिन साथ साथ यह भी समझ लना चाहिए कि पश्चिम में भी यह जो एक राष्ट्र और एक सरकार की कल्पना का उदय और विकास हुआ है यह अर्वाचीन काल म ही हुआ है। इससे पश्चिम को काफी लाभ भी हुआ है यह भी स्पष्ट है लकिन पश्चिम के राष्ट्रों में इस एक राज्य और एक सरकार की कल्पना का विकास जिस परिस्थिति में और जिस तरह हुआ है उसके कारण उसम एक प्रकार की आक्रामकता और सकीणता आ गई है। इसका ही एक परिणाम यह है कि उनके इस राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद और विश्वयुद्ध को जन्म दिया तथा राष्ट्रों का यह सार्वभौमत्व (सावरिनटी आफ नेशन्स) आज विश्व की एकता म एक महान रुकावट बन गया ह।

आज सारा ससार पश्चिम के ही विचार और आचारसे प्रभावित है और सामान्यतया प्रगति का यह लक्षण माना जाता है कि पश्चिम का अनुकरण करते जाय। लेकिन अब नेशनल स्टट के लिए भविष्य बहुत कम रह गया है। आज व्यक्ति की राजनैतिक चेतना (पोलिटिकल कान्शस) का अधिष्ठान राष्ट्रीय सरकार है और यही उसकी आजादी की बड़ी गैरण्टी है। इस लिए व्यक्ति को अपन लाभ या हित के लिए एक राष्ट्र का घटक नागरिक बनना पडता है। यद्यपि दूसरे जन समूह के साथ जुडन में यह एक बाधा है पर सच्ची जीवन शक्ति दूसरे लोगों क साथ अपन को जोडने में ही है। एसी हालत म जब हम राष्ट्रीय एकता की बात करत है तब यह ध्यान में लेना चाहिए कि यह भावात्मक एकता की बात लोगो के सामने नहीं है। हम जो राष्ट्रीय एकता चाहते हैं वह है एक सरकार और उसके लिए निष्ठा। भारत एक राष्ट्र न रहने के कारण जिस तरह कुछ हानि का शिकार हुआ उसी तरह उससे कुछ लाभ भी प्राप्त कर सका है। और वह ह विभिन्न सस्कृतियों और परपराओं की विविधता सपन्नता सहिष्णुता और अद्वय रूपी मूल्यो की प्रतिष्ठा। विश्व की एकता और शान्ति के लिए इन गुणा की नितात आवश्यकता है। इस लिए हम एक राज्य और एक सरकार की बात करते समय यह ध्यान रखना होगा कि एक अभाव की पूर्ति के लिए दूसरे एक अभाव को जन्म न दें।

आज कल हिन्दी वालो का साम्राज्यवाद जैसी एक बात सुनन म आती है। भारत म भी राजनतिक और सामाजिक क्षत्रो म साम्राज्यवाद रहा ह लेकिन धम सस्कृति भाषा आदि क्षत्रों म इस साम्राज्यवाद से भारत हमेशा अछूता रहा है। राजनतिक क्षत्र का वह साम्राज्य वाद भी अनाक्रामक रहा। सस्कृत भाषा का साम्राज्यवाद जैसी बात हमन कभी सुनी नहीं। आज भी सस्कृत को राष्ट्र भाषा बनाने की माग इधर उधर कही नहीं सुनाई देती है पर वह ना के बराबर है न वह उचित ही है। तो भी आज इस देश में सस्कृत की मान्यता कायम है और सस्कृत के प्रचार की माग होती है। यह इसलिए कि भारतीय धम दशन सस्कृति आदि का परिचय कर लेना हो तो सस्कृत का अध्ययन अत्यावश्यक है। यह सस्कृत की सपन्नता ही है जो उसे यह मान्यता दिला रही है। आज भी भारतीय पण्डितों में व्यवहार का माध्यम सस्कृत ही है। आज भारतीय लोक-व्यवहार के लिए ऐसी एक भाषा की आवश्यकता है और वह हिंदी हो सकती है हिंदी ही होनी चाहिये। लेकिन जब यह मांग होती है कि हिंदी राष्ट्रीय सरकारी भाषा हो और वह होती है

तो ही राष्ट्रीय एकता सधेगी, तब लोगों को इस माग में साम्राज्यवाद की गंध आने लगती है। क्योंकि आज की सरकार लोकशाही सरकार है यानी बहुमत से चलने वाली सरकार है लेकिन वह केंद्रीय राज्य है। इसलिये अहिंदी लोगों के मन में—सच्चा या झूठा—यह भय पैदा होता है कि हिंदी को राष्ट्र भाषा बनाकर उसके जरिए ये हिंदी भाषी लोग अपना राज्य कायम करना चाहते हैं।

पश्चिम का आज का राष्ट्रवाद एक व्यापक और आक्रामकवाद सिद्ध हुआ है। राष्ट्रीय सरकार–नेशनल स्टेट–एक केंद्रित संगठन है और उसकी प्रवृत्ति सारी सत्ता अपने में केंद्रित करने की रहती है। इसके फलस्वरूप उसके मातहत भिन्न भिन्न धर्मों, संस्कृतियों और सामाजिक विविध जीवन को पनपने के लिए मौका बहुत कम मिलता है। उसका झुकाव यूनिफार्मिटी को ही यूनिटी मानने की ओर होता है। उदार राष्ट्रवाद का इंग्लैण्ड एक नमूना है, तो भी इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड वेल्स आदि भूभाग में आज भी वहां के लोगों की अस्मिता अपनी अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रही है। आज भारत में जो हम आपसी संघर्ष देख रहे हैं, उसका भी मूल कारण यही है कि प्रादेशिक अस्मिता, संस्कृति, भाषा, साहित्य और समाज जीवन को भय लगा है कि भारत की यदि एक ही सरकार बनती है तो कहीं उनके अस्तित्व को धक्का न पहुंचे। इसलिए इस संघर्ष को केवल सत्ता का संघर्ष मानना सही नहीं होगा।

इस संबंध में यह भी सुना जाता है कि अंग्रेजों के समय हममें जो एकता और राष्ट्रीय भावना थी वह भी आज नहीं रही। लेकिन यह कोई अभूतपूर्व घटना नहीं है। रोमन और ग्रीक साम्राज्य से मुगल साम्राज्य तक संसार भर के सभी साम्राज्यों का यही अनुभव आया है और वही अनुभव ब्रिटिश साम्राज्य के अस्त होने के बाद यहां भी अनुभव हो रहा है। इतिहास पुनरावृत्त हो रहा है। साम्राज्य की शक्ति के और नीति के कारण साम्राज्यांतर्गत भिन्न भिन्न प्रदेशों में जो एकता दीखती है वह ऊपर से लादी हुई होती है। वह एकता ऐच्छिक नहीं है, जिंदा नहीं है। जैसे माला का धागा टूटते ही उसमें पिरोये हुये मणि बिखर जाते हैं, वैसे ही साम्राज्य के अस्त होते ही ये देश पहले जैसे थे वैसे ही अलग अलग हो जाते हैं। आज जो अरब राष्ट्र राष्ट्रवाद से प्रेरित होकर आपस में झगड़ते हैं वे ही एक जमाना था कि तुर्की साम्राज्य में एक जैसे थे। सौभाग्य से रोमन या तुर्की साम्राज्य का जो इतिहास है उसकी पुनरावृत्ति भारत में, ब्रिटिश साम्राज्य के अस्त होने के बाद, हम नहीं देख रहे हैं—इसके मुख्य दो कारण हैं। एक यह कि प्राचीन काल से भारतीय ऋषि मुनियों ने हम लोगों के हृदय में भारतीय भक्ति का बीजारोपण किया और उसका पोषण किया। दूसरा यह कि अर्वाचीन भारतीय जागरण की बुनियाद अध्यात्म और भारतीयता रही है।

इसलिए आज जिसे हम भारतीय विघटन की वृत्ति कहते हैं उसका भी यदि तटस्थ विश्लेषण करेंगे तो उसका सही स्वरूप समझ में आयेगा। आखिर आज भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों के लोगों की मांग क्या है? वे अपने प्रदेश की संपूर्ण स्वतंत्रता मांगते हैं या भारतीय संघराज्य के अंतर्गत स्वायत्तता मांगते हैं? तामिलनाड के द्रविड़ कड़गम जैसे थोड़े लोगों को छोड़ कर और कोई स्वयं दिल्ली से अलग होना नहीं चाहता है। वह अपने अपने प्रदेश में अपनी संस्कृति, भाषा, जीवन आदि की रक्षा के लिए स्वायत्तता चाहता है और ज्यादा से ज्यादा बुरा यही है कि वह दिल्ली की सत्ता में हिस्सेदार बनने की इच्छा और ईर्ष्या रखता है। द्रविड़कड़गम् वाले जो स्वतंत्र द्रविड़स्तान की मांग करते हैं उसका कारण भी यही है कि वे अपने को धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से भारत से इतना भिन्न मानते हैं कि दिल्ली के केन्द्रीय शासन से दब जाने का उनको डर है। यह जो अलग पन बनाये रखने की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है इसका कारण यह है कि भारतीय ऋषि, मुनि धर्म और संस्कृति का एक चैतन्यवस्तु के आधार पर संगम करने के अपने प्रयोग में उस हद तक नहीं पहुंच पाये और जहां तक पहुँचे वहां भी अधूरे रह गये।

भारत में आज जो संघर्ष दीखता है वह दर असल धर्म और संस्कृति का संघर्ष नहीं है बल्कि वह इंडिविजुआलिटी (Individuatiiy) और अटानमी, (Autonomy) तथा आटोक्रसी (Autocracy) और कलेक्टिविटी (Collectvity) या टोटलिटेरिया-

निज्म (Totalitarianism) का है। चाहे वह पोर शाही के ढंग का हो या साम्यवादी ढंग का—इस प्रकार का संघर्ष कोई नया नहीं है, बहुत सनातन है और यही भिन्न भिन्न साम्राज्यों के उदय और अस्त का कारण है। भारत में धर्म, संस्कृति और समाज जीवन की जो विविधता है उसको ध्यान में लेकर ही स्वतंत्र भारत को एक संघ राज्य घोषित किया। लेकिन नाम तो संघ राज्य रखा, पर सारी सत्ता दिल्ली में केंद्रित कर दी और यह आटनमी का झगड़ा तभी से शुरू हुआ जब संविधान बना। तब यह प्रकट था पर अब गुप्त रूप में है और कभी भाषा का तो कभी संस्कृति का रूप लेकर सामने आता रहता है। असली प्रश्न तो आटानमी इन यूनिटी का ही है, इण्डिपेण्डन्स का नहीं है। यदि यह विश्लेषण सही है तो आज के इन संघर्षों का इलाज भी दूसरे प्रकार का ही होगा और आज की परिस्थिति देखते हुए इसका सही इलाज यही है कि भारतीय संघराज्य के अंतर्गत सही स्वायत्तता प्रदान की जाय। यह स्वायत्तता केवल स्टेट या प्रांतों तक ही सीमित रह जाय तो काम नहीं बनेगा, परन्तु सामाजिक जीवन की जो छोटी सी छोटी इकाई होगी वहां तक उसे ले जाना होगा। देश का सौभाग्य है कि इस दिशा में कदम उठने लगा है और पंचायती राज्य की स्थापना इसी दिशा का पहला कदम है। यहां भी सवाल यही है कि ये पंचायतें भी कहीं केंद्रीय सरकार के शासन के तथा विकास योजना के साधन मात्र बन कर न रह जाय। जरूरत इस बात की है कि ये पंचायतें सही माने में लोगों के समग्र जीवन का विकास करने वाले राज्य या शक्ति—केंद्र बनें।

जो लोग विविधता को ही मानवीय जीवन की सम्पन्नता मानते हैं उनके लिए राजनैतिक शासन के बारे में भी कुछ न कुछ इसी दिशा में सोचना अनिवार्य है। इस मामले में हमारे पूर्वज ऋषि मुनि अनजान ही रहे हों और इस दिशा में कोई प्रयोग उन्होंने किया न हो सो बात नहीं है। उन लोगों ने ग्राम-पंचायत से लेकर सम्राट तक एक ऐसा जुड़ा हुआ संगठन खड़ा किया था जो जनता के विभिन्न धर्म, नीति, संस्कृति, साहित्य, कला, भाषा आदि सामाजिक जीवन की विविधता की रक्षा के लिए था उनमें दखल देने के लिए नहीं। उनको नियंत्रित या नियमित करने, या सत्ता के बल पर किसी को दबा कर किसी को उभारने का काम वे नहीं करते थे। परंतु उनका यह प्रयोग अल्प मात्रा में ही सफल हो पाया।

एकता के मूल आधार हैं अध्यात्म (स्पिरिट) और संस्कृति (कल्चर)। क्योंकि एकता मन से संबंधित वस्तु है। मन के मामले में सैनिक या प्रशासकीय सत्ता काम नहीं आती है। इसलिए एकता की स्थापना और उसका दृढ़ी करण सैनिकों या राजनीतिज्ञों का काम नहीं है। यह तो सत्पुरुष शिक्षा और शिक्षकों का काम है। इसलिए भारत की एकता को यदि हम बद्धमूल करना चाहते हैं और उसे शाश्वत बनाना चाहते हैं तो यह काम सत्पुरुष शिक्षा और शिक्षकों का है यह समझ कर उसकी रचना और संगठन करना चाहिये। यदि इस बात को हम मानते हैं कि भारत की भावात्मक एकता का काम सत्पुरुष शिक्षा और शिक्षकों का है यानी अध्यात्म और संस्कृति का है तो हमारे ऋषि मुनियों ने इस बारे में जो कुछ सोचा है और किया है उससे हमें बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। मुख्य चीज-अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति वगैरे जो मन की चीजें हैं वे उन ऋषि मुनियों के लिए 'एक चेतन' की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार और उस 'एक चेतन' के साक्षात्कार के साधन थे। यह मानकर इनका विचार और विकास किया है। यही इस क्षेत्र की उनकी सफलता का कारण था। साथ ही इसी तत्व के आधार पर उन्होंने जीवन के जड़ या भौतिक क्षेत्रों में भी प्रयोग किया, लेकिन उनको बहुत कम सफलता मिली। आज हमें इसका चिंतन और खोज करना होगा कि राजनैतिक आदि शरीरगत भौतिक चीजें भी व्यापक पैमाने पर उस एक चेतन की अभिव्यक्ति के प्रकार कैसे बनें और एक चेतन के साक्षात्कार के साधन कैसे बनें ? चूं कि ये भौतिक हैं इस लिए इन्हें वह रूप देना अधिक कठिन है। क्योंकि अर्थ और काम का संबंध मानवीय जीवन में जो जड़तत्व हैं उनके साथ है।

हमारे पूर्वज इस बात को ठीक तरह से समझ गए थे और इसीलिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों को पुरुषार्थ कहा। इसका सही अर्थ यह है कि मनुष्य को

अपने काम की तृप्ति और अर्थ की प्राप्ति धर्म से यानी नैतिक साधनों से करनी चाहिए। लेकिन यह बहुत मुश्किल काम है। ऐसा लगता है कि प्रारंभ से ही लोगों की धारणा बन गई कि ये चारों अलग अलग स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं। इसी तरह गुण और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण भी उन्होंने मान और उसका भी दुःख से नतीजा यह आया कि व्यक्ति और समष्टि दोनों विच्छिन्न हुए। यही कारण है कि व्यक्तित्व और समाज को अविच्छिन्न करने का उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। सही माने में पुरुषार्थ एक ही है, मोक्ष। चूंकि मोक्षार्थी का भी अर्थ और काम के बिना निस्तार नहीं है, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि मोक्षार्थी को अपने अर्थ की प्राप्ति और काम की तृप्ति धर्म से करनी चाहिए। इस तरह से मोक्ष ही एक पुरुषार्थ बनता है और मोक्षार्थी के लिए काम और अर्थ की प्राप्ति धर्म से ही करनी आवश्यक होती है तो समाज को श्रेष्ठ-कनिष्ठ धर्म के आधार पर चार वर्णों में बांटना अनावश्यक हो जाता है। यह रहेगा तो ही व्यक्तित्व और समाज दोनों अविच्छिन्न होंगे। अर्थात अपने जीवन की पूर्णता के लिए हर एक को संपूर्ण नैतिकता यानी अहिंसा अपनानी होगी।

अध्यात्म (स्पिरिट) और भौतिक (बाडी) के बीच का सेतु नीति है। जीवन के राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक आदि क्षेत्रों में जो भिन्न भिन्न पुरुषार्थ या लक्ष्य हैं उनकी प्राप्ति के लिए हमारा व्यवहार होगा, उसका आधार नीति होगी और उसके लिए जो संस्थायें कायम करनी होंगी उनके आधार तत्व होंगे-राजनैतिक स्वायत्तता (पोलिटिकल अटानमी) आर्थिक विकेंद्रीकरण (इकोनौमिकल डीसेंट्रलाइजेशन) और सामाजिक समता (सोशल इक्वालिटी)।

जैसे पहले कहा है भारत में भी राजनैतिक स्वायत्तता और आर्थिक विकेंद्रीकरण के आधार पर समाज का संगठन खड़ा करने का प्रयत्न किया गया था पर वह टिका नहीं। इसके दो कारण थे-एक सामाजिक समता पूर्ण रूप से स्थापित नहीं थी और समाज की रक्षा का अंतिम साधन सैनिक या राजनैतिक (प्रशासकीय) शक्ति ही था। केंद्रीकरण और आक्रमण-शीलता उन दोनों शक्तियों का गुण धर्म है। इसलिए इसके साथ राजनैतिक स्वायत्तता आदि तत्वों का विरोध आता है। इसीलिए रक्षा के लिए सैनिक और राजकीय शक्ति के बजाय किसी तीसरी शक्ति की खोज करनी होगी और उसी का सहारा लेना होगा। यह स्पष्ट है कि वह तीसरी शक्ति नैतिक शक्ति यानी अहिंसा ही हो सकती है। गांधी जी ने अपने जीवन-काल में इसका ही प्रयोग किया और अपने सारे प्रयोग के निचोड़ के रूप में देश और दुनिया को बुनियादी तालीम जैसी नयी शिक्षा प्रणाली भेंट की।

☆

भूल सुधार

● सितम्बर '६२ के अंक में पृष्ठ ३३ पर नीचे से दूसरी पंक्ति में पढ़े—'मनुष्य मनुष्य के साथ ।'

● पृष्ठ ४४ के पहले कालम में ऊपर से आठवीं पंक्ति में 'यह देखने की जरूरत' से जोड़ लें—'नहीं है कि हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्म परख क्या होगी ? कहते'

माह नवम्बर '६२ से 'नयी तालीम' का वार्षिक चन्दा ६ रु० हो गया ऐसी सूचना इसी अंक में दी गयी है। लेकिन जिन मित्रों का चन्दा पहले से जमा है उन्हें उतने में ही साल भर मिलती रहेगी। चन्दा समाप्त होने पर ६ रु० जमा करना होगा।

(व्यवस्थापक)

भारतीय किसान को क्या चाहिए ?

[यह टिप्पणी ल्दन 'टाइम्स' की है। दो गांवों के सर्वेक्षण के आधार पर लेखक इस नतीजे पर पहुंचा है कि समग्र नयी तालीम, गाव के जीवन के हर पहलू को लेकर चलनेवाली तालीम ही हमारे गावों को बदल सकती है। केवल आर्थिक कार्यक्रम एकांगी सिद्ध हो चुका है। इसलिए अब एक ही रास्ता रह गया है समग्र नयी तालीम का। धीरेनभाई की 'ग्राम-भारती' इसी तत्व पर आधारित है। स०]

एशिया के किसान की गरीबी सामान्य बात है। एशियाई सरकारों ने आर्थिक प्रगति को जो प्राथमिकता दी है वह व्यापक है। पश्चिम की सहायता प्रधान प्रश्न है। जब हम विश्व की पचीस प्रतिशत से अधिक आबादी पर लागू होनेवाले इन सिद्धांतों को गाव के लोगों के जीवन ■ रुपयों के सामने रख कर देखते हैं, क्योंकि एशिया के करोड़ों लोग गांवों में ही रहते हैं, तो उन सिद्धांतों की पूर्वनिश्चित उपयुक्तता बहुत कुछ खतम हो जाती है। कांग्रेस पक्ष के मुखपत्र 'आर्थिक समीक्षा' में भारत ■ दो गांवों का जो अध्ययन प्रकाशित हुआ है वह उन पाश्चात्य लोगों की, जो भौतिक विकास को ही गाव की पहली आवश्यकता मानते हैं आखें खोल देगा। केवल पश्चिमवालों की ही नहीं, बल्कि दिल्ली में बठे हुए योजना बनानेवालों की भी आखें खोलेगा जो बैठे बैठे बुद्धि से चूल में चूल मिलाते रहते हैं। सच तो यह है कि गाव किसान की पूरी दुनिया है, और उसके विश्वास, उसकी परपराएँ और उसका समाज इतना कठोर है कि आर्थिक फावर की धार इतनी तेज नहीं है कि वह खुद अदर घुस कर अपना स्थान बना ले। जीवन को यदि बदलना है तो एक नहीं, कई पहलुओं से एकसाथ प्रयत्न करना होगा।

अधिक रुपया कमाने की इच्छा का सादा उदाहरण लें। क्या यह इच्छा सर्वव्यापी थी ? बिलकुल नहीं। एक गाव जो उस शहर से चार मील है जहा औद्योगिक विकास का काम आरभ हो रहा था, लगभग दो तिहाई लोगों ने स्वीकार किया कि वे अधिक आय चाहते हैं, लेकिन दूसरे गाव में जो कस्बा के पास है और औद्योगिक परिधि के बिल्कुल अदर है आधे से कुछ ही अधिक लोगों ने वह इच्छा जाहिर की। अधिक आमदनी का साधन अधिक उत्पादन है इस सबध की सजगता दोनों गावों में भिन्न मात्रा में पायी गयी। पहले गांव में जहां केवल पचीस प्रतिशत लोगों ने यह माना तो दूसरे गांव में चालीस प्रतिशत ने माना। इन किसानों ■ एक ■ जो बात प्रकट हुई वह वही है जो अर्थशास्त्र का एक सामान्य नियम है कि मनुष्य जब काम करता है तब काम और आराम का समान विभाजन करके करता है और उसे जो भी अवसर मिलता हो उसमें कम से कम आराम, अधिक से अधिक काम और अधिक आय के बीच सतुलन बैठाकर करता है। इन गावों में धरती ही जीवन का एकमात्र आधार है इसलिए इस परिस्थिति को सामने रख कर ही गाव का आदमी अपनी पसद करता है। पहले गांव में आधे से अधिक लोगों ने स्वीकार किया कि उनको पूरा रोजगार नहीं मिलता। जब वैकल्पिक उद्योगों के बारे में उनसे प्रश्न पूछा गया तो आधे तो ऐसे निकले जो खेती को छोड कर अन्य कुछ सोच ही नहीं सकते थे, बाकी बिल्कुल ही अनजान थे। उनके लिए शहर चार ही मील की दूरी पर था, लेकिन उनको काम ■ जो अवसर मिल सकते हैं उनकी जानकारी तो चार हजार मील दूर थी।

दूसरे गांव में जहा कारखाने तक आने जाने में बड़ी आसानी है, लोगों ने बातचीत के दरम्यान जो भाव व्यक्त किया वह और भी स्तभित कर देनेवाला है। उन

को यह मालूम था कि कारखाने में उनको काम मिल सकता है, पर शायद उनको यह मालूम नहीं था कि वहा गाव की औसत आमदनी से लगभग तिगुनी आमदनी हो सकती है। वे अपना गाव छोडनको तैयार नही थे, क्योंकि उनका परिचित ससार उतना ही था। यद्यपि कारखाना गाव से दिखाई देता था, फिर भी वह उनके लिए दूर था, पहुच के बाहर था। समव है शहरी परि-स्थितियों के ज्ञान का उन लोगो के मन पर कुछ हद तक प्रभाव पडा हो। एक गाव में जो कि औद्योगिक क्षेत्र के अतर्गत था उसमें लगभग ७२ प्रतिशत लोगो ने अपने गाव के आर्थिक अवसरो के प्रति असतोष प्रकट किया और दूसरे गाव में जो शहर से चार मील दूरी पर था केवल ४१ प्रतिशत लोग थे जिनके मन में वैसा असतोष था। बडे अनुताप के साथ लेखक आगे लिखता है–' ऐसा दीखता है कि ग्रामीण अभी तक अपने घरौंदे में अदर ही हैं और कोई बाहरी शक्ति उसे फाड़ने में समर्थ नहीं हो पायी है।'

स्थिति-परिवर्तन के प्रति यह जो अनिच्छा है इसका विश्लेषण करने पर भाग्यवाद, ज्ञान की कमी, सामाजिक जडता आदि कुछ कारण दीखते हैं। इस प्रकार के निरीक्षणो द्वारा जो असगत उत्तर निकलते हैं उनको देख कर सामाजिक सशोधन में लगे हुए किसी भी पाश्चात्य को निराशा होगी। निष्कर्ष यही निकलता है कि–

यदि गाव को अपनी परिधि विस्तृत करनी है तो वह एकमात्र शिक्षासे ही सभव है और वह भी ऐसी शिक्षा से जो गांव तक पहुँचायी जा सके, ग्राम-जीवन के हर पहलू को छू सके, ऐसे शिक्षण से नहीं जो कुछ मील दूर मिले। औद्योगिक क्रांति करना एक बात है, गांव को बदलना बिल्कुल दूसरी बात है। और औद्योगिक क्रांति के लिए यदि बदला हुआ गांव आवश्यक है तो उसके उन तत्वों पर कहीं अधिक विचार करना होगा जो आर्थिक नहीं हैं। एशिया के गांव बुद्धिवादी आर्थिक उडान को अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं।

('नैशनल हेराल्ड' से साभार)

मुझे बार-बार विचारने पर साफ लगता है कि बापू को बापू बनानेवाली चीज उनकी सत्य की अखण्ड उपासना है। इसी सत्य से निर्भयता आयी, जिससे ईश्वर में श्रद्धा रखकर चलने के लिए सत्य के प्रयोगों का मार्ग खुलता ही गया। सत्य की अखण्ड उपासना और सत्य का आचरण करने की पूरी तैयारी मनुष्य को किस चोटी पर नहीं पहुँचा देगी, यह कहना मुश्किल है।

महादेवभाई देसाई

बच्चे की शुरू से शिक्षा (२)

मल-मूत्र-त्याग

राममूर्ति

●

बच्चे की ट्रेनिंग के बारे में सब पालकों की एक दृष्टि नहीं रहती। कुछ तो यह चाहते हैं कि उनका बच्चा जल्द से जल्द हर काम सही ढंग से करना सीख जाय, लेकिन कुछ ऐसे हैं जो दो ढाई साल तक बच्चे के मल-मूत्र-त्याग के प्रश्न को लेकर चिंतित नहीं होते। बच्चा कपड़े में टट्टी करता रहे और वे प्रेम पूर्वक कपड़े साफ करते रहें, इस स्थिति में उन्हें पूर्ण समाधान रहता है। ये दोनों रुख शिक्षण की दृष्टि से असंतुलित हैं। प्राय ऐसा होता है कि हम अपने अनुभव, कल्पना या विश्वास के साँचे में बच्चे को ढालना चाहते हैं और बारबार हमारी इसी दिशा में कोशिश रहती है। हम यह नहीं सोचते कि हम बच्चे के पालक हैं, मालिक नहीं, वह अपना व्यक्तित्व अपनी स्वतंत्र जीवन दिशा और अपनी सामर्थ्य लेकर पैदा हुआ है। वह अपने में पूर्ण है, माता पिता की छाया मात्र नहीं है, अवश्य माता पिता का अंश उसमें है।

कभी कभी ऐसा होता है कि कुछ पालकों को हर वक्त ट्रेनिंग का भूत सवार रहता है। इसका यह असर होता है कि बच्चे में सफाई को लेकर खब्त पैदा हो जाता है। वह बड़ा होने पर हर वक्त 'भिन भिन' करता रहता है। ट्रेनिंग को लेकर ऐसे पालकों का अपने बच्चों के साथ संघर्ष सा छिड़ा रहता है। इस सिलसिले में ऐसा होता है कि जब पालक शिक्षण का आग्रह छोड़ देते हैं तो बच्चा सही ढंग अपनाने लगता है। यह ऐसा शायद अनुकरण से करता है। लेकिन दूसरी ओर ऐसा भी होता है कि अगर बच्चे को प्रकृति के भरोसे छोड़ दिया जाय तो उसमें अपना अभिक्रम जल्द जगता ही नहीं। इसलिए यह मानकर चलना ही चाहिये कि सभी बच्चों के लिए शिक्षण का न कोई एक समय है, न एक तरीका। बच्चा कब क्या सीखने के लिए तैयार है, यह परखना माता पिता का काम है, और वह परख कर प्रोत्साहन द्वारा उसे आगे बढ़ाना शिक्षण की प्रक्रिया है। हर क्रिया में बच्चे का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि होनी चाहिए। माता-पिता, बुजुर्ग या गुरु का आग्रह—उसके पीछे नेकनीयती चाहे जितनी हो—कभी स्वतंत्र शिक्षण का स्थान नहीं ले सकता। इसलिए किसी चीज की ट्रेनिंग शुरू करने के पहले यह देख लेना जरूरी है कि बच्चा कुछ थोड़ा भी तो समझने लायक हो जाय। अगर बच्चा रोज करीब एक ही समय पर मलत्याग करता है तो उसे शौच-स्थान पर बिठाना शुरू कर देना चाहिये। यह ७ से १२ महीने के भीतर हो सकता है। उन बच्चों के साथ ऐसा करने में आसानी होती है जो सुबह नाश्ते के बाद टट्टी करने लगते हैं। लेकिन जिन बच्चों का वक्त बंधा नहीं बंधता, उनके संबंध में कठिनाई होती है। वह हमारे आग्रह का उत्तर अपने विद्रोह से देने लगता है।

१२ से १८ महीने के बीच बच्चे का ध्यान अपने आप मल-मूत्र-त्याग की क्रिया की ओर जाने लगता है। ऐसी हालत में अगर उसका मल-मूत्र त्याग का समय भी बंध चला हो तो मा को चाहिए कि समय का अनुमान करके बच्चे को दस पाँच मिनट शौच—स्थान पर बिठाये और अगर वहाँ वह मल-त्याग करना शुरू करदे तो उसे प्रोत्साहित करे। इस तरह शौच स्थान पर बैठना और मल-त्याग करना बच्चे के लिए गर्व का विषय बन जायगा। लेकिन अगर बच्चा इस तरह सहयोग नहीं करता तो धैर्य रखना चाहिए। इस मामले में उसके असहयोग या जिद को अपनी जिद से दबाने की कोशिश करना बेकार है।

कुछ माता-पिता अपनी तरफ से कुछ शुरू न करके दूसरे साल में कुछ महीने और बीतने देते हैं। ऐसा देखा जाता है कि कुछ बच्चे बिना सिखाये ही शौच की आवश्यकता महसूस होने पर मां को इशारा करने लगते हैं। जो बच्चे इशारा न करें, लेकिन नाश्ते के बाद शौच की जरूरत महसूस होती है, उन्हें शौच

स्थान पर बिठाना चाहिए। बिठाना ही नहीं चाहिए, बल्कि मा के द्वारा बच्चे को प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए। बच्चे को यह मालूम होना चाहिए कि इशारा करने से वह या सही स्थान पर शौच करने से मा खुश होती है। मा की खुशी किस हद तक शैक्षणिक प्रक्रिया बनायी जा सकती है इसका अनुमान हम लोगों को नहीं रहता। हम समझते हैं कि डाट-डपट और मार पीट से ही मनुष्य सीखता है। बच्चे के शिक्षण में यह दृष्टि घातक है। कई बच्चों को पैंट या जांघिये आदि में टट्टी हो जाने से घिन लगती है। उसकी इस प्रतिक्रिया का लाभ उठा कर मा को कहना चाहिए कि– 'मुझे पहले बता दिया करो तो कपड़ा नहीं गंदा होगा।' एक बार कहने से काम नहीं चलता, यह बात बार बार दुहरानी चाहिए। जो बच्चे डेढ़ साल की उम्र में भी इशारा न करें या टट्टी से जिन के मन में घृणा पैदा न हुई हो उन्हें कुछ समय नंगा छोड़ना चाहिए। धीरे धीरे बच्चा टट्टी करने के बाद माको बताना शुरू करेगा, फिर पहले बताने लगेगा। मा के प्रोत्साहन भरे शब्दों में बड़ी शक्ति है। यह याद रहे कि प्रोत्साहन देना एक बात है और रोज घण्टे भर उपदेश का कार्यक्रम बना लेना बिल्कुल भिन्न बात है। शिक्षण के लिए धैर्य चाहिए। डराना, लज्जित करना या उपहास करना आदि का शिक्षण के साथ मेल नहीं है।

बच्चे के लिए परिवार के शौचालय से अलग एक स्थान बनना चाहिए जो उसके लिए सुविधाजनक हो और जिसके संबंध में बच्चा यह समझे कि नया शौचस्थान विशेष रूप से उसके लिए बनाया गया है। बच्चे कभी कभी अजीब किस्म से जिद दिखाते हैं। बिठाने पर व सही जगह पर बैठ तो जायेंगे, लेकिन जब तक बैठे रहेंगे टट्टी नहीं करेंगे, लेकिन उठते ही थोड़ी दूर जा कर टट्टी करेंगे या ऐसा भी करेंगे कि घंटों बाद तक टट्टी रोक रखेंगे। बच्चों की इस शरारत पर बड़ी खीज होती है, लेकिन मन के व्यापारों को समझना बहुत मजेदार होता है।

बच्चे की इस जिद को कैसे दूर किया जाय, यह प्रश्न है। एक उपाय यह है कि बच्चा जब तक शौच के लिए बैठा रहे मा भी उसके साथ बैठी रहे और उसे प्रोत्साहित करती रहे। लेकिन बच्चा अगर कुछ मिनट बाद बिना टट्टी किये उठना चाहे तो उसे उठने दे और अगर वह अलग जाकर टट्टी कर देता है तो यह समझ ले कि वह शरारत नहीं कर रहा है, बल्कि वह दिखाने की कोशिश कर रहा है कि वह कितना स्वतंत्र है। दूसरा उपाय यह भी है कि अगर बच्चे की जिद कुछ दिनों तक कायम रहता है तो उसे छोड़ देना चाहिए, और कुछ हफ्ते बात जाने के बाद ही फिर कोशिश शुरू करनी चाहिए। इस तरह समझ बूझ कर माको बच्चे को प्रोत्साहित करती रहना चाहिए। प्रोत्साहन के तौर पर नये कपड़े, प्रिय खिलौने, रुचि का भोजन आदि भी देना अच्छा होता है।

अगर ऐसी स्थिति हो कि बच्चे को टट्टी करने में किसी कारण से कष्ट होता हो तो इलाज करना चाहिए। दर्द के भय से भी बच्चे टट्टी करने से बचना चाहते हैं।

बच्चे की जिद का जवाब जिद से कभी न दिया जाय, बल्कि उपेक्षा की जाय। मा के क्रोध से शुरू में ही अगर सफलता नहीं मिली तो बच्चे में आत्म भर्त्सना पैदा होती है। लज्जित करने की प्रक्रिया उसे सफाई के बारे में वहमी और नाजुकमिजाज बना देती है। दोनों ही स्थितियाँ बुरी हैं। धैर्य और प्रोत्साहन, धैर्य और प्रोत्साहन–बस यही प्रक्रिया प्रामाणिक है।

☆

नयी तालीम परिसंवाद, सेवाग्राम

अगस्त की २८, २९ और ३० तारीखों को सेवाग्राम में नयी तालीम के चुने हुए कार्यकर्ताओं की एक गोष्ठी हुई जिसमें नयी तालीम की विविध समस्याओं पर गंभीरता पूर्वक विचार हुआ। दिशा-संकेत की दृष्टि से उस चर्चा का सार हम नीचे दे रहे हैं।

बुनियादी शिक्षा की स्थिति

१ पिछले वर्षों में राज्य-सरकारों द्वारा बुनियादी शिक्षा का जो काम हुआ है उसमें उसका सच्चा स्वरूप बहुत कम देखने को मिलता है। इसका मुख्य कारण यह है कि किसी शिक्षा पद्धति को सफलतापूर्वक अमल में लाने के लिए विचार,तथा व्यवस्था सम्बन्धी जिन विविध अनुकूलताओं की आवश्यकता होती है उसका सर्वथा अभाव रहा है। बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय नीति के तौर पर मान्य किये जाने के बावजूद उसे जो प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिली, बल्कि पुरानी शिक्षा की प्रतिष्ठा ज्यों-की-त्यों बनी रही। बुनियादी शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए ऊंची शिक्षा तथा सरकारी नौकरियों का रास्ता लगभग सब राज्यों में बंद रखा गया है। बुनियादी शिक्षा में विद्यार्थियों की योग्यता आंकने की जो विशिष्ट पद्धति थी उसकी उपेक्षा करके परीक्षा की प्रचलित ढांचे में ही उसे बिठाने की कोशिश की गयी ऐसी पूर्णतः प्रतिकूल परिस्थिति में बुनियादी शिक्षा से सफलता की अपेक्षा रखना अन्याय है।

२ फिर भी यह संतोष का विषय है कि देश में कुछ ऐसी सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएं हैं जिनके शिक्षकों तथा प्रबंधकों ने जिस प्रयोग शीलता का परिचय दिया है उसके कारण बुनियादी शिक्षा की सफलता की स्पष्ट संभावनाएं प्रकट हुई हैं। उनसे यह विश्वास दृढ़ होता है कि बुनियादी शिक्षा के जो मूलभूत सिद्धांत हैं वे सही हैं। आज बुनियादी शिक्षा की विफलता की जो बात कही जा रही है वह साफ साफ इस कारण है कि उसके मूल सिद्धांत सही ढंग से लागू ही नहीं किये गये।

३ शिक्षा-शास्त्र नित्य विकासशील है इसलिए शिक्षा की कोई पद्धति चाहे वह कितनी भी नयी और अच्छी हो, हमेशा के लिए नयी और अच्छी नहीं हो सकती। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि कुछ थोड़ी ही संस्थाओं में सही इस प्रयोग को दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाना चाहिए। और किसी एक स्थान पर पूर्व बुनियादी से उत्तम बुनियादी तक की क्रमिक शिक्षा का संपूर्ण दर्शन मिले इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षा के एक विश्वविद्यालय की स्थापना होनी चाहिए।

प्रयोग तथा अनुसंधान की दिशा

४ प्रयोग और अनुसंधान का उद्देश्य बुनियादी शिक्षा की समस्याओं का हल ढूंढना तथा उसकी मान्यताओं का निरीक्षण-परीक्षण करना होगा।

५ (१) विज्ञान के कारण मानव के जीवन में सर्वांगीण विकास की जो संभावनाएं पैदा हुई हैं उनकी पूर्ति के लिए विकेंद्रित उद्योगों तथा खेती की टेकनालोजी की तरक्की में आधुनिक वैज्ञानिक उपायों का प्रयोग किया जाय।

(२) विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक प्रयोग किये जायं—मुख्य रूप से 'अथारिटेरियन' समाज को बदलने की दृष्टि से स्वतंत्र विचार-शक्ति और कर्तृत्व-शक्ति के विकास के लिए।

(३) प्रगतिशील समाज के लिए आवश्यक नये नेतृत्वके विकास की दिशामें प्रयोग हों।

(४) दुनियाँ की ज्ञान-साधना तथा प्रचलित ज्ञान प्रवाह के साथ अपने काम का पूरा सम्बध रहे तथा आदान-प्रदान की व्यवस्था हो।

६ अगर प्रयोग वैज्ञानिक ढग से चलेगा तो उसमें से पर्याप्त मात्रा मे शास्त्रीय साहित्य का निर्माण होना स्वाभाविक है, फिर भी इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

▪ आम जनता के पास विचार पहुँचाने वाला 'पाप्युलर' साहित्य का निर्माण हो।

▪ अपने चारों तरफ के समाज की समस्याओं का अध्ययन किया जाय तथा विद्यालय में प्राप्त नये ज्ञान को समाज तक पहुँचाने का उपाय किया जाय।

अबतक के काम का मूल्याकन

९ अब तक बुनियादी शिक्षा के सरकारी या गैर सरकारी जो प्रयोग हुए हैं उनमें किस दिशा मे क्या सफलता या विफलता हुई है उसकी सुव्यवस्थित समीक्षा सर्व-सेवा-सघ की ओर से हो। ऐसा करने से अब तक के दोषों तथा अपूर्णताओं को दूर करने मे सुविधा होगी। इस काम में नयी तालीम आन्दोलन मे लगे तथा सरकार की ओर से काम करने वाले मित्रों और सस्थाओं से मदद ली जाय।

१० केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से तत्काल यह अपेक्षा है कि वे बुनियादी शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए ऊँची शिक्षा तथा सरकारी पदों का दरवाजा खोल दें। बुनियादी के विद्यार्थियों को प्रतियोगितामूलक सरकारी परीक्षाओं मे भी बैठने का अवसर मिलना चाहिए।

११ यद्यपि श्रमाधारित जीवन की साधना और योग्यता विकसित करना नयी तालीम का ध्येय है, फिर भी सरकारी तथा जीविका के दूसरे क्षेत्र भी समाज के आवश्यक कार्य हैं। उनमें व्यक्तिगत लाभ के बदले सेवाभाव का समावेश सही शिक्षा का परिणाम होना चाहिए। इस लिए बुनियादी शिक्षा के विद्यार्थियों मे यह भावना कदापि नहीं पैदा होने देनी चाहिए कि शिक्षा की इस पद्धति को स्वीकार करने के कारण वे किसी अवसर से जबरदस्ती वचित किये जा रहे हैं। इस लिए उनके लिए हमारी ओर से सब रास्ते खुले रहने चाहिए।

१२ अगर सरकार तथा विश्वविद्यालय बुनियादी शिक्षा की 'असेसमेंट-पद्धति' को कुछ विद्यालयों तक ही सीमित प्रयोगात्मक मान्यता दगे तब भी बुनियादी शिक्षा को आगे बढ़ाने में मदद मिलेगी।

राष्ट्र-व्यापी नयी तालीम

१३ नयी तालीम को देश व्यापी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश के लोग उसको समझें और अपनायें। नयी तालीम के सामने समाज-परिवर्तन का जो विशाल चित्र है यह केवल बच्चों की तालीम से नहीं साकार हो सकता। उसके लिए देश मे लोक शिक्षण भी नयी तालीम के कार्यकर्ताओं का एक महत्वपूर्ण अग है। यह सही है कि अगर बच्चों की शिक्षा मे ऊपर बताए हुए प्रयोग और सशोधन होंगे तो नयी तालीम को लोक प्रिय तथा राष्ट्र व्यापी बनाने में मदद मिलेगी।

१४ देश में प्रचलित शिक्षा की सामान्य समस्याओं में नयी तालीम के कार्यकर्ता दिलचस्पी लें तथा उनके माध्यम से शिक्षा के सम्बध मे लोक-जागृति पैदा करें। इस दृष्टि से वे शिक्षित वर्ग, सरकारी अधिकारी, पचायत के पदाधिकारी, शिक्षक, विद्यार्थी आदि के साथ आदर-पूर्ण सपर्क स्थापित तथा विचार का आदान-प्रदान करें।

१४ कार्यकर्ता विशेष रूप से माता पिता से सपर्क करें और उनके जीवन मे नयी तालीम के मूल्यों को प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करें। इसके लिए बालक शिक्षक सघ आदिकी स्थापना करें।

१५ बाल मंदिर के द्वारा लोगों को नयी तालीम का भव्य दर्शन मिलता है इसलिए बाल-मदिर जहाँ योग्य शिक्षक मिलें खोले जाय।

१६ शिक्षण-सप्ताह मनाये जाय तथा सभा-सम्मेलन आदि विचार प्रचार के सारे साधन अपनाये जाय।

१७ नयी तालीम के काम को बल और गति देने के लिए सर्व-सेवा-सघ की एक नयी तालीम समिति बनायी जाय। साथ ही प्रांतीय नयी तालीम सघों को भी सक्रिय किया जाय। जहाँ इस प्रकार के संघ नहीं हैं वहाँ कायम किये जाय। सर्व-सेवा सघ की नयी तालीम समिति काम करने वाली सस्थाओं के साथ सबध रखे और उनका मार्ग-दर्शन करे। यह समिति गैर सरकारी तौर पर चलने वाली नयी तालीम की सस्थाओं को प्रमाणित करें।

'सोशल डाइनेमिक्स' के रूप म नयी तालीम

१८ नयी तालीम आर्थिक योजना की पूरक प्रक्रिया नहीं है। उसका लक्ष्य मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज निर्माण है।

१९ लेकिन आर्थिक सयोजन की भूमिका मे तालीम से दो अपेक्षाए की जा सकती हैं — (क) स्थानीय समस्याओं का अध्ययन, शोध, समाधान, (ख) ग्रामीण क्षेत्र के लिए कार्य-कर्ताओं का प्रशिक्षण।

२० सयोजन के कार्यान्वयन की दृष्टि से जनता स्वय अपनी आवश्यकताए आंकेगी, उन आवश्यकताओं की पूर्ति की योग्यता पैदा करना तालीम का काम है।

२१ आज लोक शिक्षण की तीन मुख्य धाराए हैं

(१) 'ग्राम भारती' की योजना में गाँव की बुद्धि, शक्ति और साधन से गाँव के समग्र विकास को–शैक्षणिक तथा आर्थिक सम्मिलित क्रिया के रूप मे–सम्पूर्ण गाँव की नयी तालीम का माध्यम बनाने की कल्पना है। इसका लक्ष्य श्रम और साम्य के आधार पर शासन निरपेक्ष, सहकारी समाज की स्थापना है।

(२) अत्योदय की दृष्टि से ग्राम निर्माण के लिए जनता को 'मोबिलाइज' करना और उसके नेतृत्व के लिए कार्यकर्ता तैयार करना तथा समस्याओं का समाधान ढूढ़ना।

(३) जनता की तात्कालिक समस्याओं (कन्सर्न्स) को शिक्षण और सगठन का माध्यम बनाना। अलग-अलग परिस्थिति में इन तीनों पद्धतियों की उपयुक्तता है, और इनका प्रयोग होना चाहिए।

२२ जो भी योजना ली जाय कार्यकर्ता उसका चेतन आधार है इसलिए उसका प्रशिक्षण सबसे अधिक महत्व रखता है। ठोस प्रशिक्षण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण को क्षेत्र के काम के साथ जोड़ा जाय और शैक्षणिक प्रक्रियाएँ अपनायी जाय।

३२ हमारे हर काम में 'सह चिंतन' की प्रक्रिया अपनायी जाय। चिंतन में सहकार होगा तो काम में भी सहकार होगा।

☆

सर्व सेवा संघ की प्रबन्ध समिति का भाषा सम्बंधी प्रस्ताव

[अखिल भारत सर्व सेवा संघ की प्रबंध समिति की १ से ७ सितम्बर' ६२ को मदुराई में हुई बैठक में स्वीकृत किया गया, भाषा संबंधी प्रस्ताव यहाँ दिया जा रहा है।—सं०]

भारत सरकार की ओर से यह जाहिर किया गया है कि भारत के संविधान में जल्दी ही ऐसा संशोधन लाने का सोच रहे हैं, जिससे १९६५ के बाद भी हिंदी के साथ अंग्रेजी को भी बिना कोई अवधि रखते हुए, दूसरी केंद्रीय भाषा के रूप में चालू रखा जायगा।

भारतीय संविधान में, उसके लागू होने के पन्द्रह वर्ष तक, अर्थात् सन् १९६५ के प्रारंभ तक, अंग्रेजी के केंद्रीय राजभाषा के तौर पर उपयोग की अवधि नियत की गयी थी। इस अवधि के बाद राजभाषा हिन्दी हो, ऐसा मान्य किया गया था।

पर इस बीच किन्हीं कारणों से कुछ क्षेत्रों में एक भय-सा महसूस हो रहा है कि हिन्दी उन पर लादी जा रही है। फलस्वरूप इस बारे में विरोध का एक वातावरण खड़ा हुआ है।

सर्व सेवा संघ की प्रबंध समिति ने इस विषय पर विचार किया। शिक्षण के माध्यम और स्कूलों में एक भाषा के तौर पर अंग्रेजी के शिक्षण को दाखिल करने से संबंधित प्रश्नों पर भी प्रबंध समिति ने विचार किया और नीचे लिखे निर्णय लिये :

(१) मौजूदा परिस्थिति में, जिसका जिक्र ऊपर किया गया है, समिति की राय में अंग्रेजी को दूसरी भाषा के तौर पर १९६५ के बाद भी चालू रखने का जो सुझाव है, वह इस विषय का एक अच्छा हल है। समिति को आशा है कि इस कदम से भय और संशय का वातावरण धीरे-धीरे निर्मूल होगा।

(२) साथ ही इस बात की ओर ध्यान दिलाना भी आवश्यक है कि अंग्रेजी के उपयोग को मुद्दत हटाने के साथ-साथ स्वाभाविक ही हिन्दी को पूर्ण विकसित करने की और केन्द्रीय राजकाज तथा संसदीय कार्यों में उसके उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उपयोग की जिम्मेवारी भी सबकी बढ़ जाती है। इस प्रकार की कार्रवाई के अभाव में इस भय की गुंजाइश हो सकती है कि 'दूसरी' भाषा के नाम पर प्रत्यक्षतः एक अंग्रेजी ही चले। इसलिए संविधान में जब संशोधन का सोचा जा रहा है, तब इस राष्ट्रीय जिम्मेवारी के अंग पर भी विशेष रूप से ध्यान देना होगा।

(३) आज की स्थिति में इस बात पर जोर देना जरूरी है कि जहाँ वैसी शक्यता हो वहाँ, प्रांतों का राजकाज और कारोबार जल्दी-से-जल्दी संबंधित प्रांतीय भाषा में चले, इसकी पूरी कोशिश की जाय। अन्यथा स्वराज्य-प्राप्ति का लाभ ग्रामीणों तक को जो मिलना चाहिए वह नहीं मिलेगा।

(४) स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम जारी रहे, इस प्रकार की जो आवाज क्वचित उठ रही है, उसके अनुकूल दलीलों का पूरा खयाल रखते हुए भी समिति की यह निश्चित राय है कि यह मांग शिक्षण के इस मूलभूत विचार के ही खिलाफ है कि बालक का शिक्षण उसके आसपास के वातावरण की भाषा में होना चाहिए।

कालेजों और विश्वविद्यालयों में भी स्वाभाविक ही माध्यम प्रांतीय भाषा होनी चाहिए। व्यवहारिक दृष्टि से भी यह उचित है। साथ ही इस बात के लिए गुंजाइश रहे कि आवश्यकतानुसार हिन्दी या अंग्रेजी भी कालेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षण के माध्यम के तौर पर उपयोग में लायी जा सके।

(५) समिति को इस बारे में एतराज नहीं है कि बुनियादी स्तर तक की तालीम की समाप्ति पर, अर्थात् आठवीं कक्षा से एक भाषा के तौर पर अंग्रेजी सिखायी जाय। चूँकि हिन्दी भारत की अधिकांश भाषाओं से अंग्रेजी की अपेक्षा ज्यादा नजदीक है, अतः उसका शिक्षण पाँचवीं कक्षा से प्रारम्भ हो सकता है।

भाषा का प्रश्न

स्पष्ट और वैज्ञानिक चिन्तन के लिए एक अनुरोध

- राज्य-भाषा
- शिक्षण का माध्यम
- भाषा का अध्ययन

सिद्धराज ढड्ढा

हिंदुस्तान की राज्य भाषा का सवाल फिर से चर्चा का विषय बन गया है। जब देश का संविधान बन रहा था तब इस प्रश्न पर काफी वाद विवाद चला था और अंत में यह फैसला हुआ कि राज्य भाषा हिंदी हो, पर अंग्रेजी से हिंदी की बदल होने की तैयारी के लिए, हिंदी को और अधिक समृद्ध बनाने के लिए तथा अहिंदी भाषी लोगों को हिंदी सीख लेने का मौका देने के लिए संविधान के लागू होने की तिथि में १५ वर्ष का समय दिया जाय और तब तक अंग्रेजी राज्य भाषा के रूप में जारी रहे। इस आधार पर अंग्रेजी के लिए सन् १९६५ तक की अवधि तय की गयी थी, जिसके बाद केंद्रीय सरकार के कामकाज तथा आन्तर प्रांतीय व्यवहार के लिए सिर्फ हिंदी ही जारी रहेगी, ऐसा माना गया था।

दुर्भाग्य से, कुछ तो चंद हिंदी भाषी लोगों की अदूरदर्शिता के कारण, कुछ चंद अहिंदी भाषी लोगों के दुराग्रह के कारण और कुछ फैसले को क्रियान्वित करने के बारे में जिम्मेदार लोगों की तथा केंद्रीय व प्रांतीय सरकारों की ढिलाई के कारण हिंदी को राज्य-भाषा बनाने का सवाल इन पिछले वर्षों में काफी विवाद का विषय रहा है और उसका विरोध बढ़ता गया है। एक प्रकार से यह सारा विषय बुद्धि या दलीलों के क्षेत्र से निकल कर भावना के क्षेत्र में चला गया है और अहिंदी भाषी प्रांतों के कुछ लोगों के मन में इस विषय में एक भय-सा पैदा हो गया है। इस माने में यह प्रश्न एक राजनैतिक प्रश्न बन गया है। जब कोई प्रश्न इस प्रकार राजनैतिक बन जाता है और भावना के क्षेत्र में चला जाता है तब उसे लोग अक्सर आन-बान का सवाल बना लेते हैं और विषय या वस्तु के गुण दोष के आधार पर उसका निर्णय मुश्किल हो जाता है। इस परिस्थिति के कारण भारत-सरकार ने यह फैसला किया है कि अंग्रेजी को राज्य भाषा की स्थिति से हटाने के लिए १९६५ की जो अवधि निश्चित की गयी थी वह हटा दी जाय और हिंदी तथा अंग्रेजी दोनों राज्य-भाषा के रूप में बिना किसी काल-मर्यादा के चलती रहें अंग्रेजी कब हटे और केवल हिंदी ही राज्य भाषा के रूप में रह जाय, इसका निर्णय आगे बनने वाले वातावरण और परिस्थिति पर तथा खास करके अहिंदी-भाषी प्रांतों के लोगों की इच्छा पर छोड़ा जाय।

यह निर्णय एक राजनीतिक प्रश्न का राजनैतिक समाधान है। राजनैतिक प्रश्नों के बारे में अक्सर हमें ऐसे निर्णय करने और मानने पड़ते हैं जो गुण दोष या दलील की दृष्टि से शायद सही न हों पर जिनके लिए परिस्थिति हमें मजबूर करती है। इतना ही नहीं, मानवीय संबंधों को बात को ध्यान में रखें तो ऐसे प्रश्नों के निराकरण के लिए जिनके बारे में लोगों में भय या आशंका पैदा हो गयी हो उचित मार्ग यही है कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय उन्हीं लोगों के हाथों में छोड़ा जाय, जो भय या शंका महसूस करते हों। इसी दृष्टि से सर्व सेवा संघ की प्रबंध-समिति ने अभी हाल ही में मदुराई में हुई अपनी बैठक में अंग्रेजी के राज्य-भाषा के तौर पर बने रहने की काल-मर्यादा को हटाने के निर्णय का समर्थन किया है। विनोबा ने भी अपनी यह राय जाहिर की है कि परिस्थिति को देखते हुए मौजूदा काल-मर्यादा हटा देना ही श्रेयस्कर है।

पर दुर्भाग्य से राज्य-भाषा के इस प्रश्न की जो चर्चा देश में चल पड़ी है उसमें केवल राज्य-भाषा का ही नहीं, बल्कि दूसरे भी एक-दो महत्व के प्रश्न साथ जुड़ गए हैं जिसके कारण यह सारा विवाद और भी जटिल बन गया है। इस सारे प्रश्न पर गहराई और गंभीरता पूर्वक विचार करने और राय कायम करने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस विवाद के मुद्दों को स्पष्ट रूप से समझ लें।

मौजूदा विवाद में तीन मुख्य बातें हैं। पहला विषय, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, राज्य-भाषा से संबंधित है। इसमें मुख्य मुद्दा यह है कि अभी संविधान में अंग्रेजी के राज्य-भाषा के तौर पर चलते रहने के लिए १९६५ की जो मर्यादा मानी गयी है वह हटायी जाय या नहीं और हटायी जाय तो आगे उसकी समाप्ति के लिए कोई काल-मर्यादा निश्चित की जाय या यह निर्णय भविष्य के लिए छोड़ दिया जाय। हिंदी राज्य-भाषा होनी चाहिए इस बारे में कम से कम इस समय सिद्धांत के तौर पर विशेष विरोध नहीं है। संविधान में तो यह मान्य है ही, किन्हीं के मनों में विरोध हो तब भी संविधान के इस फैसले को बदलने की बात कोई गम्भीरता-पूर्वक नहीं उठा रहा है। दूसरा सवाल, शिक्षण के माध्यम का है। माध्यमिक और उच्च विद्यालयों में शिक्षण का माध्यम प्रांतीय भाषा रहे, हिंदी रहे या अंग्रेजी, यह विवाद का विषय बना हुआ है। तीसरा प्रश्न है, एक भाषा के रूप में अंग्रेजी के अध्ययन का। बच्चों को अंग्रेजी सिखानी हो तो वह किस कक्षा या श्रेणी से शुरू होनी चाहिए यह इस विषय में मतभेद का मुद्दा है।

पाठक देखेंगे कि ये तीनों विषय अलग-अलग हैं पहला विषय, जैसा ऊपर कहा गया है, एक राजनैतिक प्रश्न और भावना का विषय बन गया है, दूसरे दोनों विषय इसी देश से या यहां की परिस्थिति से ही संबंधित नहीं हैं, बल्कि वे किसी भी देश में उठ सकते हैं और शिक्षा-शास्त्र के विषय हैं। राजनैतिक प्रश्नों का फैसला हमेशा गुण-दोष के आधार पर या पक्ष-विपक्ष की दलीलों के आधार पर ही नहीं हो सकता, यह सही है। पर शिक्षण के माध्यम का या भाषा के अध्ययन के प्रश्न राजनैतिक प्रश्न नहीं हैं। लेकिन दुर्भाग्य से पहलेवाले राजनैतिक प्रश्न की चर्चा के साथ पक्ष-विपक्ष दोनों ओर के लोग इन दो प्रश्नों को भी जोड़ लेते हैं और इन दोनों प्रश्नों पर इधर या उधर की दलीलों को अपने पक्ष के समर्थन का और दूसरे पक्ष की काट का साधन बना लेते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। और लोगों की बात तो दूर है, पर जैसा अभी एक बयान में श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा था, स्वयं प्रधान मंत्री ने भी अपने भाषणों में इन सब विषयों को मिला दिया है। अंग्रेजी १९६५ के बाद भी राज्य-भाषा के तौर पर चलती रहे, इस पक्ष का समर्थन करते हुए उन्होंने खामोखाह इस दलील की शरण ली है कि 'आज दुनियां से सम्पर्क रखने और दुनियां के प्रवाह के साथ चलने के लिए अंग्रेजी भाषा का अध्ययन अत्यावश्यक है और जो लोग इसका विरोध करते हैं वे दकियानूसी हैं।' मानों, राज्य-भाषा हिंदी हो, अंग्रेजी अनन्तकाल तक उस रूप में न चलती रहे, यह कहने वाले अंग्रेजी भाषा या उसके साहित्य का विरोध करने वाले हैं। इस प्रकार से प्रश्नों को मिलाना वैज्ञानिक चिन्तनका लक्षण नहीं है। अंग्रेजी भाषा या साहित्य के अध्ययन का विरोध शायद ही कोई समझदार आदमी करेगा। अंग्रेजी ही क्यों, दुनिया की अन्य भाषाओं का भी हमारा ज्ञान और अध्ययन बढ़ना चाहिए इसमें शायद ही दो रायें हों पर किसी भी भाषा का अध्ययन एक चीज है और शिक्षण का माध्यम क्या हो और देश की राज्य-भाषा क्या हो, यह बिलकुल भिन्न प्रश्न है।

१. भाषा के अध्ययन के विषय पर जो विवाद का मुद्दा हो सकता है वह इतना ही कि मातृभाषा के अलावा बच्चे को किसी दूसरी भाषा का अध्ययन करना हो तो वह किस स्टेज पर अर्थात् किस कक्षा से शुरू किया जाय। मातृ-भाषा के अलावा ऐसी दूसरी भाषाओं के संबंध में इस बात का निर्णय भी सब भाषाओं के बारे में एक-सा नहीं होगा। स्वाभाविक ही जो भाषा या भाषाएं बच्चे की मातृ-भाषा

की सहोदरा हैं या उसके निकट हैं, उनका अध्ययन जल्दी शुरू हो सकता है और इस प्रकार का कोई संबंध मातृभाषा से न रखने वाली दूसरी 'विदेशीय' भाषाओं का अध्ययन कुछ देर से। शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि पहली श्रेणी की भाषाओं का अध्ययन चौथे या पांचवे दर्जे से शुरू हो सकता है और दूसरे वर्ग में आनेवाली भाषाओं का आठवीं से। इस दृष्टि से अंग्रेजी का अध्ययन आठवीं कक्षा के पहले शुरू करना उचित नहीं होगा। आज पांचवीं नहीं, बल्कि तीसरी कक्षा से अंग्रेजी शुरू हो यह जो आवाज उठ रही है वास्तव में तो उसके पीछे भाषा के प्रेम की बात उतनी नहीं है जितने शायद अन्य कोई स्वार्थ या हित।

शिक्षण के माध्यम का प्रश्न भी शिक्षण विज्ञान का विषय है, राजनीति का नहीं। यह एकदम सहज और स्वाभाविक है कि बालक के शिक्षण का माध्यम उसकी मातृ भाषा होनी चाहिए। उच्च शिक्षण को भी अर्थात् कालेज के शिक्षण को भी, सामान्यतः यही सिद्धांत लागू होगा। पर विशेष प्रकार के शिक्षण के लिए या विशेष परिस्थितियों में निश्चय ही इस नियम का अपवाद किया जा सकता है। कुछ विश्वविद्यालय शिक्षण के माध्यम के तौर पर देश की राज्य भाषा हिंदी को अपनावें, कुछ विश्वविद्यालय अंग्रेजी को तो इसमें कोई विरोध की बात नहीं होनी चाहिए। कम से कम इस प्रकार के सुझाव पर निष्पक्ष विचार की गुंजाइश हमेशा रहनी चाहिए।

उपरोक्त तीनों विषयों को मिलाया न जाय, हर एक के गुण दोष पर अलग-अलग विचार किया जाय, *जहां तक हो सके भावनाओं को बीच में न लाया जाय,* यह अत्यन्त आवश्यक है। क्यों कि ये सारे सवाल आज की मौजूदा पीढ़ी तक ही सीमित नहीं है। जिस प्रकार १९ वीं शताब्दी के शुरू में मैकाले द्वारा चलाया गयी शिक्षण-योजना के बुरे परिणामों को हम आज तक भुगत रहे हैं उसी प्रकार शिक्षण के माध्यम और भाषा के अध्ययन का प्रश्न शिक्षण से संबंधित होने के कारण आगे आने वाली कई पीढ़ियों पर असर डालने वाला है। राज्य-भाषा अपेक्षाकृत जल्दी-जल्दी बदली भी जा सकती है, पर शिक्षण की नीति में इस प्रकार जल्दी-जल्दी परिवर्तन करना आगे आने वाली पीढ़ियों के साथ खिलवाड़ होगा। अतः कम से कम इन दो प्रश्नों को हम राजनैतिक वाद विवाद से या अपने निजी स्वार्थों से अलग रख कर सोचें यह अत्यन्त आवश्यक है।

क्षमस्व

इस अंक में शिक्षकों की डायरी के पृष्ठ नहीं प्रकाशित हो सके। पृष्ठ ९० पर नयी तालीम परिसंवाद, सेवाग्राम छपा है। तथा भाषा संबंधी प्रस्ताव पृष्ठ ९६ के बदले पृष्ठ ९३ में छपा है। पाठक कृपया अनुक्रम में इतना सुधार कर लें। [सं०]

मन पुराना, जीवन नया

'यह इन्स्पेक्टर अजीब आदमी है'—मेरे साथी ने रोष के साथ कहा।

'क्यो, क्या बात है ?'—मैंने पूछा।

'पिछला इन्स्पेक्टर कितना भला आदमी था ! खातिर से पेश आता, हम लोगो को हर तरह की छूट देता था, लेकिन यह जैसे पहचानता ही नही !'

'ठीक है, लेकिन इसने कोई काम कायदे के खिलाफ तो किया नही।'

'कुछ भी हो, यह आदमी कुछ पसन्द नही आया।'

'खूब रही ! आपको फूलो की वेरायटी पसन्द है, फलो की वेरायटी पसन्द है, खाने और कपडे की वेरायटी पसन्द है, लेकिन इनसान की वेरायटी क्यो पसन्द नही है ?'

'इनसान की वेरायटी ?

'हाँ इनसान की वेरायटी ! इनसान म भी रुचि, स्वभाव, सस्कार की वेरायटी है।'

'बात समझ म आती है, लेकिन मन नही मानता।'

× × ×

मन पुराना हो और जीवन नया हो—इसका मेल कैसे बैठेगा ?

—राममूर्ति

भट्ट, अखिल भारत सर्व सेवा-संघ की ओर से शिव प्रेस, महाराजघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित।
केवल कवर मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ४

सीमा-विवाद

श्री धीरेंद्र मजूमदार
श्री राममूर्ति

ग्रामभारती

श्री धीरेंद्र मजूमदार
श्री मनमोहन चौधरी

नयी तालीम

आचार्य कृपालानी
श्री काशिनाथ त्रिवेदी

बाल-शिक्षण

डा० जाकिर हुसेन
श्री राममूर्ति

भाषा-प्रश्न

प्रो० आसरानी
श्री देवेंद्रकुमार

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

नवंबर १९६२

नयी तालीम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- इस मास के अंक से नयी तालीम का वार्षिक चंदा रु० ६ और एक प्रति का मूल्य ५० न. पै. हुआ है।
- पुराने ग्राहकों को वर्ष-समाप्ति तक पुराने मूल्य पर ही अंक जाता रहेगा।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चंदा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।
- नयी तालीम का पता—

नयी तालीम
अ० भा० सर्व-सेवा-संघ
राजघाट, वाराणसी-१

अनुक्रम

नयी तालीम

वर्ष–११]   [अंक ४

जय हिन्द—जय जगत्

आज देश पर संकट है, और दुनियाँ भी संकट से दूर नहीं है। स्वभावत आज देश के लोगों का ध्यान दुनियाँ के संकट से अधिक अपने संकट की ओर है। हमारा संकट दुनियाँ के लिए खतरा बन सकता है, यह संभावना नहीं है ऐसा कहने का साहस कौन कर सकता है ?

अगर यह मालूम हो जाता कि भारत का संकट चीन के प्रति की गयी उसकी किसी अनीति के कारण है तो हम तुरन्त कह देते कि ऐसे अनीतिकारी हिन्द की जय की कामना हम नहीं करते। अणुयुग में विश्व-संहार के संदर्भ में हमारी राष्ट्रीयता इतनी आगे तो बढ़ ही गयी है कि वह स्पष्ट समझ ले कि जगत् की जय से ही हिन्द की जय संभव है। जगत् की क्षय हो तो हिन्द की क्षय अनिवार्य है। 'मेरा देश सही या गलत'—यह नारा अब बहुत, बहुत पुराना हो गया। व्यक्ति और विश्व के बीच जो अनेक वृत्त हैं, उनमें से एक वृत्त देश भी है, लेकिन देश जबरदस्त वृत्त है।

अभी तक जितनी जानकारी सामने है उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि भारत ने चीन के प्रति कोई अनीति की है जिससे क्षुब्ध होकर चीन को हथियार उठाना पड़ा है। सिवाय कुछ कट्टर, मतांध चीनवादी कम्यूनिस्टों के दूसरा कोई भारत को दोषी नहीं मानता। भारत हमारी मातृभूमि है वह हमारी कर्मभूमि और जीविका भूमि है, और प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओं की दृष्टि से निर्दोष भी है। ऐसी हालत में जब उस पर पड़ोसी ने प्रहार किया है तो हमें क्या करना चाहिए ? हम जगत् की क्षय करके हिन्द की जय नहीं चाहते यह साफ है। लेकिन आत्म-समर्पण करनेवाले हिन्द से दुनिया का क्या भला होगा, हम यह भी नहीं समझ पाते।

हम युद्ध को मनुष्यता के विरुद्ध अपराध मानते हैं। क्या हम उस अपराध में शरीक हों ? एक बार संघर्ष छिड़ गया तो विज्ञान संहार को कितनी दूर रहने देगा ?

समझौता, आत्म-समर्पण और प्रतिकार, ये तीन रास्ते हैं।

समझौता हो सके तो सबसे अच्छा। लेकिन हो कैसे ? कराये कौन ? और समझौता, चाहे प्रत्यक्ष चर्चा द्वारा हो चाहे मध्यस्थता द्वारा, सम्मानपूर्ण तो तब होगा जब दोनों पक्षों को युद्ध के पहले की स्थिति मान्य हो जाय। जो खो चुके उसे देना बताकर जो समझौता हम करेंगे वह आत्म-समर्पण ही होगा। आत्म-समर्पण युद्ध से बड़ा अपराध है। युद्ध में शरीर की हत्या होती है, आत्म-समर्पण में आत्मा की। आत्म-समर्पण निन्द्य मौत है।

फिर प्रतिकार के सिवाय इज्जत का दूसरा रास्ता क्या है ?

प्रतिकार हिंसा और अहिंसा दोनों से हो सकता है। हिंसक प्रतिकार के रास्ते सबको ज्ञात हैं, और सरकार ने उस रास्ते को अपनाया भी है। देश के करोड़ों लोग मजो गुलामी से बचने का हिंसक प्रतिकार से भिन्न दूसरा कोई उपाय जानते नहीं, मानते नहीं। अहिंसक प्रतिकार में न वे दीक्षित हुए हैं, न प्रशिक्षित। हिंसा में हार हो सकती है, लेकिन बहादुर को अहिंसा में कभी हार होती ही नहीं, यह पाठ उन्होंने अभी पढ़ा नहीं है। हिंसा की हार उन्हें भले ही मंजूर हो लेकिन अहिंसा का जोखिम मंजूर नहीं है। क्या किया जाय, अहिंसा की साधना बापू के बाद इतनी बढ़ी नहीं कि उसकी नयी शक्ति प्रकट हो! क्या करे, हिंसा के रास्ते की भयंकरता को समझते हुए भी मनुष्य स्वत्व-रक्षा के लिए उस पर चलने के लिए विवश है क्योंकि उस पर चलने का वह आदी है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उसने अहिंसक उत्सर्ग का चमत्कार अभी देखा नहीं है।

अहिंसा हममें से कुछ की जीवन-निष्ठा है, लेकिन जिनकी नहीं है उनसे हम यह नहीं कह सकते कि वे हथियार रख दें, विशेष रूप से जब ज्ञात न्याय उनके पक्ष में है, और विकल्प आत्म-समर्पण के सिवाय दूसरा है नहीं। विश्वास हिंसा में हो या अहिंसा में, आक्रमण की स्थिति में प्रतिकार हम सबका समान धर्म है, लेकिन परिस्थिति यह है कि अहिंसक प्रतिकार के लिए आवश्यक पूर्व-तैयारी नहीं है—लोक-शक्ति असहयोग और अहिंसात्मक उत्सर्ग के लिए संगठित नहीं है। ऐसी हालत में अहिंसात्मक प्रतिकार में विश्वास रखनेवालों का कर्तव्य है कि—(१) वे जनता का साहस बँधायें और किसी तरह 'मोरेल' न गिरने दें, (२) सरकार का बोझ हल्का करें ताकि वह पूरी शक्ति सुरक्षा में लगा सके। शीघ्र ऐसी स्थिति बननी चाहिए कि एक-एक गाँव और नगर अपनी स्थानीय सुरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था सहकार-शक्ति से चलाने के लिए संगठित हो और सरकार को दूसरे आवश्यक काम करने दे। हम सबका यह पहला प्रयत्न होना चाहिए कि देश में किसी प्रकार की आन्तरिक अशान्ति, भ्रष्टाचार या मुनाफाखोरी आदि असामाजिक काम न होने दें। इस तरह के स्थानीय संगठन जनता का साहस बनाये रखेंगे, अराजकता रोकेंगे और लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लोहे की दीवाल का काम करेंगे। जरूरत पड़ने पर इन्हीं संगठनों के द्वारा हमला करनेवालों के साथ सक्रिय असहयोग की व्यापक योजना भी कार्यान्वित की जा सकेगी। नागरिक असहयोग की बात, मुख्यतः हिमालय के क्षेत्र में, अभी से सोची भी जा सकती है।

आक्रमण के कारण अगर दलवाद, जातिवाद, भाषावाद और क्षेत्रवाद का विष कम हो जाय और एकता की भूमिका में लोकशक्ति देश की सुरक्षा तथा निर्माण के लिए संगठित हो सके तो सब मिलाकर देश का भला ही होगा।

राममूर्ति

देशके संकट के बारेमें धीरेन भाई से दो प्रश्न

प्रश्न—१ देश पर आक्रमण हुआ है इस सम्बंध में सर्वोदय का क्या रुख है ?

उत्तर—सर्वोदय का यानी अहिंसक विचार का रुख क्या हो, यह परिस्थिति पर निर्भर है। गांधीजी और विनोबाजी की कोशिश से अगर देश में अहिंसा की मान्यता बनी होती और उसके अनुसार ऐसा संगठन होता जो अंतर्राष्ट्रीय प्रतिकार के लिए शक्तिशाली समझा जाता तो सर्वोदय का रुख देश में अहिंसक प्रतिकार के संगठन का होता। आज यह परिस्थिति नहीं है, इसलिए सर्वोदय का रुख अहिंसक प्रतिकार का नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि हम अहिंसा के पुजारी सरकार की सैनिक कार्रवाई से सहकार करें या नहीं। स्पष्ट है कि अहिंसावादी ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन चूंकि सरकार ने अन्याय के प्रतिकार में पूरे देश की मान्यता के अनुसार कदम उठाया है इसलिए हम उसका विरोध भी नहीं कर सकते। हमारा रुख तटस्थता का ही हो सकता है। इसपर से लोग यह कह सकते हैं कि हम को पक्ष या विपक्ष का रुख अख्तियार करना ही चाहिए, नहीं तो हमारी कोई हस्ती नहीं रह जायगी। मैं मानता हूं कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है। हमारा यह समझना कि हम हर प्रश्न पर अपना रुख जाहिर करना ही है गलत है। काफी प्रश्नों पर हम तटस्थ रह सकते हैं। मौजूदा परिस्थिति उसी तरह का एक प्रश्न है।

प्रश्न—२ इस रुख के होते हुए अहिंसा में विश्वास करनेवाले क्या सक्रिय काम उठा सकते हैं ?

उत्तर—हमारे तटस्थ रुख का मतलब यही है कि हम चुप बैठे रहें। इस समय अहिंसा में विश्वास करनेवालों की विशेष जिम्मेवारी है। ऐसे अवसर पर देश के अंदर विघटनकारी शक्तियां जागरूक हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारा काम यह होगा कि हम सैनिक शक्ति से भिन्न लोक शक्ति का संगठन कर देश-भर में शांति की रखवाली करें। इसके लिए शांति-सेना का व्यापक संगठन अत्यन्त आवश्यक है। हम दंड-निरपेक्ष समाज की बात करते हैं। शांति रक्षा के लिए शांति सेना का संगठन कर समाज के संतुलन की रक्षा की मान्यता को बदल सकते हैं। अहिंसा की स्थापना के लिए तथा इस संकटकालीन परिस्थिति में जनता के मोरेल को कायम रखने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है। आम तौर से शांति सेना के विचार को वांछनीय मानते हुए भी लोग उसे अव्यावहारिक कहते हैं, क्योंकि साधारणतया लोग आदर्श और व्यवहार को दो चीजें मानते हैं लेकिन दरअसल वे दोनों एक ही हैं। एक ही चीज जब केवल वांछनीय रहती है तब उसे आदर्श कहा जाता है, किन्तु जब वह आवश्यक हो जाता है तब वही व्यावहारिक हो जाता है। जिस समय सरकार का ध्यान समस्त सैनिक शक्ति के साथ युद्ध में केन्द्रित हो जाता है उस समय जनता की मोरेल को कायम रखने के लिए दूसरी शक्ति की आवश्यकता पड़ जाती है और वह आज हो गयी है। अतः आज की परिस्थिति में शांति-सेना का विचार अत्यंत व्यावहारिक बन गया है। सौभाग्य से जितना लघु स्वरूप ■ हो, शांति सेना के संगठन का आरंभ बिन्दु हमारे पास है उसी को तेजी से राष्ट्रव्यापी बनाना है क्योंकि यह वैकल्पिक शक्ति आज केवल वांछनीय नहीं है बल्कि आवश्यक है इसलिए पूरा देश इस प्रयास का साथ देगा इसमें कोई संदेह नहीं।

अतएव शांति सेना के व्यापक संगठन पर शक्ति केन्द्रित करने की बड़ी आवश्यकता है।

शांति सेना के अलावा हमको एक दूसरा काम भी उठाना चाहिए। वह यह कि देश के विकास के काम में तथा आवश्यकता की पूर्ति में जो आज पूर्ण रूप से सरकारी ताकत लगी हुई है उसके बदले जनता की

स्वतंत्र ताकत से यह हो इसकी पूरी कोशिश करनी चाहिए। सरकार का ध्यान पूर्ण रूप से युद्ध में फंस जाने के बावजूद यह सब काम सरकार निरपेक्ष शक्ति से चलता रहे यह भी जनता के नैतिक बल को कायम रखने के लिए आवश्यक है। सरकार दूसरी तरफ फंस जाय और साथ-साथ जनता अपने को असहाय महसूस करे ऐसे समय में प्रतिक्रियावादी शक्तियों को अवसर मिलता है कि वे जनता की भावना का नाजायज लाभ उठाकर परिस्थिति को अपने कब्जे में कर लेती हैं। फलस्वरूप, जैसा कि इतिहास बताता है, देश में तानाशाही का संगठन हो जाता है।

लोकतंत्र की रक्षा अहिंसा के लक्ष्य की ओर जाने के लिए आवश्यक है। अतएव अहिंसा के पुजारी को उपर्युक्त परिस्थिति निर्माण होने न पाय इसका प्रयास करना आवश्यक है।

इस प्रयास का साकार जरिये ग्राम-पंचायत हैं। इस समय अगर पंचायतों को शक्तिशाली बनाकर उनके मार्फत जन-शक्ति के आधार पर जनता के रक्षण और पोषण की पूर्ण व्यवस्था हो सके तो पंचायतों में दृढ़ निरपेक्ष आत्मशक्ति का भान होगा और जनता उस शक्ति का भरोसा कर सकेगी। ऐसी हालत में कोई भी प्रतिक्रियावादी शक्ति लोकतंत्र के लिए खतरा नहीं हो सकेगा।

हम क्या करें ?*

एक तो यह कि सब प्रकार के भेद मिट जाने चाहिए। सारा राष्ट्र एक दिल हो, ऐसा होना चाहिए।

दूसरे, धीरज नहीं छोड़ना चाहिए, हिम्मत रखनी चाहिए।

तीसरी बात यह कि भारत में कहीं अशांति नहीं होनी चाहिए। यह तब होगा, जब अशांति के कारण मिटेंगे। इसके लिए एक एक गाँव एक एक परिवार के समान बनना चाहिए। सबको तय करना चाहिए कि हमारे गाँव में कोई भूखा नहीं रहेगा, बेकार नहीं रहेगा, दुःखी नहीं रहेगा। कोई दुःखी होगा तो उसके दुःख का हिस्सा सब लेंगे।

ऊपर जो कहा है उसमें सैनिक कार्रवाई का समर्थन नहीं है। आज भी हमारा यह मानना है कि हिंसा से मसले हल नहीं होते, बढ़ते ही हैं। पर लोगों की वास्तविक तैयारी, लोकशाही की दृष्टि (याने लोगों ने सरकार को सेना रखने की अनुमति दी है इस दृष्टि से), भारत सरकार की नैतिक स्थिति, अहिंसा के वर्किंग की प्रक्रिया और हमारी अपनी स्थिति—इतनी बातों को ध्यान में रखते हुए हम उसका विरोध नहीं करते इतना ही है। हम हमारा काम करते हैं।

चूँकि हमे हर परिस्थिति का लाभ उठाकर देश को अहिंसा की ओर ले जाना है, इसलिए देश को समझाते हैं कि हमारे *कार्यक्रम (ग्रामस्वराज्य)* से आप जो कर रहे हैं उसमें भी मदद मिलेगी। ग्रामदान एक 'डिफेन्स मेजर' है यह हमने पहले ही कहा है।

कार्यकर्ताओं से हम कहते हैं कि यह एक मौका फिर आया है जब जनता को आप अपनी बात समझा सकते हैं और वह हमारे साथ आ सकती है। इस मौके को आप खोना चाहें तो बात दूसरी है!

* विनोबा से हुई चर्चा के आधार पर।

नयी तालीम और गांधी-दर्शन

(उत्तरार्ध)

आचार्य कृपालानी

प्रजातंत्र का उदय

संगठित समाजों में जो अन्याय और दमन होता आया था उसमें थोड़ा सुधार जरूर हुआ था फिर भी वह उस वक्त तक होता रहा जब तक सामान्य व्यक्ति (कामन मैन) सदियो की अपनी तंद्रा से जगा नहीं और अपने मालिकों के विरुद्ध खड़ा नहीं हो गया। इस संघर्ष से लोकतंत्र की स्थापना हुई। लोकतंत्र समाज में व्यक्ति के नैतिक मूल्य पर बल देता है और उसकी प्रतिष्ठा और महत्त्व को मानता है। इसमें व्यक्ति का राजनीतिक शोषण समाप्त हो जाता है अथवा कम से कम कुछ हद तक घट तो जाता ही है। इसमें पक्षोंकी आतंरिक हिंसा मिट जाती है। कोई मामला सुलझाने के लिए सिर काटा नहीं जाता, गिना जाता है। प्रत्येक— सिर 'एक' का प्रतिनिधित्व करता है। लोकतंत्र में एक सरकार की जगह दूसरी सरकार की गुंजाइश है और इसके अंतर्गत हिंसा का सहारा लिये बिना शासन बदला जा सकता है। इस कारण इसमें स्वतंत्रता के साथ उत्तर-दायित्व जुड़ जाता है। इस प्रकार प्रजातंत्र राजनीतिक क्षेत्र में नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए तो यहां कि लोकतंत्र के देशों में जहां कहा जाता है कि तथाकथित मजदूर-पेशा लोग बंधनों से जकड़े हुए हैं अपनी कठिनाइयों के हल के रूप में भी तानाशाही साम्यवाद को अपनाने से इन्कार करते हैं? उन लोगों ने बड़ी कठिनाई के साथ काफी दुःख सहकर राजनीतिक समानता और स्वतंत्रता पायी है जिसमें व्यक्ति को प्रतिष्ठा का कुछ आश्वासन प्राप्त है। वे अपनी राजनीतिक समानता और स्वतंत्रता को एक ऐसी क्रान्ति के लिए खतरे में डालने को तैयार नहीं हैं जिसका परिणाम अनिश्चित है। वे यही चाहेंगे कि उन की यह स्वतंत्रता बनी रहे और अधिक विस्तृत हो ताकि उसमें आर्थिक सुदृढ़ता भी आ जाय।

अगर राजनीतिक जीवन में लोकतंत्र के सिद्धांत को पूरा विकास करने का मुक्त अवसर दिया गया होता तो दुनिया के देश आंतरिक संघर्षों से बच गये होते और यथा-समय अपनी दर्दनाक आर्थिक विषमता मिटा कर समग्र और एकरस सामाजिक व्यवस्था कायम कर सके होते। ऐसे समाज में किसी व्यक्ति को अपने निजी समाधान और मुक्ति की खोज में किसी मठ की चारदी-वारी के भीतर या जंगल में खोजने-भटकने की आवश्य-कता शायद न पड़ती। लेकिन समाज की प्रगति सदा सीधी लाइन में नहीं होती। उसका मार्ग तो ऊपर चढ़ता हुआ लेकिन बहुत टेढ़ा-मेढ़ा है। यहां प्रगति है तो अवनति भी है। मनुष्य ने जब लोकतंत्र की खोज की तो उसने अपने वैज्ञानिक शोधों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों के नियंत्रण और उपयोग पर अपूर्व शक्ति प्राप्त कर ली। इस शक्ति से नये भूखण्डों की खोज के साथ औद्योगिक क्रांति और आधुनिक युग के 'साम्राज्य' का प्रारंभ हुआ। ये शक्तियां किस प्रकार क्या क्या परिवर्तन लायीं, यह एक लंबी कहानी है। वे आज भी क्रियाशील हैं और उनकी गति समाप्त नहीं हुई है, बल्कि उनके एक-से-एक विस्मयजनक अध्याय बनते जा रहे हैं। उनकी दूसरी उपलब्धियां कुछ भी हों, पर इतना निश्चित है कि औद्योगिक क्रांति ने पुराने विभाजनों और विषमताओं को दूसरे स्तर पर पहुंचा दिया, कहीं-कहीं उनको अधिक विकृत और सघन बना दिया। इसने समाज में संपन्न और विपन्न का, यंत्रों के मालिक और मजदूर का तथा 'बुर्जुआ' और 'सर्वहारा' का भेद पैदा कर दिया। ऐसे समाज में लोकतंत्र के 'वोट' जो कि व्यक्ति की प्रतिष्ठा

और समानता का द्योतक है अपना बहुत सारा मूल्य खो देता है। इसके परिणाम-स्वरूप पुराने विरोध आर्थिक क्षेत्र में नये रूप में फिर प्रकट हो गये। जैसे पहले राजनीतिक सत्ता से आर्थिक प्रभुत्व प्राप्त होता था उसी तरह अब आर्थिक सत्ता से राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त होने लगा। फिर वही दृश्य प्रकट हो गया—व्यक्ति नैतिक, समाज अनैतिक!

मार्क्सवाद का पक्षपात—

अत: मानव की आगे की प्रगति के लिए जरूरी हुआ कि राजनीतिक लोकतंत्र के साथ आर्थिक समता को जोड़ा जाय। यह नया सुधार समाजवाद की ओर एक कदम था। समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में भी मानव की समानता का दावा करता है। इसलिए यह एक नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांत है लेकिन उस पर बल देते हुए उसके समर्थकों ने उसे एक सामान्य भौतिक सिद्धांत बना दिया। अर्वाचीन समाजवाद ने, जिसका जन्म इस यंत्रमय, केंद्रित और पूँजीवादी उद्योगों के युग में हुआ है, सोचा कि आज समाज में जो नैतिक मूल्य प्रचलित हैं वे सब ऐसे वर्गों के पैदा किये हुए हैं जिनके हाथ में आर्थिक प्रभुत्व रहा है। इसने पूँजीवाद को भ्रम से लोकतंत्र समझ लिया और यह भूल गया कि पूँजीवाद ने स्वतंत्र और जिम्मेदार व्यक्ति को खतम करके लोकतंत्र के सिद्धांत को सबसे बड़ी क्षति पहुँचायी। राजनीतिक लोकतंत्र ने पहले जो प्रगति की थी उसको खतम करके समता का समाजवादी सिद्धांत सामने आया। साथ ही यह भी हुआ कि अपनी तमाम बुराइयों के साथ पूँजीवाद अनुशासनहीन और गैर-जिम्मेदार 'व्यक्ति' की स्वतंत्रता के साथ जोड़ दिया गया। इसीलिए समस्या का हल यह सोचा गया कि न केवल मर्यादाहीन और गैर जिम्मेदार व्यक्तिवाद को समाप्त किया जाय बल्कि स्वतंत्र व्यक्ति को भी खतम कर दिया जाय। मार्क्सवादी के लिए तो व्यक्ति सामाजिक संबंधों का एक घटक (इनसेम्बुल) मात्र था, इसलिए उसने जो हल सुझाया वह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण दृष्टि से रोग से भी बदतर था। वह तो रोग के साथ-साथ रोगी को भी खतम कर देना था। निःसंदेह व्यक्ति को खतम कर देने को युक्तिसंगत सिद्ध करना आसान नहीं था। इसलिए संपूर्ण साम्यवाद का अवतरण हो जाने पर यानी जब कि श्रमिक-वर्ग के निरंकुश अधिकार के परिणाम-स्वरूप वर्गहीन और शासनहीन समाज अपने आप प्रतिफलित हो चुका होगा तब उस (व्यक्ति) के पुनरुत्थान का आश्वासन दिया जाता है। जिसने आध्यात्मिक 'पुनरुत्थान' पर विश्वास नहीं किया वह हमें वचन देता है कि भौतिक शक्ति के द्वारा व्यक्ति का पुनरुत्थान होगा।

रूस में समाजवाद के नये सिद्धांतों को कार्यान्वित होते हम देख रहे हैं। उसका दावा है कि उसने आर्थिक क्षेत्र में समता स्थापित करने की ओर बहुत प्रगति की है। हम इस दावे को स्वीकार कर भी लें तब भी उसे इसके बदले में व्यक्ति के अभिक्रम और स्वतंत्रता की हत्या का मूल्य चुकाना पड़ा है। यह अनिवार्य है, क्योंकि नयी नीति के अनुसार वर्ग या समाज के संबंधों से अलग व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व या मूल्य कुछ है ही नहीं। इसमें और किसी प्रकार के अन्य मामलों में साम्यवाद और फासिस्टवाद दोनों एक ही हैं। फासिस्टवाद व्यक्ति को राष्ट्र या जाति के शरीर का एक जीवकोष (सेल) मात्र मानता है, साम्यवाद सामूहिक श्रमिक जगत् का एक जीवकोष मानता है। जबतक विश्व के सारे श्रमिक एक न हो जाय और सत्ता हाथ में न ले लें तब तक रूस में 'व्यक्ति' उसी तरह एक छोटा नगण्य 'सेल' है जिस तरह वह फासिस्ट जर्मनी या इटली में है। फासिस्टवादी राज्य का व्यक्ति और साम्यवादी राज्य का व्यक्ति, दोनों शरीर के जीवकोष के ही समान स्वतंत्र हैं यानी किसी वरिष्ठ संगठन की मर्जी के अनुसार चलने भर को स्वतंत्र है। उसका अपना जीवन या अपनी मर्जी कुछ नहीं रहती।

रूस के साम्यवाद में, जिसकी लंबी डींग हांकी जाती है, आर्थिक समानता का आधार बड़े बड़े केंद्रित और यंत्रचालित उद्योग और कृषि है। राज्य के हाथों में यह जो आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केंद्रीकरण हुआ उसका परिणाम यह आया कि वह तानाशाही श्रमिक समाज के हाथों में रहने के बजाय उस की पार्टी के मुट्ठीभर लोगों के हाथ में और अंततः एक व्यक्ति के हाथ में केंद्रित हो गयी। सत्ताधारी लोग स्वयं आर्थिक सुविधाओं का उपभोग न भी करते हों, पर उनका पद

उन्हें ऐसी सुविधाएँ देता है जिनका आर्थिक मूल्य है। और तानाशाही पर तो कोई रुकावट है ही नहीं। आज रूस में श्रमिकों और किसानों की आमदनी के साथ नौकरशाही व्यवस्थापकों, विशेषज्ञों आदि की आमदनी की तुलना की जाय तो बड़ी विषमता नजर आयेगी। लोकतंत्र में सत्ता पर कोई संविधानिक रोकें हैं, लेकिन एक तानाशाही में सब खतम कर दिये जाते हैं। रह जाती है केवल सत्ताधारियों की मर्जी। राजनीतिक व्यवस्था में कुछ पदों का महत्त्व दूसरों से अधिक हमेशा होगा। लेकिन जब प्रजातंत्र के नैतिक और संगठन संबंधी नियंत्रण हट जाते हैं तो फिर निरंकुश सत्ता के दंभ और दमन के सिवा कुछ नहीं रह जाता। पहिले के जमाने के राजा और धनी लोग अपने अधिकारों का उपयोग कुछ सीमाओं के भीतर करते थे। जीवन के कई क्षेत्रों में वे काफी स्वतंत्रता देते थे। साम्यवाद ने, जैसा कुछ आज उसका विकास हुआ है, स्वायत्तता के उन सारे क्षेत्रों को खत्म कर दिया है। स्वतन्त्रता की दृष्टि से देखा जाय तो इसी पाबंदी के परिणाम-स्वरूप जो स्थिति निर्माण हुई है वह उन मनमाने राजाओं से भी हीनतर है जो अपने अंदर दैवी शक्ति को मानते थे। प्रजातंत्र की अपेक्षा तो हीनतम ही है, भले ही प्रजातंत्र पूंजीवाद के कारण कितना भी दूषित हो।

आधुनिक प्रजातंत्र का आविर्भाव करीब-करीब उसी समय हुआ जब विज्ञान प्रगति करने लगा था और जिसके फलस्वरूप नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का बल कुछ घट रहा था। नैतिक जिम्मेदारी से अलग होकर व्यक्ति-स्वातंत्र्य एक प्रकार के अव्यवस्था-तत्व का कारण बना। उसी समय औद्योगिक क्रांति ने मानव मानव के बीच पैसे और कानूनी समझौते को घुमाया, चाहे वह समझौता किसी भी तरह हुआ हो। अगर कमजोर की दुर्दशा हुई तो यह कहा गया कि यह तो उस वैज्ञानिक सिद्धांत की विजय है जो कहता है कि समर्थ ही जीने का हकदार है। यह भी कहा गया कि यदि प्रत्येक व्यक्ति पूरे मन से अपने-अपने स्वार्थ का ध्यान रखे तो ऐसा अनेक लोगों का एकत्रित स्वार्थ किसी कीमिया के जरिये परमार्थ और मानवता में बदल जायगा।

मार्क्स ने औद्योगिक क्रांति के कुछ भयानक मानवीय परिणामों और दुर्बलों के निर्मम शोषण का समर्थन करनेवाले सिद्धांतों का भंडाफोड़ किया। फिर भी मार्क्सवाद ने उस व्यक्ति को कोई महत्व नहीं दिया और उसे आर्थिक और सामाजिक संबंधों का सब कुछ माना गया। अब वह आध्यात्मिक इकाई नहीं रह गया जो अपने आप में साध्य होता है।

समन्वय

अभी हाल में जब लोकतंत्र को फ़ासिस्ट और साम्यवादी तानाशाही से भारी खतरा नजर आने लगा तब उसके समर्थकों को यह प्रतीति होने लगी कि लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक योजना ही नहीं है बल्कि वह महान नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों के आधार पर खड़ा है। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि लोकतंत्र के नैतिक सिद्धांतों का त्याग करने का अर्थ होगा मानवता को पीछे ले जाना। यह भी महसूस किया जाने लगा है कि केवल लोकतंत्र के ही नहीं, वरन् समाजवादके सिद्धांत भी मूलतः नैतिक ही हैं जो न्याय, समता और ईमानदारी पर आधारित हैं। सामाजिक स्तर पर ये दोनों मानव की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं। यदि इन सिद्धांतों को सारहीन ढांचा मात्र नहीं बना रहना है तो उन्हें जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लागू करना होगा।

गांधीजी का जीवन-दर्शन इसी समग्र ध्येय का बना हुआ है। गांधीजी का विश्वास है कि मानवता का उद्गम और उसकी मंजिल दोनों नैतिक हैं। वह मंजिल प्रत्येक औसत स्त्री-पुरुष को नैतिक समाज के अंदर तय करनी है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को तथा आंतरिक और बाह्य जीवन को सत्य, अहिंसा, न्याय और ईमानदारी के सिद्धांतों के अनुसार चलना चाहिए। इसे संभव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी वे ही नैतिक सिद्धांत लागू हों और हमारे ध्येय जितने उन्नत हों हमारे साधन भी उतने ही परिशुद्ध हों। कोई सारा विश्व जीत ले पर आत्मा खो दे तो वह जैसा निष्फल है उसी प्रकार किसी देश के लिए भी यह लाभदायी नहीं होगा कि वह सारा संसार तो पा जाय, पर अपनी आत्मा खो दे।

हर हालत में समाज नैतिक तभी होगा जब उसके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संगठन और संस्थाएँ उपयुक्त हों। इसी व्यवस्था की स्थापना के लिए गांधीजी का प्रयत्न था कि लोकतंत्र और समाजवाद दोनों के नैतिक और भौतिक गुण जोड़े जायें। मार्क्स का समाजवाद चूंकि केंद्रीकरण पर जोर देता है और अपने साधनों में नैतिक सिद्धांतों का त्याग कर देता है, इसलिए वह भौतिक सुविधाओं की भूख मिटाने में चाहे जितना सफल क्यों न हो, फिर भी व्यक्ति को कुचलने वाला ही है। भूख से पीड़ित मानवता, हो सकता है, नैतिक साध्यों की परवाह न करे और किसी भी मूल्य पर आर्थिक समृद्धि को प्राप्त करने के आश्वासन से संतुष्ट हो जाय। परंतु केवल रोटी से न व्यक्ति जी सकता है, न देश। यह भी सही है कि वे रोटी के बिना भी नहीं जी सकते। लेकिन उसके साथ कुछ दूसरे ऊँचे लक्ष्य भी अवश्य चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि वे लक्ष्य ऐसे हों जिनके लिए कल्याण के भौतिक साधनों का त्याग करना पड़े।

गांधीजी ने कुटीर और ग्रामीण उद्योगों का तथा विकेंद्रित व्यवसाय और कृषि का जो प्रतिपादन किया वह साम्यवादी या पूंजीवादी व्यवस्था के केंद्रीकरण की अति के इलाज के रूप में ही था। इसीलिए गांधीजी की दृष्टि से विकेंद्रीकरण का सिद्धांत एक नैतिक सिद्धांत है। इसमें स्वतंत्र रुचि के लिए छूट है। इसमें यह भी संभव होगा कि व्यक्ति अपनी इच्छा को बड़े पैमाने पर कार्यान्वित कर सके। इससे ऐसा एक बाहरी वातावरण निर्माण होता है जो व्यक्ति को अपनी स्वतंत्र राय कायम करने और व्यक्त करने के लिए अनुकूल है। भौतिक वस्तुओं की समृद्धि और समान वितरण की रंगीन तस्वीर प्रस्तुत करनेवाले साम्यवाद के प्रलोभनों को गांधीजी ठुकरा देते हैं। वह समृद्धि व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्तित्व-नाश की क्षति की पूर्ति नहीं कर सकती। गांधीजी पक्के व्यावहारिक थे, अतः ऐसे केंद्रित उद्योगों का उन्होंने विरोध नहीं किया जो आज की सभ्यता की दृष्टि से अत्यावश्यक हैं। साथ ही वे इतने नैतिक और मूलतः मानवतावादी थे कि यंत्र को स्वतंत्र व्यक्ति पर हावी होने नहीं दे सकते थे। जब कभी केंद्रित उत्पादन की आवश्यकता पड़ जाय तो उनके अनुसार उसका नियंत्रण समाज के हाथों में होना चाहिए।

राष्ट्र के अंदर और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीतिक जीवन सत्य और अहिंसा के तत्व पर चलना चाहिए। अस्त्र-शस्त्रों और कूटनीति को स्थान नहीं रहना चाहिए। सत्ताधारियों को अपनी जनता का सेवक बनना चाहिए। उन अस्थायी सत्ता धारियों को आर्थिक जीवन की जो सुविधाएँ मिलें उनका साधारण समाज को उपलब्ध सुविधाओं से मेल होना चाहिए। कोई काम या पेशा ऊंचा या नीचा नहीं माना जाना चाहिए बशर्ते वह अपना सामाजिक हेतु सिद्ध कर सके। प्रत्येक कारीगर वह चाहे जितना तुच्छ हो, पारिश्रमिक मात्र का हकदार नहीं है बल्कि आदरणीय भी है।

गांधीजी ने राजनीति और अर्थनीति के आध्यात्मीकरण का जो प्रयत्न किया यह उसका संक्षिप्त विवेचन है। उनके व्यावहारिक कार्यक्रमों के आधार सत्य और अहिंसा रहे हैं और उनका हेतु नैतिक मानव को एक नैतिक समाज प्राप्त करा देना रहा है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन संबंधी गांधीजी का दर्शन इतना व्यापक है कि उसमें राजनैतिक लोकतंत्र और आर्थिक समाजवाद दोनों की नैतिक, भौतिक और संगठन संबंधी सारी उपलब्धियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार उसमें अर्वाचीन मानव के इतिहास की विभिन्न धाराएँ संकलित हो जाती हैं। वह ऐसी अहिंसक क्रान्ति और नव-समाज रचना के लिए क्रियाशील है जहाँ राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अन्याय और शोषण नहीं होगा। इसे ही गांधीजी स्वराज्य, रामराज्य, धरती पर ईश्वर का राज आदि शब्दों में व्यक्त करते थे।

गांधीजी ने शिक्षण की जो नयी पद्धति दी उसका कार्य यही है कि वह व्यक्ति और समाज दोनों को इस नयी क्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रकाश में शिक्षित करे। उन्होंने हमें स्वाभाविक और वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से सही शिक्षा-पद्धति दी और साथ ही व्यक्ति तथा समाज के सामने अमूल्य और उदात्त ध्येय भी प्रस्तुत किया। इस प्रकाश में नयी तालीम अथवा बुनियादी तालीम की योजना पर विचार होना चाहिए। ●

(अंग्रेजी 'गांधीयन थॉट' से साभार)

भूदान आंदोलन और ग्रामभारती

(प्रश्नोत्तर)

श्री धीरेन भाई

प्रश्न :—'ग्रामभारती' का विचार और कार्यक्रम किस तरह अब तक के भूदानयज्ञ आदोलन का अगला कदम है, यह स्पष्ट नहीं है। मेरी जो कठिनाई है वह इस प्रकार है। विनोबा के नेतृत्व म जिस तरह भूदानयज्ञ आदोलन अब तक चला है उसके दो पहलू प्रकट हुए हैं। एक तात्विक, दूसरा 'पापुलर'। तात्विक दृष्टि से उन्होंने सर्वोदय क जीवन दर्शन और समाज दर्शन को वैज्ञानिक ढग से दुनियाँ क सामने प्रस्तुत किया है। उनके विचार से मत भेद हो सकता है लेकिन अस्पष्टता नहीं है। 'पापुलर' स्तर पर ये समस्याएँ सामने आयी हैं। दान की प्रक्रिया की विशेषता यह बतायी जाती है कि दान से एक ओर स्वामित्व का विसर्जन होता है और दूसरी ओर दाता और आदाता के परस्पर सबध में समता और मधुरता साथ-साथ आती है। लेकिन अब तक का अनुभव यह है कि भूदान से दाता और आदाता के सबध मधुर नहीं हुए हैं। जिस करुणा को विनोबाजी अपने आदोलन का आधार मानते हैं उसकी निष्पत्ति नहीं हुई है, बल्कि उल्टी स्थिति प्रकट हुई है। ग्राम दानी गावों का यह अनुभव है कि गाव की जो भूमि बड़े मालिकों के हाथ में है, चाहे वे गाव के भीतर के हों या बाहर के, वह ग्रामदान म नहीं आया है और न उसे लाने का आदोलन ने कोई उपाय ही सुझाया है। इसी तरह ग्रामदानी जनता को कोई ऐसा ग्रामोद्योग भी नहीं मिल सका है जो खेती की कमी की पूर्ति कर सके। गाव का कोई उद्योग बाजार म जाकर मिल के मुकाबिले में टिक नहीं पाता। इन बातों क अलावा अभी तक ग्राम के समग्र विकास—यानी आर्थिक और शैक्षणिक विकास—की कोई एक सम्मिलित प्रक्रिया भी नहीं विकसित हुई जिसका परिणाम यह हुआ है कि कहीं थोड़ा आर्थिक विकास हुआ तो शैक्षणिक नहीं और यदि शैक्षणिक हुआ तो आर्थिक नहीं। ऐसी हालत में आवश्यकता इस बात की थी कि भूदान ग्रामदान आदोलन क पापुलर स्तर पर जो समस्याएँ पैदा हुई हैं उनका हल ढूँढा जाता। वही आदोलन का असली कदम होता। ग्रामभारती विकास की शैक्षणिक प्रक्रिया भले ही हो, वह अगला कदम कैसे है? अगर हमारा देश वास्तव में लोकतान्त्रिक होता तो ग्रामभारती विकास की आदर्श प्रक्रिया होती लेकिन हम तो अभी सामतवाद और सौ साल पहले के पूंजीवाद से जकड़े हुए हैं जिससे मुक्ति क लिए व्यापक विद्रोह की आवश्यकता है। लेकिन आप की ग्रामभारती में तो विद्रोह की भावना तक नहीं है जो क्रांति की मुख्य शक्ति होती है। कृपया आप इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालें।

उत्तर —ग्रामभारती-योजना अब तक के भूदान यज्ञ आदोलन का अगला कदम है, ऐसा समझना सही नहीं होगा। वस्तुत यह योजना नयी तालीम का व्यापक कार्यक्रम है। आदोलन क सदर्भ म यह कार्यक्रम बुनियादी है, यानी बुनियाद डालने और उसे मजबूत करने का है।

आपने भूदान आदोलन के 'तात्विक' और 'पापुलर' दो पहलुओं का जिक्र किया है। क्रांति क सदर्भ म तात्विक पहलू मुख्य होता है लेकिन 'पापुलर' आदोलन से तात्विक पहलू भी आगे बढ़ता है। इस पापुलर पहलू के बारे में भी सफाई होनी चाहिए। पापुलर पहलू के भी दो हिस्से होते हैं—एक आगे बढ़ने का और दूसरा 'कन्सालिडेट' करने का। हिंसक क्राति में आगे बढ़ने के पहलू पर सारी शक्ति केन्द्रित की जाती है और उसके बाद कन्सालिडेशन का काम शुरू होता

है। लेकिन गांधीजी की बतायी हुई अहिंसक क्रांति की टेकनीक भिन्न है। उसमें आगे बढ़ने का काम और संगठन का काम साथ साथ चलता है। वस्तुतः क्रांति के इतिहास में यह गांधीजी की सबसे बड़ी देन है, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो केवल बढ़नेवाले पहलू से चलते रहने पर बाद को कन्सालिडेशन के अवसर पर क्रांतिकारी को संगठित प्रति-क्रांति का सामना करना पड़ता है। होता यह है कि क्रांतिकारी जब एकांगी मार्ग पर बढ़ते रहकर वर्तमान को 'लिक्वीडेट' करता चलता है और साथ-साथ उसके स्थान पर क्रांति-तत्त्व के आधार पर निर्माण नहीं करता है तो वह अपने आंदोलन की प्रक्रिया द्वारा ही समाज में 'वैक्युअम' (रिक्तता) की स्थिति पैदा करता है। प्रकृति वैक्युअम बर्दाश्त नहीं कर सकती। जब क्रांतिकारी उसे अपनी चीज से भरता नहीं है तो स्वभावतः प्रतिक्रान्ति उसे अपनी ही चीज से भर देती है। नतीजा यह होता है कि जब क्रांतिकारी आगे बढ़ने का काम समाप्त करके कन्सालिडेशन के काम में लगने जाता है तब उसको मजबूत बुनियाद पर संगठित प्रतिक्रान्ति की शक्ति का मुकाबिला करना पड़ता है। क्रांति के संघर्ष से थका हुआ क्रान्तिकारी ऐसे अवसर पर प्रायः हार जाता है और प्रतिक्रान्ति के गर्भ में विलीन हो जाता है।

आजादी के आंदोलन में गांधीजी ने विदेशी राज्य को समाप्त करने के लिए जहाँ असहयोग और सत्याग्रह के रूप में आगे बढ़ने का कार्यक्रम दिया वहां स्वराज को कन्सालिडेट करने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम को भी देश के सामने रखा किया। उन्होंने रचनात्मक कार्य को स्वराज्य का बुनियादी कार्यक्रम कहा क्योंकि वह स्वराज्य की बुनियाद डालनेवाला कार्यक्रम था। वह यहां तक कहा करते थे कि अगर रचनात्मक कार्य ठीक ढंग से पूरा किया जाय तो सत्याग्रह की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी और विदेशी राज्य हट जायेगा।

दुर्भाग्य से देश के राष्ट्रवादियों ने गांधीजी की उपर्युक्त व्यूह-रचना को समझा नहीं। वे क्रान्ति की पुरानी लकीर पर चलते रहे। वे मानते थे कि एक बार अंग्रेजी राज्य खतम करने से सब कुछ हो जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जैसे-जैसे विदेशी सत्ता पीछे हटती गयी वैसे वैसे उनके द्वारा छोड़े स्थानों पर पूँजीवाद तथा सम्प्रदायवाद का कब्जा होता गया। फलस्वरूप आज मुल्क उनके हाथ में इतनी मजबूती से जकड़ा हुआ है कि नेताओं द्वारा लोकशाही यानी स्वराज्य-स्थापना का प्रयास विफल हो रहा है और नौकरशाही के हर स्तर पर पूँजीवादी और सम्प्रदायवादी शक्तियाँ हावी होती जा रही हैं।

गांधीजी रचनात्मक कार्यों को भी क्रमशः क्रान्ति के वाहन के रूप में संगठित करते जा रहे थे। वह चरखा संघ में जीवन वेतन तथा नव-संस्करण के प्रस्ताव द्वारा चरखे की तात्त्विक भूमिका को आगे बढ़ाते गये। उन्होंने नयी तालीम को भी केवल शिक्षा पद्धति के दायरे में न रखकर समग्र नयी तालीम के नाम से उसे क्रान्ति के वाहन के रूप में प्रतिष्ठित करने की कोशिश की और आखिर में विदेशी राज्य की समाप्ति तथा स्वराज्य के प्रारंभ के संधि काल में ही सारे रचनात्मक कामों को क्रान्ति के बुनियादी वाहन, नयी तालीम के गर्भ में विलीन करने की बात कही।

विनोबाजी के नेतृत्व में जो भूदान-यज्ञ आंदोलन चला वह कोई नयी क्रान्ति की शुरुआत नहीं थी। गांधीजी हमेशा कहा करते थे कि विदेशी राज्य को हटाना स्वराज्य का पहला कदम है। भूदान-यज्ञ आन्दोलन गांधीजी द्वारा प्रवर्तित स्वराज्य आन्दोलन का दूसरा कदम मात्र है। विनोबाजी ने गांधीजी के क्रान्ति तत्त्व का जो भाष्य किया उसका मूलमंत्र यह है कि अगर सच्चे स्वराज्य की, यानी अहिंसक समाज की, जिसका मूर्त रूप शासनमुक्त समाज ही हो सकता है और जिसके लिए दण्ड शक्ति का तिरोधान जरूरी है, स्थापना करनी है, तो समाज में से संघर्ष की जड़—व्यक्तिगत स्वामित्व—को समाप्त कर 'कौटुम्बिक समाजवाद' की स्थापना आवश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भूदान-यज्ञ आन्दोलन की शुरुआत हुई। जिस तरह स्वराज्य आन्दोलन के पहले कदम में गांधीजी असहयोग से सत्याग्रह तक चले गये

उसी तरह विनोबा जी दूसरे कदम में भूदान से ग्राम दान पर गये लेकिन आपको यह समझना चाहिए कि भूदान और ग्रामदान का कार्यक्रम सच्चे स्वराज्य के पुराने आन्दोलन के पापुलर पहलू का एक हिस्सा यानी आगे बढ़ने का हिस्सा था। कन्सालिडेशन का हिस्सा वस्तुत वही होना चाहिए था जो गाँधीजी ने बताया था—यानी नयी तालीम।

आप लोगों को याद होगा कि मैंने १९५४ में ही यह प्रस्ताव सर्व-सेवा-संघ तथा आन्दोलन के कार्यकर्ता समाज के सामने रखा था और तब से बराबर रखता आ रहा हूँ कि भूदान और ग्रामदान क्रान्ति का आन्दोलनात्मक कार्यक्रम है, और नया तालीम उसका रचनात्मक पहलू है। इसलिए दोनों को समान रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। उस सिलसिले में हमेशा यह विवेचन करता रहा हूँ कि एक दूसरे के सहारे के बिना आगे नहीं बढ़ सकेगा। देश के प्राचीन पौराणिक ऋषियों ने लोक कथा द्वारा हमें बताया है कि देव या देवियाँ बिना वाहन के आगे नहीं बढ़ सकती हैं और वाहन भी उन्हें पीठ पर बैठा कर ही प्रतिष्ठित हो सकता है। उसी तरह क्रान्ति देवी नयी तालीम की पीठ पर बैठ कर आगे बढ़ सकती है और नयी तालीम क्रान्ति देवी को पीठ पर लेकर ही समाज में फलीभूत हो सकता है, ऐसा मैं कहता रहा हूँ। लेकिन हम क्रान्ति के सदर्भ में नयी तालीम की बुनियाद नहीं डाल सके। इसके दो कारण हैं–प्रथम कारण हमारी दृष्टि और शक्ति पर्याप्त नहीं थी दूसरा कारण यह था कि हमारे सामने क्रान्ति के वाहन के रूप में नयी तालीम का कोई चित्र साफ नहीं था। गाँधीजी ने नयी तालीम के दो पहलू रखे थे–पहला शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति और दूसरा शिक्षा द्वारा अहिंसक क्रान्ति। वह शिक्षा में अहिंसक क्रांति यानी शिक्षा में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे। वह प्रचलित पुस्तक-मूलक शिक्षा-पद्धति को बदलकर उत्पादन-मूलक शिक्षा-पद्धति को कायम करना चाहते थे और हिंसा द्वारा समाज के अवाछनीय तत्वों को खतम न कर शिक्षा द्वारा उसे बदलने का अहिंसक प्रक्रिया को स्थापना करना चाहते थे। लेकिन अब तक नया तालीम का हमने जो प्रयोग किया वह पहले पहलू को ही लेकर किया, दूसरे पहलू पर प्रयोग द्वारा कोई अनुभव नहीं प्राप्त किया। फलस्वरूप जब क्रान्ति का दूसरा कदम उठाया गया तो हमारे सामने क्रान्ति को कन्सालिडेट करने के लिए क्रान्ति की वाहक नयी तालीम की रूप-रेखा साफ नहीं थी। जब मैंने उस सवाल को उठाया तो आन्दोलन में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह दोनों पहलुओं को साथ लेकर चलता।

यह ठीक है कि यद्यपि गाँधीजी ने समाज परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में समग्र नयी तालीम की बात कही था लेकिन जिस समय गाँधीजी ने यह बात कही थी, उस समय उनकी विचारधारा के अनुसार समाज-परिवर्तन का वाहन राष्ट्रीय सरकार होगा, ऐसा हमने माना था। इसलिए भी समग्र नयी तालीम को क्रान्ति की डाइनेमिक्स के रूप में विकसित करने की अर्जेन्सी अनुभव न करना उस समय हमारे लिए स्वाभाविक था। शायद यही कारण है कि हम नयी तालीम के क्रान्तिकारी पहलू का प्रयोग द्वारा अनुभव हासिल करने में असमर्थ रहे हैं। फिर जब विनोबा जी का भूदान आन्दोलन चला और वह ग्रामदान तक पहुँचा तो एक बार हमने फिर इसकी आवश्यकता पर विचार किया और विनोबाजी की प्रेरणा से वैसा निर्णय भी किया। लेकिन उस दिशा में हमने कुछ किया नहीं।

आपने भी यह अनुभव किया है कि भूदान से दाता और आदाता के सबंध मधुर नहीं हुए हैं और जिस करुणा को विनोबाजी अपने आदोलन का आधार मानते हैं उसकी निष्पत्ति नहीं हुई है इसका मुख्य कारण यह है कि हमने आदोलन को आर्थिक और सामाजिक पहलू से ही देखा और चलाया। अर्थात् हमने व्यक्तिगत मिल्कियतवाद की दिशा में बढ़नेवाले पहलू को ही अपनाया और मिल्कियतवाद के निराकरण से उत्पन्न परिस्थिति को कन्सालिडेट करने के लिए समग्र नयी तालीम की प्रक्रिया को नहीं अपनाया। फलस्वरूप जिस तरह स्वराज्य के राष्ट्रीय आदोलन द्वारा रचनात्मक कार्यक्रम की उपेक्षा के कारण गाधीजी सच्चे स्वराज्य का जो आधार मानते थे उसकी निष्पत्ति

नहीं हुई उसी तरह इस आंदोलन में समग्र नयी तालीम की उपेक्षा के कारण वह निष्पत्ति नहीं हुई जिसे विनोबाजी इस आंदोलन का आधार मानते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि जमीन के वितरण में हमने दाता की उपेक्षा की। दाता और आदाता के मधुर सबंध के लिए यह आवश्यक था कि दाता आंदोलन के सिद्धांत के अनुसार भूमिहीन को भूमि खुद बांटते और हमारे कार्यकर्ता उनके सहायक होते। हमने ऐसा नहीं किया। ऐसा करने में हमने क्रान्ति पर खतरा देखा। हमने यह माना कि दाता दान करके फिर अपने मन चाहे व्यक्ति को देने की इच्छा रखेगा तो उसका दान 'मोहमुक्त विसर्जन' नहीं होगा यानी वह क्रान्ति की प्रक्रिया नहीं होगी। सिद्धांत की दृष्टि से शायद यह ठीक है लेकिन तालीम की दृष्टि से सही नहीं है। विचार-परिवर्तन और हृदय परिवर्तन निःसन्देह तालीम की ही प्रक्रिया है। तालीम के प्रारंभ में शिक्षार्थी की मौजूदा स्थिति पर से ही उसे आगे बढ़ाना होता है। जब समाज में भूमि के सदर्भ में उत्कट मोह और ममता है तो किसी व्यक्ति को इस भूमिका पर से मिल्कियत विसर्जन की भूमिका पर ले जाने के लिए प्रथम कदम में अमुक हिस्से की जमीन की ममता छोड़कर अगर अपने ही स्नेही भूमिहीन को जमीन दे देता है तो विसर्जन की दिशा में बढ़ने के लिए इस प्रारंभ को काफी मानना चाहिए। जब ऐसा नहीं हुआ तो दाता की भी कोई दिलचस्पी नहीं रही और आदाता ने उस दान को करुणा की प्रक्रिया न समझकर ऊपर से दिलाया हुआ हक माना। यही कारण है कि स्वयं आदाताओं में भी आपस के स्नेह-संबंध की निष्पत्ति नहीं हुई। यह सही है कि बाद को यह कमी महसूस की गयी और अब दाता की इच्छा के अनुसार जमीन बांटी जा रही है। केवल बांटी ही नहीं जाती है बल्कि विनोबाजी ने यह भी कहा कि दान-पत्र न लेकर प्राप्ति-पत्र लेंगे। अर्थात् अब भूदान का संबंध दाता और आदाता के बीच का हो।

आज मैं ग्रामभारती यानी समग्र नयी तालीम पर इतना जोर इसलिए देता हूं कि नयी तालीम की ही यह जिम्मेदारी है कि वह दाता और आदाता के संबंधों को मधुर बनाये। मौका चूकने के कारण आज यह अत्यंत कठिन है लेकिन कठिन होने पर भी तालीम का मार्ग खोजना होगा।

ग्रामदानी गांवों के निर्माण के काम में भी हमारे काम की दृष्टि आर्थिक रही, शैक्षणिक नहीं। आपने ग्रामदान का सवाल उठाया है। लेकिन कृषि प्रधान जनता का खेती की कमी पूरी करने के लिए ग्रामोद्योग की आवश्यकता सभी गांवों में है और उसे करना है। ग्रामदानी जनता के लिए यह कोई विशिष्ट समस्या नहीं है। जैसे-जैसे विकेन्द्रित उद्योगों की तक्नीक आगे बढ़ेगा वैसे-वैसे देश भर में इस समस्या का निराकरण हो सकेगा। ग्रामदानी गांवों में जो नहीं हो सकता वह यह कि हम मनुष्य के परस्पर स्नेह संबंध के विकास को मुख्य निर्माण कार्य न मान कर बांध निर्माण आदि आर्थिक कार्यक्रम को ही लेकर बैठे रहे। अगर हमारा निर्माण कार्य तालीम मूलक होता तो हम विभिन्न वर्गों के परस्पर स्नेह संबंध के लिए तथा वर्ग निराकरण के लिए कोई टेकनीक खोज निकाल सकते थे। लेकिन हमने उस मार्ग को नहीं पकड़ा। जिस तरह दाता और आदाता के संबंध के बारे में हमने अपने तरीकों में संशोधन किया उसी तरह निर्माण के कार्य में भी उचित संशोधन करने की आवश्यकता है।

आपने माना है कि विद्रोह की भावना क्रान्ति की मुख्य शक्ति होती है। यह क्रान्ति की धारणा पर निर्भर करता है। अन्याय और निर्दलन द्वारा उत्पीड़ित जनता जब मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं देखती है तभी उसके मन में विद्रोह की भावना होती है। हिंसात्मक क्रांति में यही भावना मुख्य शक्ति होती है और यही कारण है कि हिंसक क्रान्तिकारी अन्याय और निर्दलन में कमी करने के कार्यक्रमों का विरोध करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि ऐसा करने से विद्रोही चेतना ढीली हो जायेगी। वे यह नहीं चाहते हैं कि पीड़ित जनता को कोई दूसरा मार्ग दिखाई दे। लेकिन अहिंसक क्रान्ति आरोहण की प्रक्रिया होती है। इस क्रान्ति की प्रक्रिया ही मुक्ति के लिए निराश जनता को आशा दिलाने की होती

[शेष पृष्ठ १२१ पर]

बुनियादी शिक्षा और ग्राम-सेवा

श्री मनमोहन चौधरी

ग्रामभारती के पीछे जो विचार हैं उनपर यहां तटस्थवृत्ति से पुनर्विचार करना चाहूँगा। दिल्ली में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था कि ग्रामदान के उद्गम और विकास के साथ नयी तालीम को नया रूप मिला है। वह यह है कि नयी तालीम अब पहले की तरह स्कूल की चार दीवारों तक सीमित नहीं रहेगी, बल्कि गांव के पूरे जीवन को व्याप्त करेगी। सारा गांव ही शाला होगा और गांव के सभी लोग—बूढ़े, बच्चे, जवान आदि सब उसके विद्यार्थी होंगे। उस प्रस्ताव के पीछे का विचार सब को तब अनोखा दीखा और कइयों ने महसूस किया कि आखिर बुनियादी शिक्षा को वर्तमान गतिरोध से निकलने का मार्ग खुला। उस समय मुझे भी ऐसा ही लगा था। लेकिन बाद में विचार करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि उस प्रस्ताव में ऐसा कोई अनोखा विचार नहीं है। वह कुछ प्रचलित बुनियादी सिद्धान्तों का, अनोखे ढंग से सही, पुनर्वक्तव्य मात्र है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि वह आगे का मार्ग प्रशस्त करने में किसी प्रकार सहायक सिद्ध न हुआ हो।

प्रचलित बुनियादी सिद्धांत ये हैं (१) शिक्षा जीवन से अलग न रहे और प्रत्यक्ष जीवन में आनेवाली समस्याओं और परिस्थितियों के साथ उसका घनिष्ठ संबंध हो। (२) अहिंसक समाज-रचना की प्रक्रियाएँ मुख्यतः शैक्षणिक हों। अतः हमारा प्रत्येक रचनात्मक कार्यक्रम और सारी प्रवृत्तियाँ शिक्षण का ही कार्यक्रम और प्रवृत्तियाँ मानी जायँ तथा यह शैक्षणिक प्रक्रिया समूचे जीवन को, जन्म से—बल्कि गर्भावस्था से लेकर मृत्युपर्यन्त व्याप्त करे।

बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम इस पहली कल्पना को कार्यरूप देने का प्रयत्न था। और जब से समग्र ग्राम-सेवा की बात चली है तब से हमने सारे रचनात्मक कार्यों की दूसरी कल्पना साकार करने की दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया है। दोनों प्रयोगों में हमने कुछ हद तक सफलता पायी है तो उससे अधिक कई विफलताओं और गतिरोधों का भी हमें सामना करना पड़ा है। ग्रामदान आंदोलन ने हमें व्यापक अवसर दिया और एक चुनौती दी कि हम अपने प्रयोगों को लेकर आगे बढ़ें। उसने हमें यह दिखा दिया कि अगर एक विशेष प्रकार की शैक्षणिक प्रक्रिया का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाय तो एक सीमा तक सफलता मिल सकती है। लेकिन दिल्ली के प्रस्ताव में यह स्पष्ट नहीं है कि इन अनुभवों से हम लाभान्वित हुए हैं। शिक्षा को अब चारदीवारी के अंदर सीमित रहने नहीं दिया जाय, इस एक सुझाव के अलावा उस प्रस्ताव से यह नहीं मालूम होता कि अपनी कार्यपद्धति में नये कदम क्या हो सकते हैं। केवल एक बात समझ में आती है कि अगर बुनियादी स्कूल के शिक्षक पूरे गांव का शिक्षण हाथ में ले लें तो नयी तालीम की कठिनाई हल हो जायगी।

मेरा मानना है कि इससे हमारे विचारों में उलझन ही पैदा हुई है। हम लोगों में यह एक विशिष्ट मनोवृत्ति है कि किसी भी विचार या कार्यक्रम का स्वरूप एकदम विशाल बना दें ताकि वह समूचे सर्वोदय आंदोलन को व्याप्त कर ले और उसमें सब कुछ समा जाय। यह भाषागत अलंकार की दृष्टि से अच्छा है और अपने विचारों और लक्ष्यों को खूब समझाने की दृष्टि से भी ठीक है परंतु जब इसका प्रभाव व्यावहारिक मामलों पर भी पड़ता है तो फिर खतरनाक बन जाता है।

नयी तालीम के बारे में यही हुआ है। नयी तालीम का विचार बच्चों और युवकों की शिक्षा की

एक पद्धति की दृष्टि से निकला था। लेकिन खींच तानकर हमने उसे पूरे सर्वोदय आन्दोलन के बराबर कर दिया। और इसीलिए जब कभी हम शिक्षा-सबंधी समस्याओं पर विचार करने बैठते हैं तो सीधे समूचे सर्वोदय आंदोलन के ध्येय और उद्देश्यों की तथा उनकी प्राप्ति के साधनों की चर्चा में बह जाने का हमारा मानस होता है। बाल शिक्षा पर विचार करने के लिए हम यह मानकर शायद ही कभी बैठते हैं कि उसकी अपनी भी कोई समस्या है और बच्चों का दिमाग एक कठोर वास्तविकता है और जब तक हम इन तथा इनके समान और भी कई मुमुख मुद्दों पर विचार नहीं करते हैं तब तक कोई भी शिक्षा-पद्धति सफल नहीं हो सकती। सर्वोदय आंदोलन को लें या उसका कोई महत्वपूर्ण अंग, वह जनता के अन्दर सोयी पड़ी रचनात्मक शक्ति को जगाने पर ही निर्भर है जो कि सारी सफलता का आधार है। यह सही है कि यह जागरण शिक्षा की नीति और दिशा को बहुत हद तक प्रभावित करेगा। यह भी सही है कि बाल शिक्षा की पद्धति जनता की रचनात्मक शक्ति को जगाने की दिशा में काफी दूर तक जा सकती है। लेकिन अच्छा होगा यदि इन दोनों समस्याओं पर उनके अन्योन्य सबंधों का ध्यान रखते हुए भी, अलग अलग विचार किया जाय। यह कहना निरर्थक है कि बुनियादी शिक्षा को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उनका हल तभी मिलेगा जब बुनियादी शालाओं के शिक्षक कुछ समय के लिए अपनी शालाएँ बंद करके समूचे गाव के शिक्षण के लिए निकल पड़ें। मेरा अपना निश्चित मत है कि ये दोनों काम समान महत्व के हैं और दोनों एक साथ परस्पर सहयोग करते हुए चलाने जैसे हैं।

२ जनता के साथ एकरूपता

जनता में समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया का अभिक्रम पैदा करने में 'उत्प्रेरक' का काम करना सर्वोदय कार्यकर्ताओं का मिशन-सेवाव्रत-है। इसके लिए जिस जनता की वह सेवा करेगा उसके साथ एकरूप होना होता है। उसे अपने पड़ोसियों की समस्याओं को निकटता और घनिष्ठता के साथ समझना होगा ताकि लोग अपना हल खोजने में कार्यकर्ता के विचारों से प्रेरणा ले सकें और उसे अपना प्रेरक मानें। जनता को भी उसके साथ एकरूप होना होगा ताकि उसकी बातों और कामों को अपने काम की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर सकें। इस सबंध में श्री धीरेन भाई जैसे कुछ लोगों का निश्चित मत है कि इसके लिए कार्यकर्ता को जनता जैसी ही जीवन-पद्धति अपनाना चाहिए उनकी जैसी स्थिति में ही रहकर अपनी बुनियादी आवश्यकता की कुछ वस्तुओं का उत्पादन अपने शरीरश्रम से करना चाहिए। उनका कहना है कि विरले ही ऐसे होंगे जो दूसरों के प्रति करुणा और प्रेम से स्वय प्रवृत्त होने को बाध्य होंगे। औसत व्यक्ति प्रेम आदि भावनाओं से प्रेरित होकर काम में नहीं लगता वह उन्हीं कठिनइयों को दूर करने में लगता है जिन्हें वह स्वय भोगता है। सामान्य लोग उसी का अनुसरण करेंगे जो उन्हीं के जैसा रहेगा और काम करेगा।

यह जो धारणा है क्या इसका पूर्वार्ध ठीक है? केवल दूसरों की तरह कठोर जीवन जीने से उसके अन्दर आत्मीयता और समवेदना का भाव पैदा हो जाता है, ऐसा नहीं है। बल्कि दरअसल अतिश्रम की वजह से मन कड़ा पड़ जाता है और सभव है अपने चारों तरफ लोग प्रतिदिन जो दुःख भोग रहे हैं उनके दुखों और कष्टों के प्रति उसकी सहृदयता भी खतम हो जाय। हम देखते हैं कि गरीब लोग अपनी ही चिंताओं से इस कदर घिरे होते हैं कि दूसरों के सुख दुःख के बारे में ध्यान देने को उन के पास न तो समय रहता है, न शक्ति रह पाती है। तिस पर जब एक ही प्रकार का दुःख और एक ही प्रकार का श्रम लगातार सहते जाते हैं तो उस स्थिति को ही लोग वास्तविक मान लेते है और उसे सुधार लेने की आवश्यकता महसूस नहीं करते। गरीब देहाती समाज में बच्चे जब सात आठ साल के हो जाते हैं तो उनको काम में लग जाना पड़ता है। यह उन के लिए इतना सहज हो जाता है कि इस दुःस्थिति की भयानकता उनको महसूस नहीं होती। इस प्रकार उनके साथ आत्मीयता या समवेदना की अनुभूति केवल भौतिक परिस्थिति से नहीं पैदा होती, बल्कि यह चेतना और प्रतीति

में से निष्पन्न होनेवाली चीज है। जो कार्यकर्ता स्वेच्छा से सुखी जीवन त्याग कर कुछ कठोर जीवन अपनाता है वह करुणा से, प्रेम से, परिस्थिति के अन्याय के विरुद्ध नैतिक असन्तोष से, सहजीवियों के प्रति अपने कर्तव्य की भावना से या क्रांति के उद्देश्य के प्रति अपने आदर के कारण बाध्य होता है, क्योंकि ये सारी बातें मन की सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं और अनुभूति के विषय हैं। ऐसा तो नहीं हो रहा है कि हममें सामान्य व्यक्ति की इस स्वेच्छा-पूर्वक अपना रास्ता खोजने की शक्ति के बारे में भरोसा न रह गया हो और उसे हम इस ढंग से तैयार करना चाहते हों कि वह सरल जीवन जीना चाहे तब भी जी न सके और जिस समाज की सेवा करने जाय वहाँ कठोर जीवन जीने के लिए बाध्य हो।

लोग कष्ट सहने वाले व्यक्ति के प्रति आकृष्ट होते हैं और उसके प्रति आत्मीयता और एकरूपता अनुभव करते हैं जिसे वे उन के दुःख निवारण के लिए खुद दुःख उठाते देखते हैं। लेकिन दुःख उठाने का यह अर्थ नहीं कि खुद वह भी उन्हीं के दुःखों और कष्टों को वैसे ही भोगने लगें ताकि वे उसे अपना समझने लगें। कोई डूब रहा है तो उसे बचाने के लिए जो प्रयत्न करेगा वही अधिक प्रिय लगेगा बनिस्बत उसके जो उस डूबने वाले की सहानुभूति में स्वयं डूबने लगे। हैजे से तबाह हो रहे ग्रामीणों को वैद्य का वह उपचार प्रिय होगा जो उन्हें उससे मुक्त करे। माता अपने उत्कट प्रेम के कारण स्वयं तैरना न जानते हुए भी पानी में कूद जायगी; अपने बीमार बच्चे को छाती से लगा कर भगवान से प्रार्थना करेगी कि बच्चे की बीमारी उसे लग जाय और बच्चा ठीक हो जाय। जानवरों में भी यह देखने में आता है कि बच्चे की जान बचाने के लिए मां खतरा अपने ऊपर झेल लेती है। यह जो प्रेम है, करुणा है, एकरूपता की भावना है या जो भी नाम इसे दें, यह मनुष्य-मात्र में रहनेवाली एक उत्कृष्ट और गहरी भावना है इसे बनाये रखना चाहिए और बढ़ाना चाहिए। साथ ही विवेक के साथ इसे सही दिशा भी देनी चाहिए, क्योंकि अत्यंत भावुक व्यक्तियों की यह भावना उस माता की तरह सीधे पानी में कूद जाने को प्रेरित कर सकती है।

ग्राम सेवक को उसकी जीविका के लिए खुद के शरीरश्रम पर ही निर्भर होने के लिए जोर देना मेरी दृष्टि में अनुचित है। ग्रामीणों के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करने के लिए और भी कई उपयोगी और प्रभावशाली मार्ग हो सकते हैं, बनिस्बत इसके कि उनकी तरह ही जीविका कमाने के प्रयत्न में समय बरबाद किया जाय। उसकी इस प्रकार की सेवा के महत्व को गाँव के लोग और दूसरे कार्यकर्ता मित्र न समझ पायें और उसका समर्थन करने को तैयार न हों तो यह और बात है। तब उसे अपनी मेहनत से कमाना पड़ेगा और उसके अनुकूल शिक्षण लेना होगा और अपने में खुद कमाने की शक्ति और आत्म-विश्वास पैदा कर लेना होगा। यह अलग बात है कि कार्यकर्ताओं को अपने प्रतिदिन के समय में कुछ घंटे उत्पादक श्रम के लिए निश्चित करने होंगे ताकि उसके जीवन में सन्तुलन बना रहे। उत्पादक परिश्रम के कामों में भाग लेना भी समाज के जीवन के एक पहलू के साथ घुलने-मिलने का अच्छा अवसर है।

कार्यकर्ता में यह जीवत प्रेरणा न हो तो केवल कुछ यान्त्रिक दिनचर्या से उसका निर्वाह नहीं हो सकेगा। उसकी सुप्त चेतना को जगाने के दूसरे उपाय खोजने होंगे। प्रायः उन में अज्ञान रहता है। गरीबी से त्रस्त समाज की परिस्थितियों की प्रत्यक्ष जानकारी उनको नहीं रहती है। हो सकता है, उनमें कल्पनाशक्ति न हो, बचपन की 'न्यूरासिस' के कारण उसके संवेग असतुलित हो गये हों, या आत्म-भर्त्सना करते-करते वह दूसरों की भावना के प्रति बिल्कुल कठोर हो गया हो। कारण जो भी हो, उसका उपचार मनोवैज्ञानिक ही हो सकता है। उसे अवसर मिलना चाहिए कि वह दूसरों के जीवन में प्रवेश करने की और उनकी स्थिति को उन की ही दृष्टि से समझने की कोशिश करे। जोन बोजर का ग्रेट हंगर, विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय का 'पथेर पाचाली' आदि साहित्य का अध्ययन उसके लिए मददगार हो सकेगा। उसकी दबी हुई भावनाओं को जोर का धक्का लगने दिया जाय ताकि वह अपनी आतंरिक भावना व्यक्त

कर पाये। यह अपने को कसने में थोड़ी कमी करे और अपने प्रति कुछ उदार हो ताकि औरों के प्रति यह अधिक उदार बन सके।

जनता के साथ आत्यंतिक एकरूपता साधने की इस समस्या की ओर हम अपने अन्दर किसी प्रकार की अपराध भावना न आने देते हुए वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से देख सकते हैं। मनुष्य के मन और शरीर का पूरी क्षमता के साथ काम करने के लिए उसके अंगों का अमुक एक न्यूनतम भौतिक परिस्थिति की आवश्यकता रहती है। जैसे सिपाही है, उसको त्याग के लिए हर वक्त तैयार रहना होता है इसलिए उसे युद्धकाल में एक निश्चित दर्जे का भोजन, वस्त्र और अन्यान्य सुविधाएँ देनी पड़ती हैं। और हो सकता है कि ये सुविधाएँ समाज के सामान्य मनुष्य के जीवन-स्तर की अपेक्षा अधिक उन्नत हों। लेकिन इस अन्तर को गलत नहीं समझना चाहिए और इसको लेकर सिपाही के त्याग का मूल्य घटाना नहीं चाहिए।

भारत में और संसार के और भी कई भागों में लाखों-करोड़ों लोग हैं जिनका जीवन-स्तर साधारण से भी नीचा है। इनके शरीर और मन भी निम्न स्तर में ही काम करते हैं। औसत मनुष्य के लिए स्वेच्छा से इस स्तर तक उतरना और मजबूती सेवा कार्य में लगे रहना संभव नहीं होता है। बहुधा यही वांछनीय है कि कार्यकर्ता इस प्रकार के अतिमानवीय प्रयत्नों के पीछे दौड़ने फिरने के बजाय अपनी सारी शक्ति अपने अभागे भाइयों की सेवा में लगाये।

उदाहरण के लिए कोरापुट में एक भी कार्यकर्ता ऐसा नहीं है जो अपना जीवन आदिवासियों के जीवन के बराबर जीने में सफल हो सका हो। फिर भी जब बाहर से कुछ कार्यकर्ता वहाँ काम करने आये, जो कुछ अच्छा जीवन जीने के आदी थे, तो इसे लेकर वहाँ बड़ी आलोचना होने लगी। क्रांतिकारी भूदान कार्यकर्ताओं और सुधारक निर्माण कार्यकर्ताओं के रूप में खास दो अलग-अलग वर्ग बन गये। माना यह गया कि उन्नत जीवनवाले कार्यकर्ता जो कि अपना जीवन मान सादा नहीं बना पाये, इसलिए आदिवासियों की सेवा के लिए अयोग्य ठहराये गये। पर ध्यान देने की बात यह है कि सादा जीवन का मापदण्ड उन लोगों के जीवन पर आधारित था जो सादा जीवन के आदी थे। इसीलिए चप्पल, दरिया, घड़ी, पेन आदि वस्तुएँ उनकी सामग्री में बाधक नहीं थीं जो आदिवासियों के लिए दुर्लभ थीं। चावल, दाल, सब्जी का भोजन जिसमें २५०० कैलोरी प्राप्त होती उनके लिए वर्जित नहीं था जब कि औसत आदिवासी बड़ी मुश्किल से १२०० कैलोरी युक्त पतला सा मांड प्राप्त कर पाता है। लेकिन जो व्यक्ति एक अतिरिक्त तौलिया, टूथब्रश और पेस्ट रखता था, चप्पल की जगह बूट काम में लाता था, प्याला भर दूध और एकाध चम्मच घी खाने का आदी था उसे बहिष्कृत कर दिया गया।

यह कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत हीनता के कारण ही हुआ हो ऐसी बात नहीं है। गलत मूल्यों और गलत आदर्शों के कारण यह हुआ था। अगर कार्यकर्ता इस दलील में खूब गहराई तक उतरेगा तो वह पायेगा कि वह स्वयं भी जन साधारण की सेवा करने योग्य नहीं है। तब विच्छिन्न मन (स्प्लिट माइन्ड) की वह हास्यास्पद स्थिति निर्माण होती है जिसे यह स्वीकार नहीं होता कि एक इंजीनियर को जिसने आदिवासियों की सेवा के लिए अच्छी नौकरी छोड़ी है और रोज अठारह अठारह घंटे काम करता है, ढाई सौ रुपये मासिक वेतन दिया जाय, बल्कि वही व्यक्ति ठेके पर काम करने लगे, हजारों रुपये कमाने लगे, और इस कमाई के लिए मजदूरों का खून चूसे तो इसे बड़ी धीरतापूर्वक सहन कर लेगा।

हम थोड़ा नम्र बनें और गरीब जनता के साथ भौतिक एकरूपता साधने की पराकाष्ठा तक न पहुँच सकने की अपनी असमर्थता स्वीकार कर लें और जो भी हमारे अन्दर शारीरिक और आंतरिक शक्ति है उसका उपयोग पूरी निष्ठा के साथ उनकी सेवा में करें तो सारी स्थिति अच्छी तरह सुधर सकेगी। इससे हम अधिक मानवीय बनेंगे, इससे हम उन लोगों के भी नजदीक जायेंगे जो आज पापी समझे जाते हैं।

मनुष्य अपनी आदत के विपरीत तभी कोई काम करता है जब उस पर किसी शक्तिशाली भावना का

दबाव पड़ता है या उसे किसी प्रकार का शारीरिक या भावनात्मक समाधान पाने की उम्मीद होती है।

किसी भौतिक लाभ की उम्मीद, भय, क्रोध या द्वेष, दया, सहवृत्ति, सौंदर्यानुभूति आदि कई कारणों से मनुष्य काम करता है। मनुष्य के अन्दर कुछ भावना सम्बन्धी आवश्यकताएँ हैं जो उस पर उतना ही दबाव डाल सकती हैं जितना कि भौतिक आवश्यकताएँ डालती हैं, लेकिन, यह भी होता है कि दूसरे उद्देश्यों के सामने ये दब जाती हैं या अविकसित रह जाती हैं। फिर रूढ़िग्रस्त समाज में उन भावनाओं के समाधान के परंपरागत कुछ मार्ग होंगे जो इस कदर एक दूसरे में उलझे होंगे कि सही समाधान लुप्त ही हो जाय। उदाहरण के लिए दान को लें। दान करना स्वस्थ मानव-स्वभाव की एक सहज-वृत्ति है। परंपरागत रूढ़ियों में दान के कई प्रकार हैं। किसी निश्चित सामाजिक पर्व के समय रिश्तेदारों को कुछ देना होता है, ब्राह्मणों या पुरोहितों को देना होता है, तीर्थ-यात्राओं में या रोग शय्या में इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रसंगों में दान देने की कई रूढ़ियाँ हैं। लेकिन इन दिनों हैसियत और सांसारिक सुविधाओं के कारण उन दोनों का मूल हेतु दब गया है और कहीं कृतज्ञतावश तो कहीं जबरदस्ती के कारण दान देने की सहजवृत्ति का जो समाधान है वही नष्ट हो गया है। इसी प्रकार आज विवाह के पीछे भी कई प्रेरणाएँ काम करती हैं। जैसे आर्थिक आमदनी, सामाजिक प्रतिष्ठा का पालन, वैयक्तिक संबंधों के प्रति रूढ़ धारणाएँ आदि। इनके कारण विवाह-संस्कार की मूल भावना का दब जाना, और पति पत्नी के बीच सहज प्रेम का नष्ट हो जाना अब भव नहीं है। मनुष्य में और भी कई प्रेरणाएँ हैं, जैसे कुछ प्राप्त या सिद्ध करने की इच्छा और साहस आदि। कई समाजों में इन सहज प्रेरणाओं का भी बाकायदा निरुत्साहित किया जाता है।

व्यक्ति-व्यक्ति को और समाज को सक्रिय बनाने में सर्वोदय कार्यकर्ता तभी सफलता की आशा कर सकेगा जब वह ऐसी कुछ गहरी भावनात्मक आवश्यकताओं को छू सके और जगा सके। यदि वह अपने में वैसा भावनात्मक समाधान प्राप्त करने में सफल होता है तो फिर वह दूसरों के लिए उदाहरण बन सकेगा। जो आवश्यकताएँ सुप्त हैं, खास उन के लिए यह बात लागू है। लोगों को अन्यान्य संदर्भों में दान करने से समाधान की अनुभूति होती है तो भूदान के लिए भी, जिसके पीछे बहुत बड़ी बौद्धिक अपील है, उन्हें मनाया जा सकेगा। लेकिन जिस व्यक्ति को देने के आनंद का अनुभव नहीं है उसमें दूसरों का आनंद संक्रमित करके ही वह अनुभूति निर्माण की जा सकेगी। इसलिए जो कार्यकर्ता समाज का नेतृत्व करने के प्रयत्न में है उसे अपने अंदर भावनात्मक समाधान अनुभव करना चाहिए।

आज कल सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के मन में ऐसी धारणा जोरों से काम कर रही है कि उन्हें अपनी भावनाओं की परवाह नहीं करनी चाहिए, खुद को सदा पीछे रखना चाहिए, आत्मत्याग या बलिदान के नाम से अपने निजी संतोष को गौण मानना चाहिए, आदि। इसका परिणाम यह हुआ है कि कार्यकर्ता सामान्यतया अपने को असहाय पाते हैं, निरानंद रहने लगते हैं, संसार के प्रति झल्लाते रहते हैं, संवेदनशून्य बनते हैं और अपनी इस असहायावस्था आदि भावना की छूत अपने सारे आसपास के वातावरण में लगा देते हैं। जिस आंदोलन में आ कर लोग असहाय हो जाय, पीछे रहने को बाध्य हों, और उनकी भावनाओं की कोई परवाह न हो, ऐसे आंदोलनों में लोग किस बात से आकृष्ट हो कर आयें?

अतः भावनाओं की पुष्टि और समन्वित व्यक्तित्व के विकास को भी हमारे प्रशिक्षण अभ्यासक्रम में महत्त्व का स्थान दिया जाना चाहिए। अब तक इस पहलू पर हमने अधिक ध्यान नहीं दिया है। यह मूल सुधार देने के लिए यह अच्छा अवसर है।

(अपूर्ण)

★

नयी तालीम की तारक शक्ति कुण्ठित क्यों ?

(एक चिन्तन)

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

लोकजीवन में समय-समयपर अनेक प्रवाह आते और जाते रहते हैं। कभी शुभ प्रवाहोंका जोर चलता है और कभी अशुभ प्रवाह जोर पकड़ते हैं। शुभ प्रवाह लोकजीवन के लिए तारक होते हैं, अशुभ-प्रवाह लोकजीवन को गलत दिशा में ले जाते हैं और उसकी ऊर्ध्वमुखी शक्तियाँ कुण्ठित कर देते हैं। मानव-समाज के आदिकाल से आजतक संसार में शुभ-अशुभ प्रवाहों का यह क्रम लगातार चलता रहा है। यह आवश्यक नहीं है कि दोनों प्रवाह अलग अलग समय में अलग-अलग दिखाई दें। प्रायः सुख-दुःख, हानि लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश की तरह ये प्रवाह भी व्यक्ति, समाज, देश और दुनिया के जीवन में एक साथ एक ही समय में अपना काम करते पाये जाते हैं। जब शुभ भावनाओं का प्रवाह जोर पकड़ता है, तो समाज में व्यापक मांगल्य का और सुख, शांति तथा समृद्धि की स्थिति बनती है। जब अशुभ प्रवाह बलवान् होते हैं, तो दिशा बदल जाती है। व्यक्ति, समाज तथा देश ऊपर उठने के बदले नीचे गिरनेकी रुचि-वृत्तिवाला बनता है और फिर उसी में रम जाता है। मानव-जीवन के अनुभवों में हमें इस सत्य के दर्शन सदा होते रहे हैं। आज भी हो रहे हैं।

अपने देश में आज अन्य क्षेत्रों की तरह शिक्षा के क्षेत्र में भी ऐसे ही शुभ-अशुभ प्रवाहों का दर्शन हमें निरंतर होता रहता है। हमने यह माना था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब शिक्षा दीक्षा के सारे सूत्र हमारे साथ आयेंगे, तो सहज ही हम अपने देशकी शिक्षा के प्रवाह को सही दिशा में मोड़ सकेंगे। देश के सभी सत्प्रवृत्त और सदाकांक्षी लोगों की यही अपेक्षा थी। आज भी वे इसी अपेक्षा से अपनी शक्ति भर शिक्षा के प्रवाह को शुभ दिशामें ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किंतु लम्बे अरसेसे जो गलत और बद्धमूल प्रवाह के सिलसिले उन्हें चलना पड़ रहा है, उसके कारण शुभ प्रवाह को पूरे ढंग से गतिमान करना उनके लिए बहुत ही कठिन हो रहा है। स्वतंत्रता के बाद भी लोकमानस पर पराधीनता के समय की रीति-नीति और शिक्षा दीक्षा का जो प्रभाव बना हुआ है, उसके कारण नये और शुभ प्रवाह के लिए लोकमानसमें वह सद्भाव नहीं बन पाया है जिसके सहारे वह इस शुभ और श्रेयस्कर प्रवाह को अपने जीवन में स्थान दे सके और उसके साथ तद्रूप और तदाकार हो सके। यही कारण है कि लगभग २० वर्षों का लम्बा समय बीत जानेपर भी आज देश में नयी तालीम के विचारके लिए वह अनुकूलता नहीं बन पायी है, जो समाज में उसकी प्राणप्रतिष्ठा के लिए नितांत आवश्यक है। आज भी पुरानी परंपरागत और दासतामूलक शिक्षा की ही बनी हुई है। जबतक देश का लोक-मानस पुरानी शिक्षा की प्रतिष्ठा को विचारपूर्वक विसर्जित नहीं करता तब तक लोकजीवन में नयी तालीम के लिए यह व्यापक प्रतिष्ठा सुलभ नहीं होगी, जो उसे प्रभावशाली और परिणामकारी ढंग से काम करने में समर्थ बना सके। प्रश्न केवल थोड़े हेर फेर का नहीं है। प्रश्न आमूल-चूल परिवर्तन का समग्र-क्रांति का है। पुरानी पटरी पर नयी चीज को चलाने में उसका सारा तेज और प्रभाव कुंठित हो जाता है। नयी तालीम के क्षेत्र में हमारे यहां आज यही हो रहा है। इसी कारण हम अपने देश में नयी तालीम की जीवन पद्धति का अप्रतिहत और अबाधित विकास करने में असमर्थ हो रहे हैं। वैसे देखा जाय, तो नयी तालीम का सारा विचार

एक स्वतन्त्र और सक्षम विचार है। वह किसी क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं जन्मा है। उसका जन्म तो लोक-जीवन के गहरे चिंतन से और एक स्वतन्त्र जीवन दर्शन में से हुआ है। इसलिए वह किसी पद्धति या प्रवाह की काट के लिए नहीं है।

पराधीनता की स्थिति मे देश के लोक जीवन में आचार विचार और व्यवहार आदि की जो मर्यादाएं खड़ी हुईं, लोक जीवनकी अनेक शुभ अभिलाषाओं का जो ह्रास हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप मानव समाज सहज भाव से ऊर्ध्वाभिमुख रहने की अपनी शक्ति और गति खो बैठा और पतनोन्मुखता की ओर उसका रुझान बढ़ गया। दीनता, दासता, विवशता, पराधीनता, परमुखापेक्षिता और अज्ञान आदि का कुछ ऐसा प्रवाह पीढ़ियों तक चलता रहा कि वह अपने मूल-स्वरूप को ही भूल गया और अपने आज के पतित स्वरूप को ही अपना सहज स्वरूप मानने लग गया। बुद्धि, भावना, संस्कार, आचार, विचार, रीति नीति आदि की जड़ता ने मानव-मन को दासता के उस भीषण काल में इस बुरी तरह जकड़ लिया है कि उससे पिण्ड छुड़ाना आजके इस स्वातन्त्र्य काल में भी उसके लिए अत्यंत कठिन हो गया है। लोक-जीवन की यह व्यापक जड़ता और गतानुगति काल ही नयी तालीम के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बन बैठा है। जबतक इस जड़ता पर समाज स्वयं कड़े से कड़े प्रहार करने को तैयार न होगा, तब तक नयी तालीम के लिए लोक मानस में नवचेतन और आत्मभाव जाग ही नहीं सकेगा। तपस्वी लोक सेवकों के सामूहिक और संगठित पुरुषार्थ के बिना लोकमानस की इस जड़ता पर विजय पाना संभव न होगा। अखण्ड जागृति, अविचल निष्ठा, कठिन साधना और अविरत प्रयत्न के सहारे ही लोक-मानसको सही दिशा में मोड़ने का काम किया जा सकता है।

एक द्रष्टा के रूप में जब गांधीजी ने देश के सामने नयी तालीम का अपना जीवन दर्शन रखा तो उनके मन में नाना प्रकार की दासताओं से जकड़े हुए लोक-जीवन और लोक-मानस का ऐसा ही एक करुण चित्र था। मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ उसके आचार विचारकी जड़ता और दासता का कोई मेल गांधीजी के मन में बैठता नहीं था। अगर देश स्वतन्त्रता चाहता है, तो उसे उसका समग्र आकलन और समग्र स्वीकार करना ही होगा, ऐसी उनकी श्रद्धा थी। स्वतन्त्रता का उपासक तन-मनकी किसी भी दासता मे बंधा रहे, यह उन्हें जरा भी मंजूर नहीं था। इसीलिए उन्होंने देशके सामने नयी तालीम के रूपमें स्वतन्त्रता, स्वावलंबन, स्वयस्फूर्ति, सहकारिता और सामूहिकता के क्रांतिकारी विचार रखे थे। वे समूचे समाज का विकास और उदय चाहते थे। उनकी रुचि और आस्था अन्त्योदय में नहीं, सर्वोदय में थी। परिपूर्णता, समग्रता उन का एक जीवन-लक्ष्य बन गयी थी। नयी तालीम के द्वारा वे स्वतन्त्र भारत के लोक-जीवन में इस परिपूर्णताको ही प्रतिष्ठित करना चाहते थे। स्वतन्त्र भारत का शिक्षित व्यक्ति जीवन की किसी भी दिशा में अपूर्ण और अपंग न रहे, उसके जीवनके प्रत्येक अंग का समग्र विकास हो और वह अपने मन प्राण से शुद्ध बुद्ध बन कर जीवनको अधिक से अधिक पूर्ण और पुष्ट बनानेवाला बने, यही उनकी आकांक्षा थी। इसीलिए उन्होंने नयी तालीम के कार्यक्रम में स्वच्छता, स्वावलंबन, शरीरश्रम, लोकसेवा और सहकारिता जैसे तत्वों को अग्रस्थान दिया था। नयी तालीम के माध्यम से वे देशके लोक-जीवन में ज्ञान, कर्म और भक्ति की एक ऐसी प्रबल त्रिवेणी प्रवाहित करना चाहते थे, जिससे लोक-मानसकी सारी कुण्ठा समाप्त हो जाए और लोक जीवन व्यापक रूप से नयी चेतना से भर जाय।

पिछले २४-२५ वर्षों मे देश के शासकीय और अर्द्धशासकीय क्षेत्रों में नयी तालीम का जो काम हुआ है, उसने अभी लोकमानस को इस तरह प्रभावित और प्रेरित नहीं किया है कि जिससे वह अपनी युगों पुराना जड़ता और दासता को उखाड़कर फेंक सके और नयी चेतना के रस में निरंतर डूबा रहे। यह जानते और मानते हुए भी कि नयी तालीम के गर्भ में मानवता के लिए आशीर्वाद और वरदान की प्रचण्ड

शक्तियाँ पड़ी हैं, आज सारे देश में उसके लिए बड़ा अनमनापन है। उत्कट भाव से इस विचार को जीवन में सिद्ध करके दिखाने की तत्परता और चिंता क्वचित् ही कहीं दिखाई पड़ती है। लोगों ने उसे प्रयोग और साधना के क्षेत्र से हटाकर जाब्तेकी चीज बना दिया है। जाब्ते में जो सहज जड़ता है, उसने आज नयी तालीम के काम को भी ग्रस लिया है। उसके विकास में जाब्ता एक बहुत बड़ी बाधा है। अगर कोई सोचे कि निरे जाब्तेके भरोसे वह नयी तालीम को उतने शुद्ध रूप में सिद्ध कर सकेगा, तो उसमें उसे बड़ा धोखा होगा और निराशा ही पल्ले पड़ेगी। जाब्ता एक चीज है, नयी तालीम उससे बिल्कुल भिन्न दूसरी चीज है। नयी तालीम का स्वभाव तो नित्य नूतन रहने का है। जिस तरह सूर्य नित्य उगता है और फिर भी नित्य नया ही बना रहता है, उसके निकट किसी प्रकार का बासापन नहीं टिकता उसी तरह नयी तालीम भी नित्य नूतन रहना चाहती है। इसी में उसकी तारक शक्ति भी निहित है। जो नित्य नूतन नहीं है, उसमें कोई तारक शक्ति भी नहीं होती।

अपनी पराधीनता के काल में हम भारतवासियों को अनेक मारक शक्तियों के बीच घिरकर जीना पड़ा। आज स्वतन्त्रता के इस काल में ये ही शक्तियाँ काम करती चली आ रही हैं। इसे हम अपने देश का एक बड़ा दुर्भाग्य मानते हैं। देव की बड़ी ही विचित्र लीला है! जिस देश ने स्वतन्त्रता के लिए कड़ी से कड़ी तपस्या की वही आज अपने स्वतन्त्रकाल में तारक शक्तियों की एक निष्ठ उपासना करने के बदले मारक शक्तियों की आराधना में रत है, यह देख कर मन व्यथा से भर आता है। पता नहीं देश के भाग्य में व्यथा का यह काल कितना लम्बा होगा!

हमारी यह दृढ़ मान्यता है कि सत्य विचार अन्त तक सत्य ही बना रहता है। समय की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमें लगता है कि नयी तालीम का विचार भी ऐसा ही एक सत्य विचार है और सत्य की भाँति ही वह मानव जीवन के लिए तारक भी है। मानव मन की और जीवन की अनेक छोटी बड़ी दुर्बलताओं पर विजय पाने के लिए जिस साधना की आवश्यकता रहती है, नयी तालीम के माध्यम से हम उसके लिए बड़ी अनुकूलता कर देते हैं। जिस प्रकार भव-सागर से तरने के लिए भक्ति नाव का काम करती है, उसी प्रकार मानव-मन को उसकी अनेक-विध कुण्ठाओं से मुक्त करने के लिए नयी तालीम वरदान का काम करती है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि नयी तालीम की इस महान् और अद्भुत शक्ति को हम अभी तक पहचान नहीं पाये और उसकी सही परख करने के बजाय उसके नाम से ही भड़कने लगे। जब तक अज्ञान, अन्ध विश्वास, स्वार्थ, प्रमाद, आलस्य, जड़ता और अनास्था से उत्पन्न यह भड़क लोक-मानस से दूर नहीं की जाती है, तब तक देश में नयी तालीम का भविष्य आज की तरह ही सदेह सन्द बना रहेगा और हम अपने लोकजीवन में उसकी सही प्रतिष्ठा नहीं करा पायेंगे।

हर साल इस देश में नयी तालीम के विकास के लिए बड़े पैमाने पर सप्ताह मनाने की रीति पिछले कुछ सालों से शुरू हुई है। किंतु इन सप्ताहों को भी हमने जाब्ते की जकड़ में इस तरह बाँध लिया है, कि बहुत चाहने और यत्न करने पर भी हम इनके द्वारा लोक-मानस में नयी तालीम की प्राण प्रतिष्ठा नहीं करा पा रहे हैं। हर शुद्ध विचार की अपनी एक प्रतिमा होती है। किंतु जब उसे किसी विधर्मी अशुद्धता से जोड़ दिया जाता है, तो उसकी असल प्रतिमा पर एक आवरण सा पड़ जाता है। और फलतः लोग उसके सही स्वरूप को देख समझ नहीं पाते। हमारे देश में आज नयी तालीम के साथ कुछ ऐसा ही व्यवहार हो रहा है। इस असंगति के कारण ही नयी तालीम के नामपर देश में जो श्रम, शक्ति, बुद्धि और सम्पत्ति आज खर्च हो रही है, उसका कोई सुफल हमें इधर कहीं देखने को नहीं मिल रहा है। नयी तालीम की तारक शक्ति पर पड़े इस आवरण को हटाने का प्रचण्ड पुरुषार्थ आज की हमारी तात्कालिक आवश्यकता है। भगवान से हम यही चाहते हैं और मनाते हैं कि अपने दिल दिमागपर पड़े इस मायावी आवरण को उतार फेंकने की शक्ति वह हम में से हर एक को दे। ['राष्ट्र भारती से साभार] ●

नन्हा मदरसे चला

डा० जाकिर हुसेन

लीजिए, अब आपका नन्हा मदरसे चला। आदमी का बच्चा शुरू शुरू में ऐसा बेबस होता है, और बड़ा होकर मानवता के जिस स्तर पर उसे पहुँचाना होता है, वह इतना ऊँचा है, कि उसकी शिक्षा में बहुत दिन लगते हैं, और उसके विकास के लिए बड़े यत्न करने पड़ते हैं। इस शिक्षा और विकास के काम में आप, यानी नन्हे के मा बाप, अभिभावक, अकेले जो कुछ कर सकते थे कर चुके। अब शायद आप समझते हैं कि काम केवल आप से न सम्भलेगा। इसमें औरों की मदद की जरूरत है। इसलिए नन्हा मदरसे भेजा जाता है। लेकिन शिक्षा और विकास का काम ऐसा मिला-जुला काम है कि अनेक प्रकार की शक्तियां सभी ओर से सिमट कर बच्चे के व्यक्तित्व में इस तरह घुल मिल जाती हैं, कि उन्हें अलग-अलग करना कठिन है। मदरसा जब इस काम को अपने सिर लेता है, तब तक घर बहुत-कुछ बना बिगाड़ चुकता है। फिर मदरसे के सुपुर्द होने के बाद भी घर का प्रभाव मिट नहीं जाता। या तो घर और मदरसा साथ-साथ चलते हैं, और एक-दूसरे के काम को समझ कर हाथ बढ़ाते हैं, या वह एक तरफ खींचता है, यह दूसरी तरफ! उसकी ढोलकी अलग और इसका राग अलग!

अब जो नन्हा मदरसे चला, तो देखना यह है, कि आप यानी मा-बाप और अभिभावक इसे पहले से क्या बना चुके हैं। मगर आप न जाने क्या-क्या हो सकते हैं! हो सकता है, कि आप उन अभागों में हों, जिनके पास दूसरों का कमाया हुआ धन इतना होता है कि समझ में नहीं आता उसका करे क्या। धन की विपुलता का बोझ प्राय अक्ल की कमी से हल्का होता है। क्या अजब है, कि आपका भार भी कुछ इसी तरह हल्का हुआ हो। अगर ऐसा है, तो अनुमान यही है, कि आपने नन्हे के विकास का कर्तव्य धन-व्यय करके पूरा करना चाहा होगा। नन्हे के लिए अनगिनत, बेकार नौकर होंगे और बेजरूरत सामान! तरह-तरह के कपड़ों से बक्स भरे होंगे, लेकिन शायद ही कोई पोशाक इस बच्चे के लिए उपयुक्त होगी। जूतों की लम्बी कतारें होंगी और नन्हा अक्सर नंगे पैर रहता होगा। खिलौनों का एक अजायब-घर होगा, जिनसे बच्चा कभी का उकता चुका होगा। यह नौकरों पर आपकी नकल करके जा और बेजा हुकूमत जताता होगा। घर में लाड़-प्यार करने वाली दादी और नानी होंगी, तो उन्हें खुश करने के लिए जब-तब आपको भी कुछ उल्टा सीधा सुना देता होगा। अपने हाथ-पांव से काम करने की नौबत मुश्किल ही से कभी आती होगी, क्योंकि यह बड़प्पन की शान के खिलाफ है। बस, खाना खुद हजम करना होता होगा, तो शायद यही काम ठीक पूरा न हो सकता होगा। नन्हा चिड़चिड़ा होगा, जिद्दी होगा, अशिष्ट होगा, अभिमानी होगा और अब यह मदरसे जाएगा! आपके किसी दोस्त ने बताया होगा, कि अमुक मदरसे में भेजो, वहां फीस ज्यादा है, इसलिए मदरसा जरूर अच्छा होगा। आपको अगर फुर्सत मिली होगी, तो एक खत अंग्रेजी में हेडमास्टर के नाम लिख दिया होगा, और कुंवर साहब दो-तीन नौकरों और एक दो धायों के साथ आप की बड़ी मोटर में बैठकर मदरसे में पधारे होंगे। अगर नानी-अम्मा ने एक हफ्ते के अन्दर-अन्दर बच्चे को मदरसे से न उठा लिया, तो सच मानिए कि मदरसा आपके किये को अनकिया किये बिना अपना कर्तव्य मुश्किल से पूरा कर सकेगा, और फिर न मालूम कि घर कहां-कहां मदरसे की राह में रुकावट बने!

हो सकता है, कि आप उन दीर्घायु मनुष्यों में से हों, जो अपने परिश्रम और योग्यता से आगे बढ़कर अपने पेशे या कारोबार में विशेष महत्त्व प्राप्त करते हैं, या किसी ऊँचे सरकारी पदपर पहुँच जाते हैं। आपको अवश्य यह चिन्ता होगी कि अपने बच्चे को अपने से और अच्छी शिक्षा दें। लेकिन आपको खुद इतनी कम फुर्सत होगी कि उसकी देखभाल कोई दूसरा ही करता होगा। लेकिन जिस तरह आप अधिक व्यस्त रहते हुए भी जीवन के सभी प्रधान-क्षेत्रों–धर्म, अर्थनीति, राजनीति–के सम्बन्ध में बस अन्तिम निर्णय करना और उनका प्रचार अपने अल्पज्ञ और थोड़ी पूँजीवाले साथियों में करना आवश्यक मानते हैं, और समझते हैं कि इससे अपने व्यस्त जीवन की एकांगी प्रवृत्ति में कुछ सीध पैदा करेंगे, उस तरह आप अपने *बच्चों की ओर ध्यान न दे सकने की कमी को*, इसके सम्बन्ध में और इसकी शिक्षा के साधनों के सम्बन्ध में, खेद है कि बिलकुल अन्तिम निर्णय पर पहुँच कर, पूरा करना चाहते हैं। आप क्योंकि एक सफल मनुष्य हैं, इसलिए अपनी दृष्टि में आप ही मनुष्यता के मान दण्ड (मयार) हैं। अगर आपकी दृष्टि में कहीं बच्चे का यह रूप अधिक ठीक जँचे कि वह आप ही की सहज क्षमताओं का स्वामी है, तो शायद आपकी राय यह होगी कि आपका बच्चा "जीनियस'—प्रतिभा सम्पन्न है। इसकी समझ के क्या कहने इसकी धारणा शक्ति का क्या पूछना! इसे दो कविताएं जबानी याद करा दी गयी हैं, जो आप अक्सर इस गरीब से अपने मित्रों के सामने पढ़वाते हैं। यह उन्हें एक खास ढंग से सिर हिला हिलाकर और हाथ बढ़ा बढ़ा कर सुनाता है। आपने स्वयं अत्यन्त कृपा करके किसी इतवार के दिन इसे कुछ अंग्रेजी के वाक्य रटा दिए हैं। यह रटा हुआ भी इसे लोगों के सामने दुहराना पड़ता है। और इन प्रदर्शनों के बाद आप अपने दोस्तों को यकीन दिलाते हैं, कि यह लड़का तो जीनियस है, जीनियस! मगर आपको कौन बताए कि इस ऊँचे मानदण्ड के अनुसार तो सारे तोते और सारे बन्दर भी जीनियस हैं। और अगर कहीं काम की अधिकता के कारण आपके रग पुट्ठे कुछ कम और ही गए हैं, निगर का काम भी कुछ खराब है, और बदकिस्मती से बच्चे से कोई मन के विरुद्ध बात भी कई बार हो गयी है, क्योंकि ऐसी दशा में मन के विरुद्ध बात करने के लिए किसी बड़े हुनर की जरूरत नहीं, तो आप अपनी सहज बुद्धि से इस ठीक नतीजे पर भी पहुँच सकते हैं कि वह गधा है! अपनी दूसरी रायों की तरह आप अपनी इस राय का भी वक्त बे वक्त ऐलान करते होंगे, और आदमी के इस बच्चे को गधा बनाने में अपने बस भर तो कसर उठा न रखते होंगे। और अब आपका यह जीनियस या आपका यह गधा अपने साथ बड़प्पन का मिथ्यानुमान (सुपीरिआरिटी काम्प्लेक्स) या उससे भी अधिक हीनता का मिथ्याभाव (इनफीरिआरिटी काम्प्लेक्स) लेकर मदरसे जाता है। देखिए, मदरसा आपकी पैदा *की हुई उलझनों को किस तरह सुलझाता है, और* आपका हस्तक्षेप करना वहाँ भी कहीं और गुत्थियाँ तो नहीं डालता! शायद आपका हरदम अपने काम में लगा रहना ही मदरसे को अपना काम करने दे और आपका जीनियस या गधा आदमी बन जाय!

लेकिन सम्भव है, कि न आप अतुल धन दौलत के उत्तराधिकारी हों, न दिन-रात कमाई के सफल संघर्ष में लान। बल्कि साधारण कोटि के ठीक भले मानस हों। अपनी दूकान रखते हों, किसी दफ्तर में सौ-सवा सौ के नौकर हों, किसी मदरसे में अध्यापक हों, रोज कुछ समय अपने बच्चों में बिता सकते हों, घर का काम आपकी पत्नी आप सम्भालता हो, नौकर चाकर न हों, सभ्य और योग्य पत्नी घरको साफ-सुथरा रखती हो, और बच्चों की भी देखभाल करती हो, तो आपका बच्चा बहुत से उन खतरों से सुरक्षित है, जिनकी चर्चा अभी कर चुका हूँ। मगर बच्चा फिर भी बच्चा है! कभी अधिक साफ सुथरे घर में कहीं कुछ गिरा देगा, धुली चाँदनी मैली हो जाएगी, माँ जो रोटी थपानी में लगी है उसे देखकर नाराज होगी और कहेगी, "अच्छा आने दे बाबूजी को अपने, कल ही तुझे मदरसे न भिजवाया तो।' कभी बच्चे से कोई चीज टूट जाएगी—वही मदरसे की धमकी! कभी खेल-कूद में बच्चा चिल्लाएगा—शोर मचाएगा,

अभी कपड़े बदले गए थे अभी धूल में सना मा के सामने आएगा, तो वही मदरसे भेजने की धमकी दी जाएगी। धमकी का प्रभाव बढ़ाने के लिए मदरसे की बड़ी भयानक तस्वीर भी सामने लायी जायगी। और यों आज के दिन के लिए क्या ही खूब तैयारी की गयी होगी, इसलिए कि आज आप का नन्हा मदरसे चला!

या हो सकता है कि आप हिन्दुस्तान के उन करोड़ों किसानों और मजदूरों में से हों, जिनके बच्चों के लिए बस घर का कठिन जीवन ही मदरसे का काम देता है। जिनके लिए मदरसे खोलने को कभी काफी पैसे नहीं मिल पाते और जिनके बच्चों को शिक्षा दिलाने के लिए इतने मदरसों की जरूरत है, कि हरएक शिक्षा विशेषज्ञ उँगलियों पर हिसाब लगाकर बता देता है कि इतने मदरसे खोलने के लिए जितने धन की जरूरत है, उतना तो मिल ही नहीं सकता वे यह बात बताकर समझते हैं कि बड़ी दूर की कौड़ी लाये। फिर इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी अगर कुछ मदरसे इनके लिए बन जाते हैं, तो वे अपने बच्चों को इन मदरसों में भेजने को तैयार नहीं होते। मैंने यह गलत कहा कि आप शायद उन करोड़ों किसानों या मजदूरों में से हों। उन बेचारों का इतना समय कहाँ कि बेफिक्रों की तरह रेडियो पर भाषण सुनें। कहीं-कहीं शिक्षा के अनिवार्य हो जाने के कारण, कहीं इसके निःशुल्क हो जाने के लालच से, कहीं आस-पास के सपन्न लोगों की देखा देखी ऐसे किसान या मजदूर का नन्हा भी पढ़ने के लिए बैठा दिया जाता है। वह नन्हा जो घर के कामों में मा-बाप का हाथ बटाता है, जो बकरिया चरा लेता है, खेत पर बाप के लिए रोटी ले जाता है, मा जब उपले थापती या रोटी बनाती है तो यह छोटी बहन को बहला लेता है। हाथ पाव का बड़ा मजबूत है, सब आखें दुखती हैं, या नाक बहती है। लेकिन आग मिला कर बात करता है, बे-सहारे जिंदा रह सकता है, आदमी का बच्चा है, कोई मुरमुरों का थैला नहीं, और, हा न यह जीनियस है—न गधा! मगर इसका बाप भी चाहता है कि बच्चा पढ़कर पटवारी बन जाय। यह न हो सके तो लाल-पगड़ी वाला चपरासी ही सही। अनिवार्य शिक्षा का कानून इसके जिले के कुछ गावों में लागू हो गया है, इसलिए यह भी आज मदरसे जाता है।

अब आप ही देखिये कि कैसे भांति भांति के बच्चे मदरसे जाते हैं। घर ने कैसे-कैसे नमूने बनाये हैं, क्या क्या आशाएँ लगी हैं, और उन्हें पूरा करने का क्या उपाय है? मा-बाप की मानसिक उलझन को देखिये, उनके नतीजे यानी बच्चों की मानसिक गुत्थियों पर ध्यान दीजिये—तो मालूम होता है कि मदरसे का काम भी कितना कठिन है। लेकिन क्या मदरसेवाले इसे सचमुच कठिन समझते हैं? क्या उनका ध्यान अपने काम की इस कठिनता की ओर जाता है? उनकी ये कठिनाइयां तो सुनने में आयी हैं कि वेतन कम है, काम बहुत है, अफसरों को सलाम झुकाने में या उसकी तदबीर में फुरसत का और कभी-कभी काम का भी बहुत वक्त निकल जाता है। छुट्टियां कम हैं, अफसर लोग पक्षपात से काम लेते हैं, और कहीं-कहीं तो महीनों तनख्वाह भी नहीं मिलती। ये सब और इन जैसी बहुत-सी शिकायतें सुनने में आती हैं, और प्राय ठीक भी होती हैं। लेकिन शिक्षा और विकास के काम की वास्तविक कठिनाई तो और ही है। यह कठिनाई तो वही है, जिसके कारण घर में विकास-सबधी अनेक भूलें हो जाती हैं। यानी बड़ों का यह अभिमान कि वे ही सब कुछ हैं, बच्चा कुछ नहीं, वे सब कुछ जानते हैं, मंजिल जानते हैं, राह पहचानते हैं, सफर की गति विधि निश्चय कर सकते हैं, काम उनकी इच्छा के अनुकूल हो, जिसकी अनेक रूपता के क्या कहने, तो सब ठीक! इसके खिलाफ हो, तो सब गलत! उन्हें घमण्ड है कि बच्चा उनकी सपत्ति है, वे चाहे मनोरजन के लिए उसे अपना खिलौना बनायें, चाहे अपने मनमाने उद्देश्यों के लिए अपना दास। उन्हें अपनी बाजीगरी पर पूरा भरोसा है कि आम को इमली और इमली को आम बना सकते हैं। पहले बच्चा घर में लक्ष्य बनता है इस बात का कि वह सबकी सपत्ति है, और मा-बाप की सर्वज्ञता के दम्भ का। फिर कहीं मदरसे पहुँचता है। क्या मदरसा

इसे इस मुसीबत से छुड़ा सकता है ? क्या अध्यापक महोदय भी उस बीमारी के शिकार नहीं होते, जिसके कि स्वयं अभिभावक थे ? क्या वे भी सब कुछ नहीं जानते और सब कुछ नहीं कर सकते ? क्या वे भी यह नहीं समझते कि बच्चा उनके कुशलकरों में, बस, मिट्टी का एक लोंदा है ? वे जो आकार चाहें उसे दें, और उसका मस्तिष्क जो कोरा कागज है, वे उसपर चाहे जो लिख दें। यारों ने तो शिक्षा के विचा विषयक विचारों की पूरी इमारत ही इसी गलत बुनियाद पर खड़ी कर ली है और शिक्षा की व्यवस्था बस इस अहितकर प्रयत्न से की जाती है कि प्रकृति जो चाहती है वह न होने पाये, या जो हम चाहते हैं—प्रकृति को भी वही चाहना चाहिए। प्रकृति तो हर बच्चे में व्यक्तित्व निर्माण के अनगिनत साधनों में से किसी एक विशेष साधन की सफलता चाहती है। किसी ने ठीक ही कहा है, कि हर बच्चा जो पैदा होता है वह इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर अभी मानव से निराश नहीं हुआ है और यहां पर यह धारणा बन चुकी है कि जो सांचा हमने तैयार किया है, बस वही सर्वश्रेष्ठ है। व्यक्तित्व के मोम को पिघला कर बस उसी में ढालना चाहिए और जो ठप्पा हमने बनाया है, वही सब से अच्छा है, उसी की छाप इस पर लगानी चाहिए। इस समय जब कि मैं बच्चों के अभिभावकों और उनके अध्यापकों को लक्ष्य करता हूं, यह निवेदन किये बिना नहीं रह सकता कि आप किसी तरह अपने को मौलिक भ्रांतियों से मुक्त कर लें, बच्चे को मनुष्य का अग्रदूत समझें, उसे बेसहारे खुद भी बढ़ने दें, उसकी प्राकृतिक क्षमताओं और प्रवृत्तियों का सम्मान करें और समझें कि यह छोटा-सा जीव अपने विकास की क्रियात्मक पूर्ति की ओर खुद कदम उठाता है। इसे सहारा दीजिये, मगर इसके चलने की दिशा तो न बदलिए। न इसकी ओर इतना अधिक ध्यान दीजिये कि वह फिर खुद अपनी ओर ध्यान ही न दे सके, न इतनी उदासीनता ही रखिए कि इसकी वे आवश्यकताएँ भी पूरी न हों—जिनमें यह सचमुच आपके अधीन है। न लाड़-प्यार की ज्यादती से इसे 'मिर्जा-फोया' बनाइये, न ऐसा हो, कि आप की कठोरता के कारण यह जिंदगी या कम से कम आदमियों से ही घृणा करने लगे। मानसिक जीवन की अनेकरूपता को ध्यान में रखिये और यह विश्वास न कर बैठिए कि ऊंचे पदाधिकारियों या बड़े-बड़े वकीलों के सब बच्चों को ईश्वर खास तौर से गढ़ कर सिविल सर्विस के इम्तहान में बैठने के लिए ही दुनिया में भेजता है। सारांश यह है, कि उन संभावनाओं के कारण, जो आपके बच्चे के मानसिक जीवन में अभी छिपी हुई हैं, उन मान्यताओं के लिए जिनका वह भार उठा सकता है—आप उसका आदर और सत्कार करें। जी हां, आप घबरायें नहीं। मैंने यही कहा कि आप बच्चे का आदर और सम्मान करें। केवल बच्चे से लेकर एक स्वतंत्र नैतिक व्यक्तित्व तक पहुँचने का प्रयत्न सचमुच बड़ा ही सराहनीय प्रयत्न है। आपने स्वयं चाहे उस राह पर कदम उठाना छोड़ दिया हो और थक कर कहीं बीच ही में बैठ रहे हों, कि बहुत से आदमियों को उस मंजिल तक पहुँचने का सौभाग्य नहीं मिल पाता, लेकिन आप का बच्चा अभी उस राह पर पहले पहल कदम उठा रहा है, उसका रास्ता तो न रोकिए, और भ्रम में कभी न पड़िए कि वह आपकी संपत्ति है, आप जो चाहें उसे बनायें। वह आपकी संपत्ति नहीं। वह तो आपके पास प्रकृति की एक धरोहर है। प्रकृति के अधिकार को अपने अधिकार से अधिक समझिए।

अध्यापकों से भी, जिनके मदरसे में ये बच्चे इसलिए भेजे जाते हैं कि समाज की दृष्टि में घर शिक्षा विकास के कर्तव्य का पूर्णरूप से पालन नहीं कर सकता, मेरी यह प्रार्थना है, कि आप भी अपने इस शुभ कार्य का मौलिक सिद्धांत उसी आदर और सम्मान की भावना को बनायें। यह सिद्धांत यदि आपके मस्तिष्क में बैठ गया, तो शिक्षा के काम में आपका सारा रवैया ही बदल जायगा। आप अपने साथियों को भेड़ों का समूह न समझेंगे, बल्कि उसमें हर बच्चे की विशेष क्षमताओं और मुख्य आवश्यकताओं का ध्यान रखेंगे। मैंने पारिवारिक परिस्थिति के कारण बच्चों में जो भेद उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी ओर संकेत किया है। आप अगर उन पर

नम्र रखेंगे तो जहां सहारे की जरूरत है वहां धक्का लग जायगा, जहां हिम्मत बढ़ाने से काम बन सकता है, वहां आप मनमुटाव का कारण बन जायेंगे, जहां आपकी एक मुस्कुराहट से बच्चे के दिल की कली खिल सकती थी, वहां आपकी उपेक्षा से उसके मुरझाने का डर पैदा हो जायगा। अगर बच्चे का आदर और सम्मान करना आपकी दृष्टि में एक उचित सिद्धांत होगा, तो आप अपने छात्रों की मानसिक उलझनों को समझने की कोशिश करेंगे और हर एक के लिए उचित उपाय सोचेंगे। इन सामुदायिक मर्दों के अतिरिक्त बच्चों की मानसिक आवश्यकताओं में जो विभिन्नताएं होती हैं उन पर भी आपकी दृष्टि रहेगी, तो आप कोशिश करेंगे कि जो प्रवृत्ति अधिक से अधिक बच्चों में हो उसी को समुदाय में भी शिक्षा का साधन बनायें। उदाहरण के लिए सात से बारह चौदह वर्ष तक के बच्चों में अगर आप देखें कि व हाथ के काम की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो आप शायद इस बात पर जोर न दें कि उनकी शिक्षा सब किताबों ही के द्वारा हुआ करे कि बुजुर्गों की दृष्टि में किताबों का पढ़ना-पढ़ाना ही शिक्षा कहलाता है। छोटों के प्रति आदर भाव तो स्नेह, आशीर्वाद और मृदुता का रूप धारण कर लेता है। यह सिद्धांत जो मैंने अभी बतलाया है, आप में बच्चे के लिए स्नेह और सहानुभूति उत्पन्न करेगा, आपको असफलताओं का सामना करने के लिए सहन शीलता और धैर्य का वह शक्ति प्रदान करेगा जो स्नेह के अतिरिक्त अध्यापक की सब से बड़ी पूंजी है। आप बच्चों के अच्छे अध्यापक याना प्रकृति की धरोहर के सच्चे अमीन बन जायेंगे और आपके परामर्श और और आपके आदर्श से बच्चों के पिता और अभिभावक भी अपने कर्तव्य को भली भांति समझ सकेंगे और अध्यापक और अभिभावक के सहयोग से शिक्षा और विकास का काम सचमुच सुचारु रूपसे सपन्न किया जा सकेगा।

('शिक्षा' से साभार)

*

[पृष्ठ १०८ का शेषांश]

है। वस्तुत अन्याय और निर्दलन के लिए पीड़ित जनता के दिल में सुप्त विरोध तो हमेशा रहता है लेकिन वे नहीं जानते हैं कि पीड़ा किधर से होती है। सामान्यत क्रान्तिकारी उन्हें पीड़ा का स्रोत तो बता देता है लेकिन विद्रोह के सिवाय उसे मुक्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं बताता है। समग्र नयी तालीम वर्ग निराकरण की रचनात्मक प्रक्रिया का मार्ग उपस्थित कर मुक्ति का सहज उपाय बताता है। ऐसी हालत में यह आशा करना कि इसमें से विद्रोह की भावना निकलेगी सही नहीं होगा। क्योंकि जब जनता को मुक्ति के लिए क्रमिक विकास का मार्ग दिखाई देगा तो उसका अन्तर्निहित विरोध पुनाभूत होकर विद्रोह का रूप नहीं लेगा। अगर विद्रोह नहीं होता है तो क्रान्ति नहीं होगी, एसा सोचना गलत है। शिक्षण प्रक्रिया से सामाजिक विकारों का बोध और उनके निराकरण के मार्ग का दर्शन क्रान्तिकारी आरोहण के लिए शक्ति का स्रोत है। क्रान्ति की इस नयी टेकनीक पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। वस्तुत हमको वर्ग संघर्ष की पूर्व भूमिका के असर से मुक्त होकर नयी बुनियाद पर सोचने की आवश्यकता है। जब हम ऐसा सोचेंगे तो हमें दिखाई देगा कि नयी तालीम विकास की केवल शैक्षणिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि मूल्य परिवर्तन तथा समाज-परिवर्तन की वास्तविक शक्ति है।

यह सही है कि प्रगतिशील लोकतांत्रिक मुल्कों में ग्राममारती प्रक्रिया द्वारा मुक्ति के मार्ग का दर्शन जल्दी होगा और सामन्तवादी संस्कार वाले मुल्कों में अंधकार और अज्ञान के कारण देर होगी। कभी कभी पीड़ित जनता अधीर होकर विद्रोही भी हो जायगी लेकिन नयी तालीम का काम होगा कि वह शिक्षा द्वारा मुक्ति का मार्ग बताती रहे, और जब कभी विद्रोही भावना का अंकुर देखे तो उसे अहिंसक मार्ग पर संचालित करे। लेकिन अहिंसक क्रान्ति का यह प्रक्रिया कभी नहीं होगी कि वह व्यापक स्तर पर विद्रोह भावना जगाने का कार्यक्रम अपनाये।

★

भारतीय पाठशालाओं की निम्न श्रेणियों में अंग्रेज़ी भाषा का शिक्षण

श्री उ० आ० असरानी

पिछले कुछ दिनों से स्कूलों में अंग्रेजी भाषा के शिक्षण की ओर अधिक ध्यान देने के पक्ष में जन-मत की एक लहर-सी उठी है। अग्रजी अतर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषा है। इसका ज्ञान हमारे जैसे अविकसित देश के लिए बड़ा लाभ दायक होगा। परन्तु प्रश्न उपयोगिता का उतना नहीं है जितना यह कि अंग्रेजी शिक्षा को कितना महत्त्व देना वाछनीय है। यदि हम अंग्रेजी को द्वितीय भाषा क रूप मे पढ़ाते हैं जिस प्रकार हमारे यहा द्वितीय भाषायें पढ़ायी जाती हैं, अथवा जैसे अमेरिका में माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में फ्रेंच, जर्मन या स्पेनिश भाषायें पढ़ायी जाती हैं, तो इसमें किसी समझदार व्यक्ति को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किंतु यदि हम अग्रजी भाषा और साहित्य के अध्ययन को अपने स्कूलों और कालेजों के पाठ्य क्रमों मे वही विशेष स्थान देते हैं, जो स्वतंत्रता के पूर्व उसको प्राप्त था, तो मेरी समझ में हम एक दुखद भूल कर रहे हैं। यह बहुत बड़ी मूर्खता होगी यदि एक स्वतत्र राष्ट्र होते हुए भी हम राष्ट्र तथा राज्य भाषा से अधिक महत्त्व एक विदेशी भाषा अग्रजी को कक्षा ३ से ही देने लगें।

यह समझना आवश्यक है कि अंग्रेजी के पढ़ाये जाने का प्रश्न केवल एक पाठ्यविषय जोड़ देने का नहीं है, बल्कि कई विद्वानों के मत के अनुसार राष्ट्रीय चरित्र निर्माण के लिए किसी भी अन्य उपकरण की तुलना में भाषा का अधिक महत्त्व है। अत अग्रजी शिक्षण पर अधिक बल देना एक विदेशी सस्कृति से अपने शिक्षित वर्ग को प्रभावित करना है और चूंकि यह प्रभाव बहुत प्रारभिक तथा सुकोमल आयु में डाला जा रहा है अत उस सस्कृति के अच्छे तथा बुरे दोनों पक्षों का प्रभाव चरित्र पर पड़ेगा।

बच्चे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अपनी मातृ भाषा के द्वारा राष्ट्र की परपराओं तथा सस्कारों को स्वभावत ग्रहण कर लेते हैं। यदि वे ६ वर्ष की आयु के बाद कोई विदेशी भाषा सीखते हैं तो स्थूल वस्तुओं को प्रकट करनेवाले उस भाषा के शब्दों के अर्थ चाहे भले ही समझ लें परतु भावनाओं और सबधों को प्रकट करनेवाले शब्दों को समझना उन के लिए कठिन होता है। राष्ट्रीय भाषा एक अनुभूत भाषा होती है। सीखी हुई विदेशी भाषा ऐसी अनुभूत भाषा नहीं हो सकती। इन दोनों का भेद इस प्राकृतिक तथ्य पर निर्भर है कि ऐसा अनुभूत भाषा विकास किसी व्यक्ति के जीवन काल में केवल एक ही बार होता है। अत शिक्षा के माध्यम के रूप मे विदेशी भाषा का प्रयोग घातक है। इससे छात्र का मस्तिष्क दो विभिन्न भागों में बट जाता है जिनमें से एक मातृभाषा के लिए और और दूसरा स्कूल और कालेज के विषयों के लिए हो जाता है, जिससे वह विदेशी भाषा में सीखे हुए विचारों को मातृभाषा मे प्रकट नहीं कर पाता। द्विभाषीयता सर्व साधारण के लिए वहीं संभव है जहाँ दोनों जातिया एक सम्मिलित सास्कृतिक पृष्ठभूमि रखती हैं। उन की भाषाए उसी एक भाषा-समुदाय से सबध रखती हैं। अन्यथा यह द्विभाषीय परिस्थिति एक ऐसे छोटे से गुट तक सीमित रह जाती है जो दो सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों में सबंध रखने के कारण अपने राष्ट्र के सर्व साधारण से बिल्कुल भिन्न हो जाता है। महात्मा गाधी ने शिक्षित व्यक्तियों द्वारा अंग्रेजी भाषा

के अध्ययन पर विशेष बल दिये जानेमें इस दोष को भग प्रकार देखा था। उनका कथन था कि अंग्रेजी पर विशेष बल देने से हमारे बच्चे राष्ट्र के आध्यात्मिक और सामाजिक उत्तराधिकार से वंचित हो गये हैं। अत उन्होंने सपर्क भाषा के रूप में हिंदुस्तानी तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में राज्य भाषाओं का समर्थन किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति की पहली लहर में उत्तर भारत की प्राय सभी राज्य-सरकारों ने राज्य की भाषा हिंदी को अंग्रेजी भाषा से मुकाबले में प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। भारतीय विश्वविद्यालय आयोग (१९४८ ४९) साधारण स्नातक के अंग्रेजी-ज्ञान का स्तर केवल इतना ही रखा कि वह अपने विशेष विषय के अंग्रेजी लेखकों की पुस्तकों को सुविधा पूर्वक पढ़ और समझ सके। स्नातकोत्तर तथा शोधस्तर पर विदेशी भाषा में सही तौर पर अपने भाव प्रकट करने की योग्यता का होना भी वाछनीय समझा जा सकता है। सामान्य शिक्षित भारतीय को केवल इतने की ही आवश्यकता है। अंग्रेजी के इतने ज्ञान के लिए हाइस्कूल एव इटरमीडियेट स्तर पर चार साल तक और स्नातक स्तर पर दो या तीन साल तक, अनिवार्य दूसरा भाषा के रूप में अंग्रेजी का अध्ययन पर्याप्त हो सकता है। जब तक किसी छात्र का विशिष्ट विषय अंग्रेजी भाषा न हो तब तक न तो अंग्रेजी साहित्य को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की आवश्यकता है और न अंग्रेजी भाषाको शिक्षा का माध्यम बनने का ही।

तिसपर हमारा देश विस्तृत और विशाल है। इसकी अपनी अनेक सस्कृतिया और परपराए हैं तथा इसमें समृद्ध साहित्य भी पर्याप्त है। अत साहित्यिक आनन्द की प्राप्ति के लिए विदेशी साहित्यों तक जाने का कोई अधिक आवश्यकता नहीं है।

दुर्भाग्यवश स्वतत्रता के उपरात इस सबध में अपने देश की प्रगति रुक गयी और अब तो प्रगति का उल्टा चक्र घूम रहा है। बगाल और दक्षिण भारत के प्राय सभी राज्यों ने उत्तरी राज्योंके साथ चलने से इन्कार किया। अंग्रेजी वहा तीसरी कक्षा से अभातक पढ़ायी जा रही है और विश्वविद्यालय के स्तर पर अंग्रेजी शिक्षण तथा परीक्षा का माध्यम अब भी है। १९३७-३९ वाली उत्तर प्रदेशीय आचार्य नरेंद्रदेव-कमेटी ने तो यही सुझाव दिया था कि अंग्रेजी भाषा का अध्ययन नवीं कक्षा से पहले आरंभ न किया जाय। परन्तु उत्तर भारत के राज्यों में प्राय पाचवी तथा छठी कक्षा से ही अंग्रेजी पढ़ाई जाने लगी और अब तो १९६१ के मुख्यमत्री-सम्मेलन ने यही तय किया है कि सभी राज्यों में अंग्रेजी का अध्ययन कक्षा ३ से प्रारभ किया जाय। उत्तर प्रदेश में, जो हिंदी का एक समृद्ध केंद्र है, इस नया नीति को कार्यान्वित करने की घोषणा नवबर १९६१ में पूरक बजट के समय पर की गयी। गुजरात अंग्रेजी के बदले राज्य भाषा तथा हिंदी को प्रोत्साहन देने में सब राज्यों में अग्रणी था लेकिन अब वहा भी लोग अपने पाव पाछे हटाने का सोच रहे हैं। इस नीति के परिवर्तन का कारण यह दिया जाता है कि दक्षिण भारत के विद्यार्थी अखिल भारतीय परीक्षाओं में अधिक सख्या में अंग्रेजी भाषा के बल पर सफल हो जाते हैं। उत्तर भारत के विद्यार्थी क्यों पीछे रह जाय? अर्थ यह हुआ कि दक्षिण भारत में जो तथाकथित हिंदी साम्राज्यवाद की गलतफहमी फैल रही है उसको मिटाने में उत्तर-भारत असमर्थ हो गया है और अब अंग्रेजी भाषा की प्रभुता कायम रखने में दक्षिण का अनुकरण करने पर विवश हो रहा है। कितना अनर्थ है कि केवल उन बहुत ही अल्पसख्यक विद्यार्थियों को सुविधा देने के लिए जो अखिल भारतीय परीक्षाओं में बैठते हैं, सारे विद्यार्थी कक्षा ३ से ही एक कठिन विदेशी भाषा का बोझ अपने सिर पर उठायें? उन में से आधे या एक तिहाई तो समवत कक्षा ९ से आगे ही नहीं बढ़ेंगे। विश्व विद्यालय के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते शायद सौ में से केवल २० रह जायेंगे। बाकी ९० प्रतिशतको छोटी आयु से अंग्रेजी पढ़ाने से क्या लाभ होगा?

यदि इस नीति-परिवर्तन का ऊपर लिखा हुआ एक ही कारण है तो दक्षिण भारत और बगाल की तरह बाकी उत्तर भारत के राज्य भी अंग्रेजी भाषा को स्कूलों और कालेजों के पाठ्यक्रमों में वही स्थान देने पर विवश हो जायेंगे जो स्वतत्रता के पूर्व था।

अंग्रेजी हर प्रकार की ऊंची शिक्षा का, बल्कि माध्यमिक स्तर से ही, माध्यम बन जायगी और विश्वविद्यालय स्तर पर एक साधारण अंग्रेजी के अनिवार्य पर्चे के बदले एक ऊंचे स्तर का अंग्रेजी साहित्य अनिवार्य किया जायगा। स्कूलों और कालेजों में प्रादेशिक भाषा तथा हिंदी–राजभाषा–एक गौण स्थान पायेंगी। उत्तर प्रदेश की सरकार तो प्राथमिक पाठशालाओं में स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजी पर जितना जोर दिया जाता था उससे भी अधिक जोर देने को तैयार हो गयी है। कहने का तो जैसे स्वतंत्रता से पूर्व था वैसे अब भी कक्षा ३ से अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ किया जायगा। परन्तु स्वतंत्रतापूर्व, पहले कक्षा अ और ब होते थे, उसके बाद १ २ ३ इत्यादि और अब १ २ ३ से ही कक्षाएं प्रारंभ होती हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने १९६१ के पूरक बजट के समय पर शिक्षा नीति-परिवर्तन घोषित करते हुए एक बहुत निरर्थक तर्क दिया कहा कि बुनियादी शालाओं में अब तीसरी कक्षा से अंग्रेजी भाषा केवल एक वैकल्पिक विषय रहेगी। पहले भी अंग्रेजी छठी कक्षा से वैकल्पिक ही रही है, अनिवार्य नहीं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि जो विद्यार्थी कक्षा ६ से अंग्रेजी के बदले संस्कृत या और कोई वैकल्पिक विषय लेते हैं तो वे कहां तक उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे? इस समय भी बहुत से माध्यमिक स्कूलों में अंग्रेजी के अतिरिक्त और किसी वैकल्पिक विषय का प्रबन्ध ही नहीं रहता। इसलिए अंग्रेजी वैकल्पिक होते हुए भी लगभग अनिवार्य ही हो जाती है। तब जो बच्चे कक्षा ३ में अंग्रेजी के बदले और कोई वैकल्पिक विषय लेंगे तो कक्षा ८ से आगे न बढ़ न सकेंगे। विश्वविद्यालय के स्तर पर पहुँचना उन के लिए असंभव हो जायगा, क्योंकि वहां अब भी साधारण अंग्रेजी का पर्चा अनिवार्य है।

यदि अंग्रेजी भाषा को वैकल्पिक रखा जाता है तो उसके बदले कक्षा ३, ४ और ५ के स्तर पर और कौन से वैकल्पिक विषय रहेंगे? यदि मातृभाषा या हस्तकला उसके बदले के वैकल्पिक विषय होंगे तब तो ऊंची शिक्षा के लिए तैयार होने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी को ही ग्रहण कर लेंगे परन्तु इसका फल यह होगा कि वे देश के साहित्य और संस्कृति से कम परिचित रह जायेंगे। तीसरी कक्षा से अंग्रेजी भाषा पढ़ाने वाले स्कूल नाम मात्र के लिए बुनियादी स्कूल कहलायेंगे। उनमें से श्रम-स्नेही विद्यार्थी तैयार होने के बदले आराम की नौकरियों को चाहने वाले बाबू ही बन कर निकलेंगे। यदि विज्ञान, गणित या समाज शिक्षा आदि पर जोर घटा कर अंग्रेजी को स्थान दिया जाता है तो इन अनिवार्य विषयों का स्तर गिर जायगा। इसका अर्थ यह है कि हर पहलू से यदि हम गंभीरता से विचार करते हैं तो प्रतीत होगा कि अंग्रेजी भाषा को इन छोटी कक्षाओं से प्रारंभ करना शिक्षा के सिद्धांतों के विरुद्ध है और शिक्षार्थियों के हित में तथा भारतीय संस्कृति के लिए घातक है।

कक्षा ३ से अंग्रेजी पढ़ाये जाने के पक्ष में एक बड़ा सुंदर तर्क कुछ क्षेत्रों में दिया जाता है, परन्तु वास्तव में वह असंगत है। वे कहते हैं कि बच्चों में द्विभाषायता की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति है जिसे संतुष्ट किया जाना चाहिए। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दुस्तान में द्विभाषीयता की भूख पहले से ही तुष्ट हो जाती है क्योंकि स्थानीय बोली स्कूल की किताबी भाषा से साधारणतया थोड़ी-सी भिन्न हुआ करती है। यदि निश्चित भाषाओं में से ही दूसरी भाषा चुननी हो तो भी अंग्रेजी को हम क्यों चुनें? उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में साधारण बच्चे के लिए उर्दू या पंजाबी या बंगला भावी जीवन के लिए अधिक उपयोगी होगी।

अमेरिका में १९५२ में वहां के शिक्षा आयुक्त श्री मैकग्राथ ने अपने देश में एक नयी लहर चलायी कि विदेशी भाषायें छोटे-छोटे ६ या ७ साल की आयु के बच्चों को सिखायी जाय, क्योंकि वे उस आयु में उस विदेशी भाषा को अनुकरण द्वारा स्वतः ही ग्रहण कर लेते हैं। मांट्रियल के स्नायुविशेषज्ञ विल्डर पेनफील्ड ने भी इस बात पर जोर दिया है कि मस्तिष्क के भाषा ग्रहण करने वाले भाग १० साल तक, अधिक से अधिक १४ साल तक कोमल और लचकदार होते हैं। भारत के कुछ विद्वान यही तर्क देकर यहां भी छोटी

आयु में ही अंग्रेजी भाषा का प्रारंभ करना चाहते हैं।

पहले तो मस्तिष्क के स्नायुओं की भाषा-संबंधी लचक और बच्चों की अनुकरण विधि से स्वत: विदेशी भाषा सीखने की रुचि केवल ६ या ७ साल की आयु में नहीं रहती, बल्कि १०, ११ या १४ साल तक भी चलती रहती है। उसके उपरान्त भी वह क्रमश: कम होती है, फौरन नहीं।

दूसरी बात यह कि अमरीका में इस नयी लहर की लोकप्रियता वैज्ञानिक तर्कों के बदले अधिकतर राजनैतिक कारणों पर निर्भर है। अमरीका अब कम्युनिस्टों को छोड़ कर बाकी सारी दुनिया का नेतृत्व करना चाहता है और इसलिए वहां यह आवश्यक हो गया है कि उसके निवासी बहुत बड़ी संख्या में विदेशी भाषाएं, खासकर यूरोपीय भाषाएं सीखें और दूसरे देशों की संस्कृतियों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करें।

तीसरी बात छोटी आयुवाले बच्चों को मातृभाषा और विदेशी भाषा उनके मस्तिष्क को हानि न पहुंचाते हुए साथ साथ तभी सिखायी जा सकती है जब निम्न शर्तें पूरी हों:—पहली यह कि बच्चे के भाषाई विकास के प्रारंभ से ही प्रत्येक अध्यापक या अभिभावक दोनों भाषाओं में केवल एक ही में उससे बातचीत करे, दोनों में नहीं। दूसरी यह कि विदेशी भाषा ऐसी अनौपचारिक क्रीड़ा पद्धति से सिखाई जाय कि बच्चा उसके सीखने का बोझ महसूस ही न करे। तीसरी यह कि दोनों भाषाओं में से किसी एक के प्रति धार्मिक तथा राजनैतिक दृष्टि से कोई प्रभुता या हीनता या पक्षपात की भावना न हो। अर्थात् उन भाषाओं के सीखने में कोई भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक रुकावट न पड़े। इन शर्तों से यह विदित होगा कि अपने देश में जिस प्रकार अंग्रेजी पढ़ायी जाती है उससे तो छोटे बच्चों की हानि ही हो सकती है, लाभ नहीं।

चौथी बात यह है कि अमेरिका में जो विदेशी भाषाएं सिखायी जाती हैं वे मातृ-भाषा से मिली हुई उसी भाषा-समुदाय की हैं। यहां अंग्रेजी भाषा अपनी भारतीय सभी भाषाओं से भिन्न दूसरे भाषा समुदाय की है। इसलिए अमेरिका का उदाहरण यहां की परिस्थितियों में बिलकुल असंगत है।

तिसपर हमारी अपनी परिस्थितियां हैं। हमारे देश की एक कठिन परिस्थिति तो राष्ट्रीय एकीकरण है इसलिए हमारे लिए अत्यंत आवश्यक यही है कि भारत की ही कोई दूसरी भाषा बचपन से ही प्राथमिक विद्यालयों में खेल या पी० टी० के समय सिखायें और ७ वीं या ८ वीं कक्षा से पहले उसका पढ़ाना या सिखाना प्रारंभ न करें। इसके लिए केवल २-३ घण्टे प्रति सप्ताह पर्याप्त होंगे। अंग्रेजी को उन्हीं सुयोग्य विद्यार्थियों से ९ वीं कक्षा से ही आरंभ करें, पहले नहीं।

यह प्रश्न अत्यंत महत्त्व का प्रश्न है। यह ऐसा प्रतिगमन है जिसमें शिक्षण-समस्याएं और सांस्कृतिक विपत्तियां निहित हैं। इन विपत्तियों को टालने के लिए हमें प्राणों की भी बाजी लगाना पड़ सकती है।

मेरा निवेदन है कि क्यों न अखिल भारतीय सेवा-परीक्षाओं का स्थान उसी स्तर का राज्य सेवा परीक्षाएं ग्रहण कर लें जो केंद्र द्वारा संचालित हों, परन्तु भिन्न भिन्न राज्यों में पृथक्-पृथक् ली जायें? इनमें परीक्षाओं के माध्यम का स्थान अंग्रेजी के बदले राज्य भाषाएं धीरे धीरे ५ वर्ष में ले लें। इन परीक्षाओं में उत्तर-भारतीय विद्यार्थियों के लिए दक्षिण की कोई एक भाषा और दक्षिण-भारतीयों के लिए हिंदी अनिवार्य की जा सकती है, अंग्रेजी सब के लिए अनिवार्य की जा सकती है, किंतु इन भाषा विषयों में योग्यता का आवश्यक स्तर केवल उतना ही रखा जाय जिसका उल्लेख अंग्रेजी के संबंध में भारतीय विश्वविद्यालय-आयोग ने अपनी रिपोर्ट में किया है, और प्रतियोगिता के परिणाम में ६० प्रतिशत से अधिक अंक न जोड़े जाय। अन्य राज्यों को स्थानांतरित किये जाने वाले अफसरों का चुनाव एक और अखिल भारतीय परीक्षा द्वारा किया जाय जिसमें भाषा विषयों की ही विशेष योग्यता का परीक्षण हो और उनके लिए केवल वे ही अफसर उपयुक्त माने जाय जिन्होंने अपने राज्य में कम-से-कम ५ साल तक यशस्वी सेवा की हो। पांच साल की यशस्वी सेवा की यह रुकावट अखिल भारतीय सेवाओं के लिए दक्षता की अतिरिक्त गैरण्टी हो जायगी।

[शेष पृष्ठ १२९ पर]

क्या अंग्रेजी का साम्राज्य बना रहेगा ?

देवेन्द्रकुमार

भारत की आजादी के बाद स्वतन्त्र देश का संविधान बना और १९५० में २६ जनवरी से वह लागू हुआ। उस समय यह तय किया गया कि अपने देश की राज्यभाषा के रूप में अंग्रेजी का जो स्थान था उसे धीरे धीरे समाप्त किया जाय और इसके लिए १५ साल की अवधि मानी गयी। इसके अनुसार १९६५ के बाद देश की राज्यभाषा अंग्रेजी न रहकर हिन्दी हो जायगी, यह निश्चित हुआ।

प्रांतीय भावना बढ़ी

आज १२ साल में जो परिस्थितियाँ बनी हैं उसमें यह अनुभव आया कि अहिन्दी भाषावाले क्षेत्रों में हिन्दी के प्रति जो अनुराग पैदा होना चाहिए था वह पैदा न हो सका। पढ़ा लिखा तबका उन प्रदेशों में ऐसा महसूस करने लगा है कि हिन्दी बोलनेवाले क्षेत्रों के लोगों को हिन्दी के केंद्रीय राज्यभाषा बनने से अधिक लाभ होगा और वे लोग ही दिल्ली से भारत भर पर राज करने की सहूलियत हासिल करेंगे। इन १२ सालों में प्रांतीय भावनाओं को बढ़ावा भी मिला है। जब देश आजाद नहीं था तब प्रांतीय भावनाओं के बदले राष्ट्रीय भावनाओं का बोलबाला था पर अब आजादी के बाद चुनावी सरकारों के अधिकारों की होड़ा-होड़ी में अपनी बोलीवाले लोगों को ज्यादा हिस्सा मिले यह भावना बढ़ी है। इसके कारण ही राष्ट्रीयता को धक्का लगा और राष्ट्रभाषा का सवाल खटाई में पड़ गया है।

हिन्दी को केंद्रीय सरकार की राज्यभाषा बनाने के पीछे उद्देश्य "एक हृदय हो भारत जननी" ही था और है। पर तामिल, मलयालम, तेलुगू, कन्नड़, असमी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सभी भाषाओं के पढ़े लिखे भारतवासियों में यदि अधिक या कुछ लोग हिन्दी को अपनाने को उत्सुक न दिखें तो वैसे में सरकार द्वारा जबरन हिन्दी का आग्रह "एक हृदय" बनाने के बजाय अलगाव पैदा करनेवाला भी साबित हो सकता है। ऐसे में प्रांतीय भावनाओं से ऊपर उठकर हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के काम को प्रेम और धीरज से करना हम सब हिन्दी प्रेमियों का कर्तव्य है। हिन्दी शासन के द्वारा नहीं, जनता के द्वारा मान्य भाषा बने और शासन इसमें सहकार और सहयोग दे यह रास्ता है आज की परिस्थिति में देश की जबान प्राप्त करने का।

बिल्लियों के झगड़े में बंदर की मौज

इस सिलसिले में राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठकें हुईं। भारत के बड़े सूझबूझ के लोगों की कमेटियाँ बनीं और वे इस नतीजे पर आये कि १५ साल की अवधि के बाद केंद्रीय भाषा हिन्दी बन जायगी यह विधान आज स्थगित कर दिया जाय, क्योंकि इसके कारण कुछ प्रदेशों में असुरक्षा की भावना दीखती है कि हम पर जबरदस्ती हिन्दी लाद दी जायगी। इस लिए हिन्दी सन् ६५ से कानून द्वारा भारत भाषा होगी यह बंधन हटा दिया गया है।

इस घटना का महत्त्व अलग अलग लोगों ने अलग-अलग समझा है। हिन्दी क्षेत्रों में इसकी प्रति क्रिया वैसी ही प्रांतीय भावना से हुई है जैसी अहिन्दी क्षेत्रों में। राष्ट्रीय दृष्टि से देश की भाषा का सवाल जिस धीरज और प्रेम से हल होगा इसकी ओर कम लोगों की नज़र गयी है पर इससे भी अधिक परेशानी की बात है—और यही परेशानी सच्ची है—कि कहीं दो बिल्लियों की लड़ाई में बन्दर की न बन आये।

प्रांतीयता और राष्ट्रीयता के बीच जो खींचतान चल रही है उसमें गैरराष्ट्रीयभाषा अंग्रेजी के पाँव न जम जाँय यह खतरा है। इसलिए प्रांतीयता के ऊपर उठकर हम भाषा के प्रश्न को हल करें यही एक-मात्र रास्ता है।

अंग्रेजी हटाओ का मतलब

"अंग्रेजी हटाओ" आंदोलन का मतलब है मातृ भाषा लाओ और राष्ट्रभाषा पैदा करो। प्रांतों में

हिन्दी के प्रति राष्ट्रीय भाषा का अनुराग पैदा करना यह अंग्रेजी हटाओ का हिस्सा है। इसके लिए हिन्दी लादने का खतरा जो अहिन्दी क्षेत्रों को हो सकता है उसे मिटा दिया गया है और अब स्नेह, प्रेम, प्रचार से ही हिन्दी को राष्ट्र की भाषा बनाने का रास्ता रह गया है। तब तक के लिए केंद्रीय व्यवहार की भाषा हिन्दी और अंग्रेजी दोनों रखी गई हैं। अब जो अंग्रेजी है उसका उद्देश्य तो उसको राष्ट्रभाषा की इमारत बनाने में नीचे से टेका देने का है। पर उसका साम्राज्य बना रहेगा इसके खतरे बहुत साफ हैं।

अंग्रेजी को योजनापूर्वक हटा कर लोकभाषा को व्यवहार की भाषा बनाने से ही वर्ग भेद मिटेगा, ज्ञान वृद्धि आम लोगों में होगी और जनता की वाणी मुखर होगी। इसके लिए ठोस कदम आवश्यक हैं।

प्रांत की सरकार का सारा काम वहाँ के लोगों की आम भाषा में किया जाय। हिन्दीवाले प्रान्तों में हिन्दी में, दूसरे प्रांतों मे वहाँ की भाषा में ही लिखा-पढ़ी, अखबार और पुस्तक प्रकाशन सरकार की कोर्ट कचहरी आदि विभागीय व्यवहार हो। आज अंग्रेजी का जो चलन अफसरों और पिछली पीढ़ी के पढे लिखों में है उसे खत्म किया जाय। उनको लोगों की भाषा में बोलना सीखना सिखाना होगा।

केंद्रीय सरकार के बहुत से विभाग हर प्रांत में काम करते हैं, उनके आपसी पत्र-व्यवहार में हिन्दी या अंग्रेजी की छूट रखी गई है तथा इस प्रकार अंग्रेजी को केंद्रीय व्यवहार की सहभाषा स्वीकार किया है। यह चाहते हुए भी कि अंग्रेजी को पूरी तरह हटा दिया जाय आज प्रांतीय भाषाओं के अतिरिक्त अखिल भारतीय व्यवहार की भाषा के रूप में हिन्दी को स्थान मिला नहीं है। यह स्थान दिलाना आवश्यक है, और इस रास्ते से कि किसी भी प्रदेश को इसमें जबरदस्ती न महसूस हो। इसके लिए हिन्दी क्षेत्रों को राष्ट्रीय भावना का परिचय देने के लिए अहिन्दी भाषाओं को प्रोत्साहन देना होगा। सरकार को पूरी सतर्कता बरतनी होगी कि स्थापित हित जो अंग्रेजी को पनपाकर अपना वर्चस्व कायम रखना चाहते हैं, अखबार, किताब प्रकाशन आदि का धंधा चलाने वाले अपने बाजार बनाये रखना चाहते हैं, इन सबको अपने देश के करोड़ों लोगों के हितों के विरोध मे अंग्रेजी को प्रोत्साहन देने से रोका जाय।

अंग्रेजी ऐसी सभा सम्मेलनों में फिलहाल चलेगी जहाँ अहिन्दी अंग्रेजी जाननेवाले एकत्र होते हैं पर जब प्रादेशिक भाषायें बढ़ेंगी तो अंग्रेजी जाननेवाले कम होंगे। प्रांतीय भाषाओं में और हिन्दी में निकटता होने से वे हिन्दी सीखेंगे। हमारे अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में अंग्रेजी बनी रहेगी पर अपने विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी विद्वानों के व्याख्यानों का अनुवाद लोगों की भाषा में हो। पढ़ाई का माध्यम लोगों की भाषा हो तभी आम लोग और विद्वानों का भेद मिट पायेगा।

आम आदमी की बोली

सचमुच हमें आम जनता की भाषा बोलनी चाहिए, उसमें और हमारी बोली में अंतर कम से कम हो, हम आम लोगों की बोली में परिष्करण करें, पर उसकी सरलता, सुबोधता कम करके उसे क्लिष्ट न बनायें। यह बड़ी भारी कोशिश से हो सकता है। भारत में कभी संस्कृत, तो कभी फारसी विद्वानों तथा राजकर्ताओं की जबान रही अब उन्होंने अंग्रेजी का पल्ला पकड़ा है तो कोई नयी परंपरा नहीं बनायी है, पुरानी लकीर का ही अनुसरण किया है। इसलिए अंग्रेजी हटाओ का अर्थ इस भावना में है कि बोलचाल, लिखा पढ़ी और वाणी व्यवहार में आम जनता और खासलोगों का भेद दूर हो। तभी "एक हृदय हो भारत जननी" का नारा सिद्ध होगा।

हिन्दी या अन्य प्रांतीय भाषायें भी जब विद्वानों के हाथों पड़कर आम जनता की बोली से हटकर खास लोगों की भाषा बन जाती हैं तो उनका लोकभाषा का दावा गलत सिद्ध हो जाता है और अंग्रेजी को जिस आधार पर हम हटाना चाहते हैं उसमें मात्रात्मक अंतर ही रहता है, गुणात्मक अंतर नहीं। अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने लिए हमें उस दिशा में सजग रहना होगा।

★

('सर्वोदय प्रेस सर्विस', इन्दौर से)

तरुण-शांति-सेना

श्री नारायण देसाई

अखिल भारत शांति-सेना मंडल ने अपनी मदुराई की बैठक में तय किया कि भारत में जहाँ कहीं भी अनुकूलता हो वहाँ तरुण शांति-सेना की स्थापना की जाय।

शांति की दृष्टि से तरुणों में काम की आवश्यकता वर्षों से महसूस की जाती थी। आज जहाँ कहीं भी किसी कारण से दंगा होता है उसमें तरुणों का कुछ-न कुछ हिस्सा होता ही है। आये दिन भारत के तरुणों की निंदा भी इसी विषय को लेकर की जाती है। लेकिन जिन्होंने तरुणों के जीवन में दिलचस्पी ली है और खुला मन रखकर उनके बीच जो घुले मिले हैं उनको हमेशा यह अनुभव हुआ है कि भारत के तरुण वास्तव में शांति प्रेमी हैं। पराक्रमों के अवसर के अभाव, कुशिक्षा के परिणाम, परीक्षा-पद्धति, पाठ्य पुस्तक या अन्य बंधनों के कारण पैदा हुई वैकल्य-वृत्ति जीवन के जो आदर्श उनके सामने रखे जाते हैं व्यवहार में वैसा जीवन कहीं देख न पाना आदि कारणों से तरुणों में जो निराशा आती है वही निराशा दंगों के समय हिंसक रूप ले लेती है। विधायक पुरुषार्थ का अवकाश मिले तो भारत के तरुण नया शांतिमय समाज खड़ा करने में अत्यन्त सहायता दे सकते हैं।

तरुण शांति-सेना में १२ साल से ऊपर का कोई भी लड़का या लड़की शामिल हो सकेगी। कार्यक्रम के मूल आधार तीन होंगे।

१—व्यायाम और परिश्रम

२—स्वाध्याय

३—सेवा कार्य

इन मूल आधारों पर तरुण शांति सेना की अनेकविध प्रवृत्तियों का नक्शा तैयार हो सकता है। काम के आयोजन के समय तरुणों के मानस को ध्यान में रखना होगा। खेल, कहानियाँ, प्रवास, पर्यटन, निबंध लेखन, वक्तृता, सफाई, गरीब विद्यार्थियों को सहायता, प्राकृतिक आपत्ति में सहायता, राष्ट्रीय कार्यक्रमों में योगदान आदि अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ इसमें लिए सकती हैं।

अक्सर तरुणों में काम दो दृष्टि से होता है। राजनैतिक पक्ष के लिए भरती करने के मैदान के तौर पर तरुणों का उपयोग करने की प्रवृत्ति पायी जाती है दूसरे प्रकार का काम स्काउटिंग आदि प्रवृत्ति का है, जिसमें सदाचार की शिक्षा पर भार दिया जाता है। लेकिन जीवन विचार से उसका कोई विशेष संबंध नहीं रहता।

तरुण-शांति-सेना का काम तीसरे प्रकार का होगा। वह विचार स्वातंत्र्य को हर तरुण का जन्म सिद्ध हक मानती है, इसलिए किसी वाद के ढांचे में ('सर्वोदयवाद' के भी) तरुणों को ढालना नहीं चाहेगी, लेकिन एक नये जीवन की ओर उनको ले जाना अवश्य चाहेगा। विद्यार्थी अपनी विद्यार्थी अवस्था को छोड़ने से पहले जीवन के संबंध में कुछ विचार करने लगें, एक शांतिमय, प्रेममय समाज खड़ा करने का स्वप्न देखने लगें और उसके लिए पराक्रम करने के लिए कटिबद्ध हों तो तरुण शांति सेना का उद्देश्य सफल होगा।

तरुणों में काम करने के लिए उत्साही लोगों को इस लेखक से शांति-सेना मंडल, राजघाट, वाराणसी के पते से पत्र-व्यवहार करने का निमंत्रण है।

★

लोक-सेवक तथा शांति-सैनिकों की शिक्षण-समस्या

श्री बद्रीप्रसाद स्वामी

अपने देश में जब से नव समाज-रचना की अहिंसक प्रक्रिया में साधारण नागरिक जीवन से कुछ आगे बढ़कर स्वयं और समाज के परिवर्तन हेतु कुछ लोग लगे, तब से ही उनके शिक्षण की बात बराबर चली आ रही है और इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग हुए हैं, और आज भी इस सम्बन्ध में बराबर चिन्तन चल रहा है कि आज के लोक-सेवक और शान्ति-सैनिकों के प्रशिक्षण की क्या प्रक्रिया और पद्धति हो।

इस प्रश्न पर अगर हम गहराई से सोचें, तो आज के संदर्भ में यह सवाल उठता है कि क्या शिक्षण की पुरानी पद्धति नव-मानव के निर्माण में सहायक शक्ति हो सकेगी। क्या आज के समाज में नये मूल्यों से निर्मित ऐसे नये मानव हैं, जो कि शिक्षक का काम कर सकेंगे! क्या शिक्षण देनेवाले और लेनेवाले ऐसे दो वर्गों को अहिंसक समाज रचना की शिक्षण-प्रक्रिया में कोई स्थान होगा! क्या एक या अनेक व्यक्तियों के विचारों से, व्यक्ति तथा समाज के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास हो सकेगा! क्या केन्द्रित शिक्षण व्यवस्था से विकेन्द्रित समाज-रचना और रक्षा की क्षमता लोक-सेवक और शान्ति-सैनिक प्राप्त कर सकेंगे! क्या साधारण जनता के बीच रहकर उनकी समस्याओं को समझकर उन्हें समाज स्वयं सुलझा सके, इसके लिए सतत् सहायक साबित होने की कला किसी एक विद्यालय में रहकर हासिल हो सकेगी! ऐसे अनेकों प्रश्न इस शिक्षण के प्रश्न को लेकर मेरे मस्तिष्क में चल रहे हैं।

जिन मूल्यों के आधार पर हम जीना चाहते हैं, उनकी साधना और शिक्षण समाज के बीच रहकर ही हो सकती है। ऐसी सूरत में हमारी शिक्षण-पद्धति और प्रक्रिया और उसके द्वारा स्वयं और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया दो भिन्न पद्धतियाँ नहीं हो सकती। साधन और साध्य की एक-रूपता ही अहिंसक समाज-रचना की सही कसौटी है।

इसलिए हमारे शिक्षण के स्थान विद्यालय के बजाय ग्राम-परिवार ही हो सकते हैं। हमारे शिक्षण की सामग्री आजतक का संग्रहीत ज्ञान न होकर समाज की आज की समस्याएँ और उनका जीवन ही होगा। स्वयं और समाज का विचार और जीवन-परिवर्तन

[पृष्ठ १३१ पर]

[पृष्ठ १२५ का शेषांश]

ये मेरे कुछ सुझाव हैं। जो कठिनाइयां हैं उनका सामना करने के लिए अन्य सुझाव भी आमंत्रित किये जा सकते हैं। ऐसी अन्य समस्याएं भी हो सकती हैं जिनका उल्लेख मेरे सुझावों में न हुआ। उदाहरणार्थ ऐसी पारिभाषिक शब्दावली का निरूपण जो सर्वग्राह्य हो। जो भी हो, मेरा व्यक्तिगत आग्रह यह है कि पुरानी गलतफहमी के स्थान पर नयी सहयोग-भावना पैदा करने के उद्देश्य से सभी विवाद-ग्रस्त प्रश्नों पर उत्तर भारत के लोग दक्षिण भारत के लोगों की बातों को उदारतापूर्वक यथासंभव अधिक से अधिक मान लें। आखिर तामिल और तेलुगू संस्कृति भी भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। उनको मानने का अर्थ है संश्लेषण जब कि प्राथमिक कक्षाओं को कोमल आयु में अंग्रेजी जैसी विदेशी संस्कृति को अंगभूत करना विदेशी सांस्कृतिक तत्त्वों की आँख मूंद कर नकल करने का प्रोत्साहन है। इस प्रकार की नकल देश के लिए घातक है।

पेशाब करना

श्री राममूर्ति

मूत्र-त्याग की शिक्षा मल-त्याग की शिक्षा से अधिक कठिन है। दो साल का बच्चा मल-त्याग की क्रिया पर काबू पा लेता है लेकिन ढाई साल के अनेक बच्चे पेशाब से अपना जांघिया या रात को बिस्तर भिगाते ही रहते हैं। बच्चे स्वयं भी पेशाब को उतने महत्त्व का नहीं समझते जितना मल को समझते हैं।

पहले साल और दूसरे साल के शुरू के महीनों में भी पेशाब प्रायः अपने आप हो जाता है। कुछ बच्चे दो साल तक थोड़ी थोड़ी देर पर पेशाब करते रहते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ मूत्र-त्याग पर काबू जल्द पाती हैं।

डेढ़ साल तक अगर बच्चा लगातार दो घंटे तक पेशाब रोक ले तो बहुत मानना चाहिए। माँ थोड़ा ध्यान दे तो कई बार वह बच्चे को समय से पेशाब करा सकती है। डेढ़ साल के बच्चे से यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि पेशाब की जरूरत महसूस करने पर वह इशारा करेगा। इशारा करने का ध्यान बच्चे को डेढ़ से दो साल के बीच होने लगता है। यह भी तब होता है जब माँ अपने अनुमान से बच्चे को समय से पेशाब करा देने की कोशिश करती रहती है। फिर भी कई बार पेशाब कर लेने के बाद बच्चा माँ को बताता है। इससे यह नहीं सोचना चाहिए, जैसा कुछ माता पिता समझ लेते हैं कि बच्चा शरारत कर रहा है या माँ को चिढ़ा रहा है, बल्कि उल्टे बच्चे को प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि वह धीरे धीरे पेशाब उतरने से पहले ही संकेत करना सीख जाय। पूरा सीख जाना तब मानना चाहिए (क) जब वह समय से जान जाय कि उसे पेशाब लगा है, (ख) वह संकेत करने की जिम्मेदारी महसूस करे, (ग) संकेत करने का हुनर सीख जाय और (घ) मूत्रालय में जाकर, कपड़े समेट कर पूरी क्रिया कर ले। इस पूरे अभ्यासक्रम में प्रायः बच्चे के तीन वर्ष जाते हैं। अभ्यास कराने के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अगर डेढ़ साल के बच्चे ने लगभग दो घंटे तक पेशाब न किया हो तो पेशाब कराना चाहिए। इस तरह उसका पेशाब करने का समय बंध जायगा और धीरे-धीरे अवधि बढ़ती जायगी। दिन या रात को सोकर उठने पर तो पेशाब कराना ही चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि बच्चे के लिए मल-त्याग और मूत्र-त्याग दो स्वतंत्र क्रियाएँ हैं और एक के अभ्यास का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे का भी अभ्यास हो गया। सामान्यतः दो साल पूरा होते-होते दोनों क्रियाओं का अभ्यास हो जाना चाहिए। इस बीच बच्चा कभी कभी थोड़ी-थोड़ी देर पर टट्टी या पेशाब के लिए शौचालय में जायगा। उसको ऐसा करने में मजा आता है। माँ को इस 'लीला' से खीझना नहीं चाहिए। डेढ़ या दो साल के बीच बच्चा कई बातें सीखने के लिए तैयार रहता है और उसके सीखने में अनुकरण का जो स्थान है उससे कम माँ के प्रोत्साहन का नहीं है। वह चाहता है कि माँ की इच्छा उसे मालूम हो ताकि वह उसकी इच्छा पूरी कर सके।

एक बात पर ध्यान रखना जरूरी है। अगर डेढ़-दो साल के बच्चे को बराबर एक ही जगह पेशाब कराया गया है तो कभी-कभी वह बाहर किसी दूसरी जगह पेशाब करने में घबड़ायेगा। ऐसी हालत में वह जांघिया खराब कर लेना ज्यादा अच्छा समझेगा। इसलिए घर में और बाहर पेशाब की दो-तीन जगहें हों तो अच्छा होगा।

दो और तीन वर्षों के बीच अधिकांश बच्चे यह जान लेते हैं कि रात को पेशाब नहीं करना चाहिए,

कुछ एक और दो के बीच जान लेते हैं, और कई तो कहीं तीन के बाद जानते हैं। इस मामले में लड़कियाँ लड़कों से अधिक होशियार होती हैं। जो बच्चे मस्त रहते हैं वे भी जल्द सीखते हैं। लेकिन अभ्यास की दृष्टि से रात की अपेक्षा दिन का महत्त्व अधिक होता है। अगर दिन के लिए आदत बन जाती है तो रात के लिए माता पिता को चिंता करने की जरूरत नहीं है। कई माता पिता रात को सोते समय पेशाब करा देते हैं। इससे हमेशा के लिए एक अच्छी आदत बन जाती है।

[पृष्ठ १२९ का शेषांश]

जो कि हमारा लक्ष्य है, उसके साधन स्वयं और समाज ही हो सकते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि परिवर्तन की शुरुआत उस व्यक्ति से होगी जिसको ऐसी सर्व-प्रथम प्रेरणा हो, और जिसको परिवर्तन की प्रेरणा जिस क्षण से हुई उसी क्षण से, उस व्यक्ति के स्वयं शिक्षण और परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होनी चाहिए, यही अहिंसक समाज-रचना, प्रशिक्षण और परिवर्तन का मूल आधार है। इसपर से यह स्पष्ट होता है कि जिन जिन व्यक्तियों को स्वयं तथा समाज-परिवर्तन की प्रेरणा हो, वे समान भूमिका पर, जो कुछ स्वयं चिन्तन करें, उसकी चर्चा अपने साथियों और समाज से समय-समय पर साथ रहकर करते रहें। इस प्रकार सहजीवन, अध्ययन, चिन्तन, मनन और चर्चाओं द्वारा जो विचारों का आदान प्रदान होगा उसी से विचारों का वास्तविक विकास सम्भव है। अगर विचारों का वास्तविक विकास करने में हम सफल हो सकें तो वे विकसित विचार, व्यावहारिक स्वरूप धारण करके व्यक्ति और समाज का परिवर्तन कर सकेंगे। इस प्रकार एक ही प्रक्रिया से प्रशिक्षण और परिवर्तन की दोनों समस्याएँ सध सकेंगी।

आज के लोक-सेवकों और शान्ति-सैनिकों को अगर निश्चित स्थानों पर समाज से अलग रखकर शिक्षण देने की सोचते हैं तो फिर आज तक की प्रचलित शिक्षण-पद्धति और व्यवस्था से हम बच नहीं सकते। फिर चाहे विश्वविद्यालय हों चाहे आश्रम-विद्यालय हों। उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। अहिंसक सेवक और सैनिकों के लिए जहां वह रहता है वही उसका विद्यालय होगा और उस समाज की समस्याएँ उसके साधन होंगे, और उन समस्याओं को समझने और हल करने की शक्ति सतत् समाज में निर्माण करने का प्रयत्न करना ही उसका वास्तविक और व्यावहारिक शिक्षण होगा। और इस प्रकार के शिक्षण में सहायक साबित होना ही हमारी शिक्षण-समस्या का सही मार्ग होगा।

हमारे चारों तरफ छाया हुआ अंधकार अभिशाप नहीं, वरदान है। दैवी प्रकाश ने एक कदम रोशन कर दिया तो काफी है, उसके बाद अगला कदम भी जरूर सूझेगा। अंधकार तभी निविड लगता है जब हम अपने अधैर्य के कारण उस एक कदम से आगे देखना चाहते हैं।

गांधीजी

बाल-मंदिर-ग्राम-शाला

१–८–६२

१—कताई के बाद आपस में चर्चा हुई। आगे काम को व्यवस्थित रूप देने की योजना बना। १५ दिन का कार्यक्रम बनाया गया। काम के विभाग, काम का विभाजन और १५ दिन का लक्ष्य तय किया गया।

२—अपनी-अपनी राय अलग रहे लेकिन निर्णय तो एक हो।

४–८–६२

३—घर के काम को निपटाकर हमलोग ६ बजे गये। गांव बड़ा है। अधिक कुर्मी लोग हैं। चार-पांच घर महाब्राह्मण, नाऊ, धोबी आदि के भी हैं। एक ब्राह्मण परिवार में गये। परिवार बड़ा है। सास, बहुएं सभी से बातें हुईं। बहुएं कुछ चिढ़ी हुई मालूम देती थीं क्योंकि सिलाई आदि की बातें लेकर सास के ऊपर शिकायत उठीं। परिवारों में स्त्रियां कितनी बेबसी महसूस करती हैं! मन खीझा रहता है, तभी तो बाहरी लोगों के आगे बात करने में भी खीझ प्रकट होती है।

६–८–६२

४—वर्षा के कारण खेत में कोई काम नहीं करना था। बालमंदिर की लिपाई के लिए जी, और जी गये थे। हम दोनों बाद में गये। वहां देखा तो ये ही दोनों लिपाई कर रहे थे, गांव के केवल २-३ बच्चे थे। गांव की स्त्रियां देखती थीं, हंसती थीं। लड़कियों ने गुठलियां उठायीं, कमरे में झाड़ू लगाया। हम दोनों ने लिपाई की। आंगन आदि की सफाई तो हो नहीं सकी, क्योंकि वर्षा के कारण मिट्टी गीली थी। होना तो यह चाहिए था कि गांव के लोग सफाई करते और हम लोगों का भी सहयोग रहता लेकिन इससे उल्टा ही हुआ। जब तक गांव का ऐसा वातावरण नहीं बना है तब तक करना ही पड़ेगा। कहीं ऐसा न हो कि वे लोग इसे हम लोगों का ही काम समझलें, अपनी कोई जिम्मेदारी ही न समझें।

८–८–६२

५—एक दूसरे परिवार में गया। हम लोगों का खाना-पीना, काम करना आदि उन लोगों की चर्चा का विषय रहता है। कुछ देर तक बच्चों पर ही चर्चा चलती रही। इतने छोटे बच्चे रहते हैं तब तक दूसरे हो जाते हैं, सम्भालना कितना मुश्किल होता है। सारी परेशानियां होती हैं फिर भी बच्चे जल्दी-जल्दी होते हैं।

१६–८–६२

६—बच्चों को अक्षर ज्ञान और गिनती सिखायी। दो-चार बच्चे कुछ लिख-पढ़ लेते हैं। गिनती ताली के अभ्यास के साथ करायी गयी। शरीर शिक्षण, अंग परिचय, बायें दाहिने की पहचान करायी। बच्चों से यह सब कराते समय कई जगह मेरी भूल हुई। जो कराया जाय उसे पूरा करके तब दूसरी चीज के लिए कहें नहीं तो बच्चे व्यवस्थित कर नहीं पाते। जो कहा जाय उसे समझाकर कहें। अपनी गलती कराते समय भी महसूस हुई लेकिन उस समय सुधार न कर सकी। जितनी सूचना बच्चों को देनी चाहिए उतनी दी नहीं, इसलिए ऐसा हुआ।

७—बच्चों को नाखून घर कटवाने के लिए कहा था लेकिन कोई कटवाकर नहीं आया। पूछने पर सबने यही उत्तर दिया कि मां नहीं काटती। बाल मंदिर में ही काटने होंगे। सफाई का कार्यक्रम रखना होगा। तेल, कान्घ की कमी इस गांव में नहीं है।

८—लड़के ही अधिक आते हैं, लड़कियां कम आती हैं। सब घास काटने, खेत में काम करने जाती हैं। जिस समय बालमंदिर चलता रहता है सयानी लड़कियां आकर देखती हैं, काफी देर तक रहती हैं,

लेकिन उससे रोज आने, कुछ सीखने-पढ़ने की बात कहो तो यही जवाब मिलेगा कि समय नहीं है, किस समय आयें, काम करने जा रहे हैं। गाव में खेती ही मुख्य धधा है, सबके घर खेती होती है। कुछ करने, सीखने का उत्साह अभी लड़कियों में नहीं दिखायी देता।

९—एक दो लड़किया जो कई दिनों से आकर देखा करती थीं आज स्वय पट्टी और खड़िया लेकर आयी, लिखा भी।

१८–८–६२

१०—बालमदिर से घर जाने पर मा बच्चों से यदि किसी काम के लिए कहती हैं तो बच्चे कह देते हैं कि पढ़कर आ रहे हैं, काम भी करें !

२०–८–६२

११....जी आये, कमरे देखे। बी० डी० ओ० साहब बालमदिर देखना चाहते हैं, फिर डी० बी० आनेवाले हैं। उनको भी दिखायेंगे। हम लोगों को बालमदिर व्यवस्थित और बच्चों की सख्या बढ़ानी चाहिए, ऐसा...ने कहा। क्या किसी को दिखाने के लिए यह सब किया जाय ? अपनी गति से सब होगा।

२१–८–६२

१२—घड़ी थी नहीं, इसलिए सब काम अदाज से ही कराना था। पढ़ाई तो करीब एक घटा रोज होती है। कुछ बच्चों को अक्षर-ज्ञान है, कुछ दिन स्कूल गये हैं इसलिए उतना सीख लिया है। लड़किया स्कूल नहीं गयी हैं, उनकी पढ़ाई की शुरुआत यहीं से ही हो रही है। जिन बच्चों को अक्षर क्रम से याद नहीं है उन्हें सिखाने में कुछ कठिनाई होती है। जैसे बताओ वैसे न लिखकर अपने मन से लिखने लगते हैं। जो उल्टा सीधा याद है वह भूलता नहीं।

२६–८–६२

बालभोज—

बच्चे आये। चेहरे पर आश्चर्यजनित सकोच। अपनी-अपनी चीजें लाने को कहा। साथ में सहभोज के लिए चवेना, गुड़ या अमावट, जिसके घर जो हो मंगाया। पहला प्रसंग; समझ ही नहीं पाते थे; सुनकर भी मानों अपने कानों पर काबू खो बैठे हों। धीरे-धीरे दो-दो चार-चार करके गये। गमछे में चवेना और पल्ली में स्वनिर्मित खिलौने, फल, मिठाई लेकर लौटे। ४० मिनट में मेले का समा बध गया। पपीते के डठल की सीटी अलग पुकार कर रही थी। धंटे का शोर सर्वोपरि। कतार लगाकर हँसते-कूदते गाव से पार होकर सड़क पर पहुँचे और रुके जाकर एक बाग में। जिसने जहा जगह पायी दूकान सजाने लगा। व्यवस्थित कराया। बीच की जगह आनेवालों, देखने वालों के लिए छुड़ायी। पेड़ों के नीचे गोलाकार आकृति में दूकानें, फिर उनके आसपास सड़कें, सफाई, तरह-तरह के पत्ते लाकर दूकानों का सुशोभन, बालू, ककड़ लाकर हरी दूब के योग से तालाब, लकड़ी के टुकड़े, मिट्टी के खिलौने, कागज के खिलौने और पत्तों, टहनियों से अच्छी रौनक आ गयी। मन में मोद। इधर-उधर से दर्शक जुटे। समझने थे किसी अफसर के लिए प्रदर्शन है। अपने लड़के-लड़की को इसी शाला में प्रवेश दिलाने की उत्सुकता प्रकट की।

नाटक, खेल तमाशे, सौदागर, शाला का हृदय, ललराजी का खिराफल सब जम गया।

सहभोज के समय बिखर गया। सबका चवेना मिलाने पर कुछ को आपत्ति हुई। उठ उठकर चल दिये। समझाया। समझौता किया, आगे के लिए चेतावनी दी। साथ पढ़ना, साथ खेलना, तो खाना भी साथ-साथ। बड़े लोगों को भी बताया। गतिताऊ पर प्रथम प्रहार। कुल मिलाकर कार्यक्रम अच्छा रहा। कुल प्रयत्न बच्चों का था। मात्र सुझाव के साथी हम, यों देखने में पूरा उत्साह अपना भी था। अगली बार अपनी तरफ से भी कुछ वस्तुओं का निर्माण रहे तो अच्छा।

—विद्या, क्रांति
दूबेपुर, सुल्तानपुर

★

रचनात्मक संस्थाओं से अपील

श्री धीरेन्द्र मजूमदार

सन् १९४४ में जेल से बाहर निकलते ही गांधीजी ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सामने दो अत्यन्त महत्त्व की सूचनाएँ रखी थीं। पहली सूचना यह थी कि अब अंग्रेजी राज्य बहुत दिनों तक टिकनेवाला नहीं है। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि अंग्रेज शायद हम लोग जितना समझते हैं उससे भी जल्दी चले जायेंगे। दूसरी सूचना यह थी कि उन्हें जेल में जब यह खबर मिली कि सरकार ने खादी के काम को अस्तव्यस्त कर दिया है तो उनको इस बात का दर्शन हुआ कि खादी मजबूत बुनियाद पर, अपने पैर पर खड़ी नहीं है। अतः उसे जन-जन में फैला कर निरपेक्ष जन शक्ति के आधार पर खड़ी करनी होगी ताकि कोई भी बाहरी ताकत उसे नष्ट न कर सके।

जब गांधीजी ने एक ही बैठक में उपरोक्त दोनों बातें कही थीं तो निःसंदेह निरपेक्षता का मतलब केवल अंग्रेजी सरकार से ही नहीं था, बल्कि किसी भी सरकार से या चरखा संघ जैसी केन्द्रित संस्था से भी था।

उपरोक्त उद्देश्य की सिद्धि में वे चरखा संघ के सारे काम को गाँव-गाँव मे फैला देना चाहते थे और चूँकि केवल खादी की एकांगी प्रवृत्ति से निरपेक्ष जन शक्ति का विकास नहीं हो सकता है, इसीलिए वे गाँव-गाँव में फैले हुए कार्यक्रम को समग्र-ग्राम-सेवा का रूप देना चाहते थे।

स्पष्ट है कि कोई भी कार्य तब तक निरपेक्ष जन शक्ति के आधार पर खड़ा नहीं हो सकता जब तक कि उसे खड़ा करनेवाले कार्यकर्ता खुद ही अपने अस्तित्व को उस शक्ति के आधार पर कायम रखने की तैयारी न रखते हों। आखिर कर्ता के आधार पर ही कर्म होगा। इसलिए कर्ता जिस शक्ति के आधार पर रहेगा अपने कर्म के लिए भी उसी शक्ति का आधार खोजेगा। अतएव गांधीजी ने इस कार्यक्रम को संगठित करने के लिए चरखा संघ के कार्यकर्ताओं को तथा देश के दूसरे नौजवानों को आवाहन किया कि वे गाँव-गाँव में फैल जायें और अपने श्रम तथा जनता के प्रेम से स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करते हुए देश में समग्र ग्राम सेवा का संगठन करें।

ऐसे स्वावलम्बी कार्यकर्ताओं के लिए गांधीजी की सलाह से चरखा संघ ने एक निश्चित योजना बनायी, वह यह थी कि जो सेवक संकल्पपूर्वक गाँव में जाकर बैठें उन्हें चरखा संघ साधन दे और स्वावलम्बन के लिए एक अवधि निर्धारित कर उतनी अवधि तक आर्थिक मदद भी दे। इसका क्रम यह रखा गया कि प्रथम वर्ष पूरा वेतन लेकर प्रति वर्ष २५ प्रतिशत घटा कर पाँचवें साल स्वावलम्बन की स्थिति पर कार्यकर्ता पहुँच जायें।

उन्हीं दिनों इग्लैंड से कैबिनेट मिशन आया और सारे देश का ध्यान दूसरी तरफ चला गया। स्वराज्य मिला और फिर बापू भी गये। फलस्वरूप बापू का यह आह्वान और योजना चरखा संघ के प्रस्ताव में ही रह गयी। उसका अमल नहीं हो सका।

फिर विनोबाजी के नेतृत्व में ग्राम स्वराज्य के विचार और उसके लिए निरपेक्ष जन शक्ति के अधिष्ठान की आवश्यकता की बात सामने आयी। इस विचार के स्वाभाविक तर्क के अनुसार पन्नी तथा चालीसगाँव में अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ ने ग्राम-स्वराज्य आंदोलन को निधि-मुक्त तथा सर्वजनाधारित करने का संकल्प किया। स्वभावतः इस संकल्प ने सर्वोदय-कार्यकर्ताओं को आलोड़ित

किया और कुछ लोग उसका छोर खोजने की बात सोचने लगे। अतएव सर्व-सेवा संघ के अध्यक्षपद की जिम्मेदारी से मुक्त होते ही इस अनिश्चित मार्ग की खोज में मैं निकल पड़ा।

समाज-परिवर्तन का मूल आधार राजनीति नहीं हो सकता, अर्थनीति भी नहीं हो सकता, वह शिक्षा-क्रम ही हो सकता है। मेरी यह मान्यता शुरू से रही है। गांधीजी भी हमेशा रचनात्मक कार्यक्रम को स्वराज्य की बुनियाद मानते रहे हैं और वे कहते रहे हैं कि सारी रचनात्मक प्रवृत्तियों की नदियों को नयी तालीम के समुद्र में मिलना होगा। अर्थात् स्वराज्य यानी अहिंसक समाज का अधिष्ठान, संरक्षण तथा संचालन का माध्यम नयी तालीम ही है ऐसा मानना चाहिए। तदनुसार पिछले दो-ढाई साल तक अन्धकार में टटोलने के बाद आज समग्र नयी तालीम का एक छोर दिखाई दे रहा है। इसी आधार पर आज ग्रामभारती योजना की बात मैं करता हूँ। योजना की रूप रेखा सर्व-सेवा संघ द्वारा ग्रामभारती शीर्षक की पुस्तिका में प्रकाशित हुई है। बीच-बीच में 'भूदान' में भी चर्चा होती रही है।

अब समय आ गया है कि सारे रचनात्मक कार्यकर्ता तथा संस्था इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। १९४४ में गांधीजी की सलाह से चरखा संघ जैसी एक शक्तिशाली संस्था ने इस योजना का पहल करने की जिम्मेदारी लेने की सोची थी। जो सेवक गांधीजी के आवाहन पर निकलें उन्हें साधन और सहारा देकर देश भर में जमाने की जिम्मेदारी भी अपने ऊपर उठायी थी। आज चरखा संघ नहीं है। सारी रचनात्मक संस्थाओं और प्रवृत्तियों का नेतृत्व सर्व-सेवा संघ पर है। अतः स्पष्ट है कि वह जिम्मेदारी संघ पर स्वतः आ जाता है। लेकिन सर्व-सेवा-संघ चरखा संघ जैसी केंद्रित निधि-आधारित एक प्रवृत्ति-मूलक संस्था नहीं है, वह एक विचार का प्रतिनिधित्व करता है। देश में जितनी रचनात्मक संस्थाएँ फैली हुई हैं वे सब उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं। अतएव इस आवाहन के अनुसार आज जितने नौजवान निकलेंगे उन्हें स्वावलम्बन में अधिष्ठित करने की जिम्मेदारी तमाम रचनात्मक संस्थाओं पर सामूहिक रूप से आ जाती है।

अप्रैल, १९६० से यानी जब से मैं निकला हूँ तब से आज तक उत्तर प्रदेश के दस नौजवान मेरे साथ आये हैं। और वे देहातों में जाकर बैठ गये हैं। ग्रामभारती की विशिष्ट योजना के प्रकाशन के बाद से अब धीरे धीरे देश के नौजवान मुझसे योजना और विचार पर पूछताछ करने लगे हैं। अतएव अब समय आ गया है कि सर्व-सेवा-संघ तथा देश का तमाम रचनात्मक संस्थाएँ ऐसे जितने नौजवान निकलेंगे उन्हें साधन और सहारा देकर स्वावलम्बी कार्यकर्ता के रूप में जमाने का काम उठायें।

चरखा संघ ने जिस समय योजना बनायी थी उस समय से आज की परिस्थिति भिन्न है। विचार भी आगे बढ़ा है। उसके सदर्भ में मैंने परिवार को निम्नलिखित प्रकार से साधन और सहारा देने की आवश्यकता समझी है।

१—स्वावलम्बन के लिए कृषिमूलक, उद्योग प्रधान अर्थनीति होगी ऐसा माना है।

२—कृषि के लिए आवश्यक भूमि उस क्षेत्र के लोग दान में देंगे जिनकी ओर से कार्यकर्ताओं को निमन्त्रण मिलेगा।

३—यह अन्दाज माना है कि कार्यकर्ता चौथे साल से स्वावलम्बी बनें, अगर श्रमाधार में कुछ कमी पड़े तो वे अपनी लोक प्रियता के आधार पर स्थानीय जनता से प्राप्त कर उतना पूरा कर लें।

४—प्रत्येक सेवक को निवास तथा गृहस्थी साधन, कृषि-साधन और उद्योग-साधन के लिए पाँच हजार रुपया पूँजी के रूप में तीन साल में दिया जाय, जिसका क्रम प्रथम वर्ष दो हजार, दूसरे वर्ष दो हजार, तीसरे वर्ष एक हजार होगा।

५—सेवक स्वयं शुरू से ही निधि-मुक्त हो जायँ और जनता के प्रेम और अपने श्रम के सहारे गुजारा करें।

६—उनके परिवार के लिए निम्न क्रम से सहायता दी जाय —

परिवार का प्रकार	सहायता			
	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	कुल
१–बिना बच्चेवाला परिवार	३७५)	२००)	—	५७५)
२–एक बच्चेवाला परिवार	५००)	३२५)	१२५)	९५०)
३–दो बच्चेवाला परिवार	६००)	४५०)	२५०)	१३००)
४–तीन बच्चे और उसके ऊपर	७५०)	५००)	३७५)	१६२५)

७—परिवार सहायता का स्वरूप उनके स्वावलम्बन शिक्षण में सहायता के रूप में होना चाहिए, जिसके लिए अलग से स्वावलम्बन विद्यालय का संगठन करना होगा।

प्रश्न यह है कि विभिन्न रचनात्मक संस्थाएँ इस योजना को किस रूप में मदद करें? मैं मानता हूँ कि यह स्वरूप कुछ वार्षिक अनुदान का न होकर संस्थाएँ एक या अनेक परिवार का अधिष्ठित करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें। गांधी निधि या गांधी-आश्रम जैसी बड़ी संस्थाएँ अधिक संख्या में सेवकों को जमाने की जिम्मेदारी ले सकती हैं। छोटी संस्थाएँ दो, एक या आधे सेवक की भी जिम्मेदारी ले सकती हैं।

सेवकों के परिवार के लिए जो विद्यालय होगा उसका स्वरूप भी विशेष होगा, जो समग्र नयी तालीम की प्रयोगशाला का केंद्र भी हो सकेगा। समग्र नयी तालीम पूरे गाँव को ले, यह तालीम की पद्धति है। अतएव उसका विद्यार्थी परिवार का बच्चा या प्रौढ़ न होकर पूरा परिवार होगा।

पूरे परिवार की समन्वित तालीम की प्रक्रिया "सेवक परिवार विद्यालय" की स्वावलम्बन-तालीम में से बहुत कुछ निकलेगा। क्योंकि इसके भी विद्यार्थी सेवक का पूरा परिवार होगा। ऐसा विद्यालय किसी संगठित ग्रामभारती गाँव में अधिक सहूलियत से चलाया जा सकेगा। क्योंकि विद्यालय के शिक्षक भी निधि-मुक्त हों यह अधिक इष्ट है। ग्रामभारती गाँव में विद्यालय का अधिष्ठान होने पर विद्यालय गाँव के ही एक टोले का रूप ले लेगा, और यह करीब-करीब ग्रामभारती का एक छात्रावास जैसा होगा।

इस तरह परिवार-स्वावलम्बन विद्यालय के लिए करीब ४० छोटे-छोटे झोंपड़ों का एक गाँव–जैसा हो बसाने की जरूरत है, जिसमें उद्योग-गृह, शिशु विहार, बालवाड़ी आदि के शिक्षण की व्यवस्था हो। विद्यालय के लिए प्रथम आवश्यकता निवास तथा दूसरे कामों के लिए मकानों की होगी।

चूँकि यह विद्यालय स्त्रियों और बच्चों के विकास के लिए होगा, इसलिए इसे कस्तूरबा ट्रस्ट के मातहत करना चाहिए। विद्यालय की स्थापना के लिए मकान आदि का जो खर्च होगा, उसमें विभिन्न संस्थाएँ अनुदान देंगी तो आसानी से इसे स्थापित किया जा सकेगा। मुझे आशा है कि विभिन्न रचनात्मक संस्थाएँ उपरोक्त योजना की मदद में पूरा हिस्सा लेंगी। अधिक जानकारी के लिए मुझे सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी—१ के पते पर लिखना चाहिए।

★

हमारा विश्व-शांति साहित्य

१—शांति-सेना —विनोबा

भूदान-ग्रामदान की पृष्ठ-भूमि में विनोबाजी ने शांति-सेना का जो विचार देश की जनता के सामने रखा है, उसका विश्व ने हृदय से स्वागत किया है। गाँव-गाँव में शांति-सेना का संगठन कैसे होगा, वह सेवा किस प्रकार की होगी और देश की आंतरिक रक्षा में अहिंसक साधनों का अवलंब कितना महत्वपूर्ण साबित होगा, यह सारा विवेचन विनोबाजी की सीधी, सरल और तल स्पर्शी भाषा में।

मूल्य ०–७५ न०पै०

२—अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया —दादा धर्माधिकारी

साधना केन्द्र, वाराणसी में आयोजित सह-जीवन सह-अध्ययन सत्र में अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया पर एक महीने तक दिये गये दादा के भाषणों का सुसंपादित संकलन। आज के संदर्भ में अहिंसक क्रांति का स्थान क्या है और उसे सफल बनाने के लिए कौन कौन से उपाय एवं कार्यक्रम अपनाने होंगे इस विषय पर अपनी अनूठी व्याख्यान-शैली में जो प्रकाश डाला गया है, वह करुणा-मूलक साम्ययोग-प्रधान अहिंसक क्रांति के प्रत्येक अनुयायी के लिए मननीय है। मूल्य २–५०

३—विदेशों में शांति के प्रयोग —मार्जरी साइक्स

प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा विदेशों में किये जानेवाले विश्व-शांति के प्रयोगों का संक्षिप्त परिचय कराते हुए भारतीय शांति-प्रयोगों के साथ उनकी तुलना करने का प्रयत्न किया है। मूल्य ०–७५

४—मानवता की नव-रचना —पिटिरिम ए० सोरोकिन

लेखक समाज विज्ञान के विश्वप्रसिद्ध विद्वान हैं। विभिन्न धर्मों, देशों तथा इतिहास कालीन घटना-चक्रों के साथ वर्तमान राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का सूक्ष्म ऊहापोह करके बताया है कि मानव का और मानवता का निर्माण अब नये रूप में करना होगा। स्वार्थवाद नहीं बल्कि परार्थवाद ही मानव की रक्षा कर सकता है। अनुवादक है श्री कृष्णदत्त भट्ट। मूल्य २–५०

५—विश्वशांति क्या सम्भव है ? —कैथलिन लासडेल

विषय नाम से स्पष्ट है। विश्वशांति की संभावना पर लेखिका ने गंभीर विचार प्रस्तुत किया है।

मूल्य १–२५

इनके अलावा विश्व-शांति विषयक नीचे लिखी किताबें भी उपलब्ध हैं —

६—*अहिंसात्मक प्रतिरोध —रेजिनल्ड ई० रेनाल्ड्स*	*मूल्य ०–५० न पै*
७—अणुयुग और हम —दिलीप	मूल्य ०–५० न पै
८—हमारे युग का भस्मासुर : अणुबम —सुभद्रा गांधी।	मूल्य ०–५० न पै
९—पारमाणविक विभीषिका —विक्रमादित्य सिंह।	मूल्य ०–५० न पै
१०—चम्बल के बेहड़ों में : बागियों का आत्म-समर्पण —श्री कृष्णदत्त भट्ट	मूल्य १–५० न पै

बड़े सूची पत्र के लिए लिखिए।

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–१

परिवार का प्रकार	सहायता			
	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	कुल
१–बिना बच्चेवाला परिवार	३७५)	२००)	—	५७०)
२–एक बच्चेवाला परिवार	५००)	३२५)	१२५)	९५०)
३–दो बच्चेवाला परिवार	६००)	४५०)	२५०)	१३००)
४–तीन बच्चे और उसके ऊपर	७५०)	५००)	३७५)	१६२५)

७—परिवार सहायता का स्वरूप उनके स्वावलंबन शिक्षण में सहायता के रूप में होना चाहिए, जिसके लिए अलग से स्वावलम्बन विद्यालय का संगठन करना होगा।

प्रश्न यह है कि विभिन्न रचनात्मक संस्थाएँ इस योजना को किस रूप में मदद करें ? मैं मानता हूँ कि यह स्वरूप कुछ वार्षिक अनुदान का न होकर संस्थाएँ एक या अनेक परिवार को अधिष्ठित करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें। गांधी निधि या गांधी-आश्रम जैसी बड़ी संस्थाएँ अधिक संख्या में सेवकों को बसाने की जिम्मेदारी ले सकती हैं। छोटी संस्थाएँ दो, एक या आधे सेवक की भी जिम्मेदारी ले सकती हैं।

सेवकों के परिवार के लिए जो विद्यालय होगा उसका स्वरूप भी विशेष होगा, जो समग्र नयी तालीम की प्रयोगशाला का केंद्र भी हो सकेगा। समग्र नयी तालीम पूरे गाँव को ले, यह तालीम की पद्धति है। अतएव उसका विद्यार्थी परिवार का बच्चा या प्रौढ़ न होकर पूरा परिवार होगा।

पूरे परिवार की समन्वित तालीम की प्रक्रिया "सेवक परिवार विद्यालय" की स्वावलम्बन-तालीम में से बहुत कुछ निकलेगा। क्योंकि इसके भी विद्यार्थी सेवक का पूरा परिवार होगा। ऐसा विद्यालय किसी संगठित ग्रामभारती गाँव में अधिक सहूलियत से चलाया जा सकेगा। क्योंकि विद्यालय के शिक्षक भी निधि-मुक्त हों यह अधिक इष्ट है। ग्रामभारती गाँव में विद्यालय का अधिष्ठान होने पर विद्यालय गाँव के ही एक टोले का रूप ले लेगा, और वह करीब-करीब ग्रामभारती का एक छात्रावास जैसा होगा।

इस तरह परिवार-स्वावलम्बन विद्यालय के लिए करीब ४० छोटे-छोटे झोंपड़ों का एक गाँव-जैसा हो बसाने की जरूरत है, जिसमें उद्योग-गृह, शिशु विहार, बालवाड़ी आदि के शिक्षण की व्यवस्था हो। विद्यालय के लिए प्रथम आवश्यकता निवास तथा दूसरे कामों के लिए मकानों की होगी।

चूँकि यह विद्यालय स्त्रियों और बच्चों के विकास के लिए होगा, इसलिए इसे कस्तूरबा ट्रस्ट के मातहत करना चाहिए। विद्यालय की स्थापना के लिए मकान आदि का जो खर्च होगा, उसमें विभिन्न संस्थाएँ अनुदान देंगी तो आसानी से इसे स्थापित किया जा सकेगा। मुझे आशा है कि विभिन्न रचनात्मक संस्थाएं उपरोक्त योजना की मदद में पूरा हिस्सा लेंगी। अधिक जानकारी के लिए मुझे सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी—१ के पते पर लिखना चाहिए।

★

परिवार का प्रकार	सहायता			
	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	कुल
१–बिना बच्चेवाला परिवार	३७५)	२००)	—	५७५)
२–एक बच्चेवाला परिवार	५००)	३२५)	१२५)	९५०)
३–दो बच्चेवाला परिवार	६००)	४५०)	२५०)	१३००)
४–तीन बच्चे और उसके ऊपर	७५०)	'५००)	३७५)	१६२५)

७—परिवार सहायता का स्वरूप उनके स्वावलबन शिक्षण में सहायता के रूप में होना चाहिए जिसके लिए अलग से स्वावलम्बन विद्यालय का सगठन करना होगा।

प्रश्न यह है कि विभिन्न रचनात्मक सस्थाएँ इस योजना को किस रूप में मदद करें? मैं मानता हूँ कि यह स्वरूप कुछ वार्षिक अनुदान का न होकर सस्थाएँ एक या अनेक परिवार का अधिष्ठित करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें। गाधी निधि या गाधी-आश्रम जैसी बड़ी सस्थाएँ अधिक सख्या में सेवकों को जमाने की जिम्मेदारी ले सकती हैं। छोटी सस्थाएँ दो, एक या आधे सेवक की भी जिम्मेदारी ले सकती हैं।

सेवकों के परिवार के लिए जो विद्यालय होगा उसका स्वरूप भी विशेष होगा, जो समग्र नयी तालीम की प्रयोगशाला का केंद्र भी हो सकेगा। समग्र नयी तालीम पूरे गाँव को ले, यह तालीम की पद्धति है। अतएव उसका विद्यार्थी परिवार का बच्चा या प्रौढ़ न होकर पूरा परिवार होगा।

पूरे परिवार की समन्वित तालीम की प्रक्रिया "सेवक परिवार विद्यालय' की स्वावलम्बन-तालीम में से बहुत कुछ निकलेगा। क्योंकि इसके भी विद्यार्थी सेवक का पूरा परिवार होगा। ऐसा विद्यालय किसी सगठित ग्रामभारती गाँव में अधिक सहूलियत से चलाया जा सकेगा। क्योंकि विद्यालय के शिक्षक भी निधि-मुक्त हों यह अधिक इष्ट है। ग्रामभारती गाँव में विद्यालय का अधिष्ठान होने पर विद्यालय गाँव के ही एक टोले का रूप ले लेगा, और वह करीब-करीब ग्रामभारती का एक छात्रावास जैसा होगा।

इस तरह परिवार-स्वावलम्बन विद्यालय के लिए करीब ४० छोटे-छोटे झोंपड़ों का एक गाँव-जैसा ही बसाने की जरूरत है, जिसमें उद्योग-गृह, शिशु विहार, बालवाड़ी आदि के शिक्षण की व्यवस्था हो। विद्यालय के लिए प्रथम आवश्यकता निवास तथा दूसरे कामों के लिए मकानों की होगी।

चूँकि यह विद्यालय स्त्रियों और बच्चों के विकास के लिए होगा, इसलिए इसे कस्तूरबा ट्रस्ट के मातहत करना चाहिए। विद्यालय की स्थापना के लिए मकान आदि का जो खर्च होगा, उसमें विभिन्न सस्थाएँ अनुदान देंगी तो आसानी से इसे स्थापित किया जा सकेगा। मुझे आशा है कि विभिन्न रचनात्मक सस्थाएँ उपरोक्त योजना की मदद में पूरा हिस्सा लेंगी। अधिक जानकारी के लिए मुझे सर्व सेवा सघ, राजघाट, वाराणसी—१ के पते पर लिखना चाहिए।

★

हमारा विश्व-शांति साहित्य

१—शांति सेना —विनोबा

भूदान-ग्रामदान की पृष्ठ-भूमि में विनोबाजी ने शांति-सेना का जो विचार देश की जनता के सामने रखा है, उसका विश्व ने हृदय से स्वागत किया है। गाँव-गाँव में शांति-सेना का संगठन कैसे होगा, वह सेवा किस प्रकार की होगी और देश की आंतरिक रक्षा में अहिंसक साधनों का अवलंब कितना महत्वपूर्ण साबित होगा, यह सारा विवेचन विनोबाजी की सीधी, सरल और तल स्पर्शी भाषा में।

मूल्य ०–७५ न०पै०

२—अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया —दादा धर्माधिकारी

साधना केन्द्र, वाराणसी में आयोजित सह-जीवन सह-अध्ययन सत्र में अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया पर एक महीने तक दिये गये दादा के भाषणों का सुसंपादित संकलन। आज के संदर्भ में अहिंसक क्रांति का स्थान क्या है और उसे सफल बनाने के लिए कौन कौन से उपाय एवं कार्यक्रम अपनाने होंगे इस विषय पर अपनी अनूठी व्याख्यान-शैली में जो प्रकाश डाला गया है, वह करुणा-मूलक साम्ययोग-प्रधान अहिंसक क्रांति के प्रत्येक अनुयायी के लिए मननीय है। मूल्य २–५०

३—विदेशों में शांति के प्रयोग —मार्जरी साइक्स

प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा विदेशों में किये जानेवाले विश्व-शांति के प्रयोगों का संक्षिप्त परिचय कराते हुए भारतीय शांति प्रयोगों के साथ उनकी तुलना करने का प्रयत्न किया है। मूल्य ०–७५

४—मानवता की नव रचना —पिटिरिम ए० सोरोकिन

लेखक समाज विज्ञान के विश्व-प्रसिद्ध विद्वान है। विभिन्न धर्मों, देशों तथा इतिहास कालीन घटना-चक्रों के साथ वर्तमान राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का सूक्ष्म ऊहापोह करके बताया है कि मानव का और मानवता का निर्माण अब नये रूप में करना होगा। स्वार्थवाद नहीं बल्कि परार्थ वाद ही मानव की रक्षा कर सकता है। अनुवादक है श्री कृष्णादत्त भट्ट। मूल्य २–५०

५—विश्वशांति क्या सम्भव है ? —कैथलिन लासडेल

विषय नाम से स्पष्ट है। विश्वशांति की संभावना पर लेखिका ने गंभीर विचार प्रस्तुत किया है।

मूल्य १–२५

इनके अलावा विश्व-शांति विषयक नीचे लिखी किताबें भी उपलब्ध हैं —

६–अहिंसात्मक प्रतिरोध —सेरिल ई० डिनशॉ मूल्य ०–५० न पै

७–अणुयुग और हम —दिलीप मूल्य ०–५० न पै

८–हमारे युग का भस्मासुर : अणुबम —सुभद्रा गांधी। मूल्य ०–५० न पै

९–पारमाणविक निर्मोचिका —विक्रमादित्य सिंह। मूल्य ०–५० न पै

१०–चम्बल के बेहड़ों में : बागियों का आत्म-समर्पण —श्री कृष्णदत्त भट्ट मूल्य १–५० न पै.

बड़े सूची पत्र के लिए लिखिये।

अखिल भारत सर्व-सेवा संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी–१

नयी तालीम

अनुक्रम

सूचनाएं

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।
- नयी तालीम का पता—

नयी तालीम
सर्व-सेवा संघ राजघाट
वाराणसी-१

था, राष्ट्रीयता थी लेकिन राष्ट्रवाद नहीं था। लेकिन हम देख रहे हैं कि सुरक्षा और स्वतंत्रता का छद्म-वेष बना कर देश के जीवन में इन क्रान्तिविरोधी प्रवृत्तियों का प्रवेश हो रहा है। यह 'साम्यवादी' चीन की देन है!

सैनिकवाद, पूँजीवाद और राष्ट्रवाद का संमिलित नाम है फासिस्टवाद। चीन का साम्यवाद फासिस्टवाद का ही एक नया संस्करण है। प्रश्न है: क्या हम चीनी आक्रमण से मुक्त होकर दूसरी दिशाओं में चीन का सूक्ष्म अनुकरण करेंगे? यह ठीक है कि चीनी आक्रमण से हमें जो धक्का लगा है उससे प्रभावित होकर हमारी निगाहें राष्ट्रीय जीवन की कमजोरियों की ओर जा रही हैं और जानी भी चाहिएं और उन्हें दूर करने की भरपूर कोशिश भी करनी चाहिए लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि हम सारी जिम्मेदारी लोकतंत्र के मत्थे न मढ़ दें तथा प्रगतिशील नेतृत्व और तत्वों में आस्था खो बैठें। ऐसा करना घातक होगा।

हमें सुरक्षा चाहिए लेकिन सैनिकवाद नहीं, उत्पादन चाहिए लेकिन पूँजीवाद नहीं, देश-प्रेम चाहिए लेकिन राष्ट्रवाद नहीं। लोग कहते हैं कि बंदूक की लड़ाई लड़नी है तो जीवन के मूल्यों के साथ समझौता करना पड़ेगा। यों तो कोई भी संघर्ष हो उसमें 'मूल्यों' के साथ कुछ न कुछ समझौता करना ही पड़ता है लेकिन, आखिर, समझौते की कोई हद तो होगी! हमारा विश्वास है कि इस संकट में भी हमारे लिए यह अनिवार्य नहीं है कि हम समझौते को एक सीमा से आगे जाने दें।

नागरिक-शक्ति फासिस्टवाद का बचाव (antidote) है। नागरिक शक्ति हमारे लिए एक उदात्त मूल्य ही नहीं है, बल्कि युद्ध के कारण पैदा हुई परिस्थिति में देश की आवश्यकता भी है। सुरक्षा के लिए केवल सैनिक काफी नहीं है, उत्पादन के लिए केवल कारखाने काफी नहीं हैं। ऐसी हालत में सुरक्षा और उत्पादन, दोनों क्षेत्रों में नागरिक शक्ति को प्रकट करना एक साथ युद्ध (और भावी विकास) की आवश्यकता माननी चाहिए। इसका यह अर्थ है कि हमारा हर गांव और शहर का हर मुहल्ला 'मोर्चा' बने, यानी अपनी संगठित शक्ति से अपनी रक्षा करे और अपनी श्रम-शक्ति से अपने लिए उत्पादन और निर्माण करे।

इस वक्त जनता में जो जोश पैदा हुआ है उसमें होश लाने का और उसे लोकशक्ति की दिशा में क्रान्तिकारी मोड़ देने का यह सुनहला अवसर है। अगर हमने यह नहीं किया और हम गाफिल रहे तो हमें भय है कि हम प्रतिक्रांति के फंदे में फंसेंगे।

हमारी लड़ाई भारत की ही नहीं, मनुष्य मात्र की आजादी की लड़ाई है— केवल भूमि की नहीं, विचार की भी। हर एक को अपनी भूमि, हर एक का अपना विचार, यह हमारी क्रान्ति की बुनियाद है। इस लड़ाई में हमारी क्रान्ति हमारा सबसे बड़ा 'स्टेक' है।

—राममूर्ति

★

श्री धीरेन्द्र भाई से दो प्रश्न

प्रश्न—१ आपने अपने लेख में कहा है कि 'ग्रामभारती' भूदान-यज्ञ आन्दोलन का अगला कदम नहीं है, बल्कि 'कन्सालिडेशन' की प्रक्रिया है, सारे रचनात्मक कार्यों को नयी तालीम में विलीन करने का क्रम है। इस विचार के सबध में मेरी निम्नलिखित कठिनाइया हैं—

आप कहते हैं कि प्रतिक्रांति को रोकने के लिए 'कन्सालिडेशन' जरूरी है। यह सही है लेकिन क्रांति के लिए 'कान्क्वेस्ट' का उससे अधिक और पहिले स्थान है। सर्वोदय ने गाधीजी के बाद क्या विजय प्राप्त की है सिवाय इसके कि भूदान-यज्ञ आदोलन के कारण सर्वोदय का जीवन दर्शन स्पष्ट हुआ है और समाज परिवर्तन के कुछ कौतुक प्रकट हुए हैं ? दूसरा और क्या हो सका है ? यह स्पष्ट है कि सर्वोदय विचार के कोई मुख्य तत्व अभी तक देश को मान्य नहीं हुए हैं। लोकनीति, स्वावलम्बन की अर्थनीति, उत्पादन-केन्द्रित शिक्षा, अथवा विसर्जन द्वारा सामाजिक क्रांति या शासन-मुक्ति इनमें से कौन सा तत्व जनता ने मान्य किया है ? जनता की आवश्यकता या आकांक्षा, दोनों में से एक भी इन तत्त्वों के साथ नहीं जुड़ पायी है। जनता में प्रचलित व्यवस्था से जो व्यापक 'डिजगस्ट' है उसे सर्वोदय में आस्था मान लेना ठीक नहीं होगा। 'डिजगस्ट' विधायक नहीं होती और उसमें से कभी क्रान्ति की शक्ति नहीं निकलती। क्रान्ति के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं—(१) बुनियादी विचार में जनता का आस्था, (२) विचार द्वारा पैदा की गयी भविष्य के प्रति आशा, (३) विचार की 'ह्यूमन लीडरशिप' में विश्वास। इनमें से सर्वोदय को एक भी प्राप्त नहीं है। विनोबाजी के लिए जनता के मन में आदर तो है, लेकिन विश्वास नहीं है। ऐसी स्थिति में कन्सालिडेशन की बात ऐतिहासिक क्रम और भूदान यज्ञ आन्दोलन की भूमिका में सही नहीं मालूम होती। यह मान लिया जा सकता है कि रचनात्मक कार्य की नयी पद्धति का यह एक साहसपूर्ण प्रयोग है। लेकिन जबतक कि क्रांति के बुनियादी मूल्य मान्य नहीं हो जाते तब तक सामान्य समाज में उनके आधार पर कोई प्रयोग सफल नहीं हो सकता। आज की परिस्थिति में कन्सालिडेशन के लिए 'राष्ट्रीय प्रयत्न' (नेशनल एफर्ट) या प्रचलित परिस्थिति से निकलने का व्यापक आकाक्षा (यानी विद्रोह भावना) होनी चाहिए। हमारा आन्दोलन अभी 'कौतुक-चरण' (मिरैकल स्टेज) में है। इसलिए अभी हमारी मुख्य शक्ति 'कान्क्वेस्ट' में लगनी चाहिए, नहीं तो मुझे भय है कि हमारे सारे कार्य नयी तालीम में न विलीन होकर 'वेलफेयर स्टेट' में विलीन हो जायगे। मुझे लगता है कि जब देश में ऐसी स्थिति आ जाय कि सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्न एक होकर राष्ट्रीय प्रयत्न बन जाय तब 'ग्रामभारती' का स्टेज आयेगा। आज सर्वोदय अपने मूल रूप में सरकारी प्रयत्न से बिल्कुल भिन्न है, उसमें सरकार को प्रभावित करने की शक्ति नहीं है और नेशनल एफर्ट जैसी चीज तो है ही नहीं।

उत्तर—१ प्रतिक्रांति को रोकने के लिए कान्क्वेस्ट का स्थान कन्सालिडेशन से अधिक और पहला है, यह विचार क्रांति की पुरानी धारणा के अनुसार ठीक है, क्योंकि पहले क्रांति की बात हमेशा हिंसक-क्रांति के संदर्भ में ही सोची जाती थी। हिंसक क्रांति में अबतक ऐसा ही हुआ है, लेकिन इस प्रक्रिया के प्राय अब तक की सभी क्रांतियाँ प्रति क्रांति का शिकार बनी हैं, क्योंकि जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि कान्क्वेस्ट की प्रक्रिया के दरम्यान प्रति क्रांतिकारी शक्तियाँ समाज में अपना कन्सालिडेशन करती रहती हैं और प्रतिक्रांति के बाद क्रांतिकारी जब कन्सालिडेशन का काम शुरू करता

है, उस समय उसे पूर्व सगठित प्रतिक्रातिकारी शक्ति का कठिन मुकाबिला करना पड़ता है।

यही कारण है कि गाधीजी ने 'कान्वेरट" के बाद 'कन्सालिडेशन" के स्थान पर 'कन्सालिडेशन" के बाद 'कान्वेस्ट", फिर आगे "कन्सालिडेशन और कान्वेस्ट", इस प्रकार आरोहण की प्रक्रिया को अपनी क्राति का टेकनिक माना है। आप कहेंगे कि मैं जिसे कन्सालिडेशन कहता हूँ उसे कन्सालिडेशन नहीं कहते हैं, बल्कि 'पूर्व तैयारी" कहा जाता है। कन्सालिडेशन का मतलब तो निष्पत्ति का कन्सालिडेशन है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। पूर्व तैयारी का मतलब अभियान के लिए सगठन मजबूत करना है लेकिन पूर्व कन्सालिडेशन का मतलब अभियान की पूर्व तैयारी के साथ साथ समाज को बदल कर जिन तत्वों को कायम करना चाहते हैं, उसका वैचारिक तथा व्यावहारिक अधिष्ठान भी करना है। यही कारण है कि गाधीजी सत्याग्रह से पहले केवल सत्याग्रही शक्ति का सगठन करने को ही नहीं कहते थे बल्कि खादी ग्रामोद्योग अस्पृश्यता निवारण आदि उन प्रवृत्तियों का सगठन करने के लिए भी कहते थे जिनकी स्थापना के लिए क्राति का अभियान था। आजादी के आदोलन के दिनों में बारडोली के सत्याग्रह और इलाहाबाद के सत्याग्रह की बात आप को याद होगी। इलाहाबाद के सत्याग्रह की पूर्व तैयारी में अभियान की शक्ति का सगठन तो किया गया था लेकिन रचनात्मक कार्य द्वारा पूर्व कन्सालिडेशन का काम नहीं किया गया था। आपको मालूम है कि गाधीजी ने बारडोली के सत्याग्रह को इजाजत दी थी इलाहाबाद के सत्याग्रह को नहीं। उसके लिए कान्वेस्ट के पूर्व कन्सालिडेशन और बाद के कन्सालिडेशन का कार्यक्रम समग्र एक ही था। ऐसा करने से अभियान के दरम्यान प्रतिक्रातिकारी शक्तियों के लिए परिस्थिति पर कब्जा करने का मौका नहीं मिलता है, क्योंकि कान्वेस्ट के अभियान के आगे पीछे रचनात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा कन्सालिडेशन की मोर्चाबन्दी चलती रहती है। यही कारण है कि ग्रामदान के बाद उसे कन्सालिडेट करके ग्राम स्वराज्य का अधिष्ठान करने के लिए मैं हमेशा ग्रामभारती-योजना पेश करता हूँ लेकिन साथ ही समाज आज जहाँ है वहाँ से ग्रामदान तक पहुँचने की प्रक्रिया के रूप में जितने कार्यक्रमों को रखता हूँ उन सब को ग्रामभारती का कार्यक्रम ही कहता हूँ।

मैंने ऊपर आगे पीछे ऐसा शब्द इस्तेमाल किया है, क्योंकि आपके प्रश्न में पहला कौन और बाद का कौन ऐसी बात कही गयी है। पहले के कार्यक्रम और बाद के कार्यक्रम की जो धारणा है उसे साफ करने की कोशिश की है। वस्तुत गाधीजी की व्यूह रचना का वास्तविक स्वरूप यह है कि कोई आगे नहीं और कोई पीछे नहीं। उनके लिए कान्वेस्ट और कन्सालिडेशन साथ-साथ चलने की चीज है। सत्याग्रह के उफान के दिनों में भी वे रचनात्मक कार्यकर्ता को सत्याग्रह में शामिल होने की इजाजत नहीं देते थे। वे दोनों को साथ साथ चलाते थे। यह दूसरी बात है कि परिस्थिति के कारण कभी सत्याग्रह और कभी रचनात्मक कार्य लोगों को अधिक दिखायी देता था। ठीक उसी तरह सर्वोदय की क्राति के लिए भूदान ग्रामदान और ग्रामभारती का कार्यक्रम साथ-साथ चलनेवाला कार्यक्रम है। एक आगे बढ़ने का कार्यक्रम है और दूसरा क्राति को अधिष्ठित करने का कार्यक्रम है। ग्रामभारती जहाँ भूदान और ग्रामदान के लिए पृष्ठ भूमि बनायेगी, वहाँ वह भूदान और ग्रामदान को ग्रामस्वराज्य के लिए मजबूत बुनियाद पर अधिष्ठित भी करेगी।

आपने सर्वोदय की विजय प्राप्ति को दो अध्याय में बाँटा है एक गाधीजी के समय की और दूसरी गाधीजी के बाद की। वस्तुत भूदान यज्ञ को अलग आदोलन नहीं समझना चाहिए। गाधीजी ने जो कुछ किया उसी का यह कन्टीन्यूएशन है। अत सर्वोदय की निष्पत्ति का विचार गाधीजी से ले कर आज तक का करना चाहिए। वस्तुत आगे-पीछे वाले दोनों प्रकार के कन्सालिडेशन के लिए ग्रामभारती यानी समग्र नयी तालीम की आवश्यकता की बात गाधीजी ने सन् १९४४ ४५ में ही देश के सामने रखी थी। उन्होंने साफ कहा था कि अग्रेज जा रहे हैं, अब मुल्क में ग्रामस्वराज्य की स्थापना का काम करना है। वस्तुत ग्राम स्वराज्य की स्थापना के लिए शोषण

मुक्ति आवश्यक है। उन्होंने उस समय किसी आन्दोलनात्मक अभियान की बात नहीं कही थी, बल्कि उसके लिए जन-मानस को कन्सालिडेट करने की बात कही था। इस काम के लिए उन्होंने समग्र ग्रामसेवा का कार्यक्रम उपस्थित किया था और बाद को उसे समग्र नयी तालीम की संज्ञा भी दी थी। वह मानते थे कि इस कार्यक्रम से कदम दर-कदम लक्ष्य की ओर बढ़ सकेंगे। समय-समय के प्रसंग पर वह आन्दोलन की भी बात जरूर करते थे, लेकिन उसे वह अन्य नहीं मानते थे। मुल्क उस विचार की दिशा में अभी तक कुछ विशेष नहीं कर सका है, यह दूसरी बात है। अगर आप गांधीजी के बाद की निष्पत्ति के संदर्भ में ही बात करना चाहते हैं और आपके देखने में भूदान आन्दोलन के कारण सर्वोदय का जीवन दर्शन स्पष्ट हुआ है तथा समाज-परिवर्तन के कुछ कौतुक प्रकट हुए हैं, तो फिलहाल हम इतनी ही मर्यादा तक चर्चा सीमित रखें तो अच्छा होगा। वैसे जो आपने कहा है कि सर्वोदय विचार के कोई मुख्य तत्व देश को मान्य नहीं हुए हैं, इस बात से क्रांति के आरोहण में कुछ निष्पत्ति नहीं हुई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्रांति-तत्व को देश ने मान्य कर लिया है, यह स्थिति क्रांति की सिद्धि की स्थिति होती है, न कि आगे बढ़ने की स्थिति। मान्य नहीं हुई है इसलिए क्रांति के कार्यक्रम की आवश्यकता है। अगर मान्य हो जाय तो फिर काल मान्यता के अनुसार निर्माण का काम रह जाता है क्रांति का काम समाप्त हो जाता है। यह तो प्रत्यक्ष निष्पत्ति की बात हुई, लेकिन अहिंसक क्रांति का असर प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है। क्रमिक निष्पत्ति मान्यता में प्रत्यक्ष बदल से नहीं होती बल्कि पुरानी मान्यता के अनुसार प्रवृत्तियों में नयी मान्यता का रंग चढ़ने लगता है, क्योंकि अहिंसक क्रांति का असर सौम्य और सूक्ष्म होता है। अतएव जब हम क्रांति की निष्पत्ति की समीक्षा करते हैं तो हमें प्रचलित व्यवस्था में दृष्टिकोण के सूक्ष्म परिवर्तन को भी बारीकी से विश्लेषण करने की जरूरत है। लेकिन फिलहाल आपकी कही हुई निष्पत्ति को ही ले लें।

वस्तुतः आपने जो दो बात कही है, वह सर्वोदय-क्रांति की बहुत बड़ी निष्पत्ति है। किसी भी क्रांति का प्रारंभिक मोर्चा विचारों के संग्रीकरण का ही होता है। साथ-साथ अगर समाज-परिवर्तन के कुछ कौतुक भी प्रकट हुए हैं तो समझना होगा कि जन मानस को आकर्षित करने के लिए हमें प्रारंभिक बिंदु की प्राप्ति हो गयी है। यह सही है कि आज जनता का आकर्षण सर्वोदय के प्रति जो है, वह विचार की आस्था के कारण नहीं, बल्कि प्रचलित व्यवस्था से असमाधान और असंतोष के कारण है। यह भी सही है कि असंतोष में से क्रांति की शक्ति नहीं निकल सकती है, लेकिन असंतोष क्रांति का आवश्यकता-बोध पैदा करने के लिए बहुत बड़ा उपादान है। हर प्रकार की सृष्टि पाजिटिव और निगेटिव मिल कर ही होती है। प्रचलित परिस्थिति से असंतोष, क्रांति का निगेटिव पहलू है और वाञ्छनीय व्यवस्था का विचार, उसका पाजिटिव पहलू है। जब तक मनुष्य को प्रचलित व्यवस्था से समाधान है, तबतक वह उसमें से निकलने की बात सोच ही नहीं सकता है जब असमाधान होने लगता है और उसमें से निकलने की बात सोची जाती है, तभी विकल्प की खोज होती है। असमाधान तीव्र होकर असंतोष का रूप लेता है और साथ-साथ विकल्प की खोज भी तीव्रतर होती है। इसी तीव्रता में से रचनात्मक क्रांति पुरुष का जन्म होता है, जो दुनिया के सामने पाजिटिव विचार रखता है। वैसे कालप्रवाह के साथ-साथ विचार प्रवाह तो निरंतर चलता ही रहता है, लेकिन क्रांति पुरुष उसे जब युग समस्या के साथ जोड़ देता है तभी आम जनता का आकर्षण उस ओर जाता है और उसी में से क्रांति का जन्म होता है।

लेकिन असंतोष और कौतुक-जनित क्रांति के प्रथम उफान की गति के साथ-साथ रूढ़ि ग्रस्त मनुष्य की जड़ता अदृश्य रेजिस्टेंस के रूप में अपना काम करती रहती है। यही कारण है कि क्रांति के प्रथम आलोड़न के कुछ दिन बाद मनुष्य पुरानी रूढ़ियों में गिरफ्तार हो जाता है और क्रांति समाप्त हो गयी, ऐसा उसे दीखता है। क्रांतिकारी की असली परीक्षा ऐसे

समय पर ही होती है। वह ऐसे समय में जनता को निरंतर निगेटिव परिस्थिति की ओर जागरूक करने की कोशिश करेगा, पाजिटिव विचार को फैलाता रहेगा और विचार के अनुसार छिट फुट साकार प्रतिमा खड़ा करने के प्रयास में लगा रहेगा, इसी को मैं क्रांति का अज्ञातवास कहता हूं। अज्ञातवास के काल म आम जनता को वह दिखायी नहीं देगी, लेकिन वह अपने काम से जन मानस को प्रभावित करती रहेगी और तब तक करती रहेगी जबतक कि व्यापक आन्दोलन के लिए उसे किसी प्रसंग का छोर नहीं मिलता है। क्रांतिकारी की सफलता इसी बात पर है कि वह जन मानस को समझकर ठीक समय पर उपयोगी कदम उठा ले। इस प्रकार कन्सालिडेशन की प्रक्रिया तो तो निरंतर चलती रहेगी लेकिन उपयुक्त प्रसंग में समय-समय पर प्रत्यक्ष कावेस्ट की छलांग भी लगती रहेगी। अहिंसक क्रांति के आरोहण की प्रक्रिया इस तरह चलती रहती है।

आपने क्रांति के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं, ऐसा कहा है। लेकिन इन तीनों चीजों की प्राप्ति क्रांति की प्राथमिक चीज नहीं है। वस्तुत यह क्रांति की प्रगति के काफी आगे की निष्पत्ति है, जिसके आधार पर उसकी गति काफी तेज हो जाती है। जैसा कि मैंने कहा है विकल्प की खोज पर क्रांति विचार के प्रति आकर्षण होता है, फिर तत्काल प्रत्यक्ष रूप से विशेष कुछ नहीं दिखाई देने पर वह आकर्षण मुक्त होकर साधारण जनता को उदासीन बना देता है तथा विचारशील व्यक्तियों को न्यूटरल पोजीशन पर पहुंचाता है। वह क्रांति विचार को स्वीकार नहीं करता है, लेकिन परिस्थिति का तर्क उसे एकदम अस्वीकार भी करने नहीं देता। क्रमश परिस्थिति तथा क्रांति का कार्यक्रम उसे स्वीकार की ओर मोड़ता रहता है। जिस समय स्वीकार तथा अस्वीकार का बैलेंस स्वीकार की ओर कुछ झुकता है, ऐसे अवसर पर क्रांतिकारी नेतृत्व जन-मानस को अपने विचार की ओर तेजी से झुका लेने की कोशिश करता है और कोई प्रसंग उपस्थित होने पर उसे आन्दोलन का रूप दे देता है। इस प्रक्रिया की सफलता से नेतृत्व पर विश्वास पैदा होता है, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि यह विश्वास स्थायी हो।

मैंने कहा है कि जब कभी क्रांति विचार से जन मानस आलोड़ित होता है, तब उसे समाज के अन्तर्निहित रूढ़िगत विचारों के रेजिस्टेंस को झेलना पड़ता है। जिस समय आलोड़न चलता है, उस समय यह रेजिस्टेन्स दब सा जाता है, और जनता का विश्वास लीडरशिप पर होता है, लेकिन जैसे ही आलोड़न ढीला पड़ता है, उस समय जनता ढिलाई का कारण परिस्थिति में न देखकर नेतृत्व की असफलता है, ऐसा मानने लगता है। फिर जब वही नेतृत्व अज्ञात-वास की ऊपर बतायी हुई त्रिविध प्रक्रिया से क्रांति विचार को ऊपर उठाकर तथा योग्य प्रसंग के अवसर को इस्तेमाल कर अगली छलांग के लिए आन्दोलन का आवाहन करता है, तो फिर उसी पर विश्वास लौट आता है। गांधीजी को भी जीवन भर ऐसे ही चढ़ाव-उतार का सामना करना पड़ा था।

मैंने कहा है कि कन्सालिडेशन की बात हर आन्दोलन की भूमिका में बुनियादी आवश्यकता है। क्रांति के इतिहास मे यह नयी टकनिक गांधीजीकी महत्वपूर्ण देन है। आपने देखा है कि गांधीजी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की भूमिका मे सन् १९२१ के शुरू में ही बेजवाड़ा प्रस्ताव में रचनात्मक काम द्वारा इस प्रक्रिया की बुनियाद डाली थी और आखिर तक इसे बुनियादी आवश्यकता के रूप मे ही मानते तथा विकसित करते रहे हैं। क्रांति के इतिहास में यह प्रक्रिया इतनी नयी है कि राष्ट्रीय भारत ने इसको समझा ही नहीं। गांधीजी के सभी साथी इसे उनका पागलपन ही मानते थे। फलस्वरूप राष्ट्र ने इस कन्सालिडेशन के कार्यक्रम को अपनाया नहीं, जिसका नतीजा यह हुआ कि कावेस्ट के बाद के कन्सालिडेशन का सारा प्रयास विफल हो रहा है और पूरा राष्ट्र नैराश्य की दिशा में जा रहा है। भूदान-आन्दोलन के सन्दर्भ में भी हम उसी चूक को दुहरा रहे हैं। आन्दोलन द्वारा आगे बढ़ने के साथ साथ समग्र नयी तालीम के कन्सालिडेशन की प्रक्रिया को अबतक हमने नहीं अपनाया और आज भी नहीं अपना रहे हैं। फल

स्वरूप आन्दोलन के प्रथम आलोड़न की सुस्ती होने के साथ-साथ हम एक प्रकार की शून्यता का अनुभव कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आप चाहे जितनी कान्वेस्ट में शक्ति लगाने की कोशिश करेंगे, आगे नहीं बढ़ सकेंगे, क्योंकि आप कान्वेस्ट के लिए कोई 'वेस' नहीं बना पाये हैं और न इस समय कोई बाह्य परिस्थिति है। यह बात मैंने आप लोगों को सन् १९५८ की जनवरी में ही कही थी। मैंने कहा था कि अब अज्ञातवास की व्यूह-रचना करने की आवश्यकता है। साथ-साथ मैंने यह भी कहा था कि इस समय आन्दोलन के 'टेम्पो' को ऊपर उठाने का प्रयास शक्ति को क्षीण करनेवाला होगा। अभी भी मैं उसी को मानता हूँ। अगर क्रांति के संदर्भ में कन्सालिडेशन की दृष्टि से हम समग्र नयी तालीम का कार्यक्रम चलायें तो हमारे सारे कार्यक्रम को क्रान्ति के वाहन के रूप में अधिष्ठित किया जा सकेगा लेकिन अगर नयी तालीम को एक प्रवृत्ति मानकर कार्यक्रम का एक विभाग बना देंगे तो निःसंदेह नयी तालीम भी सारे कार्यक्रम के साथ वेलफेयर स्टेट में विलीन हो जायेगी। यही कारण था कि जब हिन्दुस्तानी तालीमी संघ सर्व सेवा संघ में विलीन हुआ था, तो संघ के नेताओं द्वारा बार-बार माग होने पर भी विनोबाजी नयी तालीम समिति अलग से बनाना अस्वीकार ही करते रहे और आग्रहपूर्वक यही कहते रहे कि पूरा सर्व सेवा संघ ही नयी तालीम समिति है। दुर्भाग्य से हमने विनोबाजी की बात को समझा नहीं।

आपका कहना सही है कि दुनिया के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के जीवन में अनेक बार ऐसी स्थिति आ जाती है कि सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्न एक होकर राष्ट्रीय प्रयत्न बन जाता है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि ऐसी स्थिति में ग्रामभारती का विचार ग्राह्य ही हो। वर्ग-निराकरण का विचार मान्य न होते हुए भी राष्ट्रीय विकास के काम में सरकारी तथा गैरसरकारी प्रयास एक हो सकता है, ऐसी स्थिति में राष्ट्र का विकास होगा, क्रांति नहीं होगी। क्रांति तब होगी जब ग्रामभारती की प्रक्रिया द्वारा क्रांति-विचार के अधिष्ठान का प्रयास होगा। निःसन्देह यह प्रयास मूल रूप में सरकारी प्रयास से बिल्कुल भिन्न होगा ही, उससे सहकार भले ही होता रहे। अतः इसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ग्रामभारती के कार्यक्रम को स्वतंत्र रूप से तथा स्वतंत्र लोक-शक्ति के आधार पर क्रांति की बुनियादी शक्ति के रूप में ही अधिष्ठित करना होगा। अगर हम इस उद्देश्य में असफल होते हैं तो वह नयी तालीम की असफलता नहीं होगी, बल्कि हमारी असफलता होगी और हमारे बाद दूसरे सफल होंगे।

प्रश्न—२. दूसरी बात आपने विद्रोह के बारे में कही है। बालिग मताधिकार के लोकतन्त्र में क्षोभरहित विद्रोह-भावना की कल्पना की जा सकती है। डिजगस्ट जब 'पाजिटिव' होता है तो डिवाइन डिसकण्टेण्ट होता है। असंतोष और अस्वीकृति (विल टु से 'नो') को मैं क्रान्ति के लिए आवश्यक मानता हूँ। हमारा देश बावजूद कल-कारखानों और 'वेलफेयर स्टेट' के अभी सामन्तवादी युग में है, इसलिए व्यापक विद्रोह-भावना के बिना युग-परिवर्तन होने की संभावना नहीं है। 'विद्रोह' के लिए उग्र असहयोग की प्रक्रियाएं अनिवार्य नहीं हैं, परिस्थिति-विशेष में आवश्यक भले ही हों। मैं मानता हूं कि विद्रोह-भावना के अभाव में ग्रामभारती की प्रक्रिया या तो टिकाऊ नहीं होगी या विकास और शिक्षण के नाम में 'स्टेटस्को' (Status quo) को कायम रखने में मददगार होगी। आज के युग में क्रान्ति की प्रक्रिया शैक्षणिक ही होगी, यह सही है, लेकिन उसका व्यावहारिक स्वरूप आपकी ग्रामभारती का होगा यह कहना ठीक नहीं लगता। आपकी प्रक्रिया दमन-मूलक सरकार और शोषण-मूलक बाजार की विघटनकारी शक्तियों को रोकने का वातावरण कैसे बना सकेगी?

उत्तर—हां, अब आपने सही दिशा की ओर संकेत किया है। क्षोभ-रहित विद्रोह-भावना अहिंसक क्रांति का उद्‌बोधन करती है, यह सही है। लेकिन यह समझने की जरूरत है कि विद्रोह-भावना क्षोभ-रहित तब हो सकती है। व्यवस्था के प्रति जो विद्रोह-भावना निर्माण होती है, वही क्षोभ-रहित हो सकती है, और उस व्यवस्था को बदलने का प्रयास संघर्ष-रहित हो सकता है, क्योंकि ऐसी हालत में विद्रोह व्यवस्था

के खिलाफ होगा, न कि शोषण और निर्दलन करने वाले के। विद्रोही को जब स्पष्ट रूप से यह बात समझ में आ जायेगी कि शोषण तथा निर्दलन करनेवाला भी दूषित व्यवस्था का शिकार है और वह मजबूर है, तो उसके प्रति स्वाभाविक रूप से करुणा की भावना पैदा होगी, न कि विद्वेष की। शोषण करनेवाला भी महसूस करेगा कि इस अनर्थपूर्ण व्यवस्था को बदलने पर ही सुख और शांति मिल सकती है, लेकिन अगर विद्रोह-भावना शोषण और निर्दलन की प्रतिक्रिया जनित होगी तो वह क्षोभ-रहित हो ही नहीं सकती है, क्योंकि उस हालत में प्रतिक्रिया शोषण करनेवालों के प्रति ही होगी। फलस्वरूप विद्रोह-भावना विद्वेष-युक्त बन जाती है, अर्थात् वह क्षोभपूर्ण हो जाती है। इस भावना की अभिव्यक्ति अहिंसक 'क्रांति' में न हो कर अहिंसक 'विप्लव' में होगी।

अब प्रश्न यह है कि विद्रोह-भावना को क्षोभरहित होने में जनता की जिस वैचारिक संदर्भ की आवश्यकता है, उसे कैसे पैदा किया जाय? संघर्ष-मूलक विप्लव की टेक्निक आसान और सीधी है। शोषण तथा निर्दलन-कार्य की प्रतिक्रिया के रूप में जो दबा हुआ विद्वेष मौजूद रहता है, उसी को आन्दोलनात्मक नारों से उभाड़ देना काफी होता है, लेकिन संघर्ष-रहित अहिंसक क्रांति की टेक्निक उतनी सरल नहीं। उसके लिए सुप्त विद्वेष को मिटाकर या कम-से-कम उसके उभाड़ को टाल कर वैचारिक भूमिका निर्माण करने की आवश्यकता है। निःसंदेह शैक्षणिक प्रक्रिया के अतिरिक्त दूसरी किसी भी प्रक्रिया से यह संभव नहीं है और आप भी इस बात को मानते हैं। उसका व्यावहारिक स्वरूप विचार-प्रचार, विचार-शिक्षण तथा विचार का संगठन है। ग्रामभारती में ये तीनों प्रक्रियाएँ आ जाती हैं। तीनों प्रक्रियाएँ जब ठोस भूमिका पर तथा निश्चित क्रमबद्ध रूप से संगठित की जाती हैं, तब उसे हम ग्रामभारती की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि यह आन्दोलन के कन्सालिडेशन का पहलू है तथा जब हम इन्हीं तीनों प्रक्रियाओं को भूदान ग्रामदान आदि कार्यक्रम द्वारा व्यापक रूप से चलाते हैं तब उसे हम क्रांति का आन्दोलनात्मक पहलू कहते हैं। यद्यपि यह प्रक्रिया भी समग्र नयी तालीम यानी ग्रामभारती की ही प्रक्रिया है। केवल समझने के लिए हम दो शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। इसी तरह अहिंसक क्रांति में कान्क्वेस्ट और कन्सालिडेशन भी दो चीज नहीं होती है। केवल समझने के लिए दो शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है। वह क्रांति एक दूसरे के समवाय में चलती है अर्थात् दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

आपने अपने प्रश्न में लोकतंत्र की बात कही है। आपने यह कहा है कि बालिग-मताधिकार के लोकतंत्र में क्षोभरहित विद्रोह-भावना की कल्पना की जा सकती है। लेकिन साथ-साथ यह भी सही कहा है कि यह देश अभी सामंतवादी युग में है।

केवल बालिग-मताधिकार होने से ही लोकतंत्र नहीं हो जाता है। राष्ट्र में लोकतांत्रिक चरित्र और मानस होना चाहिए, तभी विद्रोह भावना क्षोभ-रहित हो सकती है या नहीं, इसका विचार किया जा सकता है। आज भारत का सामाजिक चरित्र सामन्तवादी तथा जातिवादी तत्वों से भरपूर है। हजारों वर्षों की विषमता, शोषण तथा निर्दलन के कारण श्रेणीगत और जातिगत विद्वेष-भावना पुँजीभूत हो गयी है। यह विद्वेष इतना गहरा है कि हम चाहे जितनी स्पष्टता के साथ व्यवस्था तथा प्रथा के विरोध में व्यापक विद्रोह-भावना का उद्‌बोधन करें, अन्तर्निहित पुँजीभूत विद्वेष के कारण वह भावना व्यवस्था के खिलाफ जाग्रत होने के बदले निश्चित रूप से अत्याचारी के खिलाफ ही जाग्रत होगी। यह एक वस्तुस्थिति है, जिस पर इस देश की अहिंसक क्रांतिकारियों को विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

इग्लैण्ड, अमेरिका जैसे लोकतांत्रिक मुल्कों में जहां प्रगतिशील पूँजीवादी लोकतंत्र ने सैकड़ों वर्षों के लोकशिक्षण के फलस्वरूप जन-मानस तथा चरित्र में लोकतांत्रिक भावना काफी हद तक विकसित की है वहां के अहिंसक क्रांति के विचारक शायद व्यापक आन्दोलनात्मक प्रक्रिया के सहारे क्षोभ रहित विद्रोही-भावना उद्‌बोधित करने की कल्पना कर सकते हैं।

[शेष पृष्ठ १४८ पर]

नयी तालीम का हार्द

श्री शंकर राव देव

गुरु-शिष्य की एकता

विचार व्यवहार से श्रेष्ठ है। साथ ही विचार व्यवहार निरपेक्ष भी है। फिर भी विचार आखिर आचार के कारण ही प्रतिष्ठित होता है। आचरण के प्रति जो विचार उपेक्षा बरतेगा वह प्रतिष्ठित नहीं होगा और उस विचार के आधार पर सामाजिक व्यवहार खड़ा नहीं हो सकेगा। वह कच्ची नींव जैसा है। उस पर पक्की इमारत कैसे खड़ी हो सकेगी? वह विचार भले काव्य हो सकता है, कल्पना हो सकता है, परन्तु जीवन की इमारत की नींव का काम नहीं दे सकता। इसलिए विचार की कसौटी ही यह है कि वह आचार में कहाँ तक खरा उतरता है। इसके विपरीत जो आचार शुद्ध विचार पर अधिष्ठित न हो वह भी हमें अपनी मंजिल तक नहीं पहुँचा सकता है। आचार को शुद्ध विचार से संचालित और नियंत्रित होकर ही चलना होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि विचार और आचार दोनों में मेल सधे, सामंजस्य बढ़े और दोनों परस्परावलंबी व पोषक हों।

यह शिक्षण शास्त्र का प्रक्रिया है जिसमें शिक्षक कुछ सिखाता है, शिक्षार्थी कुछ सीखता है। लेकिन आज शिक्षक को इस बात की चिंता नहीं है कि उसके विचारों का असर या प्रतिक्रिया शिक्षार्थी पर क्या हो रही है और शिक्षार्थी भी यह महसूस नहीं करता है कि इस सिखाने में खुद का भी कुछ हाथ हो सकता है। आज की शिक्षा-पद्धति एकमुखी है और इसी का परिणाम है कि आज का शिक्षण निस्तेज और उपद्रवकारी बनता जा रहा है।

शिक्षक का विचार यदि शिक्षार्थी के व्यवहार में परिणत नहीं होता है, शिक्षक के विचार और शिक्षार्थी के व्यवहार में यदि मेल और समन्वय नहीं होता है तो यह दुर्गति बनी ही रहनेवाली है। इसलिए हमारा कहना यह है कि शिक्षक को शिक्षार्थी भी बनना चाहिए और शिक्षार्थी को शिक्षक भी बनना चाहिए। शिक्षक और शिक्षार्थी कोई भिन्न या विरोधी नहीं हैं। शिक्षक और शिक्षार्थी की अलग-अलग 'कैटेगरी' नहीं है। यह सत्य है कि शिक्षक शिक्षार्थी भी है और शिक्षार्थी शिक्षक भी है। इसका भान रखकर यदि शिक्षण का काम चलाया जाता है तो उस शिक्षण में से तेज उत्पन्न होगा। "तेजस्विनावधीतमस्तु" यह उपनिषद्-वाक्य चरितार्थ होगा। गीता में शिक्षण प्रक्रिया को स्पष्ट करनेवाले दो शब्द हैं—एक है 'परिप्रश्नेन' दूसरा है—'बोधयतः परस्परम्'। यह परिप्रश्न और यह परस्पर का बोध गुरु शिष्यों की एकता से ही सिद्ध हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इस ओर जाने के प्रयत्न का नाम ही नयी तालीम है।

नयी तालीम से ही सर्वोदय—

आज देश में जितने भी रचनात्मक कार्य चलते हैं उन सबका लक्ष्य क्या है? एक शब्द में कहें तो यह कहना होगा कि सबका एक-मात्र लक्ष्य सर्वोदय है। सभी रचनात्मक कार्य अपने अपने ढंग से उस ओर बढ़ रहे हैं। फिर भी हमारा निश्चित मत है कि नयी तालीम के बिना यह लक्ष्य सिद्ध होना संभव नहीं है। सारे रचानात्मक कार्य नयी तालीम के स्वरूप में चलें तो ही सर्वोदय का लक्ष्य सिद्ध हो सकेगा। नयी तालीम जिस मात्रा में कार्यान्वित होगी उसी मात्रा में वह लक्ष्य सिद्ध होनेवाला है और जिस मात्रा में नयी तालीम की कमी रहेगी उस मात्रा में हम लक्ष्य से दूर रहेंगे। इसलिए यह समझ लेना जरूरी है कि नयी तालीम क्या है।

नयी तालीम क्या है ?

हमने कहा कि हमारा लक्ष्य सर्वोदय है। सर्वोदय शब्द इतना स्पष्ट है कि उसकी अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हम चाहते हैं कि सबका उदय हो। साम्यवादी और समाजवादी आदि सभी यह बात मानते हैं। पर इसकी सिद्धि के लिए साधन के रूप में गांधीजी ने नयी तालीम भी यह विशेष है। गांधी जी की यह एक अद्युत्तम सूझ है। वे नयी तालीम को जीवन की तालीम कहते थे। अक्सर आज बुनियादी तालीम (बेसिक एज्युकेशन) का अर्थ किया जाता है कुछ मूल उद्योगों के जरिए तालीम। इसे ही को रिलेशन या समवाय भी कहते हैं।

गांधीजी ने इसे जन्म से मरण तक की तालीम बताया था। उन की कल्पना में यह तालीम जीवन भर अखण्ड चलनेवाली नदी-जैसी है। गांधीजी की कल्पना थी कि यह जीवन नदी बुनियादी तालीम के किनारों के बीच हो कर बहनेवाला है।

आज 'बेसिक' शब्द बहुत चलता है क्योंकि यह विकास का युग है। सारे उद्योगों में बेसिक उद्योगों पर अधिक बल दिया जाता है। बेसिक उद्योग वे हैं जिनके आधार पर दूसरे उद्योग चलते हैं जैसे फौलाद, तेल आदि। जीवन की भी कुछ बेसिक (प्राथमिक) आवश्यकताएं हैं। हम बेसिक एज्युकेशन (बुनियादी शिक्षण) की बात करते हैं तो इसका अर्थ यह है कि जीवन की उन बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति इस बुनियादी शिक्षण से करना चाहते हैं। इस विचार को लेकर देश में काफी चर्चा हुई, मथन चला यहां तक कि लोगों ने बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा मान लिया है, लेकिन नयी तालीम का अर्थ सामान्यतया यही किया जाता है कि यह शिक्षा कुछ मूल उद्योगों के द्वारा दी जाती है। परंतु यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। इसी विचार पर कुछ गहराई से सोचना चाहिए।

शरीर का पालन पोषण मनुष्य और अन्य प्राणि मात्र के लिए समान है।

आहार निद्रा भय मैथुनं च
समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

जीवन जीने के लिए आहार, निद्रा आदि की आवश्यकता सबको है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य भी प्रयत्न करता है, और प्राणी भी करते हैं। लेकिन मनुष्य के प्रयत्न में और अन्य प्राणियों के प्रयत्न में एक बड़ा फर्क है। पशुओं का भूख मिटाने का अपना एक क्रम है। आज भी वही क्रम उन में चालू है जो हजारों वर्ष पहले भी था। शेर बकरी को मारता है और अपनी भूख मिटाता है। बड़ा मछली छोटी मछली को निगलती है और अपनी भूख मिटाती है। चील कबूतर पर झपटता है और अपनी भूख मिटाता है। भूख मिटाने का इन सब का एक ही तरीका है। एक डर से भागता है, खुद को बचाना चाहता है और दूसरा उस पर आक्रमण करता है, अपना पेट भरना चाहता है। इसमें श्रम भी है ही। प्राणी भी श्रम के द्वारा ही अपना आहार प्राप्त करते हैं। लेकिन यह प्रक्रिया छीनाझपटी की प्रक्रिया है। इसे जंगली कानून कहते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात है कि मानव-समाज में भी यही कानून आज तक चलता आया है और बहुत हद तक इसीलिए मानव-समाज की स्थिति जंगल की सी हो है।

अब प्रश्न यह है कि अपना अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पशु और मनुष्य यदि एक ही प्रक्रिया काम में लायें तो मनुष्य में और पशु में फरक क्या है। आज का मानव शिक्षित मानव कहलाता है। लेकिन मनुष्य को आज जो शिक्षण मिल रहा है वह सही माने में शिक्षण नहीं है। वह यदि सही शिक्षण होता तो मानव-समाज में जंगली कानून नहीं चलता होता क्योंकि शिक्षण का प्रमुख और पहला काम ही यह है कि मनुष्य को मनुष्य बनाया जाय, मनुष्य समाज में पशुओं के कानून से भिन्न कानून प्रचलित किया जाय। आज तक के शिक्षण से यह नहीं हो पाया। यह काम यदि नयी तालीम से सिद्ध नहीं होता है तो नयी तालीम में और वर्तमान शिक्षा-पद्धति में कोई फरक नहीं होगा।

स्नेह और सहकार तालीम की कसौटी

मनुष्य और पशुमें फर्क क्या है? उपर्युक्त श्लोक के उत्तरार्ध में यह फर्क बताया गया है।

धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो
धर्मेण हीना पशुभि समाना ।

मनुष्य को पशुओं से अलग करनेवाली चीज है धर्म। जो मनुष्य धर्म-हीन है वह पशु-समान है। अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति का जंगल कानून से भिन्न कोई दूसरा तरीका जब तक मनुष्य नहीं खोज लेता है तब तक उसके अंदर निहित पशुत्व से उसे मुक्ति मिलनेवाली नहीं है। महाभारत में दुर्योधन ने कहा।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ।

दुर्योधन को दोनों बातें मालूम हैं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है। फिर भी उसके सामने दिक्कत यह है कि धर्म को जानते हुए भी उस तरफ उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है और अधर्म को जानते हुए भी उससे वह निवृत्त नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति केवल दुर्योधन के सामने ही नहीं, मनुष्य-मात्र के सामने उपस्थित होती है। पशु के सामने धर्म-अधर्म की समस्या कभी उपस्थित नहीं होती। शेर बकरी को देखता है तुरन्त उस पर झपटता है और खा जाता है। पशु अपने स्वधर्म को सहज प्रेरणा से (इन्स्टिक्टिवली) पहचान लेता है और उसपर अमल करता है। मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता है क्यों कि मनुष्य जानता है कि उसका धर्म स्नेह और सहकार है। पशु को उसका स्वधर्म जितना सहज-प्रेरणा से दीखता है उतना ही सहज-प्रेरणा से मनुष्य को भी उसका स्वधर्म दीखता है। लेकिन दुर्योधन की तरह हरेक मनुष्य को उसके स्वधर्म पर अमल करने से उसके अंदर जो पशुभाव का अवशेष अभी भी है रोकता है। इसी प्रकार मनुष्य जानता है कि स्नेह और सहकार का अभाव उसके लिए अधर्म है, लेकिन वही पशुभाव यहां भी उस अधर्म से उसे निवृत्त होने नहीं देता। मनुष्य के अंदर जो स्नेहभाव, सहकार-वृत्ति और सहयोग की भावना आज है वह उसके रक्त-संबंधी स्वजनों तक ही सीमित है। पर मनुष्य में केवल सहज प्रेरणा (इन्स्टिंक्ट) ही नहीं है, बल्कि प्रज्ञा (इन्टेलिजेन्स) भी है। और वह प्रज्ञा कहती है कि मनुष्य को इस स्नेह, सहकार और सहयोग की भावना को व्यापक करना चाहिए और यही मनुष्य का धर्म है। व्यापक बनने की इस भूख को ज्यादा बनाना शिक्षण का पहला काम है।

स्नेह और सहकार जीवन का बुनियादी आधार हो सकता है यह हमने देखा। इन के अलावा जीवन की और भी कुछ महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएं हैं जिन्हें प्राथमिक आवश्यकता कहते हैं। वे हैं अन्न, वस्त्र, आवास, रक्षा और शिक्षा।

जैसे बेसिक उद्योग पर अन्य सारे उद्योग खड़े होते हैं उसी प्रकार बुनियादी शिक्षा पर जीवन खड़ा होना चाहिए, यही बुनियादी शिक्षा से अभिप्रेत है। अर्थात् बुनियादी तालीम से अपेक्षा है कि उसमें स्नेह और सहकार के जरिए जीवन की अन्न वस्त्र आदि आवश्यकताओं की पूर्ति हो और वह पूर्ति होने की प्रक्रिया ऐसी हो जिससे स्नेह और सहकार-वृत्ति में वृद्धि भी हो। केवल कुछ मूल उद्योगों द्वारा अन्य विषयों का ज्ञान करा देने से यह सिद्ध नहीं होता है।

गांधीजी ने कहा था कि समझ बूझ कर कातो। शिक्षण में कातना एक मूल उद्योग माना गया है। समझ-बूझ कर कातने का अर्थ केवल यह नहीं है कि कातने का या किसी भी उद्योग की यांत्रिक जानकारी प्राप्त की जाय, बल्कि यह समझ लेना कि उद्योगों के द्वारा अन्न, वस्त्र आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ-साथ इस जीवन में स्नेह और सहकार-वृत्ति कैसे बढ़े। इन वृत्तियों को बढ़ाने की दिशा में उद्योगों को चलाना ही समझना-बूझना है और यही नयी तालीम है।

इसके साथ-साथ एक और बात और ध्यान देने योग्य है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-यह भारतीय संस्कृति की निष्ठा है। इसकी पहुंच यहां तक है कि यह जो स्नेह और सहकार की भावना है वह मनुष्य-समाज या चर सृष्टि तक ही सीमित न हो, बल्कि सारी चर-अचर सृष्टि तक व्यापक हो। बुनियादी तालीम से स्नेह और

सहकारवृत्ति के व्यापक करने और उसके आधार पर समाज-जीवन प्रतिष्ठित करने का अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते समय न केवल अपने समाज के साथ, अपितु सारी सृष्टि के साथ स्नेह और सहकार बनाये रखने का भी ध्यान रखना होगा। शिक्षण-पद्धति ही ऐसी हो जिससे मनुष्य या प्राणिजगत् अपनी अन्न, वस्त्र आदि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अचर सृष्टि से विपुल साधन-सामग्री लेता है तो उस अचर-सृष्टि के जीवन के लिए चर-सृष्टि को जो कुछ देना होगा वह उदारतापूर्वक देने की वृत्ति मनुष्य में बनी रहे। तभी सारी सृष्टि और मानव समान धरातल पर परस्पर भावयन्त भी सकेंगे तथा गांधीजी की कल्पना के अनुसार समाजकी शांतिपूर्ण स्थायी आर्थिक व्यवस्था (इकानमी आफ परमनैन्स एण्ड पीस) का सिद्धांत नयी तालीम से चरितार्थ होगा।

★

[पृष्ठ १४४ का शेषांश]

गांधीजी के विचारों से उन देशों के जो लोग प्रभावित हैं, वे इस सदर्भ में विचार भी करते हैं। हाल में उधर से श्री हाउजर दम्पति हमारे यहां आये थे उन्होंने इस पहलू पर काफी चर्चा की थी और उससे हमलोग काफी प्रभावित भी हुए थे, लेकिन हमें इस बात को समझना चाहिए कि यद्यपि श्री हाउजर जैसे लोकतांत्रिक देश के नागरिक के लिए इस प्रकार का चिंतन बिल्कुल स्वाभाविक है लेकिन हमको इसे ग्रहण करने में काफी गहराई से विचार करने की जरूरत है। मेरी अपनी मान्यता यह है कि श्री हाउजर के विचार से प्रभावित होकर सीधे आन्दोलनात्मक प्रक्रिया से व्यापक रूप से विद्रोह भावना से उद्बोधन और संगठन करने का कार्यक्रम उठा लेना हमारे लिए वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता का परिचायक होगा। हमको तो सुव्यवस्थित शिक्षण प्रक्रिया द्वारा ही क्रांति की भूमिका निर्माण करनी होगी। यह सही है कि क्रांतिकारी आंदोलन के लिए व्यापक नारों की भी आवश्यकता होती है। लेकिन इस देश की विशिष्ट परिस्थिति में यह विद्रोह भावना का उद्बोधक न होकर करुणा, स्नेह तथा प्रेम की भावना का ही प्रेरक होनी चाहिए। आज विनोबा यही कर रहे हैं।

अतः हमारी क्रांति की टेक्निक चतुर्विध होगी —

१ वर्तमान दूषित व्यवस्था का विश्लेषण तथा विकल्प के रूप में वाछनीय व्यवस्था का व्यापक विचार प्रचार तथा विचार शिक्षण।

२ ग्रामभारती की प्रक्रिया द्वारा गहरे तथा सुव्यवस्थित शिक्षण से विद्वेष विरोधी तथा लोकतांत्रिक चरित्र निर्माण के साथ व्यवस्था और पद्धति से अंग तोष निर्माण का प्रयास।

३ स्नेह करुणा आदि भावनाओं का व्यापक उद्बोधन।

४ क्रमबद्ध ग्रामभारती के कार्यक्रम द्वारा धर्म विद्वेष के निरसन का प्रयास तथा सहकारी भावना और कार्यक्रमों का संगठन।

वस्तुतः उपर्युक्त चारों कार्यक्रम ग्रामभारती की चहारदीवारी के अंदर के कार्यक्रम हैं।

★

बुनियादी शिक्षा और ग्रामसेवा

(लेखांक २)

श्री मनमोहन चौधरी

३ प्राप्ति प्रेरणा

हम सब समाज के शीघ्र परिवर्तन की कुंजी की खोज में लगे हैं। मैं नहीं मानता कि कोई एक कुंजी ऐसी होगी जो सभी द्वार खोल दे। समस्याएँ नाना प्रकार की हैं जिनका समाधान विभिन्न स्तरों में और विभिन्न सदर्भों में खोजना आवश्यक है। कई मोर्चों पर किये गये कई प्रयोगों के परिणामों का सकलन अतिम समाधान के निकट पहुचाने का सरल साधन हो सकेगा। फिर भी कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जो अत्यत प्रमुख हैं और ऐसा लगता है कि उनके समाधान का विशेष प्रभाव दूसरी समस्याओं पर भी पड़ सकता है। ऐसी समस्याओं में एक-समाजविज्ञान के पण्डितों की भाषा में-प्राप्ति प्रेरणा (अचीवमेंट मोटिवेशन) है। एक बार विनोबाजी ने इसका विश्लेषण निम्न शब्दों में किया था। मान लीजिये मैं यहाँ नगे बदन बैठा सर्दी में काँप रहा हूँ। मेरी चादर यहाँ से इतनी थोड़ी दूर पर है कि मैं उठू और दो कदम चलू तो वह मिल सकती है और मैं पल-भर में आराम पा सकता हू, लेकिन अपनी लापरवाही के कारण मैं कांपता रह जाता हू। यदि कोई दूसरा मुझे वह चादर हाथ में पकड़ा दे तो मैं कृतज्ञ होता हू। लेकिन मैं स्वय प्रयत्न करना नहीं चाहता। यह उदाहरण भारत के सभी मामलों की स्थिति का अच्छा परिचायक है। यही हमारे प्रगति-पथ का सबसे बड़ा रोड़ा रहा है। यहा के लोगों में कोई भी चीज प्राप्त करने की-उसका साधन चाहे जितना समीप क्यों न हो-इच्छा और अभिक्रम नहीं है।

जनशक्ति जाग्रत करने के प्रयत्न का हमारा जो आशय है, वह उसका एक हिस्सा है। इस शब्द को अत्यत सकुचित आशय दे दिया गया है। हम ऐसा मान लेते हैं गोया सरकारी प्रयत्न और गैर सरकारी प्रयत्न एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। इसमें उपर्युक्त प्रेरणा और कुछ मूल्यों का स्वीकार निहित है। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जो न्यूनतम प्राप्ति प्रेरणा मान्य हो सकती है उसका सरकारी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में अभाव है। इस समस्या का अध्ययन करनेवाले मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बचपन का शिक्षण बहुत गहराई तक इस दिशा में प्रभाव डालता है कि मनुष्य प्रोत्साहित होगा या दबा रहेगा। बच्चे को आगे बढ़ने, प्रयोग करने और खतरे उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है और उसी प्रकार पीछे हटने, भयभीत होने और सहारा खोजने और नये प्रयोगों के खतरों से बचकर पुरानी चीजों को ही मान कर चलने के लिए भी तैयार किया जा सकता है।

शिक्षा शास्त्रियों के सामने यह एक समस्या है। साधारण स्कूलों और बुनियादी शालाओं के शिक्षित बालकों में जो प्राप्ति प्रेरणा दीखती है उसका मूल्याकन और तुलना की जाय और देखा जाय कि बुनियादी शाला के विद्यार्थियों में वह गुण अधिक मात्रा में है या नहीं, यह लाभदायी होगा। तब इस प्रेरणा को अधिकाधिक जगाने और विकसित करने की योग्य शिक्षा-पद्धतियों की खोज करना जरूरी होगा। भारत के शिक्षाशास्त्रियों के लिए यह सब से बड़ा काम है।

रूढ़िग्रस्त हिंदू समाज ने प्राप्ति प्रेरणा के सभी प्रकारों को व्यवस्थित रूप से खतम कर दिया। उसने अनगिनत प्रतिबधों के जरिये जो कि जीवन के सभी पहलुओं में फैले हैं अपने को बनाये रखा है। उसमें एक प्रतिबध बड़े भाई को छोटे भाई की स्त्री की तरफ

देखने या उससे बात करने तक से मना करनेवाला है तो एक समुद्र-यात्रा को निषिद्ध करनेवाला है। इस प्रकार कट्टरपंथीपन के कारण हमारा गुण विकास रुक गया है और हर प्रकार का अभिक्रम नष्ट हो गया है।

हमारे यहा परलोक संबंधी दर्शन का काफी विकास और विस्तार हुआ है। डैनिलो डोलाई के शब्दों म परलोकवाद जड़ अर्थ-व्यवस्था की उपज है जहा एक निश्चित अवधि के अंदर सामाजिक और आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन करने की गुंजाइश नहीं है। इसके विपरीत यह भी सही है कि एक गलत जीवन दर्शन से चिपके रह जाने के कारण ही भौतिक संसार में खोज और अन्वेषण करने की वृत्ति खतम हो गई जिससे तकनीकी प्रगति की ओर बढ़ना भी असंभव हो गया। कुछ भी हो, आज की समस्या यह है कि जनता को उन प्रतिबंधों से जो उन्हें सदियों से बराबर दबाते आये हैं कैसे मुक्त किया जाय। उसका सामना करने का एक अपरिहार्य मार्ग है बाल शिक्षण। लेकिन वह अकेला अपने आप मे अपर्याप्त है और जबतक बड़े पैमाने पर प्रौढ़ोंको सीधा प्रभावित करन का प्रयत्न नहीं किया जायगा तबतक उसे कई कड़े प्रतिरोधों का शिकार होता रहना पड़ेगा।

यह काम बहुत महत्वपूर्ण है और इसको सफल बनानेवाले किसी एक कार्यक्रम की निश्चित लकीर खींच देना कठिन है। हम यही कर सकेंगे कि अपने और दूसरों के पुराने अनुभवों का सूत्र पकड़ कर आगे प्रयोग करते जाय। हो सकता है कि हमें लोगों की धार्मिक और दार्शनिक मान्यताओं का जो उन्हें पर लोक और भूतकाल से बांध रखती हैं, मुकाबिला करना पड़े, हो सकता है हमें आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजी की विशाल संभावनाओं को उन के घर तक ले जाना पड़े ताकि उनकी कल्पना शक्ति बढ़ सके, हो सकता है कि लोगों को छोटे-छोटे प्रयत्नों की ओर लगने के लिए प्रोत्साहित करना पड़े जिसकी सफलता के कारण कुछ प्राप्त करने की प्रेरणा की भूख उन में तेज हो। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में समूचे गाव का सामना करने के बजाय अलग-अलग व्यक्तियों से निपटना अधिक आसान और हितकर होगा। इस अर्थ में व्यक्ति-व्यक्ति से मिलने और उनके साथ चर्चा करने का श्री धीरेन भाई का क्रम बिल्कुल ठीक और लाभदायी दीखता है। इसी प्रसंग में मैं एक छोटा सा विचार प्रेरक अनुभव बताता दूँ। उड़ीसा के एजेन्सी क्षेत्र में आदिवासियों के बीच काम करनेवाले कुछ ईसाई मिशनरी लोग हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि मिशनरी लोग काम करने गांव में जाते हैं तो उसके कुछ ही वर्षों के अन्दर उन आदिवासियों में बड़ी मात्रा में एक आश्चर्य-जनक परिवर्तन स्पष्ट दीखने लगता है। लोग पहले से अधिक निर्भीक बनते हैं, बाहर निकलने लगते हैं, अक्षर ज्ञान में निश्चित प्रगति करते हैं और अपने बारे में अधिक ध्यान देने योग्य बनते हैं। ईसाई धर्म भी हिंदू धर्म की ही तरह कट्टर बना हुआ है और उसमें भी कई निषेध और प्रतिबन्ध हैं। इसीलिए ईसाई धर्म अपनाना इस युग में कोई बहुत महत्व की बात नहीं है, फिर भी मिशनरियों की सफलता का महत्व इस तथ्य में है कि वे आदिवासियों के मन को हिला सके, उनकी पुरानी रूढ़ियों से मुक्त कर सके। मन एक बार हिला दिया गया तो फिर भले ही वह नये किसी कट्टर धर्म शरीर को ही अपना तारक मान बैठे, परन्तु उसमें मामूली विश्वासों की सीमा से अधिक दूर तक अपना वृत्त बनाने की वृत्ति पैदा होती है। तिस पर चूंकि ईसाई धर्म के स्वीकार से आदिवासी लोग आधुनिक संसार में दुबारा जन्म लेते हैं।

यह भी ध्यान देने जैसी बात है कि रचनात्मक कार्य लगभग उतने ही अरसे से और उसी जनता के बीच चलते हुए भी तुलनात्मक दृष्टि से वैसा कुछ परिवर्तन लाने में असफल रहा। इसके कारण खोजने होंगे। यहा मैं उसका कारण नहीं दूंगा। फिर भी मैं दिल कड़ा करके इतना तो अनुमान कर सकूं गा कि इस का एक कारण यह है कि हमने अपना काम अल्पकालिक परिणामों के लिए ही आरंभ किया था और इसीलिए लोगों के विश्वासों और दर्शनों को ढीला करने की दिशा में प्रयत्न ही नहीं किया। कहीं कुछ प्रयत्न हुआ भी हो तो बहुत मदगति से हुआ)

सर्वोदय दर्शन ने एक ओर आधुनिक ससार का निपेध किया और दूसरी ओर अपना नींव भूतकाल में जमायी। इस कारण स भी परपरागत सिद्धातों और दर्शनों को ढीला करन क बनाय मजबूत करने के प्रयत्न का ही बढ मिला।

विचार और व्यावहारिक कदम का दूसरा मार्ग सत्याग्रह क विचार से निकलता है। सत्याग्रह आदोलन गाधी जी ने प्रारम्भ किया और जनता का अभिक्रम उन्मुक्त करने की दिशा म वह सफल रहा। उसकी गति हम काफी दूर तक ले आयी और आज भी एकदम खतम नहीं हो गयी है। यह महत्व की बात है कि सत्याग्रह आदोलनों ने, यद्यपि उनका आधार अहिंसा और प्रेम है, फिर भी दुर्भावना और आक्रमणशीलता को भी काफी उत्तेजित कर दिया, जिससे जन साधारण क मनमें सत्याग्रह दुर्दम्य और दुर्बुद्धि प्रेरित हठधर्मिता का पर्यायवाची बन गया। इसीलिए विनोबा जी ने सत्याग्रह सम्बन्धी गाधी जी क पहलुओं को अभावात्मक करार देना पड़ा। अगर इस बात की गहराइ से छान-बीन की जाय तो पहली नजर में यह जैसी दीखता है सचमुच उस तरह की नहीं है। यह भी एक तथ्य है कि स्वतत्रता क तुरन्त पश्चात् और अब तक भारत में अग्रेजों के प्रति द्वेष या दुर्भावना सर्वथा खतम हो गयी है।

यह वस्तुस्थिति आधुनिक मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों क साथ भला प्रकार सुसगत है। मनोरोगों के उपचारों की यह खोज है कि जहा क्रोध, द्वेष आदि नकारात्मक भावनाओं को मिटा दिया जाता है और बाहर आने नहीं दिया जाता है तब उसके साथ और उसके बाद प्रेम, सहयोग, करुणा आदि भावात्मक भावानाएँ भी मिट जाती हैं। लम्बे समय तक इस प्रकार भावनाएँ दबायी जाय तो इससे मानसिक और शारीरिक शक्ति का ह्रास हो जाता है तथा अपने आसपास के वातावरण के प्रति रुचि नहीं रह जाती और जड़तापूर्ण निष्क्रियता आ जाती है।

जब नकारात्मक (निगेटिव) भावनाओं को बाहर निकलने और खतम होने दिया जाता है तभी विधायक (पाजिटिव) भावनाएँ जगेंगी और बाहर आयेंगी तथा व्यक्ति क कामों को प्रभावित करेंगी। यह जो अवरुद्ध नकारात्मक भावनाओं के विरेचन का काम है इससे व्यक्तियों म अपने आस पास क मामलों में रुचि लेने की वृत्ति मजबूत होता है और उनकी मानसिक और शारीरिक शक्ति भी बनी रहती है।

इसका अर्थ यह कि प्रांत प्रेरणा के अभाव का कारण भावनात्मक भी है बचपन क शिक्षण और सांस्कृतिक सदर्भ म तो है ही। अंग्रेजों क प्रति हमारे मन में जो विरोधी भाव था वह इस भावनात्मक उलझन का ही एक अग था। प्रत्येक व्यक्ति का अपने परिवार के साथ जो सबध है, सामाजिक सबधों में उसकी जो श्रेणी है, उसकी जो आर्थिक अवस्था है इन सब म उसके ऊपर कई दबाव हैं। और इसी तरह और भी कइ मामलों में उसका उलझनों और प्रतिरोधों का दायरा बहुत बड़ा है। सर्वोदय-कार्यकर्ता के लिए यह अपने आप में एक समस्या है कि लोगों क मनमें जो भावनाएं हैं उन्हें किस तरह खोला जाय। सभव है कि इसके लिए कुछ हद तक सत्याग्रह का नकारात्मक कदम भी उठाना पड़े।

आचार्य राममूर्ति ने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा है कि भूमि वितरण से जैसा अपेक्षा थी उस मात्रा में भूस्वामियों के प्रति लोगों क मन में सद्भावना निर्माण नहीं हो सका उल्टे भी भूमिहीन में उन क मनम दाताओं क प्रति दुर्भावना, द्वेष और गैरजिम्मेदारी की भावना ही बढ़ी है। यह जो सोच नीय अनुभव प्रत्यक्ष है यह भी मनोवैज्ञानिक सिद्धातों से मिलता हुआ ही है।

भूमिहीनों को इतना दबाया गया था और उनकी सही भावना को व्यक्त होने नहीं दिया गया था कि ज्यों ही उन को भूमि का छोटा सा टुकड़ा मिल जाता है त्यों ही व अनुभव करने लगते हैं कि अब उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गयी, वे अब पुराने उन मालिकों के अधीन नहीं रहे और अपनी भावना और इच्छा व्यक्त करने क लिए स्वतत्र हुए हैं।

दासता के कारण जिसे एक शिष्टाचार के रूप में भूषित किया गया था, जो दुर्भावना और द्वेष दबे हुए थे वे अब उद्दण्डता के साथ प्रकट होने लगे हैं। ग्राम-सेवक के सामने यह एक समस्या है कि इस पहलू का शीघ्र से शीघ्र हल करने का सौम्यतर साधन खोजे। संभवतः यह हल यह हो सकता है कि ऐसे लोगों को ग्राम-सभाओं में बेलाग अपनी भावना उगलने का मौका दिया जाय अथवा कार्यकर्ता स्वयं एक मनोवैज्ञानिक की भांति उन के सारे भावनात्मक विस्फोटों को अपने ऊपर झेले और जहर स्वयं पी ले।

इस प्रकार कार्यकर्ता का पहला काम यह होगा कि ग्रामीण जनता के अंदर छिपे हुए विद्वेष और विरोधों को ऊपरी सतह पर लाया जाय और उन्हें बदला जाय ताकि सहकारवृत्ति, सद्भावना और तेजस्वी क्रियाशीलता प्रकट हो सके।

४ अधिकारवाद की परंपरा

ग्राम-समाज में और भी कई असंतोष और विसंगतियां दृष्टिगोचर होती हैं। उन में अधिकतर सामाजिक संगठन की अधिकारवादी व्यवस्था की उपज हैं। यह अधिकारवादी व्यवस्था समाज के सभी स्तरों पर छायी हुई है और उसकी जड़ परिवार-संस्था में ही निहित है। पिता घर के प्रमुख के नाते घर में सर्वोच्च माना जाता है और पत्नी या बच्चों को कोई आवाज उसके खिलाफ नहीं उठ सकती। बच्चों को माता-पिता की प्रत्येक बात चूं किये बिना माननी होती है और उन के बारे में सब कुछ मा-बाप ही निर्णय करनेवाले होते हैं। विवाह निश्चित करते समय भी माता पिता ही निर्णय लेते हैं। लड़कियों से तो सलाह बिलकुल ही नहीं ली जाती, बल्कि अधिकतर लड़कों से भी नहीं ली जाती है।

सामंतवादी समाज का संगठन भी इसी नमूने पर हुआ था जहां गांव का नेता, क्षेत्र का मुखिया, राजा या महाराजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। हम ने सामंतवादी स्वामियों को उस उच्च स्थान से गिरा तो दिया, लेकिन उन्होंने जिस अधिकारवाद का नमूना, जो आदतें और जो मनोवृत्ति पैदा की थी, उन को नहीं मिटा पाये। परिवार का अधिकारवादी स्वभाव अभी बदला नहीं है। बाल्य काल में जो स्वभाव बन जाता है उसका प्रभाव लंबे समय तक, व्यक्ति के प्रौढ़ जीवन में भी, उसके व्यवहारों को आकार देता रहता है। उसकी जिम्मेदारी की भावना और निर्णायक शक्ति अविकसित रह जाती है और वह हमेशा किसी न किसी बाहरी प्रमाण का सहारा खोजता रहता है जिस पर वह निर्भर रह सके अर्थात् वह ऐसे किसी आदमी की तलाश में रहता है जो उसके पिता का स्थान ले सके और रास्ता दिखा सके। ऐसा व्यक्ति कोई राजनीतिक नेता हो सकता है, आध्यात्मिक गुरु हो सकता है, या संगठन का कोई शक्तिशाली व्यक्ति हो सकता है। उसका विवेक इतना आतंरिक बन जाता है कि वह जो कुछ करता है और जो नहीं भी करता है सब उसके माता पिता या जिनको वह माता पिता के समान मानता है उन के निर्देश के अनुसार ही करता है या नहीं करता है। इसीलिए उसके कुछ करने या न करने के पीछे उसकी दलील यह रहती है कि मैं यह न करूं, या यह करूं तो अमुक नाखुश होंगे। इस प्रकार वह अपना समर्पण जहां किसी न किसी प्रमाणीभूत व्यक्ति के हाथों कर देता है वहां साथ ही वह बड़ा विद्रोही भी होता है और उसके कारण वह दुर्दमनीय बन जाता है। वह किसी भी सुझाव को अपने पर एक बोझ या दबाव सा अनुभव करता है और उसे फेंक देने की मनोवृत्ति उसकी बनी रहती है। अपने बचपन के दो चार साथियों के अलावा और किसी के साथ समानता की भूमिका में मिलने जुलने का उसे कुछ भी अनुभव नहीं रहता। पुराने समाज के अंदर उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रमाण की दृष्टि से या तो बड़ा होगा या छोटा। अपने बड़ों की आलोचना करने की उस[illegible] क्षमता ही नहीं रहती सिवाय इसके कि किसी संवेग के प्रभाव में वह ऐसा कर बैठे।

उसके व्यक्तित्व की यह गठन किसी भी परिवर्तन के प्रति उसे भीरु और संशयशील बना देती है और वह अपने अभ्यस्त जीवन क्रम से चिपके रहना या बहुमत को मान कर चलना पसंद करता है। विशिष्ट

परिस्थितियों में वह अपने प्रमाणीभूत व्यक्ति या वस्तु को बदल सकता है, लेकिन वह हमेशा सुरक्षा की, निर्णीत मूल्यों और व्यावहारिक पद्धतियों की खोज करेगा जिसका वह आसानी के साथ अनुसरण कर सके। अक्सर हम ऐसे कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं जो प्रत्यक्षतः आत्यंतिक रूप में व्यक्तिवादी होते हैं, अतिवादी होते हैं, और वे अपने साथ किसी को खींच कर नहीं ले चल सकते, अपनी राह अकेले चलते रहते हैं। लेकिन वास्तव में जो किसी के हाथों अपना समर्पण कर देते हैं उनसे किसी मात्रा में वे कम परावलम्बी नहीं हैं और उन लोगों की मनोवृत्ति की ही तरह ये भी बड़े कट्टर होते हैं। जिन्होंने एक बाहरी-प्रमाण को अपनाने के बजाय अपनी ही एक कट्टर पद्धति कायम कर ली होती है जिसमें अपनी सुरक्षा महसूस करते हैं।

यह एक प्रतिदिन का दुःखद अनुभव है कि हमारे उत्कृष्ट कार्यकर्ता भी आपस में सहयोग करने में असमर्थ व्यक्ति में किसी और बहक जाने का वृत्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक नेता या गुरु के प्रति अकेले-अकेले अपनी निष्ठा रखता है, लेकिन उन लोगों के बीच कुछ भी आपसी नाता नहीं रहता। इसके साथ हर एक यह भी प्रयत्न करता है कि वह स्वयं बड़ा बने, गुरु बने और अपने इर्दगिर्द कुछ अनुयायियों और शिष्योंको जुटाले या उसको इससे भी समाधान हो सकता है कि वह किसी संस्था का कार्यवाहक बने और अपने अधीन कुछ कार्यकर्ताओं को नौकरों के रूप में आदेश दिया करे।

अक्सर कार्यकर्ताओं की यह शिकायत रहती है कि गाँव के लोग उनकी सलाह मानते नहीं हैं। प्रारंभ में वे लोग बड़े उत्साही थे, चाहते थे कि उनके गाँव में कोई केंद्र खुले, शायद उसके लिए कुछ भूमि, पैसा और साधन-सामग्री भी दी। लेकिन आज वहाँ कार्यकर्ता है, वह लोगों से कुछ करने को कहता है, पर वे यद्यपि नम्रता पूर्वक हाँ तो भर लेते हैं, पर उनके सुझावों पर अमल नहीं करते। हम भी अच्छे भले लोगों से शिकायत सुनते हैं कि इन दिनों हमारे समाज में अनुशासन टूट रहा है। हर एक की अपनी-अपनी डफली बजने लगी है, कोई किसी की बात मानने या सुनने को तैयार ही नहीं है।

ये दोनों शिकायतें एक ही परिस्थिति के दो पहलू हैं। प्राचीन काल में कुछ प्रतिष्ठित जातियाँ और परिवार थे जिनकी बात गाँव भर में वेदवाक्य की तरह थी। व्यवहार के नियम भी ऐसे कड़े थे कि उनका उल्लंघन करने की बात कोई सोच भी नहीं सकता था। अब बदले हुए बाहरी वातावरण के परिणाम-स्वरूप वह कट्टर स्थिति टूट रही है। सर्वोदय-कार्यकर्ता भी आज वस्तुतः उसी पुरानी परिस्थिति को ही चालू करने के फिराक में है कि लोग उस पुराने धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक नेतृत्व के स्थान पर इसकी बात को प्रमाण मानें।

लोग भी अपने ऊपर किसी न किसी का अधिकार रहने देने के आदी हो गये हैं और सर्वोदय-कार्यकर्ता को उस स्थान पर बिठाना चाहते हैं। तब कार्यकर्ता अपने को उस पुराने नेतृत्व के विरोध की सी स्थिति में पाता है। यदि वहाँ कोई विरोध या संघर्ष न भी हो, तब भी कार्यकर्ता उन लोगों की वह श्रद्धा अपने लिए प्राप्त करे जो वे लोग अपने परंपरागत प्रमाण भूत व्यक्तियों को देते आये थे, आसान नहीं है क्योंकि विश्वास करके चलने की उनकी पुरानी आदतों का विश्लेषण परपरागत ढग से ही कोई करे और उन की अभ्यस्त प्रणालियों से करे तभी उन्हें दूर किया जा सकता है। पर उन आदतों को नये परिवर्तनों से बड़ा भय लगता है।

कार्यकर्ता अपने अधिकारवाद का प्रभाव लोगों पर जमाने के लिए जो जो पद्धतियाँ अपनाते हैं वे भी विशिष्ट प्रकार की होती हैं। वे अपने कपड़ों का ढग बदलेंगे, खाने-पीने की आदतें बदलेंगे, उपवास करेंगे और इस प्रकार अपने अपने ढग की साधनाएँ करेंगे। इस प्रकार लोगों से ये अपेक्षाएँ रखते हैं कि लोग जादूगरों, साधुओं आदि के प्रति जो आदर रखते हैं वह इन्हें प्राप्त हो जाय। कुछ और कार्यकर्ता सरकारी सहायता की रकम अपने नियंत्रण में रख लेते हैं ताकि

अच्छी नीयत के साथ सही हिकमत चाहिए

रामर्मूति

अगर हमारे देश में नागरिक शक्ति संगठित होती तो इस राष्ट्रीय संकट के समय जो कई काम सरकार की ओर से हो रहे हैं वे नागरिकों की ओर से होते। रुपया या सोना इकट्ठा करना, रक्तदान, जनता में प्रचार, सड़क और पुल आदि की रक्षा तथा स्थानीय सुरक्षा-समितियों का संगठन आदि ऐसे काम हैं जो गैर-सरकारी शक्ति से हो सकते हैं और होने चाहिए। लेकिन कई कारणों से ऐसा नहीं हो पा रहा है। गांव और जिले के स्तर पर सरकार और गैर-सरकारी लोगों का केवल इतना मेल दिखाई देता है कि स्थानीय सरकारी अधिकारियों ने सुरक्षा समितियों में कुछ 'प्रमुख' लोगों को नामजद कर दिया है। इन प्रमुख लोगों में ज्यादा लोग शासक-दल के हैं, कुछ विरोधी दलों के हैं और इने गिने ऐसे भी हैं जो पक्ष मुक्त नागरिक हैं। देहात में जो भी काम हो रहा है वह सब पंचायतों के द्वारा। लेकिन हर जगह प्रेरणा और नेतृत्व सरकारी अधिकारियों का है, वे ही समितियों व उपसमितियों के अध्यक्ष या संयोजक हैं। इन समितियों का मुख्य काम इतना ही है कि वे ऊपर के आदेशों के पालन में या चंदे आदि के 'क्वोटा' की प्राप्ति में स्थानीय अधिकारियों की सहायता करें।

यह सही है कि चीनी आक्रमण के कारण देश में जो एकता और उत्साह पैदा हुआ है उसे लेकर लोग बहुत कुछ करने को तैयार हैं, और कर रहे हैं, लेकिन यह भी आसानी से समझा जा सकता है कि कुछ लोगों को अपने पीछे-पीछे चला कर सरकारी अधिकारी उस ठोस, टिकाऊ, व्यापक नागरिक-शक्ति का संगठन नहीं कर सकते जिसकी देश को शांति रक्षा, उत्पादन-वृद्धि और निर्माण के लिए आवश्यकता है। कुछ नागरिकों का 'सहयोग' और सब नागरिकों की संगठित शक्ति—दोनों में बहुत अंतर है। आज संगठित नागरिक-शक्ति के बिना न स्वतंत्रता की रक्षा संभव है, न लोकतंत्र का विकास संभव है, और न निर्माण संभव है। इसलिए जिस युद्धस्तर पर सैनिक-शक्ति को विकसित किया जा रहा है उसी स्तर पर नागरिक-शक्ति को भी संगठित करने की कोशिश होनी चाहिए। हमारी दृष्टि में वास्तविक 'सिविल डिफेन्स' का अर्थ ही है नागरिक शक्ति का संगठन।

सही नीयत सही हिकमत की गारण्टी नहीं है। नीयत के सही होते हुए भी काम की हिकमत गलत हो सकती है, और दोनों सही हों फिर भी जरूरी हिम्मत के अभाव में काम बिगड़ सकता है। इसलिए हमें तुरंत यह सोचना चाहिए कि नागरिक शक्ति संगठित करने की दृष्टि से हमारे ढंग में कहां कमी है और वह कैसे दूर हो सकती है। हम इस संबंध में अपने अनुभव के आधार पर मुख्य रूप से नीचे लिखी बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं —

(१) स्थानीय समितियों की जिस तरह रचना हुई है उसमें प्रधानता अफसरों की है और 'नेता' उनके साथी हैं। जहां तक जनता का सम्बन्ध है वह कहीं अपना स्थान नहीं देखती सिवाय इसके कि जब लोग उसके पास पहुंचें तो वह चंदा या खून दे दे। बात कुछ ऐसी है कि पिछले पंद्रह वर्षों में हमारे देश के नागरिक-जीवन का जिस तरह विकास हुआ है उसके कारण जनता की नजर में अफसर भय या दुराव तथा नेता तिरस्कार या अविश्वास का पात्र बन गया है। इस संकट की स्थिति के कारण यह भावना कुछ दब जरूर गयी है, लेकिन बिलकुल दूर हो गयी हो ऐसी बात नहीं है। ये लोग जनता में उत्साह की प्रेरणा नहीं भर सकते। समितियों की रचना में होना यह चाहिए कि अगर शहर की समिति बनानी है तो हर महल्ले या वार्ड के हर परिवार से एक-एक बालिग—'वार्ड-सभा' में इकट्ठा हों और ये बालिग एक राय हो कर—चुनाव न हो—तीन या पांच व्यक्तियों की 'वार्ड-समिति' बनाएं जिसका एक संयोजक हो और विभिन्न कामों के लिए वार्ड-समिति की उप

समितियाँ बनायी जायँ, जिन में अलग-अलग संयोजक हों। इस तरह हर वार्ड के संयोजकों को लेकर 'नगर-समिति' बने जो आवश्यकतानुसार अन्य सरकारी और गैर सरकारी 'प्रमुख' व्यक्तियों को "को आप्ट" कर ले या उन में से कुछ को अपनी बैठकों में "स्थायी रूप से" आमंत्रित कर लिया करे। इस तरह बनी हुई "नगर-समिति" नागरिकों का विश्वास प्राप्त कर सकेगी और उन्हें त्याग और उत्सर्ग के लिए प्रेरित कर सकेगी और हर व्यक्ति यह महसूस करेगा कि देश की रक्षा और निर्माण में उसे केवल आदेश का पालन नहीं करना है बल्कि अपने अभिक्रम से निर्णय करना है, और अपने निर्णय के काम करना है।

इसी तरह ग्राम-समितियों की भी रचना होनी चाहिए—हर टोले के लिए अलग-अलग, और पूरे गाव के सम्मिलित। टोले के हर परिवार से एक बालिग को लेकर 'टोला-सभा' बनायी जाय जिसका एक संयोजक हो। 'टोला सभा'—अगर गाव छोटा हो तो सीधे ग्राम-सभा बन सकती है—इकट्ठा हो कर तीन या पाँच की 'टोला-समिति' बनाये जो अपने संयोजक के नेतृत्व में टोला-सभा के निर्णयों को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी ले। टोले में रहनेवाले १६ से ४५ साल तक के सब पुरुष—जहाँ संभव हो स्त्रियाँ भी—स्वेच्छा से अपना नाम देकर 'टोला सेना' बनायें और संगठित ढंग से काम करें। इस तरह हर "टोला-सभा" के संयोजक को लेकर और पंचायत, को आपरेटिव और स्कूल के कुछ लोगों को तथा अन्य 'प्रमुख' लोगों को शामिल करके 'ग्राम-सभा' बने। यह ग्राम सभा लगभग ११ सदस्यों की "ग्राम-समिति" बनाये जिसमें अन्य लोग भी रहें लेकिन टोला समितियों के संयोजक अवश्य रहें। हर टोला-सेना को मिलाकर "ग्राम सेना" कहलाये। कई ऐसे गाव भी हो सकते हैं जिनमें टोला-संगठनों की जरूरत न हो, और एक साथ पूरे गाँव का संगठन काफी हो। मुख्य बात यह है कि बालिगों की आम सभा समय-समय पर मिले, और नीति तय करे जिसका कार्यान्वयन एक छोटी समिति के नेतृत्व में ग्राम-सेना के द्वारा हो। ऐसा करने से ही अधिक से अधिक बालिगों में अभिक्रम और निर्णय की शक्ति जगेगी जो लोक-शक्ति की बुनियाद होगी। जरूरत इस बात की है कि हर जगह इस संकट का मुकाबिला करने के लिए नया, समर्पित, विश्वास-पात्र नेतृत्व पैदा हो, वहाँ, किसी प्रकार का हठ या विरोध न रहे। किसी को पार्टी, जाति, धन, अधिकार या संस्था के कारण न प्रमुखता मिले और न दुराव। हमें नये सिरे से कोशिश करनी है कि राष्ट्रीय जीवन में ऐसे अधिकारियों और नागरिकों का जिनमें ईमानदारी, लगन और सेवा भावना तो है लेकिन कोई 'उपाधि' नहीं है, वह बढ़े और वे सामने आने को प्रोत्साहित हों। इसके लिए बने बनाये नेताओं, दलों और संस्थाओं से परे जाकर जनता-जनार्दन को सबोधित करना पड़ेगा। अगर ऐसा नहीं होगा तो जनता अपने को उपेक्षित महसूस करेगी। उपेक्षा से लोग अन्यमनस्क हो जायँगे, फिर मन में उदास आयेगी और उदास से असहकार की वृत्ति पैदा होगी और आज जो त्याग दिखाई देता है उसका स्थान अविश्वास और स्वार्थ ले लेगा।

(२) छोटा किसान, मजदूर, हरिजन, आदिवासी तथा इसी तरह के दूसरे लोग जिन की सख्या अपने देश में करोड़ों करोड़ है आज भी स्वतंत्रता की भूमिका में इस संकट का अर्थ नहीं समझ रहे हैं। उनके जीवन में यों ही इतना संकट रहता है और हमेशा से रहा है कि बड़ा से बड़ा संकट भी उनके लिए नया नहीं रह गया है। इन लोगों में सक्रिय देश प्रेम जगाने का क्या उपाय है? इन्हीं के पास देश की श्रम शक्ति है, और अगर इनके मन में सक्रिय देश प्रेम न हो तो परिणाम क्या होगा, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। यही वह समुदाय है जिसमें "मुक्ति-सेना" का जादू भी काम करता है। देश की सुरक्षा की दृष्टि से इस विशाल जन-समुदाय को रोटी और इज्जत देने के प्रश्न को "डिफेंस मेजर" मानना चाहिए। भूमि, धंधा, शिक्षा, मकान और स्वास्थ्य, ये इस समुदाय की आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के उपाय तत्काल होने चाहिएँ। गाँव की पंचायत, ग्राम-सभा और स्कूल को यह जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए और निर्धारित अवधि के भीतर इसे पूरा करना चाहिए। अपने भीतर के अन्याय को मिटा कर ही हम बाहर के अन्याय का सफल प्रतिकार कर सकते हैं। यह भावना गाँव गाँव, शहर शहर में फैलनी चाहिए।

(३) युद्ध के लिए धन इकट्ठा करने में भी भूलें हो रही हैं। इन्कम टैक्स अफसर, सेल्स टैक्स अफसर या इक्साइज इन्स्पेक्टर द्वारा चंदा वसूल करना गलत है। डरा धमका कर चंदा वसूल करना या लक्ष्यांक पूरा करने की उतावली में कुछ "बडी मछलियों" को पकड कर काम चला लेने का परिणाम अच्छा नहीं होगा। इस काम में दबाव या भय का स्थान तो बिलकुल है ही नहीं, और चंदे के लिए भी कुछ चुने हुए लोगों के पास नहीं घर-घर जाना चाहिए। देश के लिए त्याग करने के आनंद से कोई भी वंचित क्यों रहे?

चंदा वसूल करने के अभियान में नेतृत्व नागरिक का हो और सरकारी अधिकारी उसका सहयोगी हो, और अगर अधिकारी इस काम में आगे बढे तो वह नागरिकों के बीच नागरिक की हैसियत लेकर जाय, सरकारी रोब-दाब लेकर नहीं। कुछ अधिकारी ऐसे हैं जो खूबी के साथ जनता का प्रेम प्राप्त कर रहे हैं, लेकिन बाकी अपने गलत तरीकों से दुराव की नयी दीवालें खडी कर रहे हैं। चंदे की बाकायदा रसीद दी जानी चाहिए और उसका हिसाब-किताब अधिकारियों के ही पास रहना चाहिए।

पंचायतों को भी चंदा वसूल करने का काम सौंपना ठीक नहीं है। बहुत कम गांव ऐसे हैं जिनमें पंचायतें दलबंदी और झगडे का कारण न बनी हों। ऐसी हालत में वे पूरे गांव का विश्वास नहीं प्राप्त कर सकतीं और व्यापक लोक-शक्ति का माध्यम नहीं बन सकतीं। कोई भी तंत्र जो कानून और पार्टी की शक्ति पर खडा है यह काम नहीं कर सकता। इन कामों के लिए हमें निर्दलीय ग्राम-सभाओं और ग्राम-समितियों का ही सहारा लेना चाहिए।

(४) जब हम केवल कुछ चुने हुए लोगों को प्राय: मिकना देते हैं तो वे बाद को किसी न किसी तरह हमारी बेबसी और अपने पद या स्थान का अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करते हैं। ठीकेदार या व्यापारी ज्यादा चंदा देकर मुनाफाखोरी का तरकीबें सोचते हैं। आज इस बात की बहुत बडी जरूरत है कि स्वार्थी अधिकारी, स्वार्थी व्यापारी और स्वार्थी नेता का गुट न बनने दिया जाय। अगर जगह जगह इस तरह के गुट बन गये—और अगर हमारे काम करने के ढंग में सुधार न हुआ तो शीघ्र बन जायगे—तो निश्चित रूप से हमारे नागरिक मोर्चे में बडी चौडी दरार पडेगी जिसे बाद में भरना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य होगा।

(५) बाजारों के लिए हर जगह विजिलेन्स समितियाँ होनी चाहिए। एक ओर तो नगर-समितियां और ग्राम-समितियां यह काम करें और दूसरी ओर अनाज, कपडा, दवा, नमक मिट्टी के तेल, सीमेण्ट और कागज आदि के व्यापारी अपनी ओर से भी समितियां बनायें जो मुनाफाखोरी न होने दें। कई बार बाजार में गडबडी अधिकारियों के गलत निर्णय के कारण पैदा हो जाती है। ऐसा वातावरण बने कि किसी अधिकारी या व्यापारी को गलत काम करने का साहस न हो।

(६) हर ग्राम-सैनिक या नगर सैनिक अपने पडोस के दस या पंद्रह परिवारों की सेवा की जिम्मेदारी विशेष रूप से ले। उसका यह काम होगा कि वह इन परिवारों को आश्वस्त रखे, देखे कि उनका बाजार में शोषण न हो उन पर कोई जोर-जुल्म न हो और वे बेकारी या बीमारी आदि के शिकार न होने पायें। गरीबों, कमजोरों, या जो आज तक उपेक्षित और तिरस्कृत हैं उनकी ओर अब तत्परता पूर्वक ध्यान जाना चाहिए।

(७) अगर सरकार और जनता को राष्ट्रीय संकट में एक साथ मिलकर चलना है तो आवश्यक है कि सरकारी कार्यालयों की सफाई हो—भ्रष्टाचार से, टालमटोल से, प्रमाद और अनास्था से। इसके बिना राष्ट्र का चरित्र ऊपर नहीं उठेगा और चरित्र बिना शक्ति कहां से आयेगी?

हमारा यह ख्याल है कि अगर इन बातों का ध्यान रखा जायगा तो सरकार की सुरक्षा सबंधी जो भी योजनाएं होंगी वे अच्छी तरह चलेंगी और सबसे बडी बात तो यह होगी कि शांति रक्षा, उत्पादन वृद्धि और निर्माण से संबंध रखनेवाले सरकार के कई काम जनता की सहकार शक्ति उठा लेगी और सरकार की शक्ति प्रत्यक्ष रूप से सुरक्षा के कामों के लिए बच जायगी। लेकिन यह तब होगा जब सरकार यह सोचेगी कि नागरिक शक्ति का संगठन एक शैक्षणिक प्रक्रिया है, यह काम अधिकारी के आदेश या नेता के उपदेश से नहीं हो सकता। इसी लिए यह आवश्यक है कि हर जगह कुछ जागरूक, निस्पृह निष्पक्ष और निर्भीक व्यक्ति निकलें जो जनता और सरकार दोनों के माध्यम सेतु' रूप बनें और जो दोनों के बीच 'पुल' बन सकें। यह संकट नया है, इसलिए इसका मुकाबिला करने के तरीके भी नये होने चाहिए।

—राममूर्ति

समुदाय की समस्याएं और हमारी कार्य-पद्धति

[निर्माण कार्य में लगे कार्यकर्ताओं को जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है वही परिस्थिति संसार भर के सारे देशों की है। उस परिस्थिति के सुधार का उपाय लोकतन्त्रात्मक प्रक्रिया से खोजने की दिशा में विदेशों में भी नाना प्रकार के प्रयत्न चल रहे हैं। लोग अपनी समस्याओं का समाधान खुद मिल कर खोजें, विचार और कार्य दोनों में समुदाय का शक्ति सम्मिलित रूप से काम करे यह लोकतन्त्र का एक बुनियादी तत्व है। अमरीका के एक राज्य-पार्टी रिका-के कार्यकर्ताओं को इस प्रक्रिया के जो अनुभव आये हैं उनका एक अंश जो युनेस्को ने 'दि एप्रोच टु कम्युनिटी प्राब्लेम्स' के नाम से प्रकाशित किया है उसका अनुवाद यहां दिया जा रहा है। सं०]

भाग १

टोली-संगठक का काम

टोली-संगठक ऐसा व्यक्ति है जो कई समुदायों से जाकर मिलता है। लोगों के सामने वह कई प्रश्न रखता है। उसके प्रश्नों से लोगों को अपने बारे में तथा अपने समुदाय के सर्व-साधारण हितों के बारे में गहराई से सोचने में मदद मिलता है। और जब वह अधिक सक्रिय हो उठता है तब वह नेता का रूप नहीं लेता है, बल्कि चर्चा के प्रमुख वक्ता का रूप लेता है। वह लोगों को फिल्में दिखाता है, पर वह पेशेवर फिल्म प्रदर्शक नहीं होता है। लोगों के पढ़ने के लिए वह किताबें लाता है और समुदाय में बैठकर उन्हें पढ़ता भी है, पर वह लोगों का शिक्षक (टीचर) नहीं बनता। एक शिक्षा शास्त्री के नाते चाजों की प्राप्ति से जितना वह अपने को सम्बद्ध महसूस करता है उतना ही उन तरीकों से भी जिनसे लोग चीजें प्राप्त करते हैं। ग्रामीण समाज की सेवा के लिए जिसने अपने को तैयार किया है एस पेशेवर कार्यकर्ता की वैज्ञानिक जानकारी का वह सम्मान तो करता है, लेकिन वह यह भी जानता है कि एक इंजीनियर कभी यह भूल सकता है कि समुदाय के विकास के लिए किया गया उसके ज्ञान का उपयोग कुछ लोगों को केवल काम में लगा देने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

यह टोली-संगठक अपना प्रशिक्षण समाप्त करके सेवाक्षेत्र में आते ही सब से पहला काम यह करेगा कि अपने क्षेत्र में जगह-जगह उत्साही लोगों की सभाएं करेगा ताकि लोग उसके काम से परिचित हो सकें। इसी तरह अपनी और अपने काम की जानकारी देने की दृष्टि से क्षेत्र के प्रतिनिधियों, पचायत या नगर पालिका के अधिकारियों से भी मिलेगा और उस समुदाय को अच्छी तरह समझने में उन लोगों की सहायता भी मांगेगा।

उस कार्यकर्ता के पास उस क्षेत्र का एक नक्शा होता है जिसमें वहां के प्रमुख जलस्रोत, पर्वत, सड़क, स्कूल, चर्च आदि का निर्देश होता है, और उस नक्शे का उपयोग वह बराबर करता है

मुख्य सड़क छोड़ कर वह देहात के रास्ते की ओर मुड़ता है। वह वहां तक चला जाता है जहां नदी का रेतीला किनारा आ जाता है और रास्ता खतम हो जाता है। वहां अपनी सवारी छोड़ कर पहाड़ी पगडण्डी पकड़ कर पैदल चल पड़ता है। सबसे पहले जो घर मिलता है वहां रुकता है, कुछ आराम करता है साथ ही घरवालों से बातें करता है। बात चीत के दौरान में उन से कुछ मामूली बातें पूछ लेता है—जैसे, स्कूल के लिए बच्चों को कितनी दूर जाना पड़ता है, दूध कहां मिलता है, दवाखाना कहां है,

आदि। यह भी समझ लेता है कि गाव का चर्च कहा है, गाव का मुखिया कौन है, गाव में सभी पुरुषों को काम मिलता है या नहीं, बच्चों के स्वास्थ्य की क्या हालत है, पानी कहा से लाया जाता है, आदि। इसी तरह की कई बातें हैं जिन के बारे मे गाव के लोग खुल कर बात करते हैं। फिर उन से विदा लेने से पहले वह अपना तथा अपने काम का परिचय भी उन्हें देता है।

दिन-भर वह इसी तरह घूम घूम कर लोगों से मिलता है, बात-चीत करता है और उन की बातें सुनता है। गाव में जो मुखिया माने जाते हैं, उन के घर भी वह जाता है, लेकिन पहले नहीं। मिलने पर उन से भी वैसा ही व्यवहार करता है जैसा निम्न स्तर के माने-जानेवाले लोगों के साथ करता है। ऐसा वह जानबूझ कर ही करता है। क्यों कि प्रशिक्षण के समय इस सबध मे काफी विस्तार से चर्चा हो चुकी है। वह गाव पहुँचते ही मुखिया के घर सीधे जाता है तो लोग यही समझेंगे कि वह उसी पद्धति से काम करने जा रहा है जो अभी प्रचलित है। लेकिन वह न वर्तमान पद्धति से काम करना चाहता है न उसके विरुद्ध चलना चाहता है। उस पद्धति को न वह बल पहुँचाना चाहता है न उसे दुर्बल बनाना चाहता है। जो कुछ करना है उसका पूरा अधिकार और जिम्मेदारी लोगों की अपनी है। वह जानता है कि उसे सोच समझ कर चलना है, क्यों कि उस का एक एक कदम और एक एक शब्द लोगों के बीच कानोंकान फैलनेवाला है। वह दूकानों मे, रास्ते चलते, खुले मैदान में—जहा भी लोग मिलें उन से बात करता है। टोली-सघटक के लिए दूसरी जरूरी चीज यह है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि लोगों को वह कैसा दीख रहा है और लोगों में उसका प्रवेश किस प्रकार हो रहा है।

लोगों के साथ की इस पहली भेंट में वह इतनी ही अपेक्षा रखता है कि फिल्म किस जगह दिखायी जाय इस बारे में लोग उसे सुझाएँ। साथ ही वह उन को एक बात का सुझाव देता है कि कुछ पढ़ने या अध्ययन करने के लिए वे अपनी एक टोली बनाएँ। वह उन्हें कुछ शैक्षणिक पुस्तकें भी ला देता है।

पुस्तक-वितरण के लिए तथा पढ़ने के लिए स्वैच्छिक (वालेंटियरी) समिति

इस समस्या को हल करने के लिए कई यात्रिक पद्धतिया थीं जिनमें से किसी को भी वह टोली-सगठक चुन सकता था। वह खुद घर घर जा कर किताबें बांटने का प्रयत्न कर सकता था। किसी स्कूलमास्टर से कह सकता था कि वह अपने छात्रों में वे किताबें बाट दे। या किसी दूकान में सारी किताबें रख कर जो भी ग्राहक आवे उसे एक एक किताब दिला सकता था। या किसी सिनेमाघर के बाहर खड़ा हो कर बाट सकता था। लेकिन इनमें से किसी पद्धति से लोगों को यह अवसर नहीं मिलता कि इस समस्या को वे अपनी समस्या समझ सकते। साथ ही जब लोगों से मिलने वह उन के घर जाता था तब पुस्तक की एक प्रति उन्हें दिखाता, उसमें क्या है यह समझाता, उस के बारे में चर्चा करता और लोगों से साफ कहता कि वे जो भी मदद दें वह केवल उन्हीं के लिए नहीं, बल्कि समूचे समुदाय के लिए होगी। इस पर उसे कई प्रकार के जवाब मिलते थे। एक भाई का कहना था कि वह बहुत गरीब है समाज में उसका कोई मान नहीं है, वह पढ़ा लिखा भी नहीं है, इस लिए वह समझ नहीं पाता है कि वह समुदाय की मदद कैसे कर सकता है। टोली-सगठक ने उससे पूछा कि—आप के अदर अपने पडोसी की मदद करने की इच्छा है यह दिखाने के लिए क्या पैसे या जमीन की जरूरत है? दूसरे एक सज्जन ने, जो उस गाव का मुखिया माना जाता था, उन पुस्तकों को खुद बाटने की इच्छा प्रकट की। टोली सगठक ने उससे कहा कि—यदि आपका इस बात में विश्वास नहीं है कि दूसरे भी सेवा का अवसर पायें तो आप जरूर बाटें। एक तीसरे व्यक्ति ने, जो काफी एस्टेट या गन्ना खेती का मालिक था, कहा कि पुस्तकें उसको पसद आयें और उसको लगे कि इन से कुछ प्रकाश मिल सकता है तो वह अपने आदमियों से बटवा देगा। उस आदमी से टोली-सगठक ने कहा—चूंकि यह काम स्वेच्छा से करने का है, इस लिए मेरा विश्वास है कि मैं खुद लोगों से मिलूँ तो ही ठीक रहे।

कुछ मूलभूत सिद्धांत और पद्धतियां

संगठक जब अपने उस समाज के साथ घनिष्ठता से काम करने की स्थिति में पहुँचता है तब तक वह उस समुदाय को और उसके आस पास के वातावरण को काफी गहराई से समझ चुका होता है। उन के बीच वह जिस प्रक्रिया से काम कर रहा होता है उस के बारे में अपने दूसरे सगठक साथियों के साथ काफी विस्तार से चर्चा कर चुका होता है। विकास की इस स्थिति में उस के साथी कुछ काम शीघ्र ही हाथ में लेने के लिए जोर देंगे ता, यद्यपि उन की बात वह अनसुनी नहीं करता है, फिर भी समुदाय की भलाई के लिए कुछ न कुछ कर डालने की योजना बनाने के जजाल में वह फसता नहीं है। वह उन सब की बात सुनता है और उन को समझाता है कि समुदाय के दूसरे लोगों के मन की बात समझना भी कितना आवश्यक है।

समुदाय के लोगों में कुछ लोग यदि किसी समस्या को सुलझाने के लिए आतुर हैं तो सगठक अपनी टोली के साथियों से निवेदन करता है कि व देखें कि लोगों की वह माग किस हद तक समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है। समस्या यदि गभीर है, प्राय वह गभीर ही रही है, तो वह कुछ प्रश्न लोगों के सामने प्रस्तुत करता है जिन से उस प्रमुख समस्या से सबधित कुछ दूसरी समस्याएँ भी स्पष्ट सामने आ जायें जिन पर अब तक विचार नहीं हो पाया है। चर्चा में सगठक के नेतृत्व में लोगों को यह महसूस होने लगता है कि काम को सफल बनाने के लिए काम हाथ में लेने से पहले उस का अध्ययन करने और योजना बनाने के लिए भी कुछ समय देना आवश्यक है। इस पहली सभा में यदि कुछ सदस्य चाहें, अक्सर ऐसा होता ही है, कि एक उप समिति का चुनाव किया जाय जिसके अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष आदि अधिकारी हों, तो टोली सगठक उन से यह छान-बीन करने की प्रार्थना करता है कि उस अध्यक्ष या कोषाध्यक्ष का कार्य क्या होगा। जैसे उन को किस लिए नियुक्त करना चाहते हैं, व क्या करेंगे, उन के अलावा दूसरे लोग क्या करेंगे, बैठक के बाद की कारवाई की जिम्मेदारी कौन लेगा-आदि। ऐसे प्रश्नों से टोली के सदस्य समझ जाते हैं कि वे उस घिसे पिटे तरीके से ही चलने की कोशिश कर रहे हैं जिसका नतीजा यह होता है कि आगे का सारा भार किसी एक या दो व्यक्तियों पर डाल दिया जाता है और बाकी सब सदस्य हर तरह की जिम्मेदारी से मुक्त होकर आराम से घर लौट जाते हैं।

लोकतत्रात्मक पद्धति में हमेशा नजदीक का रास्ता खोजने की उत्सुकता बनी रहती है। कोई सरपच से मिल लेना चाहता है, कोई कृषि विशेषज्ञ से, तो कोई स्वास्थ्य अधिकारी से ही अपना काम निकाल लेना चाहता है। सगठक के पास वाहन-साधन है। उसका उपयोग क्यों न कर लिया जाय! नहर का मामला है, किसी को राजधानी जाना है, तो जमीन मालिक को भेज दिया जाय क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि कैसे क्या होना चाहिए। रुपये की जरूरत है, देश में पैसेवाले लोग बहुत हैं, गाव के पढ़े लिखे लोग अपने यहा की आवश्यकता और गरीबी के बारे में उन लोगों को एक पत्र लिख दें। या ऐसे लोगों का एक मण्डल शहर जाय जो व्यापारियों से चदा माग लाये और जवाब में 'ना' नहीं लाये। लेकिन इस प्रकार बाहरी सहायता प्राप्त करने से पहले अपने पास क्या-क्या साधन-स्रोत हैं इसकी गहराई से जाच पड़ताल करके उन साधनों का पूरा पूरा उपयोग कर लें यह आवश्यक है। इस में समय बहुत लगता है, लेकिन अधिक आत्म विश्वास और आत्म-सम्मान का मार्ग यही है।

कुछ लोग काम शुरू करने के लिए इतने व्यग्र हो जाते हैं कि यदि कहीं मकान बनाना है तो घर से कुदाल उठाया और जहा प्लाट मिला हो वहा जा कर लगे नींव खोदने। यह सोचा नहीं कि मकान के लिए लकड़ी कहा से आयगी और सिमेण्ट कैसे मिलेगा। सगठक का यह काम है कि जब तक आगे का रास्ता साफ न हो जाय तब तक काम शुरू न होने दे। चर्चा करने बैठें तो लोग समझ जायगे कि किसी काम के लिए आयोजन जितना आवश्यक है लोकतत्रीय कार्य पद्धति भी उतनी ही आवश्यक है और उसकी सफलता के लिए बार बार बैठकें आयोजित करना भी आवश्यक

है। चर्चा करते समय जो जाति और वर्ग का भेद मिट चुका होता है उसे काम के समय भी पनपने नहीं देना चाहिए। जो व्यक्ति पहले हाथों से काम करने के अतिरिक्त अगर कोई सहयोग न दे सका हो, अब केवल वही शारीरिक श्रम करनेवाला न रहे। नेता हुआ, प्रभाव-शाली व्यक्ति हुआ या शिक्षित जमींदार हुआ—कोई भी हो, यदि उसने ऊपर के किसी भी सिद्धांत को ग्रहण किया हो तो अपनी अधिकार सपन्नता के कारण निरीक्षक जैसा हल्का काम करे, ऐसा नहीं होना चाहिए। प्रतिष्ठा पूर्वक कोई भी शारीरिक श्रम करने को उसे तैयार रहना चाहिए जो उसके हिस्से में आये। विकास की यह प्रक्रिया यदि सफलतापूर्वक चलती है तो फिर पड़ोस का बड़ा जमींदार यह मान कर सतोष नहीं कर सकेगा कि विकास-योजना के लिए अपनी ओर से दो नौकर भेज कर उसने अपना दायित्व पूरा कर दिया। इस प्रकार सप्ताह भर की चर्चा के परिणाम-स्वरूप जो काम हाथ में लिया जाता है वह अपने आप में उस चर्चा का पूरक बन जाता है। लोग एक दूसरे के साथ मिल कर काम करने लगते हैं, स्त्रियाँ उनके लिए घर में रोटी बनाती हैं और बच्चे खेत पर खाना ले जाते हैं और इस प्रकार काम में सब अपना अपना हाथ बटाते हैं तो उस वातावरण में एक मित्रता की भावना बनती है और काम के प्रति गौरव अनुभव होने लगता है। और यह सब समाज को उन्नत स्तर की ओर बढ़ने के प्रयत्न में एक दूसरे को अधिक घनिष्ठता के सूत्र में बांध देता है।

भाग २

समूह-चर्चा की प्रक्रिया का प्रशिक्षण

एक डिवीजन के क्षेत्रीय कार्यक्रम की योजना तैयार करने की जिम्मेदारी हम तीन व्यक्तियों पर दी गयी थी। हम तीनों तीन अलग-अलग कार्य-क्षेत्र के लोग थे। एक समाज-सेवा का, एक कृषि का और एक शिक्षा-क्षेत्र का था। फिर भी हम तीनों ने आपस में कुछ मूलभूत बातों के बारे में सहचिंतन कर लिया और इससे विकास कार्य के प्रारम्भ के दिनों में हम तीनों का लक्ष्य बहुत कुछ समान हो सका।

हमारा उद्देश्य यह था कि प्रशिक्षण-कार्यक्रम इस ढंग से आयोजित किया जाय कि प्रत्यक्ष क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को समूह-चर्चा (ग्रुप डिस्कशन) करने की प्रक्रिया का अनुभव मिल जाय। निश्चित ही यह आसान नहीं था। प्रशिक्षणार्थियों की चार टोलियाँ बनायी गयीं। चारों टोलियों का जो प्रमुख वक्ता था वह केंद्रीय कार्यालय का भी कार्यकर्ता था। उस टोली-नायक से टोली के दूसरे सदस्य बार-बार यही आग्रह करते कि वह एक शिक्षक(टीचर)की तरह काम करे। सारे प्रशिक्षार्थी यही चाहते थे कि टोली-नायक बताये कि क्या सोचना है, वही उनको कुछ आदेश दे, बोलने की बारी लगाये और कुल मिला कर उसी तरह काम करे कि उन लोगों को विश्वास हो कि वही पुराना शिक्षक और छात्र का सबंध यहां भी है। टोली-नायक उनकी बात न मानता तो यह भी डर था कि कुछ सदस्य चर्चा छोड़ कर चले जाय, फिर भी टोली-नायक ने उस ढंग से काम लेने से साफ इनकार कर दिया और सभा का अनुशासन रखने आदि का सारा भार वापस उन सदस्यों पर ही सौंप दिया। इस पद्धति को चलाने में टेप रिकार्डिंग एक अच्छा साधन सिद्ध हुआ। सुबह की चर्चा में जो कुछ बातचीत चलती थी वह सब टेप पर रिकार्ड कर लिया जाता था और बाद में फिर से वही बजाया जाता था। सुबह के हल्ले-गुल्ले की आवाज जब लोग अपने कान से सुनते तो उसका निश्चित और अच्छा प्रभाव पड़ता था। दूसरा साधन जो काम में लाया गया वह था अभिनय का। खास कर देश में प्रचलित अन्यान्य जीवन-पद्धतियों पर विचार करते समय यह साधन बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। जो सदस्य जैसा अभिनय कर सकता हो वैसा कोई पार्ट चुन लेने के लिए हर एक से कहा जाता था। शुरू शुरू में लोग अपने-अपने पार्ट का अभिनय हद से ज्यादा और खूब गवारू ढंग से करते थे, फिर भी उन के इस मनमौजी आनंद ने उन्हें गभीरता-पूर्वक सोचने योग्य बनाया और आगे चल कर प्रत्यक्ष-कार्य के समय आनेवाली कई समस्याओं को सुलझाने में कंधे मिला कर चलने योग्य भी बनाया।

धीरे धीरे वे सब इस बिंदु पर पहुँचे जहां पहुँच कर उन्होंने समझ लिया कि चर्चा में बोलने के समान सुनना भी सहयोग देने का अच्छा साधन है। किसी विशेष आशा से आगे सिर झुका कर चलने के बजाय दूसरों की राय का आदर करने से अच्छी चर्चा का आरंभ होता है। तब उन्होंने यह भी महसूस किया कि वे न केवल अनुशासित सभ्य सदस्य हैं, बल्कि विचार की दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्ति भी हैं। स्वानुशासन के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने की यह प्रक्रिया बिल्कुल नयी चीज थी।

टोली-संगठक के प्रबुद्ध टक्नीशियन बनने में मदद

पड़ोसी टोलियों के साथ कई महीनों तक घनिष्ठ संपर्क के बाद क्षेत्रीय कार्यकर्ता को अनुभव होने लगेगा कि कार्य-पद्धति और प्रक्रिया के बारे में कई समस्याएं ऐसी हैं जिनका उत्तर अकेला वह खोज नहीं पाता है। तब वह चाहता है कि निरीक्षक-वर्ग का एक सम्मेलन हो और प्रति-मास जिलास्तर की बैठकें हुआ करें। लेकिन इस सम्बन्ध में गहराई से खोज करने का अच्छा अवसर तो तब है जब वह प्रत्यक्ष क्षेत्रीय कार्य के प्रशिक्षण में होता है। यहां उसकी तथा उसके काम की पुन परीक्षा शुरू होती है। उसको प्रशिक्षण देनेवाला कार्यकर्ता उसे अपने बारे में ऐसी कल्पना करने को कहता है कि वह कहीं दूर गांव में है, घर लौटने लगा है, आधी रात हो गयी है, वह ४ ५ किलोमीटर नीचे किसी कीचड़ भरे रास्ते में है सिर पर मूसलाधार पानी बरस रहा है, खाया न पिया, और काफी थक गया है। ऐसी परिस्थिति में उसे गहराई से सोचने को कहा जाता है कि वह उस वक्त वहां क्यों है? फल उसे क्या क्या करना है? वह घर पर ही रह जाय तो क्या फर्क पड़ने वाला है? आदि। इन प्रश्नों से और ऐसे ही दूसरे प्रश्नों से उस कार्यकर्ता को अपने काम के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए फिर एक बार अपना जीवन समर्पित करने की प्रेरणा मिलती है।

ऐसा करते हुए वह इस बात की परीक्षा ले लेगा कि कार्यकर्ता किस प्रकार काम करता है। यही समय है जब वह प्रशिक्षक कार्यकर्ता के साथ उसकी पद्धति और प्रक्रिया के बारे में विस्तार से चर्चा करता है। अभी हाल ही में क्षेत्रीय कार्य के प्रशिक्षण में मेने गये आठ व्यक्तियों के सामने २५ प्रश्न रखे गये और उन लोगों ने अपने ही अनुभव के आधार पर उन का उत्तर दिया। सारी चर्चा समस्या केंद्रित ही रही। उनमें से उदाहरण के लिए कोई चार प्रश्न यहां दे रहे हैं, इससे स्पष्ट हो जायगा कि क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं का विकास किस हद तक हुआ है।

सामूहिक कार्य के प्रस्ताव को लेकर कोई खिल्ली उड़ाते हुए हंसने लगे तो उस भाई के साथ आप कैसा व्यवहार करेंगे?

उन लोगों ने स्वीकार किया कि टोली-संगठक को चर्चा के प्रमुख वक्ता के नाते ऐसे प्रसंगों में उत्तेजित होने की गलती नहीं करनी चाहिए, जैसा कि अक्सर सभा में उपस्थित अधिकतर लोग कर जाते हैं। सब ने इस बात का महत्त्व माना कि यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि वह व्यक्ति क्यों हंस रहा है। अक्सर यों हंसने का कारण यह होता है कि वह व्यक्ति अपने पर विश्वास नहीं कर पाता है और इस बात में भी उसे विश्वास नहीं होता है कि इस काम में वह भी खुद हाथ बटा सकता है। टोली-संगठक को मालूम है कि ऐसे आदमी के अंदर स्वाभिमान जगाने में उसे मदद करना चाहिए और उसे अपना विरोधी मान कर उसके साथ व्यवहार करने से यह हो नहीं सकता है। ऐसे प्रसंगों में टोली-नायक ने बराबर यही कोशिश की है कि उस आदमी को टोली के अधिक संपर्क में लाया जाय और उसके हाथ बटाने का कोई अवसर खोजा जाय।

चर्चा के प्रमुख के साथ यदि कोई कानाफूसी करने लगे तो उसके साथ कैसे पेश आयेंगे?

चर्चा में जितने भी टोली नायक थे सब का सर्व-साधारण अनुभव यह रहा कि अक्सर ऐसा होता ही है। ऐसे लोग टोली के साथ कुछ छल करना चाहते हैं, बल्कि वैसा प्रकट होने नहीं देना चाहते, या ऐसे भी होते हैं जो अपने को अति तुच्छ मानते हैं और अपनी बात खुल कर कहने की हिम्मत नहीं कर पाते हैं। चाहे जिस तरह के लोग हों उन से टोली-

नायक आग्रह पूर्वक कहेगा कि वे सीधे सभा के सामने अपना विचार खुद रखें।

सभा का कोई सदस्य टोली-नायक को या किसी दूसरे व्यक्ति को बड़ा आदमी मान कर उसके साथ बंदे का ही व्यवहार करने लगे तो आप क्या करेंगे?

थोड़ी सी चर्चा के बाद सब इस निश्चय पर पहुँचे कि यदि सभा के प्रवाह में विशेष रुकावट न पड़े तो इस प्रश्न पर सभा स्वयं विचार करे। मानवीय व्यवहार में लोकतंत्र को कार्यान्वित करने का यह दूसरा मौका है। अन्तत सब के ध्यान में आया कि यह व्यक्तिगत गुण विशेष पर निर्भर है और इसकी परख उसके साथ रह कर ही की जा सकती है।

सदस्य जब दूसरों की तरफ ध्यान न देकर केवल टोली-नायक के साथ ही बात करने लगे तब क्या करना होगा?

लोगों ने स्वीकार किया कि इस समस्या को सुलझाते समय उन को अपने प्रशिक्षण के समय सीखी हुई बातों का बहुत सहारा लेना पड़ा। उन्हें याद करना पड़ा कि प्रशिक्षण-काल में चर्चा के समय उन के टोली-नायक ने ऐसे प्रसंगों में क्या किया था, किस प्रकार वह सभा के दूसरे सदस्यों की तरफ ही देखा करता था और उस बोलनेवाले की तरफ बिल्कुल नहीं देखता था और इस प्रकार बोलनेवाले के संबोधन का स्वयं विषय बनना बराबर टालता था। उन्होंने यह भी याद किया कि जब उस टोली-नायक से सीधे प्रश्न पूछा जाता तो वह उसके उत्तर के लिए उल्टे यही प्रश्न सभा सामने ही रख देता था।

प्रत्येक प्रश्न पर जो चर्चा हुई वह पूरी-पूरी हुई, यद्यपि वह चर्चा इतनी ठोस और निष्कर्षात्मक नहीं थी जितनी यहां दीखती है। इस संदर्भ में जिन दूसरे प्रश्नों पर चर्चा हुई वे इस प्रकार हैं :—

जब कोई व्यक्ति इधर-उधर की बातें छेड़ कर चर्चा में बाधा डालता है तो आप क्या करेंगे? जब प्रतिनिधियों की उपस्थिति कम हो तो क्या करेंगे? सभी एकसाथ बोलने लगें तो? कोई बड़ी बड़ी डींग हांकता है और दूसरे लोग प्राय उसी की बातों में आते दीखते हैं तो? समस्या को सुलझाने के लिए यदि कोई सदस्य राजनैतिक या साम्प्रदायिक साधनों का उपयोग करना चाहे तो? या कोई इस टोली का उपयोग राजनैतिक या साम्प्रदायिक हेतु के लिए करना चाहे तो? जो लोग अपने को बड़े कार्य व्यस्त दिखाते हों और सभा से उठ कर जाना चाहते हों उनके साथ कैसा बरताव करेंगे? कोई शराब पीकर सभा में आ बैठे तो? कोई दूसरे साथियों के साथ हुई बात को लेकर सभा में अंतर्विरोध पैदा करना चाहे तो? इत्यादि। इन में कोई समस्या अपने आप में ऐसी कोई भयानक नहीं है, फिर भी इन में एक एक समस्या पर सभा की, काम की, प्रक्रिया की, और प्राय एक-साथ काम करने के इस प्रयास की सफलता या विफलता निर्भर है।

इस प्रकार परस्पर आदान प्रदान के वातावरण में टोली-नायक को एक ऐसा आदमी बनने में सहायता मिलती है जो अपने आसपास की सभी बातों से खूब वाकिफ रहता है और उस परिस्थिति का सामना करने के लिए सक्षम रहता है, साथ ही वह समझता है कि ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का यह भी एक अंग है। उसके सामने बने-बनाये निष्कर्ष रखने के बजाय उसको हम इस बात के लिए प्रोत्साहन देते हैं कि अपनी बहुत सारी समस्याओं का हल खोजने में वह अपनी ही शक्ति और सामर्थ्य से काम ले। इसका यह अर्थ नहीं कि सामूहिक शक्ति (ग्रुप डायनेमिक्स) के क्षेत्र में होनेवाले शोधों की हम अवहेलना करते हैं। "समूह विकास की राष्ट्रीय प्रशिक्षण प्रयोगशाला" (नेशनल ट्रेनिंग लैबोरेटरी इन ग्रुप डेवलपमेंट) जैसी संस्थाओं में जहा हमारे कार्यकर्ताओं ने अध्ययन किया है और सैद्धांतिक चर्चा का कुछ आधार खोज निकाला है वहा से जितनी भी सामग्री हम अपना सके हैं उससे हमारा काम समृद्ध हुआ है और प्रत्यक्ष अनुभव से अधिक समझ में भी आने लगा है।

★

कार्यकर्ताओं की डायरी से

ग्रामइकाई-वालवापर मुंगेर — ५-९-६२

मैं अभी तक ग्रामोदय सहयोग समिति का संगठन कर रहा हूँ। ग्रामोदय सहयोग समिति की जमीन रजिस्ट्री करा चुका हूँ। गावों में ६ तकुवे का चर्खा चलाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। हमारे क्षेत्र में खादी का भी प्रचार हो रहा है। जनता में सम्पर्क भी बढ़ रहा है। हमारे सामने सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि हमारे गाव में दो मिलें खड़ी हो गयी हैं। जिससे यह समझ में नहीं आता है कि ग्रामद्योग कैसे चलाया जाय। जैसे धान कुटाई, तेल-घानी इत्यादि।

द्वारिकानाथ

ग्रामइकाई-घोवघट, मुंगेर — ७-९-६२

अभी हमारा सारा समय धान की इंटरकल्चरिंग में बीत रहा है। खेती यहा का मुख्य उद्योग है। इस काम के जरिए सभी वर्गों के लोगों के साथ सम्पर्क हो रहा है।

निवास अस्थायी तौर से मिड्डोर में रखा है। गाव के लोग कहते हैं कि गाव में ही आकर रहूँ। अभी उतनी आकांक्षा नहीं देखता हूँ।

आगे परिवार-सम्पर्क का काम सोचा है। चर्खा पर ज्यादा जोर देने का विचार किया है। खेती के बाद कौन सा उद्योग गाववाले पसन्द करेंगे यह देखने की बात है।

येश्वर प्रसाद

ग्रामइकाई अग्रहुया, मुंगेर — १०-९-६२

सम्पर्क के ही दौरान मैंने ४० १० परिवारों का सर्वेक्षण किया। साथ साथ लोगों से अपना परिचय किया तथा ग्रामइकाई के बारे में समझाया। गाव में सहकारी भावना का प्रचार करना है जिससे ग्रामशक्ति का संगठन हो। बिना सहकारी भावना पैदा हुए ग्रामशक्ति प्रकट नहीं होगी। गाव में एकता लाने के बाद ही कोई शक्ति पैदा हो सकती है। गांव में जब तक भेद भाव रहेगा तबतक गाव गाव नहीं बन सकता है। गाँव के अन्दर से जबतक जाति का भेद, ऊंच नीच का भेद तथा आपस के वैमनस्य का भेद नहीं मिट जाता है तबतक लोगों में एकता की भावना नहीं आ सकती है।

चन्द्रकिशोर

ग्रामइकाई-समस्तीपुर, मुंगेर — ५-९-६२

मैं मुखिया, सरपंच, ग्रामसेवक, शिक्षक एवं ग्रामीणों से मिला, बातचीत हुई। सभी हमसे सहमत हैं। उन लोगों का कहना है कि हमलोग मिलकर कदम बढ़ायें।

इस बीच प्रखण्ड विकास की ओर से वार्षिक ग्राम योजना समिति बनी है। ३१ ८ को बैठक हुई थी, जिसमें सदस्यों का नाम हर पंचायत से दे दिया गया है। अब यह योजना-समिति गाव की योजना बनाकर प्रखण्ड विकास पदाधिकारी को देगी। प्रखण्ड वि० पदाधिकारी विभागीय मञ्जूरी कराकर फिर ग्राम-समिति को देंगे जिसके आधार पर आगे का कार्य होगा। इससे गाव की उन्नति होने की सम्भावना देखकर मैं भी इसमें सहयोग दे रहा हूँ।

मैं एक श्रमदान-समिति कायम करना चाहता हूँ, जिसमें हर परिवार के एक-एक व्यक्ति रहेंगे। विशेष आग्रह में युवकों से रखूंगा जो सप्ताह में एक दिन कुछ घंटे श्रमदान कर सड़क, बांध आदि की मरम्मत एवं सफाई वगैरह कर सकें।

इसके सम्बन्ध में मुखियाजी से बातचीत हुई। उन्होंने बताया कि उन्होंने कुछ समय तक यह काम

[पृष्ठ १६७ पर]

ग्रामभारती-ग्रामशाला

दिनाक १२-१-६१ से मैंने ग्रामभारती, बलिया (पूर्णिया, बिहार) का काम सभाला। शुरू में २० विद्यार्थियो का नाम था जिसमें १२-१४ की उपस्थिति रहती थी। शुरू में जन-मानस को नयी तालीम की बात जचती नही थी। पढा लिखा वर्ग भी इस बात को नहीं समझ पाता था।

बच्चो में गाली-गलौज करने की आदत थी। जब से इन्होने होश सभाला तबसे घुमक्कड की जिन्दगी बितायी थी इसलिए एक स्थान पर एक घटा भी बैठना इनके लिए कठिन था। सिर्फ दो बच्चो को छोडकर सभी में बीडी पीने की लत थी। आपस में मारपीट करना तो इनके लिए बहुत ही आसान काम था। बहुत सारे दोषो के बावजूद इनमें दो जबरदस्त गुण थे। १-इनका दिल बडा साफ था, कोई भी बात साफ-साफ, बिना किसी आवरण के कह देते थे, २-इनके हाथ पाव बचपन से कार्य करने के अभ्यस्त थे- टाटी बाधना, लकडी काटना, हल चलाना रस्सी बनाना आदि, बहुत सारे कार्यों की कुशलता इनकी उगलियो को प्राप्त थी।

उनकी पढाई अक्षर-ज्ञान से न शुरू कर पद्य से शुरू की। बच्चे पूरा पद्य याद कर लेते थे। इस सिलसिले में चार माह बीत गये, फिर भी उन्हें सिलसिलेवार क, ख ग, घ अक्षर नहीं लिखाये गये। इसी प्रकार पहाड़ा और गिनती पर भी जोर नही दिया गया। भैंस चराने वाले बच्चे थे। इन्हें २० तक गिनना आता था। जोड की प्रक्रिया द्वारा गिनती आगे बढायी गयी। इस प्रक्रिया से छोटे दायरे में ही गुणा, भाग, जोड, घटाव सब आता रहा। इस प्रक्रिया द्वारा बच्चे रटने की उबानेवाली प्रक्रिया से बच गये।

आज ये बच्चे खेत को हाथ, खुरपा, या डन्डा से नापते हैं और बताते हैं कि इसका क्षेत्रफल इतना वर्ग-खुरपी, वर्ग-डैन, या वर्ग-हाथ हुआ।

चरित्र निर्माण में हमने सचाई, निर्भयता, और सहयोग-वृत्ति पर जोर दिया। थोडे ही समय में परिणाम अच्छा आया। बच्चे निर्भय होकर अपनी गल्ती स्वीकार करने लगे। इतनी बीडी पी, दिनभर गोली खेलो, अमुक को गाली दी, अमुक को पीटा। यहाँ तक भी, पाचवी और छठी श्रेणी के विद्यार्थी, अपनी डायरी में लिखने लगे कि अपनी भैंस अमुक आदमी के खेत में छोड दी, अमुक का खेत चरा डाला। बच्चो ने समझ लिया कि झूठ बोलना सबसे बडा दोष है।

प्रसग-वश धूम्रपान से स्वास्थ्य खराब होता है यह बच्चों को बताया। उन्होंने पूरी सभा में तय किया कि यह लत धीरे धीरे छोडनी है। वे सप्ताह में दो दिन बताते थे कि अब कितनी बीडी पीते हैं। कई बच्चों की बीडी पीने की आदत छूट गयी। अब भी एक दो पीते थे। गोली-कौडी खेलने की जहाँ तक बात है यह आपसे आप बन्द हो गयी। दिनभर के कार्यक्रम के कारण गोली खेलना बन्द हो गया। बच्चे भी समझ गये कि गोली कौडी में समय बर्बाद करना ठीक नहीं है।

एक दिन एक छात्र कहने लगा-'गुरुजी मैं अब पतग घर नही ले जाऊगा, पिताजी मारते हैं।' आगे फिर उसने कहा- 'ये लोग होली में भद्दी भद्दी गाली देते हैं। हम तो ग्रामभारती में काम करते हैं, पढते हैं, लिखते हैं, थोडा पतग उडा लिया तो क्या हर्ज है!' मैंने कहा- 'ठीक तो है, पिताजी को समझाते क्यों नहीं हो'।

कृषि का समय आया। अपने पास हल-बैल नहीं थे। बच्चे खुद अपने-अपने घर से हल-बैल माँगकर लाये। फिर सब मिलकर माँगने जाते थे। बच्चों ने रोज ६-६ घंटे तक काम किया। मक्का, धान, प्याज लगायी गयी। फसल अच्छी आयी। टमाटर, खीरा और कद्दू खूब फला। रोज नियमित रूप से दो-तीन घंटे काम होता था। कृषि के प्रति बच्चों में काफी उत्साह पैदा हुआ।

कुमारप्पा स्मारक निधि की बात सरल ढंग से बच्चों को समझायी गयी। श्रद्धा और श्रम के प्रतीक रूप में बच्चों ने दो दिन की फसल कटाई की मजदूरी इसके लिए समर्पित की।

प्रेम-क्षेत्र में गेहूँ-कटनी का आयोजन बच्चों की प्रेरणा से की गयी। ५ दिन कटनी की गयी। बच्चे रात को 'कुटिया' पर आकर सो जाते थे। सुबह चार बजे जगते थे और दिन निकलते निकलते एक एकड़ से डेढ़ एकड़ तक खेत काट डालते थे। अन्तिम दिन यानी ६ अप्रैल को डेढ़ एकड़ खेत काटकर हर्षित के साथ प्रभातफेरी की। कटनी की मजदूरी एक मन गेहूँ मिला।

बहियार में वर्ग लेने की बात सोची गयी। बच्चे भैंस चराने जाते थे। हम भी बच्चों के साथ चारागाह में जाने लगे। हम तीन शिक्षक थे। तीन वर्ग लगने लगे। चारागाह वर्ग के कारण नये-नये १०, १५, १८ वर्ष के बच्चों से परिचय हुआ। उनकी कठिनाइयों को नजदीक से देखा। उन्हें पढ़ने की प्रेरणा मिली। फलस्वरूप ४० लड़कों का नाम लिखा गया। हिसाब लगवाना तथा किताब पढ़ाने का काम तो होता ही था लेकिन हमारा मुख्य ध्यान चरित्र-निर्माण पर था। मैं किशोरों के साथ बहियार-वर्ग में जाता था। इस बहियार-वर्ग से लोगों को हैरानी होती थी।

मैंने दो प्रकार के बच्चे पाये-मध्यमवर्गीय परिवार और चरवाहा परिवार। चारागाह में अध्यापकों की उपस्थिति और अध्ययन के वातावरण ने बहुत-सी गाली-गलौज और दूसरे को खेत-चराई खत्म कर दी। भद्दे-भद्दे गाने भी कम हो गये, पर हम इसके स्थान पर अच्छे गाने न दे सके। यदि हमारी तैयारी होती और हमारे पास गाय या भैंस होती तो गो-सेवा का उत्तम आदर्श भी बच्चों के सामने उपस्थित कर सकते थे।

इन बच्चों के साथ हमारे रहने के कारण इनके साथ किसी का बुरा बर्ताव नहीं होता था। नहीं तो कोई भी इन्हें डांट देता था, मार देता था, गाली दे देता था। इनका भय दूर हो गया। बहियार-वर्ग के कारण बच्चों में सहयोग वृत्ति पनपा। ग्रामभारती के खेत पर साथ-साथ काम करते थे। शिक्षक की देखरेख में वहाँ काम होता था। स्वत-स्फूर्त-वृत्ति वहाँ नहीं आयी। चारागाह में भैंस देखने के लिए ड्यूटा लगा दी गयी। एक लड़का १०-१५ लड़कों की १०-२० भैंस देखता था और बाकी बच्चे बैठकर पढ़ते थे। इससे बच्चों ने स्वयं अनुभव किया कि सहकार से कितने समय की बचत कर सकते हैं। इस प्रकार जो समय बचा उसमें हमने बच्चों को पढ़ाया ही। इस तरीके से इन बच्चों में आपसदारी बढ़ी।

हर गुरुवार की शाम को ६ से ८ तक बच्चे सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन करते थे। उसी दिन बाल-सभा भी होती थी। जाड़े में बच्चों को काफी ठंडक लगती थी। वे लकड़ी इकट्ठा करके लाते थे और आग जलाकर उसीके पास बैठते थे। आग के पास कहानियाँ और गाने चलते थे। बच्चों को सिनमा के गाने याद रहते हैं या कुछ ऐसी कहानियाँ उन्हें मालूम रहती हैं जिनके गाने और कहने में शर्म मालूम होती है। हमने भजन गाये और कहानियाँ सुनायीं। समाजोपयोगी विचारों से ओतप्रोत साहित्य की कमी बहुत खटकती है।

बच्चों ने एक दिन रामनवमी मनाने का प्रस्ताव सामने रखा। इसके पहले उत्सव आदि के बारे में थोड़ा बता दिया जाता था। ५-६ दिन पहले से रामनवमी की तैयारी होने लगी। "भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौशल्या हितकारी"। बार-बार पाठ कराया गया। रामनवमी को प्रभातफेरी हुई। दिन में कीर्तन, रामायण-पाठ और भोज हुआ। इन्हीं बच्चों से दूसरे रोज श्रवण-कुमार नाटक का आयोजन हुआ। भैंस चरानेवालों की यह करामात देखकर वहाँ के लोग काफी प्रभावित हुए। बच्चों में पढ़ने की प्रेरणा जगी। नाटक की सात दिन की तैयारी में बच्चों ने पढ़ने का काफी अभ्यास किया।

हमारे यहा कुछ बच्चे प्राइमरी स्कूल से आये थे। बात-बात में गुरुजी से शिकायत करने की आदत इनकी पडी हुई थी। यह आदत छुडाना बहुत जरूरी था। क्योंकि दूसरे बच्चों में भी यह आदत पड रही थी। दूसरी बात यह थी कि हम चाहते थे कि काम के समय बच्चे अपनी जिम्मेदारी महसूस करें। इसलिए बाल-सभा का गठन हुआ। प्रति सप्ताह सर्व-सम्मति से एक नायक चुना जाता था। खेती के कार्य का सचालन अध्यापक की राय से यही नायक करता था। किसी बच्चे की कोई शिकायत हो तो वह नायक की डायरी में लिखा देता था और बाल-सभा में हर गुरुवार को उसपर विचार किया जाता था। अब दूसरा परिणाम यह आया कि तत्काल मारपीट या गुरुजी से नालिश न कर कोई भी बच्चा नायक की डायरी में दर्ज कराने की धमकी देता था। बच्चों में पचायत द्वारा अपने मसले हल करने की भावना का बीजारोपण होने लगा।

मध्यम वर्ग के लोग बच्चो की प्रगति से काफी प्रभावित थे। गाव में जगह-जगह इसकी चर्चा होती थी। बच्चो ने साढे सात मन प्याज और ४१ १८ रुपए का पट्टू पैदा किया था। प्रतिदिन २ घटे काम करते थे। बाकी समय या तो अपने घर काम करते थे या पढते थे। बटवारे के विषय में बच्चो को काफी सदेह था। उन्हें इस बात का सदेह था कि यह पैदावार गुरुजी ले लेंगे। हम उन्हें समझाते थे कि फसल का बटवारा होगा पर न बच्चों को ही इसका भरोसा होता था न उनके माँ बाप को ही। इसलिए जल्द से जल्द रकम का बँटवारा किया गया। फिर सबको विश्वास हो गया कि जो जितना काम करता उसे उतना हिस्सा मिल जायेगा। विद्यार्थियों की रुचि भी बदल गयी।

विजय बहादुर भाई

☆

[पृष्ठ १६४ का शेषाश]

चलाया था, लेकिन गाव के कुछ व्यक्तियों ने यह इल्जाम लगाया कि श्रमदान से काम कराकर उस का पैसा मुखियाजी ले लेंगे। फलस्वरूप कुछ ही दिनों में श्रमदान का सिलसिला बन्द हो गया। लेकिन सब लोगों से बातचात कर इसे करना चाहता हूँ। देखू आगे क्या होता है।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

ग्रामइकाई-परोडा, मुंगेर ५-९-६२

अभी तक मैं अपने गाँव में १३ कम्पोस्ट पिट बनवा सका हू। यह दियारा का इलाका है। अधिकाश मवेशी दियारा में ही रखे जाते हैं। गाव में कम हा मवेशी रहते हैं। अभी दियारा में पानी आ गया है, पानी सूखने पर कम्पोस्ट का काम वहा अच्छा तरह से चलेगा।

मैं कुछ पुराने साधारण चर्खे चलवा रहा हू। घर घर जाकर चर्खा ठीक कर दिया करता हू।

पचायत के मुखिया, सरपच, ग्रामसेवक, स्कूल के शिक्षकों तथा ग्राम के प्रमुख व्यक्तियों और नवयुवकों से सम्पर्क स्थापित कर चुका हू। साथ-साथ यह क्रम चल भी रहा है।

रामाशाष राय

★

शांति-सप्ताह और तालीम

लोकभारती शिवदासपुरा, जयपुर

[राजस्थान की राजधानी जयपुर के निकट शिवदासपुरा में लगभग डेढ़ वर्ष से नया तालीम विद्यालय चल रहा है। गत ११ सितंबर से विद्यालय ने शांति-सप्ताह मनाया। पहले और दूसरे वर्ग के छोटे-छोटे बालकों को लेकर शिक्षक पास के शिवदासपुरा और चदलाइ दो गाँवों में गये। सभाएं कीं शांति विचार समझाया घर घर घूमे शांतिप्रतिज्ञा पर लगभग ११०० हस्ताक्षर प्राप्त किये। सहज ही दोनों गाँवों का सर्वेक्षण किया बालकों को समवाय शिक्षण देने का अच्छा अवसर मिला। पूरे सप्ताह का विस्तृत कार्यक्रम शांतिसप्ताह और तालीम के नाम से पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। उससे कुछ समवाय-पाठ यहाँ दे रहे हैं। ये समवायी-पाठ आदर्श समवायी-पाठ के रूप में नहीं दे रहे हैं। यह एक नयी संस्था का नया प्रयास है अन्य संस्थाओं से भी प्रकाशनार्थ समवायी पाठों की अपेक्षा है। सं०]

पहला और दूसरा वर्ग

प्रसंग —

नयी तालीम विद्यालय द्वारा अणुबम परीक्षणों के विरोध स्वरूप शांति-सप्ताह मनाया गया, जिसमें पहली और दूसरी कक्षा के बालकों ने भी भाग लिया। उन्होंने गाँवों के दर्शनीय स्थानों का भ्रमण किया। ग्राम सर्वेक्षण में पशुओं की जानकारी, सार्वजनिक एवं दर्शनीय स्थल तथा पोशाकों संबंधी जानकारी संग्रह की। इस आयोजन के द्वारा बालकों का जो शिक्षण हुआ वह निम्न प्रकार है।

दर्शनीय स्थल —

बच्चे निम्नांकित सार्वजनिक स्थानों को देखने गये—बालमंदिर, मातृ एवं शिशुकल्याणकेंद्र रामद्वारा भारती पुस्तकालय, डाकघर, औषधालय जैन-मंदिर, जगदीशजी का मंदिर, और धर्मशाला। बालकों को इन स्थानों के इतिहास व उपयोग के बारे में कहानियों की तरह सरल तरीके से समझाया गया।

पोशाक एवं गहने —

बालकों ने गाँव की पोशाक के बारे में भी जानकारी ली जिसमें उन को बड़ा आनन्द आया।

किसानों की पोशाक —

किसान मेहनत का काम अधिक करते हैं, इसलिए काम के अनुसार ये मोटा कपड़ा पहनते हैं। पुरुष धोती, अंगरखी, साफा, कुर्ता पहनते हैं। कुछ पुरुष गहना भी पहनते हैं जैसे कड़ा, मुर्की ताबीज आदि।

स्त्रियों की पोशाक —

घाघरा ओढ़णी कब्जा काचली पहनती हैं। गहनों में कड़ा टड्डे करधनी हसली पहनती हैं। शिक्षित लोग धोती कमीज कुर्ता पाजामा निकर पहनते हैं। स्त्रियाँ साड़ी ब्लाउज़, पेटीकोट पहनती हैं।

ग्रामोद्योग —

गाँवों में चलनेवाले उद्योगों को जहाँ वे जिस रूप में चलते हैं वहाँ ले जाकर दिखाया गया। उसके द्वारा बालकों को कई बातें जानने को मिलीं।

लुहार —

लोहे की वस्तु बनानेवाले को लुहार कहते हैं। ये लोहे से खुर्पी, कुदाली फरसा हँसुआ फाल कढ़ाई कुल्हाड़ी दँतुली चाकू आदि बनाते हैं। इन औजारों से बालक परिचित हैं लेकिन इन वस्तुओं के बनाने की प्रक्रिया में इन्हें आनंद आया। लोहे को लाल

करने पर चीजें बनाने और उसे मोटा करते देख कर बालकों को बड़ा आश्चर्य हुआ।

दर्जी :—

दर्जी की मशीन और मशीन के पुर्जों को देखा।

तेली :—

घानी से तिल और सरसों का तेल निकालते हुए देखा। घानी के बारे में जानकारी प्राप्त की।

चर्मकार :—

चमड़े से जूते, चप्पल व चड़स बनाते देखा तथा जानकारी ली।

सुनार :—

चादी व सोने की चीजें बनाता है जिन्हें स्त्रियाँ और पुरुष पहनते हैं।

खाती :—

लकड़ी की चीजें बनाता है। खाट, बैलगाड़ी, हल, मेज, कुर्सी, किवाड़ चर्खा, तख्ती आदि भी बनाता है।

कुम्हार :—

मिट्टी से चाक पर बर्तन बनाता है–मटके, सुराही कवेलू आदि।

पशु :—

गाँव में कौन से पशु हैं इसकी जानकारी की गयी। गाँव में प्रत्यक्ष बच्चों द्वारा देखे गये पशु-गाय, बैल, भैंस, साण्ड, घोड़ा, बकरी, सुअर, कुत्ता आदि।

पक्षी :—

मोर, कबूतर, मुर्गा, मुर्गी, तोता, मैना, तीतर, बटेर, बुलबुल। सवेरे मोर को नाचते हुए देख कर बालक खुद ही नाचने लग गये।

खेती :—

वर्षा का मौसम होने के कारण निम्न फसलें प्रत्यक्ष में जाकर देखीं—तथा हर पौधे की पहचान करायी। मक्का, बाजरा, उड़द, मूंग, चावल, तिल, मूंगफली, ज्वार, तुरई, टमाटर, भिण्डी, मिर्च, ककड़ी। बालक सब्जी के पौधों से परिचित थे।

दवाखाना :—

यहाँ सरकारी दवाखाना है जिसमें एक वैद्यजी, एक दाई, एक कम्पाउण्डर और एक सहायक हैं। यहाँ दवा बिना पैसे के मिलती है। दवाइयों का प्रबंध सरकार की ओर से होता है।

ग्रामवासियों का भोजन—

सामान्यतः ये सब शाकाहारी हैं। अब लोगों में चाय पीने का प्रचलन बढ़ा है।

भाषाज्ञान :—

प्रसंग से आये हुए शब्दों के शुद्ध उच्चारण तथा उन के अर्थ का ज्ञान कराया गया। जैसे–शांति-सप्ताह, अणुबम, धर्मशाला, रामद्वारा, पुस्तकालय, मंदिर, डाकघर, हरिजन, डाक्टर, दवाखाना, फसल, वैद्य, दाई, सहायक, औषधि, अंगरखी, कुरता, कब्जा, कांचली, कड़ा, टड्डा, करधनी, हंसली, कुल्हाड़ी, बतुली, चप्पल आदि। दूसरे वर्ग के बालकों को लिखना सिखाया।

बालकों ने निम्नांकित नारे याद किये—

जन जन से है यह अनुरोध
एटम बम का करें विरोध।

हमारे गाँव में	शांति हो।
हमारे गाँव में	सफाई हो।
आज का मंत्र	जय जगत्

गणित और सामान्य ज्ञान—

बच्चों ने डाकघर को विशेष रूप से देखा। उन्हें बताया गया कि डाक थैले में आती है फिर उसकी सील खुलती है। फिर हर कागज पर मायाजी छाप लगाते हैं। छाप लगाने के काम में बालकों को बड़ा मजा आया। डाक किस प्रकार रेल से दूर तक चली जाती है यह समझाया। फिर पोस्टकार्ड, लिफाफा, अंतर्देशीय पत्र, तथा टिकटों के बारे में जानकारी दी। और जबानी गणित टिकटों को जोड़ कर तथा बाकी निकाल कर बताया।

गणित दूसरा वर्ग :—

		लिखित जोड़	
गाँव में बैल	२१५	भेड़	५२५
गाय	४०६	भैंस	१५६
बकरी	२१६	ऊँट	१८
गधा	६५	घोड़ा	५
कुल	९५२		७०४

टिकट	१ न० पै०
,,	२ ,,
,,	३ ,,
,,	५ ,,
,,	८ ,,
,,	१० ,,
,,	१५ ,,
,,	२५ ,,
,,	५० ,,
कुल	११९ ,,

जबानी गणित पहला वर्ग

जोड़

पोस्ट कार्ड	५ न० पै०
अतर्देशीय पत्र	१० ,,
लिफाफा	१५
कुल	३० ,,

इस प्रकार शांति सप्ताह से सामाजिक ज्ञान भाषा, सामान्यज्ञान, गणित का समवाय शिक्षण दिया जा सका।

कौशल्या शर्मा
नत्थीलाल गुप्ता
शिक्षक

तीसरा वर्ग

प्रसंग :—

शांति-सप्ताह के उपलक्ष्य में शिवदासपुरा और चदलाई ग्राम मे सर्वेक्षण ग्राम दर्शन और शांतिप्रतिज्ञा पत्रों के द्वारा समवाय-पाठ।

सामाजिक ज्ञान

इस सप्ताह म दो गाँवों के लिए हर रोज १ से ३ बजे तक २ घण्टा करके ४ दिन में कुल ८ घण्टे का समय सर्वेक्षण कार्य में लगा। बच्चे ग्रामफेरी करने, घर घर खाना खाने तथा हस्ताक्षर सग्रह करने जाते थे। इस सिलसिले में पचायत घर डाकघर, बाजार, मंदिर बाजार, प्रसूतिघर आदि जगहों को देखने से स्वभावत उन के मन में अनेक प्रश्न आते थे। अत इन सब के बारे में प्रसग से उन्हें चलते फिरते उठते-बैठते, स्थान-स्थान पर बताया गया। इन स्थानों का उपयोग और महत्व उन के जिज्ञासा पूर्ण प्रश्नों के आधार पर समझाया। उदाहरणार्थ-एक दिन अनन्त चतुर्दशी थी। उस दिन दोपहर को २ बजे खाना मिला। बच्चों ने पूछा-आज घरों में भोजन देर से क्यों बना? इसे समझाने के लिए घरों में जा कर पूजा का आयोजन दिखाया और समझाया कि आज अनत भगवान का पूजा होती है। पूजा के बाद ही खाना खाया जाता है। आज विशेष भोजन बना है। होली, दीवाली के उदाहरण से उनके समक्ष अनन्त-चतुर्दशी का इतिहास बताया ज्यों-ज्यों समझाता गया अनत भगवान के बारे में बालकों की जिज्ञासा बढ़ती गया और भगवान की व्यापकता, अनत शब्द का अर्थ विविध उदाहरणों से उन क प्रश्नों के सदर्भ मे समझाया गया। इसी प्रसग में आकाश पाताल, जीव-अजीव, वनस्पति आदि के विषय में भी समझाया।

सर्वेक्षण कार्य के लिए दूसरे वर्ग को दो विषय दिये गये थे

१ गाँव के विशेष त्योहार एव रीति रिवाज

२ गाँव की फसलें।

इस प्रसग में शिवदासपुरा और चदलाई गाँव मे जो त्योहार, मेले सकीर्तन, विशेष समारोह इत्यादि होते ह उनकी जानकारी दी गयी। उदाहरणार्थ रक्षा बधन, कजली तीज होली, दीवाली, गणगौर, रोटतीज गुदली का मेला, शीतला का मेला आदि। गाँव की फसलों के बारे में बालकों में कृषि का पूर्ण ज्ञान होने के कारण सर्वेक्षण रुचि पूर्ण रहा। गाँवों की फसलों को हर बालक ने पूछ पूछ कर अपनी पुस्तक में नोट किया।

सामान्य व्यवहार —

सर्वेक्षण से बातचीत करने का ढग, बड़ों से और

छोटों से बात करने का व्यावहारिक शिष्टाचार समझाया गया जिससे जन-संपर्क के तरीकों का सामान्य अभ्यास हुआ।

इतिहास :—

बच्चों ने जिज्ञासावश पूछा कि गाव का नाम शिवदासपुरा क्यों है ? इस प्रसंग से गाव के इतिहास की जानकारी करायी। अपने विद्यालय का नाम नयी तालीम है, क्यों कि यहा नये ढग के शिक्षण का प्रयोग कर रहे हैं। यहा तालीम नये ढग से दी जा रही है, इसलिए इसका नाम नयी तालीम रखा गया। इसी प्रकार शिवदासपुरा नाम के पीछे हेतु होना चाहिए। बच्चे बोल नहीं सके, लेकिन बड़ी उत्सुकता से सोचने लगे कि शिवदासपुरा नाम के पीछे क्या क्या बात है ? उन के चेहरों पर जिज्ञासा युक्त हावभाव देख कर मैं ने समझाया। पुराने जमाने में जयपुर रियासत थी, तो कई गाँवों में छोटे-छोटे जागीरदार रहते थे। वे वहा का राजा होते थे। यहा भी एक प्रकार के जागीरदार रहते थे, उन का नाम था शिवदास। उन्हीं के नाम पर गाव का नाम शिवदासपुरा हो गया। बच्चे अपने अपने नाम के बारे में सोचने लगे। अपने नाम का क्या क्या मतलब है यह सोचने लगे और अपने नामों के बारे में अर्थ लगाने लगे। इस प्रयोग से कई बच्चों के नाम से इतिहास की जानकारी हो गयी। उदाहरण के लिए एक बालिका का नाम था सीता। तो सीता और राम के बारे में बालकों को बताया।

चदलाई गाव में एक बड़ा बाध है। काफी बड़ा है, झील जैसा लगता है। सिंचाई के लिए गाव के लोग अपने अपने खेतों में पानी इसी से लेते हैं। बच्चे पूछ बैठे—इतना बड़ा तालाब कब और क्यों खोदा गया ? कितने दिन लगे ? क्या श्रमदान से खोदा गया ? मुझे भी ठीक ठीक मालूम नहीं था। तो हम सब चले गाव के बुजुर्ग पटवारीजी के पास। उन से बाध के बारे में पूछा तो बड़े प्रेम से उन्होंने उसका वर्णन किया। वे जब बहुत छोटे थे, आज से ५०-६० साल पहले, एक बार यहा अकाल पड़ा। उस अवसर पर जयपुर के राजा का राज था। उन की बड़ी कृपा हुई और उन्होंने यह तालाब खुदवाया। खुदाई के बदले गेहू, या कुछ दूसरा अनाज मिलता था। बड़ी तन्मयता से बच्चों ने यह कहानी सुनी और फिर लिख डाली।

भूगोल :—

हर रोज बालक अलग अलग घरों पर जाकर भोजन करते थे। एक दिन पूछा कि बताइये किस किसने क्या क्या खाया है। इस पर कोई बोला जौकी रोटी तुवर की दाल किसी ने कहा बाजरे की रोटी, चने की दाल किसी ने कहा जौ चने की मिला हुई "मिस्सी" की रोटी आदि। मैंने पूछा यह अनाज कहा से आता है ? बालकों ने कहा-यहीं पैदा होता है। तब यहा की स्थानीय पैदावार क्या है, इसकी जानकारी बच्चों ने चाही। तो सूची बनाना प्रारंभ हुआ। बालक बोलते गये और मैं गिनता गया।

अनाज—मकई, ज्वार, बाजरा, गेहूँ, चना, जौ आदि।

दाल—मूग, मोठ, तुवर, उरद, आदि।

इसके अलावा तिलहन, मूगफली, और सब्जी सामान्यत कम होती है। लेकिन भूमि इस लायक हो सकती है कि फल और सब्जी की पैदावार हो सके।

गन्ना और कपास के बारे में जानकारी की तो मालूम हुआ कि यहा पर कपास नहीं होती है। तो बच्चों ने जल्दी से पूछा कि कपास कहा पैदा होता है। तो बालकों को मानचित्र के सहारे वे प्रदेश जहा कपास पैदा होती है, बताये। वे फिर पूछ बैठे कि कपास वहा क्यों होती है। इस संदर्भ में हिंदुस्तान की पैदावार की जानकारी दी गयी। मानचित्र के सहारे हिंदुस्तान को तीन भागों में बाटा और उन्हें बोर्ड पर लिखकर उनकी मुख्य फसलें समझाईं।

१ समुद्र के किनारे वाले प्रदेश और उन की फसलें। बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, केरल, मैसूर आदि में धान, नारियल, पटसन आदि।

२ मध्य भारत, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि में गेहूँ, बाजरा, जौ, चना, कपास आदि।

★

३ पर्वतीय अचल काश्मीर से दार्जलिंग, असम आदि में चाय और फल आदि।

इस प्रसग से समझाया कि भूमि की किस्म और जलवायु पर फसल की पैदावार निर्भर करती है। कपास को काली और चिकनी मिट्टी चाहिए और पानी की बहुतायत चाहिए। मध्य प्रदेश, गुजरात, बबई ये तीन मुख्य प्रदेश हैं, इसके अलावा उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान में भी जहा मिट्टी और पानी की अनुकूलता है कपास होती है। यहा पर जमीन काली और मुलायम नहीं है तथा पानी का अभाव रहता है। इसलिए कपास नहीं होती है। यहा से चदलाई जाते समय ध्यान देने लायक जगहें —

बाध और रेल्वे लाइन।

चदलाई में कई ऐसी फसलें हैं जा शिवदासपुरा में नहीं होतीं।

भाषा

दैनिक कार्यक्रम की डायरी लिखी गयी।

सामान्यज्ञान

चदलाई की सीमा से दिशाओं का ज्ञान कराया गया।

लोकभारती
उ०
|
खेत प०——चंदलाई ग्राम—पू० रामसागरबांध
|
द०
उदयपुरिया

मोटर, रेलगाड़ी, साइकल, गाड़ी आदि यातायात के साधनों का ज्ञान कराया गया।

सत्याग्रह, श्रमदान, जागीरदार, पर्वत, हस्ताक्षर, सर्वेक्षण, मदिर, बाध, पटवारी, समुद्र, आचल आदि शब्दों का ज्ञान कराया गया।

★

[पृष्ठ १५४ का शेषांश]

को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। अपने आश्रम जीवन में और प्रशिक्षण पद्धतियों मे कट्टर विश्वासों पर बल देने लगे, इसीलिए परिवर्तन का वाहन बनने के लिए जो अत्यावश्यक गुण हैं—वृत्ति की उदारता, मनकी स्वतत्रता, आदि, इन का विकास हमारे आश्रमों से निकले हुए लोगों में ठीक तरह नहीं हुआ। बुनियादी शालाओं का जो थोड़ा बहुत अनुभव मुझे है उसमें खास प्राइवेट स्कूलों की पक्की छाप मेरे मन पर यह पड़ी है कि वे विद्यार्थियों में थोपे हुए विश्वासों से मुक्त और स्वाधीन चरित्र का विकास नहीं के बराबर कर पाये हैं। वहा यद्यपि सिद्धातत विद्यार्थियों का स्व प्रबध, सामूहिक जीवन, आत्म निवेदन क्षमता आदि बातें उन के अभ्यासक्रम मे जरूर हैं पर प्रत्यक्ष व्यवहार में आश्रमीय, अधिकार-प्रधान परम्परा बहुत प्रबल है और सभी चीजों पर उसका प्रभुत्व गहरा रग जमा रहा है।

विनोबाजी ने काचीपुरम् सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर जब ग्राम-सेवकत्व पर जोर दिया तब एक नया अभियान शुरू हुआ। पवनार में ब्रह्मविद्यामदिर स्थापित करते हुए उन्होंने वहा के लोगों से कहा कि प्रत्येक मामले में सामूहिक और सर्व सम्मत निर्णयों पर ही चलें, किसी दूसरे की सलाह पर निर्भर न करें चाहे वह बुजुर्ग साधक ही क्यों न हो। मुझे मालूम नहीं कि वर्तमान मनोवृत्तियों और आदतों को बदलने और दूर करने की कोई सुनिश्चित प्रक्रिया या पद्धति वहा अपनायी जा रही है या नहीं। लेकिन अकोला में जो युवक नेता प्रशिक्षणकेंद्र है उसके उत्साह जनक अनुभवों के बारे में मैंने सुना है कि उनका दावा है कि अमुक प्रक्रिया के द्वारा उन्होंने सफलता पायी है। कम से कम इतना तो है ही कि परिस्थिति का उनका अध्ययन हमारे अनुभवों से बहुत कुछ मेल खाता है और उन्होंने जिस पद्धति का अनुसरण किया है उसका मुख्यत मनोवैज्ञानिक आधार है। यही समय है कि हम इन सब समस्याओं पर ध्यान दें, अकोला के प्रयोगों का लाभ उठायें और हमारे आश्रमों, प्रशिक्षण केन्द्रों और बुनियादी शिक्षा-सस्थाओं को नव-मानव निर्माण करनेवाले सही केन्द्र बनायें।

प्रबंध समिति के प्रस्ताव

अखिल भारत सर्व सेवा संघ की प्रबंध समिति की बैठक ता० ९ से १३ नवम्बर १९६२ तक श्री विनोबाजी के सान्निध्य में हुई थी। बैठक में स्वीकृत तथा सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर संघ-अधिवेशन में संशोधित प्रस्ताव नीचे दिये जा रहे हैं।

(१) चीन-भारत संघर्ष संबंधी निवेदन

१ चीन भारत संघर्ष ने संसार के सामने एक गंभीर समस्या पैदा कर दी है। विश्व शांति और जय जगत की भावना में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए तो यह परिस्थिति कसौटी की ही है। हम मानते हैं कि यह संघर्ष भारत पर चीन द्वारा लादा गया है, क्योंकि भारत हमेशा शांतिमय उपायों से अपने सीमा विवादों को हल करने के लिए प्रयत्न करता रहा है। जब एक पक्ष शांतिमय और वैध उपायों से समस्या का हल करने के लिए तैयार हो तब दूसरी ओर से शस्त्र प्रयोग द्वारा विवाद को हल करने का प्रयत्न करना या उस पक्ष पर अपना निर्णय लादने की चेष्टा करना आक्रमण ही है। इसलिए हमारी पूर्ण सहानुभूति भारत के साथ है। हम आशा करते हैं कि आज की संकट कालीन परिस्थिति में भी भारत अपना निर्वैर वृत्ति कायम रखेगा, क्योंकि वैर से वैर कभी शमन नहीं होता।

२ निर्वैर वृत्ति का लक्षण यह है कि बातचीत, पंच-फैसले (आर्बीट्रेशन) आदि के लिए द्वार सदा खुले रहें, दोनों देशों की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखते हुए निर्णय कराने की तैयारी रहे संघर्ष की परिस्थिति होते हुए भी दोनों देशों की जनता के बीच द्वेष न रहे तथा देश में युद्ध-ज्वर पैदा न हो। भारत में रहने वाले चीनी तथा चीन में रहने वाले भारतीयों के प्रति सहृदयता पूर्ण बरताव हो।

३ इस प्रसंग की गंभीरता और अपनी शक्ति की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए हम अहिंसा और शांति में अपनी निष्ठा फिर से दुहराना चाहते हैं। शस्त्रों से किसी का भला नहीं हो सकता तथा न ही युद्ध से, खास करके इस आणविक युग में, कोई मसला हल हो सकता है। इसलिए अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति या शांति-सैनिक प्रत्यक्ष युद्ध में शरीक नहीं होगा। उसका यह परम कर्तव्य होगा कि वह अविरत ऐसा प्रयत्न करता रहे जिससे युद्ध का शीघ्रातिशीघ्र अंत हो। युद्ध की अविलम्ब समाप्ति न केवल भारत बल्कि चीन यहाँ तक कि संपूर्ण मानव जाति के हित के लिए भी नितांत आवश्यक है। इस दिशा में हमारे प्रयत्न इसी व्यापक भूमिका से होंगे।

४ इसीलिए हमारा चीन से भी साग्रह अनुरोध है कि वह युद्ध की तुरन्त समाप्ति के लिए सारे संभाव्य शांतिमय उपायों का शोध तथा अवलंबन करे। हमें विश्वास है कि चीन के सारे शांति निष्ठ व्यक्ति भी युद्ध को अनर्थकारक मानकर इन प्रयत्नों में अग्रसर होंगे।

५ इस संदर्भ में यह स्वीकार करना होगा कि इस समस्या का समाधान करने के लिए देश में आज आवश्यक अहिंसक शक्ति विकसित नहीं हुई है। लेकिन इसमें निराशा का कोई कारण नहीं है। यह संभव है कि इस विपत्ति के प्रसंग में से ही भारत की जनता में अहिंसा की अमोघ शक्ति प्रकट हो। देश की रक्षा के लिए आज जनता में जो त्याग तथा बलिदान की अपूर्व भावना जाग उठी है, उसकी हम सराहना करते हैं हमें श्रद्धा है कि आगे चलकर इस भावना का विकास वीरों का अहिंसा में हो सकता है। अहिंसा में विश्वास करनेवाला कोई भी व्यक्ति ऐसे संकट की वेला में निष्क्रिय नहीं रहेगा,

बल्कि देश की अहिंसक सामर्थ्य और अहिंसक प्रतिकार की क्षमता बढ़ाने में अपनी पूरी शक्ति लगायेगा। अहिंसक प्रतिकार किसी पक्ष-विशेष की विजय के लिए नहीं बल्कि सत्य और बन्धुत्व की स्थापना के लिए ही हो सकता है। इसलिए अहिंसक प्रतिकार हमेशा संघर्ष की भूमिका से ऊपर उठ कर ही होता है।

६. अहिंसक प्रतिकार का विचार आते ही युद्ध क्षेत्र पर जाकर आक्रमण का मुकाबला करने की कल्पना आती है। यह हर्ष और अभिनंदन का विषय है कि देश में आज कितने ही शांति-सैनिकों ने इस प्रकार के कार्यक्रम के लिए अपने प्राण तक अर्पण करने की उत्कटता प्रकट की है। किन्तु आज के संयोगों में इस कार्यक्रम पर गंभीर विचारणा की आवश्यकता है।

७. भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों की जनता में अहिंसक प्रतिकार की सामर्थ्य पैदा करना हमारा एक महत्व का काम होगा। इन क्षेत्रों में, जहां अनुकूलता हो, शांति-सैनिक गांव-गांव के लोगों को ग्राम-स्वावलंबन तथा आक्रमणकारी से असहयोग के लिए प्रेरित करेगा। आवश्यकता पड़ने पर इस प्रयत्न में शांति-सैनिक अपने प्राण अर्पण करने की तैयारी रखेगा और लोगों को भी वैसा करने के लिए प्रोत्साहित करेगा।

८. लेकिन इतना ही महत्वपूर्ण और इससे कहीं व्यापक कार्यक्रम आर्थिक और सामाजिक क्रांति द्वारा देश की शक्ति को बढ़ाना है। राष्ट्र की एकता और जनता का नीति-धैर्य (मोरेल) उसका सबसे बड़ा संरक्षण है। इसके लिए राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक आधार और व्यवहार में न्याय और समत्व के नये मूल्यों की स्थापना करके उसे मजबूत बनाना होगा। सद्भाग्य से इस दिशा में अहिंसा कुछ प्रगति कर चुकी है। विनोबा के ग्रामदान, ग्राम-स्वराज्य आंदोलन ने देश के सामने एक ऐसा कार्यक्रम उपस्थित कर दिया है जिसमें मानवीय मूल्य, वैज्ञानिकता तथा संरक्षण की त्रिविध शक्ति निहित है। आज की परिस्थिति में गांव-गांव में पंचायतों द्वारा अपने संरक्षण के कार्यक्रम के तौर पर यह दृढ़ संकल्प होना चाहिए कि हमारे गांव में कोई बेरोजगार और निराश्रित नहीं रहेगा, भूमि हीनों को यथा-संभव भूदान देकर उनको ग्राम-परिवार में शामिल किया जायगा, उत्पादन के हर साधन का समुचित उपयोग होगा, किसी प्रकार की सामाजिक और आर्थिक जबरदस्ती नहीं होगी, गांव के झगड़े गांव में निपटाये जायेंगे, धार्मिक तथा अन्य लघु-मतियों को सुरक्षित रखा जायगा और गांव का रक्षण गांव के लोग स्वयं करेंगे। इसी प्रकार नगरों में भी आर्थिक और सामाजिक समता की दृष्टि से वहां की परिस्थिति के अनुसार कार्यक्रम उठाया जाना चाहिए।

९. कहना नहीं होगा कि, इस महान कार्य की पूर्ति के लिए देश की समग्र अहिंसक शक्ति एकत्रित और संयोजित की जानी चाहिए। संकट और परीक्षा के इस अवसर पर विश्व-मैत्री की भावना को अक्षुण्ण रखते हुए राष्ट्रीय एकात्मता के निर्माण तथा अहिंसक प्रतिकार की क्षमता बढ़ाने के द्विविध कार्य में सहयोग देने के लिए अहिंसा में विश्वास रखनेवाली देश की समस्त संस्थाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों को आवाहन है।

१०. यह सद्भाग्य का विषय है कि आज संसार में ऐसे अनेक मनीषी, संस्थाएं और समुदाय हैं जिन्होंने प्रतिकूल परिस्थियों में भी शांति का प्रतिपादन बड़ी वीरता के साथ अपनी वाणी और कृति से किया है। ऐसे सारे व्यक्ति, संस्था, समुदाय तथा अखिल मानव-समाज की अन्तरात्मा का इस कसौटी की घड़ी में हम आवाहन करते हैं और विश्वास करते हैं कि वे इस संघर्ष को त्वरित समाप्त करने में अपनी संपूर्ण शक्ति अविलम्ब लगायेंगे।

(२) आज के संदर्भ में खादी-कार्य

खादी की बिक्री पर आज सरकार की ओर से प्रति रुपया २० नये पैसे की रिबेट ग्राहकों को दी जाती है। खादी-कार्य का मुख्य उद्देश्य स्वतंत्र लोकशक्ति के निर्माण का होते हुए भी स्वराज्य के बाद काम को व्यापक पैमाने पर फैला सकने की

दृष्टि से हमने इस सहायता को स्वीकार किया था। गाव-गाव की जनता स्वाश्रयी बने और अधिक से अधिक लोगों को रोजगार मिले इस दृष्टि से इस काम में मदद करना सरकार का भी कर्तव्य है ही। पर अन्ततोगत्वा खादी इस प्रकार की मदद के बिना टिके तभी वह स्थायी और व्यापक हो सकती है।

इस बात को ध्यान मे रखते हुए पिछले तीन चार वर्षों में कई बार रिबेट के प्रश्न पर प्रबध समिति, सर्व सेवा सघ की खादी ग्रामोद्योग समिति, खादी कमीशन तथा खादी-सस्थाओं के कार्यकर्ताओं में चर्चा होती रही है। आज देश के सामने एक सकट उपस्थित हुआ है। ऐसे समय में, रिबेट लेने के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा में पड़े बिना, हम रिबेट देने की जिम्मेदारी से सरकार को मुक्त कर सकें, यह सब दृष्टियों से वाछनीय है। अत सर्व सेवा सघ की प्रबध समिति खादी सस्थाओं से अपील करती है कि खादी कार्य को पहले जैसे उत्साह और तत्परता के साथ चलाते हुए व रिबेट छोड देने का निर्णय अपनी ओर से जाहिर करें।

खादी सस्थाओं ने चालीसगाव के अपने निर्णय द्वारा खादी में नये मोड़ के कार्यक्रम को स्वीकार किया है। इस पद्धति से खादी कार्य चलाने पर रिबेट छोड देने के बावजूद खादी के उत्पादन में या बेकारी निवारण के काम में खास कमी आने का कारण नहीं। नये मोड़ की पद्धति से उत्पादन का काम ग्राम इकाइयों के सहयोग से चलेगा। ग्राम सकल्प के आधार पर और ग्राम स्वावलम्बन के उद्देश्य से अगर काम चलेगा तो उत्पादन मुख्यत स्थानीय खपत के लिए होगा और उसके लिए बाजार की जरूरत कम रहेगी, काम को इस दिशा में मोड़ने के लिए खादी कमीशन की ओर से भिन्न भिन्न प्रकार की मदद उपलब्ध है। इसके अलावा सर्व सेवा सघ की ओर से यह सुझाव भी पेश किया गया है, जो खादी कमीशन और सरकार के विचाराधीन है, कि जो क्षेत्र स्वावलबनके लिए खादी का उत्पादन करें, वहा प्रति व्यक्ति वार्षिक १२ वर्ग गज के हिसाब से कपडे की आवश्यकता पूर्ति के लिए मुफ्त बुनाई का इन्तजाम किया जाय। प्रबध-समिति को आशा है कि इस प्रकार की सहायता की व्यवस्था जल्दी से जल्दी की जायेगी जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों को अधिकाधिक काम मिल सके और स्थानीय तथा क्षेत्रीय आवश्यकता पूर्ति के लिए कपडे के उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। इस दिशा में कदम उठाने से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था सुदृढ बनेगी और खादी सस्थाए भी अपनी सेवाए पूर्ववत् जारी रख सकेंगी।

(३) भारतीय शांति-सैनिक का प्रतिज्ञा-पत्र

१८ साल से बड़ी उम्र का कोई भी भारतीय नागरिक जो नीचे लिखी घोषणा व प्रतिज्ञा करे वह शांति-सैनिक बन सकेगा।

मैं विश्वास रखता हू कि—

१—सत्य और अहिंसा पर आधारित नया समाज बनना चाहिए।

२—समाज में होनेवाले सारे सघर्ष, अहिंसक साधनों से हल हो सकते हैं और होने चाहिए। खासकर इस अणु युग में।

३—मानव-मात्र में मूलभूत एकता है।

४—युद्ध मानवता के विकास मे बाधक है और अहिंसक जीवन-पद्धति का विपर्यय है,

इसलिए मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि—

(१)—शांति के लिए काम करूगा और आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण समर्पण करने को तैयार रहूँगा।

(२)—जाति, सप्रदाय, रग पक्ष आदि के भेदों से ऊपर उठने की पूरी-पूरी कोशिश करूगा क्योंकि यह भेद मनुष्य की एकता को मानने से इनकार करते हैं।

(३)—किसी युद्ध में शरीक नहीं होऊगा।

(४)—सुरक्षा के अहिंसक साधनों तथा वातावरण को बनाने के लिए सहायता करूगा।

(५)—नियमित रूप से अपना कुछ समय अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में लगाऊगा।

(६)—शांति-सेना के अनुशासन को मानूगा।

नाम   हस्ताक्षर

पता   तारीख

(४) शराबबंदी

अखिल भारत सर्व सेवा संघ की प्रबंध समिति ने अपनी पटना में हुई ता० १७ से २३ जून १९६२ की बैठक में शराबबंदी पर एक प्रस्ताव स्वीकार किया था। प्रस्ताव में जाहिर किया गया था कि प्रदेश सर्वोदय संगठन सबका सहयोग लेकर जनाभिक्रम द्वारा शराबबंदी के लिए समुचित कार्यक्रम चलायें। सत्याग्रह करने की स्थिति आये तो श्री विनोबाजी तथा संघ की प्रबंध समिति की सलाह से समय समय पर आवश्यक कदम उठायें। अंत में अपेक्षा की गयी थी कि जनता और सरकार दोनों शराबबंदी की आवश्यकता, उपयोगिता और गंभीरता को महसूस करेंगे तथा सरकार समाज हित के इस कार्य के सिलसिले में जरूरी कदम शीघ्र उठायेंगी।

यह प्रसन्नता की बात है कि उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान, आंध्र आदि कई क्षेत्रों में शराबबंदी के लिए विशेष प्रयत्न आरंभ हुए और उनमें जनता का उत्साहजनक सक्रिय सहयोग भी प्राप्त हुआ। यह खेदजनक ही है कि कहीं भी प्रदेश-सरकारों द्वारा इस सम्बन्ध में कोई कदम नहीं उठाया गया।

देश में आज एक संकट-कालीन स्थिति बनी है। इसलिए उत्तरप्रदेश के आगरा शहर में चल रहे शराब बंदी सत्याग्रह को स्थगित किये जाने का जो निर्णय लिया गया वह उचित है। हम महसूस करते हैं कि आज की संकट-कालीन परिस्थिति में देश के नैतिक बल को ऊंचा उठाने के लिए शराबबंदी की आवश्यकता कहीं अधिक है। इस दृष्टि से आज भी सरकार को इस दिशा में कदम उठाने का विचार करना चाहिए।

साथ ही गांव-गांव और नगरों में भी शराबबंदी सम्बन्धी लोक शिक्षण, शराब का धंधा करनेवालों और शराब पीनेवालों से निकट सम्पर्क तथा उससे विरत होने के लिए उनके हस्ताक्षर कराने, पंचायतों द्वारा अपने-अपने क्षेत्र से शराब की बिक्री बंद करने की मांग प्रस्तुत करने, आदि का कार्यक्रम जनता के सहयोग से सतत चलना चाहिए ताकि देश का नैतिक बल बढ़े और आज की विशेष परिस्थिति में श्रम-शक्ति व अन्य साधनादि के पूरे-पूरे उपयोग का वातावरण बनने में मदद मिले। गांव-गांव में जहां भी पंचायत वगैरह की शराब की बिक्री बंद करने की सर्व सम्मत मांग हो उसकी पूर्ति की ओर सरकार को तुरन्त ध्यान देना चाहिए। स्पष्ट ही सरकार को ऐसी परिस्थिति नहीं पैदा होने देना चाहिए जिससे जनता को अपनी मांग की पूर्ति के लिए कुछ सीधी कार्रवाई का कदम उठाना पड़े।

(५) व्यसन व विलास की सामग्री पर रोकथाम

यह देखा गया कि शराब के अलावा अन्य कई प्रकार की व्यसन व विलास की सामग्रियां विदेशों से मंगाई जाती हैं। इनकी कीमत करोड़ों में पहुंचती है। इनमें बहुत-सी चीजें देश में भी बड़े परिमाण में तैयार की जाती हैं। यह हो सकता है कि इनमें से कुछ चीजें व्यक्तिगत नीति की दृष्टि से नुकसानदेह न हों। भारत जैसा एक दरिद्र देश जब अपने भविष्य निर्माण में लगा हो और विशेषतः जब वह एक संकट कालीन स्थिति में से गुजर रहा हो, उस समय इस प्रकार की सामग्री के लिए देश के बाहर करोड़ों रुपये भेजा जाना और देश में भी उनके उत्पादन में पूंजी, श्रम, वगैरह का अपव्यय होना एक अपराध ही माना जायगा। इसके अलावा विलास तथा व्यसन की नाना प्रकार की सामग्रियों का उपयोग गरीब तथा सम्पन्न के भेद को अधिक उत्कट रूप से सामने लाता है। इसलिए आज इनसे मुक्त होने के लिए जनता को प्रेरित करने की तथा इनके आयात तथा उत्पादन के खिलाफ जनमत जाग्रत करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जीवन में सादगी, कष्टसहिष्णुता तथा श्रम निष्ठा के आधार पर ही कोई देश उन्नति कर सकता है। संघ आशा करता है कि भारत की जनता और यहां की सरकार इस विषय के प्रति इस समय जागरूक होगी और इन वस्तुओं के उपयोग, उत्पादन, आयात वगैरह को नियंत्रित व खत्म करने की ओर ध्यान देगी।

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
दिसंबर १९६२ नयी तालीम रजि० सं० ए० १७२३

हमारा हिन्दुस्तान कहाँ है ?

मैं भुवाली सैनिटोरियम देखकर कुली की तलाश में नीचे उतरा। फाटक पर एक बैठा हुआ था। मैंने उसे इशारे से बुलाया और पूछा—'बस-स्टैण्ड चलोगे ?

'क्यों नहीं चलूंगा, और करता ही क्या हूँ'—ऊपर से नीचे तक मुझे देखकर उसने कहा। उसने बीड़ी बुझाई, बिस्तर सिरपर रखा और चल पड़ा।

उस निर्जन सड़क पर हम दो के सिवाय तीसरा कोई नहीं था। उसने कहा, "बाबूजी, नैनीताल में पढ़ता था तो मैं भी जलूस में शरीक होता था। मैं पंतजी की मीटिंग में भी गया हूँ। कितने जोश के साथ हम लोग नारे लगाते थे, 'हिन्दुस्तान हमारा है'।"

'तो तुमने स्वराज्य की लड़ाई में भी काम किया है ?'

'एक बार, बाबूजी, तीन महीने के लिए जेल भी गया हूँ, लेकिन आज . ...।

'क्या, घर पर कुछ खेती बारी भी है ?'

'नहीं।'

'क्यों ?'

'कई बार दरख्वास्त दी। मेरे घर के पास ही जमीन का एक टुकड़ा है, चाहता था, मुझे मिल जाय, लेकिन हाकिमों के यहाँ सुनवाई नहीं हुई।'

'होगी, अब तो हिन्दुस्तान अपना है।'

'कब होगी ? अब तो धीरे धीरे हाथ-पैर भी थक चले। मैं आज भी कभी-कभी सोचता हूँ, हमारा हिन्दुस्तान कहा है ?'

बस स्टैण्ड आ गया। मैंने उसके हाथ में चवन्नी रखी। देखा, उसकी आँखें नम थीं।

कृष्णदत्त भट्ट सर्व सेवा संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित।
केवल कवर-मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ ३१००, इस मास छपी प्रतियाँ ३०५०

सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ६

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

जनवरी १९६३

नयी तालीम

सलाहकार मण्डल

सूचनाएं

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरंभ होता है।
- किसी भी माह से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चंदा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।
- नयी तालीम का पता—

नयी तालीम
सर्व-सेवा-संघ राजघाट
वाराणसी-१

अनुक्रम

नयी तालीम

वर्ष–११]   [अंक ६

लोकतंत्र की शक्ति का स्रोत कहाँ है ?

लोकतंत्र की शक्ति का स्रोत कहाँ है ? इस प्रश्न का महत्त्व सदा रहा लेकिन चीन के आक्रमण ने हमारे लोकतंत्र के अस्तित्व और भविष्य लिए जो चिंता पैदा कर दी है उसके संदर्भ में इस प्रश्न का उत्तर तत्काल ने की आवश्यकता है।

स्वराज्य के बाद हमारे देश में जो शासन-प्रणाली शुरू हुई उसकी एक त बड़ी अच्छाई यह है कि हर बालिग को शासक चुनने के मामले में मनी पसंद प्रकट करने का अवसर है, और एक शासक के निकम्मा साबित जाने पर उसे बदलने की पूरी छूट है। लोकतंत्र में पार्टी-विशेष की रकार को बदलने की बात कहना "राजद्रोह" नहीं है। साथ ही एक री बड़ी अच्छाई यह है कि लोकतंत्र की भूमिका में सामाजिक क्रान्ति लिए न षड्यंत्र करने की आवश्यकता है, न संघर्ष की। जनता के 'मत' क्रान्ति का स्रोत है। हमारा पंद्रह साल पुराना लोकतंत्र चाहे जितना धूरा हो लेकिन उसने परिवर्तन के जो अवसर खुले रखे हैं वे विकास । दृष्टि से अनमोल हैं। इसलिए आज हमारे सामने दुहरी समस्या है– क ओर चीन से अपनी भूमि की रक्षा, दूसरी ओर फासिस्टवादी शक्तियों इस 'अवसर' की रक्षा।

तर्क के लिए अगर यह मान भी लें कि भूमि की रक्षा सेना से ही हो कती है, यद्यपि आज के व्यापक युद्ध में नागरिक शक्ति के बिना शायद सा होना भी कठिन है, लेकिन लोकतांत्रिक और समान 'अवसर' की क्षा कैसे होगी ?

पिछले पंद्रह वर्षों में हमारे यहाँ लोकतंत्र का जो स्वरूप प्रकट हुआ है उसमें हमारे नेताओं ने ऐसे यह मान लिया है कि पाँच साल में एक बार जनता वोट दे दे और सरकार की ओर से लोक-कल्याण के कुछ काम होते रहें तो लोकतंत्र शक्तिशाली हो जायगा। उन्होंने यह नहीं समझा कि उनकी नीति-रीति के कारण लोकतंत्र तो बहुत फैला लेकिन 'लोक' निरंतर दुर्बल होता गया, यहाँ तक कि स्वराज्य की लड़ाई के जमाने में जनता में अनीति और अन्याय के प्रति जो "रेजिस्टेंस" था वह भी समाप्त हो गया और जनता दिनोंदिन असहाय और असमर्थ ही होती गयी। बावजूद इसके कि तीन देश-व्यापी पंचवर्षीय योजनाएं चलीं जनता अपने को अलग (लेफ्ट आउट) ही पाती है। लोकतंत्र की श्रेष्ठता इसमें है कि जनता अपने लिए कितना करती है और सरकार कहाँ तक जनता की पूरक शक्ति बन सकती, न कि इसमें कि सरकार जनता के लिए कितना करती है और जनता को कहाँ तक अपनी मर्जी के अनुसार चला लेती है। अगर हम केवल तंत्र की दृष्टि से देखें तो फासिस्टवाद लोकतंत्र से शायद अधिक सक्षम साबित हो। लोकतंत्र का स्रोत जनता की सहकार-शक्ति यानी लोकशक्ति में है, सरकार-शक्ति में नहीं।

बापू ने अपने जीते-जी लोकशक्ति की पौद भारत की भूमि में लगा दी थी लेकिन उसके बाद के लोकतंत्र ने लोकशक्ति को उखाड़ फेंका। नेता और शासक ने मिलकर जनता को उभड़ने नहीं दिया। जिस देश को गांधी ने विरासत में नेहरू और विनोबा जैसे मानवतावादी जननायक दिये वहाँ लोकशक्ति का इतना पूर्ण अभाव दिखायी दे, इसे इतिहास का एक कौतुक ही मानना चाहिए। अगर देश में आज थोड़ी भी नागरिक-शक्ति होती तो हमारी भूमि इतनी अरक्षित न होती, लोकतंत्र पर इतने आघात न होते। जो कुछ भी हो, चीनी आक्रमण ने देश के जीवन में जो मंथन पैदा किया है उससे स्पष्ट है कि हमारा आज का लोकतंत्र सैनिक में अपनी शक्ति का स्रोत देखता है, नागरिक में नहीं। इसलिए वह कहाँ तक फासिस्टवाद के प्रहारों को बर्दाश्त कर सकेगा, कहना कठिन है। अगर उसे सचमुच अपनी रक्षा करनी है तो अविलंब अपना रंग-ढंग बदलने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। 'तंत्र' को छोड़कर जितना ही वह 'लोक' के पास जायगा उतनी ही अधिक उसकी शक्ति बढ़ेगी। 'लोक' गाँवों, टोलों और महल्लों में रहता है, राजधानी के महलों और व्यापार-केन्द्रों की कोठियों में नहीं। लोकतंत्र के विकास में शिक्षा, उत्पादन और व्यवस्था को लोकतांत्रिक बनाना पहला अनिवार्य कदम है। शिक्षा सरकार से मुक्त हो, उत्पादन पर से निजी स्वामित्व हटे, और व्यवस्था सहकारी हो—ये तीन काम लोकतंत्र की रक्षा के लिए तत्काल आवश्यक हैं। इनसे कम में जनता उठ खड़ी होने के लिए प्रेरित नहीं होगी। भाषणों, गीतों और नारों की दुनिया टिकाऊ नहीं होती। विनोबा का ग्रामस्वराज्य आन्दोलन लोकतंत्र को स्थायी और सबल बनाने का आन्दोलन है।

क्या हमारे नायकों को यह बात सूझेगी या देश इसी तरह नियति के ही भरोसे रहेगा?

—राममूर्ति

विज्ञान और लोकतंत्र की चुनौती

श्री धीरेन्द्र मजूमदार

विज्ञान और लोकतन्त्र आज इस युग की सबसे बड़ी देन हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता का विकास एक तरह से पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। लेकिन इन दो चीजों में क्या है इसे सोचने की जरूरत है। आज विज्ञान और लोकतन्त्र, दोनों मानव-समाज के लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गये हैं और मानव समाज विज्ञान और लोकतन्त्र के लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गया है। इस तरह से दोनों का दोनों पर खतरा है। मानव का खतरा विज्ञान और लोकतन्त्र पर है और विज्ञान और लोकतन्त्र का खतरा मानव पर है। आज विज्ञान की क्या चुनौती है? विज्ञान की चुनौती है—मनुष्य तुम अपना स्वभाव बदलो, तुम अपने लिए रास्ता चुनो। मनुष्य के स्वभाव में जो बातें हैं उन्हें छोड़ना पड़ेगा, स्वभाव को छोड़ना पड़ेगा। सत्तावाद और प्रतिस्पर्द्धावाद, इन दोनों का दोनों पर खतरा है। प्रतिस्पर्द्धावाद ने विज्ञान के विकास को एक दूसरे को पराजित करने के काम में लगाया है। इसके लिए नये-नये औजार निकाले हैं। अणुअस्त्र आदि क्या-क्या निकले हैं।

मैं कहा करता हूँ कि पुराण में देव, दानव और मानव कहा गया है लेकिन ये तीन चीजें नहीं हैं। देव और दानव का मिश्रण मानव है, वह देवासुर है। हरेक मनुष्य के दिल में देव भी है, असुर भी है। इसके रहते हुए मनुष्य सोचने लगा कि मनुष्य का विकास कैसे हो, तो उसने शिक्षा निकाली। शिक्षा के जरिए देव को आगे बढ़ाया और राजतन्त्र को निकालकर असुर को दबाया, लेकिन राजतन्त्र जब से आया तब से सत्तावाद घुसा, आकांक्षाएँ घुसीं, प्रतिस्पर्द्धावाद घुसा और इस तरह से शस्त्रों का आधुनिक रूप हुआ। जब शस्त्रों का आधुनिक रूप हुआ तब सवाल आया कि यह प्रतिस्पर्द्धा अगर मनुष्य के स्वभाव में रह जाय तो मनुष्य अपने स्वभाव के कारण अपना नाश करेगा और ये बम वगैरह सब एक दूसरे पर गिरेंगे। तो लोगों ने सोचा कि इन सबको खत्म करना चाहिए, तब निःशस्त्रीकरण की बात कही। हम निःशस्त्रीकरण की बात रोज सुनते हैं, लेकिन यह हो कैसे?

ये जितने फिलासफर लोग कहते हैं कि अणुअस्त्र बन्द करो, गलत कहते हैं। मान लीजिए यह सब बन्द हो जायगा तो यह राजदण्ड, जो असुर दमन के लिए बना हुआ है—मनुष्य जब से आया है तब से यह राजदण्ड चल रहा है—क्या करेगा? जब असुर का प्रकोप होगा तब यह पुलिस क्या माला लेकर आयेगी आपका नियन्त्रण करने?

अगर प्रकृति का अन्त है विकृति तो वह मिट नहीं सकती। उसका प्रकोप जरूर होगा। आज दण्ड शक्ति की जो 'शक्ति' शब्द है उसे खत्म करना चाहते हैं तो फिर कौन-सी शक्ति असुर के प्रकोप को दबाने का काम करेगी? यह एक सवाल आज विज्ञान की चुनौती है। लोकतन्त्र की चुनौती मनुष्य पर है कि मनुष्य का स्वभाव नहीं बदलेगा तो मनुष्य लोकतन्त्र को खायेगा। पहले जमाने में यह था कि राजा का बेटा राजा हुआ और बड़ा ही बेटा राजा हुआ। लड़ाई होती थी तो भाई भाई में बड़े भाई का गला काट दिया तो छोटा भाई राजा हो गया। लेकिन यह हरिहर मांझी कभी नहीं सोचता था कि हम राजा होंगे। लोकतन्त्र में हरिहर मांझी भी स्वप्न देखता है कि हम राजा होंगे। तो जहाँ हरेक को सत्ता मिल सकती है वहाँ प्रतिस्पर्द्धा आज सामाजिक

अङ्ग हो गयी। और किसी का समाजीकरण हो या न हो सत्ता की प्रतिस्पर्द्धा का समाजीकरण हो गया। *सामन्तवाद से समाज पर और कोई चीज नहीं पहुँची* परन्तु प्रतिस्पर्द्धा सामन्तवाद से समाजवाद पर पहुँच गयी। ऐसी हालत में चाहे हमारे कुछ नेता हजार सेवा भारती सिर्फ इसीलिए खोले कि उसमें लीडर पैदा हों तब भी सत्तावाद व समाजीकरण होने के बाद राजनीतिक दलों की प्रतिस्पर्द्धा बन्द नहीं कर सकेंगे। *क्योंकि सत्ता न छोड़ने की वृत्ति मनुष्य के* स्वभाव का अङ्ग है। मनुष्य क्या देवता का भी यही स्वभाव है। परलोक में तपस्या का जो रेकार्ड बीट करेगा वह इन्द्र होगा। और जैसे ही इन्द्र हुआ कि दूसर की तपस्या को भङ्ग करना शुरू कर देगा। *यह मनुष्य-स्वभाव लोकतन्त्र पर खतरा है।*

तो ये दो खतरे हैं। विज्ञान को विज्ञान से खतरा यह है *कि मनुष्य-स्वभाव के कारण अगर प्रलय हो जाय तो बाकी चीजें कहीं भी जाय पहले विज्ञान* को ही खत्म होना पड़ेगा। मनुष्य-स्वभाव ने सत्ताको सार्वभौम बना दिया है और सेवक को सेवक, 'दास' बना रखा है। इस तरह *लोकतन्त्र पर मनुष्य-स्वभाव* का खतरा है। *अब दोनों को बचाने के लिए एक* ही उपाय रह जाता है। दण्ड के बदले कोई दूसरी सांस्कृतिक शक्ति मनुष्य के भीतर के 'असुर' का नियन्त्रण करे। ऐसा सांस्कृतिक विकास हो ताकि वह क्रोध आदि पर संयम कर सके। समाज के *अन्दर सामाजिक शक्ति इतनी संगठित हो कि समाज* के अन्दर जो स्फुट विकृति होगी, जो तात्कालिक उभार की विकृति होगी, उसको वह दबा सके। अगर ऐसी परिस्थिति आप नहीं पैदा करेंगे तो आज जो शस्त्रास्त्र हैं वे हमारे *लिए घातक हैं। मैं आपसे* *निश्चित कहता हूँ* कि यह शस्त्र कहीं न कहीं गिरेंगे, या तो मानव के सिर पर गिरेंगे या ख्रुश्चेव के कहने के मुताबिक समुद्र में। बस मानव के सिर पर गिरेगा तो सर्वनाश होगा और समुद्र में गिरेगा तो 'यदुवंश निर्वंश' होगा।

ऐसी हालत में शिक्षा को वह स्थान लेना पड़ेगा जो स्थान आज राजदण्ड के हाथ में है। राजदण्ड का समाज में जो प्रचलन है वही शिक्षा का प्रचलन होगा।

एक वर्ग के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने से *काम नहीं चलेगा। समस्त मानव के लिए शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी, उसकी टेक्नीक निकालना* होगी। इसीलिए प्रायः मैं कहता हूँ, अभी मैंने काफी विस्तार से लिखा भी है कि अबतक समाज-परिवर्तन, समाज के अधिष्ठान और समाज की धारण शक्ति का जो डायनेमिक्स—चालक शक्ति—है वह आगे राजनैतिक *नहीं होगी, आर्थिक नहीं होगी, वह शैक्षणिक-शक्ति* होगी। भविष्य में राजनीति और अर्थनीति का स्थान नहीं है। बल्कि समाज की लीडरशिप और समाज का डायनेमिक्स शिक्षा होगी।

जब आप सबका प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो यह सम्भव नहीं है कि सबको अपने स्वाभाविक कर्म से छुट्टी दिला कर शिक्षा दें। आपको गाधी के मार्ग *पर आना पड़ेगा। आज के जमाने के विज्ञान और* लोकतन्त्र की चुनौती है कि आना पड़ेगा। यानी दण्ड शक्ति के विकल्प में सांस्कृतिक शक्ति को अगर अधिष्ठित करना है तो समग्र शिक्षण के बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है।

राजतन्त्र में सर्वोत्तम शिक्षण की व्यवस्था युवराज के *लिए किया जाता था और वह शिक्षा जन्म से ही शुरू की जाती थी। लोकतन्त्र में हरेक भंगी का बच्चा हरेक* मुसहर का बच्चा, हरेक चमार का बच्चा युवराज है सकता है तो समाज के श्रेष्ठतम शिक्षण की व्यवस्था प्रत्येक युवराज के लिए करनी ही होगी। *लोकतन्त्र की इस महान चुनौती को आज का समाज इन्कार नहीं कर* सकता। अगर ऐसा नहीं हुआ तो लोकशाही नहीं चलेगी। या तो गुंडातन्त्र होगा या धोखेबाजों का तन्त्र होगा या किसी और का होगा लोकतन्त्र नहीं होगा।

यह सेवाभारती की जो परिकल्पना है वह सारे *देश के साढ़े पाँच लाख गाँव में जब ग्रामभारती का* काम शुरू हो जायगा तब भी इस प्रकार की संस्था की आवश्यकता रहेगी। इसकी जो कल्पना है वह

[शेष पृष्ठ २१६ पर]

बुनियादी शिक्षा और ग्राम सेवा

(लेखांक-३)

श्री मनमोहन चौधरी

मैंने पहले कहा है कि बच्चों का शिक्षण और प्रौढ़ों का साधारण शिक्षण—दोनों पर अलग-अलग विचार करना सुविधाजनक रहेगा। बाद के परिच्छेदों में ऐसे कुछ विचारों की चर्चा की है जिससे यह स्पष्ट समझने में मदद होती है कि इन दोनों क्षेत्रों में, हमें किन किन परिस्थितियों का सामना करना है और आगे के काम को क्या स्वरूप देना है। मैं बुनियादी शिक्षा के पूर्व बुनियादी और उत्तर बुनियादी दोनों स्तरों के आगे के कार्य पर विचार करना चाहूँगा।

जैसा कुछ मैं देख रहा हूँ हमारे शैक्षणिक कार्यक्रम को दो स्तरों में काम करना होगा। एक स्तर में उसकी ऐसी पद्धति का विकास और प्रयोग करना होगा जो अहिंसक समाज रचना की दिशा में उपयोगी साधन सिद्ध हो सके। और दूसरे स्तर में जनता और सरकार दोनों हमारी इस पद्धति को अधिकाधिक अपना सकें ऐसा प्रयत्न करना होगा। सामाजिक क्रांति की दिशा में आज महत्त्वपूर्ण आवश्यकता इस बात की है कि समाज में समाज का काम दे सकने वाले सुसपन्न और प्रबुद्ध एक वर्ग का निर्माण हो। देश में कुछ शालाएँ ऐसी होनी चाहिए जो इसी कार्य के लिए समर्पित हों। कहना न होगा कि निश्चित ही इन संस्थाओं का संचालन सार्वजनिक आधार पर होना चाहिए और इन्हें सरकारी सहायता पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। आज की स्थिति में यह अपेक्षा मुश्किल है कि ऐसी शाला को कोई गाव या कुछ गावों का समूह पूरा आर्थिक आधार और विद्यार्थियों को प्रश्रय देगा। लोगों को ऐसा लग सकता है कि इन शालाओं का लक्ष्य उन की पहुँच के बाहर है। ऐसी शालाओं के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता राज्यस्तर या देश के स्तर तक पर भी एकत्रित करना होगा और विद्यार्थियों की भर्ती के बारे में भी ऐसा ही सोचना होगा।

विनोबाजी ने कई बार अपनी इच्छा व्यक्त की है कि एक शाला भी तो ऐसी शाला हो जो नौकरी पेशा लोगों को तैयार न करती हो। इसका आशय मैं यह समझा कि उस शाला से निकले हुए विद्यार्थी विचारों से इस हद तक अनुप्राणित होंगे कि उन्हें नौकरी की तलाश में निकलने से घृणा होगी और किसी न किसी दस्तकारी में वे इतने कुशल होंगे कि स्वयं किसी लाभदायी धंधे में लग सकें।

इस प्रकार शालाओं के सामने दो काम प्रस्तुत होते हैं एक है संतुलित और समग्र व्यक्तित्व का विकास और दूसरा उच्चस्तरीय तकनीकी ज्ञान देना। और भी कुछ मुद्दे हैं जो पिछले परिच्छेदों में उल्लिखित व्यक्तित्व विकास से संबंधित हैं, जैसे उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अंतः प्रेरणा बौद्धिक गतिशीलता, जड़वत न रहने की वृत्ति, सुदृढ़ आत्मविश्वास, भावनात्मक परिपक्वता आदि। यह बहुत आवश्यक है कि सारा वातावरण बौद्धिक दृष्टि से और स्वाभाविक रूप से स्फूर्तिप्रद हो। पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करते हुए भी मैं एक बार और दुहराना चाहता हूँ कि हमें ऐसे व्यक्तियों का निर्माण नहीं करना है जो पूर्व निर्धारित कट्टर विश्वासों और आचारों से चिपके रहें, बल्कि ऐसा मन निर्माण करना है जो इस दृष्टि से किसी प्रकार संकीर्ण न हो और संसार भर में जो असंख्य कट्टरताएँ हैं उन को ठुकरा सकें।

इन शालाओं के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी और यदि संभव हो तो अन्य विदेशी भाषाओं को निश्चित रूप से स्थान मिलना चाहिए।

शालाओं में अनिवार्य सामूहिक प्रार्थना में कितना क्या आध्यात्मिक मूल्य है इस बारे में मुझे बड़ा संशय है।

शालाओं का सांस्कृतिक वातावरण निश्चित ही अंतर्राष्ट्रीय होना चाहिए। हिंदुत्व या राष्ट्रीयता आदि संकीर्ण पृष्ठभूमि से बिल्कुल परे होना चाहिए जो सर्वोदय आंदोलन में भी विरासत के रूप में घुस गया है।

मैं उम्मीद करता हूँ कि हम आखिर अवरोधों की उस मजबूत गाँठ से बाहर निकल आये हैं जो हमने आप ही बाँध रखी थी, और आज के युग में ग्रामोद्योगों के स्वरूप और कार्य का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करने के लिए हम अब अधिक स्वतन्त्र हैं। जैसे श्री अण्णा साहब बार-बार कहते रहते हैं कि ग्रामोद्योगों की तकनीकी क्षमता हमें अत्यधिक मात्रा में बढ़ानी होगी ताकि हम आधुनिक स्तर की तुलना में खड़े हो सकें और यह करने के लिए बिजली और अन्यान्य शक्तियों का मुक्त भाव से उपयोग करना होगा। इन शालाओं को इस संबंध में प्रयोग करने होंगे और ऐसे सुधरे तरीके के ग्रामोद्योगों का प्रशिक्षण उन विद्यार्थियों को देना होगा। विद्यार्थियों में इतनी क्षमता और आत्म विश्वास पैदा करना होगा कि वे अपने पैरोंपर खड़े हो सकें और संतोषजनक कमाई कर सकें। इस बारे में मैं हिंदू धर्म की बहिष्कारों से भरी हुई उस मनोवृत्ति की ओर ध्यान खींचना चाहूंगा जो सर्वोदय में भी आ गयी है। जैसे एक बार विनोबाजी ने जिक्र किया था यदि कोई बुनियादी शिक्षा पानेवाला युवक बाहर जाकर एक होटल चलाने का विचार करे तो हम में से अधिकतर लोगों को धक्का लगेगा। यह मनोवृत्ति खतम होनी चाहिए। विद्यार्थियों में इतनी उदात्तता और क्षमता निर्माण करनी चाहिए कि जब वे आजीविका कमाने निकलें तब जो भी प्रतिष्ठित धंधा उन्हें पसंद आवे या सहज प्राप्त हो वे उसे अपना सकें।

हम अपेक्षा रख सकते हैं कि इन शालाओं से निकले हुए अधिकतर विद्यार्थी सर्वोदय आंदोलन में पूरे समय के सक्रिय कार्यकर्ता बनना चाहेंगे। यह इसलिए नहीं कि उन्हें नौकरी की आवश्यकता है और कहीं दूसरी जगह जीविका कमाने में वे असमर्थ हैं, बल्कि इसलिए कि सर्वोदय में काम करने की उनकी इच्छा होगी। यह बहुत आवश्यक है कि विद्यार्थियों में एक न एक साधन द्वारा जीविका कमाने की उनकी अपनी योग्यता के संबंध में पक्का विश्वास पैदा किया जाय।

जो विद्यार्थी पूरे समय के कार्यकर्ता के रूप में आना नहीं चाहेंगे, किसी दूसरे काम में लगेंगे, उन से भी हम इतनी आशा जरूर रख सकेंगे कि वे तब भी सर्वोदय-दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहेंगे और अन्यान्य नागरिक के रूप में वे इस आंदोलन की सहायता करेंगे तथा वे जहाँ भी रहें अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप छोड़ेंगे।

सर्वोदय आंदोलन में विभिन्न कई प्रवृत्तियाँ हैं जिन में विशिष्ट प्रतिभा की आवश्यकता है। इन बुनियादी शालाओं को इनकी पूर्ति का काम करना होगा। हमें अपने प्रकाशन विभाग के लिए पत्रकारों और साहित्यिकों, खादी ग्रामोद्योग के प्रयोग के इंजीनियरों, अर्थशास्त्रियों, शरीर शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों, कृषि विशारदों, शांतिसैनिकों आदि की बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता है जो उत्कृष्ट योग्यता रखते हों। तो जो लोग सर्वोदय-आंदोलन के पूरे समय के कार्यकर्ता बनना चाहेंगे उनको एक क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त करनी होगी। हमारे प्रकाशन विभाग, शांति सेना-मण्डल, सेवाग्राम का कृषि-उद्योग प्रधान निर्माण-कार्य आदि प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ उस-उस विषय के उच्च शिक्षण और प्रयोगों की सुविधाओं की भी व्यवस्था होनी चाहिए। जैसे, मानव विज्ञान, समाज मनोविज्ञान अथवा मैकेनिकल इंजीनियरिंग, ऐसे कुछ विषयों के उच्च शिक्षण के लिए कुछ लोगों को सर्व-साधारण विश्वविद्यालयों और संस्थाओं में भेजना होगा।

जब तक देश में परीक्षा पद्धति को बदलने में हम सफल नहीं हो जायेंगे तब-तक प्रसंगवशात् अपने ही लाभ की दृष्टि से वर्तमान परीक्षा प्रणाली को अपनाना होगा। इसका आशय यह है कि हमारी इन शालाओं के विद्यार्थिओं को उन परीक्षाओं में बैठने का मनाही नहीं होनी चाहिए।

प्रचलित शिक्षापद्धति में और बुनियादी पद्धति में विद्यमान फरक के संबंध में विनोबाजी और दूसरे लोग

बार-बार जिक्र करते रहते हैं कि इन दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि बुनियादी शालाएँ अपनी श्रेष्ठता के इस कथन का उपयोग अक्सर अपनी हीनता के आच्छादन के रूप में कर लेती हैं। दूसरे भी इस कथन का उपयोग एक उद्देश्य से करते हैं। हम में से कई लोगों को भय है कि यदि कोई स्त्री या पुरुष संसार में स्वयं अपने पैरों पर सफलता पूर्वक खड़ होने लायक क्षमता प्राप्त कर लेगा तो फिर वह सर्वोदय-क्षेत्र को छोड़ जायगा। मैं ऐसे कई जिम्मेदार कार्यकर्ताओं को जानता हूँ जो अपने सहायक कार्यकर्ताओं को कुछ अध्ययन आदि करके अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करने के विरुद्ध हैं। सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा संचालित बुनियादी शालाओं के कई शिक्षकों से मैंने बातचीत की है कि वे अंग्रेजी का और परीक्षा का विरोध क्यों करते हैं, तो मालूम हुआ कि यह विरोध इस विचार से निकला है कि एक बार ऐसा कर देने का अर्थ होगा विद्यार्थियों को औरों की तरह अपना स्थान मान बनाने के लिए अवसर प्रदान करना। दूसरे क्षेत्र के लिए किसी को अयोग्य बना कर सर्वोदय क्षेत्र में बनाये रखने का यह प्रयत्न वैसा ही है जैसे बैल को केवल जोतने के ही लायक बनाना। मनुष्य-स्वभाव के प्रति इस प्रकार की मनोवृत्ति समूचे रूढ़िगत हिंदू विचार पर छायी हुई है और हमारे विचारों पर भी इसका इतना प्रभुत्व जम गया है कि हमें उसका भान भी नहीं होता है। जितनी जल्दी इन अनिष्ट विचारों से हम मुक्त हों उतना अच्छा। उसके बाद ही अंग्रेजी का और परीक्षा का हमारा विरोध वास्तव में प्रगतिशील बनेगा।

६ नयी तालीम को लोकप्रिय बनाना

यह संभव नहीं है कि विशिष्ट रूप से चलाया जानेवाली कुछ थोड़ी शालाओं में शिक्षण का जो स्तर रहेगा वह लाखों शालाओं में भी कमी बनाया जा सके। इस विषय में सरकारी शालाओं और सार्वजनिक संस्था द्वारा चलनेवाली शालाओं में कोई फरक नहीं है गो दूसरे पहलुओं से इनमें बड़ा मौलिक भेद हो जाता है। फिर पर यह भी अपेक्षा नहीं की जा सकती कि जनता या सरकार कोई भी, किसी एक कार्यक्रम को, भले ही वह सर्वोत्कृष्ट कार्यक्रम हो, पूरा का पूरा अपना सकेगी। वस्तुस्थिति तो यह है कि जो सर्वोत्तम है वह स्वीकार किये जाने की राह पर ही रह जाता है। ऐसी श्री जी० बी० शाह ने व्यंग्य किया था कि किसी सुधार को बहुमत से स्वीकार कराने में तीस वर्ष लगेंगे और तब तक वह सुधार पुराना पड़ जायगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि शासन हमेशा प्रतिक्रियावादी ही होता है और किसी भी मौलिक सुधार के कार्यक्रम को शासन से मनवाने की आशा ही नहीं की जा सकती, अथवा हम समय से इतना आगे बढ़ चुके हैं कि जनता हमारे विचारों को ग्रहण नहीं कर सकती। इसका सीधा सादा अर्थ यही है कि जो आंदोलन सजीव है, तेजस्वी है, और वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित है, वह बराबर नये-नये शोध करता रहेगा और नये विचारों और कार्यक्रमों को जन्म देता रहेगा। इस प्रकार अतीत काल के विचार प्रचार में आते रहेंगे और नये कार्यक्रमों के नक्शे आंखों के सामने रूपित होते रहेंगे। इस पर से यह बात ध्यान में आती है कि प्रजातंत्र की अच्छी से अच्छी सरकार भी औसत बहुमत का ही प्रतिनिधित्व कर सकती है, उससे बहुत आगे नहीं जा सकती।

और कोई आंदोलन यदि निरंतर प्रयोगों और शोधों द्वारा जीवित रहता है तो वह भी अपने पिछले विचारों को समाज से मनवा नहीं सकेगा। जिनके पास एक दो ही विचार हैं और लगातार उसी का ढोल पीटते रहते हैं तो वे जल्दी ही अवाद के राज्य में निर्वासित किये जाते हैं। कुछ ही समय के बाद वे यह भी नहीं जान पायेंगे कि उनका विचार कब मान्य हुआ था और उसी को जब वे दूसरे बाने में देखेंगे तो पहचान भी नहीं पायेंगे।

बुनियादी शिक्षा की सर्वमान्यता के लिए प्रयत्न करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा। इस पद्धति का विकास २५ वर्ष पूर्व उस समय की परिस्थिति के परिणामस्वरूप हुआ था। क्या हमने तब से अब तक उसमें कोई महत्त्वपूर्ण नया शोध किया है? या हम में यह भावना है कि हमने हमेशा

के लिए उपयोगी, और परिपूर्ण पद्धति पा ली है ? शिक्षा जगत् के सामने समय-समय पर आनेवाली समस्याओं को क्या हमने अपनी दृष्टि के सामने रखा है और उनके साथ अपने कार्यक्रमों को जोड़ा है ? क्या इस सम्भावना का हमें भान है कि यह विश्व और उसके साथ-साथ शिक्षा-विज्ञान इस अरसे में निरन्तर आगे बढ़े होंगे और धरती पर ऐसे भी लोग होंगे जिनको हमारी जैसी ही समस्याओं का सामना करना पड़ा होगा तथा उनके हल के लिए वे भी प्रयत्नशील होंगे ? बुनियादी शिक्षा आंदोलन के भविष्य-निर्णय की दृष्टि से इन प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त महत्त्व रखता है।

मुझे ऐसा लगता है हमारे आंदोलन को बहुत सारे विरोधों और आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है, उससे हमारे अन्दर अपना बचाव करने की एक मनोवृत्ति पैदा हो गयी है और हम कट्टर बन गये हैं। इस कारण हम दूसरों की राय और भावना के प्रति निर्विकारी बन गये हैं और नये विचारों और परिस्थितियों का आह्वान सुनने लायक नहीं रह गये हैं। इसका उलटा नतीजा यह हुआ है कि विरोध कड़े होते गये।

भारत सरकार ने बुनियादी शिक्षा को स्वीकार कर लिया है और इसका प्रसार करने का वचन दिया है। इससे वर्तमान परिस्थिति किसी तरह सुलझी नहीं। शिक्षा शासन का विषय है, पर शासन के अधिकारियों में इसके प्रति अत्यल्प श्रद्धा है। अतः वे इस मामले को ढंग से छू भर देते हैं, इससे केन्द्रीय दबाव लाकर इसे कुछ आगे बढ़ाने के हमारे सारे प्रयत्न विफल होने के सिवा और कुछ नहीं होता।

कभी-कभी हम लोगों को लगता है कि यह सब सामाजिक क्रान्ति से ही ठीक हो सकेगा। सामाजिक सदर्भ का प्रभाव शिक्षण के स्वरूप पर पड़ता ही है। उदाहरण के लिए जो समाज वर्गभेद के आधार पर खड़ा है और उसी को आगे भी चलाने में विश्वास करता है वह निश्चित रूप से अपनी शिक्षा-पद्धति में वर्गभेद पर जोर देगा ही। यह भी सही है कि अक्सर सरकारों को खासकर भारत सरकार को जो निश्चलता के लिए बदनाम है, कुछ हिलाने में ये क्रान्तिकारी घटनाएँ सहायक होती हैं। पर क्रांति कैसी ? फिलहाल हम ग्रामदान आन्दोलन के रूप में भूमि-सम्बन्धी एक क्रान्ति के लिए काम कर रहे हैं। मान लें भारत में लाखों की संख्या में ग्रामदान हो गये हैं। वह शैक्षणिक मोर्चे को किस तरह प्रभावित कर सकेगा ? क्या इससे आज नौकरी के बढ़ते हुए अवसर जो बुद्धिजीवी युवकों को गाँवों से दूर जाने के लिए आकर्षित कर रहे हैं वे खतम हो जायेंगे या कम होंगे ? क्या यह प्रवाह बुनियादी शिक्षा के प्रति शहरी लोगों के विरोध को खतम करेगा ?

कोई दैवी घटना भी हमारी सारी समस्याओं को एक झटके में हल नहीं कर सकती। एक-एक करके हमें उनका सामना करना होगा और उन्हें हल करना होगा। हमारी पहली कठिनाई यह है कि बुनियादी शिक्षा के प्रति देहाती लोग भी बेरुखी बरतते हैं। उनके मन में संशय है और यह भी सही है कि सरकार ने बुनियादी शिक्षा को एकदम निम्न स्तर में ढकेल दिया है। शिक्षा के तीन स्तर हैं :—पहला ऊँचा स्तर पब्लिक स्कूल का है जो शासकवर्ग के बच्चों के लिए है; दूसरा, साधारण स्कूल जो सामान्य बुद्धिजीवी वर्ग के लिए है और तीसरा, बुनियादी शाला जो देहाती लोगों के लिए है। इस कठिनाई को यों दूर किया जा सकता है कि बुनियादी के विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षण का द्वार खोल दिया जाय जो आज बंद है। लेकिन आज की परिस्थिति में हमारे लिए यह देना ही ज्यादा कहा जायगा, लेना कम। वैसे तो इसके होना यह चाहिए कि देना लेना दोनों ही दोनों के लिए बराबर हो। फिर भी थोड़ा बहुत समझौता आज की स्थिति में भी वाछनीय है जो कि आगे के बड़े कदम के लिए तैयारी का काम सिद्ध हो। उदाहरण के लिए अंग्रेजी का मामला ही लें। हमारी दलीलें प्रवाहशून्य हो गयी हैं, स्थिति लेकिन यह है कि भाषा-संबंधी हमारे मतभेदों के कारण विश्वविद्यालयों और प्रशासन में अंग्रेजी को हटाने के मार्ग में गंभीर कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं। ऐसी परिस्थिति में उसे सेकेण्डरी दर्जों से स्वीकार करना उचित नहीं होगा। उसे देर से दाखिल करने की माग हम ने यह मान

कर की कि कोई भी विदेशी भाषा सीखना ९ १० साल की अपेक्षा १३ १४ साल की अवस्था में आसान होता है। बल्कि तब हमें अंग्रेजी सिखाने की अधिक सक्षम पद्धति खोज लेनी होगी ताकि जो विद्यार्थी बुनियादी शाला में सातवें या आठवें दर्जे में अंग्रेजी सीखने लगेगा वह साधारण स्कूलों में उससे भी पहले के दर्जे में अंग्रेजी सीखनेवाले लड़के की बराबरी कर सके।

लेकिन इसका अगला महत्त्व का कदम यह होगा कि जहां कोई भी आंदोलन आरम्भ हो वहां जनमत तैयार हो। इस दिशा में हम अधिक कुछ नहीं कर पाये हैं। इसके लिए हम नयी तालीम की ओर एक शैक्षणिक आंदोलन की दृष्टि से देखना होगा, बजाय इसके कि वह पदवृद्धि के लिए आवश्यक एक प्रक्रियामात्र समझी जाय। किसी भी आंदोलन को सामयिक समस्याओं और मामलों से संपर्क रखना और जन मानस को उकसाते रहना आवश्यक है। उसे निरंतर समानधर्मी आंदोलनों और शक्तियों से संबंध रखते हुए खुद को समृद्ध और विशाल बनाने को प्रयत्न शील रहना चाहिए। जनता के सामने विशाल मोर्चे प्रस्तुत करते हुए विशिष्ट मामलों के अनुकूल जन-मानस प्रभावित करने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

इसके लिए शिक्षा-पद्धति के विभिन्न तत्त्वों को अलग-अलग लेकर चलना ही अधिक सफल होगा, बनिस्बत इसके कि सब को एक गठरी में बांध कर चला जाय। जो विषय चुनें वे बुनियादी शिक्षा के ही पहलू न होने चाहिए, बल्कि शिक्षा-सामान्य की समस्या होनी चाहिए, फिर उन का संबंध बुनियादी शिक्षा के साथ जोड़ा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए आज की अनुशासनहीनता की ज्वलंत समस्या को लें। इस समस्या के मूल में निहित कारण क्या हैं? उन समस्याओं को सुलझाने में बुनियादी शिक्षा की देन क्या है? बुनियादी शालाओं का हमारा अनुभव क्या है? क्या हमारे पास कोई आधार-भूत सामग्री है जिस पर भरोसा किया जा सकता हो? पद्धति के कौन से ऐसे तत्त्व हैं जो सफलता की दिशा में ले जा सकते हैं, जिन्हें हम प्राप्त कर सके हों? इस समस्या को सामने रख कर हमने कभी अपनी शालाओं में प्रयोग किया है?

इस समस्या पर राष्ट्रव्यापी विचार-चर्चा का आरंभ ही नहीं, बल्कि अपनी शालाओं में हम इस पर प्रयोग भी करने होंगे जिस से अधिक सक्षम पद्धतियों का विकास हो सके।

इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता की समस्या को ले सकते हैं। शालाएँ किस प्रकार उसे प्रेरित कर सकती हैं? इसमें समाज विज्ञान के अध्ययन का और सामूहिक जीवन का स्थान क्या होगा? इस दिशा में बुनियादी शालाओं ने किस प्रकार की सफलता प्राप्त की है?

अथवा बड़ी संख्या में टेकनीकल व्यक्तियों की आवश्यकता का ही प्रश्न लें इसका भी संबंध बुनियादी शिक्षा से ही सकता है। विद्यार्थियों में तकनीकी मनोवृत्ति का समुचित विकास करने के लिए किस प्रकार की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा पद्धति आवश्यक है? सहकारिता और मौलिकता का योगदान विस्तृत पैमाने पर कैसे बढ़ायी जा सकता है? इन विषयों में बुनियादी शिक्षा कहां तक सहायक सिद्ध हो सकती है?

इन चर्चाओं को आरंभ करते समय हमें ध्यान रखना होगा कि दोनों तरफ से द्वार खुला रहे। यदि हम चाहते हैं कि इन चर्चाओं से दूसरों को लाभ पहुँचाना है तो हम भी लाभान्वित होने को तैयार रहना चाहिए। देश में कई संस्थाएँ और कई व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी शिक्षा पद्धति और विचार काफी प्रगतिशील हैं, पर वे सभी मामलों में हम से हूबहू एकराय नहीं हैं। हमें प्रयत्न करना होगा कि किस किस क्षेत्र में वे और हम सहमत हो सकते हैं। हम यह खोजें और फिर इन विषयों के अनुकूल जन-मानस शिक्षित करने का हमें संयुक्त अभियान करना चाहिए। हो सकता है हमें बुनियादी शिक्षा को विशिष्ट प्राथमिकता न देते हुए शिक्षा-क्षेत्र के विशाल मसलों को हाथ में लेना पड़े। शिक्षण को सरकारी नियंत्रण से मुक्त कराना एक ऐसा ही प्रश्न है। दूसरा है पाठ्य पुस्तकों में छिछोरापन। तीसरा महत्त्वपूर्ण विषय है शिक्षा में एन० सी० सी० ट्रेनिंग का समाजित अनिवार्यता। हम यदि यह मांग करें कि एन० सी० सी० की ट्रेनिंग

[शेष पृष्ठ १६८ पर]

बालकों की यह दुर्दशा और उपेक्षा क्यों ?

श्रीकाशिनाथ त्रिवेदी

आज अपने इस प्राचीन और पुरातन देश में हम नव-निर्माण की बड़ी-छोटी योजनाएँ बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने में लगे हैं, उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ बन रही हैं, नये-नये कल-कारखाने की योजनाएँ चल रही हैं, बीमारियों से जूझने और उनके कारणों का निवारण करने के यत्न हो रहे हैं, खेती की पैदावार बढ़ाने की कोशिशें हो रही हैं, ज्ञान-विज्ञान की और तंत्रशास्त्र की शिक्षा का विकास हो रहा है। अभी-अभी देश की सीमा पर युद्ध की स्थिति खड़ी हो गयी, तो हमारा ध्यान शस्त्रास्त्र बढ़ाने और देश के सारे नौजवानों को शस्त्रास्त्र चलाने की विद्याएँ सिखाने की ओर जोरों से गया है, और अब हम सोच रहे हैं कि प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्व-विद्यालय तक ऐसी कौनसी योजनाएँ चलायें जिन से देश का बच्चा-बच्चा, नौजवान और नवयुवती सब कोई युद्ध के सैनिक बनने की कला और विद्या सीख सकें। लगता है कि केंद्र का शिक्षा-मंत्रालय भी इस बारे में बड़ी गंभीरता और तत्परता से कुछ सोच रहा है और राज्य-सरकारों के शिक्षा-विभाग भी इस विषय में अपनी-अपनी योजनाएँ बनाने और अपने-अपने लक्ष्य स्थिर करने में लगे हैं। सारे देश में व्यापक लोक-जागृति की और देश की रक्षा के लिए कुछ कर गुजरने की एक जोरदार हवा पैदा हो रही है। तात्कालिक दृष्टि से इस सब का अपना उपयोग है, महत्व है, मूल्य है, आवश्यकता भी है, पर मुझे नहीं लगता कि इतने काम से हमारा सब काम बन जायगा।

जरा लंबी निगाह से और गहराई में उतर कर सोचेंगे तो हमें पता चलेगा कि आज हम अपने समूचे देश में इस छोर से उस छोर तक जिस मानवीय पुरुषार्थ को जगाना चाहते हैं वह आज की हमारी पूँजी पर अच्छी तरह जाग नहीं सकेगा। जितना भी कुछ जागेगा उसमें अनेक प्रकार की भारी त्रुटियाँ, कमियाँ और दोष रह जायेंगे। क्यों कि जिस मानवीय माल और मसाले को हाथ में लेकर हम नये संदर्भ में मेहनत करना चाहते हैं उस माल-मसाले की बुनियाद बहुत कच्ची, खोखली और गलत तत्वों से बनी हुई है। जिस की बुनियाद में दोष है भारी गल्तियाँ और खराबियाँ भरी पड़ी हैं उसे हम किसी ऊँची और मजबूत इमारत के रूप में नहीं देख सकते। कच्ची बुनियाद पर खड़ी की गयी ऊंचाइयाँ अकसर मामूली-सा धक्का खाकर गिर पड़ती हैं। यह हमारा आये दिन का अनुभव है।

इस लिए आज कच्ची बुनियाद और कच्ची कुर्सियों पर जिनके जीवन की मंजिलें खड़ी हुई हैं उन पर सारे देश में बेहिसाब धन, बेहिसाब समय, बेहिसाब शक्ति और बेहिसाब साधन खर्च करने का जो लंबा-चौड़ा रास्ता खुल गया है उसकी उपयोगिता में हमें सहज ही संदेह होता है। यह बात दूसरी है कि आज की हालत में और कुछ कर नहीं सकने, इसलिए लाचारी की सूरत में यही सब करना पड़ रहा है। पर यह मर्यादा आज के लिए हो सकती है, कल, परसों, तरसों के लिए तो नहीं। तो क्या हम सिर्फ आज का सोच कर रह जायेंगे, कल परसों की फिक्र नहीं करेंगे? अगर ऐसा हुआ तो कहना चाहिए कि भारी धोखा होगा। इसलिए इच्छा होती है कि समस्या का जो एक गहरा और दूर तक असर डालनेवाला अछूता पहलू है उस पर भी हमें तात्कालिक पहलू के साथ ही संजीदगी और मुस्तैदी से सोचना होगा और शायद उसे सर्वोच्च प्राथमिकता भी देनी होगी, नहीं तो

जो कुछ चाहते हैं, देश में वैसी ताकत और तबीयत खड़ी करना चाहते हैं शायद वह खड़ी नहीं हो पायेगी।

अपने इस लेख में मैं आम तौर पर आज का भारतीय परिवारों में बीतनेवाले बाल जीवन की कुछ चर्चा करना चाहता हूं। दुनिया के सभी समझदार लोग मानते हैं कि बालक मनुष्य-समाज की बुनियाद में बैठा है। बालक है, तो मनुष्यों की दुनिया है, बालक नहीं, तो यह दुनियाँ भी नहीं। इतनी बड़ी और बुनियादी हस्ती जिस बालक की है, उसके जीवन को ठीक ढंग से सम्भालने, संवारने का काम देश में चहुँओर नहीं चला तो सोचिए कि उसके कितने गहरे और दूर तक प्रभाव डालनेवाले परिणाम होंगे! आज हमारे घरों में बालक की क्या हालत है? अगर घर में बालक नहीं है और नहीं आ रहा है तो हमारे घरों में उसके लिए भगवान से भीख माँगी जाती है। मान मिन्नत, व्रत, पूजा, जप, तप, दान, पुण्य झाड़-फूक, दवा दारू, तीर्थ-यात्रा आदि नाना उपायों से हमारे घरों और परिवारों में बालक का आवाहन किया जाता है। माता पिता, पति-पत्नी, सगे-सबंधी, मित्र-परिचित सब को चिंता बनी रहती है और सब इसी कोशिश में रहते हैं कि घरमें बच्चा आये। एकतरफ समाज में बच्चे के लिए इतनी जोरदार भूख है और दुर्भाग्य से दूसरी तरफ आये हुए या आनेवाले बच्चे के बारे में हमारी घोर उपेक्षा है और भारी अज्ञान है। जब तक इन दोनों छोरों के बीच ठीक पटरी न बैठे, तब तक हमारे देश के घरों में और परिवारों में बच्चों की तो फजीहत ही फजीहत समझिए।

हमारे लोक-जीवन की असंगतियों का कोई पार नहीं है। एक ओर हम मानते हैं कि बच्चा भगवान की देन है। हमारे बस की बात नहीं है कि हम जब चाहें, बच्चा हमारे घर में या हमारी गोद में, तभी आ जाय। अनुभव से हमने यह माना है कि जैसे मृत्यु मनुष्य के हाथ में नहीं, वैसे ही जन्म भी उसके बस का नहीं। वह निमित्त बन सकता है, पर मुख्य कर्ता वह नहीं। गाँठ में यह अनुभव है। फिर भी नित्य के व्यवहार में यह लगभग भूल जाते हैं और यही मानने लगते हैं कि बच्चा तो हमारी पैदा की हुई चीज है, हमारे बीच उसकी बिसात ही क्या? हमारे लिए वह लौंडा है, छोकरा है, हमारा नौकर है, चाकर है, फरमाबरदार है अगर नहीं है तो उसे होना चाहिए, वह होता नहीं दीखता तो मार-मार कर उसे वैसा बनाने की कोशिशों में जमीन आसमान एक कर देते हैं। कहते हैं कमबख्त, लौंडा है हमारी ही नहीं सुनता। मतलब यह हुआ कि आज हमारे घरों में बालक भगवान की भेजी विभूति नहीं, महज इनसान का औलाद बन गया है, और इनसान है कि उसे अपनी दौलत समझ कर उसके साथ जैसा भी चाहता है व्यवहार करता है। कहीं, किसी तरह की रोक-टोक उसके लिए है नहीं। नतीजा यह है कि हमारे बीच हमारे ही अपने निर्दोष बालकों का जीवन इस तरीके से बीतता है, मानों वे राक्षसों के बीच में आ फँसे हों। अकसर घरों में घर के बड़े बूढ़े सब सुबह से शाम तक मासूम बच्चों के साथ इतना बेजा और जंगली बरताव करते रहते हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं। मार-पीट, डाँट डपट, दुतकार-फटकार, गाली-गलौज, सजा इनाम, आदि की ऐसी झड़ी लग जाती है कि भगवान ही जाने अपनी किस ताकत के बलबूते यह नन्हा-सा बालक अकेला, अनाथ, लाचार, इन सब भारी मुसीबतों को झेलकर, पचा कर और ठेल कर भी हमारे बीच जी पाता है। अपनी तरफ से तो जाने-अनजाने हम उसके जीवन को दुखी बनाने में कोई कसर नहीं रखते।

आज भी हमारे घरों में बच्चा हमारा गुलाम है, उसे हमारे पीछे पीछे घिसट घिसट कर चलना होता है, घर में उसकी अपनी कोई कीमत नहीं, वक्त नहीं, हस्ती नहीं, उसके लिए घर में उसकी अपनी कोई चीज नहीं। सारी चीजें बड़ों के लिए आती हैं, बड़ों के लिए बनती हैं बच्चों को उन में से भीख के कुछ टुकड़े मिल जाते हैं। घरों में बच्चों को किसी तरह की कोई आजादी नहीं। न वे अपने मन का और जरूरत का कुछ खा सकते हैं, न पी सकते हैं,

न पहन सकते हैं, न खेल सकते हैं, न पढ़ सकते हैं। हर चीज में एक मजबूरी उनके सामने मौजूद रहती है। यह मजबूरी जन्म के दिन से शुरू होती है और मरते दम तक बनी रहती है। अपने बच्चों को हम हर तरह की मजबूरियों से जकड़ देते हैं। भगवान की कभी यह मंशा नहीं रही, पर जहाँ हमारा मतलब आता है, हमारे मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, स्वार्थ-लोभ आदि का प्रश्न आता है हम भगवान की परवाह ही कहाँ करते हैं, जो बच्चे की परवाह करने का हमें ध्यान आये। हम तो अपने मोह में और स्वामित्व के अपने अहंकार में इतने डूबे रहते हैं कि बालक को उसके सच्चे स्वरूप में जान समझ नहीं पाते। आज हमारे परिवारों में हमारा ही बच्चा अप्रतिष्ठित है, यह इतना पशु और विवश है कि जिसका हिसाब नहीं। जिस बालक का जीवन ऐसी मजबूरियों मुसीबतों और मोहताजियों में बीतता हो वह बड़ा बन कर जीवन की ऊँची से ऊँची मंजिल पर पहुँचे तो वह किस ताकत के भरोसे पहुँचे? हमने उसके हौसले तो सारे पस्त कर दिये जब वह मासूम बच्चा था। बड़ेपन में हम उसे जोश दिलाने और उसका हौसला बढ़ाने की जो कोशिशें करते हैं वे अकसर इसी लिए नाकाम होती हैं कि हमने बचपन में उसके हौसलों को, जोशो-खरोश को, *उत्साह और उमंग को अपने हाथों बेदर्दी से दबा* दिया था।

जिस देश में बालक को भगवान की तरह पूजने की पवित्र परम्परा बनी थी, जिसमें आज भी हिन्दू परिवारों की माताएं और बहनें पीतल, ताँबे, सोने, चाँदी या पत्थर के बालकृष्ण को बड़े भक्ति भाव से पूजती हैं, उसी देश में हाड़-मांस का, हँसता-बोलता, रोता-गाता जीता जागता, बालक आज इतना दुखी क्यों है? उसे सही दृष्टि से देखने और उसके साथ सही-सही व्यवहार करने की हमारी बुद्धि, शक्ति और भावना को किस का शाप लग गया है कि आज हमारे ही बालक हमारे हाथों इतना नारकीय कष्ट पा रहे हैं! यह एक सारी समस्या है, जिसका जवाब देश के कर्णधारों को और साधारण नागरिकों को जीजान से मेहनत करके खोजना है। यदि हमने उसके लिए समय रहते नहीं सोचा और हमारे घरों में, समाजों में और शिक्षा-संस्थाओं में बालकों के साथ आज के जैसा ही गलत और जंगली व्यवहार चलता रहा, तो डर है कि हम अपने देश में ऊँचे दर्जे का बढ़िया नागरिक कभी खड़ा ही न कर पायेंगे और हमारा नागरिक धन आज से भी अधिक क्षीण होता चला जायगा।

समाज में जिस तरह हमने अछूतों को अप्रतिष्ठित किया उसी तरह स्त्रियों और बालकों को अप्रतिष्ठित रखा, बालकों में भी हमने बालिकाओं को हीन माना और अपने नित्य के व्यवहार में उन्हें अपनी सम्पत्ति समझ कर विवाह और शादी के मामलों में उनको सौदे की चीज बना लिया। आज हमारी सयानी बहन बेटी ब्याह के बाजार में बेची खरीदी जाती है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जो ज्यादा बोली लगाता है, बहन बेटी को उसके घर जाना पड़ता है। जो हालत गाय-ढोर की है वही बहन बेटी की भी है। हमारी पढ़ी लिखी, सुघड़ी सम्पन्न बहन बेटियाँ भी इस भयंकर मजबूरी से बच नहीं पातीं। बेटी के बाप को समाज इस बुरी तरह नोचता है कि उसका इज्जत-आबरू के साथ जीना मुश्किल हो जाता है। बेटी घर में कुँवारी नहीं रह सकती। उसके हाथ तो जैसे भी बने, लाल-पीले करने ही होते हैं। इसलिए माता पिता पाप का पैसा कमा कर अपने ब्याही (समधी) और दामाद को रिझाते हैं और बेटी से छुट्टी पाते हैं। बहन-बेटी के नाते समाज में स्त्री का यह जो अपमान जनक स्थान बन गया है, इस कारण घर में बेटी का जन्म घरवालों के लिए अभिशाप का सूचक हो गया है। इसका एक बड़ा भयंकर परिणाम यह हो रहा है कि आज सन् १९६३ के इस जमाने में भी हमारे देश में ऐसी माताएँ मौजूद हैं, ऐसे पिता और पालक मौजूद हैं, जो बराबर घर में जनमी अपनी बेटी की मृत्यु-कामना रखते रहते हैं। वह क्वाँरेपन में ही किसी तरह मर जाय तो माँ-बाप को एक बड़ी चिन्ता [illegible] छुटकारा

[शेष पृष्ठ २०९ पर]

चीन भारत-संघर्ष का विकल्प

श्री शंकरराव देव

[यह लेख श्री शंकररावजी के एक भाषण के आधार पर तैयार किया गया है। यह भाषण उन्होंने २० दिसंबर '६२ को नागपुर में दिया था। इस संदर्भ मे एक बात की ओर हम पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं। इसी मास की १ तारीख को प्रधान मंत्री नेहरू ने चाउ एन लाई को लिखे अपने पत्र में इस मामले को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाने की बात सुझायी है। यद्यपि इससे पहले भी एक बार संसद् मे और एक बार अपने रेडियो भाषण मे अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का उल्लेख पण्डित जी ने किया है, फिर भी अधिकृत रूप से उनका यह सुझाव इस मास की ता० १ के पत्र में ही पहली बार हुआ है। सर्व सेवा संघ के नवंबर '६२ के वेड़छी संमेलन में, सेवाग्राम के दिसंबर के शांतिवादी कार्यकर्ता-संमेलन में यह सुझाव पहले ही प्रस्तुत किया गया था। उसी संदर्भ मे श्री शंकररावदेव का यह भाषण हुआ था। कोलंबो मे एशियाई ६ राष्ट्रों की परिषद् हो रही थी तब सर्व सेवा संघ की ओर से श्री जयप्रकाश नारायण और श्री शंकरराव देव ने पंचफैसले के सुझाव की दिशा में प्रयत्न करने के संबंध मे कोलंबो-परिषद् के सदस्यों का तार भेजा था। हमें प्रसन्नता है कि आखिर पण्डित जी ने अपनी ओर से चाउ को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में समस्या को प्रस्तुत करने का सुझाव दिया है। सं०]

गत ४-५ वर्षों से मैं सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग नहीं लेता रहा। एक प्रकार की निवृत्ति अपना ली थी। लेकिन आज परिस्थिति ऐसी बनी है कि मेरी यह मनोवृत्ति बदलने लगी है। मुझे इस वक्त आवश्यकता महसूस हो रही है कि एक जन-आन्दोलन खड़ा किया जाय। परिस्थिति मुझे इतनी भयानक दीख रही है।

लम्बे अरसे के बाद भारत स्वतंत्र हुआ था। भारत में आज जिस प्रकार का लोक-स्वातन्त्र्य हम देख रहे हैं वैसा लोक-स्वातन्त्र्य पहले कभी यहाँ नहीं था। यह स्वातन्त्र्य जब प्राप्त होने को था उस प्रसूतिकाल में भी उस पर कई प्रकार के संकट आते रहे और उस समय के नेताओं को उस स्वातन्त्र्य की रक्षा की चिन्ता लगी हुई थी। उन्हें भय था कि उस स्वातन्त्र्यवृक्ष का नन्हा पौधा कहीं सूख न जाय। लेकिन गांधीजी ने उसे अपने खून से सींचा और अपने बलिदान से उसकी रक्षा की। तब जाकर भारत का विकास-कार्य प्रारम्भ हुआ।

प्रारम्भिक सङ्कट भले दूर हो गया था, लेकिन दूसरे कई भयानक सङ्कटों की भीषण छाया उभरने लगी। भारत की भूमि में उन सङ्कटों की जड़ें बहुत पहले से ही जमी हुई थीं। सब इस बात से भयग्रस्त थे कि देश में जो आपसी फूट है, धर्म, वर्ण, जाति, भाषा, प्रदेश आदि नाना निमित्तों से एक दूसरे को

अलग करने की जो मनोवृत्ति है वह भारत को फिर से भयानक सङ्कट की आग में कहीं झोंक न दे। देश के सामने 'भावनात्मक एकता' एक समस्या बन गयी थी और इसीलिए राष्ट्रीय भावनात्मक एकता का कार्यक्रम एकमेव महत्त्व का कार्यक्रम बना और राष्ट्रीय एकता प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कराने का आयोजन व्यापक पैमाने पर किया गया। उस प्रतिज्ञा पत्र में यह भी है कि आपसी मतभेदों को शान्तिपूर्ण तरीकों से मिटाया जाना चाहिए इसलिए मैं ऐसे प्रसंगों में हिंसा का सहारा नहीं लूँगा। उस प्रतिज्ञा पत्र में एक सभ्य-समाज (सिविलाइज्ड सोसायटी) की कल्पना की गयी है। यानी एक ऐसा समाज निर्माण करने की आकांक्षा उसमें निहित है जिसमें मानवीय सम्बन्धों में उपस्थित होनेवाले हर एक मतभेद को विवेक से सुलझाया जायगा, किसी प्रकार का हिंसात्मक उपाय नहीं अपनाया जायगा। इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि राष्ट्र की प्रगति तभी सम्भव है जब हम आपसी, मतभेद शान्ति से हल करने में श्रद्धा रखें और वैसा एक अलिखित नियम बन जाय। यह किसी भी देश की प्रगति के लिए आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में राष्ट्र के अन्दर अराजकता फैलने और राष्ट्र के विकास-कार्य के रुक जाने का खतरा है।

आज प्रश्न यह है कि आपसी सहयोग और विवेक की इस समस्या पर राष्ट्र के दायरे में ही विचार करना क्या काफी है? निश्चित ही काफी नहीं है। आज किसी भी समस्या का विचार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही करना पड़ता है। विवेकपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट दीखेगा कि अकेले राष्ट्र की चिन्ता करना काफी नहीं है। आज व्यापक भूमिका में ही सोचना अनिवार्य है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि दूसरों के साथ स्नेह, शान्ति और सद्भावनापूर्ण व्यवहार करना मानव का लक्षण है और यही जंगली समाज और सभ्य समाज में फर्क है। सद्भावनापूर्ण व्यवहार करना मानव का लक्षण तो है ही, साथ ही आज के वैज्ञानिक युग में परिस्थिति का तकाजा भी है। क्योंकि विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि भौतिक सृष्टि अनन्त और व्यापक है। सृष्टि का यह अनंतता और व्यापकता अब कल्पना का विषय नहीं रही। इसलिए कोई भी विचार अकेले व्यक्ति, अकेले समूह या अपने देश का ही करने से काम नहीं चलेगा, समूचे विश्व का ही विचार करना होगा। गांधीजी ने सर्वोदय का भी अर्थ यही किया था कि सर्वोदय वह है जो सबका कल्याण करे। यह अब नैतिक या आध्यात्मिक मूल्य नहीं रह गया है, विज्ञान ने इसे भौतिक मूल्य बना दिया है।

"वसुधैव कुटुम्बकम्" और "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" आदि सारी अनुभूतियाँ पहले आध्यात्मिक जीवन में हुआ करती थीं, अब विज्ञान के कारण उन्हें भौतिक जीवन की अनुभूतियाँ बनाना होगी। मानव के प्रयत्न उसी दिशा में हो रहे हैं। जरूरी है कि मानव के उस प्रयत्न में जो भी बाधा आये उसे दूर किया जाय और उस आकांक्षा और प्रयत्न में उत्कटता लायी जाय। विज्ञान के कारण विश्व को 'सभ्य समाज' का रूप देना अनिवार्य हो गया है। केवल राष्ट्र के अन्दर का समाज सभ्य बने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में जंगली नीति बनी रहे—ऐसी विसंगति आज नाकाम सिद्ध होनेवाली है। क्योंकि आज सारा विश्व एक हो गया है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में जंगली नीति से व्यवहार होता है तो उसका प्रभाव राष्ट्रीय जीवन पर भी अवश्य पड़ेगा। संसार के प्रबुद्ध मानव इस सत्य को समझ गये हैं, इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में स्नेह, शान्ति और सद्भावनापूर्ण नीति लागू करने के हेतु से कई संस्थाएँ भी बनायी हैं। व्यक्ति का जीवन आज विश्व जीवन है। मानव एक प्रकार से विश्व नागरिक भी है वैदिक भाषा में वह 'विश्वमानव' है। संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस आज सारे राष्ट्रों में मनाया जाता है। सर्वत्र आकांक्षा व्यक्त की जाती है कि संयुक्त राष्ट्र संघ शक्तिशाली हो, सर्वत्र शान्ति और समाधान स्थापित हो। हर कहीं यही आवाज है और इसी दिशा में प्रयत्न है। साथ ही यह भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि इस प्रयत्न की गति धीमी है, जमाने के तकाजे के अनुरूप उसकी गति नहीं है।

इसका अर्थ यह है कि इन प्रयत्नों में कहीं बाधा अवश्य है।

यद्यपि सृष्टि भौतिक नियम के अनुसार व्यापक और अनंत है, फिर भी आज मानव का मन व्यापक और अनंत नहीं बना है, संकुचितताओं से ऊपर नहीं उठा है। इसीलिए मानव का मनोव्यापार सृष्टि के ज्ञान और नियमों के अनुरूप नहीं चल रहा है और इसका प्रभाव विश्व-जीवन पर भी पड़ता ही है। विश्व तो अनन्त है, पर उसकी अनुभूति नहीं हो रही है। क्योंकि मन अब भी धर्म, संस्कृति, राष्ट्र आदि संकुचित कल्पनाओं के शिकंजे में जकड़ा हुआ है। गांधीजी कहते थे कि राष्ट्रीय नागरिकत्व और और विश्व नागरिकत्व के बीच विरोध नहीं होना चाहिए। विचारवान लोगोंका भी कहना है कि यदि मानव का मन अखण्डता और व्यापकता की दिशा में विकसित नहीं हुआ तो विश्व संहार निश्चित है।

इससे हमारी दिशा स्पष्ट हो जाती है कि आज हमारे सामने जो समस्या है उस पर हम किस भूमिका से विचार करें। हमें यह स्वीकार करना होगा कि राष्ट्रीय नागरिकत्व और विश्व-नागरिकत्व में कोई विरोध नहीं है। देश के आंतरिक मामलों की तरह ही राष्ट्रों को भी आपसी मतभेद शांति और समाधान के तरीकों से दूर कर लेना चाहिए और इस मूल्य को मान कर आज की समस्या का विकल्प प्रस्तुत करना चाहिए—यह मेरी भूमिका है।

विज्ञान का विकास और प्रगति शस्त्रबल पर आधारित नहीं है, बल्कि विवेक और सहकार पर आधारित है, और यह नियम हम ने राष्ट्र के आंतरिक मामलों में स्वीकार किया है, अब अंतराष्ट्रीय मामलों में भी स्वीकार कर लेना होगा। इसका अर्थ यह है कि अंतराष्ट्रीय संघर्षों में जो भी मतभेद उत्पन्न हों व यदि आपसी बातचीत से सुलझते नहीं हैं तो फिर उन्हें पंचफैसले के लिए छोड़ देना चाहिए। सर्व सेवा संघ के बड़ौदा और सेवाग्राम के सम्मेलनों में जो निवेदन स्वीकृत हुए हैं उनमें यही शब्द प्रयोग हुआ है। हाल ही में प्रधान मंत्री नेहरू ने भी कहा है कि चीन ८ सितंबर के पहले की स्थिति में चला जाय और भारत की संसद् अनुमति दे तो वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने यह समस्या रखने को तैयार हैं। राष्ट्रों की आपसी समस्या शांतिमय उपायों से सुलझनी चाहिए—यह अंतर्राष्ट्रीय आचारसंहिता है। और इसी के अनुरूप पण्डितजी का यह कथन है। देश में शांति स्थापित करनी है तो विश्व शांति स्थापित होनी चाहिए और विश्व में शांति स्थापित करनी है तो देश में शांति स्थापित होनी चाहिए। यह आज सही जीवन धर्म बन गया है। इस ओर मानवता की चेतना जगाने की आवश्यकता है। जिस प्रकार देश के अंदर के लोगों से कहते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रों से भी कहना होगा कि 'कानून को अपने हाथ में न लो'।

यह मानी हुई बात है कि राष्ट्रों में जो आंतरिक व्यवहार-नीति अपनाया गया है उसके पीछे आज भी पाशवीशक्ति ही अंतिम आधार (सैंक्शन) है। तब प्रश्न उठता है कि दो राष्ट्रों से पंचफैसला मान्य कराने के पीछे अंतिम आधार (सैंक्शन) क्या हो। तो आज उत्तर यही दिया जायगा कि वह आधार पाशवी शक्ति ही हो सकता है। और उस शक्ति का उपयोग करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को धीरे धीरे मान्यता मिलती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी कोई सेना नहीं है, परंतु उसके सदस्य राष्ट्र आवश्यकता पड़ने पर उसके काम के लिए अपनी सेनाएँ भेजने लगे हैं। लेकिन क्या आज की स्थिति में इस प्रकार का सैन्यशक्ति अंततोगत्वा प्रभावशाली और परिणामकारी हो सकता है? मेरी नम्र राय में नहीं हो सकती। यही कारण है कि आज इस शक्ति से सत्य, न्याय और नीति की स्थापना नहीं हो पा रही है। पिछले जमाने में शस्त्रास्त्रों का उपयोग करके कोई एक जीतता था और यह दावा कर सकता था कि उसका न्याय विजय है। क्योंकि जीत का न्याय समझना उनका संस्कार था। 'तत्र श्री विजयी भूति ध्रुवा नीति मतिर्मम।' लेकिन आज हथियारों का स्वरूप ऐसा हो गया कि उनके प्रयोग से दोनों ही पक्षों का सर्वनाश हो जाने का भय रहता है। किसी एक की हार और दूसरे की जीत जैसी स्थिति अब नहीं रही। इसीलिए सत्य, न्याय और नीति की

स्थापना करने के उद्देश्य से भी इन हथियारों का सहारा लेने में संसार की आस्था नहीं रही। क्यूबा के मामले में युद्ध की सारी तैयारी हो जाने के बावजूद ख़ुश्चेव ने अपना कदम पीछे ले लिया। उस पर हल्ला हुआ कि वह कागजी शेर से डर गया। उससे पूछा गया कि तुम साम्यवाद का क्या भला कर सकोगे? उस पर ख़ुश्चेव ने जवाब दिया कि वह कागजी शेर से भले ही डरा हो, लेकिन उसके पास मिसलीज़ हैं। इसलिए हम ख़ुश्चेव से अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह "यतो धर्मः ततो जयः" वाली श्रद्धा से युद्ध करने को तैयार हो। जो लोग इस वचन पर श्रद्धा रख कर सत्य की स्थापना के लिए युद्ध को धर्म्य मानते थे उनकी श्रद्धा प्रामाणिक होते हुए भी उसके परिणामों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनकी यह श्रद्धा भ्रमात्मक थी। वह जय सत्य की नहीं थी, शस्त्रास्त्र की थी। यही कारण है कि आज हम देख रहे हैं कि संहारक शस्त्र-संभार का अपरिमित विकास तो हुआ है, लेकिन उसी अनुपात से सत्य और नीति का ह्रास ही हुआ है। संसार को जैसे-जैसे यह मालूम होता गया कि शस्त्रास्त्रों का प्रयोग यानी सर्वनाश है, वैसे वैसे शस्त्रों से सत्य की स्थापना करने पर श्रद्धा घट गयी। यह स्वाभाविक ही था। इसके बावजूद यदि भारत उस हिंसक शक्ति को अपनाने और विकास करने की बात सोचता है तो यह भी स्पष्ट है कि दूसरों के मुकाबिले में विकास करना आज की स्थिति में भारत के बूते के बाहर की चीज है। इस के अलावा वह असंभव संभव हो भी जाय तब भी उससे समस्या सुलझनेवाली नहीं है।

इसलिए यदि कोई कहता है कि हमें हिंसा से भिन्न किसी दूसरी शक्ति का विचार करना चाहिए तो उसे देशद्रोही या मानवद्रोही नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार जो लोग दूसरी शक्ति को आजमाने की बात सोचते है उन लोगों ने गत १५-१६ दिसंबर के सेवाग्राम के संमेलन में संसार भर की जनता का आवाहन किया और पंचफैसले का विचार प्रस्तुत किया। समस्या का समाधान खोजने की दृष्टि से दोनों राष्ट्रों के बीच परस्पर बातचीत होनी चाहिए, साथ ही जनता के बीच उस दूसरी शक्ति का प्रयोग करना चाहिए ताकि बातचीत के लिए जनता का मानस अनुकूल हो सके। इस भूमिका से सोचें तो यह दूसरी शक्ति कौन सी हो सकती है? उत्तर स्पष्ट है कि यह दूसरी शक्ति वही है जो गांधीजी और विनोबा जी की पद्धति से विकसित हुई है। वह है अहिंसा, प्रेम और सहकार की शक्ति। लोगों में भी यह विश्वास जाग्रत करना होगा कि उस पद्धति से किया जानेवाला प्रयत्न विश्व-शांति का पोषक ही होगा। अन्यथा भारतीय परंपरा पर बड़ा आघात पहुँचेगा।

इस अहिंसक शक्ति पर विश्वास करनेवाले लोग यह नहीं कहते कि चीन के आक्रमण के सामने भारत अपना मस्तक झुका दे। उनका कहना इतना ही है कि दोनों राष्ट्र साथ साथ बैठकर समस्या सुलझा लें, आवश्यकता हो तो किसी तीसरे तटस्थ की मदद लें। और यही उनके पंच-फैसले के सुझाव का अर्थ है।

यह हमें स्वीकार करना होगा कि जिस प्रकार हिंसाशक्ति में सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अहिंसा में भी पर्याप्त सामर्थ्य आवश्यक है। अहिंसा में माननेवालों को अपनी अहिंसा में यह सामर्थ्य बढ़ाने के लिए हर समय प्रयत्न करने का अधिकार है और उनके ऐसे प्रयत्न में, आज की परिस्थिति में भी कोई बाधा नहीं आनी चाहिए। दिल्ली के अणुशस्त्र-विरोधी समेलन में प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था कि वे तत्वतः अहिंसा में मानते हैं, लेकिन जनता अहिंसक उपाय काम में लेने को तैयार हो इससे पहले जनता को ठीक तरह से उसके लिए शिक्षित करना चाहिए। लोगों को यह अहिंसा की शिक्षा देने का काम शासन संस्था नहीं कर सकती, शासन के बाहर के और अहिंसा में माननेवाले लोगों का ही यह काम है। इस प्रकार समस्या को अहिंसा से सुलझाने की बात करनेवाले लोग कोई कट्टरपंथी या ऋषि-मुनि नहीं है, राजनीतिक लोग हैं, क्योंकि वे किसी मोक्ष या पारलौकिक श्रेय की प्राप्ति के लिए जनता को अहिंसा की शिक्षा देने की बात नहीं सोचते हैं, उनका प्रयत्न यही है कि जनता का ऐहिक जीवन सुख और शांतिमय हो और उसके लिए उनके पारस्परिक

व्यवहार में स्नेह और सद्भावना आये। लेकिन आज केवल कोई एक समूह या देश अपने व्यवहार में स्नेह और सद्भावना से काम लेता है तो वह उसके सुख और शांतिमय जीवन के लिए काफी नहीं है। आज मानवता और विज्ञान दोनों की चुनौती है कि सारे विश्व का व्यवहार स्नेह और सद्भावनापूर्ण हो, और तभी छोटे समूहों और राष्ट्रों का जीवन भी सुख और शांतिमय हो सकेगा।

भारत की उत्तरी सीमा में आज संघर्ष जो रुका हुआ है उसे फिर न होने देने का प्रयत्न भारत और चीन दोनों देशों की दृष्टि से करना चाहिए। यह ध्यान में रखना है कि यह समस्या किसी व्यक्ति की, समाज की या अकेले राष्ट्र की समस्या नहीं है; यह विश्व की समस्या है। तभी एक तरफ इग्लैण्ड और अमेरिका भारत की मदद करने आगे आये तो दूसरी तरफ अफ्रीका और एशियाई राष्ट्र भी समस्या का हल खोजने की दृष्टि से कोलंबो में एकत्र हुए। आज यह कहना उचित नहीं होगा कि हम शस्त्रों से मसला हल करने के पक्ष के हैं, पंच फैसले के पक्ष के नहीं हैं। भारत की सरकार तो पंच-फैसले की बात कहने लगी है, लेकिन भारत की जनता को भी वैसा कहना चाहिए और पंच-फैसले को स्वीकार करने के अनुकूल अपना मानस बना लेना चाहिए। संकुचित राष्ट्रीयता के घेरे से बाहर निकलने का, मन के भूलभुलैया से छुटकारा पाने का समय अब आ गया है।

मानव चाहे अंतरिक्ष में रहे चाहे धरती पर, वह यदि शांति और स्नेह चाहता है तो शांति और स्नेह का मूल्य सर्वत्र प्रतिष्ठित होना चाहिए। इसी लिए सर्व सेवा संघ ने विश्वभर में शांति-प्रयत्न में लगे हुए लोगों को सेवाग्राम में निमंत्रित किया था। वहां इस विचार के प्रतिनिधिस्वरूप विदेश के जो लोग उपस्थित थे उन्होंने भी स्पष्ट स्वीकार किया कि यहाँ की यह समस्या केवल यहीं की समस्या नहीं है, सारे संसार की समस्या है। न हम केवल भारतीय हैं, न वे केवल अमेरीकी या केवल अंग्रेज, सब एक हैं। सेवाग्राम में उन सारे शांतिवादी लोगों ने तय किया कि दिल्ली से पेकिंग तक एक मैत्री-यात्रा की जाय। उस यात्रा के पीछे वही स्नेह और शांति का मूल्य है।

आज तक 'जिस की लाठी उसकी भैंस' वाला न्याय चलता रहा है। क्योंकि सत्य-जैसे महान् मूल्य की प्रतिष्ठा भी पाशवी शक्ति से ही करने की कोशिश होती आयी है। इसका परिणाम यह आया है कि जिस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए पाशवी शक्ति का प्रयोग किया जाता है वही शक्ति पहले उस सत्य का ही हनन करती है। जैसा मैं ने पहले कहा है, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा भौतिक शक्ति से करने की आज तक कोशिश जो हुई है, उसी लिए उन मूल्यों की प्रतिष्ठा होने के बदले वह भौतिक शक्ति ही बढ़ी और प्रतिष्ठित हुई है। जब तक आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा आध्यात्मिक और नैतिक साधनों से ही नहीं होती है तब तक सही माने में उन मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं होती है—यह मानव को समझ लेना चाहिए। सत्य की संस्थापना सत्यमय साधनों से ही हो सकती है। इसी प्रकार यदि हम मैत्री चाहते हैं तो तलवार से वह प्राप्त नहीं हो सकती। मैत्री से ही मैत्री सिद्ध हो सकती है।

★

सेवापुरी में नयी तालीम-गोष्ठी

श्री कृष्ण कुमार

सेवापुरी में उत्तर प्रदेशीय नयी तालीम परिसंवाद २२ और २३ दिसम्बर '६२ को हुआ। इस परिसंवाद में भाग लेने वाले ये प्रमुख लोग थे—श्री धीरेन्द्र मजूमदार, श्री केशभान राय (उप शिक्षा मंत्री, उ० प्र०) श्री अभय कुमार करण, श्री राधाकृष्णन (मंत्री, अ० भा० सर्व सेवा संघ) आचार्य राममूर्ति जी श्रीमती सुमदा तैलंग (प्रिंसिपल, फाउण्डेशन फोर न्यू एजुकेशन, पार निमन, राजघाट, काशी), श्रीमती सरला बहन (लक्ष्मी आश्रम, कौसानी), प्रो० आसरानी। इनके अलावा उत्तर प्रदेश गांधी स्मारक निधि के कार्यकर्ता तथा शिक्षा में काम करनेवाले सरकारी और गैरसरकारी लोग भी थे।

श्री करण भाई ने आये हुए अतिथियों का आश्रम परिवार और नयी तालीम परिवार की ओर से स्वागत किया। उन्होंने अपने स्वागत भाषण में कहा कि हमारे समाज में जो समस्याएँ हैं उनका समाधान शिक्षा के अन्दर से निकलना चाहिए। बुनियादी तालीम के अन्दर से तो उसका हल निकलना ही चाहिए। आगे उन्होंने शिक्षा की दो समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया। १ देश के लाखों-करोड़ों लोगों को तालीम कैसे दी जाय? २ उत्तर प्रदेश में बुनियादी तालीम का स्वरूप कैसे निखरे?

इनके बाद उत्तर प्रदेश के उप शिक्षा मंत्री श्री केशभान राय ने बुनियादी तालीम की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि अगर बुनियादी तालीम असफल होती है तो वह पूरे मानव मात्र की असफलता मानी जायगी। बुनियादी तालीम ही एक मात्र वह मार्ग है जिससे मानवता की रक्षा हो सकती है। नयी तालीम का विचार गांधी का विचार है। गांधी व्यक्ति नहीं थे, वे युग थे। उनके इस विचार में पूरी मानवता छिपी हुई है। इसलिए मानवता की रक्षा करने के लिए बुनियादी तालीम की अत्यन्त उपयोगिता है।

श्री धीरेन भाई ने कहा कि नयी तालीम पर विचार करते समय दो घटनाओं को ध्यान में रखना चाहिए। १९४७ में भारत आजाद हो गया और २६ जनवरी ५० को बालिग मताधिकार का एलान किया गया। आजादी के बाद और मताधिकार के एलान के साथ ही शिक्षा का स्वरूप बदल गया। इस ऐलान के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी राजा हो सकता है। इसलिए हर आदमी को बालिग होने तक इतनी शिक्षा तो मिलनी ही चाहिए ताकि वह मेनिफेस्टो को समझ सके। लोकतंत्र की इस चुनौती को ध्यान में रखकर करोड़ों को शिक्षा देने की बात सोचनी चाहिए।

श्री करण भाई ने 'शिक्षा के सघन क्षेत्र" के नाम से परिसंवाद के सामने एक प्रस्ताव पेश किया। जन जन तक शिक्षा कैसे पहुँचे इसकी यह योजना सफल साबित होगी अगर इसमें शक्ति लगायी गयी। श्री करण भाई ने इस प्रस्ताव पर चर्चा करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव गाँव के असंख्य लोगों को शिक्षित करने का है। शिक्षित से मतलब पढ़ा लिखा देने भर नहीं है। उत्पादन बढ़ाने का काम शिक्षण को लेना चाहिए। निम्नलिखित प्रस्ताव परिसंवाद ने स्वीकार किया —

'शिक्षा के सघन क्षेत्र'

"१ १९३७ से आज तक २५ वर्षों के बुनियादी शिक्षा के जो प्रयोग हुए हैं, उनके आधार पर राष्ट्रीय चेतना ने शिक्षा की दृष्टि से उसकी श्रेष्ठता और उपयोगिता को स्वीकार कर लिया है। सरकार की पंच

वर्षीय योजनाओंमें बुनियादी शिक्षा के सख्यात्मक और गुणात्मक विकास का आयोजन हुआ है। इस दृष्टि से उत्तर प्रदेश म बुनियादी शिक्षा के स्टेटबोर्ड की स्थापना एक अत्यन्त समीचीन कदम है। सरकार के अलावा प्रदेश की कई रचनात्मक संस्थाओंने बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रयोग किये हैं।

२ आज जब देश के सामने सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ है तो शिक्षा-पद्धति म ऐसे सुधारों की बात तत्परता पूर्वक सोची जा रही है जिन से विद्यार्थियों म उत्पादन की क्षमता आये और उनके नैतिक-चारित्रिक गुणों का विकास हो। एसी स्थिति म बुनियादी शिक्षा का महत्व कहीं अधिक बढ़ जाता है। यह नया तालीम गोष्ठी महसूस करती है और राज्य सरकार से सिफारिश करती है कि एसा शैक्षणिक और रचनात्मक संस्थाओं को आधार मान कर कुछ चुने हुए विकास क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा का सघन अभ्यास हो। इसके नियमन और सचालन के लिए एक क्षेत्रीय समिति गठित की जाय ताकि इस दिशा मे अविलम्ब कार्रवाई की जा सके। समिति के निम्न लिखित सदस्य हों :—

(१) ब्लाक विकास समिति के अध्यक्ष
(२) स्थानीय संस्था के सचालक (अध्यक्ष)
(३) अंतरिम जिला परिषद के अध्यक्ष अथवा उनके एक प्रतिनिधि
(४) क्षेत्र के कोई एक प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता
(५) क्षेत्र के सहायक उपविद्यालय निरीक्षक
(६) क्षेत्र के सीनियर स्कूलों का एक प्रतिनिधि
(७) क्षेत्र के जूनियर स्कूलों का एक प्रतिनिधि
(८) संस्थागत शाला का प्रधानाचार्य (मंत्री)

३ समिति के मुख्य रूप से ये काम होंगे —

(१) क्षेत्र के गावों में प्रौढ़ शिक्षा का सघन कार्य— ताकि निश्चित अवधि मे कोई अशिक्षित न रह जाय
(२) स्कूलों में सामुदायिक जीवन, सांस्कृतिक और रचनात्मक कार्यक्रम, स्वस्थ और स्वच्छ जीवन का विकास तथा आसपास के समाज से जीवत सपर्क स्थापित करने की दृष्टि से कार्यक्रम बनाना और मार्गदर्शन करना,
(३) स्कूल में चलनेवाले उद्योगों को उत्पादन तथा शिक्षण की दृष्टि से सक्षम बनाना,
(४) उत्पादन, प्रकृति तथा सामाजिक वातावरण को आधार मानकर शिक्षण की समवाय-पद्धति विकसित करना।"

श्री मती सरला बहन ने प्रस्ताव पर चर्चा करते हुए कहा कि सघन क्षेत्र का काम अच्छा है, परन्तु इस काम में समय लगाने की जरूरत है। इसके लिए जीवन समर्पण करना चाहिए। आगे आपने कहा कि हम बालकों के जीवन म जो तत्व देखना चाहते हैं वह हमारे अन्दर भी आना चाहिए। गुजरात की नयी तालीम की सराहना करते हुए कहा कि हम भी उन लोगों की तरह उत्तर प्रदेश में काम कर सकते हैं।

श्री राधाकृष्ण जी ने तीन बातों पर ध्यान दिलाया। उन्होंने कहा कि लोकतन्त्र की परम्परा को स्कूलों में दाखिल करना चाहिए। बच्चों में शुरू से ही लोकतंत्र की भावना पैदा होनी चाहिए। दूसरे तत्व के रूप में स्कूलों में उत्पादन को दाखिल करना होगा। इस समय राइफल ट्रेनिंग का वातावरण है। इसके बजाय अगर उत्पादन का और ठीक ध्यान नहीं गया तो पूरा देश फासिज्म की ओर जायेगा। स्कूलों में तीसरा काम शांति का हो सकता है। शालाएँ अपने क्षेत्र में शांति-रक्षा की जिम्मेदारी ले लें। अबतक शिक्षण ने नेशनल आब्जेक्टिव को ध्यान में रख कर काम नहीं किया है, लेकिन अब उसका ध्यान रखना आवश्यक है।

दूसरे दिन श्री राममूर्ति जी ने सेवाभारती का प्रस्ताव परिसंवाद के सामने रखा और परिसंवाद ने इसको सहर्ष स्वीकार किया। प्रस्ताव पेश करते हुए आपने कहा—"एक एक गाव को विश्वविद्यालय बनाने की कल्पना आज शिक्षा जगत में आ गयी है। वह कब चरितार्थ होगी यह नहीं कहा जा सकता, लेकिन हमारा संगठित पुरुषार्थ उस दिशा में जाना चाहिए

यह निश्चित है। लेकिन ग्राम विश्वविद्यालय के बनने के पहले कोई ग्रामीण विद्यालय बनना चाहिए। ऐसा कोई शिक्षण और शोध का स्थान बने जहाँ शिशु से लेकर प्रौढ़ तक की शिक्षा हो और यह मालूम हो कि किस तरह शिक्षण जीवन के करीब आ रहा है, जीवन के लिए हो रहा है और जीवन के द्वारा हो रहा है। इसलिए यह महसूस हुआ कि सेवापुरी की संस्था को यह जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए। प्रस्ताव निम्न प्रकार है —

'सेवाभारती'

"१ सेवापुरी के १६ वर्षों के इतिहास में बापू का एक स्वप्न सन्निहित है। उनकी प्रेरणा से इस संस्था ने शुरू से ही शिक्षण प्रशिक्षण को अपना मिशन माना और आज दिन तक यह अपनी शक्तिभर उसी काम को करती जा रही है।

२ इस समय 'सेवापुरी में ये शैक्षणिक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं —

(१) पूर्व बुनियादी, बुनियादी और उत्तर बुनियादी
(२) संक्षिप्त महिला शिक्षण (कण्डेन्स्ड कोर्स)
(३) नयी तालीम अध्यापन मंदिर (टीचर्स ट्रेनिंग)
(४) क्षेत्रीय खादी ग्रामोद्योग विद्यालय
(५) ग्राम स्वराज्य विद्यालय
(६) बुनाई अभ्यासक्रम
(७) चर्मोद्योग अभ्यासक्रम

३ इन विविध प्रवृत्तियों को इतने दिनों तक चलाने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अब सेवापुरी को नयी तालीम के क्षेत्र में अगला कदम उठाना चाहिए, यानी अब उसे सेवाभारती के रूपमें विस्तार की दिशा में बढ़ना चाहिए। उत्तम बुनियादी उत्तर बुनियादी के बाद का स्वाभाविक कदम है। विस्तार के अंतर्गत नयी तालीम के विचार का प्रचार, उत्तर प्रदेश के स्थानों में चलनेवाली संस्थाओं को मान्यता देना और उनका मार्ग दर्शन करना, नयी संस्थाएँ विकसित करना, साहित्य निर्माण तथा इस संबंध में जो भी काम आवश्यक हों, आदि सहज आ जाते हैं। इस दृष्टि से यह नयी तालीम-गोष्ठी गांधी स्मारक निधि के उत्तरप्रदेशीय स्टेट बोर्ड से सिफारिश करती है कि इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित सदस्यों की एक स्वायत्त समिति गठित की जाय, ताकि शीघ्र आवश्यक कार्रवाई की जा सके :—

(१) श्री धीरेन्द्र मजूमदार — अध्यक्ष
(२) श्री आचार्य जुगल किशोर — सदस्य
(३) श्री अ० बु० करण — मन्त्री
(४) श्री कपिल भाई — सदस्य
(५) श्रीमती सुचेता कृपालानी — ,,
(६) श्री कमलापति त्रिपाठी — ,,
(७) श्री रामलाल भाई — ,,
(८) श्री राधाकृष्ण — ,,
(९) श्री चन्द्रभूषण — सहमन्त्री
(१०) श्री राममूर्ति — सदस्य ॥

प्रस्ताव पेश करने के बाद श्री राममूर्तिजी ने कहा- "बुनियादी शिक्षा को यह बात तय करनी है, सेवाभारती के तत्त्वाधान में, कि हम समाज में किस तरह की अर्थ-नीति चलाएँगे, समाज के लिए किस तरह की शिक्षा नीति ठीक होगी, किस तरह की समाज-नीति ठीक होगी और यह भी कहा जा सकता है कि किस तरह की राजनीति और किस तरह की धर्म-नीति ठीक होगी।"

सेवाभारती की सबसे बड़ी जिम्मेदारी पर ध्यान दिलाते हुए आचार्यजी ने कहा कि "हम एक दूसरे का सिर तोड़कर क्रान्ति नहीं करना चाहते, हम सरकार के कानून के बल पर क्रान्ति नहीं चाहते, हम अपने पुरोहित के आशीर्वाद पर क्रान्ति नहीं चाहते और हम पुलिस के डंडे से समाज का बदलन में आस्था नहीं रखते। अब अगर हमारी पुरानी आस्थाएँ हिल गयी हैं और बेकार साबित हुई हैं तो बुनियादी शिक्षा आज के जमाने की हमारी आस्था है, हमारा उसमें विश्वास है और हम उस पद्धति से जीवन परिवर्तन और समाज परिवर्तन की बात सोचते हैं और कहते हैं तो इन सब विचारों को आधार मानकर प्रयोग शुरू करना और उस प्रयोग को समाज के साथ जोड़ना और समाज की भूमिका में बुनियादी शिक्षा की सार्थकता को सिद्ध करना है। यह सब जिम्मेदारी सहज ही सेवाभारती पर आती है।"

[शेष पृष्ठ २१४ पर]

एक साल की 'खतरनाक' आयु

अबतक आप बच्चे के मालिक थे, जो चाहते थे खिलाते थे, जहां चाहते थे सुलाते थे, हर चीज में अपनी मर्जी चलाते थे, उसकी मर्जी का सवाल ही नहीं था, लेकिन अब बात बदल गयी है। अब वह एक साल का हो गया है, अब वह समझने लगा है कि वह भी कुछ है और उसकी इच्छा-शक्ति की उपेक्षा पहिले की तरह नहीं की जा सकती। जो चीज उसे पसंद नहीं है उसके सम्बन्ध में वह अपनी स्पष्ट अस्वीकृति प्रकट करना चाहता है। कभी कभी तो वह चीज उसे पसंद है उसके लिए भी 'नहीं' कह देता है—शायद इसलिए कि उसकी मर्जी की कद्र की जाय। इस व्यापार मे मां अक्सर परेशान हो जाती है, लेकिन उसे यह समझना चाहिए कि यह 'नहीं' बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के अंतर्गत है। व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रकृति उसे 'नहीं' कहना सिखाती है।

एक साल के बच्चे के लिए दुनिया की हर चीज कुतूहल का विषय है। वह हर चीज छूना, खाना, उठाना, फेंकना चाहता है। मां कहती है—'बच्चा नहीं आफत है।' वह बेचारी क्या जाने कि उसका बच्चा इस विविध, अपरिचित दुनिया से परिचय बढ़ा रहा है, उसमें अपने लिए रास्ता बना रहा है। वह 'आफत' द्वारा अपने शरीर और बुद्धि का तेज का परिचय दे रहा है। सचमुच वह अपने आप अपने को सिखा रहा है जब कि उसे कोई दूसरा नहीं सिखाता।

बच्चे के लिए यह उम्र बहुत खतरनाक होती है। कब कौन-सी चीज अपने ऊपर गिरा ले, क्या कर दे, क्या खा ले, कोई ठिकाना नहीं रहता। इसलिए जरूरत इस बात की होती है कि बच्चा ज्योंही एक साल का हो जाय घर के सारे सामान की व्यवस्था उसको केन्द्र मानकर की जाय, माता पिता की पूरी दिनचर्या बच्चा केन्द्रित हो जाय। उसकी आजादी में बाधा हर्गिज न डाली जाय, लेकिन जोखिम से बचाने की सतर्कता रखी जाय। अवश्य, बच्चे का रसोईघर मे प्रवेश न हो। वहां आग या दूसरी कोई गर्म चीज छू लेने का भय बराबर बना रहता है। इसी तरह पैसा, वस्त्र, शीशे के टुकड़े, या अनाज जैसी छोटी चीजें सामने न रहें कि वह उन्हें उठाकर मुंह में रख ले और जोखिम पैदा कर ले। बिजली के तार, दियासलाई, स्टोव, कुआं, तालाब, ब्लेड, चाकू, दवा की शीशियां, सिगरेट, स्याही, पालिश आदि चीजें तो बच्चे की पहुंच के भीतर कभी रहनी ही नहीं चाहिए। इसी तरह बच्चे को अपरिचित कुत्तों के पास भी नहीं जाने देना चाहिए।

इस उम्र में बच्चे को केवल इन चीजों से ही नहीं, डरावने दृश्यों और डरावनी ध्वनियों से भी बचाना चाहिए। उसको भय न दिखाया जाय बल्कि डरावने दृश्य या ध्वनि से उसका ध्यान दूसरी चीजों की ओर मोड़ दिया जाय। इस उम्र में बच्चा तेजी से हिलने वाली किसी चीज, जोर के शोर, तेजी के साथ खुलने वाले छाते, किताब के चित्र, कुत्ते की भूक, रेल, परों की तेज फड़फड़ाहट आदि से भी डर जाता है। ऐसी चीजों के पास बच्चे को नहीं छोड़ना चाहिए जबतक कि धीरे धीरे वह आदी न हो जाय।

स्नान के समय बच्चे को नाली में तेजी से बहने वाले पानी, या साबुन के आंख में लग जाने से घबड़ाहट होती है। बच्चा अपरिचित मनुष्यों से भी डरता है। लगभग पांच महीने तक वह किसी से नहीं घबड़ाता लेकिन उसके बाद वह अपरिचित व्यक्ति से सतर्क होने लगता है। कभी-कभी डर के मारे रोने लगता है और देर तक रोता रहता है। और तो और, पिता की मूंछें भी उसके लिए भय का कारण बन

सकती हैं। बात यह है कि अब वह मित्र और शत्रु का भेद सीख रहा है। अच्छा होगा कि थोड़े दिन तक उसे अपरिचितों से जरा अलग ही रखा जाय शीघ्र वह हिलना मिलना सीख लेगा। कई बच्चे मनुष्य से अधिक चीजों में रुचि रखते हैं, उन्हें चिंता नहीं रहता कि कौन आया, कौन गया। सयानों को भी चाहिए कि वे किसी अपरिचित बच्चे के प्रति प्यार दिखाने का जल्दी न करें, स्वयं बच्चे को अपनी मर्जी के अनुसार पास आने या न आने का अवसर दें। जबरदस्ती के प्यार से छोटे बच्चे में अच्छी प्रतिक्रिया नहीं होती।

जब बच्चा चलने लगे तो उसे खुलकर लोगों के पास जाने देना चाहिए। उसे दूकान पर या जहा खेलते हों वहा ले जाया जाय ताकि वह तरह-तरह के लोगों को देखे। जो बच्चे तीन साल तक दूसरे बच्चों से अलग रह जाते हैं उन्हें बाद को हिलने मिलने में कठिनाई होती है।

एक साल की उम्र में बच्चे में दो परस्पर विरोधी बातें दिखाई देती हैं। एक ओर वह मा से जरा भी अलग होने पर रोने लगता है, दूसरी ओर वह स्वाव लम्बी होने की भी कोशिश करता है, नयी चीजों, जगहों और लोगों की ओर झुकता है।

स्वतंत्रता और सुरक्षा की चाह उसमें साथ साथ पैदा होती है। घुटने के बल खिसक कर वह अपने मन से खेलता रहता है, लेकिन अचानक सब कुछ छोड़ कर मा के लिए चिल्ला उठता है। ऐसे समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी स्वतंत्रता में बाधा तो न डाली जाय, लेकिन जब वह सुरक्षा चाहे तो स्वतंत्र बनाने के लिए बच्चे को अलग रखना जब कि वह मा के साथ के लिए चिल्ला रहा हो नादानी का काम है। लेकिन यह भी ठीक नहीं है कि मा बच्चे को हर वक्त चिपकाये घूमती रहे, ऐसा करने से वह समय पर अपरिचित व्यक्तियों या वस्तुओं की आदत नहीं डाल पाता और तरह तरह के भयों का शिकार हो जाता है।

स्वतंत्रता का अभ्यास कराने के लिए एक उपाय यह है कि जब बच्चा चलने लगे तो उसे गाड़ी में चलने घुमाने की जिद नहीं करनी चाहिए। कपड़े गंदे होने के डर से बच्चे को चलने फिरने न दिया जाय, यह मूर्खता की पराकाष्ठा है। जरूर उसे धूल या बालू से मुह में डालने से बचाना चाहिए, कोई दूसरी आकर्षक चीज हाथ में देकर। छोटा बच्चा अपने से अधिक बड़ी उम्र के बच्चे के साथ खेलना पसंद नहीं करता क्योंकि उसकी स्वतंत्रता छिन जाती है।

☆

[पृष्ठ १८५ का शेषांक]

केवल हमारी बुनियादी शालाओं में दाखिल नहीं की जाय तो वह गलत होगा। पसंद करने की स्वतंत्रता हर एक शाला के लिए और प्रत्येक व्यक्ति के लिए मांगी जानी चाहिए।

जब बुनियादी शिक्षा के लोग सामान्य शिक्षा जगत के बीच खमीर का काम करेंगे और विचार प्रवाह बहने लगेगा तभी आगे की छलांग भरने योग्य वातावरण बन सकेगा।

(समाप्त)

बाल-मनोविज्ञान और माता-पिता

श्री आर० एस० विद्यार्थी

बच्चा खेलने का एक साधन है और साथ ही एक समस्या भी है। खिलौने की तरह उससे खेलिए या उससे एक अविवेकी पिता या बेवकूफ माता का सा बर्ताव कीजिए। आप उससे यदि दूसरे प्रकार से पेश आते हैं तो बच्चा अवश्य ही बदमिजाज और चिड़चिड़ा बन जायगा और हमेशा के लिए परेशानी का कारण बन जायगा। लेकिन जहा बेहद प्यार करने से और जरूरत से ज्यादा ख्याल करते रहने से बच्चा बिगड़ सकता है वहा उपेक्षा और सख्ती के कारण वह अपने को उपेक्षित सा अनुभव करने लगता है। अतः बड़ी सावधानी के साथ इन दोनो अतिरेको से बचने की आवश्यकता है।

बच्चो को सही ढग से विकसित करने के लिए थोड़ा सा उनका मनोविज्ञान समझ लेना बहुत आवश्यक है। माता पिता दोनो को समानरूप से उसकी जानकारी कर लेनी चाहिए। यहा एक उदाहरण प्रस्तुत है जिससे पता चलता है कि परिवार चाहे जितना अच्छा क्यों न हो परन्तु माता पिता अपने अन्दर आवश्यक गुणो से यदि नावाकिफ रहे तो बच्चो पर कितना बुरा गुजरता है।

फतेहगढ में बच्चो का एक जेल है। वहा एक जेलर थे जो बाल-मनोविज्ञान के अच्छे जानकार थे। अपने पास आनेवाले प्रत्येक अपराधी बालक का सारा इतिहास और पूरा रेकार्ड वे रखते थे। एक बार उन्होने एक कैदी-बालक का रेकार्ड मुझे दिखाया और उस लड़के से मिलाया भी। वह लड़का लगभग ८ साल का था। देखने में बड़ा सुन्दर और स्वस्थ था। चेहरे से और हाव-भाव से लगता था कि सुशिक्षित, शरीफ उच्चवर्गीय सम्पन्न परिवार का लड़का है। जेलर ने कहा कि वह लड़का पक्का जेब-कतरा है। मेरे सामने उन्होने उस लड़के से अपना करतब दिखाने को कहा और आश्वासन दिया कि उसके लिए उसे कोई सजा नही देंगे। शुरू में लड़का सहमा और इनकार करने लगा। पर जेलर के बार-बार आग्रह करने से और सजा न देने का वचन देने से किसी समय अपनी कला दिखाना कबूल कर लिया।

जेलर अपनी दैनिक गश्ती पर गये और मैं भी अपने कमरे में लौट आया। लगभग २ घण्टे बाद जेलर गश्ती से लौट आये और मुझे भी बुला भेजा। मेज के सामने एक कुर्सी पर वे बैठे थे और दूसरी कुर्सी पर मैं बैठ गया। उन्होने दूसरे भी कई बाल-अपराधियों के रेकार्ड मुझे दिखाते रहे। एक से एक मामला बड़ा दिलचस्प था, कई तो बड़े ही आश्चर्यजनक थे और कई तो छलपूर्ण भी थे। जेलर ने बात करते करते सहज ही अपनी ऊनी कोट की जेब पर हाथ फेरा तो बटुआ गायब था। वे हक्का-बक्का रह गये और सारी जेबें टटोलने लगे। जेब अन्दर से कटी हुई थी। वे आपे से बाहर हो गये और उसी लड़के को बुलाया जिससे थोड़ी देर पहले उन्होने अपना करतब दिखाने को कहा था। लड़का आया और पूछने लगा कि क्या बात है। जेलर गुस्से से भर कर डाटने लगे कि यह तूने क्या कर डाला? मेरी नयी गरम कोट तू ने फाड दी। लड़के ने तसल्ली से जवाब दिया—आप मुझ पर बिगड़ते क्यो हैं? पहली बात तो यह कि मैंने किया कुछ नही। किया भी तो आप के कहने ही पर किया और आप ने सजा न देने का भी वचन दिया। जेलर ठण्डे पड़े और बटुआ

वापस माँगा। लड़का मुस्कुराते हुए बोला-बटुआ मुझ से क्यों माँगते हैं? मुझे बटुआ चुराते हुए आपने देखा थोड़े ही है? लेकिन बाद में उसने बटुआ लौटा दिया और पैसे जाँच लेने को कहा। देखा तो पूरे पैसे पड़े थे। जेलर ने उस लड़के और मेरे सिवा बाकी सबको बाहर भेज दिया और लड़के से प्यार से पूछा कि उसने बटुआ कब उड़ाया। लड़का चुप रहा। फिर दुबारा पूछने पर कहा—जब आप मुझ से करतब दिखाने को कह रहे थे तभी मैंने निकाल लिया था और वह इस ब्लेड से किया था।

लड़के की भेजकर जेलर ने उसका पुराना इतिहास मुझे दिखाया। वह इलाहाबाद का रहनेवाला था और एक जज साहब का लड़का था। अक्सर अपने माता-पिता के साथ चौक तक हो आता था। वे बाजार से सामान खरीदते थे, पर उस लड़के को कुछ भी खरीदने नहीं देते थे। पिता बड़े गुस्सैल थ और उनके गुस्से से वह इतनी बुरी तरह डरता था कि अपनी इच्छाएँ पी जाता था। पिता के सामने उसकी माता भी कुछ बोल नहीं सकती थी। लेकिन वह लड़का हमेशा उन मिठाइयों की ओर लालायित रहता था जिन्हें वह खरीद नहीं पाता था।

एक दिन एक आदमी ने उस लड़के को देखा और इशारे से पास बुलाया। उसने लड़के के हाथ में कुछ पैसे रख दिये और कहा—जो जी में आये खरीद कर खा लो। लड़का पैसे लेकर अपने माता पिता के पास पास चला आया और फिर उनकी नजर बचाकर कुछ मिठाई खरीद ली और अपनी लालसा पूरी कर ली।

वह अपने माता पिता के साथ जब भी चौक जाता तब-तब यही क्रम चलता रहा। एक दिन उस आदमी ने, जो उसे दिया करता था लड़के को अपने साथ चलने को कहा। लड़का उसके साथ चल दिया। दूर ले जाकर उस आदमी ने बताया कि वह किस तरह दूसरों की जेब से पैसे उड़ा लाता है। उस लड़के के लिए जेब-कतराई का यह पहला पाठ था। इसके बाद वह घर लौटा और माता पिताओं से बहाना कर गया कि वह रास्ता भूल गया था। उन्होंने भी इस तरफ खास ध्यान नहीं दिया।

बात यहाँ तक बढ़ती गयी कि कुछ समय बाद वह लड़का उस बदमाश आदमी के हाथ का एक अच्छा खासा साधन बन गया। उस जेब-कतरेने इसे जेब काटने की कला अच्छी तरह सिखा दी और वह जेब काट कर जो कुछ लाता उसे दोनों आधा-आधा बाँट लेते थे। इस तरह से वह लड़का पक्का चोर बन गया और एक दिन रंगे-हाथों पकड़ा गया। उसे एक साल की सजा हुई और फतेहगढ़ की जेल में भेज दिया गया।

उस लड़के के माता पिता बड़े चाव से उसस प्यार करते थे। लेकिन उसकी मा एकदम लाड करती थी और पिता एकदम कड़े थे। लड़का अपने ढंग से बढ़ता गया और उसकी आदतें और भावनाएं उसकी अपनी ही बनती गयी। वह अपने पिता स किसी बात के लिए कुछ पूछता नहीं था और पिता की वह कठोरता उससे सहन नहीं होती थी। उसकी दबी हुई अभिलाषायें बदमाशों के सहारे पलने लगी और बेताब हो कर दौड़ने लगीं। उन बदमाशों ने उसे जब काटना सिखाया और अपना उल्लू सीधा करने का उसे एक साधन बना लिया। ऐसे अच्छे भले घर का लड़का इस तरह से जेब-कतरा बन गया।

जेलर ने बाल-मनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन के लिए इस लड़के के केस को चुना। उनके अध्ययन का निष्कर्ष बताता है कि उस लड़के के माता पिताओं ने उसकी देखभाल ठीक तरह से नहीं की। उसकी जो भी इच्छा होती थी मा बिना कुछ सोचे विचारे ही उसे पूरी कर दिया करती थी। पिता का बर्ताव इससे बिलकुल विपरीत था। लड़के के सामने पिता हमेशा अपना रौद्र रूप ही दिखाता रहा और लड़का उससे हरदम भयभीत रहता रहा। लड़के की आवश्यकताओं के सबंध में पिता की अपनी ही कुछ धारणाएं थी और वह उन्हें अपने ही ढंग से पूरी कर दिया करता था, बच्चे से कुछ भी सलाह नहीं करता था।

लड़का यों तो बाहर से चुप रहता, लेकिन अंदर ही अंदर वह विद्रोही बनता जा रहा था और किसी कदर पिता की निगाहों से बच निकलने की ताक में रहता था। पिता के अनुशासन की आड़ म बच्चे के अंदर यह जो विद्रोह और विरोध की भावना पनपती जा रही थी

उसकी ओर न माता ने ध्यान दिया और न पिता ने ही सोचा। उस लडके को गुमराह होने के लिए एक अजनबी आदमी का छोटा सा लालच काफी हो गया कि वह आगे चल कर एक पक्का जेबकतरा बन गया। न तो उस सरल पिता ने न उस बेवकूफ माता ने कभी सोचा था कि उनके उस प्रकार के बर्ताव के कारण उनका प्यारा बच्चा या जेब-कतरा बन जायगा। लेकिन जेल के अंदर उस दयालु जेलर के सद्व्यवहार के कारण उस लड़के ने समझ लिया कि वह गल्ती कर रहा है, गुनाह कर रहा है। जब वह जेल से बाहर आया तो उसने वह धंधा छोड दिया, क्यो कि उसने अनुभव कर लिया था कि जेब काटना एक ओर सामाजिक पाप है तो दूसरी ओर अनैतिक काम भी है।

वास्तव में बच्चों को अपनी इच्छा से कुछ करने-धरने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, पर इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चो की ओर ध्यान ही नही दिया जाय या पूरी सजगता न बरती जाय। बच्चो को न धमकाने की जरूरत है, न लाड लडाने की, इतना भर काफी है कि अपने खुद के आचरण से कोमल मार्गदर्शन किया जाय। बच्चो में अनुकरण करने की एक जबरदस्त नैसर्गिक शक्ति होती है और वह हमेशा खुद देखने और खुद सुनने को उत्सुक रहता है। उसे ऐसी चीजें देखने नही देनी चाहिए जिनके बारे में हम सोचते हो कि बच्चे वैसा न करें। विवेक करने की शक्ति बच्चों में बिलकुल नही होती। बच्चे दूसरा को जो कुछ करते देखते है वही खुद भी करने की कोशिश करते है। इसलिए बच्चो के लिए पहला शिक्षण यही है कि उन्हें ऐसी चीजें देखने न दें और ऐसी बातें सुनने न दें जिनके बारे में हम चाहते हैं, कि बच्चे वैसा न करें या वैसा न बोलें। इस मामले में यदि उपेक्षा बरतते हैं या असावधान रहते हैं तो नतीजा यह होगा कि बच्चे जिद्दी और बेकाबू बन जाते हैं। बच्चो को बाजार ले जायँ, वहा बच्चे दूसरे बच्चो को खाते या चीजें खरीदते देखें और फिर इन्हें कुछ भी खाने या खरीदने न दें तो निश्चित ही हम बडी भूल करते हैं और बच्चो के प्रति हम बडे गुनाहगार होगे। ऊपर का दृष्टान्त इस बात की सचाई के लिए पर्याप्त प्रमाण है। माता-पिताओं को बच्चो के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। यह समझने के लिए भी उपर्युक्त घटना काफी है।

बच्चो को जन्म से लेकर किशोरावस्था तक अपने घर के अंदर जितना उत्तम शिक्षण मिलता है वे आगे चल कर उतने ही सुसंस्कारी बनेंगे। माता-पिता अपने दैनिक जीवन के प्रत्यक्ष उदाहरण से बच्चों को बहुत अच्छी तरह विकसित कर सकते हैं और शिक्षित कर सकते हैं। माता-पिता चाहते हो कि बच्चे अच्छे नागरिक बनें तो उन्हें खुद अपना चरित्र आदर्श शिष्टाचार-संपन्न बनाना होगा। सही बात तो यह है कि इस प्रकार माता-पिता अपने बच्चो का जीवन बनाने लगते हैं तब स्वयं बच्चे भी अपने माता पिताओ का चरित्र ढालते जाते है।

(कुरुक्षेत्र से साभार)

★

संस्कार-शिक्षण

३०-११-६२

१ मैंने अपने कर्तव्य को इतिश्री को नापा बच्चा के भावों से। उन्होंने प्रेम और अपनापन महसूस किया, यह पर्याप्त था। अब जो गणित, भाषा आदि की बात है वह गौण हो जाती है। संस्कार और वृत्ति की शुद्धि प्रधान हो जाती है। इस शुद्धि का अपने आप में महत्व जीवन की इस कृति से गुथा है, स्वतन्त्र तो कुछ है नहीं।

२ मात्र सफाई में लडकों को अभी ऊब होती है। उसके साथ सुशोभन को जोड देने से उत्साह बना रहता है। साथ ही बच्चों के मानस को अभिव्यक्ति के लिए एक स्वतन्त्र वृत्ति भी हो जाती है। किस बच्चे ने किस तरह फूलों को रखना पसन्द किया, किस तरह के फूल चुने, इसका रेकार्ड रखने से अंतर्मन का कुछ संकेत मिलने में सरलता होगी। सफाई को सुशोभन के साथ जोडने से बच्चों को एकाग्र होने और प्रसन्न रहने का सहज ही आधार मिल जाता है। मानव कृत सौंदर्य ब्रह्म को भी आकर्षित करता है। उपासना और सजावट का मेल शास्त्रीय है।

सुशोभन के साथ-साथ सफाई और व्यवस्था अपने आप आ जाती है। भावों, बेंच आदि को भी सुघडता की दृष्टि से जमाने की कला भी इन बच्चों में विकसित हो रही है।

बच्चों का चीजें कभी-कभी स्वयं व्यवस्थित कर दें तो उसका असर उनके मानस पर अच्छा पडता है। मैंने देखा कि सुबह सबने अपने चप्पल एक कतार में टंगे पाये तो एक दूसरे को ओर देख कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। व्यवस्था का तत्व आँखें जल्दी ग्रहण कर लेती हैं, कान नहीं। केवल बताते रहने से वे समझ ही नहीं पाते कि जैसा है उसी तरह छोड देने में क्या नुकसान है। आँख देख लेती हैं तो हाथों में क्रिया बढ जाती है।

८-१२-६२

३ हम लोगों में से एक को बात दूसरे से बच्चे गलत ढंग से कहते हैं। इस चीज को दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। चन्द्राने इसी तरह की बेवकूफी की। उसे और दूसरे लडकों को बुलाया, पूछा। जो बात सचमुच थी उसमें और उसने कही उसमें क्या अंतर हो गया, यह उन्हीं लोगों द्वारा समझाया गया। बात जैसी सुने उसी तरह याद न रहे तो कभी इधर की उधर नहीं कहना चाहिए। किसी को बात किसी से कहने में एक प्रकार का आनन्द मिलता है जिसका आगे जाकर कभी-कभी बहुत हीन स्वरूप प्रकट होता है।

४ प्रार्थना का समय। कुदाल को टांग दिया गया है, घंटी का काम देती है। सुन कर लडके क्या, राही भी रुक जाते हैं। को आने में देरी हुई। शांति-मन्त्र शुरू होने के कुछ पूर्व ही साइकिल देख कर बच्चों ने कहा—'जल्दी से शुरू की जाय, पण्डित जी देर से आये।' बच्चों के इस वाक्य में कुतूहल, आनन्द के साथ बडप्पन भी था। उस बडप्पन को वे प्रकट होने देना नहीं चाहते थे। मैंने पूछा—'अच्छा, पण्डित जी देर से आ रहे हैं तो क्या किया जाय?' सब के सब बोले—'डांटा जाय, डांटा जाय।' कौन इस क्रिया को करे? सब पीछे हटने लगे जब कि तमन्ना हर एक की थी। रिहर्सल कराया। जिसकी डांट अच्छी जम जाय वह डांटे, यह तय हुआ। बारी बारी रिहर्सल शुरू किया। इस रिहर्सल में सारी सुप्त बातें निकल रही थीं जो समय समय पर उन्हें सुनने को मिलती थी पर चूंकि छोटे हैं इसलिए सुन कर चुप रह जाते थे। इतना सब होते होते पण्डितजी के पहुँचने की भनक सुनाई दी तो तत्पर हो कर शांतिपाठ किया। समाप्ति पर मैंने सारी बात कह सुनायी। बच्चों के मन से भय निकले और आत्मानुशासन उसकी जगह ले, यह कठिन नहीं है, अगर हम लोग अपनी-अपनी जगह कुछ सहनशील बनें तो। हम सुधार के, व्यवस्था व शांति के और नियमितता के ठेकेदार बने रहते हैं, इसलिए उन लोगों का सहयोग नहीं प्राप्त कर पाते।

—क्रान्ति बहन

★

हम शिक्षक क्या करें ?

श्रीमती मार्जरी साइक्स

गत नवम्बर के प्रारंभ में सामुदायिक विकास के लिए प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे कुछ सरकारी तथा गैर-सरकारी कार्यकर्ताओं से मिलने और चर्चा करने का मुझे मौका मिला था। हम सभी के दिमाग में प्रधानता सीमा पर उत्पन्न आकस्मिक स्थिति को ही थी और कइयों ने मन की बात शब्दों में व्यक्त किया "हम इस काम में क्यों लगे रहें? ऐसे समय में इन विकास-कार्यों से क्या होता है? हमें उठ खड़े होना चाहिए और कुछ करना चाहिए।"

संभव है कि कई शिक्षक और छात्र भी ऐसा ही सोचते हों 'ऐसे समय में स्कूल चला कर क्या होगा? हम उठ खड़ा होना चाहिए और कुछ करना चाहिए।' साथ ही यह भी संभव है कई बुनियादी शालाओं के शिक्षक इस बात से हैरान हों कि अहिंसक समाज-व्यवस्था कायम करने के लक्ष्य को लेकर चलनेवाली इस शिक्षा का आज कहाँ और क्या स्थान है।

यह अच्छा हुआ कि हम लोगों को एक धक्का लगा। हम सब के लिए यह बहुत सहज है कि कुछ आलसी बन जायें और अपने काम में शुरू का उत्साह खो बैठें। कभी कभी अच्छे से अच्छे शिक्षक भी अपनी ताजगी खो देते हैं और निष्प्राण और जड़ दैनिक कार्यक्रम में घिर जाते हैं। इस दैनिक कार्यक्रम के चक्कर में से बाहर निकलने के लिए इस सीमा संघर्ष के समाचार ने अच्छा धक्का दिया। इस ने भारत के लगभग प्रत्येक निवासी को नये सिरे से अपने आप से प्रश्न करने को प्रेरित किया कि वह देश की अधिक अच्छी सेवा किस प्रकार कर सकता है। इस बात पर भी सोचने को यह अच्छा मौका है कि हमारे स्कूल, हमारे शिक्षक और हमारे छात्र देश की अच्छी सेवा किस प्रकार कर सकते हैं। 'हमें उठ खड़ा होना चाहिए और कुछ करना चाहिए।'

हमें क्या करना है? मेरा निश्चित मत है कि यदि हमारे अंदर अपने बच्चों के प्रति कुछ भी प्रेम और दिलचस्पी है तो हमें स्कूल हरगिज बंद नहीं करना चाहिए। बल्कि अब तक जितना करते रहे हैं उससे अधिक चिंतन, अधिक समय और अधिक शक्ति अपने स्कूलों के लिए देना चाहिए। अच्छे स्कूल वे नहीं हैं जहाँ के शिक्षक प्रतिदिन ५ घंटे के जड़ कार्य से संतोष कर लेते हों, बल्कि अच्छे स्कूल वे हैं जहाँ के शिक्षक-भाई और बहन बच्चों के लिए मन और शरीर दोनों से अपना कड़ा श्रम करने में पूरा समय लगाते हैं।

एक शिक्षक से देश-सेवा के रूप में यही अपेक्षित है कि वह 'शिक्षक के नाते' अपना कर्तव्य पूरी शक्ति लगा कर जितना अच्छा निभा सकता हो निभाये। यदि शिक्षक १० बजे से ४ बजे तक प्राणहीन, क्षमता-शून्य और जड़ शाला चला कर ही संतोष कर लेता है, तो बावजूद इसके कि वह स्कूल के समय से अलग सुबह-शाम किसी दूसरे प्रकार की 'सुरक्षात्मक' प्रवृत्तियों में भाग लेता हो, देश सेवा के काम में विफल ही माना जायगा। वास्तव में शिक्षक की देश-सेवा बच्चों की, बच्चों द्वारा और बच्चों के साथ की सेवा ही है।

बच्चों की सेवा

सन १९४० में जब नार्वे पर हिटलर की सेना ने धावा बोल दिया और हिटलर के प्रतिनिधियों ने कब्जा जमा लिया तब नार्वे के सारे शिक्षकों ने निश्चय किया कि वे पढ़ाने का काम छोड़ेंगे नहीं। बच्चों की सेवा के निमित्त उन लोगों ने स्कूल जारी रखे। प्रत्येक शिक्षक ने कक्षा के सामने पवित्र संकल्प दोहराया कि बच्चों को वे कोई ऐसी बात नहीं पढ़ायेंगे जो नैतिक दृष्टि से गलत है और अपनी अंतरात्मा के विरुद्ध है।

आज भारत के प्रत्येक शिक्षक को अपने मन में इसी प्रकारका संकल्प कर लेना चाहिए। उसे निश्चय

कर लेना चाहिए कि वह अपनी क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करने की व्यवस्थित योजना बना लेगा और कक्षा के कामों की इतनी पक्की तैयारी कर लेगा ताकि बच्चों का जरा भी समय व्यर्थ न जाय। उसे अपने बच्चों की रुचि सजगता और विषयों को फौरन सीख लेने की शक्ति बनाये रखनी चाहिए।

बुनियादी शाला के शिक्षक को विनोबाजी की यह बात स्मरण रख लेना चाहिए कि लिखना, पढ़ना और गणित आदि विषयों का, जो कि ज्ञान-साधन हैं, पूरा ज्ञान प्रतिदिन की एक घंटे की कुशल पढ़ाई से प्राप्त हो जाना चाहिए।

इसका अर्थ है कि शिक्षक का स्वानुशासन, नियमितता और सब से बढ़ कर कठिन श्रम। अर्थात् होमगार्ड के लिए कवायद कराने में रोज ३ घंटे बिताने की अपेक्षा अधिक श्रम और अधिक स्वानुशासन। यह मन और शरीर दोनों के लिए कठिन है। यह कोई नाटक नहीं है। लेकिन एक ईमानदार शिक्षक को इससे कम में संतोष नहीं मानना चाहिए। उसे महसूस होना चाहिए कि शाला में पूरे दिन के कठिन श्रम के रूप में देश-सेवा किये बगैर देश से पूरे दिन का वेतन लेना नैतिक दृष्टि से ठीक नहीं है।

बच्चों की सेवा का यह भी अर्थ है कि बच्चों के स्वास्थ्य और विकास की ओर प्रेमपूर्वक और सजगता के साथ ध्यान दिया जाय। दोपहर का खाना हुआ स्कूल के बगीचे के उत्पादन का बटवारा हुआ और इसी प्रकार कोई भी प्रसंग हो सबको शिक्षा का ही अंग मान कर उन्हें बच्चों के सक्रिय सहयोग से और पढ़ाई के ही समान अत्यन्त प्रामाणिकता क्षमता और नियमितता से करना चाहिए। इस सब के अलावा शिक्षक को बच्चों के घर जाकर उन के माता पिताओं से मित्रता स्थापित करने के लिए भी कुछ समय देना चाहिए जिससे बच्चों की भलाई से संबंधित सभी बातों में स्कूल और घर दोनों के बीच सही विश्वास और सहयोग प्राप्त हो सके।

बच्चों के द्वारा सेवा

बच्चों के द्वारा सेवा करने का विचार शिक्षक पर एक ऐसा अवसर और उत्तरदायित्व डालता है कि वह शिक्षक के नाते बच्चों को स्वस्थ, सामाजिक दृष्टिवाला, उपयोगी तथा अपने देश और मानवता लिए सेवा करने को तैयार मानव के रूप में विकसित करे। इसके बहुत प्रमुख अंग हैं स्वयं शिक्षकों की अपना कठिन श्रम करने की क्षमता, ईमानदारी, नियमितता और हर प्रकार का स्वानुशासन। क्यों कि आखिर शिक्षक वही सब सिखाता है जो वह खुद है। हमारा अपना शिक्षण-कार्यक्रम जितना उत्तम होगा उतना ही बच्चे अच्छे सिद्ध होनेवाले हैं। इसका दूसरा पहलू यह है कि शाला को अपने इलाका एक ओजस्वी सामूहिक जीवन विकसित कर लेना चाहिए। सभी प्रवृत्तियों में, उनके संगठन और प्रत्यक्ष काम दोनों में, जहां जहां संभव हो वहां बच्चों का हाथ अवश्य होना चाहिए। इस संबंध में काफी लिखा जा चुका है और अच्छी बुनियादी प्रशिक्षण शालाएँ इसे कार्यान्वित करके दिखाने का बराबर प्रयत्न कर रही हैं। लेकिन यह बार-बार दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि निःस्वार्थ सामूहिक कार्य, अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना लेना सहिष्णुता आदि नागरिक गुणों का विकास ऐसे नागरिक जीवन के अभ्यास से ही किया जा सकता है। मकान और अन्य सरजाम आदि की देखभाल करने में, दैनिक कार्यक्रम के संयोजन में व", पाखाना आदि की सफाई में, पुस्तकालय और बगीचे की व्यवस्था और काम में, अतः वर्ग में बैठ कर जो कुछ सीखना सिखाना होता है उन घंटों में भी बच्चों को बराबर यह शिक्षण मिलते रहना चाहिए कि सम्मिलित जिम्मेदारी क्या है और एक दूसरे की भलाई और प्रगति का ख्याल कैसे रखा जाता है। इसका अर्थ है शिक्षक का अधिक काम, कम नहीं। साथ ही यह भी कि आनन्द रुचि और संतोष में वृद्धि।

बच्चों के साथ सेवा

बच्चों के साथ सेवा करने का अर्थ है शिक्षक और बच्चे दोनों मिल कर अपने क्षेत्र के लोगों के लिए उपयोगी कोई साधारण सा सेवा-कार्य अपने हाथ ले लें। चीन के संघर्ष के कारण जो धक्का देश को लगा है उससे स्कूलों को भी लाभ उठाना चाहिए और अपने आस पास की जनता की सेवा किस प्रकार की जा सकती है इस संबंध में नये सिरे से सोचना चाहिए। अधिक किये गये कठिन श्रम के कारण और अधिक दक्षता से पढ़ाने के

कारण जो समय बचता है, शिक्षक और छात्र दोनो को उस समय का उपयोग समाज-सेवा की किसी प्रवृत्ति में करना चाहिए। स्वेच्छा से अतिरिक्त समय भी दिया जा सकता है। ऐसी कुछ प्रवृत्तिया ये हो सकती हैं —

१ बच्चो के घरो और शाला के बगीचो में सघन काम और सही पद्धति द्वारा खाद्य सामग्रियो का उत्पादन बढाना,

२. अपने आस-पास के क्षेत्र की नियमित सफाई, घास-फूस और जगली पौधो को उखाडना और सभी प्रकार के कचरे से उत्तम कम्पोस्ट खाद तैयार करना,

३ बूढों और रोगियो के लिए पानी भरना, उन तक समाचार पहुँचाना, उन के लिए बाजार से सामान लाना, घर की सफाई आदि आवश्यक सेवा करना,

४ छोटे-छोटे शिविरो का आयोजन करना जहा बच्चे और शिक्षक मिल कर कुओ और तालाब के आस-पास की गदगी हटाने, सडक या मैदान से काटा आदि साफ करने—जैसे अपनी शक्ति के अनुरूप श्रम-कार्य कर सकें।

दो बातें और हैं जिन पर इस छोटे से लेख में भी ध्यान देना आवश्यक है। एक तो यह कि देश में रहनवाले विभिन्न सामाजिक और सास्कृतिक परपराओ के लोगो के बीच स्थायी और ठोस एकता की भावना बनाये रखने का एक शक्तिशाली साधन ये स्कूल बन सकते हैं। आज इससे बढ़कर और इससे जल्दी का दूसरा काम नही है कि लोगो के मन में समान लक्ष्य की निष्ठा और भावना जगायी जाय और जाति या सप्रदाय के भेदो का ख्याल न करते हुए केवल एक पडोसी के नाते सब का ख्याल रखने की वृत्ति बढायी जाय। शाला-समाज इस व्यापक निष्ठा का प्रशिक्षण स्थल है।

दूसरी बात यह कि यह कभी नही भूलना चाहिए कि हम सही तौर पर 'जयहिंद' तभी बोल सकेंगे जब हम 'जय जगत' भी बोलें। किसी बाहरी खतरे की ओर ध्यान खीच कर अपने आपसी छिटपुट विवादो को भुला देना और इस प्रकार एक अस्थायी एकता स्थापित कर देना आसान है, लेकिन ऐसी एकता खतरे के दूर होने पर शायद ही टिक पाती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम रचनात्मक कार्यों म सहकार करने से प्राप्त आनन्द की अनुभूति की गहरी बुनियाद पर प्रतिष्ठित एकता लाने का प्रयत्न करें। वह एकता और आत्मीयता की भावना इतनी व्यापक हो कि उसके अदर मानव-मात्र समा सके, वे भी छूट न जायें जो तात्कालिक घटनाओं के कारण कुछ समय के लिए हमारे विरोधी बन होते हैं। हर प्रकार की सही स्वतत्रता का मूल भय-मुक्ति और द्वेषमुक्ति में है।

★

[पृष्ठ १८८ का शेषाश]

मिले। कहीं-कहीं इसी विचार से बेटियों को जीते-जी योजना पूर्वक मौत के रास्ते लगाया जाता है। उन्हें कम से कम खिलाना, बीमार पड़ने पर दवा न करना, बासी खिलाना, फटे कपडे पहनाना, मजदूरिन की तरह दिन-रात घर का सारा काम उनसे कराना और उन्हें हर तरह सताना, रुलाना, दबाना, यही आज की हमारी एक प्रतिष्ठित रीति बन गयी है। देश के अनगिनत घरों में आज भी कम-ज्यादा यही हवा है और दुर्दैव यह है कि वह जोर पकड़ती जा रही है।

जिस देश में बचपन से बच्चों के साथ इतना घोर दुर्व्यवहार होता है, उस देश की नयी पीढ़ी का जीवन अनेकानेक कुण्ठाओं, अभावों, अतृप्तियों, विकृतियों और मानसिक एवं शारीरिक दुर्बलताओं से भरा पूरा हो, तो इसमें आश्चर्य क्या? प्रश्न यही उठता है कि क्या भारत-राष्ट्र के गौरव की और जीवन की रक्षा का काम जिन्हें आज सम्भालना है और भी आगे भी सम्भाले रहना है, उन्हें हमारा यह पुरातन देश अपनी ओर से जो उपहार देगा, क्या वे ऐसे ही हीन और मलिन प्रकार के उपहार होंगे? क्या शासन में, समाज मे और परिवार में मुखिया बनकर बैठे हमारे बड़े और बुजुर्ग आज के इस भारी सकट-काल में प्रश्न के इस गम्भीर पहलू पर ध्यान नहीं देंगे? आज नागरिक को इस मामले में नए सिरे से प्रशिक्षित नहीं करेंगे? हमें लगता है कि यह सब आज ही से सोचा और किया न गया, तो भविष्य गड़बड़ ही रहेगा।

★

ग्राम-कार्यकर्ताओं की हस्तपुस्तिका का सारांश

पाकिस्तान के ग्रामीण कृषि-उद्योग विकास विभाग की योजना का एक अंश

ग्राम-कार्यकर्ता तब प्रभावशाली हो सकेंगे जब उन्हें ग्रामीणों के काम की बातों का प्रशिक्षण मिले। उन्हें केवल यह जान लेना पर्याप्त नहीं है कि वे काम कैसे किये जाय, बल्कि उन्हें कैसे करना है यह लोगों को दिखाने की भी क्षमता और तैयारी उनमें होनी चाहिए। उनमें लोगों को प्रेरणा देने की और उनमें इच्छाएँ जगाने की क्षमता होनी चाहिए, भविष्य के प्रति आशा होनी चाहिए, अपने साथियों के कल्याण की फिक्र रहनी चाहिए और उस संबंध में प्रयत्नशील होने की सेवाव्रत की (मिशनरी) भावना होनी चाहिए। दूसरों में यह सब निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकर्ता खुद ऐसा बनें।

इस प्रकार के सर्वतोमुखी ग्राम-कार्यकर्ताओं का एक वर्ग तैयार करने के लिए उन्हें कृषि, पशु-पालन, स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, पारिवारिक-अर्थनीति, सहकारिता और ग्रामोद्योगों का बुनियादी तात्त्विक और प्रात्यक्षिक ज्ञान देना बहुत आवश्यक है। चूँकि कार्यकर्ता इन सब कामों में बुनियादी और प्रमुख स्तंभ हैं अतः इन विषयों का ज्ञान उन्हें अनिवार्य रूप से उपलब्ध कराना ही चाहिए। कार्यकर्ताओं को इस प्रकार का प्रशिक्षण देने और ग्रामीण विकास से संबंधित नयी-नयी जानकारियाँ समय समय पर सतत उन्हें देते रहने के लिए सरकार के विभिन्न विभागोंका सहयोग अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् प्रशिक्षार्थियों के लिए विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के अपने अपने विषयों पर भाषणों और प्रदर्शनों का आयोजन करना होगा। इसका अर्थ यह कि सरकारी स्रोतों को इस भावना से और इस ढंग से सक्रिय होना होगा कि कालेजों, विश्वविद्यालयों और सरकारी फार्मों में जो शोध चलते हैं उन्हें समाज में प्रत्यक्ष लागू करने के लिए ये कार्यकर्ता अच्छा साधन बन सकें।

शुरू में इस दिशा मे किये गये बहुत से प्रयत्न विफल हुए थे, क्योंकि ग्रामीणों से जिन कामों की अपेक्षा थी उन कामों को हमारे विशेषज्ञ, वैज्ञानिक या सरकारी अधिकारी खुद अपने हाथ से करके दिखाने में असमर्थ रहे और वह सब करने को वे मन से तैयार भी नहीं थे। इस लिए प्रत्येक कार्यकर्ता से और सरकारी कर्मचारी से यह अपेक्षा है कि जो कुछ करना है उसे वह स्वयं अपने हाथ से प्रत्यक्ष करके दिखायें। इस प्रकार प्रत्येक कर्मचारी अपने-अपने विशिष्ट कार्यक्षेत्र में वस्तुतः ग्राम-कार्यकर्ता बन जाता है।

सामान्यतया ग्राम-कार्यकर्ता का प्रशिक्षण एक वर्ष का रहता है। उसे वहाँ सुधरी पद्धति से भूमि तैयार करना, बीज बोना, जोतना, खाद डालना, सुधरे बीजों का ज्ञान, कीड़ों से फसल का बचाव और गाँव के कूड़े-कचरे से खाद बनाना आदि सिखाया जाता है। रोगों के सामान्य कारण, मलेरिया, हैजा, विषमज्वर आदि बीमारियों को रोकने के उपायों का भी ज्ञान दिया जाता है। इस बात का भी शिक्षण उन्हें मिलता है कि पशुओं का इलाज कैसे होता है, नसल कैसे सुधारी जाती है और सुधरी नसल के पशु कहाँ मिलते है और ग्रामीणों को वह किस तरह उपलब्ध हो सकते है। उसे बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त भी जानने होते है। लोगों में कुछ सीखने की इच्छा जागृत करने की तथा उनकी उस आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता भी उसमें होनी चाहिए। कार्यकर्ता को सहकारिता के सिद्धांत भी जानने चाहिए और लोग अपने लाभ की दृष्टि से जिन कामों मे सहकार करना चाहें उनमें उन को मदद कर सकना चाहिए। गाँव के लोगों में नेतृत्व पैदा करने और व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से विशाल प्रयत्न अपने हाथ में लेने की शक्ति उनमें पैदा करने की योग्यता कार्यकर्ता में होनी चाहिए। कार्यकर्ता को इस बात का भान होना चाहिए कि कौन सी समस्या

उसकी सामर्थ्य से बाहर की है और उसे हल करने में कहाँ से विशेष सहायता प्राप्त हो सकती है। उसे अपने जीवन में उद्योग, मितव्ययिता, अच्छा नागरिकत्व और सफाई का नमूना पेश करना चाहिए।

विज्ञान के इस विशाल कार्यक्रम को प्रत्यक्ष क्षेत्रों में लागू करते समय इसका स्वरूप भिन्न भिन्न हो सकता है। परन्तु बुनियादी सिद्धात सर्वत्र एक ही होगा। अतः कार्यकर्ता जिस क्षेत्र के लिए तैयार किया जा रहा हो उस क्षेत्र की तुरत की आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से उनका पाठ्यक्रम भी बदल जाता है।

प्रसार कार्य की पद्धतियां

लोग अपने लिए जिन बातो की आवश्यकता महसूस करते हो उनकी पूर्ति की दृष्टि से सहायक क्रियाओ और पद्धतियो का बार बार उनके सामने प्रदर्शन किया जाता है और उन्ही के आधार पर प्रसार-कार्य आयोजित किये जाते हैं।

तुरंत परिणाम दिखाने वाले प्रदर्शन—

पहले-पहल होनेवाले प्रदर्शनो का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिनका परिणाम तुरन्त दिख सके। इसमें सुधरे हल, बोने की सुधरी पद्धति, कीडा के प्रभाव की रोक थाम, दीमक नाश, सुधरे चूल्हे का निर्माण आदि चीजो का समावेश हो सकता है। इन चीजो को स्पष्ट देखा जा सकता है और तुरत निर्णय भी लिया जा सकता है कि ये नया पद्धतिया वास्तव मे सुधरी हुई पद्धतिया है या नहीं। इनको काम में लेने का निर्णय गाववालो के ऊपर छोड देना चाहिए, उन पर कोई निर्णय थोपना नही चाहिए।

ऋतु विशेष मे परिणाम दिखाने वाले प्रदर्शन

उपर्युक्त प्रकार के प्रदर्शन एक बार या लगातार कुछ समय तक दिखाने के बाद और किसान को यह अनुभव होने लगे कि इन से उनको लाभ होना है तो दूसरी ऐसी चीजो के प्रति भी उसका रुख अनुकूल हो जाता है जिनकी उपयोगिता या अनुपयोगिता का निश्चय करने के लिए लबा समय लग सकता है। इस प्रकार के प्रदर्शन मे गेहूँ, धान, कपास, पटसन, दलहन या अन्य फसलो की सुधरी जाति का उपयोग रासायनिक खाद, हरी खाद, फल के पौधों की छँटाई और दवा का छिड़काव आदि क्रियाओ का समावेश हो सकता है। ऐसी क्रियाओ के प्रदर्शन का परिणाम कुछ समय के बाद ही देखने को मिलता है। यहां भी उत्पादन की दृष्टि से नयी और पुरानी पद्धतियो में तुलनात्मक विवेचन गाववालो को ही करने देना चाहिए। जरूरी बात यह है कि एक ही प्रकार के एकाधिक प्रदर्शन गाव के पास, चलकर देखने योग्य फासले पर किये जाने चाहिए ताकि लोग नयी पद्धति को अपनाने या ठुकराने का निर्णय लेने से पहले एक बार सारे प्रदर्शनो को अपनी आखों से देख सकें। यह इसलिए जरूरी है कि अक्सर यह सभव है कि जहा प्रदर्शन किया गया हो वहा की परिस्थिति सब जगह न हो और इस प्रकार वह प्रदर्शन भ्रम पैदा करने वाला सिद्ध हो जाय। एक ही प्रदर्शन देख कर निर्णय ले लेना शायद गलत भी हो जाय। इस लिए लोगो को अलग-अलग प्रदर्शनो को ठीक देखने और उसके बाद ही निर्णय लेने को प्रेरित करना चाहिए।

लबे समय के बाद परिणाम दिखाने वाले प्रदर्शन

कई क्रियाएं ऐसी हैं जो ग्रामीणो के लिए बहुत लाभदायी तो हैं पर ऐसे सिद्ध करने के लिए जो परिणाम जरूरी हैं उनमें लम्बे समय लगे। उसे प्रदर्शनो में सुधरी नसल के बैल, नये ढग के भवन निर्माण, साफ पानी के प्रबध की नयी पद्धति आदि का समावेश हो सकता है जिनका परिणाम कुछ समय के बाद देखने को मिलता है।

जब तक ग्रामीणलोग छोटे छोटे कामों को सफल होते नही देखते और उनसे अपने जीवन और अपनी परिस्थिति को लाभान्वित नहीं अनुभव करते तब तक वे ऐसे प्रदर्शनो से लाभ उठाने को तैयार नही होते जिनका परिणाम कुछ अरसे के बाद देखने को मिलता है।

सामूहिक चर्चा-गोष्ठी

जब भी कोई समस्या सामने आय सामूहिक चर्चा गोष्ठी का आयोजन कर लेना चाहिए। ऐसी समस्याओ का आयोजन इस ढग से करने का प्रयत्न होना चाहिए कि कुछ निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। चर्चा के समूह यदि बड़ा हो तो कुछ चुने हुए प्रतिनिधियो को

उपसमितियां बनायी जा सकती हैं जो प्रस्तुत समस्या के पक्ष और विपक्ष दोनों पहलुओं से गहराई से विचार कर सकें।

सूत्रात्मक पाठ

किसी विषय को पढ़ाने या उसका प्रदर्शन करने में सूत्रात्मक पाठ बहुत प्रभावशाली साधन होते हैं। सूत्रात्मक पाठ निम्न बुनियादी तत्वों पर आधारित होता है।— क्या करना है,
क्या करना है,
कब करना है और
कैसे करना है।

किसी विशिष्ट काम को करने का ढंग पढ़ाने या प्रदर्शित करने के लिए सामग्री भी विशिष्ट प्रकार की आवश्यक होती है और प्रत्यक्ष काम में ध्यान देने योग्य बातों को नोट भी कर लेना होता है।

सूत्रात्मक पाठ बड़े महत्व के होते हैं। उन से इधर-उधर की सारी बातें छूट जाती हैं और कार्यकर्ताके लिए इस बारे में निश्चित हो जाना सम्भव हो जाता है कि सभी आवश्यक बातें उसने प्राप्त कर ली हैं। शिक्षक का तरीका सही हो तो कोई भी विषय प्रभावशाली रूप में सिखाया जा सकता है।

यदि विद्यार्थी ने सीखा नहीं तो समझना शिक्षक ने सिखाया नहीं है।

सूत्रात्मक पाठ तैयार करने के लिए पाठ्य विषय को कुछ निश्चित भागों म बाट लेना होता है। शिक्षक के लिए इस प्रकार के सूत्रात्मक पाठ तैयार करना कठिन है बनिस्बत इसके कि अमुक विषय के बारे में कुछ साधारण सी बेढंगी बातें बताता चला जाय जिससे लोगों के पल्ले कुछ भी न पड़े, प्रस्तुत विषय भी समझ में न आये। यदि सूत्रात्मक पाठों के आधार पर पढ़ाया जाता है तो विषय को समझने म सीखनेवालों को भी आसानी होती है।

प्रभावशाली शिक्षण की जांच

प्रभावशाली शिक्षण के कम से कम चार विभाग हैं —

१ विद्यार्थी को ज्ञान के लिए तैयार करना।

विद्यार्थी के मन में कुछ सीखने की अभिलाषा पैदा कीजिए। उसे यह दिखाइए कि क्या सीखना है और यह सीखना उसके लिए क्यों आवश्यक है। सम्भव है इसके लिए अनेकों प्रयत्न करने पड़ें। यह भी हो सकता है कि जो सिखाया जा रहा है वह उसके लिए जरूरी हो न हो। यदि वह जरूरी नहीं है तो शायद वह उसे सीखेगा ही नहीं, सीखेगा भी तो उसका ज्ञान बढ़ेगा नहीं। विद्यार्थी को ग्रहण करने के लिए तैयार करना चाहिए। 'क्या' और 'क्यों' यही है।

२ विद्यार्थी को बतलाइए कि उसे क्या सीखना है। जो भी काम सीखना है उसे शिक्षक खुद करे और शिक्षक को वो काम करते हुए कदम ब कदम वह देखे। यह है 'प्रदर्शन'।

३ विद्यार्थी क साथ-साथ आप भी काम कीजिए। हर एक प्रक्रिया साथ साथ कीजिए। जो भी कठिनाई आये उसमें विद्यार्थी की मदद कीजिए। प्रमुख मुद्दों की ओर जहा कहीं गलती हो सकती हो वहां उनका ध्यान आकर्षित कीजिए। विद्यार्थी को शिक्षक के साथ-साथ काम करने दीजिए। यह है सिखाना'।

४ फिर विद्यार्थी न जो कुछ सीखा उसका प्रदर्शन उसी से कराइए। वह खुद काम करते-करते उसका प्रदर्शन करता जाय और प्रमुख मुद्दों की ओर तथा जहां कहीं गलती हो सकती हो वहां ध्यान आकर्षित करता जाय। उसने यदि इतना कर लिया तो समझिए कि उसने सीख लिया। यदि विद्यार्थी ने सीखा नहीं तो दोष किसका?

(युनस्को के स्टडी किट के आधार से)

★

लोक-शिक्षण में कार्यकर्ता-प्रशिक्षण

सामाजिक संदर्भ में शिक्षण-कार्य की अमरीकी योजना का एक खाका

कोस्टारिका राज्य के समाज विकास-कार्य के अंतर्गत लोक शिक्षण का काम करनेवाले शिक्षक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण निम्न तीन पद्धतियों से किया गया :—

१. अल्प कालीन अभ्यासक्रम

२ क्षेत्रीय काम में मार्ग-दर्शन और

३ परिसवाद

अल्प-कालीन अभ्यासक्रम :—

जब पहले पहल यह अभ्यासक्रम प्रारभ किया गया तब पहले सत्र में २४ कार्यकर्ताओ ने प्रवेश लिया। उन में अधिकतर कार्यकर्ता चुने हुए कुछ प्रयोगात्मक क्षेत्र में लगे हुए थे। वह अभ्यासक्रम सात् सप्ताहो का था। प्रशिक्षार्थियो को समाज के संगठन के सबध मे कुछ मार्गदर्शन देने के अलावा पोषण, उत्पादन, स्वास्थ्य और कृषि के सबध में कुछ सैद्धांतिक और कुछ प्रात्यक्षिक जानकारी दी गयी।

धीरे धीरे अनुभव के आधार पर अभ्यासक्रम कुछ समृद्ध होता गया और तीन वर्ष बाद के अभ्यासक्रम म मुख्य रूप से निम्न विषयों का समावेश हुआ—

समाज विज्ञान,
पारिवारिक ज्ञान
कृषि,
स्वास्थ्य,
लोक शिक्षा की कार्य-पद्धति के सिद्धांत और
सामूहिक मनोरजन।

यहाँ इन विषयो के दायरे का सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

समाज विज्ञान

इसमें समाज-सस्कृति के परिवर्तन की प्रक्रिया की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रयोग के लिए चुने गये क्षेत्रो की वस्तुस्थिति के प्रकाश में इन बातो की चर्चा की जाती है कि लोग कृषि में, घरो में तथा सामाजिक सगठन आदि क्षेत्रो में विभिन्न पद्धतियाँ किस कारण अपनाते है या छोड़ देते है। इन्ही प्रत्यक्ष उदाहरणो के आधार पर इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि समुदाय और समूचे समाज के सगठनो में स्वेच्छा से काम करने की प्रेरक शक्ति क्या है।

पारिवारिक ज्ञान

इसमे खास कर देहाती पोशाक नहाना-धोना, कपड़ो की सफाई, बढ़ईगिरी और साधारण रसोई आदि शामिल है। यह पाठ्यक्रम कार्यकर्ताओं को इन कलाओं का केवल ज्ञान देने के लिए नहीं है, बल्कि कार्यकर्ताओं में इन कलाओ का इतना विकास करने के लिए है कि वे देहाती परिवारो में इन्हें प्रवश करा सकें।

कृषि-संबंधी ज्ञान

प्रशिक्षण-काल में कार्यकर्ता कृषि-ज्ञान की कोई एक योजना हाथ में लेता है जिसका उपयोग उसके प्रायोगिक क्षेत्र में हो सके और लौट कर वह उसका विकास कर सके। इस योजना को तैयार करने तथा उसके लिए आवश्यक पद्धति तय करने में शिक्षक उनकी सहायता करते हैं। कार्यकर्ताओं को कृषि-सबधी कुशलताएँ सिखाने के बजाय उन योजनाओ के शैक्षणिक पहलू पर अधिक बल दिया जाता है। यह तो मानी हुई बात है

कि इन योजनाओ को कार्यान्वित करने में दूसरी एजेंसियो के टेक्नीशियनों का भी सहयोग लिया जाता है।

स्वास्थ्य

इस विषय के प्रशिक्षण का उद्देश्य यह है कि कार्यकर्ता अपने कार्यक्षेत्र की जनता को आवश्यकता के अनुसार उन्हें स्वास्थ्य के बुनियादी तत्व सिखा सके, उनको स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को समझा सके और उन्हें उत्तम रीति से सुलझाने की प्रेरणा उन में जगा सके। प्राथमिक उपचार, मातृ-शिशु संगोपन, पोषण तथा पेट की बीमारियों के इलाज का सामान्य ज्ञान इन्हें कराया जाता है।

लोक-शिक्षण की कार्य-पद्धति के सिद्धान्त

इसमें निम्न विषयों का समावेश है —

१ समाज विकास के जितने भी स्तर होंगे उन सब अनुस्यूत कार्य-पद्धति क्या हो सकती है,

२ समाज को प्रमुख बुनियादी बातें सिखाने की पद्धति,

अ छोटे बच्चों के लिए और

आ किशोरों और प्रौढ़ों के लिए

३ प्रत्यक्ष योजनाओं, अध्ययन मण्डलों, क्लबों और श्रव्य तथा दृश्य साधनों के उपयोग से समय-समय पर मार्ग-दर्शन और शिक्षण,

४ सामाजिक कामों में लगी हुई अन्यान्य एजेंसियों के कार्यक्रमों में सहयोग और

५ समाज शिक्षण के कार्यक्रम के एक साधन के रूप में पुस्तकालय का संचालन।

सामूहिक मनोरंजन

इस विषय के प्रशिक्षण से यह अपेक्षा है कि कार्यकर्ता अपने कार्य क्षेत्र के लोगों के बीच निम्न काम करें—

१ देहाती समाज में इस समय मनोरंजन की जो पद्धतियाँ हैं उन्हें लोग बनाये रखें तथा उन्हें प्रोत्साहन मिले।

२ लोगों को समाज में जिन मनोरंजन की प्रवृत्तियों में वास्तविक रस आता हो उन्हें प्रोत्साहित करे।

३ मनोरंजनात्मक प्रवृत्तियों को इस प्रकार प्रोत्साहित करे कि उससे निम्न बातें सिद्ध हो सकें—

अ समाज के अंदर व्यक्ति के बीच तथा एक समाज और दूसरे समाज के बीच सामाजिक संबंध स्थापित हो,

आ राष्ट्रीय लोक-कथाओं का निर्माण,

इ व्यक्तिगत कलाभिव्यक्ति,

ई पारिवारिक मनोरंजन।

२ क्षेत्रीय कार्य में मार्गदर्शन :—

अल्प कालीन अभ्यासक्रम समाप्त होने के बाद कार्यकर्ता अपने-अपने प्रयोग के क्षेत्रों में जाते हैं जहाँ अभ्यासक्रम में से प्राप्त बुनियादी सिद्धांतों और धारणाओं को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं।

कुछ समन्वय-समितियाँ होती हैं जिन के सदस्य समय समय पर इन कार्यकर्ताओं से मिलते हैं और उनके काम में आवश्यक मार्गदर्शन करते हैं। काम करते समय जो कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें कार्यकर्ता ठीक से नोट करके रखते हैं और उन पर वहीं बैठ कर विचार किया जाता है और पूरे ध्यान से उन्हें हल करने का प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की बैठकें या मुलाकातें सलाह मशविरे के ही रूप में होती हैं।

३. परिसंवाद :—

प्रतिमास सभी कार्यकर्ता एकत्र आते हैं और वहाँ परस्पर विचारों का आदान प्रदान चलता है। क्षेत्रों में जो कठिनाइयाँ उन के सामने आयी हैं उन का विश्लेषण होता है और उन के परिणामों पर भी चर्चा होती है। इससे कार्यकर्ता समूचे कार्य क्षेत्र के निकट संपर्क में आते हैं और उनमें समूह भावना (टीम स्पिरिट) बनी रहती है जो इस प्रकार के काम के लिए बहुत आवश्यक है।

★

सेवाग्राम-परिषद् के निर्णय

सर्व सेवा संघ के वेडछी सम्मेलन में चीन-भारत सीमा संघर्ष में जो निवेदन स्वीकृत किया गया था और उसके संदर्भ में देश में कार्यक्रम की जो रूपरेखा सोची गयी थी उस पर अमल करने की दृष्टि से रचनात्मक कार्य करनेवाली अखिल भारतीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों की एक परिषद् सेवाग्राम में १५ और १६ दिसंबर '६२ को सर्व सेवा संघ की ओर से बुलायी गयी थी। उसमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुआ:—

[१] संयोजन समिति

"असम, बिहार और उत्तराखण्ड के सीमावर्ती क्षेत्रों की स्थिति का अध्ययन करने के लिए जो टोलियाँ गयी थीं उनकी रिपोर्ट परिषद् के सामने विचारार्थ रखी गई। खादी ग्रामोद्योगों की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अध्ययन करने के लिए जो समिति नियुक्त की गई थी उसकी रिपोर्ट भी पढ़ी गई।

सीमावर्ती क्षेत्रों में जो रचनात्मक कार्य किया जायगा उसकी योजना बनाने और सचालन करने के लिए परिषद् की ओर से निम्न सदस्यों की एक संयोजन समिति (कोआर्डिनेटिंग कमेटि) नियुक्त की गयी :—

(१) श्री जयप्रकाश नारायण, (२) श्री श्रीकान्त भाई, (३) श्री वैकुण्ठलाल मेहता, (४) श्री राजलक्ष्मी बहन, (५) श्री जी० रामचन्द्रन्, (६) श्री ढेबर भाई, (७) श्री करण भाई, (८) श्री नारायण देसाई, (९) श्री मनमोहन चौधरी, (१०) श्री राधाकृष्णन्।"

[२] पंच फैसले का तरीका

"चीन की ओर से इकतरफा युद्धबन्दी किये जाने और दिसम्बर १९६२ से चीनी फौज वापिस किये जाने से परिस्थिति में जो परिवर्तन हुआ है उस पर परिषद् में विचार किया गया। चीन की ओर से जाहिर की गयी युद्धबन्दी आगे जारी रहे और चीन-भारत के सीमा विवाद को बातचीत के शान्तिमय तरीके से हल करने की दिशा में मार्ग ढूँढने के लिए ६ अफ्रो एशियन देशों की कोलम्बो में जो कान्फरन्स हुई उसका यह परिषद् स्वागत करती है।

हम फिर एकबार यह दोहराना चाहते हैं कि शस्त्रबल के बदले समस्या को हल करने का एकमात्र उपाय आपस की बातचीत या पंच-फैसला ही हो सकता है। आज की परिस्थिति में सीधी बातचीत की सम्भावना नहीं दीख रही है। पंच-फैसले या न्यायालय के द्वारा इस प्रश्न का हल निकालने की अपनी तैयारी घोषित कराने की कोशिश की जाय ऐसा हम चाहते हैं। हम भारत की जनता से आवाहन करते हैं कि इस समस्या का शान्तिमय और सम्माननीय हल ढूढने की दृष्टि से पंच-फैसले की दिशा में किये जानेवाले प्रयत्नों को वह पुष्टि दे। पंच-फैसले की शर्तों और अन्य प्राथमिक तैयारी के सम्बन्ध में चीन और भारत के साथ बात करके उभयमान्य तरीका ढूँढा जाय।"

[३] नागरिक स्वातन्त्र्य

"देश की संकटकालीन स्थिति में नागरिक स्वतन्त्रता को खतरा पैदा होने की कोशिश करनेवाले लोग शासन में और शासन के बाहर हैं उन सभी से ऐसे समय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है—ऐसा यह परिषद् मानती है।

देश की सुरक्षा के ख्याल से नागरिकों की स्वतन्त्रता पर कुछ अंकुश लगाने की आवश्यकता विशेष परिस्थिति में पैदा हो सकती है यह मानते हुए भी हमारा विश्वास है कि जहाँ तक हो सके विचार प्रकाशन का स्वातन्त्र्य जो लोकतन्त्र की बुनियाद है, सुरक्षित रहना चाहिए। ऐसी कुछ घटनाएँ भी हुई हैं जिनसे यह आशंका होती है कि नागरिक स्वतन्त्रता को सिर्फ सरकार की ओर से ही नहीं बल्कि जनता में कुछ असहिष्णु जमातों की ओर से भी खतरा पैदा हो सकता है। देश की ताकत इसमें नहीं है कि जो कुछ चल रहा हो उसी को सब चुपचाप मानलें बल्कि जो लोकमान्य नहीं है ऐसी राय भी मुक्तता से कोई प्रकट करे तो उसे बरदाश्त करने की नागरिक स्वतन्त्रता के तत्व की रक्षा में दृढ़ता से करें।"

गांधी स्मारक निधि और गांधी पीस फाउण्डेशन की ओर से श्री श्रीकांत भाई, श्री जी० रामचन्द्रन् और श्री ओमप्रकाश गुप्त, खादी ग्रामोद्योग आयोग की ओर से श्री ध्वजाप्रसाद, श्री के० अरुणाचलम् और श्री अण्णा सहस्रबुद्धे, वर्ल्ड पीस ब्रिगेड की ओर से अमरीका के श्री ए० जे० मस्ते, क्वेकर सेंटर की ओर से श्री ब्रिस्टल और श्री जान रसेल थे। इनके अलावा श्री ठेबर भाई, श्री श्रीमन्नारायण, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री तुकडोजी महाराज, श्री काकासाहेब कालेलकर, श्री स्वामी रामानन्द तीर्थ, श्री शंकरराव देव, श्री दादा धर्माधिकारी, श्री आर्यनायकम्, श्री नवकृष्ण चौधरी, श्री नारायण देसाई, श्री र० श्री० धोत्रे, तथा सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष श्री मनमोहन चौधरी और मंत्री श्री राधाकृष्ण आदि उपस्थित थे।

परिषद् श्री मनमोहन चौधरी की अध्यक्षता में ता० १५ को दोपहर २॥ बजे शुरू हुई। निम्न विषयों पर विचार विनिमय हुआ :—

(१) सीमावर्ती क्षेत्रों में प्रत्यक्ष कार्य का स्वरूप क्या हो और उसका संयोजन कैसा हो और किसके द्वारा हो।

(२) देश की संकटकालीन स्थिति में नागरिक स्वतन्त्रता (सिविल लिबर्टी) की रक्षा का खयाल रखा जाय।

(३) फौजी तैयारियों की दृष्टि से युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के लिए एन्० सी० सी० में दाखिल होना लाजिमी करने की नीति सम्बन्धी विचार।

(४) सीमा विवाद के प्रश्न को पंच-फैसले जैसे शांतिमय तरीकों से हल करने की आवश्यकता।

फौजी तालीम तथा एन०सी०सी० की लाजिमी भर्ती के संबंध में यह तय किया गया कि इस प्रश्न के संबंध में आज सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की तथा युनिवर्सिटीज की क्या नीति है इस संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त की जाय और संबंधित लोगों से प्रत्यक्ष बातचीत की जाय। लेकिन जहाँ तक रायफल ट्रेनिंग की बात का सम्बन्ध है एन०सी० सी० में भर्ती होने की बात लाजिमी (कम्पल्सरी) न की जाय इस संबंध में प्रतिनिधियों की एक राय रही। अनुशासन, फिजिकल ट्रेनिंग, कवायद, आदि बातों में हर विद्यार्थी को जरूर ट्रेनिंग मिलनी चाहिए और उस दृष्टि से खास कोर्सेस की व्यवस्था रहनी चाहिए—यह भी महसूस किया गया।

●

'खेती के अनुभव'

'खेती के अनुभव'—श्री गोविन्द रेड्डी, सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृष्ठ १००, मूल्य ८० नये पैसे

१९५७ में जब मैं बिहार के मुंगेर जिले में पदयात्रा कर रहा था तो मैंने देखा कि दक्षिण मुंगेर की पूरी धान खेती में मजदूर मुसहर रहते हैं और उत्तरी मुंगेर में खरीफ और रबी की खेती में चमार। मुसहर और चमार वहा की खेती के आधार हैं। वहा ही क्या, पूरे देश की खेती मजदूरों के ही भरोसे होती है जो प्रायः भूमिहीन हरिजन हैं। यह देखकर उसी वक्त मेरे मन में यह प्रतीति जगी कि जब खेती को इन मज़दूरों के ही भरोसे होना है तो निश्चित ही वह एक कठोर सीमा के आगे नहीं जा सकती। अभी हाल में जब मैंने श्री रेड्डी जी की पुस्तक में पढ़ा कि "शिक्षित जनता श्रम करना बिल्कुल नहीं चाहती और उसके बिना भारत की कृषि प्रणाली में अदल बदल करना असंभव है" (पृ० ७) कि अपने देश में खेती के ह्रास का मुख्य कारण यह है कि गाँव का आदमी खेती से अधिक खेती को महत्व देता है और शिक्षित व्यक्ति खेती से अधिक नौकरी को। शिक्षित हो या अशिक्षित, मेहनत से बचना परपरा से हमारी सबसे बड़ी आकाक्षा और श्रम से बचने में प्रतिष्ठा भी है। इसलिए खेती में खाद, पानी और सुधरे यत्रों की समस्या तो है ही, सबसे बड़ी समस्या यह है कि जिसके पास बुद्धि है वे कुदाल में हाथ लगाने को तैयार नहीं है। रेड्डीजी ने साफ लिखा है कि "अनुभव से मैं इस नतीजे पर आया हू कि मौजूदा औज़ारों से कई गुना पैदावार बढ़ायी जा सकती है, श्रम भी कम हो सकता है और पशु की सख्या भी कम हो सकती है। परतु यह सब क्यों नहीं होता? न होने के दो कारण हैं: पहला कारण, आज जिनके पास कला है वे श्रम से बचने का भरसक प्रयत्न करते हैं। उनकी सतानें शहर की तरफ जा रही हैं। जहा श्रम से बचने का प्रयत्न है वहा पैदावार कैसे बढ़ेगी।'

सौ पृष्ठों की इस पुस्तक के अठारह छोटे-छोटे अध्यायों में रेड्डी जी ने चकबदी और भूमि सरक्षण से लेकर अन्न-भडार तक खेती के जितने पहलू हैं उन सब पर अपने २७ वर्षों के अनुभव से उन्होंने चुन-चुनकर काम की बातें लिखी हैं जिनके कारण उनके अनमोल अनुभव 'एवरी मैन्स गाइड टु एग्रीकल्चर' बन गये हैं। सर्वोदय की सस्थाओं और कार्यकर्ताओं के लिए यह पुस्तक पूरी चुनौती जैसी है जो इन शब्दों में प्रकट हुई है: "सरकारी और गैर सरकारी सस्थाओं के पास विकास के लिए काफी पूंजी और सुधरे हुए औजार भी हैं। परंतु अभी तक ऐसी सस्था नहीं मिली जिसने आज की अपेक्षा ५, १० या १५ गुना पैदावार बढ़ायी हो, श्रम की बचत की हो। बैलों की सख्या कम की हो।"

खेती के कई पहलू हैं—भूमि व्यवस्था, खेती की तकनीक, बाजार मे खेती और उद्योग का सबन्ध तथा सरकारी मूल्य और टैक्स नीति और खेती। इस पुस्तक में रेड्डी जी ने मुख्यतः खेती की तकनीक के बारे में अपने अनुभव बताये हैं। जरूर, चकबन्दी की चर्चा करते हुए तीसरे ही पृष्ठ पर उन्होंने कह दिया है कि "मेरे तेरे पन की भावना मिटे बिना उपर्युक्त सुझाव के अनुसार चकबदी होना कठिन है। चकबन्दी हुए बिना न तो उपज बढ़ेगी और न गाँव के झगड़ों का अत होगा। इसलिए जरूरी है कि गाव की सारी जमीन का मालिक गाव (समाज) बने।"

अच्छी खेती का नाम लेते ही मशीनों का चित्र सामने आ जाता है। सरकार और विशेषज्ञों की ओर से इसी तरह का प्रचार भी होता रहता है लेकिन रेड्डी जी ने बताया है कि खेती में सुधार का आधार पूरे गाव के स्तर पर सयोजन है। उन्होंने श्रम, पशु, कम्पोस्ट की खाद और देश के विभिन्न भागों में प्रचलित औजारों तथा सुलभ प्रक्रियाओं के आधार पर अच्छी से अच्छी खेती का चित्र उपस्थित किया है। लेकिन अब सयोजन की इकाई परिवार नहीं हो सकता, सयोजन की इकाई पूरा गांव ही हो सकता है। और यह 'मेरा तेरा' मिटे बिना सभव नहीं है। खेती पर पशु मनुष्य का तेजी से प्रतिद्वन्द्वी होता जा रहा है, इस प्रतिद्वन्द्विता को पशु की सख्या कम करके जल्द से जल्द मिटाना चाहिए। रेड्डी जी ने सिफारिश की है कि बछड़े को तीन साल की उम्र होते होते बधिया कर देना चाहिए। इसी तरह की उन्होंने अनेक सीधी-सादी लेकिन उपज बढ़ाने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी बातें लिखी हैं।

रेड्डी जी ने बाजार और सरकार का उल्लेख नहीं किया है। इन दोनों का खेती से सीधा सम्बन्ध है, बिना इनको समझे खेती का अर्थशास्त्र कभी स्पष्ट हो नहीं सकता। लेकिन खेती के सम्बन्ध में बाजार और सरकार इस पुस्तक के विषय नहीं हैं।

श्रीरेड्डी उन व्यक्तियों में हैं जो खेती को धधा नहीं जीवन-पद्धति मानते हैं। देश के लिए कौन सी जीवन पद्धति उपयोगी होगी इसे तय करने के बाद ही उत्पादन की प्रवृत्तियों का सही सयोजन हो सकता है। श्री रेड्डी मानते हैं कि खेती-मूलक जीवन-पद्धति सही भारतीय पद्धति है। उनकी यह पुस्तक कृष्णदास जी की 'घरेलू कताई की आम बातें' के साथ 'खेती की आम बातें' के रूप में हर कार्यकर्ता और विचारशील खेतिहर के हाथ में होनी चाहिए।

राममूर्ति

★

[पृष्ठ १९६ का शेषांश]

श्रीमती सुभद्रा तैलग ने 'सेवाभारती' प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि समाज-परिवर्तन के लिए, समाज को नया मोड़ देने के लिए और क्रान्ति लाने के लिए यह 'सेवाभारती' का पराक्रम सिद्ध होगा। आज के प्रतिकूल वातावरण में 'सेवाभारती' जो काम करने जा रही है उससे उदार भावना और उच्च चरित्र के बालक और बालिका तैयार होंगे।

'सेवाभारती' प्रस्ताव पर अन्य सदस्यों ने दिलचस्पी के साथ चर्चा की और इस प्रस्ताव का स्वागत किया।

अन्त में श्री धीरेन भाई ने विस्तार से चर्चा करते हुए कहा कि उपर्युक्त दोनों प्रस्ताव अलग अलग नहीं हैं, इस युग की दो देनों, लोकतंत्र और विज्ञान, पर चर्चा करते हुए आपने कहा कि मानव समाज विज्ञान और लोकतंत्र की चुनौती बन गया है। मानव का खतरा विज्ञान और लोकतंत्र पर है और विज्ञान तथा लोकतंत्र का खतरा मानव पर है। इस खतरे से बचने और बचाने के लिए शिक्षा को सोचना होगा। इसके लिए अच्छी प्रक्रिया की खोज करनी होगी। शिक्षा में काम करनेवालों के लिए यह चिंतन का विषय है। समस्त मानव की शिक्षा-व्यवस्था कैसे की जाय इसकी प्रक्रिया की खोज करनी होगी। आगे आनेवाले जमाने के लिए अर्थनीति और समाजनीति 'डायनेमिक्स' नहीं होगी बल्कि भविष्य में समाज का नेतृत्व और समाज का डायनेमिक्स शिक्षा होगा। उन्होंने ग्रामभारती के सदर्भ की चर्चा करते हुए कहा कि जब देश के साढ़े पांच लाख गाँवों में ग्रामभारती की स्थापना हो जायेगी तब भी 'सेवाभारती' जैसी सस्था की आवश्यकता रहेगी। जिस प्रकार युनिवर्सिटी के लिए रिसर्च लेबोरेट्री होती है उसी प्रकार 'सेवाभारती' ग्रामभारती की रिसर्च लेबोरेट्री होगी।

निर्माण-कार्य का एक नमूना

अमेरीका के एक राज्य में निर्माणकार्य करनेवाले कार्यकर्ता यह आग्रह रखते हैं कि कोई भी काम हो समाज के सारे लोग उस पर स्वयं सोचें, चर्चा करें और स्वयं निर्णय करें। अमीर हो चाहे गरीब, जमींदार हो या मजदूर, नेता हो या अनुयायी सबको चर्चा में भाग लेने और निर्णय करने का समान अधिकार है। अतः अंतिम निर्णय पर पहुँचने से पहले कार्यकर्ता प्रत्येक को खुल कर चर्चा में भाग लेने के लिए लोगों को प्रेरित करता है। कार्यकर्ता मानता है कि बहुमत से जल्दी किसी निर्णय पर पहुँचने के बजाय इस प्रकार सर्वानुमति प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करना अच्छा है। इसलिए सारे लोग जब तक एकराय न हो जायं तब तक वह निर्णय टालता जाता है। वह सबकी बातें सुनता है, चर्चा का प्रारंभ करता है और जब तक लोग खुद उसकी मदद न चाहें तब तक वह तटस्थ रहता है और मदद जब चाही जाती है तब उनकी समस्या को ठीक समझाने और हल खोजने की दृष्टि से मदद करता है।

इस प्रक्रिया से काम होने में समय लगता है और देखने में ऐसा लगता है कि कुछ भी आकार नहीं बन रहा है। महीनों चल जाते हैं पर स्पष्ट कुछ दीखता नहीं है। एक जगह एक शाला-भवन निर्माण करने के प्रश्न पर चर्चा करने में नौ महीने लगे और फिर निर्णय होने पर भवन तैयार होने में केवल दो महीने लगे। दूसरा एक पुल बनाने के बारे में चर्चा चली थी पूरे ६ महीने तक। एक और जगह एक दुग्धशाला प्रारंभ करने का प्रश्न लेकर लगभग साल भर चर्चा होती रही। यह सब ऐसा इसलिए हुआ कि उन कार्यकर्ताओं का सिद्धांत है 'लोगों को स्वयं ही निर्णय करना है।'

इस सिद्धांत में माननेवालों की राय में यह जो बीच का समय जाता है वह व्यर्थ नहीं जाता है, बल्कि समाज-निर्माण का यही असली ताना-बाना है। इस अवधि में लोग अपने पुराने रिवाजों और मान्यताओं के संस्कार से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं, दूसरों को अधिक ठीक समझने लगते हैं, अपनी सामर्थ्य और साधन-सामग्रियों को टटोलते हैं तथा खुद बदल जाते हैं।

★

अफ्रीका की पुस्तकालय-योजना

सार्वजनिक पुस्तकालयों के संबंध में विचार करने के लिए अभी हाल में नाइजीरिया सरकार तथा युनेस्को द्वारा अफ्रीका के ३८ देशों का क्षेत्रीय परिसंवाद आयोजित किया गया था। परिसंवाद ने तय किया कि अब से १९७० तक सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए कम से कम ८०,०००,००० डालर की धनराशि खर्च की जाय।

परिसंवाद में भाग लेनेवाले विशेषज्ञों की राय में पुस्तकालयों का स्थान राष्ट्र के शिक्षा-विस्तार कार्य के अंग के रूप में ही महत्त्व का नहीं, बल्कि पुस्तकालय अपने आप में शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक केंद्र भी हैं।

परिसंवाद ने अफ्रीकी राष्ट्रों से अपील की है कि वे अपने शिक्षा-संबंधी बजट में १९७० तक कम से कम एक प्रतिशत तथा उसके बाद १९८० तक २ प्रतिशत व्यय सार्वजनिक पुस्तकालयों पर करें। परिसंवाद की यह भी सिफारिश है कि जिन देशों में प्रतिव्यक्ति औसत वार्षिक आमदनी १०० डालर से कम है वहाँ यह खर्च दूना करना चाहिए।

एक सिफारिश यह भी है सार्वजनिक पुस्तकालयों के सेवा-कार्य को राष्ट्रीय शिक्षा-योजना के अंतर्गत माना जाय और इस संबंध में कानून में आवश्यक संशोधन किया जाय। अधिक से अधिक १९६५ से ही यह सेवा-योजना चालू करने के लिए सरकारों से निवेदन किया गया है।

उत्तर प्रदेश के चल-पुस्तकालय

उत्तर प्रदेश के सामुदायिक विकास खण्डो में कुछ जगह चल पुस्तकालयो की योजना काम कर रही हैं। प्रत्येक खण्ड में तीन प्रकार के पुस्तकालय होते हैं—(१) केंद्रीय पुस्तकालय, (२) ग्रामीण पुस्तकालय और (३) चल-पुस्तकालय।

इन पुस्तकालयो के सबध म अपनी कठिनाई व्यक्त करते हुए लखनऊ के SEOTC के उपसचालक श्री शकरराम लिखते है कि एक तो लोगो में पढन की रुचि नही है, दूसरे, थोडा बहुत पढने की रुचि रखनवाले लोग पुस्तकालय तक आकर पुस्तकें ■ जाने और लौटाने का कष्ट नहीं कर सकते और तीसरे पुस्तकालयो की व्यवस्था भी उतनी आकर्षक और सुविधापूर्ण नही है जितनी होनी चाहिए। और इन्ही कठिनाइयो को दूर करन के लिए चल पुस्तकालयो की योजना चलायी जा रही है। इसमें भी स्वतन्त्र कार्यकर्ता के अभाव से और पर्याप्त प्रमाण में पुस्तकों की सख्या और विविधता के न होने से यह काम भी पूरा सतोष जनक नही हो रहा है।

उपयुक्त लेखक न नयी योजना सुझायी है जिसमें इस काम के लिए एक स्वतन्त्र कार्यकर्ता की व्यवस्था है। उसके पास एक सायकल रहेगी १५० के आसपास पुस्तकें होगी वह रोज दो गांवो में जा सकेगा यो सप्ताह के ६ दिनो में १२ गांव और सप्ताह में एक बार निश्चित गांव में जा सकेगा।

योजना ■ मुख्य सुझाव ये हैं—

(१) पुस्तकें ठीक समय पर बांटी जानी चाहिएँ।

(२) लोगो की रुचि तथा आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त पुस्तकें होनी चाहिएँ।

(३) नयी नयी पुस्तकें बराबर दाखिल की जानी चाहिएँ।

(४) पुस्तको के अलावा अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ भी साथ में रहनी चाहिए।

(५) पुस्तकों की विविधता का प्रतिशत सामान्यतया निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

१	कृषि पशुपालन सबधी पुस्तकें	२० प्रतिशत
२	सहकारिता पचायतराज	१० ,,
३	स्वास्थ्य लोकशिक्षण	१० ,,
४	सर्वोदय	५ ,,
५	धार्मिक	५ ,,
६	विज्ञान और समाज विज्ञान	५ ,,
७	महापुरुषो की जीवनी	५ ,,
८	महिलाओं तथा बच्चो के लिए	१० ,,
९	कहानी उपन्यास आदि	१० ,,
१०	नो सिखुओ के योग्य	२० ,,

[पृष्ठ १८० का शेषांश]

शोध की है। जिस तरह से एक युनिवर्सिटी के लिए रिसर्च लेबोरेट्री होती है उसी तरह से सेवाभारती ग्राम भारती की रिसर्च लेबोरेट्री होगी। चूंकि आज ग्राम भारती बनी नहीं है वह खोज की दशा में है इसलिए इसका महत्त्व कुछ बढ जाता है।

मेरा यह निवेदन आप सबके सामने है कि रच नात्मक काम की किसी भी प्रवृत्ति में आप लगे हुए हों, चाहे वह खादी का हो या गाधीजी के नाम से रचनात्मक काम का कोई भी अग चलाते हों अत्यन्त त्वरा के साथ उसे नयी तालीम के समुद्रमें विलीन करायेंगे। और तब ग्रामभारती और सेवाभारती का रूप निखरेगा। हम जो ग्रामभारती के काम में बैठे हैं उनको सामग्री सप्लाई का यह सेवाभारती एक बहुत बड़ा स्थान होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे।

आज शिक्षा और शिक्षा शास्त्रियों के लिए अधिक चुनौती है कि आखिर विज्ञान और लोकशाही जो मनुष्य को खाने लिए दौड़ रही है, इस महान राक्षस के मुँह से कैसे हम बचें। यानी उसका उपयोग मानव विकास में कैसे किया जाय। इसकी खोज और शोध नयी तालीम को करना होगा।

[नयी तालीम गोष्ठी, सेवापुरा में किये गये भाषण के आधार पर]

उत्तर प्रदेश के चल-पुस्तकालय

उत्तर प्रदेश के सामुदायिक विकास खण्डो में कुछ जगह चल पुस्तकालयों की योजना काम कर रही है। प्रत्यक खण्ड में तीन प्रकार के पुस्तकालय होते हैं—(१) केंद्रीय पुस्तकालय, (२) ग्रामीण पुस्तकालय और (३) चल-पुस्तकालय।

इन पुस्तकालयों के सबध म अपनी कठिनाई व्यक्त करते हुए लखनऊ के SEOTC के उपसचालक श्री शकरराम लिखते हैं कि एक तो लोगो में पढने की रुचि नही ह दूसरे, थोडा बहुत पढने की रुचि रखनवाले लोग पुस्तकालय तक आकर पुस्तकें ले जाने और लौटाने का कष्ट नही कर सकते और तीसरे पुस्तकालयो की व्यवस्था भी उतनी आकर्षक और सुविधापूर्ण नही है जितनी होनी चाहिए। और इन्ही कठिनाइयो को दूरे करने के लिए चल पुस्तकालयोकी योजना चलायी जा रही है। इसमें भी स्वतन्त्र कार्यकर्ता के अभाव से और पर्याप्त प्रमाण म पुस्तको की सख्या और विविधता के न होने से यह काम भी पूरा सतोष जनक नही हो रहा है।

उपयुक्त लेखक न नयी योजना सुझायी है जिसमें इस काम के लिए एक स्वतन्त्र कार्यकर्ता की व्यवस्था है। उसके पास एक सायकल रहेगी १५० के आसपास पुस्तकें होगी वह रोज दो गांवो में जा सकेगा यो सप्ताह के ६ दिनो में १२ गाव और सप्ताह में एक बार निश्चित गांव में जा सकेगा।

योजना के मुख्य सुझाव ये हैं—

(१) पुस्तकें ठीक समय पर बाटी जानी चाहिएँ।

(२) लोगों की रुचि तथा आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त पुस्तकें होनी चाहिएँ।

(३) नयी नयी पुस्तकें बराबर दाखिल की जानी चाहिएँ।

(४) पुस्तकों के अलावा अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ भी साथ में रहनी चाहिए।

(५) पुस्तको की विविधता का प्रतिशत सामान्यतया निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

१	कृषि पशुपालन सबधी पुस्तकें	२० प्रतिशत
२	सहकारिता पचायतराज	१० ,,
३	स्वास्थ्य लोकशिक्षण	१० ,,
४	सर्वोदय	५ ,,
५	धार्मिक	५ ,,
६	विज्ञान और समाज विज्ञान	५ ,,
७	महापुरुषो की जीवनी	५ ,,
८	महिलाओं तथा बच्चो के लिए	१० ,,
९	कहानी उपन्यास आदि	१० ,,
१०	नौ सिखुओ के योग्य	२० ,,

[पृष्ठ १८० का शेषांश]

शोध की है। जिस तरह से एक युनिवर्सिटी के लिए रिसर्च लेबोरेटरी होती है उसी तरह से सेवाभारती ग्राम भारती की रिसर्च लेबोरेटरी होगी। चूकि आज ग्राम भारती बनी नहीं है यह खोज की दशा में है इसलिए इसका महत्त्व कुछ बढ़ जाता है।

मेरा यह निवेदन आप सबके सामने है कि रच नात्मक काम की किसी भी प्रवृत्ति में आप लगे हुए हों, चाहे वह खादी का हो या गाधीजी के नाम से रचनात्मक काम का कोई भी अग चलाते हों अत्यन्त त्वरा के साथ उसे नयी तालीम के समुद्रमें विलीन करायेंगे। और तब ग्रामभारती और सेवाभारती का रूप निखरेगा। हम जो ग्रामभारती के काम में बैठे हैं उनको सामग्री सप्लाई का यह सेवाभारती एक बहुत बड़ा स्थान होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे।

आज शिक्षा और शिक्षा शास्त्रियों के लिए अधिक चुनौती है कि आखिर विज्ञान और लोकशाही जो मनुष्य को खाने लिए दौड़ रही है, इस महान राक्षस के मुँह से कैसे हम बचें। यानी उसका उपयोग मानव विकास में कैसे किया जाय। इसकी खोज और शोध नयी तालीम को करना होगा।

[नयी तालीम गोष्ठी, सेवापुरी में किये गये भाषण के आधार पर]

उत्तर प्रदेश के चल-पुस्तकालय

उत्तर प्रदेश में सामुदायिक विकास खण्डो में कुछ जगह चल पुस्तकालयों की योजना काम कर रही है। प्रत्येक खण्ड में तीन प्रकार के पुस्तकालय होते हैं—(१) केंद्रीय पुस्तकालय, (२) ग्रामीण पुस्तकालय और (३) चल-पुस्तकालय।

इन पुस्तकालयो के संबध में अपनी कठिनाई व्यक्त करते हुए लखनऊ के SEOTC के उपसंचालक श्री शंकरराम लिखते है कि एक तो लोगो में पढने की रुचि नहीं है, दूसरे, थोडा बहुत पढने की रुचि रखनेवाले लोग पुस्तकालय तक आकर पुस्तकें ले जाने और लौटाने का कष्ट नही कर सकते और तीसरे पुस्तकालयो की व्यवस्था भी उतनी आकर्षक और सुविधापूर्ण नही है जितनी होनी चाहिए। और इन्ही कठिनाइयो को दूर करने के लिए यह पुस्तकालयोकी योजना चलायी जा रही है। इसमें भी स्वतन्त्र कार्यकर्ता के अभाव से और पर्याप्त प्रमाण में पुस्तकों की संख्या और विविधता के न होने से यह काम भी पूरा संतोष-जनक नही हो रहा है।

उपर्युक्त लेखक ने नयी योजना सुझायी है जिसमें इस काम के लिए एक स्वतन्त्र कार्यकर्ता की व्यवस्था है। उसके पास एक साइकल रहगी १५० के आसपास पुस्तकें होगी, वह रोज दो गावो में जा सकेगा यो सप्ताह के ६ दिनो में १२ गांव और सप्ताह में एक बार निश्चित गांव में जा सकेगा।

योजना के मुख्य सुझाव ये हैं—

(१) पुस्तकें ठीक समय पर बांटी जानी चाहिएँ।

(२) लोगो की रुचि तथा आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त पुस्तकें होनी चाहिएँ।

(३) नयी नयी पुस्तकें बराबर दाखिल की जानी चाहिएँ।

(४) पुस्तको के अलावा अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ भी साथ में रहनी चाहिए।

(५) पुस्तको की विविधता का प्रतिशत सामान्यतया निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

१	कृषि, पशुपालन संबधी पुस्तकें	२० प्रतिशत
२	सहकारिता, पंचायतराज	१० ,,
३	स्वास्थ्य, लोकशिक्षण	१० ,,
४	सर्वोदय	५ ,,
५	धार्मिक	५ ,,
६	विज्ञान और समाज विज्ञान	५ ,,
७	महापुरुषों की जीवनी	५ ,,
८	महिलाओ तथा बच्चो के लिए	१० ,,
९	कहानी, उपन्यास आदि	१० ,,
१०	नौ सिखुओं के योग्य	२० ,,

[पृष्ठ १८० का शेषांश]

शोध की है। जिस तरह से एक युनिवर्सिटी के लिए रिसर्च लैबोरेट्री होती है उसी तरह से सेवाभारती ग्राम भारती की रिसर्च लेबोरेट्री होगी। चूंकि आज ग्राम भारती बनी नहीं है, यह खोज की दशा म है इसलिए इसका महत्त्व कुछ बढ जाता है।

मेरा यह निवेदन आप सबके सामने है कि रच नात्मक काम का किसी भी प्रवृति में आप लगे हुए हों, चाहे वह खादी का हो या गांधीजी के नाम से रचनात्मक काम का कोई भी अंग चलाते हों अत्यन्त त्वरा के साथ उसे नयी तालीम के समुद्रमें विलीन करायेंगे। और तब, ग्रामभारती और सेवाभारती का रूप निखरेगा। हम जो ग्रामभारती के काम में बैठे हैं उनकी सामग्री सप्लाई का यह सेवाभारती एक बहुत बडा स्थान होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे।

आज शिक्षा और शिक्षा शास्त्रियों के लिए अधिक चुनौती है कि आखिर विज्ञान और लोकशाही जो मनुष्य को खाने लिए दौड रही है, इस महान राक्षस के मुंह से कैसे हम बचें। यानी उसका उपयोग मानव-विकास में कैसे किया जाय। इसकी खोज और शोध नयी तालीम को करना होगा।

[नयी तालीम गोष्ठी, सेवापुरी में किये गये भाषण के आधार पर]

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
जनवरी १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए० १७२३

"बुढ़िया का छोटा सवाल"

उस दिन शाम को बहुत अच्छी सभा हुई। पूरा गांव उमड़ आया था। मैं बोला भी बहुत जोश के साथ। सभा के समाप्त हो जाने पर मैं गाँव के स्कूल में अपने निवास पर गया। कमरे में जाकर हाथ-मुह धोने के लिए फिर बाहर निकला तो देखता हूँ कि दरवाजे के सामने एक बुढ़िया बैठी है। सोचा यों ही बैठी होगी। 'सभा खत्म हो गयी, अब घर जाओ'—मैंने लापरवाही के साथ कहा। बुढ़िया ने जैसे सुना ही नहीं। मैंने फिर कहा। उसने अनसुनी कर दिया। तीसरी बार मैंने जरा कड़ाई के साथ कहा तो बोली 'मुझे कुछ कहना है।' 'कहो, क्या कहना है?'—मैंने झुंझलाकर पूछा। बुढ़िया ने कहा भूखी हूँ, एक मुट्ठी चावल चाहिए।' 'चावल-दाल मेरे पास नहीं है, मुझे जो कुछ कहना था सभा में कह दिया। फौरन घर जाओ, यहाँ मत बैठो।' यह कहकर मैं जरा तनकर खड़ा हो गया।

बैठी-बैठी बुढ़िया अचानक उठी और सीढ़ियों की ओर बढ़ी। मैंने सुना, कह रही थी 'इतना बड़ा भाषण लेकिन मुझ भूखी के लिए एक मुट्ठी चावल नहीं! मेरा इतना छोटा सवाल '

बुढ़िया चली गयी। मालूम नहीं जिंदा है या इतने दिनों में मर गयी। लेकिन उसका प्रश्न बना हुआ है। आज तक मैं उस 'बुढ़िया के छोटे सवाल' का उत्तर नहीं सोच सका हूँ। मैं नहीं तो क्या कोई सोच सका है? शासक, नेता, अर्थशास्त्री *वैज्ञानिक, साधु या सेवक, किसके पास हिन्दुस्तान के करोड़ों भूखों—बेकारों के इस* 'छोटे सवाल' का उत्तर है?

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट सर्व सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित।
केवल कवर—मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ ३०५०, इस मास छपी प्रतियाँ २८८०

सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ७

वार्षिक चंदा ६—००
एक प्रति ०—५०

फरवरी १९६३

लाइसेन्स न० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त

जनवरी १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए० १७२३

"बुढ़िया का छोटा सवाल"

उस दिन शाम को बहुत अच्छी सभा हुई। पूरा गाव उमड़ आया था। मैं बोला भी बहुत जोश के साथ। सभा के समाप्त हो जाने पर मैं गाँव के स्कूल में अपने निवास पर गया। कमरे में जाकर हाथ-मुह धोने के लिए फिर बाहर निकला तो देखता हूँ कि दरवाजे के सामने एक बुढ़िया बैठी है। सोचा यों ही बैठी होगी। 'सभा खत्म हो गयी, अब घर जाओ'—मैंने लापरवाही के साथ कहा। बुढ़िया ने जैसे सुना ही नहीं। मैंने फिर कहा। उसने अनसुनी कर दिया। तीसरी बार मैंने जरा कड़ाई के साथ कहा तो बोली 'मुझे कुछ कहना है।' 'कहो, क्या कहना है?'—मैंने झुझलाकर पूछा। बुढ़िया ने कहा भूखी हूँ, एक मुट्ठी चावल चाहिए।' 'चावल-दाल मेरे पास नहीं है, मुझे जो कुछ कहना था सभा म कह दिया। फौरन घर जाओ, यहाँ मत बैठो।' यह कहकर मैं जरा तनकर खड़ा हो गया।

बैठी-बैठी बुढ़िया अचानक उठी और सीढ़ियों की ओर बढ़ी। मैंने सुना, कह रही थी 'इतना बडा भाषण लेकिन मुझ भूखी के लिए एक मुट्ठी चावल नहीं! मेरा इतना छोटा सवाल'

बुढ़िया चली गयी। मालुम नहीं जिंदा है या इतने दिनों में मर गयी। लेकिन उसका प्रश्न बना हुआ है। आज तक मैं उस 'बुढ़िया के छोटे सवाल' का उत्तर नहीं सोच सका हूँ। मैं नहीं तो क्या कोई सोच सका है? शासक, नेता, अर्थशास्त्री वैज्ञानिक साधु या सेवक, किसके पास हिन्दुस्तान के करोड़ों भूखों—बेकारों के इस 'छोटे सवाल' का उत्तर है?

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट सर्व सेवा संघ की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित।
केवल कवर-मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ ३०५०, इस मास छपी प्रतियाँ २९६०

सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ७

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

फरवरी १९६३

नयी तालीम

अनुक्रम

सूचनाएं

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।
- नयी तालीम का पता—

नयी तालीम
सर्व सेवा संघ, राजघाट
वाराणसी-१

नयी तालीम

वर्ष–११] [अंक ७

लोकतंत्र का 'लोक'

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि लोकतंत्र मे अगर 'लोक' लुप्त हो गया तो तंत्र का कोई मूल्य नहीं रह जायगा। 'लोक' प्राण है, 'तंत्र' शरीर; प्राण-विहीन शरीर का क्या मूल्य है ? आज दुनियाँ के अनेक देशों में लोकतंत्र के नाम से जो तानाशाही व्यवस्थाएँ चल रही हैं वे इस बात का प्रमाण हैं कि प्राणविहीन शरीर कितना विकृत हो सकता है। जहरीला शरीर स्वयं प्राण को समाप्त कर देता है इसलिए आज तमाम दुनियाँ मे यह समस्या है कि शरीर से प्राण की रक्षा कैसे की जाय।

अपने ही देश में जिस तेजी के साथ 'तंत्र' 'लोक' पर हावी होता जा रहा है उसे देखकर लोकतंत्र के भविष्य के बारे में मन मे गंभीर शंका होती है। आज इस देश में बालिग मताधिकार है, बोलने और संगठन बनाने की छूट है, सरकार बदलने के लिए षडयंत्र करने और फांसी के तख्ते पर लटकने की जरूरत नहीं है, लेकिन इतना सब होते हुए भी देश में गैर-सरकारी जीवन के नाम से पुकारी जानेवाली चीज का कहीं पता नहीं है। ऐसा लगता है जैसे 'लोक' है ही नहीं; और जब 'लोक' ही नहीं है तो लोकशक्ति कैसे होगी ? यही कारण है कि देश के जीवन के किसी पहलू में लोक का दर्शन नहीं होता; हर जगह सरकार का बोलबाला है जो बनती तो है जनता से लेकिन चलती है 'नेता' और 'नौकर' से। इसीलिए देश के नेता और नौकर की शक्ति के सामने जनता की शक्ति क्षीण होती चली जा रही है। ये लक्षण लोकतंत्र के लिए शुभ नहीं हैं।

गांधी जी ने इस स्थिति की कल्पना कर ली थी और उन्होंने मरते-मरते हमें यह चेतावनी दे दी कि हिन्दुस्तान में लोकतंत्र के विकास में सैनिक और नागरिक शक्ति में टक्कर अवश्यंभावी है, और वह यह भी बता गये कि अगर नागरिक शक्ति को विजयी बनाना है तो सेवा को सत्ता से अधिक शक्तिशाली होना चाहिए। पहले कदम के रूप में उन्होंने सुझाया था कि कांग्रेस सरकार की जिम्मेदारी से अलग होकर लोक-सेवक संघ बन जाय और सैनिक शक्ति के मुकाबिले नागरिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करे और राज्य के लिए अपने कर्तृत्व की परिधि घटाने की परिस्थिति पैदा करे। लेकिन यह सब कुछ हुआ नहीं। हुआ क्या कि सेवक-सत्ता में जुटे और लोकतंत्र के नाम में चलनेवाले एक विशाल लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना हुई। पिछले पंद्रह वर्षों में इस वटवृक्ष की छाया गाँव-गाँव तक पहुँच गयी है। हर जगह कल्याणकारी संस्थाओं का जाल बिछ गया है और बिछता ही जा रहा है। गाँव की पंचायत, गाँव का स्कूल, गाँव की सहकारी समिति, ये सब राज्य रूपी तंत्र के पुर्जे बनाये हैं। धर्म और जाति के नाम से जो कठोर तंत्र परंपरा से चले आ रहे थे उसमें ये नये तंत्र जुड़ गये हैं। स्वभावतः इसका परिणाम यह हुआ है कि जहाँ देखिए तंत्र ही तंत्र दिखायी देता है, लोक कहीं दिखायी नहीं देता, और इसीलिए लोकशक्ति के आधार पर खड़ा होनेवाला लोकतंत्र भी नहीं दिखायी दे रहा है, और अगर यही हाल रहा तो शीघ्र वह समय आयेगा जब तंत्र के बोझ से दबकर लोक पूर्णतः लुप्त हो जायगा।

ऐसी स्थिति में लोक को तंत्र से अधिक से अधिक मुक्त करने का प्रश्न लोकतंत्र की रक्षा का तात्कालिक प्रश्न बन जाता है—व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न तो वह है ही। राज्य की परिधि कैसे कम हो, अधिकार का दुरुपयोग कैसे रुके, सरकार की शक्ति जनता की शक्ति की पूरक कैसे बने, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनपर तुरंत विचार होना चाहिए। और यह काम संस्थाओं का नहीं है, चेतन व्यक्तियों का है। भारतीय समाज का विकास अब चेतन व्यक्तियों से ही होगा, राज्य और उसके प्रश्रय में पलनेवाली संस्थाओं से नहीं। संस्था अब समाज-परिवर्तन का आधार (सामाजिक बेस) भी नहीं बन सकती, वह अब विकास के लिए बाँध का काम कर रही है।

जितना भी तंत्र है वह सब सत्ता और सम्पत्ति के आधार पर बना है और उनके ही सहारे खड़ा है। इसलिए सत्ता और सम्पत्ति का विघटन लोकतंत्र की दिशा में बुनियादी कदम है। इस सम्बंध में दो बातें फौरन सूझती हैं—एक गाँव की पंचायत-आज उसका जो भी अधूरा रूप है—सरकार के कानून से मुक्त हो और गाँव के बालिगों की सम्मति से अपने कृत्य और गाँव के जीवन की मर्यादाएँ स्वयं स्थिर करे; दो, चेतन व्यक्ति संस्थाओं की सीमा से बाहर आयें और प्रत्यक्ष लोक-जीवन के प्रसंगों के माध्यम से लोकशक्ति विकसित करने के काम में लगें। लोकतंत्र का 'लोक' तंत्रमुक्त होकर ही जगेगा, बढ़ेगा।

—राममूर्ति

लोकतंत्र की रक्षा कैसे करें ?

श्री धीरेंद्र मजूमदार

प्रश्न :—चीन के आक्रमण के परिणाम-स्वरूप हमारे देश के जीवन का जो मथन हो रहा है उसमें फासिस्टवाद की ऐसी शक्तियां प्रबल होती दिखाई दे रही हैं जो यहां के लोकतन्त्र के लिए अत्यंत खतरनाक सिद्ध होंगी और कोई आश्चर्य नहीं कि समय पा कर उसे निगल भी जायें। ऐसी स्थिति में हमारी सामाजिक क्रांति के लिए कोई अवसर ही नहीं रह जायगा। दूसरी ओर जनता को लोकतन्त्र का पिछले १५ वर्षों में जो स्वाद मिला है उसके कारण वह या तो डिक्टेटरशिप को पसंद करने लगी है या बिलकुल उदासीन हो गयी है। जब जनता का यह हाल है तो नागरिक शक्ति की क्या बात की जाय? क्या आप बता सकते हैं कि लोकतन्त्र की रक्षा के निमित्त हमलोगों को क्या करना चाहिए? यह भी बताइए कि क्या प्रचलित लोकतन्त्र को इसी रूप में बचाना संभव भी है?

उत्तर :—चीन के आक्रमण के परिणाम-स्वरूप हमारे देश के जीवन का जो मथन चल रहा है जिसमें फासिस्टवाद की ऐसी शक्तियां प्रबल होती दिखाई दे रही हैं जो यहां के लोकतन्त्र के लिए अत्यंत खतरनाक सिद्ध होंगी तो मैं कहूँगा कि जहाँ चीनी आक्रमण देश के लिए एक अभिशाप है वहाँ इस परिस्थिति के कारण वह एक बहुत बड़ा वरदान भी हो गया है। जो वस्तुस्थिति देश में पहले से मौजूद थी वह आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सामने आ गयी। वस्तुतः अंग्रेजों के चले जाने के बाद से ही हमारे देश में इन शक्तियों का सहज, शांत और सुव्यवस्थित संगठन हो रहा था। लोकतन्त्र के वैधानिक प्रचार के नाम पर उसने इस तरह घूँघट डाल रखा था कि ऊपर से दिखाई नहीं दे रही थी। आज अगर वह दिखाई दे रही है तो लोकतन्त्र के भविष्य के लिए यह एक शुभ लक्षण है, क्यों कि ऐसी हालत में देश के लोकतांत्रिक विचारक चेत जायेंगे और गंभीरता के साथ उपाय ढूंढने लगेंगे, नहीं तो आज राजनीतिक विधानों में हेर फेर करके लोकतन्त्र के विकास और प्रचार की जो चेष्टा चल रही है उसी के वहम में वे निश्चिंत रहते और उसकी जड़ में अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा छोड़ा हुआ अधिसत्तावादी मानस का बीज अंकुरित तथा पल्लवित हो कर अचानक फूट पड़ता और लोकतन्त्रवादी को समय पर इसका मुकाबिला करने का अवसर भी नहीं मिलता।

गांधीजी हमेशा कहते थे कि अंग्रेजी राज्य को समाप्त करना स्वराज्य का पहला काम है। उनके लिए स्वराज्य का अर्थ ही जनता की आत्मशक्ति का प्रकट होना था। वे चरखे द्वारा इस शक्ति का संगठन करना चाहते थे और कहते थे कि चरखे से ही स्वराज्य होगा। गांधीजी तो अंग्रेजी राज्य के रहते ही चरखे द्वारा इस शक्ति की जड़ जमा लेना चाहते थे। १६२५-२६ से ही वह हम लोगों को कहा करते थे कि चरखे द्वारा गरीबों को जो कुछ पैसा मिल जाता है वह अपने आपमें एक अच्छी चीज है, लेकिन चरखे द्वारा तो प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्यवादिनी बनाना है। इसका अर्थ यह है कि वह स्वराज्य आंदोलन की ऐसी व्यूहरचना करना चाहते थे जिससे विदेशी राज्य का निराकरण और स्वराज्य के अधिष्ठान की प्रक्रिया

साथ-साथ चले। असहयोग और सत्याग्रह आंदोलनों के द्वारा साम्राज्यवादी शक्ति का मुकाबिला करना और चरखा आदोलन द्वारा स्वराज्य के विचार का प्रशिक्षण तथा आत्म निर्भरता के आधार पर आवश्यक जन शक्ति के सगठन की परिकल्पना वह दोनों को समानरूप से साथ साथ करते थे, इतना ही नहीं बल्कि चरखा मूलक रचनात्मक कार्यक्रम पर अत्यत आग्रह के साथ विशेष जोर देते थे। उनका जोर यहाँ तक था कि व्यापक सत्याग्रह आदोलन के लिए शर्त के रूप में रचनात्मक कार्य के व्यापक सगठन को आवश्यक मानते थे।

मानव की सामाजिक प्रगति का आरभ अव्यवस्थित जगली न्याय से निकल कर दण्ड आधारित राजतत्र पर पहुँचने से हुआ था। इस व्यवस्था ने सामतवादी पद्धति का सगठन तथा प्रसार किया। यह पद्धति जहा मनुष्य को असभ्यता से सभ्यता की ओर ले गयी, वहा इसने केंद्रित हुक्मतवादी मनोभावना को शास्त्र-शुद्ध मान्यता भी दी। औद्योगिक क्राति ने जब पूँजीवाद को जन्म दिया तब अपने विकास के लिए सामतवाद को समाप्त करना उसके लिए जरूरी था। औद्योगिक क्राति की प्रगति विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ ही होना सभव था और विज्ञान की प्रगति के लिए व्यापक रूप से मनुष्य का स्वतत्र चिंतन आवश्यक था। इस आवश्यकता ने और मानव की सास्कृतिक प्रगति ने लोकतत्र की कल्पना को जन्म दिया इसके अधिष्ठान के लिए भी सामतवाद को समाप्त करना आवश्यक हुआ। यह तभी हो सकता था जब साम्य, मैत्री और स्वतत्रता के नारे के आधार पर राजनीतिक क्राति होती तथा साथ-साथ विचार प्रचार और विचार शिक्षण से पूर्व सगठित अधिसत्तावादी मानस का भी निराकरण होता।

पाश्चात्य देशों में लोकतात्रिक क्राति उपर्युक्त कड़ियों के हिसाब से सहजरूप से हुई। यही कारण है कि इगलैण्ड आदि जिन मुल्कों में लोकतत्र का अधिष्ठान और विकास हुआ वहा वैधानिक सुधार के साथ साथ आवश्यक मानसिक तथा चारित्रिक परिवर्तन भी होता गया, लेकिन भारत में ऐसा नहीं हो सका।

पश्चिम में जहा एक तरफ लोकतत्र का विकास हुआ वहा पूँजीवाद की प्रगति के लिए कच्चे माल की खोज ने साम्राज्यवादी आकाक्षा पैदा की। उस आकाक्षा ने भारत में सामन्तवाद के रहते ही उसे विदेशी साम्राज्यवाद का शिकार बनाया। अग्रेजी साम्राज्य के लिए यह आवश्यक था कि अपनी सत्ता को मजबूत तथा स्थायी बनाने में सामन्तवादी अधिसत्तामूलक मानस को वह अधिक गहराई से पनपाता। इस देश में तो उसे दुहरी सुविधा मिली। यहा दुनिया के दूसरे मुल्कों के समान सामन्तवादी राजनीतिक एरिस्टोक्रेसी तो थी ही, साथ-साथ इस देश की विशिष्ट प्रकार की वर्ण-व्यवस्था के कारण सामाजिक एरिस्टोक्रेसी भी लोक जीवन के रग रग में घुसी हुई थी। अग्रेजों ने इस मुल्क पर अपनी धाक जमाने के लिए दोनों प्रकार की एरिस्टोक्रेसी को अपनी प्रतिष्ठा का कुछ हिस्सा देकर अपने साथ मिला लिया। उन्होंने इन दोनों का अच्छी तरह सगठन कर लिया इतना ही नहीं बल्कि व्यवस्था के नामपर साम्राज्यवादी नौकरशाही की एक नयी एरिस्टोक्रेसी की सृष्टि की। फलस्वरूप पूँजीवाद के विकास तथा लोकतत्र के विचार ने दुनिया में जो अधिसत्तात्मक चरित्र को ढीला किया उसका लाभ भारत को नहीं मिल सका। अर्थात् पिछली दो शताब्दियों के राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों का मनोवैज्ञानिक तथा चारित्रिक लाभ भारत को नहीं मिला।

लेकिन विचार बहुत दिन तक किसी भौगोलिक सीमा के अदर बधा हुआ नहीं रह सकता। साम्य, मैत्री तथा स्वतत्रता का विचार भारत तक भी पहुँचा। अग्रेजी शोषण, अन्याय तथा निदलन ने इस देश में स्वतत्रता की आकाक्षा जगायी और उसके लिए आदोलन खड़ा हुआ। ऐसे समय भारत के सार्वजनिक जीवन में गाधी का जन्म हुआ।

वस्तुस्थिति को भूत, वर्तमान और भविष्य के संदर्भ में सहजरूप से ठीक ठीक देख लेने की अलौकिक शक्ति गाधीजी में थी। उन्होंने उपर्युक्त परिस्थिति को सहज ही समझ लिया था। उन्होंने समझ लिया था कि अग्रेजी साम्राज्य के चलते इस देश में

मानव-समाज का सहज प्रवाह अरसे से रुका हुआ है। भारत की आजादी की प्राप्ति के बाद आधुनिक जगत् के लोकतांत्रिक विचारों के आधार पर खड़ा करना है तो जिस मानसिक भूमिका के बनने में अब तक रुकावट रही है उसके विकास का कार्यक्रम प्रारंभ से ही हाथ में लेना होगा, अन्यथा समाज में फैला हुआ अधिसत्तात्मक मानस हर प्रकार के लोकतांत्रिक प्रयासों को प्रारंभ में ही विफल कर देगा। अतः उन्होंने अपने जीवन की अंतिम घड़ी तक अपने साथियों को यह समझाने की कोशिश की कि भारत में अगर सही लोकतंत्र का विकास करना है तो उसकी पद्धति देश की विशिष्ट वस्तु स्थिति के संदर्भ में ही बनानी होगी, पाश्चात्य जनतांत्रिक देशों की नकल करने से काम नहीं चलेगा। वह चाहते थे कि लोकतंत्र के विकास की प्रक्रिया लोक मूलक हो, तंत्र-मूलक नहीं।

लोकतंत्र कोई भौतिक परिस्थिति नहीं है और न यह एक राजनीतिक व्यवस्था-मात्र है, यह वास्तव में एक सांस्कृतिक परिस्थिति है। यह मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति की एक आधुनिक कड़ी है। मानव जंगल के न्याय से पराधीन होकर प्रजापति के पास समाधान के लिए पहुँचा था और वहाँ से दण्डशक्ति की पद्धति को अपना आंतरिक सुरक्षा और शांति के लिए प्राप्त किया था–प्राचीन ग्रंथों में ऐसी कथा बतायी जाती है। इसका अर्थ यह है कि दण्डशक्ति के आविष्कार से मनुष्य ने अपनी जंगली स्थिति से निकल कर सभ्यता की ओर एक कदम बढ़ाया और राजदण्ड के सहारे अपनी प्रकृति के अंतर्निहित निवृत्ति का नियंत्रण करते हुए वह शिक्षण प्रक्रिया द्वारा सांस्कृतिक विकास करता रहा। लेकिन दण्डशक्ति के सहारे सांस्कृतिक प्रगति की एक सीमा होती है जिससे आगे बढ़ना संभव नहीं होता। अगर मनुष्य को शांतिमय संतुलित समाज के लिए हमेशा राजदण्ड का ही सहारा लेना पड़ा तो वह सांस्कृतिक मानव कैसे बन सकेगा? जब दण्ड का सहारा नहीं था तब वह जंगल के पशु के समान था दण्ड का सहारा पाकर उसका सांस्कृतिक विकास इतना ही हुआ कि वह सर्कस के पशु जैसा केवल शांत बन गया। लोकतंत्र मानव की इस स्थिति से आगे बढ़ाने की पद्धति है। लोकतंत्र की पद्धति दण्ड के दबाव से शांत और संतुलित रहने की स्थिति से आगे बढ़ा कर विचार की प्रेरणा से तथा अपने अंतर्निहित संस्कृति के आधार पर समाज के संतुलन को अधिष्ठित करने की प्रक्रिया है। वह समाज की चालक शक्ति के रूप में 'दबाव' (प्रेशर) के स्थान पर 'मनाव' (पर्सुएशन) की पद्धति का अधिष्ठान करना चाहता है, अर्थात् यह हिंसात्मक समाज से अहिंसात्मक समाज की ओर बढ़ने का मार्ग उपस्थित करता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि लोकतंत्र के विकास की बुनियाद केवल वैधानिक प्रक्रिया से नहीं डाली जा सकती। उसकी बुनियाद तो रचनात्मक शैक्षणिक प्रक्रिया से ही डाली जा सकती है। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता-संग्राम के प्रथम से ही इस प्रक्रिया का आरंभ कर दिया था और स्वतंत्रता रूपी सूर्योदय के पहले के ब्राह्ममुहूर्त से ही देश में वास्तविक लोकतंत्र के अधिष्ठान की व्यूह-रचना की सुनिश्चित योजना बना रहे थे। उन्होंने देश के रचनात्मक कार्यकर्ता तथा कांग्रेस के राष्ट्र-नायकों से अपनी शक्ति को इसी काम के लिए केंद्रित करने को कहा था, क्योंकि उन्होंने भारत की विशिष्ट परिस्थिति में वैधानिक सुधार से पहले लोकतंत्र के लिए रचनात्मक शैक्षणिक आंदोलन के संगठन को अनिवार्य रूप से आवश्यक माना था।

गांधीजी १९४४ के सितंबर माह में जेल से निकलते ही इस व्यूह-रचना में लग गये। चरखा संघ तथा दूसरी रचनात्मक संस्थाओं के मुख्य कार्यकर्ताओं को अपने पास बुलाकर उन्होंने यही कहा कि वे अब अपने कार्यक्रमों के 'तंत्रमूलक' स्वरूप को बदल कर 'लोकमूलक' बनायें। उन्होंने रचनात्मक कार्य के केंद्र बिंदु को चरखा संघ आदि संस्थाओं में न रख कर ७ लाख गाँवों में फैले हुए लोकसेवकों में रखना चाहा था। इसके लिए उन्होंने देश भर से ७ लाख नौजवानों को ७ लाख गाँवों में जा कर समग्र ग्राम सेवा के लिए बैठने का आवाहन किया था। उन्होंने लोक-सेवकों से तंत्राधार पर न रह कर लोकाधार पर रहने को कहा। उन्होंने कहा कि ये लोकसेवक अपने श्रम तथा जनता

के प्रेम के आधार पर गुजर कर समग्र ग्राम सेवा करें। फिर इन सेवाओं को शिक्षा मूलक बनाने को कहा। जब उन्होंने यह कहा कि सारी रचनात्मक प्रवृत्ति रूपी नदियों को नयी तालीम के समुद्र में विलीन होना है तब इसका स्पष्ट आशय यही था कि समग्र ग्राम-सेवा समग्र नयी तालीम का रूप ले।

स्पष्ट है कि गांधीजी ने भारत में स्वराज्य यानी लोकतन्त्र के अधिष्ठान, संगठन और प्रसार के लिए 'तन्त्र' के प्रसार से पहले 'लोक' का विकास आवश्यक माना था। लेकिन रचनात्मक संस्थाएँ तथा उनमें काम करनेवाले कार्यकर्ताओं के हाथ में देश का नेतृत्व नहीं था। देश-मान्य राष्ट्रनायक संस्था तो कांग्रेस ही थी। गांधीजी ने कांग्रेस के नेतृत्व के अन्तर्गत ही इन संस्थाओं को जन-सेवा की साधना के लिए संगठित किया था। इन संस्थाओं के कार्यकर्ता भारतीय जनता के स्वतन्त्र अभिक्रम की बुनियाद डालने तथा उसे संगठित करने के साधक थे। वे लोक-शिक्षण तथा संगठन से लोकतन्त्र की जड़ मजबूत कर सकते थे, लेकिन राष्ट्रव्यापी जन-चेतना को आलोड़ित कर पूरे राष्ट्र को उस दिशा में प्रेरित नहीं कर सकते थे। यह काम राष्ट्र के साधक का नहीं, बल्कि राष्ट्र के नायक का था। अतः गांधीजी ने दूसरी तरफ से यह कोशिश की कि देश का नायक-संस्था कांग्रेस भी अपने को लोक सेवक संघ में परिणत कर समग्र लोक सेवा का देशव्यापी जन-आन्दोलन संगठित करे ताकि देश का चेतन 'लोक'—जनता—समझ-बूझ कर अपने 'तन्त्र' को नीचे से ऊपर तक संगठित कर सके। गांधीजी ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि देश की ऊपर बतायी हुई अवरुद्ध परिस्थिति में अगर लोकतन्त्र की स्थापना करना है तो वह इसी प्रक्रिया से संभव हो सकता है क्योंकि इस परिस्थिति में केवल तन्त्र-मूलक प्रक्रिया को अपनाने से यह होगा कि परिपुष्ट लोकचेतना के अभाव में सारे तन्त्रों पर मुल्क का अधिसत्तावादी मानस तथा चरित्र हावी होकर लोकसत्ता के नाम पर फासिस्टवादी अधिसत्ता की स्थापना कर लेगा। इसी कारण से उन्होंने कांग्रेस को लोक सेवक संघ के रूप में परिणत करने के प्रस्ताव की प्रस्तावना में यही कहा था कि भारत में लोकतंत्र की स्थापना के लिए नागरिक शक्ति तथा सैनिक-शक्ति के आपसी संघर्ष में नागरिक शक्ति विजयी हो सके, इस उद्देश्य से प्रस्ताव की आवश्यकता है, क्योंकि यह स्पष्ट था कि भारत की विशिष्ट परिस्थिति में यह संघर्ष अवश्यंभावी है।

मैंने कहा है कि जैसे पाश्चात्य देशों में लोक-चेतना के अभिक्रम से संघर्ष कर लोकतंत्र की स्थापना हुई या वैसा इस देश में नहीं हो सका। स्वराज्य का संघर्ष भी हुआ तो उसका सचेतन लक्ष्य लोकतन्त्र की पद्धति की स्थापना न होकर गुलामी को हटाना था। इस देश में प्राचीन काल से मुगल भारत तक राजा या बादशाह की ओर से तन्त्र बनाकर लोक पर उसे लादे जाने की परम्परा बनी हुई थी। फलस्वरूप अंग्रेजों के आने तक यहाँ का लोक हमेशा तन्त्र के नीचे ही दबा रहा। यह जरूर है कि अंग्रेजों के आने के पहले तक तन्त्र का ढांचा अधिक विकसित न होने के कारण अपने आन्तरिक काम-काज के लिए लोक-चेतना भी काफी बनी हुई थी लेकिन अंग्रेजी राज्य में धारे-धारे इसका भी लोप हो गया। इस काल में नौकरशाही की वज्रमुष्टि के नीचे धीरे धीरे अंग्रेजी तन्त्र फैल कर इतना मजबूत हो गया कि लोक कुंठित हो गया। इसके ऊपर से विदेशी राज्य में अपनी सत्ता को हमेशा बनाये रखने के लिए जो 'डिवाइड एण्ड रूल' की भेद नीति अपनायी उससे लोकचेतना केवल कुंठित हुई इतना ही नहीं बल्कि पारस्परिक कलह से यह बिलकुल शून्य हो गयी।

गांधीजी को लोकतन्त्र की स्थापना के लिए परि-पूर्ण तन्त्र के नीचे दबे हुए मृतप्राय लोक की इस रुद्ध परिस्थिति का सामना करना था, अतः उनके लिए यह सोचना स्वाभाविक था कि देश की सर्वाधिक शक्तिशाली जमात कांग्रेस तन्त्र में न जाकर इस मृत-प्राय लोक में प्राण-संचार करे और कांग्रेस के अलावा बची हुई राष्ट्रीय शक्ति तंत्र चलाये जिससे लोकचेतना मजबूत होकर तन्त्र पर हावी हो सके। भारत की विशिष्ट परिस्थिति में लोकतन्त्र का स्थापना के लिए ऐसी व्यूह-रचना आवश्यक थी। तभी सैनिक शक्ति पर लोकशक्ति विजय पा सकती थी।

दुर्भाग्य से यह सब नहीं हो सका। न चरखा संघ आदि देश की 'साधक' संस्थाओं के लोग और न राष्ट्र-नायक संस्था कांग्रेस के लोग बापू की इस गहरी तथ्यपूर्ण बात को समझ सके। उन्होंने देश का आर्थिक और राजनीतिक विकास लोक-मूलक प्रक्रिया से करने के बजाय तन्त्र-मूलक प्रक्रिया से ही करने का प्रयास किया। रचनात्मक संस्थाएँ केंद्रीय तंत्र के आधार पर ही खादी, ग्रामोद्योग, नयी तालीम आदि सारे कार्यक्रमों को चलाती रहीं और कांग्रेस केवल वैधानिक विकेंद्रीकरण द्वारा लोकतंत्र की स्थापना का प्रयास करती रही।

इसी बीच भारतीय मंच पर विनोबा का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने देश की मुख्य समस्या भूमि के सवाल को तन्त्र-मुक्त लोक शिक्षण के आधार पर हल करने के आदोलन की शुरुआत की। विनोबा की अटूट तपस्या तथा नये विचार के आकर्षण के कारण देश में कुछ आलोड़न हुआ, लेकिन इस आलोड़न का संगठन भी तन्त्र-मूलक ही हुआ और इसकी चालक शक्ति देश की साधक संस्था यानी रचनात्मक संस्थाओं के कार्यकर्ता ही रहे। मुल्क के राष्ट्रनायक इस आदोलन के साथ सहानुभूति व्यक्त जरूर करते रहे लेकिन उन्होंने इसे अपनाया नहीं। १९५५ के पुरी सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर विनोबाजी को अत्यंत दुःख के साथ कहना पड़ा कि 'देश के राष्ट्रनायकों ने बापू के इस महत्वपूर्ण कार्य को न अपना कर हमारे कमजोर कंधों पर इसे डाल दिया।' और उन्होंने अत्यंत व्याकुलता के साथ उनको अपने पद से निकल कर इस आदोलन को जन-आदोलन के रूप में परिणत करने का आह्वान किया, क्योंकि वह स्पष्ट समझते थे कि व्यापक जन आलोड़न देश के मान्य नेताओं की प्रेरणा से ही हो सकता है। लेकिन देश के नेता अपने स्थान पर से आशीर्वाद तो देते रहे, पर व आदोलन को देश व्यापी नेतृत्व देने के लिए आगे नहीं बढ़ सके।

ऐसी परिस्थिति में विनोबा अकेले ही, आजादी आदोलन के अवशिष्ट रचनात्मक संस्थाओं से जो कुछ सहारा मिलता रहा उसी के भरोसे आदोलन को यथासंभव चलाते रहे। लेकिन साथ ही साथ इसे भी केंद्रीय तंत्र और निधि के अधीन देख कर चिंतित भी रहे और दूसरे ही साल अपने साथियों को आदोलन के लिए तन्त्रमुक्त और निधिमुक्त होने के संकल्प के लिए आह्वान किया। साथियों ने विनोबाजी के तर्क की अनिवार्यता को देखा और उत्साहपूर्वक सर्वसम्मति से उसे स्वीकार किया।

संस्कार अत्यंत प्रबल होता है। वह अत्यंत तर्क-शुद्ध बुद्धि पर भी हावी हो जाता है। हम भी उसके अपवाद नहीं रहे। यह सही है कि गांधीजी ने चरखा संघ आदि रचनात्मक संस्थाओं को अपने परिकल्पित क्रान्ति के वाहन के रूप में ही संगठित किया था। लेकिन उनका भी तात्कालिक लक्ष्य राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य मात्र होने के कारण उनमें छुआछूत आदि में तो सामान्य सामाजिक प्रगति जरूर हुई लेकिन पुरानी परम्परागत सामान्तवादी पद्धति पर सीधा प्रहार का कोई सन्दर्भ न होने के कारण उनकी जीवन-दृष्टि पुरानी सामंतवादी तथा जातिवादी ही रह गयी। यही कारण है कि हम विनोबाजी के तन्त्रमुक्ति के विचार को मानते हुए भी उसे अपना नहीं सके और आज तक लोकाभिमुखता की आकांक्षा के बावजूद हमारा काम लोकमूलक न होकर तन्त्रमूलक ही बना हुआ है। लोकाभिमुख होने के विचार से हम संस्थाओं के तंत्रों को विकेंद्रित तो करते हैं लेकिन आधार तंत्र का ही बनाये रखते हैं। हम लोक शिक्षण को केंद्रित कर तथा उसी को फैला कर लोकतंत्र के विकास का प्रयास नहीं करते। राजनीतिक नेता भी उसी तरह केंद्रीय 'तंत्र' के सहारे छोटे छोटे 'तंत्र' ही खड़ा कर रहे हैं। हम 'लोक' को केन्द्र मान कर शिक्षण प्रक्रिया द्वारा उसे परिपुष्ट तथा प्रसारित नहीं कर रहे हैं।

हम मानते हैं कि आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं को विकेंद्रित कर देश में लोकतंत्र को अधिष्ठित कर रहे हैं और इसी वहम में निश्चिंत भी हैं। हम को यह दिखाई नहीं दे रहा है कि सामंतवादी राजनीतिक एरिस्टोक्रेसी, ब्राह्मण ठाकुरवादी सामाजिक एरिस्टोक्रेसी तथा साम्राज्यवादी नौकरशाही की तीन एरिस्टोक्रेसी मिलकर अधिसत्तावाद का जो त्रिवेणी-

संगम इस देश में मौजूद है, देश के अंग प्रत्यंग में उसका इस तरह फैलाव हुआ है कि तंत्र को हम चाहे जिस रूप में रखें एरिस्टोक्रेसी की शक्ति उसे चारों ओर से घेर कर अपनी ही मुट्ठी में बाँध रखती है।

चीन के आक्रमण से इतना ही हुआ कि फासिज्म के उपर्युक्त त्रिविध गठ-बंधन जो ऊपर से फैले हुए अहिंसा, लोकतन्त्र तथा समाजवाद के नारों के पीछे छिपा हुआ था, प्रकट हो रहा है। अगर लोकतन्त्र को माननेवाले नेता तथा विचारक आज की इस परिस्थिति के कारण सचेत हो जाय और गांधाजी द्वारा प्रदर्शित समग्र नयी तालीम द्वारा लोक शिक्षण मूलक प्रक्रिया से स्वतन्त्र लोकशक्ति की बुनियाद डालने में लग जायें तो चीन ने हमला करके देश का कुछ उपकार ही किया ऐसा मानना होगा।

आप पूछेंगे कि क्या तन्त्रमूलक वैधानिक प्रक्रिया और शिक्षा-मूलक लोक विकास की प्रक्रिया दोनों साथ साथ समानांतर चल सकती हैं। इंग्लैण्ड आदि पाश्चात्य देशों में जहाँ स्वतन्त्र लोक-चेतना के अभियान ने सामन्तवाद को समाप्त कर लोकतन्त्र को स्थापित किया वहाँ लोकतन्त्र का क्रमिक विकास जन-चेतना के आधार पर लोक शिक्षण की सहज प्रगति के रूप में समानांतर गति से चल सका था, क्योंकि यह प्रक्रिया लोकतन्त्र के विकास के प्रारम्भ से ही शुरू हुई थी और उसकी शुरुआत का प्रारम्भबिंदु भी लोक चेतना ही था। संसार के लोकतान्त्रिक विचार की सहज प्रगति के दिनों में बाहर से साम्राज्यवाद ने आकर उन देशों में सामन्तवादी मानस को प्रोत्साहित तथा संगठित नहीं किया था। उन देशों में वर्ण-व्यवस्था जनित सामाजिक एरिस्टोक्रसी नहीं था। उन देशों की नौकरशाही सहज लोकतन्त्र के विकास के साथ-साथ पनपी थी। भारत-जैसे वहाँ के सरकारी नौकर 'हाकिम' नहीं बल्कि 'पब्लिक सर्वेन्ट' थे। अतः उन देशों में सहज रूप से जिन मार्गों से लोकतन्त्र का विकास हुआ भारत की अवरुद्ध परिस्थिति में वह मार्ग कामयाब नहीं हो सकता है।

आपने जनता द्वारा पिछले १५ साल में चले लोकतन्त्र के जिस स्वाद का जिक्र किया है वह वस्तुतः लोकतन्त्र का स्वाद नहीं है, वह लोकतन्त्र के नारे तथा संविधान के पीछे के प्रच्छन्न अधिनायकवादी मानस का स्वाद है। देश के लोकतान्त्रिक नेता तथा विचारक अगर आज की परिस्थिति से सचेत हो सके तो जनता का उपर्युक्त स्वाद ही लोकतन्त्र के लिए जन-चेतना निर्माण का उपादान बनेगा, नहीं तो लोकतन्त्र के नाम से चलनेवाली पद्धति का अनुभव उन्हें अधिक मजबूती के साथ फासिस्टवाद की गोद में ले जायगा। अगर देश के नेता सचेत नहीं हुए तो आप-जैसे मुट्ठी भर लोग जो मौजूदा परिस्थिति से परिचित हैं उन्हें अपनी छोटी शक्ति से ही लोकतन्त्र को बचाने का दुहरा कार्यक्रम चलाना होगा। अधिकाधिक संख्या में स्वतन्त्र लोकशक्ति के आधार पर गांवों में बैठ कर नागरिक शक्ति के विकास का जामन बनना होगा और समग्र नयी तालीम के कार्यक्रम से लोकतान्त्रिक चेतना उद्बोधित कर लोक शक्ति का संगठन करना होगा। साथ ही साथ दूसरा काम जनता को उनकी परेशानी का कारण बता कर व्यापक लोकशक्ति की चेतना जाग्रत करनी होगी। देश में गांधाजी द्वारा चलायी हुई जितनी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं उन्हें तन्त्र निरपेक्ष लोकाधारित कैसे बनाया जा सके उसका छोर खोजना होगा। इस काम के लिए लोकतन्त्र के नेता तथा विचारकों को भी उद्बोधित कर उनका ध्यान खींचना होगा। इस बात से चिंतित हो कर कि देश के गणवादी नेता उदासीन हैं, अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए, बल्कि यथाशक्ति संघर्ष करते हुए लोकतन्त्र के बीज के संरक्षण में लगा रहना चाहिए।

इन प्रक्रियाओं के बिना अगर कोई चाहे कि आज के प्रचलित लोकतंत्र को इसी रूप में बनाये रखेंगे तो वह बहुत बड़ा भ्रम में है।

★

लेकिन मुड़े किधर ?

श्री राममूर्ति

१ अभी कुछ दिन हुए हमारे एक मुख्य भण्डार से खबर आयी कि एक कार्यकर्ता ने गबन किया है। खबर पाने पर, जैसा होता है, सस्था की ओर से जाच बिठायी गयी। अब पता चल रहा है कि एक या अधिक कार्यकर्ताओं ने मिलकर लगभग तीन हजार रुपये का गोलमाल किया है। सूत-खरीद के रोकनामचे में कुछ लिखा, खाते और पास-बुक में कुछ दूसरा लिखा और दोनों के अतर को जेब में रख लिया यह कार्रवाई महीनों पहिले से चल रही थी। कार्यकर्ता सब नये, युवक, शिक्षित और परिश्रमी हैं। पहिले से बदनाम भी नहीं हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारे ये युवक मित्र किसी तात्कालिक प्रलोभन के शिकार हुए। वास्तव में उन्होंने जो कुछ किया है लम्बी योजना बना कर ही किया है।

२ इन्हीं दिनों इगलैंड में एक घटना घटी है। वहां की जल-सेना में काम करनेवाले 'वासल' नाम के एक कर्मचारी ने ब्रिटिश जल-सेना के कुछ भेद रूस के हाथ बेचे और पैसे बनाये।

३ ये दो घटनाएँ हैं—एक इगलैंड में घटी, दूसरी यहाँ। वहाँ की घटना का नायक एक सरकारी कर्मचारी था और हमारी घटना का नायक एक प्रशिक्षित, सेवा-परायण युवक, सर्वोदय-जैसे उदात्त विचार का प्रतिनिधि। इग्लैंड की घटना ने वहाँ के सार्वजनिक जीवन में एक गहरा मथन पैदा किया। लोगों के मन में व्यापक रूप से यह प्रश्न पैदा हो गया कि आखिर इग्लैंड के सामाजिक वातावरण में, वहाँ के हवा पानी में, कौन-सा ऐसा दोष आ गया है जो देशद्रोह जैसे अपराध के रूप में प्रकट हो रहा है। वहाँ विचारकों सुधारकों और पत्रकारों की ओर से विचार के स्तर पर सुनियोजित छानबीन चल रही है। कोई कहता है, इग्लैंड में सस्ता कमाई (चीप मनी) की लिप्सा बढ़ रही है, कोई कहता है, स्त्री पुरुष के लैंगिक सम्बन्धों (सेक्स) में ढिलाई आने के कारण सामान्य नैतिकता भी शिथिल हो रही है। इस तरह की अनेक बातें कही जा रही हैं, और समाज का पूरा जीवन वैज्ञानिक विश्लेषण की चलनी में छाना जा रहा है।

४ वहाँ जो हो रहा है उसके विपरीत हम यहाँ क्या करते हैं? घटना घटी, जाँच कर ली, कार्यकर्ता को मुअत्तल कर दिया, किस्तों में वेतन से रकम वसूल कर ली यह नहीं किया तो कार्यकर्ता को नौकरी से मुक्त कर दिया, इससे भी अधिक करना हुआ तो मामला पुलिस को दे दिया, लेकिन देश के कानून के सामने जाने के पहिले मन मे कितना तरह का आगा-पीछा होता है। हम कभी यह सोचते भी नहीं कि इन घटनाओं के पीछे सस्था उसकी रचना और भूमिका, कार्यक्रम और पद्धति का जो 'आबोहवा' (क्लाइमेट) है उसकी भी छानबीन करें और देखें कि खड़न कहाँ है, उसके लिए सस्था, समाज और सरकार में से किसकी कितनी जिम्मेदारी है, और सुधार के क्या उपाय हैं। हम प्राय इतना कह कर सतोष मान लेते हैं कि अमुक कार्यकर्ता बहुत अच्छा है या बहुत बुरा है व्यक्तिगत पाप पुण्य से या जमाने को कोसकर सतोष मान लेने से, भिन्न बात अकसर हम सोचते नहीं, इसलिए उपाय के रूप में दड के

सिवाय दूसरा कुछ हमें सूझता नहीं। अगर चरित्र का पतन कुछ इने गिने कार्यकर्ताओं तक सीमित रहता तो दंड की प्रक्रिया कुछ काम भी करती लेकिन समस्या जब व्यापक हो जाती है तो ऊपरी और तात्कालिक उपाय काम नहीं करते। खादी सरकारी मदद की मुहताज रहे, गोदामों में स्टाक पड़े रहें, पहनने की खादी की बिक्री कम होती जाय, स्वावलंबन का विचार लुप्त होता दिखायी दे, खादी संस्थाएँ सूत और स्टाक की बढ़ता की आय पर चलें, कत्तिन कारीगर कार्यकर्ता किसी के जीवन में खादी विचार की झलक न दिखायी दे, जनता को खादी के मरने या जीने की चिंता न हो, खादी में समाज-परिवर्तन की शक्ति न आ रही हो क्या ये समस्याएँ ऐसी हैं जो ऊपरी उपचार से हल होनेवाली हैं और क्या इन समस्याओं के रहते रहते रचनात्मक काम के लिए अनुकूल वातावरण बन सकता है ?

५ चालीस साल पहिले खादी को हमने आजादी की वर्दी के रूप में स्वीकार किया था। उस में खादी हमारी भावना का रानी बनी थी। धीरे धीरे उसका आर्थिक स्वरूप प्रकट हुआ। खादी संकट में राहत और खेतिहर को खेती से बचे समय में पूरक धंधा दे सकती है यह हमने देखा। इन सब से अधिक गांधी जी ने खादी को एक नयी समाज रचना के माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया था। लेकिन खादी एक नया औद्योगिक क्रांति का मध्य बिंदु है, उसके पीछे कोई नया जीवन-दर्शन है, यह तो सचमुच हमने पहचाना नहीं और अगर कुछ जाना भी तो उस रास्ते पर चलने की कभी कोशिश नहीं की, या यह भी हो सकता है कि हमारे देश का विकास उस मंजिल पर नहीं पहुँचा है जहाँ यह अहिंसा को राजनीति में और खादी को अर्थनीति में सहज भाव से स्वीकार कर सके। आज स्थिति यह है कि हम खादी को वस्तुतः 'लोक-वस्त्र' के रूप में निभा रहे हैं। इस दृष्टि से उसका वास्तविक स्थान ग्रामोद्योग (विलेज इंडस्ट्री) का नहीं बल्कि ग्रामीण उद्योग (रूरल इंडस्ट्री) का है जिससे निस्सदेह लाखों लोगों को आंशिक रोजगार मिलता है और कुछ करोड़ रुपये देहात में पहुंच जाते हैं। खादी को ग्रामोद्योग तो हम तब कहेंगे जब वह पूरे गाँव की समग्र सामाजिक-आर्थिक (सोशियो इकोनामिक) योजना में अपना उचित स्थान बना कर बताये। गांव का सामूहिक स्वामित्व, गाँव की बुद्धि द्वारा प्रयोजन, संगठन और व्यवस्था गाँव की मनुष्य और पशु शक्ति की प्राथमिकता, गाँव में उपलब्ध कच्चे माल द्वारा गांव के लिए उत्पादन—जब तक ये शर्तें पूरी नहीं होतीं तब तक सर्वोदय की भूमिका में किसी उद्योग को ग्रामोद्योग कहना कहाँ तक उचित होगा, यह सोचने की बात है। खादी आज केवल इसी अर्थ में ग्रामोद्योग है कि उसकी क्रियाएँ देहात में होती हैं और उसकी काफी कमाई देहातवालों के पास जाती है।

६ पंचवर्षीय योजनाओं ने देश के विकास को जो दिशा दी है, और अब सुरक्षा का प्रश्न देश की अर्थनीति को जो दिशा दे रहा है, उसमें खादी के लिए हम क्या स्थान चाहते हैं, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए। सुरक्षा की आड़ में इस देश में पूँजीवाद दिनोंदिन मजबूत हो रहा है, चाहे वह निजी पूँजीवाद हो चाहे राज्य का पूँजीवाद इतना ही नहीं, सुरक्षा के नाम में फासिस्टवाद की शक्तियाँ तेजी से सुसंगठित हो रही हैं और जनता राष्ट्रीयता के जोश में उनका समर्थन कर रही है और आगे भी करेगी। इस स्थिति में हम रचनात्मक कार्यकर्ताओं का क्या रुख होगा और हमारे कार्यक्रम की क्या दिशा होगी ? अगर हम भी सुरक्षा के नाम में फासिस्टवाद और पूँजीवाद से समझौता करने को तैयार हों तो हमें खादी के लिए अधिक से अधिक ग्रामीण उद्योग (रूरल इंडस्ट्री) की ही स्थिति से संतोष मानना पड़ेगा, नारे हमारे चाहे जो हों, लेकिन अगर हमें लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रता का समर्थन करना हो तो खादी के दर्शन (फिलासफी), खादी के संगठन (आर्गनाइजेशन) उत्पादन यंत्र (टेक्नीक) और कार्यकर्ता के स्थान (रोल) के चारों प्रश्नों पर नये सिरे से विचार करने की जरूरत है क्योंकि तब खादी को रचनात्मक कार्य का एक आइटेम न मानकर एक मूल्य (वैल्यू) और सामाजिक शक्ति (सोशल फोर्स) बनाने की बात सोचनी पड़ेगी।

पाँचवाँ प्रश्न सरकार से मिलनेवाली सहायता (पैटर्न आव असिस्टेंस) का है लेकिन वह इन चारों के तय होने पर ही तय हो सकता है।

७–चीन के आक्रमण ने हमारे लोकतन्त्र के गुणों और दोषों, दोनों को अच्छी तरह प्रकट कर दिया। यह स्पष्ट हो गया है कि हमारे देश का जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचा है उसे कायम रखते हुए लोकतंत्र शक्ति शाली नहीं हो सकता। भविष्य में स्थिति ऐसी बनती दिखाई दे रही है कि या तो लोक तंत्र जो भी अधूरा रूप देश में उसका है समाप्त होगा या आज का ढाचा टूटेगा। दोनों का सह अस्तित्व अब सम्भव नहीं है। बापू की वह चेतावनी साफ सुनाई दे रही है कि भारत के लोकतांत्रिक विकास में नागरिक शक्ति (सिविल-पावर)—और सैनिक शक्ति (मिलिटरी-पावर) में संघर्ष अनिवार्य है। खादी की जितनी समाज रचना है और उसका जितना जीवन दर्शन है वह नागरिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की ही पार्श्वभूमि में पनप सकता है, पूँजिवाद और फासिस्टवाद में नहीं। इसलिए लोकतंत्र की बुनियाद के रूप में लोकशक्ति को सुदृढ़ करना हमारे सारे रचनात्मक कार्य का पहला काम हो जाता है।

८–अगर यह बात सही हो तो आज जब कि देश मे प्रवृत्तियों और शक्तियों का मथन हो रहा है तो खादी को और हम खादीवालों को तय कर लेना चाहिए कि लोकतन्त्र के विकास में हमारा क्या रोल' होगा। आज जो भी खादी है मुख्यत व्यापारिक है। व्यापारिक खादी बिल्कुल बद हो जानी चाहिए, ऐसा हम नहीं कह सकते। दुर्भिक्ष ग्रस्त देश में कोई भी प्रवृत्ति जिससे कुछ थोड़े लोगों को भी पूरी या आधा रोटी मिले, बद नहीं की जा सकती। लेकिन विचार की मर्यादा और दिशा स्पष्ट हो जानी चाहिए। पचवर्षीय योजनाओं के अतर्गत व्यापारिक खादी के लिए यही गुंजाइश रखी गयी है कि वह गाँव में बने और बाजार में बिके, याना 'रूरल इन्डस्ट्री' के रूप में चले इससे अधिक नहीं।

९–ऐसी हालत में क्या स्वावलम्बन की बात कहना छोड़ दें ? नहीं, लेकिन यह सबक लें कि किसी गाँव का हर परिवार अपने कपड़े के लिए आवश्यक सूत कातले जिसे गाँव का बुनकर बुन दे और कपास भी गाव में ही उगा ली जाय। फिर भी आज जिस मजिल पर सामाजिक विकास का विचार पहुँचा हुआ है उसे देखते हुए हम शायद यह नहीं कह सकेंगे कि यह सर्वोदय की कल्पना का स्वावलबन हुआ। अब हमारा ग्राम स्वावलबन ग्राम-स्वामित्व और ग्राम-स्वराज्य के साथ जुड़ गया। अगर इस जोड़ पर हम ध्यान न दें और तर्क के लिए यह मान भी लें, जो सम्भव नहीं है, कि देश में हर गाव वस्त्र-स्वावलबी हो जाय फिर भी यह सम्भव है कि पूँजीवाद और फासिस्टवाद चलता रहे। बात यह है कि जब तक जमीन, कल कारखानों और, व्यापार की मालिकी चलती रहेगी तब तक हर परिवार और हर गाँव प्रतिद्वंद्विता-मूलक अर्थनीति (कम्पिटिटिव इकानमी) का ही अंग बना रहेगा इसलिए गाव की कपास, गाँव का सूत और गाँव का कपड़ा समाज के पूँजीवादी सम्बन्धों के स्थान पर समतामूलक सम्बन्धों की स्थापना में ज्यादा से ज्यादा सहायक और पूरक ही हो सकता है, इससे अधिक नहीं। कारण यह है कि वस्त्र-स्वावलबन सामाजिक शक्ति नहीं है, इस युग की सामाजिक शक्ति है 'सबकी सम्पत्ति' (स्वामित्व विसर्जन–नो प्राइवेट प्रापर्टी) और उसके आधार पर खड़ी होनेवाली सबकी शक्ति' (लोकशक्ति-पावर टु आल)। मुझे इसमें भी शक है कि केवल 'वस्त्र-स्वावलबन' ग्रामस्वराज्य का युद्ध घोष (बैटिलक्राई) भी बन सकता है।

१० इस तरह सहायक होने के लिए भी खादी में एक बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता है वह यह कि खादी का ग्रामीण उद्योग (रूरल इण्डस्ट्री) देहात की प्रवृत्ति बन जाय यानी खादी का काम देहात के लोग अपने किसी व्यापारिक सगठन के द्वारा करें। हमारी सेवा-सस्था शिक्षण और सगठन का काम करे और "टेक्नीकल सर्विस" दे। इससे कई लाभ होंगे। एक तो गाँव-गाँव में एक आर्थिक प्रवृत्ति चल जायगी जिसके आधार पर गाँव वालों की कुछ सहकारी व्यवस्था शक्ति विकसित हो सकेगी, दूसरे, गाँव के लोगों में गाव के लिए सोचने

का अभ्यास बढ़ेगा, तीसरे, देश के स्तर पर शहर के मुकाबिले गाँव की सौदे की शक्ति (बारगेनिंग पावर) बढ़ेगी। अत में गांव में एक प्रकार का 'इकोनामिक फोकस' बन जाने से देश की व्यापक अर्थ नीति में नया मोड़ भी आ सकता है।

११–जिस किसी दृष्टि से देखा जाय, सेवा संस्थाओं का आज का संगठन व्यापार और स्वावलंबन दोनों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। अगर जिले के आधार पर ग्रामीण उद्योगों के विकास और व्यापार की बात सोचनी हो–इससे नीचे के स्तर पर सोची भी क्या जा सकती है! तो पूरे जिले के लिए 'एक कारपोरेशन' की बात सोचनी चाहिए जिसके नीचे गांव-स्तर तक विभिन्न उद्योगों और क्षेत्रों के लिए छोटे-छोटे कारपोरेशन हो सकते हैं जो सब विशुद्ध व्यावसायिक ढंग से चलेंगे। अब यह मान लेना चाहिए कि संस्था में नित्य बढ़नेवाली आज की सेवा-संस्थाओं के पास न पूँजी की प्रचुरता है, न उसके कार्यकर्ताओं में व्यापार की क्षमता है, और न व्यापार की वृत्ति ही है। धन पैदा करने का काम कोई सेवा संस्था कर ही नहीं सकती, और न उसे करना ही चाहिए। इसलिए अब समय आ गया है कि व्यापार सीधे-सीधे कारपोरेशनों को सौंपा जाय तथा लोक शिक्षण, संगठन और प्राविधिक सहायता का काम सेवा-संस्थाएँ करें। ग्राम-स्वावलंबन को आधार मानकर गाँव में किसी प्रवृत्ति को चलाने की जिम्मेदारी ग्राम-सभा और उसके द्वारा चुनी हुई ग्राम-पंचायत या सहकारी समिति की ही लेनी चाहिए। गाँव स्तर पर शुरू होनेवाले ऐसे प्रयत्नों को हर तरह से बढ़ावा देना हमारी संस्थाओं का मुख्य काम होगा। सेवा संस्था, पंचायत, कोआपरेटिव तथा कारपोरेशन का परस्पर क्या सम्बन्ध हो, यह आसानी से तय किया जा सकता है। ऐसा करने से संस्था का रूप बदल जायगा, उसके वैतनिक कार्यकर्ता एक एक हुनर में पूरे तौर पर 'ट्रेंड' होंगे और उनकी सेवा की जनता में माँग होगी और वह उनकी सेवा के लिए फीस भी देने को तैयार होगा। इस स्थिति में संस्था के लिए रिबेट से व्यापार चलाने का प्रश्न ही नहीं रह जायगा, लेकिन ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए सरकार को सब्सिडी, अनुकूल मूल्य नीति (प्राइस पालिसी) गोदाम, मार्केटिंग, कर्ज आदि की सुविधा देने के लिए तैयार होना पड़ेगा।

१२–व्यापार से अलग नये समाज की रचना के रूप में खादी तब प्रकट होगी जब हम गांव के पूरे जीवन को लेंगे और समग्र योजना बनायेंगे जिसमें खेती, उद्योग, व्यापार, शिक्षण, स्वास्थ्य, न्याय, सुव्यवस्था और सुरक्षा आदि का अपना संतुलित स्थान होगा और गांव की जनता सहकारी पद्धति से समग्र जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की कोशिश करेगी। गाँव के पूरे जीवन से अलग रहकर खादी केवल खादी बनकर न बहुत दिन तक टिक सकेगी, न बहुत कुछ कर सकेगी। इसलिए सच्चे स्वावलम्बन में रुचि रखनेवाले मित्रों को स्वामित्व विसर्जन की प्रक्रिया के क्षेत्र में रमना चाहिए और वे जनता के बीच 'चेतन तत्त्व' (कान्शस एलिमेंट) बनकर बैठें और काम कर सकें इसलिए संस्थाओं को उनकी पूरी मदद करनी चाहिए। ग्राम इकाई का योजना इस तरह का अवसर देती है कि कार्यकर्ता जीविका के लिए संस्थाश्रित रहकर भी ग्राम निर्माण को जनाधारित बना सके। धीरेन भाई की ग्रामभारती लोक जीवन को स्वयं लोकाधारित बनाने की दिशा में इससे कहीं आगे बढ़ा हुआ साहसपूर्ण कदम है।

१३–लेकिन अगर खादी के काम में ऐसा नया मोड़ देना हो तो पूरे रचनात्मक कार्य में नया मोड़ देना होगा। पिछले वर्षों में भूदान-यज्ञ आन्दोलन ने सर्वोदय की जो भूमिका बनायी उसके अनुसार रचनात्मक कार्य ने अपनी दृष्टि, दिशा और पद्धति नहीं बदली। भूदान यज्ञ समाज के सामाजिक सम्बन्धों को बदलने के आंदोलन के रूप में शुरू हुआ, लेकिन प्रचलित रचनात्मक कार्य ने नये मूल्यों और नयी सामाजिक शक्ति को नहीं पहिचाना। फलत रचनात्मक कार्य का 'विजन' नहीं बदला और यह बात कहने को हो गयी कि 'सर्वोदय का भी नाम लेनेवाला मध्यमवर्ग समाज परिवर्तन के लिए अपने को तैयार नहीं कर सका।

आदोलन के क्रम में भूमिहीन को जमीन तो मिली लेकिन हमने उसे उद्योग देकर पूरा किसान नही बनाया, वह आधा किसान बना और आधा मजदूर रह गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह अपनी नयी हैसियत और नया मानस लेकर पुराने समाज में बेमेल (मिसफिट) हो गया और हम मालिक मजदूर के नये सबंधों का कोई नमूना भी नहीं प्रस्तुत कर सके। हमारी इस विफलता से भूदान यज्ञ और रचनात्मक कार्य दोनों को आघात लगा और दोनों में से किसी में भी समाज-निर्माण की शक्ति नहीं प्रकट हो सकी।

१४. बावजूद-भूदानयज्ञ आन्दोलन के हमने रचनात्मक कार्य को सामान्यतः खादी, साबुन, और घानी तक ही सीमित रखा। हम समाज के बहुमुखी जीवन में उसकी विविध उत्पादन प्रवृत्तियों को और उनके कारण बने हुए मानवीय सम्बधों को रचनात्मक कार्य की परिधि के बाहर ही समझते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि हम स्वय समाज के वास्तविक रचनात्मक जीवन से अलग पड़ गये। हमें यह चिंता नहीं हुई कि खेती में, पशु-पालन में, कुम्हारी में, चमड़े के काम में, बढ़ईगिरी और लोहारी में, या और दूसरे कामों में उत्पादन कैसे बढ़ेगा और उन कामों में लगे हुए लोगों को उचित पारिश्रमिक कैसे मिलेगा तथा मालिक मजदूर के सम्बधों की नयी भूमिका कैसे तैयार होगी। इन प्रश्नों से जैसे हम से मतलब ही नहीं था। हमने गाँव की समस्या को उसकी समग्रता में नहीं देखा, हमने जनता की नयी आकाक्षाओं को नहीं पहचाना, और भूदानयज्ञ आन्दोलन ने किस तरह क्रांति की एक शैक्षणिक प्रक्रिया शुरू की है, इसे हमने नहीं समझा। इस एकागी दृष्टि ने हमें जनता के जीवन प्रवाह से इतना अलग कर दिया कि आज जनता को हमारे चर्खे के जीने-मरने की चिंता भी नहीं रह गयी है। अब इसका प्रायश्चित्त यह है कि हम गाँव के समग्र विकास की बात सोचें। तभी हमें यह पता चलेगा कि समग्र योजना में खेती तथा अन्य धधों के साथ खादी का क्या स्थान है और विकास के कार्य में चरखे का क्या क्रम है। तब हम यह भी देखेंगे कि हमारे देश में वास्तविक समस्या मूल में सामाजिक और सास्कृतिक है जिसका समाधान 'समग्र शिक्षण' के अलावा दूसरा है ही नहीं। और शिक्षण मनुष्य द्वारा मनुष्य का होता है; उसमें तत्र का स्थान न्यूनतम है।

१५. समग्र विकास की दृष्टि से ग्राम इकाई की योजना समय से आयी है, लेकिन दुःख है कि सामान्यतः रचनात्मक सस्थाएँ उसे लड़कों का खेल समझ रही है। अगर वे इससे भिन्न कुछ समझतीं तो अपने मुख्य कार्यकर्ताओं और अपनी मुख्य शक्ति को समग्र विकास में लगातीं, समस्याओं का अध्ययन करतीं और उन से जूझने की तैयारी करतीं और यह उत्कटता प्रकट करतीं कि व्यापार की जिम्मेदारी कब, किस तरह उन के सिर से उतरेगी। लेकिन ऐसी कोई चिंता सस्थाओं में दिखाई नहीं देती। गाँव का काम जो निःसदेह सब से बड़ा और कठिन काम है, कच्चे लोगों के कमजोर कंधों पर डाल दिया गया है। क्या इससे यह सकेत नहीं मिलता कि हम राहत के काम से आगे बढ़ कर क्रांति के नजदीक नहीं जाना चाहते?

१६. ग्राम-इकाई का कार्यक्रम स्थानीय जनता को सक्रिय और जिम्मेदार बनाने का अच्छा कार्यक्रम बन सकता है लेकिन ग्राम इकाई की योजना में एक बहुत-बड़ा धोखा भी है। आज वस्तुस्थिति यह है कि कोई गाँव सचमुच 'इकाई' है ही नहीं, न उसमें आर्थिक एकता है, न सामाजिक, न सास्कृतिक। जब गाँव ही इकाई नहीं है तो पचायत इकाई कैसे होगी? प्रशासन की दृष्टि से बनायी हुई इकाइयों के पीछे कोई आर्थिक या सामाजिक दृष्टि नहीं है। ऐसी हालत में ग्राम इकाई का कार्यक्रम इस आधार पर नहीं बनना चाहिए कि गाँव या पचायत एक इकाई है। बल्कि इस आधार पर बनना चाहिए कि उसे इकाई बनाना है। ऐसा तभी हो सकता है जब काम के माध्यम से सहकार की परिधि निरतर बढ़ती रहे। यह वास्तव में शिक्षण की प्रक्रिया है जिस में जनता के चरित्र, उसके सास्कृतिक स्तर, उसकी भौतिक परिस्थिति, उसकी शक्ति और साधन, उसकी आकाक्षा और उसकी विवशताएँ सब का पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। ग्राम-

इकाई के नारे के प्रभाव में आकर अगर हम ने यह मान लिया कि जो कुछ महत्व है पंचायत का है, परिवार, टोले या गाँव का नहीं है और जो कुछ करना है मुखिया और सरपंच के ही द्वारा करना है तो हम भारी भूल करेंगे। हमें गाँव में कुछ चुने हुए, ग्राम-भावना रखनेवाले, चेतन व्यक्तियों के माध्यम से—केवल पदाधिकारियों के नहीं—प्रवेश करके परिवार को प्रारंभिक इकाई मान कर काम शुरू करना पड़ेगा और धीरे-धीरे पूरे गाँव, पंचायत, ब्लाक और जिले को सहकार के सूत्र में बाँधने की प्रक्रिया निकालनी पड़ेगी।

१७. जनता में घुसने का हमारा अप्रोच क्या है, इसका बुनियादी महत्व है। शासन-निरपेक्ष समाज में विश्वास रखते हुए हम तंत्र को कभी प्राथमिकता नहीं दे सकते। प्राथमिकता हमें मनुष्य को ही देनी पड़ेगी, नहीं तो कुछ दिनों में घूम-फिर कर हम अनिवार्य रूप से समष्टिवाद (कलेक्टिविज़म) पर पहुँच जायेंगे, और अच्छी नीयत होते हुए भी गलत हिकमत के कारण लोकतंत्र को समाप्त कर देंगे। 'ह्यूमन अप्रोच' और 'इन्स्टिट्यूशनल अप्रोच' के बीच अपनी पसंद हमें तय कर लेनी चाहिए। आज तक सरकार की ओर से या हमारी ओर से जितना निर्माण-कार्य हुआ है उस सब में तंत्र और संस्था की प्रधानता रही है। इस का परिणाम क्या हुआ है? जनता अपने को अलग (लेफ्ट आउट) महसूस करती है। लोकतंत्र में 'लोक' का पता नहीं है और आज देश में नागरिक-शक्ति नाम की जैसी कोई चीज नहीं रह गयी है। इस लिए अब जरूरत है मानवीय दृष्टि-'ह्यूमन अप्रोच'-की। इसके अनुसार हमारा प्रवेश व्यक्ति द्वारा होता है और आरम्भ परिवार से होता है, और विकास की दिशा परिवार-सहकार की होती है। इस तरह सहकार की परिधि बढ़ती है।

१८. इस नये दर्शन को कार्यान्वित करने के लिए नया संगठन, नयी तकनीक और नया व्यक्तित्व चाहिए, यह स्पष्ट है। गाँव को कार्यक्षेत्र और गाँव के समग्र विकास को अपना कार्यक्रम बनाते ही हमारे संगठन के स्वरूप में अन्तर पड़ जायगा; तब हमारा, गाँव का कार्यकर्ता मुख्य व्यक्ति और संस्था उसकी पूरक और सहायक हो जायेगी। ऐसी संस्था कार्यकर्ताओं और स्थानीय मित्रों का एक व्यापक संघ बनेगी। आज यह स्थिति दूर की भले ही मालूम हो लेकिन जाना है हमें उसी ओर। शासन निरपेक्ष लोकतंत्र की स्थिति लाने की दिशा में एक बड़ा ठोस कदम उठ जायगा अगर हमारी संस्थाएँ तंत्र-निरपेक्षता का विचार मान्य कर लें और उस ओर कदम उठाने के लिए तत्पर हो जायँ। व्यापार से मुक्त होने पर ऐसा करना आसान होगा।

१९. इस टेक्निकल युग में खादी-ग्रामोद्योग के पूरे विचार में सुधरे यन्त्रों और सुनियोजित उत्पादन-पद्धति का बुनियादी स्थान है। उत्पादन में यन्त्र, श्रम, बुद्धि, पूँजी, संगठन आदि सब का अपना-अपना स्थान है इसलिए उन सब को सामने रख कर ऐसी उत्पादन पद्धति का विकास करना चाहिए कि जो शोषण-मुक्त समाज बनाने में सहायक हो। आजकल विज्ञान का नाम लेते ही बड़े-बड़े यन्त्रों का चित्र सामने आ जाता है। विज्ञान को बड़े-बड़े यन्त्रों तक सीमित रखना अवैज्ञानिक है। यन्त्र ऐसे होने चाहिए जो हमारे सामाजिक लक्ष्यों (सोशल आबजेक्टिव्स) के अनुकूल हों। इस दृष्टि से उत्पादन पद्धति के सबंध में चार प्रारंभिक बातें सामने रखने लायक हैं: १—काम की तकनीक काम करनेवालों के चरित्र का ध्यान रखकर निकाली जाय, २—पहले श्रम और बुद्धि का संयोजन किया जाय फिर सुधरे यन्त्र लाए जायें जो लोगों की आर्थिक और बौद्धिक शक्ति के बाहर न हों, ३—सहकारिता या सामूहिकता के नाम में परिवार के अलग अस्तित्व और उसकी अलग जिम्मेदारी की उपेक्षा न की जाय। ४—जिम्मेदारी हर परिवार की अलग रहे लेकिन सामूहिक निर्णय और परस्पर-सहकार की परिधि बढ़ाने की सुनियोजित कोशिश हो।

बावजूद इसके कि खादी में अंबर का अवतार हुआ है यह मानना पड़ेगा कि यन्त्र या पद्धति के विकास में संस्थाओं की ओर से नहीं के बराबर काम हुआ है। इसके कई कारण हैं इसलिए आवश्यक है कि हर संस्था अपनी एक खोज, प्रयोग और शोध यूनिट (रिसर्च, एक्सपेरिमेंट और इन्वेस्टिगेशन यूनिट)

काम करे जो गाव के समग्र विकास की दृष्टि से शोध और चिंतन का काम करे।

२०—हम चाहे जो कार्य करना चाहें, कर्ता हमारे पूरे कार्यक्रम का प्राण है। शायद ही कोई ऐसी सस्था हो जो इस बात का दावा करे कि सामान्यतः जैसे जैसे सेवा की अवधि बीतती है उसके कार्यकर्ताओं का बौद्धिक,टेक्निकल और चारित्रिक विकास होता जाता है। अधिकांश कार्यकर्ता समय के साथ पीछे खिसकते हैं, और नये लोगों में पीछे खिसकने की गति अधिक तेज है। यों तो पूरे देश में चरित्र का सकट (क्राइसिस आव कैरेक्टर) है लेकिन जो सस्थाएं बड़े विचार के साथ जुड़ी हुई हैं उनका भी नैतिक बल (मारल रेजिस्टेंस) दिनोंदिन घटता जाय तो कैसे माना जाय कि उसके द्वारा कोई सामाजिक शक्ति प्रकट होगी। कोई भी व्यक्ति या समुदाय हो, जब तक विरोधी शक्ति के प्रहार और प्रलोभन के मुकाबिले उसमें 'प्रह्लाद शक्ति' नहीं विकसित होगी उससे कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। क्या हम प्रहारों को बर्दाश्त करने और प्रलोभनों को पी जाने की शक्ति तेजी से खोते नहीं जा रहे हैं?

२१ इस ह्रास के कारण अनेक हैं लेकिन मुख्य ये मालूम होते हैं —

१ आर्थिक अभाव और अरक्षा (इकोनामिक वाट ऐंड इन्सक्योरिटी) अपनी इच्छाएं ऊँची, परिवार का बोझ बड़ा और कमाई छोटी—तंगियों के बीच रहने वाले व्यक्ति के मनोबल की सीमा होती है। ऐसे कितने हैं जो अभाव का अनुभव करते हुए भी मन को अभाव के प्रभाव से बचा सकें? कहावत है अभाव से स्वभाव नष्ट होता है।

२ काम और जीवन की विसंगति यही की आज की स्थिति है। उसमें एक तरफ अपेक्षा यह है कि कार्यकर्ता (पक्का ट्रस्टी बनकर) मुनाफा कमाये, दूसरी तरफ अपेक्षा यह है कि गाधी और विनोबा के मान में वह अपने को क्रांतिकारी महसूस करे और समर्पण का जीवन बिताये। इन दोनों अपेक्षाओं के विरुद्ध स्वयं उसके मन में आकांक्षा है पैसे से प्राप्त होनेवाले सुख और सामाजिक सुरक्षा भोगने की। इस जबरदस्त विसंगति में कोई आश्चर्य नहीं कि औसत कार्यकर्ता पतन और प्रमाद का शिकार होता जा रहा है।

३ देश के जीवन में आदर्श का पूर्ण अभाव—चरित्र हमेशा किसी आदर्श के सदर्भ में ऊँचा उठता है शून्य में चरित्र का विकास नहीं होता। गुलामी में स्वतंत्रता का आदर्श था स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में 'साम्य' की केवल चर्चा शुरू हुई है वह भावना या आदर्श नहीं बना है। ऐसी हालत में किस चीज के लिए त्याग और समर्पण हो? कार्यकर्ता देखता है कि सस्था स्वयं स्वावलंबन की बात कहती है लेकिन सरकारी सहायता पर खड़ी होती है न कि अपने पुरुषार्थ पर तो क्या आश्चर्य कि उसमें ऊँचे मूल्यों के प्रति अनास्था पैदा हो? क्या 'सब्सिडी' और पुरुषार्थ में विरोध नहीं है?

४—सस्थाओं में मुख्य व्यक्तियों और कार्यकर्ताओं के बीच भाईचारे (कामरेडशिप) का अभाव—अधिकारवाद (अथारिटेरियानिज्म) या पितृवाद (पेटरनेलिज्म) के वातावरण में विचार में आस्था और व्यक्ति में श्रद्धा दोनों की समाप्ति हो जाती है। अगर 'अधिकारवाद' और पितृवाद' न होता तो सस्थाओं में यह चिंता होती कि उसके सदस्यों की बुद्धि और कार्यक्षमता बढ़े और अमानतदारी (ट्रस्टीशिप) की प्रवृत्ति जगे लेकिन बड़ों की ओर से ऐसा कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं होता। जिस समाज या सस्था में नेतृत्व का सकट (क्राइसिस आव लीडरशिप) होता है उसमें दूसरे सकटों का पैदा होना अनिवार्य है। स्वभावतः अपना देश आज हर तरह के सकट का अनुभव कर रहा है।

५ इन चारों तत्वों को इतिहास की इस भूमिका में देखना चाहिए कि स्वयं इतिहास व्यापारिक सेवा सस्था (कमर्शियल चैरिटबल इन्स्टिट्यूशन) के विरुद्ध है। लोक-कल्याणकारी राज्य (वेल फेअर स्टेट) की स्थापना के बाद और पूँजीवादी अर्थनीति में किसी सेवासस्था के लिए जो पूँजीपतियों की कृपा और कल्याणकारी राज्य की सहायता से व्यापार करना चाहे, स्थान होता ही नहीं। ऐसी परिस्थिति

में तीन ही तरह की 'स्वतंत्र' प्रवृत्तियाँ चल सकती हैं– विशुद्ध सेवा की, लोक शिक्षण की, बगावत की। लोकतंत्र में बगावत भी लोक शिक्षण की ही एक प्रक्रिया बन जाती है। ऐसी ऐतिहासिक प्रतिकूलता में हमें अपना स्वधर्म फिर स्थिर करना चाहिए। मुझे लगता है कि हमारा स्वधर्म सेवा और शिक्षण से भिन्न कुछ दूसरा है नहीं।

२२ अगर ये बातें किसी अंश में सही हों तो अब हमें सोचना चाहिए कि हमारा कार्यकर्ता उत्पादक (प्रोड्यूसर) और साथी (कामरेड) कैसे बनेगा और उसका काम उसके गुणात्मक विकास का माध्यम कैसे बनेगा। क्या हम यह सोच सकते हैं कि प्रारंभिक मंजिल के रूप में हम अपने जिले के लिए ये लक्ष्य स्थिर करें?

१ जिन गांवों से हमारा काम का संबन्ध है उनमें से हर गांव में एक मित्र और उन मित्रों में से ग्राम-स्वराज्य के पांच सौ 'ग्रामस्वराज्य-सैनिक' तैयार किये जाय। (नाम कुछ दूसरा भी हो सकता है)

२ जिले में ग्राम स्वराज्य के अंतर्गत खादी ग्रामोद्योग के विकास के लिए अपनी पूंजी इकट्ठा की जाय।

३ एक सौ कार्यकर्ताओं का पूर्ण रूप से ट्रेंड और अभ्यस्त 'टेक्निकल कोर' तैयार हो। खेती, ग्रामीण इंजीनियरिंग, आहार और आरोग्य, मकान निर्माण, खादी ग्रामोद्योग, कला और संस्कृति व्यवस्था, सहकारिता और संगठन-ग्रामीण जीवन के इन सारे पहलुओं के लिए एक एक टोली बने और संस्था उन्हें प्रशिक्षित करने की जिम्मेदारी ले।

४ प्रारंभिक अनुभव और अभ्यास के लिए जिले के एक या दो सघन क्षेत्र चुने जाय।

लोकतंत्र की भूमिका में खादी-ग्रामोद्योग के कई दूसरे पहलू हैं जो अलग चिंतन के विषय हैं।

●

[पृष्ठ २४० का शेषांश]

ये सभी विद्यालय बहुमुखी प्रशिक्षण देते हैं। यह के शिक्षक छात्रों को केवल ज्ञान देने में ही अपने कर्तव्य की इति नहीं मानते अपितु अपने विद्यार्थियों को व्यावहारिक क्षेत्र में भी निपुण बनाने का प्रयास करते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि वे छात्रों को स्वतंत्र तथा योग्य नवयुवक बनाना चाहते हैं जिससे वे अपने उत्तरदायित्व को भली प्रकार समझ सकें। इसके लिए कभी कभी शिक्षक और विद्यार्थी एक ही विषय का साथ-साथ अध्ययन करते हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे समुदायों में भी कार्य करते हैं। समुदाय स्नातकों तथा शिक्षकों के होते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि यह समुदाय केवल शिक्षकों के ही हों और कभी केवल विद्यार्थियों के ही हों। कभी शिक्षक और छात्र साथ-साथ घूमने भी जाते हैं और गांवके घरों में ठहरते भी हैं। एक स्थान के बच्चे तथा परिवार दूसरे स्थान के बच्चों तथा परिवारों में आते रहते हैं।

नाजी शासन के समय शिक्षा केंद्रीय विषय था। नाजी सरकार ने स्कूलों को भी नाजी प्रचार का एक केंद्र बिंदु बना लिया था। इस कारण युद्धोत्तर जर्मनी में शिक्षा राज्य का विभाग हो गया। सभी राज्यों के शिक्षा मंत्री तथा दूसरे अधिकारी सम्मेलनों में तथा अन्य प्रकारों से एक-दूसरे से मिलते हैं तथा विचारों का आदान प्रदान करते हैं। इससे शिक्षा का स्तर स्थिर रखने में योग मिलता है।

संक्षेप में जर्मनी में शिक्षा की व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षा के प्रकारों की रूप रेखा यहां प्रस्तुत की गयी है। इतने विवेचन से जर्मनी की शिक्षा प्रणाली समझने में सहायता अवश्य मिलेगी।

●

शारदा-स्तुति

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

श्लोक :—या कुन्देन्दुतुषार हार धवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिः देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

अर्थ :—जो कुन्द, चन्द्र या बरफ के हार के समान गौरवर्ण है, जिसने सफेद वस्त्र पहने हैं, जिसके हाथ वीणा के सुन्दर दण्ड से सुशोभित है, जो सफेद कमल पर बैठी है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देव सदा जिसकी स्तुति करते हैं, समस्त अज्ञान और जड़ता का जो नाश करनेवाली है वह देवी सरस्वती मेरी रक्षा करे।

भावार्थ :—इस श्लोक से हमें विद्या की, ज्ञान-विज्ञान की, अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के, जिसे शारदा भी कहा जाता है, स्वरूप का पता चलता है। इस देश में विद्या की उपासना एक विशेष निष्ठा के साथ की गयी है। उसके पीछे हमारा अपना एक जीवन-दर्शन रहा है। इसी लिए हमारे यहां विद्या को मुक्ति का वाहन माना गया है और उसे अमरता के साथ जोड़ा गया है, कहते हैं—सा विद्या या विमुक्तये अर्थात् विद्या है जो मनुष्य को मुक्त करे। विद्या की उपासना किस लिए आवश्यक है इसकी चर्चा करते हुए हमें अपने पूर्वजों ने यह सिखाया है कि विद्यया अमृतं अश्नुते यानी विद्या के सहारे अमरता की प्राप्ति होती है। जो विद्या पढ़कर मुक्त नहीं हुआ और जिसने जीवन में अमरता की साधना नहीं की उसकी विद्या निष्फल रही, यही माना जाता था। इस कसौटी पर जो खरे उतरते थे वे ही सच्चे विद्वान, ज्ञानी या विज्ञानी कहलाते थे। उन दिनों विद्या केवल पेट भरने के लिए नहीं पढ़ी जाती थी। वह उसका लक्ष्य नहीं था। पेट तो सब का भरता था पर विद्या केवल पेट के लिए नहीं थी। उसका मुख्य उद्देश्य था मुक्ति अथवा अमरता। मुक्ति से मतलब मोक्ष या शरीर से छुटकारे का नहीं, पर प्रत्यक्ष जीवन में, रोज-रोज के काम-काज, विचार-व्यवहार, लेन-देन आदि में नाना प्रकार की बुराइयों से बचने का निर्दोष, निष्पाप, निष्कलंक और निर्मल जीवन बिताने की शक्ति प्राप्त करने का रहा। जिसने विद्या पढ़कर जीवन को सब प्रकार-की बुराइयों से बचाने की कला सीख ली, इस विद्या में जिसकी निष्ठा दृढ़ हो गयी वह मुक्त बन गया। उसके पास न भय फटकता है, न स्वार्थ, न लोभ और न किसी प्रकार की दीनता, हीनता अथवा पामरता ही उसे छू पाती है। वह इन सबसे कोसों दूर रह कर शुद्ध, पवित्र और निर्मल जीवन बिताने की शक्तिवाला बन जाता है। गुण-उपासना उसके जीवन का एक छंद, एक धुन बन बैठती है। इस अर्थ में वह दोषों, पापों, दुर्गुणों, दुराचारों आदि से मुक्त होता है और यह मुक्ति ही आगे उसके लिए अमरता का पथ खोल देती है। विद्या की ऐसी महिमा हमने मानी, जानी

है। इसी विद्या की जो अधिष्ठात्री देवी है, जिसे हमने सरस्वती और शारदा कहा है, उसके रूप-स्वरूप की जो सुन्दर और सुहावनी चर्चा इस श्लोक में की गयी है अब हम उस पर थोड़ा विचार करें।

इस श्लोक की पहली पंक्ति में सरस्वती के रूप का वर्णन है। कहते हैं उसका रूप कुन्द की तरह गोरा है, पूनों के चांद की तरह गोरा है, बर्फ के हार की तरह गोरा है। मतलब यह कि सृष्टि में जो गोरी से गोरी चीजें पायी जाती हैं सरस्वती उनसे कम गोरी नहीं है। जैसे उसका रंग गोरा है वैसे ही उसके वस्त्र भी गोरे हैं। वह सदा श्वेत अर्थात् सफेद वस्त्र ही पहनती है। उसके शरीर पर रंगीन वस्त्र कभी रहता नहीं। वह बैठती भी है तो सफेद कमल पर ही बैठती है। लाल या नीला कमल उसे पसंद नहीं। उसका रूप गोरा, उसके कपड़े गोरे, उसका वाहन गोरा। उसके आस-पास कालापन कहीं दिखता नहीं। वह कालेपन के पास कभी जाती नहीं, कभी उसे चाहती नहीं। उसके जीवन की सबसे बड़ी विभूति है उसकी गौरता, शुभ्रता, निर्मलता।

फिर कहते हैं कि उसके हाथ में वीणा का सुन्दर दण्ड सुशोभित है। हमारी सरस्वती गहनों, आभूषणों, अलंकारों आदि का शौकीन नहीं। रत्नाभरणों से, सोने चांदी की माया से वह सदा ही दूर रहती है। उसकी प्रीति तो वीणा से है। वीणा हमारे देश का एक उत्तम वाद्य है। जैसे फूलों में कमल सबसे श्रेष्ठ है, वैसे ही बाजों में वीणा सबसे ऊंचा बाजा है। अनेक तारों के योग से बजनेवाला यह बाजा बाजों में अपनी कोई मिसाल नहीं रखता। संवादिता इसका सबसे बड़ा गुण है। इसका एक एक तार एक दूसरे से मिल कर जिस संगीत की सृष्टि करता है, उसमें अपार मोहक शक्ति होती है। वीणा का नाद किसे मोहित नहीं करता? सांप और हिरन से लेकर मनुष्य तक सब उससे मुग्ध हो जाते हैं। सरस्वती में सम्मोहन की यह जो विराट् शक्ति पड़ी है वीणा उसकी प्रतीक है। इसीलिए सरस्वती को हम वीणावादिनी भी कहते हैं। संवादिता का जो गुण वीणा में प्रकट हुआ है, वह सरस्वती की उपासना करनेवाले मनुष्य में प्रकट हो और उसका घर बाहर का सारा जीवन सुन्दर, समन्वय, मेल मिलाप और सरसता समरसता से परिपूर्ण हो इसकी अपेक्षा रखी गयी है।

कहा है कि,

> सरसो विपरीतश्चेत्
> सरसत्वं न मुंचते
> साक्षरा विपरीताश्चेत्
> राक्षसा एव केवलम्।

जो सरस होता है, सरसता का पुत्र होता है वह विरोधी बनकर भी, विरुद्ध में जाकर भी कभी अपनी सरसता अर्थात् मनुष्यता नहीं छोड़ता पर जो केवल साक्षर है, जिसने सिर्फ लिखा पढ़ा है, पर गुणी नहीं, वह जब विरोध पर उतारू होता है तो साक्षात् राक्षस ही बन जाता है। हमारे जीवन दर्शन में सरसता और सहृदयता का जितना महत्व है, उतना विद्वता, पाण्डित्य अथवा साक्षरता का नहीं है। इसीलिए हमने समरस जीवन को ही सदा जीवन माना है और इसी विचार से सरस्वती के हाथों में वीणा का वरदण्ड सौंपा है। हमारे राम सरसता के और हमारा रावण साक्षरता का प्रतीक है। दोनों में जो अन्तर है वह स्पष्ट है।

इस श्लोक के रचयिता का अपना यह दृढ़ विचार है कि 'ब्रह्मा' 'विष्णु' 'महेश' आदि सारे देवता सरस्वती की उपासना अखण्ड रूप से करते ही रहते हैं। सरस्वती को अपनी खण्डित उपासना पसंद नहीं। जन्म की घड़ी से लेकर मृत्यु की घड़ी तक जिसका जीवन सरस्वती की उपासना में बीता वही सरस्वती का सच्चा और अमर उपासक बना। मतलब यह कि मनुष्य सरस्वती की उपासना को १०, १५, २०, वर्षों तक सीमित नहीं कर सकता। ८ १० साल पढ़ लिये और फिर पढ़ना छोड़ दिया। अपने देश में हमने इसे सरस्वती की उपासना की रीति नहीं माना। इसीलिए श्लोक में 'सदा वन्दिता' शब्द आये हैं। ज्ञान विज्ञान की उपासना, विद्या का अध्ययन, अनुशीलन नित्य की वस्तु है और जीवन के अंतिम क्षण तक उसका क्रम टूटना नहीं चाहिए। यही हमारी परंपरा रही है, लेकिन आजका हमारा ढंग इससे बिल्कुल भिन्न है।

चौथी, छठी, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं या सोलहवी पढ़कर हम पढ़ाई से अर्थात् विद्या की उपासना से छुट्टी ले लेते हैं। हमारे लोक-जीवन का यह एक बड़ा दोष आज हमें नाना प्रकार से कमजोर किये जा रहा है। श्लोककार चाहता है, सुझाता है कि सरस्वती की आराधना-उपासना तो सदा ही चलती रहनी चाहिए।

फिर कहा है कि उपासना का अधिकारी कौन ? उपासना किसे किसे करनी है ? तो कहते हैं ब्रह्मा को करनी है, विष्णु को करनी है और शंकर आदि देवताओं को करनी है। ये ब्रह्मा, विष्णु और शंकर कौन हैं ? मनुष्य समाज में ये कहा पाये जाते हैं ? जहा मनुष्य रचना, निर्माण या उत्पादन में लगा हुआ है वहा वहा वह ब्रह्मा का प्रतिनिधि है, स्वय ब्रह्मा बन कर काम कर रहा है। ब्रह्मा के लिए यह जरूरी है कि वह सरस्वती की उपासना सदा करे। हमारे किसान, मजदूर, बढ़ई, कुम्हार, मोची, तेली, सुनार, दरजी ये सारे समाज के ब्रह्मा हैं, सृष्टिकर्ता हैं, निर्माता हैं, विधाता हैं। कच्चे को पक्का बनाने की कला इनके हाथ में है। यदि ये सरस्वती के उपासक नहीं हुए तो इनके जीवन का सारा वैभव लुप्त समझिए—जैसे आज वह लुप्त प्राय दीख रहा है। तो जीवन की यह पहली शर्त है कि जो पैदा करनेवाला है वह सरस्वती का उपासक हो, वह विद्वान हो, विचक्षण हो, आज की तरह गवार, अनाड़ी, और जड न हो। यदि ये सब ब्रह्मा हैं तो फिर समाज में विष्णु कौन है ?

हमने अपने देश म विष्णु को पालन करनेवाला माना है। ब्रह्मा की बनायी हुई चराचर सृष्टि का पालन करने में जिसका क्षण क्षण बीतता है उसे हम अपने यहा विष्णु के रूप म पूजते हैं। जो गृहस्थ है, बाल बच्चेदार है, नागरिक है वही हमारा विष्णु है। इस विष्णु के लिए भी यह जरूरी माना गया है कि वह अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक सरस्वती की उपासना में लीन रहे। भगवान की सृष्टि में मनुष्य ही एक प्राणी है जिसे जीते जी एक ही जीवन में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के काम करने होते हैं। जब मनुष्य पैदा करने के काम म लगता है तो वह ब्रह्मा की गादी सम्हालता है, वही जब अपनी पैदा की हुई सृष्टि की सार-सम्हाल के, पालन-पोषण-संवर्धन के काम में लगता है, तो उसकी बैठक विष्णु की बन जाती है और जब अपनी पाली-पोसी चीज उसके काम में नहीं रहती तो मनुष्य शकर बन कर उसे ठिकाने लगा देता है। पच-तत्त्व से निकली चीज को वापस पच-तत्त्वों के हवाले कर देता है। तो जो गृहस्थ है यानी विष्णु है और सेवक है यानी शकर है, भगी, चमार, नाई, धोबी आदि काम करता है उसके लिए भी सरस्वती की आराधना आवश्यक मानी गयी है। समाज के जो जो अग समाज की सेवा मे, उसके योग-क्षेम म लगे हैं वे सब समाज के लिए देवता स्वरूप हैं और उन सबका यह धर्म है और कर्तव्य है कि अपने अपने कामों को अच्छी तरह करने के लिए वे ज्ञान विज्ञान की उपासना दिन रात करते रहें। बिना इसके वे अपने-अपने धर्मों का सही पालन कर नहीं सकते। सैकड़ों साल पहले इस देश में जिस समाज व्यवस्था का विकास हुआ था, उसका स्पष्ट सकेत हमें श्लोक की इस तीसरी पक्ति से मिलता है। बीच के जमाने में यह सारी व्यवस्था गड़बड़ हो गयी। इसका दुखद परिणाम आज हमारे सामने है कि न हमारा 'ब्रह्मा' सरस्वती का उपासक रह गया है और न हमारे 'विष्णु' तथा 'शकर' ही सरस्वती की उपासना करने में मानते हैं। आज के हमारे समाज म अज्ञान और अन्ध-विश्वास का जो गहरा अंधेरा छाया हुआ है उसका मूल कारण यही है कि समाज ने परिस्थितियों के फेर में पड़कर सच्ची विद्या से, सरस्वती की शुद्ध उपासना से मुह मोड लिया है। परिणाम यह हुआ कि सारा समाज अटूट जड़ता का शिकार बन गया। आज देश को इस जड़ता से मुक्त करने की विशेष आवश्य कता है। जब तक यह बुनियादी काम नहीं होगा और शुद्ध रूप म वास्तविक रीति से नहीं होगा तब तक समस्याए बनी रहेंगी।

श्लोक के अत में भगवती सरस्वती से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने उपासक की रक्षा करे और उसके जीवन की सारी जड़ता को जड़-मूल से मिटा दे। इस पक्ति से हमें यह आश्वासन मिलता है कि जो जीवन में ज्ञान विज्ञान की, विद्या की अथवा कला-

कौशल को सही-सही उपासना, आराधना करेगा वह सब प्रकार की जड़ता से, अनाड़ीपन से, नासमझी, नालायकी और नाकामी से बच जायेगा और अपने को हर तरह से निर्मल, निष्पाप तथा निष्कलंक बना सकेगा। इसीलिए श्लोक के आरंभ में सरस्वती का स्वरूप गोरा बताया है। जिसने विद्या पढ़ी है, ज्ञान-विज्ञान सीखा है, कला-कौशल में जो प्रवीण हुआ है उसका सारा जीवन शुभ अर्थात् बेदाग बनना चाहिए उसमें किसी प्रकार के दोष या दुराचार के लिए गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए। यह हमारी असली कसौटी रही है और इस कसौटी को अपने सामने रखकर हमने किसी जमाने में इस देश में शिक्षा की और ज्ञान-विज्ञान की उपासना की थी। किंतु यह कसौटी हमसे छिन गयी है। हमने इसे अपने हाथ में रखने की चिंता ही नहीं की। स्वतंत्र भारत के कर्णधारों ने भी कभी शान्त-स्वस्थ भाव से इस कसौटी के बारे में गहराई से नहीं सोचा अगर सोचा होता तो आज इस देश में प्राथमिक शाला से लेकर विश्वविद्यालय तक जो शिक्षा उस का रूप कुछ और ही हुआ होता।

आज देश को चरित्रवान नागरिकों की आवश्यकता है। आज देश में राष्ट्रीय एकता की भूख है। आज देश को जरूरत है कि उसका एक-एक नागरिक समर्थ बने। परन्तु देश में शिक्षा की जो गड़बड़ व्यवस्था प्रचलित है उसके कारण समाज को गड़बड़ नागरिक ही मिल रहे हैं; समर्थ और शुद्ध-चरित्र नागरिक इने-गिने ही मिल पाते हैं और जो मिल पाते हैं वे वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था के बावजूद ही मिलते हैं। आज जीवन में संवादिता रह नहीं गयी है; शील संस्कार, सरसता, सहृदयता आदि का भारी अभाव पाया जाता है। जिस देश में जीवन-भर सरस्वती की उपासना करने का वातावरण था, परंपरा थी वहां आज करोड़ों बालक और करोड़ों स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिनके जीवन से ज्ञान-विज्ञान कोसों दूर पड़े हैं। जड़ता का तो पार ही नहीं है, जो शिक्षित कहे जाते हैं वे अशिक्षित से भी अधिक जड़ बनते जा रहे हैं। मनुष्यता मुरझा रही है, उसके पोषण के द्वार बंद हो रहे हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में इस श्लोक के अर्थ का चिंतन हमें निश्चय ही एक प्रकाश देता है। काश हम इसे समझें और इससे प्रेरणा लेकर नियमित नित-नये उत्साह के साथ ज्ञान-विज्ञान-युक्त मानवता की उपासना में रत रह सकें

*

[शेष पृष्ठ २४८ का शेषांश]

अन्त में धीरेन भाई का भाषण हुआ। उन्होंने गाँववालों का ध्यान देश की स्थायी एवं तात्कालिक समस्याओं की ओर खींचा और अन्त में बताया कि ग्रामभारती ही इन सभी रोगों का निवारण करने में समर्थ है।

गाँववालों की तरफ से डाक्टर साहब तथा शुक्ल जी ने धीरेन भाई के मार्गदर्शन में ग्रामभारती को सफल बनाने का अपना संकल्प पुनः दोहराया। शुक्ल जी ने बताया कि हमारे गाँव में पहले केवल सात मास तक खाने भर को अन्न पैदा होता था पर अब ग्रामभारती के मार्गदर्शन में काम करने पर हमें साल भर के लिए पर्याप्त अन्न होने लगा है। ग्रामभारती के आदर्श क्षेत्र की खेती की सभी आगन्तुकों तथा वक्ताओं ने सराहना की।

एक ग्रामीण ने बताया कि गर्मी के दिनों में बरनपुर गाँव के कुएँ सूख जाते थे। डेढ़ मील दूर से उन्हें पानी लाना पड़ता था। जब दादा धीरेन भाई ने कहा कि तुम लोग तालाब बनाओ और कुएँ में पानी साल भर रहेगा तब ग्रामीणों को विश्वास तो नहीं हुआ, परन्तु उनके कहने से हमलोगों ने श्रमदान द्वारा यह तालाब तैयार किया और अब हमें बारहों मास अपने कुओं में पर्याप्त पानी मिलता है।

इस प्रकार एक पारिवारिक वातावरण में इस गोष्ठी की चर्चा तीन दिनों तक चली। फिर सभी साथी ३० गावों के क्षेत्र में अन्न-संग्रह के निमित्त से जन सम्पर्क एवं विचार प्रचार के लिए निकल पड़े।

विजय बहादुर भाई

पश्चिमी जर्मनी में स्कूली शिक्षा

डा० तारकेश्वर प्रसाद सिंह, पी एच. डी (बॉन)

स्कूली शिक्षा-पद्धति का आरम्भ पश्चिमी जर्मनी में लगभग ११०० वर्ष पूर्व हुआ था। अनेक जर्मन राज्यों ने अपने यहाँ स्कूली शिक्षा को प्राथमिकता देते हुए उसे अनिवार्य कर दिया। १९ वीं शताब्दी में इस शिक्षा का चरम विकास दृष्टिगोचर होता है। क्यों कि उस समय विद्यापन उस शताब्दी के मध्य में पूरे जर्मनी में यह शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। फलतःक तथा प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ बहुत पहले से नि:शुल्क है। इस समय ग्रामर (स्कूल एक उच्च प्रकार का विद्यालय) तथा हाई स्कूल (उच्च शिक्षा विद्यालयों) में भी नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था है। इन शिक्षा-योजनाओं की एक मौलिक विशेषता यह है कि इस शिक्षा के ग्रहण करने में जिन साधन सामग्रियों की आवश्यकता होती है उन का प्रबन्ध राज्य की ओर से है। इस कारण शिक्षार्थियों को अर्थाभाव के कारण पैदा होनेवाली बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ता। पूरी एकाग्रता के साथ अपने अध्ययन में सारा समय लगा सकते हैं।

यहाँ की शिक्षा प्रणाली भी सुन्दर है। स्कूली शिक्षा में प्रवेश करने से पूर्व ३ से ६ वर्ष तक के बच्चे बच्चियाँ किंडरगार्टन खेल खिलौने आदि के द्वारा बच्चों को शिक्षा देनेवाले विद्यालय जा सकते हैं। इससे बच्चों के अध्ययन में सुविधा होती है। ३ से ६ वर्ष की आयु इतनी छोटी आयु होती है कि इस समय बच्चे स्वभावत खेल खिलौने में अधिक अनुरक्त रहते हैं। इस कारण खेल खिलौने के माध्यम से शिक्षा देने से बच्चे उसे बिना कठिनाई के शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। यह किण्डरगार्टन संस्थाओं, गिरजाघरों, कल्याणकारी समितियों तथा जनता में प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा चलाये जाते हैं। इस प्रकार के विद्यालयों में ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि बच्चे स्वयं खेलें। उससे उनके भावी निर्माण तथा विकास में बड़ा योग मिलता है। बच्चों को उनकी आयु के अनुसार खेल के विभिन्न साधनों से शिक्षा दी जाती है कि उनका व्यक्तित्व उनके परिवार तक ही सीमित नहीं है, अपितु वे एक समुदाय के सदस्य हैं। इस प्रकार की व्यवस्था से बच्चों का ऐसा विकास होता है कि उनकी प्रतिभा सीमित न हो कर बहुमुखी हो जाती है। सब से बड़ा लाभ यह होता है कि वे धीरे धीरे अपनी आयु के साथ विकास कर पाते हैं। अचानक विकास आने पर उतना अच्छा नहीं होता जितना अवस्था के अनुसार धीरे धीरे विकसित होना। किण्डरगार्टन उस उत्तरदायित्व को पूरा करता है।

उन किण्डरगार्टन विद्या केन्द्रों की अपनी विशिष्ट मौलिकता है। यह आवश्यक नहीं कि सभी बच्चे ६ वर्ष की आयु में स्कूली शिक्षण ग्रहण करने के लिए योग्य प्रतिभा का विकास कर लें। पर किण्डरगार्टन में जाने से सभी बच्चे ७ वर्ष में स्कूली शिक्षा ग्रहण करने की प्रतिभा विकसित कर लेते हैं। और ६ वर्ष की आयु तक किण्डरगार्टन विद्या केन्द्र बालकों को स्कूली शिक्षा के योग्य बनाते हैं और बालकों को स्कूली शिक्षा के अनुरूप प्रौढ़ता उपर्युक्त विद्यालयों से आती है। स्कूली शिक्षा में प्रवेश पाने की शक्ति आये उसके लिए यह विद्या-केन्द्र बच्चों को खेल में भाग लेने के लिए उत्साहित करते हैं।

पश्चिमी जर्मनी में कुछ ऐसे भी विशेष विद्या केन्द्र हैं जहाँ पर किण्डरगार्टन की शिक्षिकाओं का दो वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है।

जब बालक ६ वर्ष का होता है तब अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ होती है। १८ वर्ष की आयु में यह अनिवार्य शिक्षा समाप्त होती है। प्रारंभिक विद्यालयों में स्कूली शिक्षा ८ या ९ वर्षों तक चलती है। उसके उपरांत वोकेशनल (स्कूल-व्यापार, व्यवसाय इत्यादि का शिक्षण देनेवाला विद्यालय) में तीन वर्ष की शिक्षा होती है। व्यापार, व्यवसाय आदि का प्रशिक्षण देनेवाले विद्यालय कुछ निर्धारित समय तक अपना प्रशिक्षण देने का कार्य करते हैं। प्रारंभिक विद्यालयों में बच्चे तथा बच्चियाँ एक-साथ शिक्षा पाते हैं। कुछ वर्षों के उपरांत यह सह शिक्षा समाप्त होती है और बच्चे बच्चियाँ अलग अलग विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं। उससे उनकी भावनाएँ परिष्कृत रहती हैं और वे बिना किसी मानसिक उद्वेग के शिक्षा प्राप्त करते हैं।

प्रारम्भिक स्कूलों में लड़के तथा लड़कियाँ एक-साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं। यहाँ चार वर्षों तक बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं। इन चार वर्षों में ये विद्यालय बच्चों को ऐसा प्रशिक्षण देते हैं कि उनकी प्रतिभा तथा गुणों का सर्वतोमुखी विकास होता है। इस निर्धारित समय में उपयुक्त विद्या स्थानों के शिक्षक बालकों को किसी एक विशेष प्रकार की शिक्षा न देकर समस्त आवश्यक विषयों की जानकारी से उन्हें अवगत कराते हैं। इससे बालक सभी आवश्यक बातों की ओर एक समान रुचि रखते हैं। ऐसा नहीं कि एक ही समस्या के समाधान में अपना समस्त शक्ति का ह्रास कर दें। इससे उनके विचारों की संकीर्णता समाप्त होती है और उनका दृष्टिकोण विशाल होता है। उन विद्यालयों में लिखित शिक्षा के अलावा व्यावहारिक तथा रचनात्मक कार्यों की जानकारी भी बालकों को कराने का प्रयास किया जाता है। इससे बालकों को केवल सीमित शिक्षा का ही ज्ञान नहीं होता, अपितु वे अपने जिले के विभिन्न पहलुओं–भूगोल, खेती, उत्पादन, गणित आदि–को भी जान जाते हैं।

बालकों के संरक्षकों की इच्छा होने पर चौथे वर्ष के अंत में बच्चों को अधिक प्रगतिशील विद्यालयों में भेजा जा सकता है। यदि बच्चे के संरक्षक चौथे वर्ष के अन्त में प्रगतिशील विद्यालय में भेजने की अभिलाषा प्रकट न करें तो वह प्रारंभिक स्कूल में ही शिक्षा प्राप्त करेगा और उसकी स्कूली शिक्षा और चार वर्षों के बाद समाप्त हो जायगी। कुछ राज्य ऐसे हैं जहाँ स्कूली शिक्षा समाप्त होने में ९ वर्ष और लग जाते हैं। आधुनिक काल में इन प्रारम्भिक विद्यालयों में इन चार वर्षों में बालकों को ऐसा शिक्षण दिया जाता है जिसके द्वारा वे वाणिज्य या उद्योग में निपुण हो सकें एवं व्यावसायिक जीवन को उन्नत करने के लिए आगत कठिनाइयों का सहन करने की क्षमता प्राप्त कर अपने भावी जीवन को सुखी कर सकें। ऐसे बच्चों की संख्या यहाँ ७३ प्रतिशत है जो पुनः चार वर्ष प्रारम्भिक स्कूल में ही बिताते हैं। पहले उनकी संख्या ८० प्रतिशत थी।

प्रायः जैसा सभी देशों में है उसी प्रकार जर्मनी में भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट तथा धर्म निरपेक्ष आदि विभिन्न विचारों वाले लोग हैं। जर्मनी में इस विषय को लेकर अत्यधिक वाद विवाद हुआ है कि कैथोलिक बच्चों की शिक्षा एक अलग स्कूल में हो या सभी ईसाई बच्चों की एक साथ हो। इसी प्रकार प्रोटेस्टण्ट बालकों की शिक्षा अलग से हो या दूसरों के साथ हो, फिर धर्म निरपेक्ष लोगों के बच्चों की पढ़ाई भी अलग हो या सब के साथ। इस विवाद का भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न प्रणालियों से समाधान किया गया है।

प्रारम्भिक विद्यालयों में धार्मिक ज्ञान, जर्मन भाषा, गणित, पौराणिक कथाओं के बारे में बालकों को जानकारी करायी जाती है। इससे बालकों में और भी विषयों के ज्ञान की अभिरुचि जाग्रत होती है। प्रारम्भिक आयु में ही धर्म की शिक्षा प्राप्त करने से बालकों को अपने धर्म के प्रति स्वाभाविक ही रुचि जाग्रत होती है जो उनके जीवन के अन्त तक उसी प्रकार बनी रहती है। प्रारम्भिक स्कूल में पाँचवें वर्ष से भूगोल, इतिहास, विज्ञान, चित्रकला, संगीत तथा शारीरिक व्यायाम की शिक्षा दी जाती है। शारीरिक

व्यायाम से प्रारम्भकाल से ही बालक का शरीर पुष्ट होता है और वह स्वस्थ रहता है। अपनी तथा अपने देश की उन्नति के लिए अधिक परिश्रम से कार्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त लड़कियों को सिलाई की भी शिक्षा दी जाती है। इससे वे गृहकार्य में निष्णात रहती हैं। यदि इच्छा हो तो विद्यालय में ५ वें वर्ष से एक विदेशी भाषा भी पढ़ायी जा सकती है। ऐसी व्यवस्था होने से छात्र थोड़ी सी आयु में एक विदेशी भाषा के माध्यम से वहाँ की संस्कृति, समाज आदि का भी अध्ययन करने का सुअवसर पाता है। स्कूल के पाँचवे या कभी-कभी सातवें वर्ष से विस्तृत अध्ययन-क्रम प्रारम्भ होता है। यह विद्यालय बालकों को चार वर्षो में उसी स्तर की शिक्षा देते हैं जिस स्तर की इण्टरमीडियट स्कूल (माध्यमिक विद्यालय) में दी जाती है।

एक प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण करने पर एड-वान्सड स्कूल (प्रगतिशील विद्यालय) में प्रवेश लेना होता है। उन प्रगतिशील विद्यालयों की शिक्षा-प्रणाली विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार की होती है। प्रारम्भिक तथा माध्यमिक स्कूलों के शिक्षक उन प्रगतिशील विद्यालयों में होनेवाली परीक्षा को साथ-साथ देते हैं। माध्यमिक (सेकेण्डरी) विद्यालयों में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट को एक साथ शिक्षा दी जाती है।

माध्यमिक विद्यालयों में बेसिक शिक्षा दी जाती है। ६ वर्षों में यहा सामान्य ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। उससे छात्रों का सामान्य ज्ञान अथवा जानकारी बढ़ती है। यहा शासन, व्यापार, वाणिज्य, गृह-अर्थ-शास्त्र एञ्जीनियरिंग इत्यादि के बारे में स्नातकों को सामान्य ज्ञान कराया जाता है। इससे उनका व्यक्तित्व बहुमुखी विकास कर पाता है और सभी प्रकार के विषयों की जानकारी रहने के कारण किसी भी विषय में एकदम अपरिचित नहीं रह जाते। उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के विषयों का ज्ञान इस कारण भी उन्हें कराया जाता है कि उन विषयों के ज्ञान के लिए एक पृष्ठभूमि बन जाय। इस विद्यालय में समाज-शास्त्र, गणित तथा विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। माध्यमिक स्कूलों में प्रथम वर्ष से एक विदेशी भाषा सीखना अनिवार्य होता है। तीसरे वर्ष में छात्र स्वेच्छा से दूसरी भाषा का भी शिक्षण प्राप्त कर सकता है। ६ वर्षीय माध्यमिक विद्यालयों के अतिरिक्त कुछ राज्यों में तीन-चार वर्षों में ही माध्यमिक शिक्षा समाप्त हो जाती है। यह तभी होता है जब प्रारंभिक स्कूल में दो वर्ष की और अधिक शिक्षा मिल चुकी हो। इस प्रकार उन राज्यों में भी स्कूली शिक्षा की अवधि १० वर्ष की होती है। इस समय जर्मनी के १० प्रतिशत छात्र माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

हाइस्कूल को जर्मनी में 'जिमनाजियम्' कहा जाता है। उनमें सामान्यतः अधिक बौद्धिक शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार के शिक्षण से उन व्यक्तियों में अधिक योग मिलता है जिनमें अधिक योग्यता की अपेक्षा होती है। इस शिक्षा प्रणाली की अवधि ६ वर्ष की होती है। इस प्रकार के शिक्षण का अंत विश्व-विद्यालय की प्रवेश-परीक्षा के साथ होता है। जर्मनी में तीन प्रकार के हाइस्कूल (जिमनाजियम) होते हैं।

१. उच्च भाषाओं (लैटिन, ग्रीक आदि) के शिक्षा का विद्यालय।

२. आधुनिक भाषाओं का शिक्षण देनेवाले विद्यालय, जैसे अंग्रेजी, फ्रेंच आदि।

३. गणित, विज्ञान का प्रशिक्षण देनेवाले विद्यालय-

इन विद्यालयों में उपर्युक्त विषयों के सबंध में शिक्षा दी जाती है। जो छात्र प्रारंभिक शिक्षा को सफलता पूर्वक समाप्त कर लेते हैं उन्हें ही उन विभिन्न विद्या-केंद्रों में प्रवेश मिलता है। ६ वर्ष के बाद प्रौढ़ता की परीक्षा होती है इसका अभिप्राय यह है कि ६ वर्ष बाद शिक्षक देखते हैं कि छात्रों में आगे की शिक्षा में प्रवेश करने योग्य समुचित प्रौढ़ता अभी आयी है या नहीं। इस प्रकार के विद्यालयों का उद्देश्य बालकों का निर्माण है। इसी लिए इन्हें 'निर्माण करनेवाले विद्यालय' भी कहा जाता है। यह ऊँचे स्तर का विद्यालय होता है। यहा छात्र विश्व-विद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इन विद्यालयों में सायंकालीन वेला में भी शिक्षा देने की व्यवस्था होती है। यह विद्यालय गुणी नव-युवकों के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। यहा पर

तीन वर्षीय शिक्षा की व्यवस्था है। जो पहले से नौकरी में हैं उन्हें ये विद्यालय इस बात का अवसर देते हैं कि वे प्रवेशिका परीक्षा पास करने की तैयारी कर सकें तथा भावी जीवन में सफलता प्राप्त कर सकें।

जर्मनी में इन विद्यालयों के अलावा लड़कियों के लिए एक उच्चस्तरीय हाइस्कूल की व्यवस्था है। इसे नारी उच्च-स्तरीय विद्यालय (अपर स्कूल) कहते हैं। इनमें स्त्रियों के व्यावहारिक जीवन के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इससे नारियों को एक विद्यालय में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का सुन्दर अवकाश मिलता है। कुछ राज्यों में व्यावसायिक प्रशिक्षण देने के अभिप्राय से अर्थशास्त्र के उच्च स्तरीय विद्यालय हैं। जहा छात्रों को व्यवसाय के सबध में विशेष शिक्षा देकर प्रशिक्षित किया जाता है। उसमें अर्थशास्त्र तथा अन्य सामाजिक सेवाओं के सबध में छात्रों को ज्ञान कराया जाता है जिससे व्यावसायिक ज्ञान के साथ साथ उन्हें अन्य सामाजिक सेवाओं के ज्ञान से अपनी प्रतिभा के बहुमुखी विकास का योग मिलता है।

जर्मनी के हाइस्कूल अपने स्नातकों से बौद्धिक विकास की आशा तो करते ही हैं, उसके साथ ही वह अपने विद्यार्थियों से यह भी चाहते हैं कि छात्रों में बौद्धिक विकास पाने की तीव्रता हो। यदि छात्र विद्यालय की इच्छानुसार अपेक्षित विकास पूर्णरूपेण नहीं कर पाते तो उन्हें अपना अध्ययनक्रम बिना पूरा किये ही विद्यालय छोड़ देना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि छात्र विद्यालय के नियम से बाध्य होकर निर्धारित समय में बौद्धिक ढग से अपने को विकसित कर लेते हैं। इस प्रणाली से स्नातकों की प्रतिभा प्रखर होती है तथा वे सद्गुणों को ग्रहण करते हैं। प्राय छात्र कुछ व्यावहारिक कार्यों के लिए दसवा वर्ष पूरा करके ही छोड़ देते हैं। दसवा वर्ष पूरा करने पर उन्हें विद्यालय की ओर से इस बात की पुष्टि करते हुए प्रमाणपत्र दिया जाता है कि उन्होंने यहा की समस्त शिक्षा को पूरा करके विद्यालय छोड़ा है। इसी प्रमाणपत्र की प्राप्ति की आशा में छात्र दसवा वर्ष पूरा करके छोड़ते हैं।

विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए तथा कई प्रकार की नौकरियों और पेशे के लिए 'आबिटुर' (उच्चतर माध्यमिक विद्यालय) आवश्यक हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि जर्मनी में कुछ ऐसे भी विद्यालय हैं जहा छात्रों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने तथा कई प्रकार की नौकरियों तथा व्यवसाय के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि यह उच्चतर माध्यमिक विद्यालय आवश्यक नहीं हैं। इस प्रकार इन विद्यालयों की उपयोगिता और अनुपयोगिता को लेकर भी काफी वाद विवाद हुआ है। आज भी इसी कारण जर्मनी में शिक्षा-सुधार के लिए बहुत वाद विवाद चल रहा है। इससे यह पूर्णरूपेण स्पष्ट होता है कि जर्मनी शिक्षा-सुधार की ओर लोगों की बड़ी प्रबल रुचि है। जिस देश में शिक्षा के सुधार पर बल दिया जाता है वहा की भाषा समृद्ध होती है लोगों की समुचित उन्नति और प्रगति भी होती है तथा जनता को अपने बहुमुखी विकास में भी योग मिलता है।

प्राय प्रत्येक देश में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो शारीरिक, मानसिक या सामाजिक दृष्टि से पिछड़े होते हैं। इसके साथ ही उनमें शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता है। जर्मनी में भी ऐसे व्यक्ति हैं। वहा ऐसों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था है। यहा पर अंधे, बहरे तथा गूंगे व्यक्तियों की शिक्षा के लिए भी विद्यालयों में व्यवस्था है। यहा पर अपगों के बहुमुखी विकास का बहुत ख्याल किया जाता है और अंधों के लिए अलग, बहरों के लिए अलग और गूंगों के लिए अलग विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में छात्रावास की भी व्यवस्था है। इन विद्या केंद्रों में ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे उस शिक्षण के माध्यम से ऐसी परिस्थिति हो कि उनका अपने भावी जीवन में बिना किसी बाहरी सहायता के काम चल जाय।

शहरों में उपर्युक्त विद्यालयों के अलावा भिन्न भिन्न स्कूलों की स्थापना होने लगी है। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा हाई स्कूलों के स्थान में इकाई स्कूल स्थापित हो रहे हैं। [शेष पृष्ठ २३२ पर]

शिक्षा और समाज

ति० न० आत्रेय

सामाजिक संदर्भ में शिक्षा का स्वरूप

पुस्तकों की पढ़ाई और विशिष्ट विषयों की जानकारी देना ही यदि शिक्षा का अंत नहीं है, और यदि हम समाज निर्माण में भी शिक्षा का स्थान स्वीकार करते हैं तो शिक्षा के सामने एक विकट प्रश्न खड़ा होता है। वह यह कि चूँकि समाज परिवर्तनशील है इसलिए शिक्षा को भी अपना स्वरूप बदलते रहना होगा। प्रश्न यह है कि शिक्षा क्या समाज के परिवर्तनों के अनुरूप ढलती जाय अथवा समाज के परिवर्तन का स्वरूप निर्धारित करने का वह साधन बन सकती है या नहीं। क्योंकि पुरानी परंपरा के आधार पर सामाजिक जीवन का संतुलन बनाये रखना एक बात है और समाज का संतुलन बनाये रख कर समाज के जीवन को बदलना बिल्कुल दूसरी बात है। शिक्षा से ये दोनों काम किये जा सकते हैं। आज संसार भर के शिक्षा शास्त्री इन दोनों उद्देश्यों को सामने रख कर शिक्षा के स्वरूप के बारे में विचार कर रहे हैं।

जीवन का मूलभूत संघर्ष

मानव जीवन का यह एक सत्य है कि उसे प्राचीन और नवीन के संघर्ष में से ही गुजरना पड़ता है। उसका अतीत उसे पीछे की ओर खींचता है तो उसका भविष्य उसे आगे बढ़ने को प्रेरित करता है। यह स्थिरता और परिवर्तन के बीच का संघर्ष है, परंपरा और सुधार के बीच का तनाव है। राजनीति में उदार-मतवादी और क्रांतिकारियों के बीच का संघर्ष यही है, धर्म में रूढ़िवादियों और सुधार-वादियों के बीच का संघर्ष भी यही है। व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में प्राचीन संस्कारों और नये विकासों के बीच भी यही संघर्ष है। समाज का कोई पहलू या कोई क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। समाज का यह भी एक सत्य है कि सफल जीवन जीने के लिए अधिकांश लोगों को एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा तथा समान परंपराओं से जुड़ा हुआ 'अपना' एक क्षेत्र आवश्यक होता है जिसमें वे जैसे-जैसे बढ़ते जायं वैसे-वैसे नयी-नयी परिस्थितियों और नये-नये संबंधों को अपने अनुकूल बनाने का एक ठोस आधार पा सकें।

अतीत का मूल्य

चाहे कितना उन्नत और विकसित समाज हो उस समाज का जीवन और कार्य तभी यशस्वी हो सकेगा जब कुछ परंपराएं और मान्यताएं पहले से रूढ़ हो कर चली आयी हों, जिनके कारण लोग कई परिवर्तनों के बावजूद अपने को 'एक समाज का' समझ सकें और अपनी सुरक्षा अनुभव कर सकें। चूँकि जीवन कभी स्थिर रहने वाला नहीं है इसलिए परिवर्तन बराबर आते रहेंगे। लेकिन साथ ही यह भी आवश्यक है कि समाज की बुनियादी परंपराओं के द्वारा उन परिवर्तनों का नियंत्रण भी होता रहे। असल में लाख प्रयत्न करने पर भी कोई देश अपने अतीत को सर्वथा मिटा नहीं सकता। जो देश अपने को अत्यन्त क्रांतिकारी कहते हैं वे भी अपना अतीतकाल पूरा पूरा भुला नहीं पाये हैं। मिसाल के तौर पर रूस में जार के समय की परंपराएं आज के स्टैलिन और ख्रुश्चेव के

जमाने में भी पूरी मिट नहीं पायी हैं, लोगों की धार्मिक वृत्ति पूरी तरह शांत नहीं हो सका है। अधिनायकवादी राष्ट्रों की तुलना में प्रजातंत्रीय देशों में परंपराओं का महत्त्व अधिक है। क्यों कि प्रजातंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था में व्यक्ति को कई प्रकार का स्वतंत्रताएँ उपलब्ध हैं उसमें लोक-जीवन को किसी कड़े केन्द्रीय शासन से नियंत्रित नहीं किया जाता।

दूसरी बात यह भी है कि ये परंपराएँ ही समाज का चारित्र्य और समाज की विशेषताएँ होता हैं।

सुधार की आवश्यकता

लेकिन केवल परंपरावाद पर्याप्त नहीं होता है। गत पचास वर्षों में मानव-समाज के अंदर भौतिक परिस्थितियों में इतना बड़ा परिवर्तन हो गया जितना पहले के दो हजार वर्षों में भी नहीं हुआ था। इन भौतिक परिवर्तनों के कारण आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन भी काफी हो गये हैं। इनके कारण हम लकीर के फकीर बन कर पुरानी परंपराओं से चिपके रहे तो काम नहीं चलेगा, बल्कि उनका संशोधन और परिवर्तन करके आगे बढ़ना आवश्यक हो गया है। अन्यथा समाज का पतन अनिवार्य है।

शिक्षा से अतीत का रक्षा

शुरू के दिनों में इन परंपराओं को बनाये रखने में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आज के बच्चे कल के प्रौढ़ हैं, इसलिए वे जिस समाज में रहते हों उस समाज की श्रद्धाओं और विशिष्ट दृष्टिकोणों का शिक्षण उन्हें मिलना ही चाहिए ताकि वे उन्हें आगे भी चालू रख सकें और अपनी अगली पीढ़ी को विरासत में दे सकें, क्योंकि प्रत्येक समाज चिरकाल तक बना रहना चाहता है—स्थूल रूप से नहीं बल्कि अमुक कुछ निर्दिष्ट आदर्शों, मूल्यों, लक्ष्यों और आचार व्यवहारों का अनुसरण करनेवाली एक सामाजिक इकाई के रूप में। इस काम के लिए शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली साधन माना गया है। खास कर कई कम विकसित और कम-सुसंगठित देशों में जहाँ इसका अच्छा उपयोग किया गया है कि व्यक्ति-जीवन पर तथा परिवारों पर इसका इतना जबरदस्त प्रभाव पड़ा है कि वे उसे टाल नहीं सके। कई राष्ट्रों ने अपने स्कूल कालेजों को इस ढंग से संगठित किया कि वे राष्ट्र के परंपरागत जीवन क्रम को बनाये रखने में सहायक हों, इस प्रकार राष्ट्र की एकता बना रहे और नयी पीढ़ी निश्चित रूप से पुराने जीवन क्रम में दीक्षित होती जाय। यह क्रम जन-साधारण के स्वस्थ और सुखी जीवन के लिए आवश्यक है।

अतीत का विवेक

यह भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है, इसलिए शालाओं को इस उद्देश्य की पूर्ति की तरफ भी समुचित ध्यान देना होगा। इसके लिए शालाएँ क्या-क्या कर सकती हैं, यह एक स्वतंत्र विषय है, लेकिन संक्षेपमें यहाँ इतना उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि भारत जैसे देश में जिसका इतिहास अत्यंत प्राचीन है और जिसकी सभ्यता समुन्नत रही है, इतना तो किया ही जा सकता है कि उस पुरानी परंपरा और प्राचीन चारित्र्य के महत्त्वपूर्ण और बुनियादी मूल्यों का चुन लिया जाय और उतना अंश नयी पीढ़ी को विरासत में दिया जाय। केवल भूगोल, इतिहास और भाषा आदि पढ़ाने के बजाय उन मूल्यों का शिक्षण भी साथ-साथ दिया जा सकता है। अच्छा तो यही हो कि शालाओं में सामूहिक जीवन की व्यवस्था हो और वहाँ प्रत्यक्ष जीवन के द्वारा उन मूल्यों को बच्चों में प्रतिष्ठित किया जाय। इसके लिए शिक्षकों की इस बात का सही पकड़ होनी चाहिए कि कौन सी परंपराएँ और कौन से चारित्र्य देश को बना सकते हैं और कौन से नहीं, तथा शिक्षकों में इतनी श्रद्धा होनी चाहिए कि नयी पीढ़ी को उन परंपराओं और चारित्र्य में ढाल दें। किसी भी राष्ट्र की शाला हो, वहाँ निश्चित ही किसी न किसी परंपरा को साकार करने का प्रयत्न चलता ही है। और चूंकि सामान्यतया शालाओं का झुकाव परिवर्तन की ओर नहीं होता है, एक-सी बने रहने की ओर ही होता है इसलिए शिक्षकों के खास प्रयत्न के बिना ही कुछ ऐसी पुरानी परंपराएँ भी रूढ़ हो चलती हैं जिनका कोई मतलब नहीं रहता।

शिक्षा की सृजनशीलता

यद्यपि शिक्षा सस्कृति और परपरा को बनाये रखने का अत्यत प्रभावशाली साधन मानी गयी है और परिवर्तनों को सहज ही आत्मसात् करा देने योग्य साधन के रूप में उसे लोगों ने व्यापक मात्रा मे मान्य नहीं किया है, फिर भी शिक्षा में एक जबरदस्त सृजन-शक्ति भी है इसमें सदेह नहीं। आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों का निश्चित मत है कि शिक्षा की इस सृजनशक्ति का अधिकाधिक आविर्भाव होना चाहिए और समाज के नव-निर्माण के लिए शिक्षा का उपयोग होना चाहिए।

शिक्षा का दूसरा कर्तव्य

यद्यपि यह सही है कि शिक्षा में समाज की प्रकृति प्रतिबिंबित होती है और इसलिए शिक्षा अनिवार्य रूप से प्राचीन परपराओं को चालू रखती है, फिर भी आज समाज जिस प्रकार और जिस गति से बदलता जा रहा है उसके अनुरूप लोगों में जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह पुरानी शिक्षा प्रणाली से पूरी नहीं हो पा रही है। शिक्षा को लोकतत्र के सिद्धातों के अधिक निकट लाने का काम कोई आसान नहीं है, लोकतत्रीय राष्ट्रों को इसके लिए काफी परिश्रम करना पड़ा है। समाज की आवश्यकताएँ और समाज के लक्ष्य बदलते हैं तो उसके अनुरूप शिक्षा को भी बदलना होगा यह आज सब मानने लगे हैं। शिक्षा शास्त्री यह मानते हैं कि समाज में जब शाति और सतोष की स्थिति होती है तब शिक्षा मे समाज प्रतिबिंबित भले ही हो, पर जब समाज में असतोष और परिवर्तन की स्थिति होती है तब समाज का आवश्यक परिवर्तन करने का साधन शिक्षा को बनना होता है। अमेरिका के एक शिक्षा शास्त्री ने शिक्षा का अर्थ ही यह किया है कि "सजगतापूर्वक नियत्रित सामाजिक प्रक्रिया का नाम ही शिक्षा है कि जिससे व्यक्ति तथा समुदाय दोनों का आचार-व्यवहार बदला जाता है।" श्री जान डूई लिखते हैं कि "शिक्षा के द्वारा समाज अपना स्वतत्र उद्देश्य स्थापित कर सकता है, अपने ही साधन-स्रोत सगठित कर सकता है और इस प्रकार अपना रूप स्वय निर्धारित कर सकता है तथा चाहे जिस प्रकार की अर्थ नीति कायम कर सकता है।"

नयी अपेक्षा के तीन कारण

इस प्रकार समाज को नयी दिशा देने में तथा नये ढग का समाज-स्थापित करने में शिक्षा का उपयोग करने की बात सोचने के पीछे तीन कारण हैं : एक कारण यह है कि इससे पहले भी कई देशों में शिक्षा का इस प्रकार उपयोग किया गया है, दूसरा कारण यह है कि हमें अब मानव-स्वभाव के सबध में पहले से अधिक जानकारी हो गयी है और तीसरा कारण यह कि हम समाज के सबध मे भी पहले से बहुत ज्यादा जान गये हैं और कुछ बातों में निश्चित रूप से, पर कुछ बातों में तर्क शुद्ध सभावना के रूप में समाज के भविष्य की रूपरेखा के बारे में निश्चित राय दे सकते हैं।

पहला कारण–पिछला अनुभव

भारत में शिक्षा का इस प्रकार उपयोग कभी हुआ होगा ऐसा नहीं दीखता। लेकिन पश्चिम के कई राष्ट्रों में इसका सफल प्रयोग हुआ है। जर्मनी का उदाहरण प्रसिद्ध है। राष्ट्र के सगठन के लिए शिक्षा का महत्व हिटलर ने जान लिया था और फौरन सारे राष्ट्र की शिक्षाप्रणाली में उसने आमूल परिवर्तन कर दिया। उसमे जर्मन जाति की श्रेष्ठता, अपने नेता के प्रति निष्ठा के अलावा युद्ध के लायक शरीर-गठन पर बहुत बल दिया गया। वहाँ की क्राति नयी शिक्षा का ही परिणाम है।

पुराने ग्रीस में स्पार्टा एक राज्य था और वहाँ भी शिक्षा के द्वारा ही राज्य क्राति हुई।

इस समय भी डेनमार्क, फिलिपाइन और अमेरीका में यही तरीका काम में लिया जा रहा है जिसका परिणाम काफी सतोषजनक रहा है।

दूसरा कारण–मानव-स्वभाव की जानकारी

आज मनुष्य के विकासक्रम को नियत्रित करने और दिशा देने की शक्ति हमें प्राप्त हुई है। मनोविज्ञान ने मानव मन की प्रतिक्रियाओं और गतियों का गहरा अध्ययन किया है और शिक्षा-पद्धति का वैज्ञानिक

स्वरूप खोजने में बड़ी सहायता की है। भौतिक विज्ञान ने भी रेडियो से लेकर न जाने कितने कितने साधन सुलभ बना दिये हैं जो प्रवृत्तियों को अधिक गहराई से जानने का केवल फल ही नहीं हैं, बल्कि सही रूप में काम में लें तो बहुत महत्वपूर्ण और परिणामकारी शिक्षा-साधन सिद्ध हो सकते हैं। इनसे मनुष्य स्वभाव की गति विधियों को अच्छी तरह समझा जा सकता है और उनको सही दिशा में प्रभावित भी किया जा सकता है। इसका यह आशय नहीं कि इन साधनों से मनुष्य के स्वभाव को हम जड़मूल से बदल देंगे, बल्कि प्रत्येक स्त्री पुरुष, युवक-युवती, बच्चा बूढ़ा जिस ढंग से सोचता है, जिस ढंग से व्यवहार करता है, जैसा कुछ अनुभव करता है उन विचारों, व्यवहारों और अनुभवों में अवश्य ही संशोधन किया जा सकता है। लोगों को जिस रूप में ढालना चाहें उस प्रकार का आदर्श उनके सामने प्रस्तुत कर सकते हैं और उन्हें उन आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालने को प्रेरित कर सकते हैं। शालाओं में इस प्रकार का प्रयोग करते समय एक बात ध्यान में रखनी होती है कि जब तक शाला के बाहर के जन-साधारण का समर्थन वैसे आदर्शों के अनुकूल प्राप्त नहीं किया जाता तब तक शाला के अंदर के प्रयोग पूरा सफल नहीं हो पायेंगे। विचारकों का एक वर्ग ऐसा भी सोचता है कि पूरी कोशिश करने पर यह संभव है कि स्कूल के बच्चों के जीवन से उनके माता-पिताओं पर अर्थात् जन-साधारण पर भी प्रभाव पड़े और कम से कम इतना तो होगा ही कि जो बच्चे आज इस प्रकार का संस्कार पा रहे हैं वे अपनी अगली पीढ़ी को भी वही संस्कार विरासत में दें। और इस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में यह सिलसिला बढ़ता जाय और आगे चल कर सारा समाज नयी भूमिका को अपनाने के अनुकूल बने।

तीसरा कारण-समाज विज्ञान का ज्ञान

हमें समाज के बारे में बहुत कुछ मालूम हो गया है। समाज का परिवर्तन किन साधनों से हो सकता है यह भी कुछ कुछ समझ में आया है और एक दो पीढ़ी के बाद समाज का क्या स्वरूप होगा इसकी कल्पना आज की जा सकती है। जैसे समाज में आज स्त्री पुरुषों का अनुपात क्या है, किस वर्ग में कितने लोग काम करने लायक होंगे, काम के साधन-स्रोत कितने हैं, जनसंख्या का समाज की आर्थिक स्थिति पर क्या और किस प्रकार प्रभाव पड़ सकता है, क्या खतरे संभावित हैं, उन्हें कैसे टाला जा सकता है आदि बातें आज हम काफी निश्चयात्मक रूप से सोच सकते हैं। इसका यह भी अर्थ नहीं कि शिक्षक राष्ट्र की पुरानी संस्कृति तथा चारित्र्य से मुह मोड़ ले। राष्ट्र का इतिहास, भूगोल और जातिगत विरासतों में पूरा परिवर्तन न हो जाय तब तक मूल संस्कृति और परंपराएं बदली नहीं जा सकती हैं। इतना ही सकता है कि राष्ट्र में जो समय-समय पर प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं उनका स्वरूप बदला जा सकता है और उनको सही दिशा देकर अधिक मूल्यवान परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।

शिक्षा के दो पहलू

इस प्रकार सामाजिक संदर्भ में शिक्षा के दो (अतीत और अनागत) पहलू हैं। शिक्षा में एक ओर निश्चित रूप से अतीत का प्रतिबिंब झलकता है तो दूसरी ओर शिक्षा का उपयोग नवीन को अपनाने तथा तदनुकूल परिवर्तन लाने के लिए भी किया जा सकता है। शिक्षा एक ओर परंपरा की रक्षक है तो दूसरी ओर नवीन की स्रष्टा भी है। शालाएं इन दोनों उत्तरदायित्वों का निर्वाह कैसे कर सकती हैं?

एक उपाय-मूल्यों की प्रतिष्ठा

इसके दो उपाय हैं। एक उपाय यह है कि बदलती हुई परिस्थिति के लिए पुराने और नये दोनों प्रकार के कौन कौन से गुण और तत्व आवश्यक हैं यह समझ कर शाला अपना वातावरण उनके अनुरूप बना ले, स्तर ऊंचा उठा ले और शिक्षक बार बार चर्चाओं और विचारों के द्वारा वैसी आदतें लड़कों में डालते जायं। जैसे बच्चों में जिम्मेदारी की भावना और अभिक्रम बढ़ाया जा सकता है जिससे वे बच्चे रूढ़िवादी और गवारू समाज के ही अंग बने रहने

[शेष पृष्ठ २५० पर]

श्रमभारती का विसर्जन

श्री राममूर्ति

(एक)

२१ जनवरी १९६३ को श्रमभारती, खादीग्राम, की संचालन-समिति ने निर्णय कर लिया कि संस्था का विसर्जन कर दिया जाय। इस आशय का प्रस्ताव उस दिन पास हुआ और अब सर्व सेवा-संघ की प्रबन्ध समिति के सामने स्वीकृति के लिए पेश होगा।

श्रमभारती विसर्जित हुई, विलीन नहीं। अगर ग्राम स्वराज्य संघ, मुंगेर, चाहे तो उसके कार्यकर्ताओं और सामान आदि को ले सकता है। जमीन भी इस्तमाल के लिए ले सकता है, उस पर स्वामित्व सर्व सेवा संघ का ही रहेगा। लेकिन अगर ग्राम-स्वराज्य संघ को इनकी जरूरत न हो तो वह इनकार भी कर सकता है, और तब यह माना जायगा कि श्रमभारती विसर्जित हो कर इतिहास के शून्य में चली गयी।

यह अच्छा हुआ कि विसर्जन का निर्णय श्रमभारती के संस्थापक श्री धीरेनभाई की उपस्थिति में हुआ। श्री ध्वजाबाबू उस दिन की बैठक के अध्यक्ष थे। श्रमभारती के पुराने सदस्यों में श्री पारसभाई थे, श्री रवीन्द्रसिंह भाई थे और मैं था। संचालन समिति के अन्य सदस्यों में श्री रामनारायण बाबू और श्री निर्मल भाई थे। सर्व सेवा-संघ के प्रधान कार्यालय, वाराणसी, की ओर से श्री दत्तोबा दास्ताने गये थे। ग्राम-स्वराज्य संघ, मुंगेर के चारों पदाधिकारी मौजूद थे—मैं अध्यक्ष, रामनारायण बाबू उपाध्यक्ष, निर्मलभाई मंत्री, पारस भाई सहमंत्री। ये चारों श्रमभारती की संचालन समिति के भी सदस्य हैं। ऐसा लग रहा था जैसे एक हाथ दे रहा हो, दूसरा ले रहा हो।

चर्चा और प्रस्ताव पास होने में कुल दस मिनट से अधिक समय नहीं लगा। शुरू में जब श्रमभारती के मकान बन रहे थे तो धीरेनभाई बराबर कहते थे—'ऐसे मकान मत बनाना जो दस साल से अधिक चलें।' मकान अभी टूटे नहीं हैं लेकिन उनकी चेतावनी ठीक निकली।

२१ जनवरी '६३ को ग्राम को मैंने सामने की पहाड़ियों को देर तक निहारा। खादीग्राम जो अब तक हमारा 'मायका' था आज 'ससुराल' बन गया! कल तक की बेटी आज बहू बन गयी! बेटी ने मायके का प्यार छोड़ा तो ससुराल का अधिकार पाया। मैं बराबर सोचता रहा कि मैंने क्या छोड़ा और क्या पाया।

(दो)

श्रमभारती को कम लोग जानते हैं, खादीग्राम को अधिक। यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि श्रमभारती का जन्म खादीग्राम में नहीं हुआ था। श्रमभारती उम्र में खादीग्राम से बड़ी है। उसकी स्थापना २५ दिसम्बर १९५१ को सेवाग्राम में हुई थी। खादीग्राम में धीरेनभाई २६ जनवरी १९५२ को पहुँचे थे। बिल्कुल शुरू के साथियों में अभी तीन खादीग्राम में मौजूद हैं—श्री मिठूभाई, श्री पारसभाई, श्री रवीन्द्रनाथभाई। मैं १० मई १९५४ को शरीक हुआ था।

खादीग्राम में आज से दो साल पहले ही २१ जनवरी १९६१ को जिला खादी ग्रामोद्योग संघ, मुंगेर (अब ग्राम स्वराज्य संघ) का प्रधान केन्द्र आ चुका था। दो साल तक श्रमभारती और जिला संघ का सह-अस्तित्व

रहा, लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया श्रमभारती सिकुड़ती गयी और अन्त में विसर्जन में ही उसने अपनी सिद्धि देखी। बात यह है कि जन्म से ही श्रमभारती संस्था से अधिक एक विचार थी। विचार नया-नया परिधान और परिवेश ढूँढता है, और एक को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश करता है। विचार कहीं एक जगह चिपक कर रह नहीं सकता।

अगर हम में से हर एक से अलग-अलग पूछा जाता तो कई लोग विसर्जन का समर्थन न करते और श्रमभारती के स्वतंत्र अस्तित्व की आवश्यकता और औचित्य बताते। बताते भी हैं। कई ऐसे शुभ-चिन्तक और मित्र हैं जो यह सुन कर कि श्रमभारती अब नहीं रही बड़ा अफसोस प्रकट करते हैं। उन्हें नहीं मालूम है कि उनकी कल्पना की श्रमभारती कई साल पहिले ही समाप्त हो चुकी थी। १९५२ से १९५६ तक श्रमभारती के जीवन का 'धुँआधार' युग था। इस संस्था ने इन गिने पाँच वर्षों में शायद पचीस साल का जीवन जीया, बहुत किया, बहुत खोया, बहुत पाया, लेकिन जो कोई भी श्रमभारती के पास आया उसे उसकी तेज आँच जरूर लगी। यह उसकी विशेषता थी। लेकिन १९५७ में जब उसके अधिकांश सदस्य अखण्ड पदयात्रा में निकल गये और खादीग्राम में सर्व-सेवा-संघ का दफ्तर चला गया तो श्रमभारती की धारा ने तीखा मोड़ लिया। श्रमभारती कार्यालय प्रधान हो गयी। ३१ दिसम्बर '५७ को पदयात्रा समाप्त हुई और मैं कई साथियों के साथ खादीग्राम वापस आया तो तय हुआ कि शिक्षण का पुराना सिलसिला जो '५७ में टूट गया था '५८ में फिर शुरू कर दिया जाय। शुरू हुआ भी। साथ साथ संघ का कार्यालय भी चलता रहा। व्यवस्था की जिम्मेदारी कार्यालय पर थी और शिक्षण का काम श्रमभारती की पुरानी टीम पर था। काम शुरू हुआ, कुछ दिन जोर शोर के साथ चला, लेकिन अक्तूबर में चालीसगाँव में निधिमुक्ति का निर्णय लागू होने पर दो सवाल सामने आये—एक, बाहर से सहायता नहीं मिलेगी तो संस्था कैसे चलेगी? दो, संस्था में बैठकर कुछ बच्चों को पढ़ायें या समाज में जाकर क्रांति की खोज करें। तय हुआ कि शिक्षण की टोली क्रान्ति के अगले कदम के लिए निकले। जनवरी '५९ में यह टोली निकल गयी। शिक्षण का काम समाप्त हो गया। जो सचमुच 'श्रमभारती' थी वह संस्था से निकल गयी। श्रमभारती का नाम चलता रहा, कार्यालय जारी रहा, खेती होती रही, कुछ उद्योग भी चालू रहे, लेकिन श्रमभारती नाम से जिस तत्त्व का बोध होता था वह नहीं रहा।

१९५७ में गाँवों में घूमते घूमते मुझे यह प्रतीति हो गयी थी कि जिस नयी तालीम को बापू ने अपनी सर्वोत्कृष्ट देन कहा और जिसके लिए यह दावा किया कि रचनात्मक कार्य की सब नदियाँ नयी तालीम के समुद्र में विलीन होती हैं वह नयी तालीम संस्था में बँधी हुई चीज नहीं हो सकती। समुद्र तो समाज है जिसमें संस्था रूपी नदी को मिलना है न कि समुद्र को सिमट कर नदी में मिलना है। इस प्रतीति ने मेरे अन्दर बेचैनी तो पैदा की लेकिन संस्था से भिन्न समाज में नयी तालीम का क्या स्वरूप होगा यह स्पष्ट नहीं होता था। मैंने अक्तूबर या नवम्बर में किसी गाँव से धीरेनभाई को यह भी लिखा कि यात्रा के समाप्त होने पर मुझे किसी गाँव में ही रहने दीजिए। मैं ढूँढना चाहता था कि नयी तालीम क्या है। वह कौन सी प्रक्रिया है जो तालीम और समाज परिवर्तन को एक बना देती है। मेरे मन में यह बात यहाँ तक समा गयी थी कि अगर खादीग्राम लौटना ही पड़े तो पास के गाँव ललमटिया में अपना निवास रखूँ ताकि संस्था में काम करते हुए भी मेरी जड़ गाँव, यानी सहज-समाज, में रहे। लेकिन संस्था से अलग रहने की मेरी बात उस समय धीरेनभाई को पसन्द नहीं आयी। उन्होंने एक लम्बे पत्र में मुझे विस्तार-पूर्वक समझाया कि क्रांति की उस समय की व्यूह रचना की दृष्टि से संस्था में रहना अधिक उपयोगी है।

४ मई १९६० को धीरेनभाई खुद नयी तालीम की तलाश में निकल गये और पहुँचे पूर्णिया जिले के सुदूर गाँव बलिया में। मैं १९५८ में निकल गया था लेकिन धीरेनभाई के जाने के बाद लौटना पड़ा—निधिमुक्ति से विफल होकर पर गहरे अनुभव लेकर। मेरे साथ और साथी भी लौटे लेकिन क्रमिक शिक्षण का काम बन्द ही रहा। तब से अब तक मैं संस्था में धीरेनभाई की थाती जोगने के लिए बना रहा। (क्रमशः)

*

नयी शिक्षा:नयी दिशा

बलिया (पूर्णिया) से आने के बाद तीव्र इच्छा थी कि बरनपुर जाऊँ और अपने साथियों के जीवन-संघर्ष का प्रत्यक्ष दर्शन करूँ। आखिर दो माह बाद यह सुयोग मिला। धीरेन भाई ने जाते-जाते कहा कि हो सके तो बरनपुर भी जाना। ता० १ को प्रातः काल मनबहाल भाई के साथ बरनपुर के लिए निकल पड़ा।

शाम का झुटपुटा। नीरव वातावरण। विन्ध्य की अस्पष्ट पर्वत-मालाएँ मेरे मानस के धुंधले विचारों से एक-रूप हो रही थीं। कोराव से आगे एक मोड़ पर हमारी बस ने विदाई दी और चल पड़े हम दो साथी उस टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी पर स्नेह-सम्मेलन के लिए।

डेढ़ मील का रास्ता पार कर आखिर पहुँच गये, नये समाज, नये मानव निर्माण के उस अभिनव प्रयोग-स्थल पर। बलिया के दो वर्ष के जीवन में काफी ऊँचा नीचा देखा था। वहाँ के छोटे से झोपड़े में हम पाँच और कभी-कभी तो सात-आठ लोग रहते थे। धीरेन भाई कहते थे कि हमारी कुटिया रबर की है चाहे जब जितना चाहो उतना बढ़ा लो और जितने लोग चाहें रहें। मन में रह रह यही उत्कंठा जाग रही थी कि अहिंसक सैनिकों का यह दूसरा खेमा भी रबर का ही है या उससे भी अधिक किसी लचीली धातु का।

धीरेन भाई के कमरे में पहुँचा। बरामदे में जाने के लिए पूरा झुकने पर भी सिर में चोट लगने का डर बना ही रहता था। ढाई हाथ चौड़ा बरामदा होगा और करीब तीन हाथ चौड़ा लम्बा-सा बेडौल कमरा। मैं बार-बार छत और दीवालों की तरफ देख रहा था न आलमारी, न रैक, न पीढ़े, न कुर्सी। एक तरफ क्रांति बहन कुछ पका रही थीं, दूसरी ओर कुछ पुवाल पड़ा था और उसी पर धीरेन भाई अपना आसन जमाये थे। एक टूटी सी खाट भी बगल में पड़ी थी। यहाँ के मस्त साथियों की मस्त कुटिया बोल उठी—जिन धरती पर भूत का डेरा। और तभी क्रांति बहन कहने लगीं—'विजय भाई, आज क्या देख रहे हैं आप, कल देखते तो कहते, यह तो मैंने लिपाई की है। और तब' मैं नतमस्तक हो उठा बाबा भूतनाथ और उनके गणों की साधना पर।

बरनपुर गाँव दो टोला है। पश्चिम टोले पर हमारे साथी लोग रहते हैं। उसमें लगभग ७० घर होंगे घर क्या है, खपरैल और मिट्टी के छोटे मोटे मलीन आकार। सड़कों और गलियों में तो साल में झाड़ू लगने की शायद ही कभी नौबत आयी हो।

इस गाँव में अब कोई भूमिहीन नहीं है। ग्राम-दानी गाँव है। भूमि का छठा हिस्सा निकाल कर सभी भूमिहीनों को वितरित कर दिया गया है। जमीन का औसत प्रति व्यक्ति काफी है फिर भी ग्रामीणों के मकान और उनकी रहन-सहन देख कर लगा कि उनकी माली हालत अच्छी नहीं है।

दिनांक २ १ ६३ से ग्रामभारती शिविर का प्रारंभ था। पर अभी तक तीन ही व्यक्ति बाहर से आ पाये थे। अनौपचारिक ढंग से ही सारा कार्यक्रम शुरू हुआ। हमलोग ग्रामभारती के खेतों की ओर श्रम करने गये

दो घटे तक मिट्टी खोद कर मेड़ बनायी गयी और आगे मेड़ बाँधने के लिए लाइन लगाया गयी। विकास पदाधिकारी भी यहाँ पर आ गये। सबने गुड़ और लाई का नाश्ता किया और वहीं पर सेत-वर्ग शुरू हो गया।

चर्चा में धीरेन भाई ने बताया कि हमारी लड़ाई का दो मोर्चा है। एक सीमा का मोर्चा, दूसरा देश के अन्दर का मोर्चा। सीमा का मोर्चा तो सरकार देख रही है पर नागरिक मोर्चे के लिए जनता को तैयार करना ग्रामभारती का काम है। नागरिक मोर्चे में गरीबों, भूमिहीनों को आश्वस्त करना सर्व प्रथम काम है ताकि चीन की मुक्तिसेना के नारे का मुकाबला किया जा सके। इसलिए उन्हें जमीन का हिस्सा मिलना चाहिए ताकि वे इस देश को अपना देश समझ सकें।

बातचीत के सिलसिले में जाहिर हुआ कि चन्दा वसूल करने के तरीके में दबाव अधिक है। मंत्रीगण जन-सभाओं में तो कहते हैं कि चन्दा देना स्वेच्छा पर है पर जब अपने कर्मचारियों से मिलते हैं तब उनके बॉस बनकर चन्दा वसूल करने का कोटा निर्धारित करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में यह एक अपूर्व अवसर है कि हम जनता को लोकशाही और नौकरशाही का भेद समझायें। युद्ध के सन्दर्भ में हम जनता को भली प्रकार समझा सकते हैं कि ग्रामदान और भूमिदान सुरक्षात्मक कार्रवाई है।

धीरेन भाई ने कहा कि जन-नायक, जन प्रतिनिधि और जन-सेवक तीन तबका है। जन-नायक किसी क्रान्तिकारी विचार का वाहन होता है। वह जन शिक्षण द्वारा जन मत तैयार करता है। जन प्रतिनिधि उसका अनुसरण करता है और जन-सेवकों को तदनुसार कार्य करने का आदेश देता है। हमारे देश की ट्रेजडी यह है कि जन-नायक और जन प्रतिनिधि एक ही व्यक्ति हो गया है इसीलिए यह सारा घपला होता है कि जनता के सामने कुछ और कहना पड़ता है और कर्मचारियों को दूसरा ही आदेश मिलता है।

शिविर का सारा प्रबन्ध गाँव वालों ने स्वय किया था। यहाँ के ग्रामीण ही रोशनी, भोजन, तथा बैठक आदि का सारा प्रबन्ध कर रहे थे। देखने से प्रतीत होता था कि यह शिविर गाँव वालों का है। गाँव के बच्चे से लेकर बूढ़े तक पूरी दिलचस्पी ले रहे थे।

धीरेन भाई अक्सर कहते हैं कि सेवा तो हम करेंगे पर सेवा लेने की गरज किसकी है। गरज सेवा लेने वाले की होनी चाहिए न कि सेवक की। यहाँ पर प्रत्यक्ष दिखाई दिया कि गाँव के लोग ग्रामभारती का सारा काम अपनी गरज समझते हैं।

इस शिविर में एक रात बड़ी मजेदार रही। कई रचनात्मक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं ने पहले धीरेन भाई से पूछा था कि हम अपनी जगह पर रहते हुए ग्रामभारती के कार्य में कैसे योग दे सकते हैं। धीरेन भाई ने कहा था कि आप हमारे १५ दिन के शिविर में शामिल हों। तद्हेतु जो कार्यकर्ता आना चाहते हैं संस्था उन्हें सवैतनिक अवकाश दे। मार्ग व्यय कार्यकर्ता मिनाधार से जुटाये और शिविर की प्रारम्भिक गाड़ी के तीन दिन का भोजन-व्यय कार्यकर्ता स्वय वहन करे। यह बात गाँववालों को बड़ी अटपटी लग रही थी कि हम शिविरार्थियों से भोजन का पैसा लें। जन शिक्षण के इस अवसर पर धीरेन भाई ने उन्हें बार बार समझाया कि इससे संस्था के कार्यकर्ताओं का भी अभिक्रम प्रकट होता है।

३-१-६३

कल शाम को राममूर्तिजी और स्वामी कृष्ण स्वरूप आदि आ गये थे। नित्यप्रति की भाँति श्रमदान हुआ। दोपहर में आचार्य राममूर्ति जी से चर्चा हुई।

४-१ ६

आज दोपहर के बाद सभा हुई। आसपास के गाँवों के लोग लगभग २०० की संख्या में आये थे। राममूर्ति जी ने बताया कि आज लोकतन्त्र है पर सारा तन्त्र ही तन्त्र दिखाई देता है और तन्त्र के नीचे लोक गायब हो गया है। इस तन्त्र को हटा कर लोक को पुन स्थापित करना ग्रामभारती का काम है।

स्वामी कृष्ण स्वरूप ने अपने आधे घंटे के भाषण में ऐसा बुनियादी काम शुरू करने के उपलक्ष में ग्रामीणों को बधाई दी और उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। [शेष पृष्ठ २३६ पर]

एक साल की 'खतरनाक' आयु

(लेखांक २)

श्री राममूर्ति

आज-कल कई माता-पिता अपने शिशुओं को घिरे हुए झूले में रखते हैं, और चाहते हैं कि वह उसमें अधिक से अधिक समय तक रहे, खेलता रहे और उन्हें दूसरे कामों के लिए फुर्सत मिली रहे। ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं है लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिए कि जब बच्चा बाहर निकलना चाहे तो उसे जरूर निकाल दिया जाय नहीं तो उसकी क्रियाएँ अवरुद्ध होंगी और इंद्रियों के सहज विकास में बाधा पड़ेगी।

इस उम्र में शिशु को हर चीज की आदत डालनी पड़ती है—अपरिचित व्यक्तियों की भी। शुरू में शिशु अपरिचितों से सशंक रहता है फिर वह उन से 'मित्रता' भी करना चाहता है, कभी-कभी पास जा कर उन्हें ध्यान से देखेगा, उन्हें कुछ देगा, फिर ले लेगा, या घर की तमाम चीजें लाकर उन के सामन ढेर लगा देगा। ऐसे समय में शिशु को छेड़ना नहीं चाहिए नहीं तो वह डर के मारे भाग कर मां के पास चला जाता है। इससे उसका साहस टूटता है। ऐसी स्थिति में प्रौढ़ के लिए उचित यह है कि वह शिशु की ओर ध्यान ही न दे।

जब बच्चा थोड़ा चलने लगे तो उसे ऐसी जगहों में ले जाना चाहिए जहाँ छोटे बच्चे खेल रहे हों ताकि वह उन्हें देखे और दो साल का होते-होते उन के साथ खेलने लगे। कभी-कभी दूकान आदि में भी ले जाना चाहिए ताकि तरह-तरह के अपरिचित लोगों को देखे और धीरे-धीरे अपरिचितों से भय छूटे।

शिक्षा की दृष्टि से एक साल के शिशु में एक बड़ी भारी अच्छाई होती है—वह यह कि किसी क्षण उसका ध्यान एक वस्तु से हटा कर दूसरी वस्तु पर ले जाया जा सकता है। उसकी इस विशेषता के कारण उसके दिमाग के सामने अनेक चीजें लायी जा सकती हैं। दूसरी दृष्टि से उसकी यह अच्छाई माता पिता के लिए परेशानी का भी कारण बन जाती है क्यों कि जब वह हर्ष प्रकट करता है तो घर की तमाम चीजों को इधर से उधर करता फिरता है। ऐसी हालत में क्या किया जाय ? यह तो किया ही नहीं जा सकता कि वह कोई चीज छूए ही न। दस चीजों में आठ उसकी पहुँच के भीतर रख दी जायँ तो दो खास चीजें बचायी जा सकती हैं। इन आठ चीजों में वह फंसा रहेगा और दो को भूल जायगा। नीचे की आलमारी या रैकमें पुराने कपड़े, खिलौने, धातु के छोटे बर्तन तथा और इस तरह की चीजें रख देनी चाहिए ताकि बच्चा अपनी मर्जी से उन्हें निकाले, रखे, जो चाहे करे।

दो-ढाई साल तक यह समस्या हर वक्त सामने रहती है कि बच्चे को क्या चीज छूने दी जाय, क्या नहीं। केवल मना करने से वह *मानता नहीं—कम से कम* शुरू में तो नहीं ही मानता जब तक कि वह जान न जाय कि माता पिता का 'नहीं' 'नहीं' है और 'हां' 'हां' है। समझ लीजिए कि यह उम्र ऐसी है जिसमें तरह-तरह की चीजें लेने, क्रियाएँ करने, की प्रेरणा उसे अंदर से होती है। आदेश मानने की प्रेरणा तो होती ही नहीं। ऐसी हालत में कभी दूर से डांट कर आदेश मत दीजिए, बल्कि

दीजिए यह कि उसके सामने कोई दूसरी आकर्षक चीज पेश कर दीजिए ताकि उसका ध्यान पहली चीज से हट जाय। मान लीजिए बच्चा लैम्प उठाने की कोशिश कर रहा है, तो करना यह चाहिए कि पहले दो-तीन बार बच्चे को जल्दी से उठा कर कमरे के दूसरे कोने में रख दीजिए और साथ ही 'नहीं' कहते रहिए ताकि वह 'नहीं' का अर्थ समझ जाय। साथ ही उसके हाथ में कोई दिलचस्प चीज रख कर उसका ध्यान दूसरी ओर मोड़ दीजिए। वह न माने तो लैम्प को हटा दीजिए या उसे ही कमरे के बाहर ले जाइए। किसी तरह उसे मालूम हो जाना चाहिए कि 'नहीं' का अर्थ 'हां' नहीं होता, और लैम्प खेलने की चीज नहीं है। इस तरह शिक्षण होता है, डांट फटकार से शिक्षण नहीं होता। कभी भी बच्चे के लिए ऐसी स्थिति मत पैदा कीजिए कि भय से स्वीकार कर लेने या उद्दण्डतापूर्वक अस्वीकार कर देने के सिवाय उसके सामने दूसरा विकल्प ही न रह जाय। कभी पहले से यह सोच कर मत घबड़ाइए कि बच्चा यह शरारत कर देगा, वह शरारत कर देगा। कई बार बच्चे के मन में शरारत होती भी नहीं लेकिन मां की पेशगी परेशानी देख कर उसे कुछ कर देने की लालच होती है। लेकिन अगर बच्चा चूल्हे के पास जा रहा हो तो उसे वहां से जबरदस्ती हटा देना एकमात्र उपाय है।

[शेष पृष्ठ २४४ का शेषांश]

से होनेवाली हानि के दुष्प्रभावों से बच सकें। शिक्षक लड़कों को इस ढंग से शिक्षित कर सकता है कि आज हमारी सभ्यता पर विज्ञान और वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का जो जबरदस्त प्रभाव पड़ा है उसके परिणाम स्वरूप लड़के अधिकाधिक विचारवान बनें, ज्ञानी बनें। लड़कों को शिक्षक एक सर्वोदयी समाज के सदस्य के रूप में तैयार कर सकता है जहां मानव मानव की समानता उत्तरोत्तर गहरी होती जाय, जहां मानव की प्रतिष्ठा उसके गुणों और चारित्र्य के आधार पर हो और समाज का गौरव नेता नहीं, व्यक्ति हो।

दूसरा उपाय–शोध वृत्ति का विकास

दूसरा उपाय यह है कि प्रत्येक लड़के में शोध और खोज की वृत्ति तथा रचनात्मक आलोचना या विवेचना करने की शक्ति पैदा की जाय जिससे वह विवेक से काम ले सके, पुराने में जो उपादेय हो वही ग्रहण कर सके और नयी परिस्थिति के अनुरूप नया रूप देकर उन्हें अपना सके। जो भी नया विचार आता है वह समाज में, अव्यक्त में पैदा होता हो सो नहीं है, कोई न कोई व्यक्ति ही नया विचार देता है। नया विचार देनेवाला और दूसरों को भी सहयोग देने को प्रेरित करनेवाला व्यक्ति ही होता है। इस लिए समाज की प्रगति का भी वही जिम्मेदार होता है। आज समाज में ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो विचार और दृष्टि दे सकें। और यह शिक्षक की जिम्मेदारी है कि अपने लड़कों में निहित ऐसी हर क्षमता का विकास करने का मौका वह उन्हें दे। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री सर पर्सीनन ने लिखा है शिक्षा योजना का मूल्यांकन इस बात से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर निहित एक न एक महानता का विकास वह शिक्षा कितनी मात्रा में कर पायी है। हम समाज का या विश्व का जिसे गुण या चारित्र्य कहते हैं वह व्यक्ति-व्यक्ति के गुण और चारित्र्य से, व्यक्ति व्यक्ति के कार्य और प्रवृत्ति से भिन्न कुछ नहीं है।

किसी की उपेक्षा नहीं

इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक ऐसे लड़कों के प्रति उदासीनता बरते जिनमें ऐसा कोई महान गुण या बड़ी देन होने की सम्भावना कम है और उन्हें अपनी रोजी रोटी के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करने के लिए छोड़ दें, यद्यपि ईमानदारी और निष्ठा से किया जानेवाला वह श्रम भी पवित्र ही है, परन्तु शिक्षक को इस बात का संकल्प कर लेना होगा कि कइयों का भला करने के नाम पर कुछ की वह उपेक्षा नहीं करेगा।

नयी तालीम सर्वोदय-तालीम है

श्री काका कालेलकर

१. जीवन-शिक्षा

हमने असंख्य प्रयोग करने के बाद जान लिया है कि जीवन और तालीम एक-दूसरे से दूर नहीं हो रह सकते। 'जीवन के लिए तालीम' यह सूत्र तो अब सब जानते ही हैं और साधक-जीवन की स्पष्ट कल्पना यदि समाज को हो सके तो 'तालीम के लिए जीवन' यह सूत्र भी उतनी ही आसानी से स्वीकृत हो सकेगा। शिक्षा-काल अलग और जीवन-काल उसके बाद, ऐसा जो मानते हैं वे दोनों के बारे में अपनी संकुचित कल्पना जाहिर करते हैं। शिक्षा का समय और जीवन का समय अलग-अलग हैं ही नहीं। वृक्ष अमुक साल तक ऊंचा बढ़ता है और फैलता है, और उसके बाद वह प्रवृत्ति बंद रख कर अन्दर से परिपक्व होता जाता है उसी तरह जीवन की पूर्व-तैयारी को हम तालीम कहते हैं, लेकिन सच्ची तालीम तो उसके बाद भी सारे जीवन के दरम्यान चलती रहती है।

२. श्रम-निष्ठा

दुनियाभर के धर्म-चिंतकों ने और समाज-सेवकों ने एक बात ढूंढ निकाली है कि निष्पाप जीवन जीना हो तो परिश्रम करके पसीना उतारना ही होगा। मनुष्य चाहे जितना उन्नत वृत्तिवाला क्यों न हो लेकिन यदि वह सेवा के लिए परिश्रम नहीं करता तो उसका जीवन लम्बे अरसे तक निष्पाप नहीं रह सकता। जो मनुष्य परिश्रम नहीं करता उसके लिए किसी दूसरे मनुष्य को परिश्रम करना ही पड़ता है। दुनिया का स्वावलम्बन टूटता है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में पाप घुस आता है। अतः परिश्रम एक अनिवार्य तत्व है।

वह परिश्रम यदि विचार-पूर्ण हो और कौशल्यपूर्ण हो तभी मानवता का विकास हो सकता है। विचार प्रेरित सार्वभौम सिद्धांत से वफादार रह कर कौशल्य बढ़ाना और ऐसे कौशल्ययुक्त परिश्रम से समाज की सेवा करना यही है संस्कारी जीवन। उस जीवन के लिए हम जो तैयारी करनी है उसका नाम है तालीम।

३. ज्ञान और कर्म की एकता

विचार जीवन नहीं है, कर्म ही जीवन है। कर्म की शुद्धि के लिए, सफलता के लिए और अन्त में मोक्ष पाने के लिए विचार जरूरी है। 'ज्ञानाद् एव तु कैवल्यम्' यह बात जितनी सत्य है उतनी ही 'ज्ञानाद् एव तु कौशल्यम्' भी सत्य है और इसीलिए ज्ञान की इतनी महिमा गायी गयी है। गीता में ज्ञान की जो व्याख्या दी गयी है उसमें बहुत से तत्व तो कर्म के ही हैं। सच्चा ज्ञान कर्म के बिना खिल ही नहीं सकता, टिक भी नहीं सकता और अपना असर करने जितना प्रवाहमान भी नहीं हो सकता। ज्ञान-कर्म समुच्चय यह पद अधूरा है। गीता की व्याख्या की परिभाषा का स्वीकार करें तो ज्ञान-कर्म की एकता ही अभीष्ट है। वही सच्चा तत्व है। और इसीलिए सर्वोदय की तालीम में जीवन-शुद्धि का प्रथम आग्रह होना चाहिए। जीवन विचारमय हो, कर्ममय हो और कौशल्ययुक्त हो यही हमारा अन्तिम आदर्श है। उसे शुद्ध, समृद्ध और समर्थ व्यापक तालीम

कहने के बजाय गांधीजी ने उसे नाम दिया बुनियादी तालीम अथवा नयी तालीम।

तालीम परिश्रमयुक्त होगी, चिंतन और कौशल्य से प्रेरित होगी तो स्वावलंबी होगी। निष्पाप जीवन को ही परिश्रम युक्त स्वावलंबी जीवन कहा है।

४. वर्ण-समन्वय

महाभारत में कहा है कि आदिम सत्ययुग में केवल एक ब्राह्मण-वर्ण ही था। जैसे-जैसे समाज का अथवा युग का ह्रास होता गया वैसे-वैसे 'युगह्रासानुरूपत' चार वर्ण हो गये। यह मीमांसा यदि सही हो और यदि हम प्राथमिक स्वरूप का नहीं बल्कि जो विकसित और समृद्ध हुआ है ऐसा सत्ययुग फिर से लाना चाहते हैं तो चार वर्णों के आदर्श का ज्यादा विकास करके उन सबका सत्यमूलक एकरस करना ही होगा। सर्व-वर्णों के समन्वय से पूर्ण-मानव या विश्व-मानव तैयार होगा। यह महत्व का सवाल नहीं है कि उस वर्ण को ब्राह्मण कहना या नहीं। वर्ण-समन्वय को नाम होना जरूरी नहीं है। सात वर्णों को यानी रंगो को जब हम चक्राकार घुमाकर परस्पर ओतप्रोत करते हैं तब उसमें से शुद्ध और उज्वल सफेद वर्ण तैयार होता है। उस तरह का सर्व-समन्वय जनित शुक्लवर्ण हम विकसित करनेवाले हैं और उसके लिए जो जरूरी तालीम है वह सर्वोदय की तालीम है।

५. धर्म-समन्वय

सर्व-समन्वयकारी सर्वोदय को स्वीकार करने के बाद और उसका गहरा चिंतन करके उसकी दीक्षा लेने के बाद मनुष्य को सर्व धर्म समन्वय सूझेगा ही। धर्म का अर्थ ही है जीवन समृद्ध बना कर समृद्ध समाज का धारण-पोषण करना। धर्म की दृष्टि इस तरह मूल मे सत्य-परायण और व्यापक होने के कारण सब धर्मों को एक-दूसरे की दृष्टि और आग्रहों को समझना चाहिए। सब धर्मों को स्पर्धा, खींचातानी और अहमेयसी छोड़कर परस्पर की दृष्टि और परस्पर का जीवनादर्श समझ लेना चाहिए। सब धर्मों को पशु-संग्रहालय के वन्य पशुओं की तरह अलग-अलग पिंजडे में न रहते हुए एक-दूसरे को स्वीकार करके सब धर्मो का एक विशाल धर्म-कुटुम्ब स्थापित करना चाहिए। उसके लिए धर्म-चर्चा तो जरूरी है ही लेकिन उससे भी विशेष साधना द्वारा सब धर्मो का रहस्य समभाव-पूर्वक समझ लेना चाहिए। धर्म-समन्वय करने से पहले हर एक धर्म में महत्व का हिस्सा कौनसा है और केवल स्थानिक या कालिक महत्वका हिस्सा कौन सा है—यह सब भी मिलकर ढूँढ निकालना चाहिए।

६ धर्म-जीवन

आज तर्क की तरह धर्म भी जहाँ-तहाँ अप्रतिष्ठित हुए हैं। उसका कारण आसानी से ध्यान में आ सकता है। उस अप्रतिष्ठा के कारणों की तरफ आँख मूँदने से नहीं चलेगा। हरएक धर्म में अतर्मुख हो कर अतर्निरीक्षण करने की शक्ति और आदत होनी चाहिए। जिस तरह अनेक तरह के कानूनों का शास्त्र(जुरिस्प्रुडेन्स)बनाया जाता है अथवा जिस तरह अनेक तरह की समाज व्यवस्थाओं का स्वरूप समझ कर उन सब के अभ्यास से सर्व-साधारण समाज शास्त्र उत्पन्न किया जाता है उसी तरह सब धर्मों का स्वरूप समझ कर, उनमें सार्वभौम सर्वव्यापी तत्व कौन से हैं यह पहचानकर और गौण बातों को उनके गौणरूप में पेश करने के बाद सब धर्मों में से धार्मिकता का और धर्म जीवन का एक सार्वभौम धर्म-शास्त्र तैयार करने के दिन आ पहुँचे हैं। पुराने लोगों ने 'धर्मशास्त्र तु वै स्मृति.' कह कर धर्मशास्त्र का बहुत सकुचित अर्थ किया। वह छोड़कर सब धर्मों क सम-भावपूर्वक, आदर-पूर्वक गहरे अध्ययन के बाद सर्व-धर्म-समभाव मूलक एक धर्मशास्त्र उत्पन्न करना चाहिए और फिर सब धर्म एकत्र कैसे रह सकते है यह ढूंढ निकालने के लिए सर्वोदयवालो को नये ढग के आश्रमो की मारफत धर्म-जीवन के प्रयोग चलाने चाहिए।

७ आश्रम-जीवन

प्राचीनकाल में हमारे ऋषि-मुनि अपने अपने आश्रमों में धर्म-जीवन जीते थे और सब वर्णों के और सब प्रदेशों के युवकों और युवतियों को अपने पास रख कर परिस्थिति के मुताबिक जीवन-चिंतन और जीवन-प्रयोग चलाते थे। हम में से बहुत से शिक्षाशास्त्रियों को इस तरह के आश्रम स्थापित करके नये ढग के धर्म-जीवन के प्रयोग चलाने चाहिए। यहाँ धर्म-जीवन का अर्थ स्व

धर्मों में बतलाया हुआ और भोली जनता द्वारा विकसित धर्म-जीवन नही, बल्कि व्यापक अर्थ में सर्व-धर्म-सममाव से अनुप्राणित और धर्म से भी परे ऐसी आध्यात्मिक सस्कृति द्वारा प्रेरित किया हुआ जीवन समझना है। नये ढग के ऐसे सब आश्रम शिक्षण की प्रमुख सस्थाएँ ही होंगी और इन आश्रमो में पुराने चारो आश्रमों को जीने की और परस्पर असर करने की पूरी छूट होगी। नयी तालीम में जीवन के इस अग की उपेक्षा न हो इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वोदय विचार और नयी तालीम दोनो के आधारभूत तत्व समान हैं। नयी तालीम का काम करनेवाली सस्थाएँ सर्वोदय विचार के प्रति पूर्ण निष्ठावान् हो कर ही अपने तालीम के काम को तेजस्वी बना सकती हैं, अन्यथा नहीं।

('लोक भारती' सणोसरा के भाषण से)

●

टिप्पणियाँ

ये ऑकडे!

१. २००० ईसवी में ६ अरब

संसार की आबादी आदि-युग से १८३० तक लाखो लाख वर्षों में १ अरब

१८३० से १९३० तक केवल	१०० वर्षों में	२ अरब
१९३० से १९६० तक केवल	३० वर्षों में	३ अरब
१९६० से २००० तक केवल	४० वर्षों में	६ अरब

आज पृथ्वी पर जितने लोग हैं उनके हिस्से प्रति व्यक्ति (पुरुष, स्त्री, बच्चा) १२ ५ एकड भूमि पडती है। उसमें से केवल १ १ एकड पर खेती होती है। विज्ञान और बढे और पूँजी खूब लगे तो १ १ की जगह ३ एकड पर खेती हो सकती है, लेकिन बाकी ९ ५ एकड पर खेती असम्भव ही रहेगी।

२००० ईसवी में तो प्रति व्यक्ति जोत की जमीन केवल १ ४ एकड रह जायगी।

यह विज्ञान की चेतावनी है, लेकिन २५ ता० को मेले के दिन बाबा विश्वनाथ के मदिर के सामने बैठा वह 'साधु' हर युवक, युवती को भभूत दे कर यही आशीर्वाद देता था कि 'बेटा हो' और मैंने देखा देखते-देखते उसकी मुट्ठी पैसों से भर गयी। यह तब जब दुनियाँ में हर सातवाँ आदमी भारतीय है।

२. भारतीय संसद् में छोटा किसान, मजदूर और भूमिहीन!

१	राजनीतिक, सामाजिक और ट्रेडयूनियन कार्यकर्ता	१३२
२	बड़े किसान	११४
३	वकील	१०२
४	पत्रकार	३५
५	व्यापारी	४१
६	उद्योगपति	८
७	डाक्टर	१५
८	इञ्जीनियर	४
९	शिक्षक	५
१०	लेक्चरर	४
११	प्रोफेसर	६
१२	प्रिंसिपल	१
१३	पुराने रजवाडे	१४
१४.	धार्मिक नेता	२
		४८७

ससद में समाज के अंतिम व्यक्ति की आवाज कैसे पहुँचेगी? और अगर अंतिम व्यक्ति की आवाज न पहुँची तो विकास क्या लोकतन्त्र क्या?

राममूर्ति

'पुराने बोल नये मोल'

'नयी तालीम'—परिवार के लिए श्री काशिनाथजी त्रिवेदी अपरिचित नहीं हैं। महात्मा गांधी की आत्मकथा के अनुवादक के नाते ही नहीं, बल्कि जाने-माने लेखक, संपादक, शिक्षक तथा प्रभावशाली वक्ता के रूप में भी आप हिंदी जगत में प्रसिद्ध हैं। नयी तालीम आपका प्रिय विषय है। बालकों की दुर्दशा से इनके समान व्यथित होनेवाले बहुत कम हैं। सर्वोदय आपकी जीवन निष्ठा है। इस समय मध्य प्रदेश के धार जिले के अंतर्गत टवलाई गाँव में ग्रामभारती आश्रम का संचालन कर रहे हैं। आश्रम में ग्राम-साधना, बुनियादी शिक्षा और ग्रामोद्योगों की कुछ प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। अब पुस्तक प्रकाशन की एक नयी प्रवृत्ति और जुड़ी है। हाल ही एक साथ तीन पुस्तकें वहाँ से प्रकाशित हुई हैं। तीनों हिंदी भाषा में हैं—एक श्री काशिनाथजी की मौलिक रचना और दो इन्हीं के अनुवाद हैं। प्रस्तुत पुस्तक 'पुराने बोल नये मोल' आपकी लिखी हुई है। पुस्तक १३० पृष्ठों की और डेढ़ रुपये के मूल्य की है।

पिछले साल मध्यप्रदेश गांधी स्मारक निधि के संचालन में पश्चिम निमाड़ जिलों के पंचों, सरपंचों, उप सरपंचों और पंचायत सचिवों के शिक्षण के कुछ शिविर टवलाई तथा अन्य कई स्थानों में चलाये गये जिनका मार्गदर्शन और प्रत्यक्ष-संचालन श्री काशिनाथ जी ने किया। उस प्रशिक्षण काल में प्रशिक्षार्थियों के साथ सुबह-शाम की प्रार्थना के बाद स्वाध्याय करने की दृष्टि से पुराने कुछ संस्कृत के श्लोक चुने गये थे और उनके सहारे कुछ लेख तैयार किये गये। वैसे २५ श्लोकों का भावार्थ इस पुस्तक में संकलित है। इनके द्वारा लेखक ने उन प्राचीन श्लोकों को और मंत्रों को नये मूल्यों के साथ समझाने का प्रयत्न किया है और इसी कारण पुस्तक का सार्थक नाम रखा है—पुराने बोल : नये मोल।'

वेदों से लेकर आज तक का संस्कृत साहित्य ऐसा अगाध सागर है जहाँ डूब कर मोतियों का चयन करने लगें तो उसका अंत ही नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार के चयन आज तक सैकड़ों हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। वैसा ही यह भी एक चयन है।

यहाँ जो श्लोक चुने गये हैं वे काफी विचार-पूर्वक चुने गये मालूम होते हैं। इन श्लोकों का मूल्य समूचे जीवन में है और विशेषतः विद्यालयों की दृष्टि से अधिक है, क्योंकि विद्यार्थि जीवन साधक-जीवन है और ये श्लोक केवल ज्ञान-वर्धक ही नहीं, संस्कार देनेवाले भी हैं।

२५ श्लोकों में ५ श्लोक (१९, से २३) विभिन्न उपनिषदों के हैं बाकी महाभारत, भागवत आदि विभिन्न ग्रंथों के हैं, परन्तु सभी काफी परिचित और प्रचलित हैं।

विषयों की दृष्टि से निम्न प्रकार इनका वर्गीकरण किया जा सकता है ईशावास्यं (२०) सहनाववतु (१९) और असतो मा सद्गमय (२३) इन तीन सुप्रसिद्ध और सुपरिचित मंत्रों के अतिरिक्त जीवन के आधारभूत 'सत्य' से संबंधित श्लोक ८ हैं, (१ से ८) देवता स्तुतिपरक श्लोक ६ (९,१४,१६,१७,२४ और २५) और नीति-धर्म पर प्रकाश डालनेवाले ३ (११,१२ और १५) श्लोकों के अलावा तपोमहिमा (१३), गुरुस्तुति (१८), ईशकृपा (१०) जीवन का आदर्श (२१), तथा समीचीन कार्य पद्धति (२२) पर एक एक श्लोक हैं।

विनोबाजी ने गीता प्रवचन में एक स्थान पर लिखा है कि पुराने शब्दों को नया अर्थ देना विचार-क्रांति की

अहिंसक प्रक्रिया है। इस पुस्तक की विशेषता यही है कि इसमें न केवल दो चार शब्द, बल्कि पूरा का पूरा श्लोक ही नये प्रकाश में प्रस्तुत किया गया है।

आज के संदर्भ की दो विशेषताएँ हैं—एक, आज व्यक्ति समूह से अलग रह कर केवल अपनी उन्नति की बात नहीं सोच सकता और दूसरी यह कि समाज का नियमन बाहरी तन्त्रों से नहीं, व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा और स्वेच्छा से ही संभव है। लेखक ने प्रत्येक श्लोक में एक न एक प्रकार से इन दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है और दोनों पहलुओं को परिपुष्ट करने की दृष्टि से श्लोकों का मंथन किया है।

गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ तब प्रार्थना में गान के लिए चुने गये श्लोकों में वक्रतुण्ड महाकाय, याकुंदेंदु, शांताकारं आदि श्लोकों को लेकर आश्रमवासियों में काफी चर्चा होती थी। इस बात का आक्षेप किया जाता था कि जहाँ सर्व-धर्म समभाव का व्रत हो वहाँ हिंदू धर्म में ही प्रचलित विशिष्ट आकृतियोंवाले देवताओं की स्तुति कहाँ तक उचित है। यद्यपि गांधीजी का समाधान वास्तव में समाधानकारक नहीं होता था फिर भी गांधीजी के व्यक्तित्व और निष्ठा के बल पर वह सब निभ जाता था। पर वह प्रश्न आज भी उठ सकता है और उसका समाधान दूसरे ही प्रकार से करना होगा। प्रस्तुत पुस्तक में जिस ढंग से इन श्लोकों का विवेचन किया गया है उससे उक्त प्रश्न का समाधान कुछ हद तक अवश्य हो सकता है। क्योंकि उन्हें धर्म के बाहरी कलेवर से हटाकर मनुष्य मात्र को लागू होने की स्थिति में उनका विवेचन किया गया है। पुरानी बातों का नया अर्थ देने का यह सारा प्रयास यहाँ कोई पांडित्य या चातुर्य-मात्र नहीं है लेखक ने कई जगह *अपनी दृष्टि और अपने विचारों को युक्ति-संगत और* उचित करके दिखाने का भी प्रयत्न किया है।

फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि श्रद्धा-पूर्वक जिन मंत्रों का उच्चारण किया जाता हो उन को उतनी ही श्रद्धा से देखने के साथ-साथ उन्हें नये-नये अर्थों में ग्रहण करना हिम्मत का ही काम है। क्योंकि श्रद्धास्पद शब्दों को श्रद्धास्पद बनानेवाले जो अर्थ और भाव हैं उन्हें हटा कर बिल्कुल भिन्न अर्थ या भाव देने का अर्थ है श्रद्धा को ही डिगाना। लेकिन विचारक्रांति में श्रद्धाओं का संशोधन और संस्करण एक महत्वपूर्ण अंग है। पुरानी श्रद्धा से विचलित हुए बिना नये विचारों और नयी दृष्टि को अपनाने की शक्ति पैदा नहीं होती है। नयी दृष्टि एकदम साफ नहीं भी हो तब भी पुराने का मोह छोड़ कर नये की खोज या छानबीन करने की तैयारी भी बहुत बड़ी तैयारी है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत मूल्यवान और उपयोगी है। पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें पुराने भावों के स्थान में नयी दृष्टि बहुत स्पष्ट है, पाठककी बुद्धि को ही नहीं, हृदय को भी छूनेवाली है।

पुस्तक के प्रकाशन के संबंध में लेखक की भावना बहुत मार्मिक है। उसमें लेखक की सहृदयता ही नहीं, सात्विकता भी झलकती है। लेखक की ही भाषा में—"व्यवसायी प्रकाशकों के काम की यह चीज है नहीं। "आजकल पुस्तकें भी बाजार की चीज बन गयी हैं। पर इस स्वाध्यायचर्चा का आज के बाजार से कोई संबंध नहीं। यह तो लेखक की अपनी प्रिय संतान है। कोई भला पिता अपनी संतान को बाजार में खड़ा नहीं करता। संतान की शोभा घर में है, बाजार में नहीं। उसका लालन-पालन, संगोपन-संवर्धन, घर में घरकी रीति से ही होना चाहिए। यही इष्ट है, धर्म्य है। इस दृष्टि से लेखक की हिम्मत नहीं हुई कि वह अपनी इस अल्प सी कृति को व्यवसाय के फेर में डाले। इस के प्रकाशन की भावना के मूल में व्यवसाय नहीं, स्वाध्याय है, सहजीवन और सह-चिन्तन के सहारे जीवन-यात्रा को एक सुविचारित और सुनिर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने की नम्र अभिलाषा है।"

हमें विश्वास है कि सेवक-समाज में तथा शिक्षा-केंद्रों में यह पुस्तक अत्यंत आदर के साथ पढ़ी जायगी। पाठ्य-पुस्तक के रूप में न सही, स्वाध्याय के लिए अनिवार्य पुस्तक के रूप में इस पुस्तक का अच्छा स्वागत होगा। भारत की सभी दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हो कर घर-घर में प्रवेश पाने योग्य पुस्तकों में निश्चित ही यह एक है।

— आ

सादर स्वीकार

१. पुराने बोल : नये मोल — लेखक: श्री काशिनाथ-त्रिवेदी, प्रकाशक : ग्रामभारती आश्रम, टवलाई, धार, म० प्र० पृष्ठसं० १३०, मूल्य : १–५०

२. दिवास्वप्न — लेखक : श्री गिजुभाई बधेका अनुवादक श्री काशिनाथ त्रिवेदी, प्रकाशक उपर्युक्त, मूल्य १–२५

३. प्राथमिक शाला मे भाषा-शिक्षा लेखक श्री गिजुभाई बधेका अनुवादक, प्रकाशक उपर्युक्त, मूल्य १–००

४. राष्ट्रमूर्ति राजेंद्रबाबू — लेखक श्री गोपाल कृष्ण मल्लिक प्रकाशक आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी मूल्य ३–५०

५ चरित्र सपत्ति — लेखक श्री गोपाल कृष्ण मल्लिक प्रकाशक सर्व सेवा सघ प्रकाशन, वाराणसी मूल्य ०–७५

६. योगवासिष्ठ सार — लेखक श्री बी० एल० आत्रेय प्रकाशक दर्शन प्रिंटर्स, मुरादाबाद

७. भारतीय सस्कृति — लेखक, प्रकाशक उपर्युक्त

८. श्री शकराचार्य का मायावाद लेखक, प्रकाशक . उपर्युक्त मूल्य १–००

•

लाइसेन्स न० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
फरवरी १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए० १७२३

कुत्ते से तो अधिक इज्जत मिले !

गाड़ी आयी, प्लेटफार्म पर चहल-पहल बढ़ गयी। सामने के डब्बे से दो बेयरर चमकीली थालियाँ, प्लेटें, चम्मच, छुरी, काटे, लिये उतरे और प्लेटफार्म पर रखी बेंच के पास ही बैठ कर बर्तनों का बचा-खुचा जूठा भोजन—रोटी, चावल, सब्जी, शोरबा, मास, हड्डी के टुकड़े आदि—एक थाली में इकट्ठा करने लगे। इतने में ही मैले-कुचैले, अधमरे से, १३-१४ साल की उम्र के दो लड़के कहीं से आ पहुँचे और उन बेयरर्स के पास बैठ कर लालच-भरी आँखों से भोजन के जूठे टुकड़ों की ओर देखने लगे। कहीं से दो कुत्ते भी आ धमके। बर्तनों का जब सारा भोजन इकट्ठा हो गया तो बेयरर रोटी वगैरह तो लड़कों को, और मास के टुकड़े, हड्डी आदि कुत्तों को देने लगा। एक लड़के ने कहा, "हमें ही दे दो, भूखे हैं।" बेयरर ने लापरवाही से कहा, "अरे जूठन ही तो है, कितना खायगा ? कुछ कुत्तों को भी खाने दे। "कुत्ते खायें और हम भूखे रहें ? हम लोग क्या कुत्तों से भी ?" बेयरर ने कुछ चीजें कुत्तों के सामने डाल ही दी। अब कुत्तों और लड़कों में खींच-तान शुरू हुई। लड़कों ने कितनी ही मुस्तैदी दिखायी, फिर भी कुत्तों ने कुछ तो खा ही लिया। लड़के बैठ कर जल्दी-जल्दी खाने लगे, खाने क्या, ठूँसने लगे। अजब तमाशा था कितना घिनौना किन्तु कितना यथार्थ, मनुष्य की हीन दशा का कैसा विचित्र चित्रण !

गाड़ी रवाना हुई; भाई साहब को विदा कर हम लोग भी निवास की ओर लौटे। उस दृश्य ने आज तबीयत बड़ी खिन्न कर दी थी।

अणु-परमाणु में भी उस विराट की ज्योति के दर्शन करनेवाले इस देश में विराट् की सर्वश्रेष्ठ कृति—मनुष्य को कुत्ते से अधिक इज्जत कब मिलेगी ?

—रामभूषण

सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ८

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

मार्च १९६३

वेदना स्वयं गांधी के हृदय में थी वह उनके वफादार साथी के मन में कैसे न होती ? लेकिन वेदना साधना में प्रकट न हो सकी उल्टे यह हुआ कि चीनी आक्रमण के संकट में वह अधीर भी हो उठे। राजेन्द्रबाबू के हृदय में गांधी की याद थी, देश का प्यार था। जो दिल में प्यार लेकर गया उसे देश भूलेगा नहीं।

मैत्री के यात्री

१ मार्च को दिल्ली से तेरह यात्री, कुछ भारतीय, कुछ विदेशी-चीन के लिए निकले—उसी चीन के लिए जिससे भारत की लड़ाई है। सब 'जय जगत' की भावना लेकर 'शत्रु' के देश में मित्रता का संदेश लेकर ये क्यों जा रहे हैं ?

कोई कहता है 'पागल हैं', कोई इन 'गद्दारों' को काला झण्डा दिखाता है, कुछ ऐसे भी हैं जो कहते हैं : 'ये अहिंसा के विश्वासी हैं, स्वप्नलोक में विचरण करनेवाले'।

आज तक किसी ने केनेडी या ख्रुश्चेव को पागल नहीं कहा जो दिन रात दुनियाँ को खत्म करनेवाले अस्त्र-शस्त्र बनाने में लगे हुए हैं। किसी ने कोलम्बो में इकट्ठा होनेवाले नेताओं को भी पागल नहीं कहा जिन्होंने अपना प्रतिनिधि पेकिंग और दिल्ली भेजा। यह भी तो मैत्री की ही यात्रा थी। अन्तर इतना था कि उस समय चीन और भारत की सरकारों से बात करनी थी, और अब ये यात्री जनता की अदालत में फरियाद करने निकले हैं। ये यात्री मानते हैं कि अन्तिम अदालत जनता की ही है, उसी में क्रान्ति की अन्तिम शक्ति और शान्ति की अंतिम भक्ति है। क्या यह श्रद्धा इनका अपराध है ?

हजारों वर्षों तक नेताओं, सेठों, शासकों, योद्धाओं और गुरुओं ने जन मानस में छिपे सद्भावना और मित्रता के अक्षय स्रोत को फूटने से रोक रखा था, अब समय आ गया है कि उसे खोला जाय। ये यात्री उसे ही खोलने निकले हैं। इनका विश्वास है कि जनता लड़ती नहीं, लड़ायी जाती है जनता शान्ति चाहती है, लेकिन उसे युद्ध दिया जाता है जनता मित्रता की भूखी है, लेकिन उसे वैर का घूँट पिलाया जाता है।

इन इने गिने यात्रियों की पैदल यात्रा से भारत और चीन फिर भाई भाई हो जायेंगे, इसकी आशा नहीं है। ये चीन की सीमा में घुसने पायेंगे, इसमें भी शुबहा है। केवल इतना निश्चित है कि इनकी लगन से एक लौ जलेगी।

याद आते हैं वे शब्द जो चार सौ वर्ष पहले लेटिमर ने जलने के लिए तैयार अपने साथी रिड्ले से कहे थे :

खुश रहो, रिड्ले हिम्मत न छोड़ो। आज के दिन हम ईश्वर की कृपा से इंग्लैण्ड में वह दीपक जलायेंगे जो कभी बुझेगा नहीं।' वह दीपक इंग्लैण्ड के लिए जला था, आज तमाम दुनिया के लिए जलाया जा रहा है।

अगर युद्ध के गीत गाये जाते हैं तो शान्ति के क्यों नहीं गाये जायेंगे ? क्या विश्व की जनता कभी समझेगी ही नहीं कि युद्ध कितना बड़ा पागलपन है और उसे युद्ध में ढकेलनेवाले नेता कितने बड़े स्वार्थी और पागल हैं ?

मानव की सद्बुद्धि और सद्भावना में श्रद्धा रखनेवाले इन यात्रियों को विदा ! ये हमारी विवशता के नहीं, आकांक्षा के प्रतिनिधि हैं।

राममूर्ति

लोकतंत्र और आज का रचनात्मक कार्य

श्री धीरेंद्र मजूमदार

लोकतन्त्र की रक्षा पर लिखे गये लेख में, जो फरवरी '६३ की 'नयी तालीम' में प्रकाशित हुआ है, आपने कई ऐसी बातें कही हैं जिनका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक है। उनमें से एक बात निम्नलिखित है -

१ आपने कहा है कि गांधीजी की व्यूह रचना दुहरी थी—अंग्रेजी राज्य का मुकाबिला और लोकशक्ति का संगठन, और ये दोनों प्रक्रियाएँ कांग्रेस के माध्यम से और उसके तत्वावधान में चलती थी। इसका एक यह परिणाम हुआ कि जहाँ एक ओर रचनात्मक कार्य में आजादी प्राप्त करने की तीव्रता आयी वहाँ यह भी हुआ कि रचनात्मक कार्य का 'टोन' कांग्रेस के साथ साथ 'मध्यमवर्गीय' (बुर्जुआ) रह गया, 'समाजवादी' नहीं हो सका। अपनी रचना में भी रचनात्मक संस्थाएं 'पेटर नलिस्टिक' ही रहीं, लोकतान्त्रिक नहीं हो सकीं। क्या यह एक बहुत बड़ा कारण नहीं है कि इतनी संगठित, देश भर में फैली हुई ये गैरसरकारी संस्थाएं लोकशक्ति का माध्यम नहीं बन सकीं, और उनका 'टोन और टेम्पर' आजतक अधिकारवादी (अथारिटेरियन) ही बना हुआ है और रचनात्मक कार्यकर्ताओं के गले के नीचे यह बात अब भी नहीं उतर रही है कि रचनात्मक कार्य समाज-परिवर्तन के लिए है? आज भी रचनात्मक कार्य इतना पंगु है कि वह सत्ता के ही सहारे खड़ा है, और खड़ा रहना चाहता है। इसका अर्थ यह है कि रचनात्मक कार्य स्वयं सत्ता आश्रित एक संगठन है, स्वतन्त्र आंदोलन नहीं।

उत्तर—आपने रचनात्मक संस्थाओं के बारे में जो कुछ कहा है, उसका कारण तो मैंने पिछले लेख में विस्तार से कहने की कोशिश की है। मैंने कहा है कि गांधी जी का आशय दुहरे मोर्चे का था, लेकिन न चरखा संघ आदि दस की साधन संस्थाओं के लोग और न राष्ट्र नायक संस्था कांग्रेस के लोग ही बापू की इस गहरी-तथ्यपूर्ण बात को समझ सके।'

यह सही है कि गांधी जी ने कांग्रेस के तत्वावधान में अपने रचनात्मक कार्यक्रम को विशिष्ट रूप से अपने ही मार्ग-दर्शन में चलाया, लेकिन जो लोग उसमें आये वे उनके मूल लोकतान्त्रिक विचार को स्वीकार करके आये ऐसी बात नहीं थी। उन सबने राष्ट्रीय आजादी प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर ही गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार किया था। राष्ट्रवाद एक चीज है और गांधी जी द्वारा परिकल्पित स्वराज्य यानी बुनियादी लोकतन्त्र दूसरी चीज है। कांग्रेस के नेता तथा रचनात्मक कार्य के नेता दोनों में से कोई भी अधिनायक-तन्त्रवादी नहीं थे, विचार से वे सब लोकतन्त्रवादी थे। लेकिन वह विचार परम्परागत लोकतन्त्र का था न कि उस लोकतन्त्र का, जिसके संदर्भ में गांधी जी कहा करते थे कि इंग्लैंड आदि देशों में भी स्वराज्य नहीं है।

आप पूछ सकते हैं कि जिन लोगों ने गांधी जी के बताये हुए रचनात्मक काम में अपनी निष्ठा बनायी और जिन्होंने केवल दबावमूलक राजनैतिक संघर्ष में ही अपने को मर्यादित किया उन दोनों में वैचारिक अंतर क्या था। इसी प्रश्न पर गांधी जी के साथियों के बारे में काफी गलतफहमी है। आम धारणा यह है कि जो लोग गांधी जी के स्वराज्य की मूल धारणा के कायल थे वे रचनात्मक काम में लगे, और जो परंपरागत

यानी पाश्चात्य पैटर्न के लोकतन्त्र के कायल थे, वे कांग्रेस के राजनैतिक संघर्ष में रहे, गहराई से विश्लेषण करने पर यह धारणा सही नहीं दिखेगी। दोनों पक्ष के विचार में अन्तर अवश्य था, लेकिन उनका संदर्भ भिन्न था।

एक पक्ष यह मानता था कि गांधीजी का चरखा आदि का विचार पुराना दकियानूसी है, आधुनिक नहीं है। *लेकिन आजादी के संघर्ष में उसका कुछ महत्व* इसलिए है कि जन सम्पर्क साधने का वह एक अच्छा जरिया है, इसलिए वे इस काम का समर्थन तो करते थे, लेकिन उसमें सक्रिय भाग नहीं लेते थे। गांधीजी के नेतृत्व का लिहाज भी इन कार्यक्रमों के अनुमोदन का एक कारण था। दूसरा पक्ष देश की गरीबी, आदि की परिस्थिति को गहराई से देखता था और मानता था कि गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में देश की बेकारी तथा गरीबी की समस्या का हल है। वह मानता था कि आजादी के बाद जब राष्ट्रीय सरकार बनेगी तब उसे मुल्क की इन समस्याओं को हल करने के लिए गांधी जी के बताये हुए तरीकों को अपनाना होगा। आजादी के आन्दोलन के साथ साथ इन कार्यक्रमों की बुनियाद डालने का प्रयास गांधीजी की क्रांति की विशिष्टता है ऐसा वे मानते थे। वे मानते थे कि ऐसा करने से स्वतंत्र भारत के निर्माण के लिए प्रारंभ से ही पूर्व संगठित पृष्ठभूमि मिल जायगी। इस युग में संसार का राजनैतिक कशमकश इतनी तीव्र है कि इस प्रकार की प्रारंभिक पृष्ठभूमि राष्ट्रीय 'स्टैबिलिटी' के लिए एक बहुत बड़ी आधार शिला बनेगी। लेकिन वे भी स्पष्ट रूप से यह नहीं समझ पाये थे कि चरखा आदि रचनात्मक काम राज्य निरपेक्ष स्वतंत्र लोकशक्ति के अधिष्ठान का वाहन है क्योंकि लोकतंत्र में जनता का वोट ही स्वतंत्र लोक शक्ति का आधार है, इस परम्परागत विचार को वे मानते थे। यही कारण है कि १९३५ के राजनैतिक सुधार से स्वराज्य को एक सूक्ष्म झलक मिलते ही जब चरखे को मालिक मजदूर के बीच के अन्याय के निराकरण का साधन बनाने के उद्देश्य से गांधी जी ने खादी कार्य में जीवन-वेतन के सिद्धांत को अपनाने को कहा, तब रचनात्मक-कार्य के सभी नेताओं ने उसका विरोध किया और सन् १९४४ में अंग्रेजों के चले जाने का आभास पाते ही जब गांधीजी ने चरखा मूलक रचनात्मक कार्य को तंत्रमुक्त तथा स्वतंत्र लोकशक्ति-आधारित बनाने के लिए चरखा संघ के नवसंस्करण का प्रस्ताव रखा, तब सभी लोगों ने इसे गांधी जी का नितान्त पागलपन बताकर अस्वीकार कर दिया। इससे स्पष्ट है कि भारत की भूखी आबादी तथा गरीबी के संदर्भ में ही उन्होंने इन कार्यक्रमों को स्वीकार किया था और राष्ट्रीय सरकार की यह जिम्मेदारी है कि वस्तुस्थिति के संदर्भ में ही यह देश का निर्माण करे, ऐसा विचार वे रखते थे। यही कारण है कि आज सारी रचनात्मक संस्थाएं मानती हैं कि यह काम चलाना सरकार की जिम्मेदारी है और अपने को सरकार आधारित रखने का तर्क भी पेश करती हैं।

मैंने पिछले लेख में लोकतन्त्र के संदर्भ में भारत की विशिष्ट परिस्थिति का विवेचन किया है। अंग्रेजी साम्राज्य के कारण इस देश में जिस तरह लोकतांत्रिक संस्कार के पनपने का मार्ग अवरुद्ध हुआ और उसके स्थान पर यह मुल्क किस तरह सामन्तवादी, जाति वादी, पूंजी वादी तथा हाकिमवादी चतुर्विध अधिसत्तात्मक मानस का शिकार बना, इसका जिक्र किया है। स्वभावतः कांग्रेस के राजनैतिक तथा रचनात्मक, दोनों पक्ष इसमें अपवाद नहीं हो सके क्योंकि आन्दोलन के दरम्यान उनका ध्यान गुलामी के निराकरण पर ही केन्द्रित रहा। फलस्वरूप मानस पुराना ही बना रहा।

प्रश्न—२ क्या आपका यह ख्याल है कि कोई आंदोलन केवल निष्ठाओं पर खड़ा किया जा सकता है? बापू *के रचनात्मक कार्य में निष्ठाओं की प्रधानता थी, जैसे* एकादश व्रत आदि। यही कारण है कि रचनात्मक संस्थाएँ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का अभ्यास केन्द्र बनीं, लोक-जीवन का साधना स्थल नहीं, क्योंकि लोक-जीवन में लोक की आवश्यकताएं और आकांक्षाएं होती हैं, निष्ठाएं नहीं।

उत्तर—केवल 'निष्ठा' नाम की कोई चीज नहीं होती है। निष्ठा किसी विचार के लिए होती है। *निष्ठा* के अभाव में कोई विचार फैल नहीं सकता है और जो

विचार फैलता नहीं है, वह आन्दोलन का रूप नहीं ले सकता है।

लोकजीवन के लिए कोई आधार चाहिए। आज उसका आधार कानून और दंड है। गांधी जी उस आधार को बदलना चाहते थे और दंड के स्थान पर संकल्पनिष्ठा—को स्थापित करना चाहते थे। वे समाज के 'डायनेमिक्स' को ही बदलना चाहते थे, भय के स्थान पर विचार को स्थापित करना चाहते थे। निःसंदेह भयरहित समाज शून्य पर स्थिर नहीं रह सकता है, उसे निष्ठा आधारित बनना पड़ेगा। अगर लोक-जीवन को निष्ठा आधारित बनाना है तो निष्ठा को कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का अभ्यासक्रम मात्र बनाने से काम नहीं चलेगा, उसे निश्चित रूप से लोकजीवन का साधना क्रम बनाना होगा। यही कारण है कि गांधी जी पूरे आन्दोलन को आत्म-शुद्धि का आन्दोलन कहते थे और प्रार्थना को आश्रमों की चहारदीवारी के अंदर मर्यादित न रख कर सार्वजनिक सभाओं के अभिन्न अंग के रूप में रखते थे। एकादश व्रत आदि का उच्चारण भी व्यापक लोकजीवन में फैलाते थे। जो केन्द्र किसी भी आन्दोलन का 'बेस' बनेगा, निःसंदेह उस केन्द्र में आन्दोलन को विचार निष्ठा का अभ्यास अधिक गहराई में करना आवश्यक है। आश्रमों को गांधी जी अपने आन्दोलन का 'बेस' बनाना चाहते थे इसलिए उनमें निष्ठाओं की प्रधानता आवश्यक थी।

आप पूछेंगे कि फिर संस्थाएं अपनी निष्ठा को लेकर जड़वत् क्यों रह गयीं? इसका कारण भी वही है जो मैंने ऊपर बताया है। प्रश्न यह है कि निष्ठाओं का अभ्यास करनेवालों की निष्ठा किस पर रही? समाज के 'डायनेमिक्स' के रूप में भयशक्ति के स्थान पर निष्ठा शक्ति पर निष्ठा थी या नहीं? मैंने पहिले ही कहा है कि जो लोग गांधी जी के साथ आंदोलन में शामिल हुए थे, उनमें करीब करीब सभी लोग केवल राष्ट्रीय आजादी का लक्ष्य रखते थे। गांधीजी के रचनात्मक काम के आश्रम के लोग भी इससे अपवाद नहीं थे। अगर वे एकादश व्रत आदि निष्ठाओं का अभ्यास करते थे तो यह समाज में नयी 'डायनेमिक्स' के अधिष्ठान की दृष्टि से नहीं था, बल्कि प्राचीन परंपरा के अनुसार व्यक्तिगत जीवन की साधना की दृष्टि से था। फलस्वरूप वह निष्ठा सामाजिक शक्ति न बनकर व्यक्तिगत चरित्र का हिस्सा बन कर रह गयी। उनमें से विनोबा आदि जैसे जो लोग निष्ठा को समाज की आधार-शक्ति के रूप में देख सके थे, उनकी निष्ठा आज भी अपनी-अपनी शक्ति-भर समाज को आन्दोलित कर ही रही है।

अतः जब आप गांधी जी की चीजों को देखने की कोशिश करते हैं तब उनकी हर चीज को मूल विचार के संदर्भ में तौलना होगा और उनके बताये हुए कार्यक्रम को माननेवालों ने उसे किस संदर्भ में स्वीकार किया था इसकी जांच अत्यंत बारीकी से करनी होगी, क्योंकि गांधी जी का पूरा जीवन काल अंग्रेजी राज्य को समाप्त करने में ही लग गया। इसके कारण देश के हर प्रकार के सामाजिक विचार रखनेवाले उनके नतृत्व के नीचे आये और वे उनके कार्यक्रमों को अपनी अपनी भावना तथा विचार के अनुसार स्वीकार कर उनका अमल करते थे। कांग्रेस का राजनैतिक पक्ष तथा रचनात्मक पक्ष दोनों ही एक प्रकार के सम्मिलित मोर्चे के रूप में ही काम करते रहे हैं। यही कारण है कि आज किसी पक्ष की निष्ठा किसी एक सामाजिक पद्धति के पक्ष में नहीं बन सकी और इसी कारण से उनमें कोई निश्चित दिशा नहीं बन सकी। यही कारण है कि उनमें से कोई पक्ष लोक जीवन को आलोड़ित नहीं कर पा रहा है।

प्रश्न—(१) मेरी ऐसी धारणा है कि हमारे देश में जिस तरह राजनीतिक नेता सत्ता के नाम में लोक-जीवन से हट गये उसी तरह रचनात्मक कार्यकर्ता भी सेवा और लोक-कल्याण के नाम में लोक जीवन से हट गये। अपने देश में कोई गैर सरकारी पुनरुत्थान का आन्दोलन 'नान अफिशियल रिनैसन्स मूवमेंट' बन ही नहीं सका। इसलिए मुझे लगता है कि हमारे देश में लोकतंत्र की विफलता के मुख्य कारणों में एक कारण है रचनात्मक कार्य की विफलता और रचनात्मक कार्य की विफलता के मुख्य कारणों में एक यह है कि रचनात्मक कार्य शुरू से ही सत्ता (पावर) की खोज के साथ जुड़ा रहा और वह आज भी सत्ता से अलग नहीं हो रहा है। इसलिए यह कहना पड़ता है कि गांधीजी की आकांक्षा लोक शक्ति की दिशा में चाहे जो रही हो, उनकी व्यूह-रचना में कमी थी। क्या ऐसा कहना ठीक है? आप

शिक्षा का अर्थशास्त्र

श्री राममूर्ति

१ सदियों तक शिक्षा समाज के उस समुदाय तक सीमित रही है जो हाथ से कमाई का काम नहीं करता था। वह संस्कार आज तक इस रूप में बना हुआ है कि शिक्षित आदमी हाथ से काम नहीं करना चाहता। लेकिन जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतन्त्र के इस युग में आर्थिक विकास होता जा रहा है लोगों में यह प्रतीति जगती जा रही है कि शिक्षा आर्थिक विकास के लिए भी उतनी ही जरूरी है जितनी सांस्कृतिक विकास के लिए। भौतिक जगत के ज्ञान से ही आधुनिक टेक्नालोजी का विकास हुआ है जिसने मनुष्य के लिए आर्थिक समृद्धि के द्वार खोले हैं। इसलिए ज्ञान का उत्तरोत्तर संग्रह और उसे नयी पीढ़ियों के लिए उपलब्ध करना आर्थिक प्रगति की बुनियाद है। इस कारण से शिक्षा का खर्च बराबर बढ़ता जा रहा है। हिसाब लगा कर देखा गया है कि आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में राष्ट्रीय आय का १ २ प्रतिशत ही शिक्षा में खर्च होता है लेकिन विकास के साथ-साथ यह खर्च ४ से ५.६ प्रतिशत तक पहुँच जाता है। खर्च के बढ़ने के सिवाय घटने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। एक ओर आर्थिक विकास की आवश्यकता है, दूसरी ओर लोकतन्त्र में श्रमिकों, स्त्रियों तथा अन्य अल्पसंख्यकों की ओर से समान अवसर की माँग है जो पहिले शिक्षा से वंचित रखे जाते थे लेकिन अब किसी तरह उन्हें अलग नहीं रखा जा सकता।

२ इतना ही नहीं, अब स्वयं अर्थशास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बढ़ती हुई टेक्नालोजी में आर्थिक विकास के लिए केवल पूँजी (फिजिकल इन्वेस्टमेण्ट) काफी नहीं है, बल्कि सबसे अधिक महत्त्व है आर्थिक प्रवृत्तियों के मूल में काम करनेवाले सम्पूर्ण सामाजिक जीवन और लोगों की जीवन दृष्टि का। विकास केवल आर्थिक नहीं है, वह सम्पूर्ण और समग्र है।

३ आज तक शिक्षा ने किसी समाज की विशिष्ट संस्कृति को सुरक्षित रखने का ही काम किया है। धर्म और उसकी प्रेरणा और उसके प्रबन्ध में चलने वाली शिक्षा ने यही काम किया है, लेकिन आधुनिक विज्ञान और मानव शास्त्र को आधार माननेवाली शिक्षा परिवर्तन और विकास को ही लक्ष्य मानकर चल सकती है। शिक्षा विकास की गति को तेज बनाने के लिए है, और अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि समाज के रुके हुए जीवन को विकासशील बनाने के लिए पहले के जमाने में जो खून बहता था और पूरे समाज को परिवर्तन के नाम में जो वेदना सहनी पड़ती थी उससे बचाने की शक्ति शिक्षा में ही है। शिक्षा सन्धि काल (ट्रैन्ज़िशन) को आसान बना सकती है। इस दृष्टि से स्वास्थ्य, यातायात लोक कल्याण आदि के साथ-साथ शिक्षा को 'सामाजिक पूँजी' (सोशल कैपिटल) मानना चाहिए जिसके बिना केवल प्रत्यक्ष उत्पादन में पूँजी लगाने से पूरी सफलता नहीं हासिल की जा सकती। बिना आधुनिक शिक्षा-पद्धति के कोई विकासशील आर्थिक ढाँचा काम नहीं कर सकता क्योंकि आर्थिक क्रियाओं के लिए जिस बारीक हुनर की जरूरत होती है वह शिक्षा से ही प्राप्त हो सकता है। रूस, अमरिका और पाश्चात्य योरप के विकास से यह प्रमाणित होता है

कि श्रमिकों और कारीगरों को जितनी ही अधिक शिक्षा दी गयी है, उतनी ही उनकी उत्पादन-क्षमता बढ़ी है, साथ ही यह भी प्रकट हुआ है कि हुनरवाले लोगों की कमी के कारण आगे का विकास रुक गया है।

४ इस तरह आर्थिक विकास के लिए तीन चीजों की मुख्य जरूरत है।

(क) आर्थिक विकास के प्रति जनता की दृष्टि।

(ख) हर स्तर पर हुनर की उपलब्धि।

(ग) पूँजी।

आज प्राय सभी उन्नत देशों में, मुख्यत फ्रांस, रूस, नीदरलैण्ड, युगोस्लाविया और स्वीडन आदि में, अच्छी तरह हिसाब लगा लिया जाता है कि समाज की आर्थिक मशीन के लिए किस तरह के कितने प्रशिक्षित लोगों की जरूरत है, और तब शिक्षा द्वारा उन्हें तैयार करने की कोशिश का जाती है। इसे 'मैन पावर फोरकास्टिङ्ग' कहते हैं, पचवर्षीय योजना के प्रभाव में अपने देश में भी इस विचार की गूँज पैदा हो रही है, लेकिन कई ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारणों से शिक्षा में कोई नया अभिक्रम नहीं प्रकट हो पा रहा है।

५. यहाँ लय शिक्षा की उत्पादनशीलता (प्रोडक्टिविटी) का प्रश्न उठता है। क्या आर्थिक विकास के साथ-साथ शिक्षा ज्यादा खर्चीली ही होती जायगी? क्या उससे कोई प्रत्यक्ष उत्पादन नहीं होगा? एक ओर शिक्षा और शिक्षकों की माँग बढ़े, और दूसरी ओर उनकी उत्पादनशीलता न बढ़े, तो क्या ऐसे विशाल समुदाय का बोझ समाज उठा सकता है जिनकी सेवा समाज के लिए आवश्यक तो है लेकिन जो स्वय कोई उत्पादन नहीं करता?

६ शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति की कमाई करने की क्षमता में बहुत अन्तर होता है। इस अतर को पैदा करने के लिए स्वय समाज को शिक्षा के माध्यम से बहुत खर्च करना पड़ता है। शिक्षा के खर्च में वेतन, सामान (गुड्स), आवश्यक सेवाएँ, (सर्विसेज) सभी शामिल हैं। इनके अलावा अगर हम यह भी जोड़ लें कि अगर विद्यार्थी शिक्षा में न रह कर कमाई का काम करता तो वह कितना कमाता तो शिक्षा का टोटल मूल्य कहीं अधिक बढ़ जाता है। ऐसी हालत में स्पष्ट है कि अगर हमें शिक्षा को समाज के विकास की आवश्यकता के साथ जोड़ना है तो उसकी बनावट, सगठन, पद्धति आदि सब में कितना बुनियादी परिवर्तन करना पड़ेगा। पुराना पाठ्यक्रम, शिक्षकों का पुराना प्रकार या सख्या, और शिक्षा के पुराने साधन काम नहीं देंगे।

७ अभी तक हमने शिक्षा को केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। हम ने दो ही प्रश्नों पर अपना ध्यान केंद्रित रखा है—एक, बच्चे का स्वभाव, दो, शिक्षण की प्रक्रिया (लर्निंग प्रोसेस)। लेकिन हम ने यह नहीं सोचा कि समाज में प्रचलित अभाव, सामाजिक सबध और अभियोजन (ऐडजस्टमेण्ट), गरीबी और निरक्षरता, ये सब देखने में आर्थिक और सामाजिक प्रश्न हैं, पर बुनियाद में शिक्षा की समस्याएँ हैं। भारत-जैसे अविकसित देश में आर्थिक समस्या का स्थान सब से पहला है। उसके हल हुए बिना किसी प्रकार की प्रगति सभव नहीं है।

८ अगर यह बात सही हो तो शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो आर्थिक विकास में बाधक न हो, बल्कि साधक और सहायक हो। अगर शिक्षा द्वारा प्रतिक्रियावादी सास्कृतिक और सामाजिक तत्त्वों को बढ़ावा मिलता रहेगा तो विकास में बाधा पड़ेगी, इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्री ऐसे विषयों, जैसे-गणित, विज्ञान, समाज शास्त्र आदि पर जोर देते हैं जो दिमाग के पुराने आग्रहों और रूढ़ियों को तोड़ें ताकि बुद्धि सस्कार पर विजय पा सके। हुनर की दृष्टि से विभिन्न दस्तकारियाँ तथा प्रारम्भिक खेती भी आवश्यक मानी जाती है क्योंकि इन से आदमी की कमाई करने की क्षमता बढ़ती है।

९ आजकल शिक्षा में एक विचित्र विरोधी स्थिति पैदा हो गयी है। एक ओर शिक्षा की मूग बढ़ रही है और दूसरी ओर शिक्षितों की बेकारी बढ़ रही है। बी० ए०, एम० ए०, जैसी कला की डिग्रियाँ प्राप्त करके लोग मारे-मारे फिर रहे हैं या थोड़े पैसों पर काम करने के लिए मजबूर हो रहे हैं, लेकिन वैज्ञानिकों,

डाक्टरों और इन्जीनियरों की कमी भी पड़ रही है। इस का कारण क्या है, और निवारण का उपाय क्या है ?

१० क्या अविकसित देश का विकास, जिस में पूंजी का अभाव और मनुष्य शक्ति की प्रचुरता है, हम उन्हीं तरीकों से कर सकते हैं जो पाश्चात्य जगत् में इस्तेमाल किये गये हैं जहां परिस्थिति बिल्कुल भिन्न रही है ? इस प्रश्न पर हमें तत्काल निर्णय कर लेना चाहिए कि हम (१) प्रचलित तरीकों से अपने देश का विकास करेंगे और लाखों लाख लोगों को पूर्ण या आंशिक तौर पर बेकार रखेंगे या (२) प्रचुर मात्रा में उपलब्ध मनुष्य शक्ति को सघन आर्थिक विकास का आधार बनायेंगे ? हमें यह जान लेना चाहिए कि श्रमकेंद्रित टेक्नालोजी का स्वरूप पूंजी केंद्रित टेक्नालोजी से बिल्कुल भिन्न होता है दोनों के लिए दो तरह के हुनर आवश्यक होते हैं। दोनों में दो तरह के श्रमिक और सुपरवाइजर चाहिए। इसके अलावा हमारे निर्णय के साथ मजदूरी और वेतन का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। हमें पुरस्कार और पारिश्रमिक में यह गुंजाइश रखनी ही पड़ेगी कि योग्य और हुनर सीखे हुए लोगों को काम की प्रेरणा मिल सके और किसी तरह किसी के बेकार रहने की परिस्थिति न पैदा हो।

११ शिक्षा सबसे अधिक मनुष्य शक्ति का ही इस्तेमाल करती है। गरीब देशों में श्रम शक्ति सस्ती है, लेकिन हुनर प्राप्त लोग महंगे हैं। शिक्षित लोग बेकार हैं जब कि स्कूलों में शिक्षक नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में तीन ही रास्ते हैं।

क मजदूरी और वेतन की सीमा समाज के वास्तविक जीवन के संदर्भ में तय होनी चाहिए, और विभिन्न पेशों के प्रति समाज में जो मूल्य प्रचलित हैं उन में परिवर्तन होना चाहिए।

ख प्रतिद्वंद्विता-मूलक अर्थनीति को खुली छूट दे दी जाय।

ग बाहर से मदद मंगा कर शिक्षा का विकास किया जाय,' लेकिन यह सोच लेना चाहिए कि क्या ऐसा करना उचित या संभव होगा ?

१२ आर्थिक विकास की कोशिश करने में अनेक पेचीदा प्रश्न पैदा हो जाते हैं, जैसे रुपये का मूल्य घटना और विदेशी व्यापार में प्रतिकूल स्थिति, आदि जिसकी पूर्ति के लिए बाहर से पैसा लेना पड़ता है और यह कमी जितनी ही तेजी से पूरी की जायगी उतनी ही तेजी से विकास होगा।

१३ तो गरीब देशों के सामने जो समस्याएं हैं वे धनी देशों के सामने नहीं हैं और इसलिए उन के समाधान के उपाय भी एक नहीं हैं। (क) गरीब देशों में शिक्षा अत्यंत महंगी पड़ता है, (ख) गरीब देश बाहर से पैसा ही नहीं ले रहे हैं, बल्कि विदेशी टेक्नालोजी भी ले रहे हैं जो उन की परिस्थिति के लिए अनुपयुक्त हैं–स्वयं आर्थिक दृष्टि से ही अनुपयुक्त नहीं बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी। इसलिए सब से पहले आवश्यक है कि हम अपने लिए उपयुक्त टेक्नालोजी के प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से विचार करें। (ग)ऐसी परिस्थिति में नीचे से ऊपर तक की शिक्षा का स्वरूप क्या हो ? लोकतंत्र में व्यापक प्राइमरी शिक्षा के विस्तार की मांग स्वाभाविक है, और जब प्रारंभिक शिक्षा का विस्तार होता है तो माध्यमिक तथा अन्य शाखाओं का विकास अनिवार्य हो जाता है। शुरू और बाद की शिक्षा का यह संबंध किसी देश के पूरे शैक्षणिक ढांचे को स्थिर करता है। इस दृष्टि से संपूर्ण ढांचे पर विचार किये बिना विस्तार के प्रश्न पर नीति-संबंधी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

अगर शिक्षा और विकास को एक साथ ले चलना हो, जो विज्ञान और लोकतंत्र की भूमिका में अनिवार्य है, तो बिल्कुल नये सिरे से विचार करना चाहिए।

★

शिक्षा और लोकतंत्र

ति० न० आत्रेय

आज लोकतन्त्र केवल एक सामाजिक मूल्य नहीं बल्कि मानव के पूरे जीवन का ही एक मूल्य बन गया है। मानव अपने राष्ट्र की व्यवस्था लोकतन्त्र के आधार पर चलाने का इच्छुक तो हो ही गया है, इससे भी अधिक वह इस चिन्तामें है कि जीवन के दूसरे पहलुओं में भी लोकतन्त्रात्मक तत्त्व कैसे दाखिल हों। साम्राज्य वाद, सामन्तवाद, सैनिकवाद आदि विभिन्न पद्धतियों को आजमाने के बाद वह लोकतन्त्र को अपनाने की स्थिति में पहुँचा है। सही अर्थ में लोकतन्त्र की स्थापना और विकास के लिए व्यापक समग्र-शिक्षण को आवश्यकता को सारा संसार मानने लगा है। इस संदर्भ में शिक्षण का स्वरूप और शिक्षक के कर्तव्य का कुछ विवेचन यहां करेंगे।

प्रारम्भ में, संक्षेप में यह स्पष्ट कर लेना ठीक होगा कि लोकतन्त्र क्या है।

आज की विभूति : व्यक्ति

लोकतन्त्र के कुछ बुनियादी सिद्धान्त हैं जिनके बिना वह कुछ रह नहीं जाता। व्यक्ति अपने में विभूति है, यह उसका पहला सिद्धान्त है। लोकतन्त्र मानता है कि व्यक्ति अपने आप में 'विशिष्ट' है, इस लिए व्यक्ति के नाते वह 'मूल्यवान' है। लोकतन्त्र में किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं हो सकती, एक के भले के लिए दूसरे को साधन बनाना या दूसरे को साधन बनने के लिए विवश करना लोकतन्त्र को मान्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना पूरा विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में जो एक न एक विशेषता विद्यमान है उसे निखारने का उसे पूरा अधिकार है। इन सब बातों के पीछे यही सिद्धान्त है कि 'व्यक्ति' इस युगकी विभूति है। अतः किसी एक की भी उपेक्षा किये बिना सब का भला करने के हेतु से सब के हित सम्बन्धों की रक्षा के लिए सबका मिला जुला जो संगठन बनता है उसीका नाम लोकतन्त्र है।

अधिनायकवादी राज्य-व्यवस्था में इसके विपरीत होता है। व्यक्ति का मूल्य वहां इस बात पर निर्भर है कि वह राष्ट्र की प्रगति और विकास के लिए कितना सहायक है। वहां देश ही सब कुछ है, व्यक्ति का अपना कोई स्थान नहीं है।

यह वैज्ञानिक युग कहा जाता है, पर विज्ञान में भी व्यक्ति का व्यक्ति के नाते कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य एक अधिक विकसित इन्द्रियों-वाला और चेतनाशील प्राणिविशेष के सिवाय कुछ नहीं है। लेकिन लोकतन्त्र के लिए 'व्यक्ति का भला' कोई बकवास' नहीं है या 'अविचारणीय विषय' भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति लोकतन्त्र का तत्व है, मुख्य अधिष्ठान है।

लोकतन्त्र का उदय ईसाई धर्म के प्रसार के बाद हुआ है, इसलिए लोग कहते हैं कि लोकतन्त्र की बुनियाद में आध्यात्मिक विचार का प्रभाव है। न केवल ईसाई धर्म में, बल्कि धर्म-मात्र में मानव को, वह चाहे किसी भी देश का हो, ईश्वर की सन्तान माना जाता है। ऐहिक जीवन में इस मान्यता की अभिव्यक्ति कई रूपों में प्रकट हुई है। मुख्य रूप से मृत्युदण्ड को और सामाजिक बहिष्कार को अमानवीय कहने के पीछे यही मान्यता विशेष रूप से काम कर रही है।

समानता

लोकतन्त्र का दूसरा सिद्धान्त है मानव मात्र की समानता। यहाँ समानता का अर्थ यह नहीं है कि लोकतन्त्र सबको शारीरिक या बौद्धिक शक्ति में समान मानता है या सब की आवश्यकता का परिमाण और प्रकार समान है। यहाँ समानता का अर्थ यही है कि धर्म, जाति, लिंग, अवस्था आदि सभी भेद भुलाकर सब को अपना अपना विकास करने का समान अवसर मिलना चाहिए और सब का समान रूप से ख्याल किया जाना चाहिए। प्राकृतिक या दैवी विषमताएं जिस हद तक व्यक्ति के विकास में बाधक होती हैं वह यहाँ विचारणीय विषय नहीं है। समानता का यह सिद्धात और बाकी सिद्धात भी व्यक्ति की विभूति माननेवाले पहले सिद्धान्त से निकले हुए हैं, विशेष बल देने की दृष्टि से इन्हें स्वतन्त्र सिद्धात के रूप में माना जाता है।

स्वतन्त्रता

तीसरा सिद्धात है स्वतन्त्रता का अधिकार। लोकतन्त्र में व्यक्ति के जीवन पर किसी बाहरी शक्ति का नियन्त्रण नहीं रह सकता। सभी व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। वैसे 'स्वतन्त्रता' शब्द अकसर उलझन पैदा करता है क्योंकि सामान्यतया स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता को समानार्थी मान लेने की भूल हो जाती है। वस्तुत स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता नहीं है। चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज को व्यवस्थित बनाये रखने में ही व्यक्ति का भला है इस लिए स्वतन्त्रता को स्वच्छदता में न बदलने देना आवश्यक हो जाता है। अत एक ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता है और दूसरी ओर समाज का जीवन है और इन दोनो में सतुलन बिठाना एक महत्व का काम है।

लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता का अर्थ यह हुआ कि हर व्यक्ति अपने गुणों और विशेषताओं का चाहे जितना विकास कर सकता है बशर्ते कि उनके द्वारा वह दूसरो का भला कर सके अर्थात् व्यक्ति अपना वही गुण और वही विशेषता विकसित करने को स्वतन्त्र है जो दूसरो के काम आ सके। इसीका नाम नैतिकता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता हमेशा नैतिक जिम्मेदारी से नियन्त्रित है। एक व्यक्ति का हित-सबंध दूसरे व्यक्ति से और सारे समाज से जुड़ा हुआ है, इसलिए स्वतन्त्रता की आकांक्षा और उपभोग का अर्थ ही है 'सर्वेषा अविरोधेन' जीने का प्रयत्न।

दबाव नहीं, मनाव

लोकतन्त्र का चौथा सिद्धांत यह है कि किसी से कोई काम लेना है या कोई बात मनवानी है तो वह जोर-जबरदस्ती से न हो, समझा-बुझाकर हो, विचार-विनिमय के द्वारा हो। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी राय कायम करने का, निर्णय लेने का और उस पर अमल करने का पूरा अधिकार है। यद्यपि कोई बात जोर जबरदस्ती से मनवाना आसान है और उससे काम जल्दी बन सकता है, परतु लोकतन्त्र दण्ड के भय से काम लेना अमानवीय मानता है। दूसरे के भले की ही बात क्यों न हो फिर भी जब तक वह मानता नहीं है कि यह भली बात है तब तक उस पर कोई बात लादी नहीं जा सकती। जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है सत्य सापेक्ष है और इसी लिए चर्चा और विचार को लोकतन्त्र महत्त्व का साधन मानता है। लोकतन्त्र में बहुमत से निर्णय लेने की प्रथा इस लिए नहीं चल पड़ी है कि अल्पमत का कोई कम मूल्य है, परतु इसलिए चली कि सर्वसम्मति जब तक सम्भव न हो तब तक काम चलाने के लिए एकाधिकार से कम दोषवाली प्रथा यही दीखी।

मुख्यत ये चार मूलभूत तत्व हैं जिन पर लोकतन्त्र आधारित है। प्रत्येक प्रसङ्ग में अगुलि निर्देशपूर्वक इन तत्वों को दिखाना हमेशा शायद सम्भव न हो फिर भी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रत्येक प्रसग में ये तत्व बराबर काम करते रहते हैं और इनका जाने अनजाने हर कदम पर प्रभाव पड़ता है। ये तत्व जिस मात्रा में स्पष्ट होते जाते हैं और जिस परिमाण में अधिकाधिक काम में लिये जाते हैं उसी परिमाण में मानव-समाज आगे बढ़ेगा और जीवन सहज और सुन्दर बनेगा और ऐसी परिस्थिति के निर्माण में तथा उसमें आनेवाली बाधाओं को दूर करने में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

वर्तमान स्थिति में शिक्षा से संबंधित सभी समस्याओं का विचार करना यहां शायद सम्भव नहीं होगा, इसलिए केवल छ समस्याओं को लेकर शिक्षा के कर्तव्य पर विचार करेंगे ।

शिक्षा का क्षेत्र

शिक्षा से यहां शालेय शिक्षा ही अभिप्रेत नहीं है, बल्कि शालेय शिक्षा के साथ लोक-शिक्षा भी है। शिक्षा जन्म से आरंभ होती है और मृत्यु तक चलती है, इसलिए शालेय शिक्षा तो उस व्यापक शिक्षा का अंश-मात्र है। इस अर्थ में शिक्षा के सामने दो ही इकाइयां रह जाती हैं—एक, व्यक्ति जो वास्तव में शिक्षा का पात्र है और जहां शिक्षा को चरितार्थ होना होता है, और दूसरी इकाई 'विश्व' जो शिक्षा की अन्तिम परिधि है। चूंकि शिक्षा जीवन-मूलक ही हो सकती है इसलिए जीवन के आयोजन, संयोजन और कार्यक्रम की दृष्टि से एक और इकाई हो सकती है और वह है 'गांव' की। विदेशों में 'कम्यूनिटी' के रूप में इसीका बोध होता है। आयोजन के लिए यह बुनियादी इकाई है। इन तीन के अलावा परिवार से लेकर प्रांत, राष्ट्र आदि कोई दूसरी इकाई हो नहीं सकती। गांधीजी की भाषा में तरंगों के समान उत्तरोत्तर विस्तृत होती जानेवाली परिधियों में परिवार, प्रांत, राष्ट्र आदि सीमाओं का समावेश हो सकता है, पर परिपूर्ण और समग्र इकाई के रूप में उनका कोई स्थान नहीं है। शिक्षक की आंखों के सामने व्यक्ति है जिसकी वह प्रत्यक्ष सेवा कर सकता है, और उसके मन में विश्व है जिस की वह भक्ति या भावना कर सकता है और जिस की भावना से व्यक्ति-सेवा को निर्दोष और तेजस्वी बना सकता है। शिक्षा के आधार के रूप में इन दो या तीन सीमाओं से भिन्न कोई सीमा मान लेना लोकतंत्र के लिए घातक है, क्योंकि बाकी सीमाएँ फूट और भेदभाव के कारण बनी हैं।

अब हम व्यक्ति और विश्व से संबंधित और लोकतंत्र में महत्व रखनेवाले कुछ मुद्दों पर विवेचन करें जो शिक्षा से अधिक संबंधित हैं।

पहला मुद्दा : मानव का अमानवीकरण

ज्यों ज्यों विज्ञान के नये नये आविष्कार सामने आते जा रहे हैं त्यों त्यों मनुष्य का मनुष्यत्व समाप्त होता जा रहा है। मानव के अमानवीकरण के तीन मुख्य पहलू हैं—एक यह कि समाज के सारे काम यंत्र प्रधान होते जा रहे हैं, दूसरा यह है कि मनुष्य का मनोरंजन यांत्रिक और यंत्राधीन हुआ है और तीसरा यह कि व्यक्ति पर समूह बड़े पैमाने पर हावी हो रहा है और समूह तो अनेक उलझनों से भरा है जिसके कारण व्यक्ति का भी जीवन उलझनों से भर गया है।

उद्योगों में यंत्रों के दाखिल होने के कारण आज हाथ की कारीगरी—जैसी कोई चीज नहीं रह गयी है। शिल्प आज उतना प्रतिष्ठित तत्त्व नहीं रहा। पहले जमाने की तरह काम, कला, जीवन और पूजा ये चारों पर्यायवाची शब्द नहीं रहे। यंत्र मानव की इंद्रियों की शक्ति बढ़ाने में मदद करने के बजाय उस शक्ति को कुंठित करने लगे हैं। विविधता में सौंदर्य का अनुभव करने की रुचि यंत्रों के कारण बदल गयी है। समाजीकरण आज की विशेषता बना है। यंत्रों के कारण काम में मानव की सूझ-बूझ को बहुत कम स्थान रह गया है। यदि इस प्रकार मनुष्य की भावना और सूझ-बूझ के लिए गुंजाइश न रहे तो कोई भी यंत्र मनुष्य को भी यंत्र बना देता है और आज करीब-करीब यही स्थिति है।

दूसरा पहलू मनुष्य के मनोरंजन का भी यंत्र प्रधान होता है। आज अपने मनोरंजन के लिए व्यक्ति को स्वयं कुछ करने या कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति आज केवल दर्शक या केवल श्रोता रह गया है। एक बटन दबा दीजिए, बढ़िया संगीत सुनिए, बढ़िया नाटक देखिए, काव्य सुनिए और चाहे जो आनन्द लीजिए। नृत्य, गायन, चित्रकारिता आदि कलाओं का उपयोग कला के रसास्वादन के लिए न होकर वक्त गुजारने या मन का बोझ हल्का करने के साधन के रूप में होने लगा है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति अधिकाधिक निष्क्रिय बनता जा रहा है, प्रतिभा और कला भी मुट्ठी-भर लोगों की बपौती बनती जा रही है। इस प्रकार मानव अपनी एक बड़ी विशेषता खो रहा है।

तीसरा पहलू, व्यक्ति पर समूह हावी हो रहा है। आज लाखों-करोड़ों की भाषा ही काम में ली जाती है, इसलिए नाम का स्थान संख्या ने ले रखा है। जहां मनुष्य केवल संख्या बन जाता है वहां उसकी अपनी विशेषता

या प्रतिभा का कोई स्थान नहीं रह जाता है। व्यक्ति के नाते व्यक्ति आज शून्य है, अस्तित्व शून्य है। खास पढ़ाई का काम करने वाले स्कूल कालेजों की भी यही स्थिति है। वहा भी संख्या ही 'सब कुछ' बनती जा रही है।

मानव को मानव बनाये रखने का काम जितना शिक्षा का है उतना और किसी का नहीं है। व्यक्ति को कुशल, प्रतिभावान और प्रतिष्ठित करने की दिशा में शिक्षा को ही प्रयत्नशील होना होगा।

दूसरा मुद्दा : लोक शिक्षण के साधन

वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के साथ मानव का मन और मस्तिष्क भी काफी विकसित होता जा रहा है। पिछली शताब्दी के मानव की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के साथ इस शताब्दी के मानव की आकांक्षा और आवश्यकता का मेल शायद ही बैठ सकता है। नयी आकांक्षा और नयी आवश्यकता के अनुरूप ही नये साधनों और नये मार्गों की खोज मानव ने कर ली है। इसी प्रकार एक लोकतन्त्रीय देश की आज की समस्याएं और उनके समाधान का स्वरूप भी पिछली शताब्दी की तुलना में आज बिलकुल ही भिन्न होगा। भारत में लोकतन्त्र का विचार अभी-अभी होने लगा है, संसार के अन्य राष्ट्रों के मुकाबिले यहां का प्रयोग बिलकुल ही प्रारंभिक अवस्था का है।

देश में गत ५०–६० वर्षों में जिन जिन क्षेत्रों में प्रगति तेजी के साथ हुई है उन में तीन क्षेत्रों की ओर सब से पहले ध्यान जाता है जो लोकशिक्षण के माध्यम भी हैं। एक छापाखाना दूसरा चलचित्र और तीसरा रेडियो। छापाखाना बाकी दो की अपेक्षा पुराना जरूर है, फिर भी तन्त्र-शास्त्र (टेक्नालोजी) और यातायात के साधनों की प्रगति के कारण तीनों साधन समानरूप से व्यापक और अधिक परिणामकारी होते जा रहे हैं। समाज में इन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इन का उपयोग सब के लिए बहुत आसान हो गया है। इनकी विशेषता यह है कि इनके बलपर व्यक्ति से चाहे जैसा काम लिया जा सकता है और व्यक्ति पर चाहे जिस प्रकार का प्रभाव डाला जा सकता है। ये साधन गलत हाथों में चले जायं तो समूचे देश को भ्रष्ट और दुराचारी बनाने में कोई देर नहीं लगती। नैतिकता की दृष्टि से जो व्यवहार और जैसा जीवन अनिष्ट है उस ही प्रतिष्ठित और प्रसारित करना आज बहुत सरल हो गया है। रोज-रोज एक ही बात पढ़ते-पढ़ते और देखते-देखते लोग उस से इस हद तक प्रभावित हो जाते हैं कि अपना विवेक खो देते हैं, खुद सोचने और खुद निर्णय करने की अपनी शक्ति गवा बैठते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं, कि व्यक्ति के अपनी सद सद्-विवेक बुद्धि कायम रखने में जो-जो चीजें बाधक हैं, निश्चित ही वे लोकतन्त्र की भी घातक हैं। लोकतन्त्र की रक्षा और विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विवेकशील बनाये रखना और बाहरी प्रभाव को उस हद तक नियमित रखना परम आवश्यक है।

उपर्युक्त तीन साधनों के अलावा एक जबरदस्त साधन और है जिस का प्रभाव बहुत गहरा और सूक्ष्म है तथा जिसमें मनुष्य की रुचि और निर्णय पर सख्त नियन्त्रण करने की अद्भुत शक्ति है और वह है विज्ञापन। दुनिया के सभी देशों में व्यापार का वह एक अनिवार्य साधन बन गया है। वैसे नया और उपयोगी वस्तुओं का सामान्य जनता को परिचय कराने की दृष्टि से यह साधन बुरा नहीं है लेकिन समाज में दिन प्रति दिन बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा, मुनाफाखोरी और मानवीय कमजोरियों की अधिकाधिक जानकारी के कारण विज्ञापन एक बहुत खतरनाक साधन सिद्ध हो रहा है। मनुष्य के शोषण का भी यह एक नया मार्ग बना है। लोकतन्त्रीय सिद्धांतों में से व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्ति की विशेषता आदि का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष हनन इन सभी साधनों से हो रहा है। इन का नियन्त्रण करना शासन का काम हो सकता है, पर इन दोषों से जनता को बचाना लोक शिक्षण का विषय है। यह शिक्षक की ही समस्या है, क्योंकि हम ने शिक्षा का क्षेत्र शाला तक ही सीमित नहीं माना है, समूचा समाज जीवन माना है।

तीसरा मुद्दा : धर्म-निष्ठा का ह्रास

आज के समाज का यह एक विवादास्पद विषय है। सामान्यतया कहा जाता है कि समाज में धर्म निष्ठा कम

हो गयी है। गहराई से देखने पर पता चलेगा कि ऐसा कहनेवाले वर्तमान के मुकाबिले में अतीत काल को बढ़ा-चढ़ा कर देखते है क्योंकि वि इस कथन में सत्यांश अधिक नही है। हां यह सही है कि पिछले जमाने में लोग मंदिरो और मठो पर विश्वास रखते थे, उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे और बात-बात पर भगवान को या भाग्य की दुहाई देते थे, और ये बातें जिन लोगो के जीवन का अंग बन गयी थीं समाज में उनका आदर ज्यादा होता था। आज स्थिति वैसो नहो है। लेकिन जहा तक 'धर्म-जीवन' का प्रश्न है, सदाचार या सद्व्यवहार का सम्बन्ध है, यह कहा नहीं जा सकता कि धर्म क प्रति आज पिछले जमाने से कम आस्था है।

मदिर, भगवान या भाग्य उस जमाने में मनुष्य का एक शाति स्थान था, लेकिन आज वही शाति और समाधान पाने के कई नये और अधिक समर्थ साधन मनुष्य को मिले हैं, आवागमन के साधन सुलभ हुए हैं, रुचि बदली है, इसलिए और इनके कारण जो मनोवृत्ति और जो वातावरण बना है उनके कारण भी पुराने अर्थ की 'धर्म भावना' आज कम प्रतिष्ठित हुई है। साथ ही एक महत्त्व का कारण यह भी है कि पुराना धर्म वर्तमान समय के मनुष्य की सारी समस्याओ का समाधान सुझा नहीं सका है।

इसके अलावा इस युगकी बौद्धिक और भावनात्मक परिस्थिति भी श्रद्धा और विश्वास के लिए अनुकूल नही रही। विज्ञान और तत्वशास्त्र के विकास न सृष्टि की भौतिकता पर अधिक प्रकाश डाला और उसके रहस्य अधिकाधिक खुलते गये, और मनुष्य श्रद्धा के स्थान पर विज्ञान को प्राधान्य देने लगा। विज्ञान जहाँ वस्तुस्थिति और व्यवहार पर जोर देता है वहां धर्म या श्रद्धा अदृश्य और पारलौकिक बातों पर बल देती है। गत दो विश्व-युद्धो व परिणामोंने भी मनुष्य को धर्म' से विचलित कर दिया है।

लेकिन लोकतन्त्र से इसका क्या सबंध है? जैसा पहले कहा है लोकतंत्र के मूल मे 'धर्मनिष्ठा' का यानी अध्यात्मका विचार रहा है। लोकतत्र म व्यक्ति का मौलिकता और उसके विभूति होने का जो तत्त्व ह वह इसी धर्म-निष्ठा की देन है। प्रत्येक व्यक्ति को समानदृष्टि स देखने की प्रेरणा मूलत धार्मिक है। यद्यपि मनुष्य में नीति, सदाचार, भ्रातृत्व आदि सद्भावनाओ का विकास करने का साधन आज धर्म नही रहा तो भी समाज में इन चीजो का महत्त्व आज कम नहीं है। ये आज भी आवश्यक माने जाते हैं और इन का विकास करने का एक न एक प्रयत्न आज भी चल रहा है। इस मानी में लोकतन्त्र के सामने यह एक बड़ा खतरा है कि जनता में इन गुणो का विकास जिस मात्रा में होना चाहिए उस मात्रा में नहीं हो रहा है। समाज इस धर्म के बिना खड़ा नहीं रह सकता। यद्यपि समूचे समाज को किसी एक 'धर्म'-विशेष का अनुयायी बनाना सभव नही है, फिर भी 'धर्म-निष्ठ' जीवन का विकास तो किया ही जा सकता है।

चौथा मुद्दा: अंतर्राष्ट्रीयता

ससार पहले से आज इस मानी में भी भिन्न है कि आज सारे राष्ट्रो का हित-सबध एक-दूसरे पर अवलंबित हो गया है। यातायात के साधनो और समाचार-सपर्क के साधना में जो अभूतपूर्व शोध हुए है उन के कारण सभी राष्ट्र अपने यहां की भौतिक सुविधाओं और कच्चे माल की दृष्टि से एक दूसरे के निकट आये है। सब आपसी सास्कृतिक सबधो से जुड़ते जा रहे है। साथ ही राष्ट्र के बीच तनाव और सघर्ष भी बढ़त जा रहे हैं। सारांश यह कि निश्चित ही अब हम बहुत समय तक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप म 'अपना' समाज बनाये नहीं रख सकेंगे। मनुष्य विश्व नागरिक के रूप म पहचाना जाने लगा है। अर्थात् प्रभुसत्तासपन्न सार्वभौम राष्ट्रत्व की बात अब थोड़े दिन की बात है। ससार को आर्थिक और सास्कृतिक विकास से भी बढ़ कर परमाणु शक्ति के आविष्कार न इस निकटता को अधिक आवश्यक और अनिवार्य बना दिया है। इसका यह अर्थ नही है कि राष्ट्रीयता सर्वथा बुरी है, राष्ट्रीयता वहाँ तक अच्छी ही है जहाँ तक विश्व-समाज के अंग के रूप म एक राष्ट्र दूसर राष्ट्रा के विकास और उन्नति के लिए समुचित योगदान देता रहेगा, क्यो कि इसके बिना व्यक्ति का विकास रुकता है। राष्ट्रीयता को भावना सकुचित होने के कारण व्यक्ति की वृत्ति भी सकुचित होती है।

इस लिए यह निर्विवाद विषय है कि आज हमें या तो साथ-साथ जीने की कला सीखनी होगी या निःसहाय होकर मर जाने के लिए विवश होना होगा। इस रूप में शिक्षण का यह एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन जाता है। व्यक्ति को विश्वनागरिक बनने को तैयार करने का अर्थ ही है सहकारी जीवन सिखाना।

पाँचवाँ मुद्दा : विज्ञान

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज विज्ञान और टैक्नालजी बहुत प्रमुख तत्त्व बन गये हैं। रक्षा-व्यवस्था के लिए ही नहीं, जीवन स्तर ऊँचा करने से लेकर बहुत हद तक आध्यात्मिक विकास तक सभी क्षेत्रों में विज्ञान की अनिवार्यता सिद्ध हो रही है। इसका अर्थ यह है कि समाज में वैज्ञानिकों और टक्नीशियनों की संख्या बढ़नी चाहिए। विज्ञान को जीवन में स्थान मिलता है तो शिक्षकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे वैज्ञानिकों और तन्त्रशास्त्रियों को भी काफी मात्रा में तैयार करें।

लेकिन वैज्ञानिकों के नाम से एक वर्ग खड़ा करना पर्याप्त नहीं होगा। आवश्यक तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिक दृष्टि से हर एक व्यक्ति सोच सके, देख सके और विचार कर सके। वैज्ञानिक दृष्टि से मतलब है वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण। किसी भावना और मानसिक उद्वेग के शिकार हुए बिना सत्य क्या है, परिस्थिति क्या है और मनुष्य के नाते हमारा कर्तव्य क्या है इतनी बात का ख्याल रख कर मनुष्य को काम करना सीखना होगा। विज्ञान की इस विशेषता को हम अपना जीवन-आधार बनाना होगा।

यहाँ तथ्य और मूल्य का विवेक करना जरूरी होगा। विज्ञान जहाँ तथ्य का बोध करता है और अपने अनुसंधान के फलस्वरूप कुछ प्राकृतिक नियम निर्धारित करता है वहाँ वह समाज के आचार या व्यवहारों का नियामक या नियंत्रक नहीं हो सकता है। वैज्ञानिक इतना ही कह सकता है कि क्या है, लेकिन 'क्या होना चाहिए' या क्यों होना चाहिए यह निश्चित करने का काम उसका नहीं है। वैज्ञानिक अत्यंत नम्र है, वह अपने किसी शोध और ज्ञान को 'अंतिम सत्य' नहीं कहता है स्वयं वह अपनी अपूर्णता को स्वीकार करता है वह निःस्वार्थी होता है, उसका अपना कुछ नहीं है, लेकिन ये गुण उसकी प्रवृत्ति का 'अंश' नहीं हैं 'प्रेरक' मात्र हैं। इसीलिए इन गुणों के बावजूद वैज्ञानिक यह नहीं निश्चित कर सकता कि समाज कैसा हो। यह काम 'वैज्ञानिक' से परे 'मनुष्य' का है। अतः सामाजिक नीति या व्यवहार का निर्धारण करते समय विज्ञान के 'तथ्यों' और जीवन के 'मूल्यों' का सही विवेक कर लेना होगा। यह विवेक करने में भूल हुई तो मूल्यों का स्थान तथ्य ले लेंगे और समाज खोखला बनेगा और अवनति की ओर बढ़ने लगेगा। चूँकि लोकतंत्र का आधार जीवन-मूल्यों पर है इसलिए लोकतंत्र में विज्ञान का स्थान निर्धारित करना एक बहुत काम है।

विज्ञान का शिक्षण देनेवालों का ही यह काम है कि विद्यार्थियों में तथा समूचे समाज में यह विवेकशक्ति जागृत करें ताकि वैज्ञानिक दृष्टि के साथ जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा का समन्वय साधा जा सके, कम से कम इन दोनों में विरोध मानने की भूल कोई न करे। विज्ञान के शिक्षकों को कभी 'मानवता' नहीं भूलनी चाहिए। वैज्ञानिक की तरह वह सोचे जरूर, पर जीये 'मानव' बन कर ही। एक कदम आगे जा कर हम यह कहना चाहेंगे कि हम 'अवैज्ञानिक मानवों' को बरदाश्त कर सकेंगे, बजाय ऐसे वैज्ञानिकों के जो मानवता रहित हों। अन्तिम बात यह है कि कला, संस्कृति आदि से विज्ञान को हमें अलग नहीं रखना चाहिए। ये सब मानव के विभिन्न अंग हैं और किसी एक के कम होने से मानव पूर्ण नहीं कहलायेगा, पंगु ही रहेगा।

छठा मुद्दा : कल्याणकारी राज्य

कल्याणकारी राज्य की कल्पना आज करीब-करीब सर्वमान्य है। संसार भर के सभी देशों में उसी दिशा में काम होने लगा है और सभी राजनैतिक पक्ष एक न एक प्रकार से कल्याणकारी राज्य की मूल कल्पना को मान्य करके चलते हैं। इस लिए यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य की बात स्थायी हो चली है। लेकिन आज कल कल्याणकारी राज्य का जो रूप हम देख रहे हैं वह मूल कल्पना से बहुत दूर है, इस सम्बन्ध में बहुत लिखने की आवश्यकता नहीं है। कल्याणकारी राज्य के नाम पर जब नागरिक को सरकार की ओर से जीवन के लिए आवश्यक सभी बातों की सेवाएँ अपने-

शेष पृष्ठ २८६

इंगलैण्ड में शिक्षा का स्वरूप

श्री रामभूषण

आज शिक्षा की चर्चा सर्वत्र जोरो पर है। दुनियाँ के उन देशों में जिन का विकास अभी तक बहुत शिथिल रहा है, विकसित ढंग की शिक्षा की चर्चा और उसका प्रचलन तो स्वाभाविक ही है, औद्योगिक और तकनीकी दृष्टि से विकसित पश्चिम के देशो में भी शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि विज्ञान ने मनुष्य को अपना जीवन-मान ऊँचा उठाने में अभूतपूर्व सहायता दी है। दूसरा यह है कि ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो में बहुत तेजी से वृद्धि होती जा रही है। शिक्षा इन दोनो ही के परिणाम से अछूती बच भी कैसे सकती है ?

पाश्चात्य देशो में भारत के गौरव की वृद्धि करने वाले स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—"शिक्षा, शिक्षा, केवल शिक्षा ! यूरोप के अनेक नगरो का भ्रमण करते समय वहाँ के गरीबों के भी आराम और शिक्षा का जब मैंने निरीक्षण किया तो उससे अपने देश के गरीबो की स्थिति की याद जाग उठी और मेरी आँखो से आँसू गिर पडे। इस अंतर का कारण क्या है ? उत्तर मिला 'शिक्षा–शिक्षा' के द्वारा उन में आत्म विश्वास जागृत हुआ जो सभी प्रकार के विकास की आधारशिला है।"

यूरोप के देशो में इंग्लैण्ड का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी है। इंग्लैण्ड भी महान् विचारकों, कलाकारो, वैज्ञानिको, राजपुरुषो और शासकों की जन्मभूमि रहा है। आज भी उस देश को गर्व की अनुभूति करने के लिए अनेक कारण है। अपने प्रचलित अर्थों और रूपों में तो वह जनतंत्र का जन्मदाता देश कहा जाता है। ऐसे देश में सार्वजनिक शिक्षा का जो स्वरूप है उसके सम्बन्ध में जानकारी उपादेय भी है और रोचक भी।

इसके पूर्व कि इंग्लैण्ड में बच्चो, युवको और प्रौढ़ों की शिक्षा का जो स्वरूप है उसका चित्र प्रस्तुत किया जाय, यह जान लेना उपयोगी होगा कि वहाँ शिक्षा प्रदान करने का संगठन और ढाचा क्या है।

इंग्लैण्ड में बच्चो और युवकों की शिक्षा की जो भी सुविधाएँ है उनकी भूतकाल में कभी कोई राष्ट्रीय प्रणाली नही रही है। १९४४ के शिक्षा-ऐक्ट के पहले राष्ट्रीय स्तर पर किसी प्रणाली की योजना भी कभी नही बनी थी। उससे पहिले तो विभिन्न प्रणालियों से और एक-दूसरे से असंबद्ध रूप में ही शिक्षा चलती थी।

१८७० में जो प्रारंभिक शिक्षा शुरू की गयी थी उसका उद्देश्य था देश के नौजवान से हो रहे औद्योगिक विकास के लिए पढे-लिखे लोग तैयार करना और साथ ही जब उन्हें वोट देने का अधिकार मिल जाय तो वे अच्छे नागरिक की तरह सोच-समझ और व्यवहार कर सकें। लेकिन तकनीकी विज्ञान के विकास के साथ औद्योगिक उन्नति भी होती जा रही थी जिसके लिए केवल प्रारंभिक शिक्षा ही पर्याप्त न होती। इस आवश्यकता की पूर्ति की गयी १९ वी शताब्दी के आखिरी दशक में "हायर एलिमेण्टरी" या "हायर ग्रेड स्कूल्स" और 'टेक्निकल डे एण्ड ईवनिंग स्कूल्स' की स्थापना करके। १९०५ के "एज्यूकेशन ऐक्ट" के अनुसार जब "सेकेण्डरी स्कूल्स" का खर्च जनता वहन करने लगी उस समय तक भी विभिन्न प्रकारो और स्तरों के स्कूलों को किसी एक निश्चित प्रणाली में संगठित करने का प्रयास नहीं किया गया था।

संगठन का सिद्धान्त

जनतंत्र में शिक्षा को किस प्रकार सङठित किया जाय इस सम्बन्ध में इग्लैण्ड की कुछ खास देन है जिसे उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट किया जा सकेगा। १९२७ में *शिक्षा बोर्ड के प्रेसिडेन्ट ने किसी देशभक्त सस्था की इस* सिफारिश को कि स्कूलो म देश भक्ति की व्यवस्थित शिक्षा-पाठ्यक्रम का अग बना दिया जाय, निम्नांकित आधारो पर ठुकरा दिया 'सरकार चाहे वह स्थानीय हो या केंद्रीय, शिक्षको को शिक्षा का तरीका सिखाने लगे या उन पर इन मामलों में कोई असर ही डालने लगे तो उन तमाम बुराइयों के पैदा हो जाने का खतरा है जो बीते जमानों में हमने प्रशा म देखा है और आज रूस में देख रहे है।" कुछ वर्षों बाद ररल बोयस—अब लार्ड मोलबरी—ने भी जब वह बोर्ड आव एज्युकेशन के पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी थ उसी सिद्धात पर निम्न शब्दों म बल दिया "चूंकि मै व्यक्ति के विकास पर पूरा जोर देता हूं इसीलिए मैं शिक्षा को राज्य के अधीन बनाने म खतरा देखता हूं। यदि हम एक ही तरह की चीजें चाहते है एक ही स्तर चाहते है और यह चाहते है कि लोग समान रूप स आज्ञाकारी बन जाय तब तो हमें या तो कुछ थोडे से लोगो के शासन या फिर अधिनायकशाही को काम करनी पडेगी। शिक्षा सबधी स्वतन्त्रता में तो यह बात शामिल ही है कि हम गलतियां करके भी प्रयोग करते रहें और आगे बढते रहें।' इस प्रकार हम देखत है कि इग्लैण्ड की शिक्षा पद्धति के विकास म डमोक्रेसी का कितना बडा हाथ है और वहा के लोग इस चीज की कितनी इज्जत करते है।

दूसरे महायुद्ध की शुरुआत के मौके पर लोगा ने बोर्ड आव एज्युकेशन के एक दूसरे पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी मि० च्यूटर ईड से यह सिफारिश की कि वह एक सर्क्यूलर जारी कर दें जिसके अनुसार व स्थानीय अधिकारो शिक्षकों की आजादी के सबध में बताने और उस पर सीख देने की हिदायत कर दें। इस पर उस पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी ने जवाब दिया 'यह चीज सीधे शिक्षक से ही सबध रखती है और वे लोग इस चीज को जितना महत्व देना चाहिए, देंगे। मै समझता हूं बोर्ड जितना महत्व इस चीज को देगा उससे कम वह दे भी नहीं रहे हैं।" स्वतत्रता से सबध रखनेवाली एक खास किताब को स्कूलों में चालू कराने की सिफारिश जब मि० ईड से की गयी तो उन्होंने कहा, "बोर्ड का यह काम नहीं है कि किसी खास किताब के लिए कहता रहे—इस चीज के सबध में स्थानीय अधिकारियो को हम पूरी-पूरी स्वतत्रता देते हैं।" दूसरी तरफ तरीका यह है कि स्थानीय अधिकारी स्वय अपने नियत्रण में रहनेवाले स्कूलों में शिक्षण का तरीका, विषय आदि सुझाने के चक्कर म नही पडते, न वे इसे जरूरी ही समझते हैं। इस प्रकार स्वतत्रता को शिक्षा सबधी सगठन और शासन का आधार बना दिया गया और ऐसा करने से स्थानीय परिस्थितियो का अधिकाधिक ध्यान भी रखा जाना सभव हो गया। १९१८ का शिक्षा-ऐक्ट या फिशर ऐक्ट शिक्षा के क्षेत्र में एक कदम और आगे का था, और इस ऐक्ट न और आगे बढने की जिम्मेदारी स्थानीय अधिकारियों पर अधिकाधिक डाल दी।

महायुद्धों के बीच के साल

यहा यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि १९१८ के ऐक्ट में सभी स्थानीय अधिकारियो को सेकेण्डरी शिक्षा देने का अधिकार दिया गया और इस तरह एलिमेण्टरी और सेकेण्डरी शिक्षा का दोहरा क्रम चलता रहा। १९२६ में एक विशेष कमेटी ने, जिसके चेयरमैन सर हेनरी हैडो थे, नवयुवकों की शिक्षा के सबध में, वे नवयुवक जो ११-१४ वर्ष की उम्र के बीच पढते थे, यह सिफारिश की कि उनके एलिमेण्टरी स्कूल के अंतिम तीन साल 'सीनियर स्कूल' के अतर्गत समझे जाय और उन्हें दी जानेवाली शिक्षा 'जूनियर सेकेण्डरी एज्युकेशन' नाम से सम्बोधित हो। लेकिन व एलिमेण्टरी स्कूलो के नियमों के अतर्गत ही काम करें। *१९३६ में कम्पलसरी* स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चो की उम्र की सीमा १५ वर्ष तक बढा दी गयी। एज्युकेशन ऐक्ट की धाराए १९३९ में कायरूप में बदलती लेकिन महायुद्ध की शुरुवात ने यह काम होने नही दिया।

महायुद्धो के बीच का समय वास्तव में तैयारी का समय था जिसमें शिक्षा-सबधी छोटी-बडी सुविधाओ को

मिला कर एक पूर्ण राष्ट्रीय योजना को आकार दिया जाता। लड़ाई की शुरुआत ने इस संगठन के कार्य में और तेजी ला दी। उद्योग-धंधों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ी। इस आवश्यकता की संतोषजनक रूप में पूर्ति सरल न रह सकी।

१९४४ का एज्युकेशन-ऐक्ट

महायुद्ध की समाप्ति के बाद शिक्षा के पुनर्गठन की आवश्यकता बड़ी तीव्र हो गयी ताकि सारे राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती। जिन सिद्धांतों पर शिक्षा का पुनर्गठन होता उनमें से एक तो इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री डिजरायली के इन शब्दों में समाहित था। "इस देश के लोगों की शिक्षा पर ही इस देश का भाग्य निर्भर करता है।" दूसरा सिद्धांत इन शब्दों से प्रभावित था कि राष्ट्र के युवकों में ही राष्ट्र का सबसे बड़ा हित छिपा हुआ है। ऐक्ट के अन्तर्गत शिक्षा-बोर्ड के प्रेसिडेन्ट को इंग्लैंड और वेल्स के शिक्षा सम्बन्धी मामलों की निगरानी की जिम्मेदारी दी गयी। ऐक्ट के पहले ही भाग में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया गया वह था केन्द्रीय और स्थानीय अधिकारियों के सम्बन्धों में परिवर्तन। अब तक जो संगठन बोर्ड के रूप में चला आ रहा था वह मिनिस्ट्री आव एजुकेशन हो गया जो एक मिनिस्टर के अन्तर्गत रहने लगा। वह मिनिस्टर ज्यादातर कैबिनेट का ही एक सदस्य रहता। मिनिस्टर को वह ड्यूटी भी दी गयी जो बोर्ड के प्रेसिडेण्ट की नहीं थी, मानी इंग्लैण्ड और वेल्स की शिक्षा का विकास और साथ ही इस कार्य में जो संस्थाएं लगी हैं उनका भी उत्तरोत्तर विकास करना, और यह भी देखना कि उनके अन्तर्गत जो स्थानीय अधिकारी हैं वह प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा संबंधी सुझावों को घोषित राष्ट्रीय नीति के ही अनुरूप कार्यान्वित कर रहे हैं।

१९४४ के एज्युकेशन ऐक्ट के अनुसार एज्युकेशन मिनिस्ट्री भी बढ़ गयी। यहां तक कि वह बड़ी से बड़ी मिनिस्ट्रियों में से एक हो गयी। मिनिस्टर कैबिनेट का ही सदस्य होने लगा। उसकी सहायता के लिए पार्लियामेण्ट में एक पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी रहने लगा जो पार्लियामेण्ट का ही सदस्य होता। मिनिस्ट्री में स्थानीय सिविल सर्वेण्ट रहते जिनके लिए एक स्थायी सेक्रेटरी रहता जो शासन के सभी पहलुओं के लिए जिम्मेदार रहता। स्थानीय शिक्षा के क्षेत्र में 'हर मंजेस्टीज़ इन्स्पेक्टर्स, काम देखने लगे जो इन्स्पेक्शन करते और स्कूलों की क्षमता आदि के संबंध में रिपोर्ट देते, और शार्ट कोर्स में सम्मिलित होने के लिए आने पर उन्हें ठीक सलाह भी देते। इन्स्पेक्टर लोग मिनिस्ट्री, स्थानीय शिक्षा तथा शिक्षा-नीति से संबंधित दूसरी संस्थाओं के बीच एक प्रकार से संबंध स्थापित करने का काम करने लगे।

स्थानीय प्रशासन

शिक्षा के स्थानीय प्रशासन की जिम्मेदारी काउण्टियों और काउण्टी बरो—नगर, जिनकी जनसंख्या ५०००० से कम न हो—की काउन्सिलों पर हो गयी। ये काउन्सिलें लोकल एज्युकेशन अथारिटीज (एल० ई० ए०) कही जाती हैं। जन-शिक्षण की प्रणाली संगठित करने की जिम्मेदारी स्थानीय शिक्षा के अधिकारियों (लोकल एज्युकेशन अथारिटीज) पर डा गयी। जनता के लिए एलिमेण्टरी स्कूल और थोड़े से लोगों के लिए सेकेण्डरी स्कूलों की जो दोहरी प्रणाली थी उसकी जगह एक व्यवस्थित ढंग बना दिया गया जो इन शब्दों में स्पष्ट होता है—"जनता का शिक्षण तीन उत्तरोत्तर विकसित ढंगों में संगठित होगा जो प्रायमरी एज्युकेशन, सेकेण्डरी एज्युकेशन और उसके आगे का शिक्षण—इन नामों से जाने जायेंगे और लोकल एज्युकेशन अथारिटीज का, जहां तक उनकी अधिकार-सीमा होगी, यह कर्तव्य होगा कि उस क्षेत्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन तीनों तरह के स्तरों पर लोगों को अच्छी शिक्षा दी जाय ताकि लोगों का आध्यात्मिक, नैतिक और शारीरिक विकास हो सके।"

इसलिए स्थानीय अधिकारियों का यह भी कर्तव्य है कि वह प्राइमरी व सेकेण्डरी स्कूल पर्याप्त संख्या में बढ़ायें ताकि शिक्षार्थियों को विविध प्रकार की शिक्षा उपलब्ध हो और उन्हें वह व्यावहारिक शिक्षा भी मिले जो उनके विकास में उपयोगी हो सके। शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का हीनतावाले बच्चों के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व स्थानीय अधिकारियों को दिया गया।

स्थानीय शिक्षण अधिकारियों के अधिकार के अन्तर्गत यह भी आता है कि वे प्राइमरी और सेकेण्डरी स्कूलों की स्थापना करें और उन स्कूलों की देखभाल करें जो किसी अन्य माध्यम से स्थापित हुए हों। साथ ही, मिनिस्टर की स्वीकृति से इन दूसरे प्रकार के स्कूलों को वे आवश्यक मदद करते रहें।

स्वतन्त्र स्कूल और धार्मिक शिक्षा

एज्युकेशन-ऐक्ट में तीन प्रकार के स्वतन्त्र स्कूलों को स्थान दिया है : एक, ऐसे स्कूल जिनके मैनेजर स्कूल को स्टैण्डर्ड तक लाने के लिए लगनेवाले खर्च का आधा न दे सकते हों या स्कूल तथा खेल के मैदान की मरम्मत आदि में जो खर्च लगता हो उसका भी आधा न दे सकते हों। ऐसी दशा में स्थानीय शिक्षा-अधिकारी स्कूल के रद्दोबदल का, मरम्मत का, देखभाल का खर्च उठा लेते हैं। ऐसी दशा में वह मैनेजरों और शिक्षकों का २।३ नियुक्त कर सकते हैं लेकिन यह खयाल रखते हैं कि शिक्षकों के १।२ 'रिज़र्व टीचर' रहने दें। दो, सहायता प्राप्त स्कूल वे हैं जिनके मैनेजर रद्दोबदल और मरम्मत का आधा खर्च उठा सकते हैं और शेष आधा स्थानीय शिक्षण अधिकारी देते हैं। ऐसी दशा में स्थानीय अधिकारी मैनेजरों में से १।३ की नियुक्ति करते हैं। तीन, विशेष प्रकार के समझौतेवाले स्कूल (स्पेशल एग्रिमेण्ट स्कूल्स) वे हैं जिन्हें १९३६ के एक्ट के अन्तर्गत ५० से लेकर ७५ प्रतिशत तक कैपिटल ग्राण्ट इमारतों के लिए दी गयी थी। उस समय यह आशा थी कि इस सहायता से अनिवार्य उपस्थिति १५ वर्षों की उम्र तक बढ़ायी जा सकेगी।

काउण्टी स्कूलों में धार्मिक शिक्षा का जो रूप रखा गया है कि उसके अनुसार एक निश्चित सिलेबस पर आधारित यह शिक्षा दी तो जाय, लेकिन उस शिक्षा को देने के लिए न तो शिक्षकों को मजबूर किया जाय न विद्यार्थियों को, और यदि अभिभावक चाहें तो अपने बच्चों को उस शिक्षा से हटा भी सकते हैं।

विकास-योजनाएँ

प्राइमरी और सेकेण्डरी शिक्षा के संगठन के लिए स्थानीय अधिकारियों से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वे अपने-अपने क्षेत्रों की आवश्यकताओं का सर्वे करके उनके विकास की योजनाएँ भी तैयार कर लें। आवश्यकताओं का सर्वेक्षण करते समय वे काउण्टी और स्वतन्त्र स्कूलों की मौजूदा संख्या, नये स्कूलों की आवश्यकता, मौजूदा स्कूलों को स्टैण्डर्ड तक लाने के लिए आवश्यक कार्य—स्कूलों में लड़कों के रहने आदि की व्यवस्था, यदि आवश्यक हो तो कुछ विशेष प्रकार के स्कूल खोलने के सम्बन्ध में सुझाव और विद्यालयों में विद्यार्थियों की भर्ती आदि—इन सभी बातों का ध्यान रखें। विकास की कोई भी योजना मिनिस्टर तक जाने से पहिले यह आवश्यक है कि शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रकार के लोगों से—स्थानीय संस्थाएँ, सेकेण्डरी स्कूलों के गवर्नर, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज—आवश्यक विचार विमर्श हो जाय।

सहायक सेवाएँ

दुनिया के और किसी देश में शायद बच्चों के शारीरिक स्वास्थ्य को शिक्षा में उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है जितना इंग्लैण्ड में। १९०७ में ही बच्चों की शारीरिक जाँच की व्यवस्था कर दी गयी थी, चिकित्सा की व्यवस्था बाद में की गयी। १९४४ के एज्युकेशन-ऐक्ट के अनुसार तो स्थानीय अधिकारियों की यह ड्यूटी है कि अपने स्कूलों के सभी बच्चों की शारीरिक जाँच और चिकित्सा की वे व्यवस्था करें। अलग अलग स्तरों पर अलग-अलग प्रकार की शारीरिक जाँच की जाती है।

जहाँ तक बच्चों को नाश्ता और भोजन देने का सम्बन्ध है, १९०६ से ही मील्स-ऐक्ट के अनुसार एलिमेण्टरी स्कूल के जरूरतमन्द लड़कों के लिए इन चीजों की व्यवस्था करने का नियम है। लड़ाई के जमाने में तो इस व्यवस्था का और भी विकास हुआ और यह व्यवस्था इतनी उपयोगी मानी गयी कि ऐक्ट ने स्थानीय अधिकारियों की यह ड्यूटी बना दी कि अपने अन्तर्गत स्कूलों में वह दूध, भोजन, तथा जलपान का प्रबन्ध करें। लड़कों के माँ बाप या अभिभावकों से उतना ही चार्ज लिया जाता है जो भोजन पर पड़ता है लेकिन यह उम्मीद की जाती है कि जैसे ही इस व्यवस्था की कोई राष्ट्रीय सेवा योजना हो जायगी, बच्चों को मिलनेवाला भोजन मुफ्त कर दिया जा सकेगा। स्थानीय

शिक्षण-अधिकारी उस समय बच्चे को जूता और कपड़ा दे सकते हैं जो इनके अभाव में, दी गयी शिक्षा का लाभ उठा सकने में अपने को असमर्थ पाता हो। लेकिन ऐसी दशा में अपनी इन्कम्-स्केल के अनुसार माँ-बाप को खर्च का कुछ हिस्सा उठाना पड़ेगा।

स्थानीय अधिकारियों की यह भी एक ड्यूटी है कि प्राइमरी, सेकेण्डरी और इसके आगे की शिक्षा में मनोरंजन और सामाजिक तथा शारीरिक शिक्षा की पूरी-पूरी सुविधा प्रदान की जाय। इन कार्यों के लिए व मिनिस्टर की स्वीकृति से कैम्प, छुट्टियों के क्लास, खेल का मैदान खेलने के ऐसे स्थान जिनमें तैराकी-टैंक आदि भी शामिल हों—इन सभी चीजों की व्यवस्था कर सकते हैं। कम्यूनिटी की सामाजिक चेतना और लोगों की शारीरिक क्षमता बढ़ाने के उद्देश्य से कम्यूनिटी सेंटर स्थापित किये जा सकते हैं। युवक-विकास-सेवाएँ भी बहुत महत्वपूर्ण चीज समझी जाती हैं और इस काम में मिनिस्ट्री, स्थानीय शिक्षा-अधिकारी तथा स्वतन्त्र संस्थाएँ सभी एक-दूसरे से सहयोग करके काम करती हैं। ये युवक-विकास-सेवाएँ पहले महायुद्ध के समय की 'जुवेनाइल आर्गनाइजेशन कमेटी' से ही निकली हुई चीज हैं जिसे १९१९ में बोर्ड को ट्रान्सफर कर दिया गया।

शिक्षा के संबंध में होनेवाला व्यय

इग्लैण्ड में शिक्षा पर जो खर्च होता है उसे केंद्रीय शासन और स्थानीय शिक्षा-अधिकारी मिल कर वहन करते हैं। १९४४ तक तो यह खर्च करीब करीब बराबर उठाया जा रहा था लेकिन इसके बाद सरकार के जिम्मे पाँच प्रतिशत खर्च और बढ़ा दिया गया। इतना करने पर भी स्थानीय अधिकारियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता।

शिक्षा-मन्त्रालय, जिसे पार्ल्यामेण्ट के जरिये पैसा मिलता है, खर्च का ६४ प्रतिशत उठाता है। केंद्रीय शासन खर्च का अधिक हिस्सा उठाता है, लेकिन इस नीति को जरा शंका की ही दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि ऐसा न हो कि केंद्रीय शासन शिक्षा के संबंध में पूरा डिक्टेट ही करने लगे।

प्राइवेट स्कूल

इग्लैण्ड में 'प्राइवेट' या 'इण्डिपेण्डेण्ट' स्कूलों की भरमार है। इन स्कूलों में नर्सरी तथा किण्डरगार्टेन स्कूलों से लेकर प्रसिद्ध पब्लिक स्कूलों तक, सभी हैं। ये स्कूल किसी सेंट्रल या स्थानीय शिक्षा अधिकारियों (लोकल एज्युकेशन अथारिटीज) के अंतर्गत नहीं हैं, हाँ, छोटे बच्चों को शिक्षा प्रदान करनेवाले ये स्कूल यदि स्वयं चाहें तो एलिमेण्टरी स्कूलों के विषय पढ़ाने की उन की योग्यता की जाँच हो सकती है। इण्डिपेण्डेण्ट स्कूल शिक्षा-मन्त्रालय से यह सिफारिश कर सकते हैं कि वह उनकी जाँच करा ले। इस प्रकार कई प्रसिद्ध स्कूलों की जाँच हो भी चुकी है। इतना जरूर है कि कोई भी ऐसा स्कूल तब तक आर्थिक सहायता (ग्रांट) नहीं पायेगा जब तक वह सेकेण्डरी स्कूल न हो, अपने कुल विद्यार्थियों के २५ प्रतिशत को निःशुल्क स्थान न देता हो या नियमित रूप से उसका इन्स्पेक्शन न होता हो। जिन स्कूलों के चलाने के पीछे किसी व्यक्तिगत लाभ आदि की भावना नहीं रहती उन्हें 'डायरेक्ट ग्राण्ट स्कूल्स' कहते हैं। निःशुल्क स्थान प्राप्त करने के लिए चूँकि यह शर्त है कि लड़के ने कम से कम दो वर्ष किसी एलिमेण्टरी स्कूल में बिताया हो, इसलिए 'डायरेक्ट ग्राण्ट स्कूल' पब्लिक स्कूलों से एक तरह से जुड़ ही रहते हैं।

प्रमुख शिक्षा-अधिकारी

स्थानीय शिक्षा-अधिकारियों की अब यह ड्यूटी मानी जाती है कि वे किसी योग्य आदमी को चीफ एज्युकेशन अफसर नियुक्त करें। शिक्षा का यह चीफ अफसर शासन के काम-काज (बिजिनेसवाले) पहलू के लिए जिम्मेदार रहता है, जिस में धन, इमारतें, साज-सामान, सेवा-योजनाएँ और इसी तरह की चीजें शामिल रहती हैं। यह भी जरूरी है कि यह चीफ अफसर शिक्षा के क्षेत्र में लीडर या अगुआ हो—साधारण जनता और अपने नीचे काम करने वाले, शिक्षा में लगे लोग, दोनों का। इस संबंध में एक खास बात यह भी है कि ज्यादातर लोग, 'डायरेक्टर आव एज्युकेशन' की जगह 'चीफ एज्युकेशन अफसर' ही पसंद करने लगे हैं। वैसे अभी तक डायरेक्टर शब्द ही ज्यादा प्रचलित रहा है। दूसरे सरकारी अधिकारियों की तरह स्कूल प्रशासक से भी अपने तमाम स्थानीय इंस्पेक्टरों, संगठकों और लोक-कल्याण-अधिकारियों आदि के सम्बन्ध में यही उम्मीद

रखी जाती है कि यह लोगो को डायरेक्शन देने के बजाय उन्हें सुझाव या सलाह देकर ही काम करेगा।

शिक्षा का राजमार्ग

इंग्लैण्ड में शिक्षा की उत्तरोत्तर विकसित सीढ़ियाँ हैं जिन्हें पारकर शिक्षा के राजमार्ग पर कोई भी चल सकता है। शिक्षा के मार्ग में दो बडी बाधाएँ दूर कर दी गयी है, माता पिता या अभिभावक की आर्थिक असमर्थता बच्चे के 'क्याडखाने से लेकर विश्वविद्यालय तक' होनेवाले शिक्षण में आज बाधक नही हैं, दो वर्ष की उम्र से पाच वर्ष की उम्र तक बच्चा नर्सरी क्लास या नर्सरी स्कूल जा सकता है। स्कूल की अनिवार्य हाजिरी पाच वर्ष की उम्र से शुरु होती है और १ अप्रैल १९४७ से यो १५ वर्ष की उम्र तक जाती है। बच्चे के लिए आज यह जरूरी नही है कि वह किसी पब्लिक स्कूल म ही भर्ती हो, क्यो कि कानून अब केवल यही कहता है कि कम्पलसरी स्कूल एज (स्कूल जाने की अनिवार्य उम्र) वाले प्रत्येक बच्चे के मां-बाप का यह कर्तव्य है कि बच्चे को अच्छी, पूरे समय की ऐसी शिक्षा दिलायें जो बच्चे की उम्र, उसकी योग्यता और उसके मानसिक झुकाव के अनुरूप हो, चाहे बच्चा स्कूल म रख कर पढ़ाया जाय चाहे कोई दूसरा ही प्रबंध हो।

अपनी पाच वर्ष की उम्र म बच्चा जब प्राइमरी में पढ़ना शुरू करता है तो पाच वर्ष की उम्र से सात वर्ष की उम्र तक वह इन्फैण्ट स्कूल म पढ़ता है और सात से ग्यारह वर्ष तक 'जूनियर स्कूल' में। ग्यारह से पद्रह वर्ष तक की उम्र की सेकेण्डरी एज्युकेशन में लगानी पड़ती है जो तीन प्रकार के स्कूलों-ग्रामर या एकेडेमिक, माडर्न या जेनरल और टेक्निकल-में दी जाती है। कोई लड़का या लड़की किस प्रकार के स्कूल में भेजी जायगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसका पहिले का स्कूल रेकार्ड कैसा रहा है और उसकी योग्यता और मानसिक झुकाव की जांच के हेतु लिये गये टेस्ट में कैसा उतरता है।

अनिवार्य शिक्षा के चार दीर्घ वर्ष पूरे करने के बाद कोई लड़का या लड़की दो ढाई वर्ष तक और पढ़ सकता है और तब वह विश्व विद्यालय में प्रवेश पाने योग्य हो जाता है। स्थानीय या राज्यद्वारा प्रदान की हुई स्कालरशिपो की मदद से अब विश्व विद्यालय की शिक्षा इंग्लैण्ड के निवासियो के लिए काफी सरल हो गयी है।

जहा तक प्रौढ़शिक्षा का सबध है, वह स्थानीय शिक्षा-अधिकारियो, विश्वविद्यालय और स्वतन्त्र रूप से काम करनेवाली कई सस्थाओ द्वारा प्रदान की जाती है। ऐसी सस्थाओ में, वर्कर्स एज्युकेशन एसोसियेशन सब से ख्याति प्राप्त है। ऐसे भी रेजिडेन्शल कालेज हैं जो एक सप्ताह या कई सप्ताह तक चलनेवाले कोर्स देते है। ऐसे कालेजो की सख्या तेजी से बढ़ रही है। स्कूलों में स्कूल ब्राडकास्टिंग सिस्टम और जनरल रेडियो प्रोग्राम भी चलाया जाता है।

इंग्लैण्ड म शिक्षा का जो ढाचा काम कर रहा है, थोड़े शब्दो में उसकी रूप-रेखा प्रस्तुत की जा चुकी, अब अगले अक में वहाँ बच्चो, युवक युवतियों तथा स्वय शिक्षको को प्रदान किये जानेवाले शिक्षण और ट्रेनिंग की विवेचना का हम प्रयास करेंगे।

[पृष्ठ २९९ का शेषांश]

सुनाती रहीं जब ये बहू थीं। की मां समझदार है, कुछ पढ़ना लिखना भी जानती है। बुढ़िया के जाने के बाद बहुओं ने अपनी शुरू की। क्या आता है, क्या नहीं आता, क्या सीखना चाहती हैं। एक ने पढ़ने की इच्छा प्रकट की, लेकिन चाहती हैं कि मैं उनके पति से कहूँ, लेकिन क्या कहूँ, यह वह इस समय बता न सकीं। मायका दूर है, पत्र लिखने की इच्छा होती है, इसलिए पढ़ने की आतुरता है।

विद्या
ग्रामभारती, दुबेपुर, सुल्तानपुर

★

विष्णु-स्तुति

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

श्लोक : शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्,
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्,
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अर्थ : संसार के भय का नाश करनेवाले, सब लोकों के एक मात्र स्वामी श्री विष्णु को मैं नमस्कार करता हूं। उनका आकार शान्त है, वे शेषनाग पर लेटे हैं, उनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है, वे सब देवों के स्वामी हैं, वे सारे विश्व के आधार हैं, वे आकाश की तरह अलिप्त हैं और उनका वर्ण मेघ की तरह श्याम है, वे कल्याणकारी गात्रवाले हैं, सब सम्पत्ति के स्वामी हैं, उनके नेत्र कमल के समान हैं, योगी उन्हें ध्यान द्वारा ही जान सकते हैं।

भावार्थ : सृष्टिकर्ता की जिस विभूति ने सारे सचराचर संसार के पालन-पोषण संवर्धन और संरक्षण का भार अपने कंधों पर उठा रखा है, हम अपने देश में उसे 'विष्णु' के नाम से पहचानते हैं। यह श्लोक उन्हीं विष्णु की वन्दना में कहा गया है। इसमें विष्णु के अलग-अलग गुणों का वर्णन है। उनके निजी वैभव का बखान है, उनके रूप-स्वरूप का सुन्दर और सरस विवेचन है। चूंकि विष्णु का पद पिता का पद है, इसलिए मानव-समाज में विष्णु की महिमा अधिक जानी-मानी गयी है। अपने देश में तो हमने विष्णु को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया है। विष्णु की पूजा, उपासना, आराधना, और उनके गुणों का भजन-कीर्तन हम अपने देश में हजारों सालों से करते चले आ रहे हैं। हमारे लोक-जीवन का अपना एक विशिष्ट दर्शन रहा है। उस दर्शन के कारण ही हम विष्णु के प्रति इतना अनुराग रखने लगे हैं। सारी सृष्टि का संचालन और नियमन करनेवाली जो परमशक्ति है उसी का एक अंश विष्णु की विभूति के रूप में हमारे बीच इतनी प्रतिष्ठा पा गया है। दूसरे दो अंश ब्रह्मा और शंकर के नाम से पूजे जाते हैं। वैसे, इन तीनों की समान प्रतिष्ठा है, फिर भी पालनकर्ता के नाते लोगों के दिलों में जो आत्मीयता, ममता और पूज्यभाव विष्णु के लिए है, वह अपने आप में एक निराली वस्तु है।

हमारे महान पूर्वजोंने सृष्टि के सारे गूढ़ तत्वों का गहन अध्ययन-अन्वेषण करके उनमें से मानव-समाज के नित्य-जीवन के लिए जिन तत्वों को बहुत हितकारी और श्रेयस्कर समझा उन्हें इस तरह अपना लिया कि वे मानव-स्वभाव के अंग से बन गये। इसी प्रकार उन्होंने सृष्टि के पालक तत्वों का भी पता लगाया और इन तत्वों की जिन विशेषताओं से वे प्रभावित तथा प्रेरित हुए उन तत्वों को उन्होंने अपनी कठिन साधना से अपने नित्य-व्यवहार का अंग बना लिया। इसी कारण वे निरंतर महानता की ओर बढ़ते चले गये और अपने

देश को जगद्गुरु बना पाये। इस श्लोक में हमें अपने पूर्वजों की इसी सर्वग्राही, सुभग दृष्टि का दर्शन होता है। उन्होंने अपनी गहरी सूझ-समझ के सहारे मनुष्य-समाज के शाश्वत मार्गदर्शन के लिए कुछ ऐसे अद्भुत और दिव्य भव्य प्रतीक खड़े किये कि जिनको सही-सही समझ पाना आज हमारे लिए बहुत ही कठिन हो गया है। इन प्रतीकों का निर्माण जीवन के बहुत गहरे अनुभवों के आधार पर हुआ था। उसका ऊँचा और सच्चा सीधा चिंतन इनके मूल में था किंतु बाद में परिस्थितियों के फेर से हमारी गिरावट के दिन आये और हम सब तरफ से इतने गिरे, इतने पीछे हटे और इतने दबे कि अपनी मूल वस्तु को पहचानने समझने और उसके मोल-महत्त्व को जानने की हमारी शक्ति बहुत ही क्षीण हो गयी। हम केवल अक्षरार्थ को पकड़ कर बैठे रहे। भावार्थ की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जा सका। यही कारण है कि आज देश में शिक्षा का इतना विस्तार होते हुए भी हमारा पढ़ा लिखा और अपढ़ नागरिक अपनी मूल पूजी के प्रति इतना असावधान और बेखबर बना हुआ है।

अब हम देखें कि यह विष्णु कौन है। इसका इतना महत्त्व क्यों है? मेरा निवेदन यह है कि हम में से हर एक एक एक विष्णु है। यदि यह कहा जाय कि हम ही हमारे ब्रह्मा हैं हमीं विष्णु और हमीं शंकर हैं तो शायद यह गलत नहीं होगा। एक समय था जब हम अपने देश में राजा को विष्णु का अवतार मानते थे और जिस दिन राजा के दर्शन कर पाते थे उस दिन को अपने सौभाग्य का दिन समझते थे। सैकड़ों सालों तक राजा हमारे बीच इस रूप में पूजा और प्रतिष्ठा का पात्र बना रहा। बाद में राजा ने अपना राज धर्म छोड़ा, वह भोग विलास में डूब गया और सेवा धर्म से हट कर अपनी प्रजा का पीड़क शोषक और भक्षक बन गया तो वह देखते देखते आम लोगों की निगाहों से गिर गया और उसकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गयी। प्रजा के मन में उसका कोई सम्मान नहीं रहा। प्रजा ने उसे अपना समर्थन देना बंद कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जिस दुनिया में सैकड़ों सालों तक राजा महाराजाओं के नाम और पद वैभव की धूम मची रही, आज वे अपना सारा पद वैभव खोकर *साधारण नागरिक की स्थिति में आ गये हैं।*

अब प्रश्न हुआ कि समाज का धारण-पोषण कौन करे। उत्तर यह मिला कि जिस नागरिक की सामूहिक सद्भावना के सहारे राजा खड़ा रहा था वह नागरिक अब खुद ही अपने सामूहिक बल पौरुष के भरोसे समाज का भरण-पोषण और रक्षण करने की जिम्मेदारी उठा ले। मतलब यह कि सदियों और पीढ़ियों की साधना के बाद राजा ने अपने जीवन में जिन सद्गुणों का विकास किया था उन सद्गुणों को अब साधारण नागरिक अपनी नित्य की उपासना-आराधना और साधना का विषय बनायें। तभी विष्णु के कर्तव्यों का पालन करने की जो जिम्मेदारी जमाने ने उन पर डाल दी है, उसे पूरा करने की बुद्धि, शक्ति और भावना भक्ति वे अपने में विकसित कर सकेंगे। आज का जमाना नागरिक को विष्णु बना कर काम करने का है।

आज के समाज में जो नागरिक, फिर वह पुरुष हो, चाहे स्त्री, विष्णु के धर्म का पालन करने की जिम्मेदारी लेगा, उसके जीवन में, नित्य के जीवन में वे सारे गुण प्रकट होने चाहिएँ जिन गुणों के सहारे सृष्टि का पालन-पोषण करनेवाली वैष्णवी शक्ति अपना काम लगातार करती चली आ रही है। जब तक आज नागरिक अपने इस नये दायित्व को समझकर उसे निबाहने के लिए शुद्ध बुद्ध भाव से प्रयत्न नहीं करेगा तब तक नागरिक के भरोसे चलनेवाली समाज-व्यवस्था और राज-व्यवस्था, जिसे आज हम लोकतंत्र जनतंत्र या गणतंत्र के नाम से पहचानते हैं और चलाने की कोशिश में लगे हैं पूरी सफलता के साथ और सम्पूर्ण यश-गौरव के साथ नहीं चल सकेगी। राजा के जमाने में जो शक्ति एक व्यक्ति में केंद्रित हो कर पड़ी थी लोकतंत्र के इस युग में अब उसे जन जन में प्रकट होना होगा, तभी जनतंत्र पक्की बुनियाद पर खड़ा हो कर अबाधित रूप से आगे बढ़ सकेगा।

प्रश्न यह है कि क्या आज का नागरिक अपने को विष्णु के रूप में देखना पसंद करेगा? क्या विष्णु

का-सा जीवन बिताने की उसकी आंतरिक तैयारी होगी ? यह तो हम में से हर एक को मान ही लेना होगा कि हमारा विष्णु हमारे अंदर ही है, बाहर कहीं नहीं। उसका क्षीर-सागर और उसकी शेष-शय्या भी हमारे ही अंदर है। इन्हें खोजने के लिए कहीं बाहर जाना जरूरी नहीं। तो अब हम यह देखें कि इस श्लोक में विष्णु के जिन गुणों का वर्णन है उन्हें हम अपने जीवन में जगह दे सकते हैं या नहीं और हम स्वयं अपने लिए छोटे-बड़े विष्णु बनकर जीने की तैयारी कर सकते हैं या नहीं ? इन प्रश्नों के सही उत्तर पर ही आज की दुनिया के और भारत के जन-तंत्र का भविष्य निर्भर करेगा।

श्लोककार कहता है कि जो नागरिक मानव-समाज में मुखिया बन कर बैठेगा, जो अपने घर-परिवार, गाँव, तहसील, जिला, प्रांत या देश के भरण-पोषण और रक्षण की जिम्मेदारी सभालेगा उसका पहला गुण यह होना चाहिए कि वह सदा शांत, स्वस्थ और प्रसन्न रहे; इतना शांत कि लोग उसे शांति का अवतार ही मानें। उसके जीवन के क्षण-क्षण में शांति मूर्तिमंत होनी चाहिए। अशांति के बड़े से बड़े निमित्त के रहते भी वह अपनी शांति को डिगने न दे, इसी में उसके विष्णुत्व की सार्थकता है। इसी लिए कहा है कि हजार मुहवाले शेषनाग की शय्या पर लेट कर भी विष्णु के चेहरे की शांति अटल रहनी चाहिए। अब यह हजार मुंहवाला साप या नाग कुदरत में तो कहीं दीखता नहीं। हम इसे प्रतीक मानें, संकेत मानें और उसीके आधार पर आगे बढ़ें तो काम चल सकता है। जब मनुष्यों के समाज में कोई छोटा या बड़ा मुखिया बन कर बैठता है, चाहे पांच प्राणियों के परिवार का ही मुखिया क्यों न हो, तो वह समूचा परिवार उस मुखिया के लिए शेषनाग बन जाता है। उसके फन सदा उठे रहते हैं और उसकी फुफकारें सदा छूटती रहती हैं। मुखिया के दोष देखना और उसके हर काम में अडंगे डालकर उसे त्रस्त करते रहना, यही आम तौर पर घर, परिवार, गाँव आदि के लोगों का बहुत पुराने समय से रवैया रहता रहा है। मनुष्य-समाज के मुखिया के लिए यही जीती-जागती शेष शय्या है। सब का जहर पचा कर, सबकी खरी-खोटी सुन कर भी जो अंदर से शांत, स्वस्थ बना रहता है वही अंत तक अपना मुखियापन कायम रख सकता है। हजार मुहवाला साप कुदरत ने तो नहीं बनाया, पर मनुष्यों के समाज ने अपने में उस साप के सारे गुण प्रकट करके अपने को ही शेषनाग बना लिया है। मुखिया की कोई चीज़ नहीं बचती, जिसकी टीका, कड़ी से कड़ी टीका, जहरीली से जहरीली टीका, समाज के लोग दिन-रात न करते हों। फिर भी मुखिया है कि सब का सारा जहर पचा कर वह सदा शांत-प्रसन्न बना रहता है और अपना अंगीकृत कार्य कुशलता के साथ करता चला जाता है। इसीलिए कहा है—शान्ताकारं भुजगशयनं। यह मुखिया का पहला गुण है।

भगवान ने साप को दो जीभें दी हैं। मनुष्य को एक ही जीभ मिली है, पर उससे वह दो तरह के काम लेता है: जब जी चाहता है, अमृत बरसाता है, और जब जी चाहता है, जहर उगलने लगता है। अभी जिस जीभ से स्तुति की थी, दूसरे ही क्षण, उसी जीभ से, निन्दा का स्रोत बहा देता है। कहते हैं, साप का काटा घड़ीभर बच भी जाय, पर मनुष्य की जीभ का काटा कभी बचता नहीं, उसका घाव इतना गहरा होता है कि जनम-जनम तक भरता नहीं। इसलिए मनुष्य-समाज के बीच बेचारा मुखिया तो जिंदा भून दिया जाता है। पर उसकी प्राणशक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह उस भारी आंच में से भी हेमखेम पार निकल आता है और अपना धर्म प्रसन्नता-पूर्वक पालता रहता है। इसी कारण मुखिया को 'पद्मनाभ' माना गया है। उसकी नाभि में से कमल प्रकट होता है। मतलब यह कि समाज का कीच और दलदल के बीच रह कर भी वह अपना मनुष्यता को सदा सुशोभित बनाये रखता है, जैसे कीच में कमल। कमल के सारे गुण मुखिया के जीवन में प्रकट होते हैं। वह निर्लेप, निर्विकार और निर्मल बन कर अपनी सुवास से, अपने सहज सौंदर्य से, अपनी सरसता और कोमलता से सब का मन हरता रहता है। मुखिया की यही विशेषता है। यही नागरिक का भूषण है।

आगे कहा है कि विष्णु अर्थात् मानव-समाज का मुखिया 'सुरेश' होता है। मतलब यह कि वह देवताओं का सरदार होता है जो स्वभाव से मस्त है, किसी के लेने देने में नहीं रहता, जो सद्गुणों का भण्डार है, दैवी संपदा से युक्त है, उसे हमने अपनी भाषा में सुर अथवा देवता कहा है। मनुष्य समाज के मुखिया में देवत्व का यह गुण इतना अधिक होता है कि वह सहज ही सब छोटे-छोटे देवों का सरदार बन जाता है। उसकी भलाई, सचाई, त्याग, सेवा, परोपकार, शील, संयम, सदाचार आदि की कोई सीमा नहीं रहती। भलाई में उसे कोई पा नहीं सकता। इसी लिए उसे सुरेश कहा है। जिस मुखिया में यह गुण होता है, वह अपने समाज में देवता की तरह पूजा जाता है। अपने अपने समय में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि ने इसी प्रकार की ईशता प्राप्त की थी। यही आज भी हमें साधारण नागरिक के नाते प्राप्त करनी होगी, तभी हम अपने लोक तंत्रको सुरक्षित रख सकेंगे और उसका उत्तम विकास कर सकेंगे।

विष्णु को हमारे यहाँ विश्व का आधार माना गया है। वह सब की चिंता रखता है। सबको सहारा देता है। जड़ चेतन सब उसके आसरे पलते-बढ़ते हैं। आज के नागरिक को भी अपने नित्य के जीवन में विश्वाधार बन कर बढ़ना होगा। उसे पानी, मिट्टी, हवा, पेड़, तने, पशु पक्षी, कृमि, कीट, साँप, बिच्छू, मनुष्य, अपने-पराये सब के प्रति समत्व रख कर, सब के योग क्षेम की चिंता करनी होगी। हमारे महापुरुषों ने अपने जीवन में इस विभूति का दर्शन हमें कराया है। गांधीजी को पत्ती, खेत की मिट्टी, कागज, पेन्सिल, कपड़ा, घासलेट, साँप, बिच्छू आदि सबकी इतनी चिंता रखते देखा है कि जिसकी कल्पना भी साधारण आदमी के बसकी बात नहीं। अपने इसी गुण के कारण गांधीजी सृष्टि के सब तत्वों के साथ इतने समरस हो पाये थे और मानवता की इतनी ऊँची सेवा कर सके थे। वे विश्व मानव बने और सारा विश्व, सारी दुनिया उनके परिवार में समा गयी इसका रहस्य यही था कि उन्होंने जीवन में समूची चराचर सृष्टि को सहारा देना सीखा था, उसके सुख दुख, हानि-लाभ को अपना सुख दुख, और हानि-लाभ समझा था। जब तक हमारा औसत नागरिक अपने में इस गुण का ठीक ठीक विकास नहीं करता, हमारा लोकतन्त्र पंगु और अपूर्ण ही रहेगा। हमें इस बारे में गहराई से सोचना होगा।

आगे कहते हैं, विष्णु 'गगनसदृश' होता है। मतलब यह कि उसकी ऊँचाई का कोई पार नहीं। उसकी निःसमता और निर्विकारिता की कोई सीमा नहीं। उसकी निष्ठा का कोई पैमाना नहीं। जैसे, आसमान सदा नीला बना रहता है, अपना रंग रूप, अपनी भूमिका, कभी नहीं छोड़ता, वैसे ही मुखिया नाम का प्राणी अपने जीवन में सदा एक निष्ठ होता है। वह गिरगिट की तरह रंग बदलनेवाला और दस घोड़ों पर सवारी करनेवाला नहीं होता। कभी लाल टोपी, कभी सफेद टोपी, कभी काली टोपी कभी केसरिया टोपी, इस तरह बार बार टोपियाँ बदल कर अपनी जीवन निष्ठा को बेचने का पाप वह कभी नहीं करता। अपने धर्म-कर्तव्य और रूप-स्वरूप के बारे में उसकी निष्ठा अटल होती है। वह जीवन में इतना ऊँचा उठ जाता है कि निन्दा-स्तुति का, मान अपमान का और हानि लाभ का उसे चल विचल करनेवाला कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। आसमान पर धूल फेंको, उसे गाली दो, उस पर थूको, वह अपना स्वरूप नहीं छोड़ता। ऐसी ऊँची भूमिका जिस के जीवन की है, वही मानव समाज का खरा मुखिया बन सकता है। इसी लिए हमारे लोगों ने उसे गगन सदृश कहा है। आज यह सिद्धि हम से दूर है, पर पुरुषार्थ करने से, तप तपने से, कल हम इसके निकट पहुँच सकते हैं। आज से पहले हमारे लोग इस तक पहुँचे हैं, आगे भी पहुँचेंगे। इसी के लिए तो हमारा जीवन है।

विष्णु के गुणों और लक्षणों में एक उस की मेघ वर्णता भी है। पानी से भरे बादलों का जो सुहावना, साँवला रूप होता है वही हम ने देश के ज्ञानवान मुखिया का माना है। इसी लिए हम उन्हें मेघश्याम, घनश्याम आदि नामों से भी जानते हैं। भारत के

जल-वायु का जिन्होंने गहरा अनुभव किया था, भारत के लोक-जीवन को जिन्होंने बहुत नजदीक से देखा-समझा था, वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि इस देश की मानवता का मुखियापन करनेवाले को अपने पसीने की रोटी खानी होगी और जीवन में कड़ी से कड़ी मेहनत करने का व्रत लेना होगा। खेत-खलिहान में धूप, बरसात, सर्दी सहनी होगी और तन-मन को हर संकट के लिए तैयार रखना होगा। मुखिया के हिस्से आराम कभी आयेगा नहीं। जिस तरह वैशाख जेठ की धरती पानी की प्यासी हो जाती है, उसी तरह संसार के विविध तापों से तपा मनुष्य भी प्यार-दुलार का प्यासा बन जाता है। मुखिया अपने जीवन के अनुभवों का अमृतघट लाकर संतप्त मानव के सामने उसका मुंह खोल देता है और हारा-थका मनुष्य उस घट के अमृत को चख कर जीवन में फिर से हरामरा हो जाता है। जो काम धरती के लिए पानी भरे बादल करते हैं वही काम मानवता के लिए मेघश्याम मनुष्य करता है। इसीलिए हमारे देश में साँवले रूप की इतनी महिमा है। मुखिया तो सांवला ही भला। मुखिया के साथी चाहे गोरे हों, पर मुखिया को तो सांवला ही रहना है। जैसे, राम के साथी लक्ष्मण, कृष्ण के बलराम। मतलब यह है कि जो समाज के कर्णधार बनेंगे, वे अपने जीवन में किसी प्रकार की भ्रष्टता, दुष्टता, और दुराचार को कभी प्रश्रय नहीं देंगे। वे अंत तक कठोर परिश्रम-पूर्वक जीने और स्वावलंबन सिद्ध करने की वृत्ति तथा साधनावाले होंगे।

फिर कहा है कि जो विष्णु है, मुखिया है, मनुष्य समाज का सेवक है, उसके अंग प्रत्यंग शुभ होंगे। वह शुभांग होगा यानी उसका सारा शरीर सुडौल और कसा गसा रहेगा। वह न तो दीन दुर्बल होगा, न कच्चा-पाचा होगा। परिश्रम ही उसके नित्य के जीवन का आधार रहेगा, इसलिए उसके शरीर में न तो कोई रोग होगा, न कोई दूषण होगा। उसका सुंदर-सुडौल शरीर सब की आंखों में बसा रहेगा। मुखिया के गुणों में इस गुण की अपनी विशेष महिमा है। आज अपने देश में हमने शरीर को सशक्त और सुडौल बनाने का विचार छोड़ दिया है, इसलिए हमारी सेवा शक्ति, पुरुषार्थ शक्ति और जीवन-शक्ति भी बहुत घट गयी है। यदि समाज का नेतृत्व करना है, तो हमें शरीर को खूब स्वस्थ और सशक्त रखना ही होगा। गांधीजी कहा करते थे कि सेवक का शरीर तो वज्र की भांति अटूट होना चाहिए। हनुमान में शरीर की यह शक्ति थी, इसीलिए वे सेवकों में शिरोमणि बने। आज जवाहरलाल लगातार ५० वर्षों से इस देश की और दुनिया की मानवता की सेवामें जुटे हुए हैं, पर उनका शरीर कभी थका नहीं। वे जितने सुन्दर हैं, उतने ही स्वस्थ, सुडौल और सशक्त भी हैं। मुखियापन के लिए इसकी खास जरूरत है।

जो मुखिया होगा, मानवता की सरदारी करेगा, उसे लक्ष्मी के स्वामी होना चाहिए। श्लोक में उसके लिए *लक्ष्मीकान्त* शब्द दिया है। आज तो हम लक्ष्मी शब्द का अर्थ रुपया, पैसा, सोना, चांदी हीरा, मोती आदि करते हैं। पर असल में यह लक्ष्मी नहीं है। हमने अपने देश में लक्ष्मी को सद्-गुणों के, सदाचार के रूप में जाना था। मनुष्य की सच्ची शोभा उसके सद्गुणों से होती है, रुपये-पैसे से नहीं। हमारा असल मुखिया सदा ही सद्गुणों का स्वामी रहा। वह दैवी संपदा की उपासना में लगा रहा। जिस के पास सद्गुणों की संपत्ति है, उसे धन-दौलत के पीछे भटकना नहीं पड़ता। माया तो उसका अनुसरण करती रहती है—रुपया-पैसा खरी लक्ष्मी नहीं, निरी माया है। इस माया से ऊपर उठकर जिस ने जीवन भर उत्तम गुणों का संचय सम्पादन किया, वही मनुष्यों में सरदार बन कर उत्तम सेवा कर सका। इसलिए विष्णु को लक्ष्मी का स्वामी माना गया है। जीवन के सही मूल्यों का ध्यान और भान न रहने से हमारे नित्य के जीवन में जो गिरावट आज आ गयी है उससे समाज को बचाना है तो लक्ष्मी के मूल अर्थ को पुनः अपना-कर उसे सिद्ध करने के पुरुषार्थ में हमें मन प्राण-पूर्वक लग जाना होगा।

कहते हैं, हमारा विष्णु कमल-नयन होता है। मतलब यह कि उसकी आखें निर्वैर होती हैं, निर्वि-

कार होती हैं, उन में किसी प्रकार की मलिनता नहीं होती। वे सदा हँसती रहती हैं। वे सदा सबका स्वागत करती रहती हैं। अपने पराये, शत्रु मित्र, ऊंच नीच, अमीर गरीब, आदि का कोई भेद वे नहीं जानतीं। जिस तरह कमल का कोष सब तरह के भौंरों के लिए सदा खुला रहता है, जब जिसका जी आये, रस पान करे और चला जाये, उसी तरह मुखिया के दिल का और घर का दरवाजा सदा सब के लिए खुला रहता है। वह सब को अपने जीवन का रस लुटाता है, सब को अपनी सुवास से मुग्ध करता रहता है। वह निर्लेप और नि.शंग होता है। दुनियादारी का कोई प्रभाव वह अपने ऊपर पड़ने नहीं देता। इस अर्थ में हमारा मुखिया कमल-नयन होता है। जब तक समाज में ऐसे कमलनयन मुखिया जगह जगह खड़े न होंगे, तब तक नये समाज का निर्माण हो ही नहीं सकेगा। अपना सारा पुरुषार्थ लगा कर इस देश के नागरिकों में हमको यह कमल नयनता उत्पन्न करनी होगी। तभी नागरिक उन्नत जीवन बिता सकेगा और अपनी सुवास चारों ओर फैला सकेगा।

यदि हमारे भाग्य से हमें अपने बीच जीने और काम करनेवाला ऐसा विष्णु यानी मुखिया मिल भी गया, तो प्रश्न यह है कि उसकी परख कौन कर सकेगा? उसके महत्व को कौन जाने-समझेगा? कौन उसका कद्र कर सकेगा? तो कहते हैं, योगी कर सकेगा। गीता में कहा है। 'योग कर्मसु कौशलम्'। कर्म-कुशलता ही योग है। घर में, गांव में, जहां-जहां ऐसे कर्म कुशल लोग होंगे, वहीं वे इस मुखिया को जान-समझ सकेंगे और इसकी कीमत कदर करके इसका अनुकरण करने की चिंता रखेंगे। कहते हैं कि गुणी ही गुणवान का कदर कर सकता है। आज हमारे समाज में गुण की कद्र करनेवालों का अभाव है इसलिए गुणियों का अभाव खड़ा हो गया है। ठाक ■ कहा है कि 'गुण न हेरानो गुण-गाहक हेरानो है।' जब समाज स्वयं गुण-सम्पन्न होगा, तो वह अपने गुणवानों के गुणों की कद्र करके उन से लाभ उठा सकेगा। गुलामी ने हमारी गुण ग्राहकता को बड़ा धक्का पहुँचाया है। इसी कारण हम गांधी जी की सही कदर नहीं कर सके। इसी कारण आज जवाहरलाल और विनोबा की कद्र करने में भी हम पिछड़ रहे हैं। हमारी गांठ में अपना कुछ गुण होता, तो हम इन गुणी पुरुषों के जीवन से बहुत कुछ पा सकते थे। अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। हम चाहें और प्रयत्न करें तो स्वयं गुणी बन कर देश के और दुनिया के गुणवानों की कीमत-कदर हम जरूर कर सकते हैं और इस प्रकार अपनी मानवता को उज्ज्वल तथा प्रखर बना सकते हैं।

श्लोक के अंत में विष्णु को भवभयहर और सर्व लोकैकनाथ कहा है और उसकी वन्दना की है। जो समाज का सच्चा सेवक और सरदार होता है, वह समाज की दुनियादारी के और दुनिया के सारे डरों से मुक्त करने में लगा रहता है। सामाजिक मूल्यों को बदलना, आर्थिक, राजनीतिक और धर्म-मजहब, ऊंच-नीच, छूत अछूत, मालिक-मजदूर आदि भेदों के कारण समाज में जो विषमता, भय और त्रास छा जाता है उससे समाज को मुक्त करना, मुक्त होने का रास्ता दिखाना, यही मुखिया का अपना जीवन कार्य होता है। इसीलिए वह भव भय-हारी कहा गया है। राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर से लेकर गांधी तक के सारे महापुरुष इस अर्थ में हमारे लिए भव भय हारी रहे हैं। जिन बंधनों में अज्ञान आदि के कारण मनुष्य बंध जाता है उन बंधनों से मुक्त होने का मार्ग ये महापुरुष उसे दिखाते रहे हैं। मुखिया का भी यही धर्म माना गया है।

जो विष्णु, यानी मुखिया, सेवक या सरदार अपने समाज के बीच इतने सारे गुणों को लेकर पूरे तप, तेज और प्रताप के साथ जीता है, यदि उस उस क्षेत्र की सारी मानवता उसे अपना एकमात्र स्वामी, तारनहार, उद्धारक या कर्णधार मान ले, तो इस में आश्चर्य ही क्या? इसीलिए श्लोक का अंत सर्वलोकैक नाथम् से किया गया है।

जो क्षीरसागर में रहता है, यानी जिस का जीवन दूध के समान पोषक तत्वों से भरा है, जो जन-समाज

[शेष पृष्ठ २८९ पर]

एक साल के बच्चे का सोना और खाना

श्री राममूर्ति

सोना—

एक साल का बच्चा अपने सोने का समय बदलता रहता है। अभी तक अगर वह एक समय सोता था तो अब दूसरे समय सोयेगा और थोडे दिन बाद फिर समय बदल देगा। मा के लिए इन असुविधाओं को बर्दाश्त कर लेने के सिवाय दूसरा उपाय नहीं है। उसे जानना चाहिए कि ये असुविधाएं थोड़े समय की हैं और शीघ्र बच्चा अपने सोने का समय तय कर लेगा, लेकिन इतना ध्यान रखना जरूरी है कि बच्चे को नींद न लगी हो तो उसे जबरदस्ती सुलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक साल का बच्चा दिन भर सोता ही नहीं जिससे कारण शाम को थक कर चूर हो जाता है और बिना कुछ खाये पीये जल्द ही बिस्तर पकड़ लेता है। ऐसी हालत में उसके भोजन का समय कुछ पहिले कर देना चाहिए।

सोने के बारे में बच्चों की अपनी विशेषता होती है। यह जरूरी नहीं है कि सोने में सब बच्चे समान हों, इसलिए भिन्नता के कारण चिंतित नहीं होना चाहिए।

खाना—

एक साल के इर्द गिर्द बच्चा खाने में अपनी पसंद प्रकट करने लगता है। जब वह ७-८ महीने का था तो चाहे जो चीज दी जाती खुशी से खा-पी लेता, लेकिन एक साल में वह समझने लगता है कि क्या अच्छा लगेगा और क्या नहीं अच्छा लगेगा। बात यह है कि एक साल के बच्चे में अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का मान होने लगता है। वह सोचने लगता है "मैं भी कुछ हूँ"।

दांत निकलने के कारण भी भूख कुछ कम होती जाती है। अक्सर लगातार कई दिन तक बच्चा सामान्य से आधा ही खाता है और कभी-कभी तो बिल्कुल खाता ही नहीं। इसके अलावा यह भी है कि भूख कभी एक तरह रहती नहीं, पसंद भी बदलती रहती है। यह बात हम लोग खुद अपने जीवन से समझ सकते हैं कि भोजन में एक दिन की मात्रा दूसरे दिन नहीं रहती, एक दिन जो चीज पसंद आती है वह दूसरे दिन पसंद नहीं आती। वही हाल बच्चों का भी है और मनुष्य में बहुत जल्द खाने-पहनने की चीजों और मिलनेवाले व्यक्तियों के प्रति पूर्वाग्रह बन जाते हैं। बच्चों के भोजन के बारे में जो प्रयोग हुए हैं उनसे बड़े मजेदार परिणाम प्रकट हुए हैं। उनमें से तीन मुख्य हैं :

१—जो बच्चे तरह-तरह की चीजों में अपनी पसंद से चुनकर खाते हैं उनका विकास बहुत अच्छा हुआ है। वे न अधिक मोटे हुए हैं और न बहुत पतले ही रह गये हैं।

२—अपनी पसंद से बच्चों ने ऐसी ही चीजें चुनी हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से संतुलित भोजन के अंतर्गत गिनी जाती हैं।

३—भूख बराबर बदलती रहती है—समान नहीं रहती।

इसका यह अर्थ नहीं है कि बच्चा जब खाना चाहे तो उसके सामने तरह-तरह की चीजें रखी जायें,

लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि अगर बच्चे की रूचि गलत खाना खिलाकर बिगाड़ नहीं दी गयी है तो वह हमेशा स्वस्थ, संतुलित चीजें ही पसंद करेगा और अगर वह प्रस्तुत चीजों में से कोई एक दूसरी चीजों की अपेक्षा कुछ अधिक खा लेता है तो चिंता का कोई कारण नहीं है। ऐसा करने से वह बीमार नहीं पड़ेगा। जिस तरह यह चिंता का कारण नहीं है उसी तरह यह भी चिंता का कारण नहीं है कि बच्चा जिस चीज को चाव के साथ खाता था उसे अब नहीं खा रहा है। भोजन में 'पसंद' और 'नापसंद' का खेल बराबर चलता रहता है।

आजकल भोजन के बारे में वैज्ञानिकों के क्षेत्र से इतनी बातें कही जाती हैं कि हमें भोजन के सम्बंध में बच्चों के विवेक पर भरोसा नहीं रह गया है। हमें यह जानना चाहिए कि लाखों वर्षों से मनुष्य के शरीर को जो अभ्यास हुआ है उसने बहुत हद तक उसे सिखा दिया है कि क्या खाना चाहिए। मनुष्य ही नहीं, सभी प्राणधारियों में आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक विवेक का विकास हुआ है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि संतुलित भोजन की जानकारी न रखी जाय और बच्चे को संतुलित भोजन दिया न जाय, इसका इतना ही अर्थ है कि बच्चों की सहज वृत्ति पर भी भरोसा रखा जाय, और बच्चे में भोजन के सम्बंध में पूर्वाग्रह न पैदा होने दिये जायें। कभी यह कोशिश न की जाय कि जिस चीज को हम वैज्ञानिक, स्वस्थ और उपयोगी समझते हैं उसे बच्चा जरूर खाये चाहे वह उसे पसंद हो, चाहे न हो। दूध के बारे में ऐसी 'जबरदस्ती' अक्सर की जाती है। इस अति आग्रह का नतीजा यह होता है कि कई अच्छी चीजों के लिए बच्चे में घोर और स्थायी अरुचि पैदा हो जाती है। पूरी कोशिश होनी चाहिए कि बच्चे में किसी चीज के लिए स्थायी अरुचि न पैदा होने पाये। बल्कि करना यह चाहिए कि जो चीज उसे नापसंद हो जाय वह उसके सामने चार-छ दिन पेश ही न की जाय। इससे यह होगा कि उसकी छूटी हुई रुचि वापस आ जायगी। लेकिन जरूर इससे माँ को परीशानी होती है। जिस चीज को उसने मेहनत से खरीदा, चिंता से बनाया और प्यार से परोसा उसे बच्चा छूये न तो उसे बड़ी निराशा होती है, और अक्सर वह क्षुब्ध हो उठती है और आग्रह करती है कि बच्चा खाये, जरूर खाये, लेकिन यह निश्चित है कि ऐसा करना गलत है। बच्चे की मर्जी को स्वीकार कर लेने में ही अच्छाई है। उसे एक चीज की जगह दूसरी चीज देनी चाहिए और अगर वह सब्जी की जगह फल चाहता है तो फल से ही संतोष मान लेना चाहिए।

दूसरे साल में कई बार बच्चा अनाज से ऊब जाता है, या सब्जी लेना बिल्कुल बंद कर देता है। अगर वह ऐसा करे तो घबड़ाने की जरूरत नहीं है। हर चीज के विकल्प मौजूद हैं। जरूरत है विवेक की, धैर्य की।

★

[शेष पृष्ठ २७२ का शेषांक] [क]

आप मुफ्त मिलने लगती है तो सहज ही नागरिक उन चीजों के उत्पादन में या उनके लिए कुछ करने के विषय में अपनी जिम्मेदारी कम महसूस करता है और हर बात के लिए सरकार पर निर्भर करने लगता है। कल्याणकारी राज्य की मूल कल्पना में यह परिणाम शायद ही अपेक्षित हो, क्योंकि आज की इस स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों की हानि है इसमें व्यक्ति अप्रतिष्ठित होता है और समाज पर भार बढ़ता जाता है। व्यक्ति गैरजिम्मेदार बन जाता है और सारी व्यवस्था का सूत्र मुट्ठीभर लोगों के हाथ में केन्द्रित होता जाता है। इसका अनिवार्य परिणाम लोकतन्त्र की समाप्ति ही में होता है।

कल्याणकारी राज्य में दूसरा एक खतरा यह है कि उसमें आयोजन बहुत महत्व का बन जाता है जो सर्व साधारण के लिए दुरूह और दुर्ज्ञेय होता है। आयोजनों

[शेष पृष्ठ २९३ पर]

प्राथमिक शिक्षा

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारि

प्राथमिक शिक्षा चाहे लिखने, पढ़ने और गणित के रूप में देने की हो या काम के जरिए या खेल-कूद द्वारा देने की, उसमें बालकों को उनके प्रारंभिक जीवन से ही आकड़ों में घेर कर हैरानी और शिरपची का आदी बनाने की योजना न हो। उसमें चीजों से व्यवहार करने तथा खेलने और काम करने की योजना होनी चाहिए, जिससे वे काम और खेल दोनों को अलग-अलग न मानें और दोनों में आनन्द लें। उसे हम माण्टेसोरी पद्धति कहें, बुनियादी कहें या और कुछ नाम दें, हमारे बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था इस ढंग की होनी चाहिए कि वह मौजूदा परिस्थितियों के अनुकूल हो, क्योंकि साफ है कि हम अपने खयालों के अनुसार वस्तुस्थिति को हमेशा नहीं बदल सकते। यदि आप बैठकर अपनी योजनाओं का और देश की आमदनी का, जिसके ही सहारे सब योजनाएँ पूरी होती हैं, हिसाब लगायें तो आप देखेंगे कि आपकी कई योजनाएँ तो हिसाब करते-करते ही खतम हो जायेंगी और निराशा में दब कर आपको शुतुर्मुर्ग की तरह अपना सिर रेत में छिपा कर अपने सामने की वस्तुस्थिति को देखने से इनकार करना पड़ेगा।

यदि हमारे बालकों की अच्छी तरह और बुद्धिमानी के साथ परवरिश नहीं हुई तो हमारे पास रक्षा करने योग्य संस्कृति ही कौनसी रहेगी! सौभाग्य की बात है कि कानूनों, सुधार के आंदोलनों और संघों द्वारा की गयी समाज-सुधार और पुनः-संगठन की सारी कोशिशों के बावजूद हमारे परंपरागत पारिवारिक संस्कारों ने उन व्यवसायों को बराबर कायम रखा है जिन पर राष्ट्र का जीवन टिका हुआ है। तभी तो अधिकांश बच्चे आज भी अपने माता-पिता के काम में हाथ बंटाते और किसी पाठशाला या संस्था की सहायता के बिना अपने परिवार के परंपरागत उद्योग को सहज में ही भलीभांति सीख लेते हैं। किसान, बढ़ई, मोची, भंगी, लोहार, जुलाहे, दूकानदार, गाड़ीवाले आदि लाखों गरीब जन बड़े लोगों की आकांक्षाओं और आदर्शों से अनजान रह कर सहज ही समाज का काम करते चले आ रहे हैं और उनके बल पर समाज जीवित है। हम अपने हवाई किले बेरोक बांध सकते हैं, क्योंकि जमीन पर के जिस घर में दर असल हम रहते हैं, उसे तो दीन और अपढ़ समाज हमारी ऊपर की करामातों से बेखबर बना हुआ नीचे से संभाले हुए है। अन्न पैदा होता है, कपड़ा बुना जाता है, भेड़ों की ऊन निकाली जाती है, गायें चरायी जाती हैं, जूते सिये जाते हैं, सफाई होती है और बैलगाड़ी के पहिये तथा हल बनते और मरम्मत किये जाते हैं क्योंकि ईश्वर की कृपा से काम चलानेवाली जातियां अब भी कायम हैं। उनके घर घर का काम भी देते हैं और धंधों की पाठशालाओं का भी, माता-पिता भी हैं और शिक्षक भी जो अपने निराकांक्षी बालकों को अपने आप ही काम सिखा देते हैं।

इन हालतों को बिगाड़ने का प्रयास शायद कोई पागल आदमी ही करेगा। तब ऐसी हालतों में हमारी स्थापित और भविष्य में स्थापित होनेवाली प्रारंभिक शालाओं में हमें कौनसी योजना अमल में लेनी चाहिए?

क्या यह कहना ठीक होगा कि जो बच्चे घर में अपने माता पिता से अपना पारिवारिक उद्यम सीखते हैं, उन्हें काम सीखने की सुविधा से अलग करके सारे समय के लिए उन पाठशालाओं में डाल दिया जाय जिन्हें हम कायम करते जा रहे हैं ? और हम कितना भी प्रयत्न क्यों न करें हम जानते हैं कि उन पाठशालाओं की शिक्षा के जरिए अपने बच्चों को हम कितने कार्य-कुशल बना पायेंगे । तब फिर क्या ऐसी हालत में बालकों को यहां भरती करके अपने माता पिता के धंधों को सीखना उनके लिए असंभव बना दें ? बाद के जीवन में तो वे उसे अच्छी तरह नहीं सीख सकते और न उन धंधों को हम इन पाठशालाओं में सिखाने की उम्मीद ही कर सकते हैं । उन्हें चलाने का काम हम जल्दीबाजी में तालीम पाये हुए शिक्षकों को सौंपते हैं इस बात से मैं हैरान हो जाता हूं क्योंकि इस कदम से पैदा होनेवाली बुराई मुझे साफ तौर से दिखायी देती है । लेकिन एक आश्वासन है कि मेरा डर अनावश्यक है क्योंकि मुझे विश्वास है कि हम कितनी ही कोशिश क्यों न करें सौभाग्य से हमारे बालकों की बड़ी संख्या हमारे स्कूलों से बच जायगी और पारिवारिक शिक्षा और परंपरा के धंधे चालू रहेंगे । क्या आपने कभी सोचा है कि हम अपने शिक्षा प्रचार के इस महान काम और पारिवारिक शिक्षा और परंपरा के धंधों को चालू रखने की आवश्यकता के बीच मेल कैसे बिठायेंगे ? मैं तो मध्यम मार्गी हूं और हर एक के साथ उचित रीति से समझौता करने के लिए तैयार रहता हूं । और इसलिए मैं अनिवार्य शिक्षा के हामियों के सामने यह सुझाव रखने की हिम्मत करता हूं कि क्या तीन दिन की पाठशाला की पढ़ाई से हमारा संतोष नहीं होगा ? इन तीन दिनों में आप बच्चों से जिस तरह पेश आना चाहें आ सकते हैं । लेकिन शेष चार दिनों में बच्चों को अपने माता पिता के साथ काम करने का मौका दीजिए । देखें तो सही, क्या होता है । इस प्रकार हमारी भूल का बीमा हो जायगा । दूसरे शब्दों में कहें तो हम आगे भी बढ़ेंगे और पीछे छूटे हुए से हमारा संबंध जैसा का तैसा सुरक्षित रखेंगे । जो अपने माता पिता का धंधा नहीं करना चाहते या जिनके पास ऐसा कोई धंधा नहीं है और जिनके माता पिता उनके लिए परोपजीवी जीवन, सरकारी नौकरी या होड तथा विविध प्रकार के जूए वगैरह की योजना सोचते हैं ऐसे बालक सप्ताह में चार दिन जैसे चाहें खर्च कर सकते हैं । लेकिन गरीब विद्यार्थी ये चार दिन अपने माता पिता का धंधा सीखने में खर्च करेंगे और तीन दिन पाठशाला में पढ़ेंगे जो, मैं मानता हूँ, काफी होना चाहिए।

इससे हमारी पाठशालाओं और शिक्षकों की ताकत दुगुनी हो जायगी, क्योंकि आराम की एक दिन की छुट्टी के बाद सप्ताह में विद्यार्थियों की दो टोलियों की पढ़ाई की जा सकेगी ।

इस व्यवस्था से आर्थिक समस्या भी बहुत कुछ हल्की हो जायेगी और बालकों के कोमल दिमाग पर आकड़ों और शब्दों का बोझ भी कम होगा । चार दिन की छुट्टी के समय में बच्चों को ताजा होने का मौका मिलेगा और अपना पाठशाला में पाया हुई शिक्षा को पचा लेने, अनुभव में लाने और उससे फायदा उठाने का मौका मिलेगा । दर असल मैं सोचता हूं कि इससे शिक्षा के गुण में और उसे पचा लेने के काम में सुधार होगा ।

मैं दिन के दो विभाग करने का विकल्प पसंद नहीं करता । पाठशाला और पारिवारिक धंधों को सुबह और दोपहर दोनों का फायदा मिलना चाहिए । किसान बालकों को पूरे तीन दिन पाठशाला में जा कर पढ़ना चाहिए और शेष चार दिनों में अपने *माता पिता के साथ अपने ढोरों के साथ या अपनी* काम की दूकानों में रहना चाहिए । हमें पाठशाला या परिवार को सुबह या दुपहरी की फायदेमंद स्थितियों से बिलकुल ही वंचित नहीं करना चाहिए ।

इस सुझाव का हेतु आर्थिक नहीं है क्योंकि खर्च खास चीज नहीं है । खास चीज तो यह है कि हम अपने बुनियादी धंधों को किस तरह कायम रखेंगे जो आज हमारे समाज को पोस रहे हैं । मैं सारे देहात के कारीगरों, सुतार लुहार वगैरह सबके बारे में सोच रहा हूँ जिनके धंधों को हमें कायम रखना है।

में देहात को शिक्षा संपन्न देखने के लिए किसी से कम उत्सुक नहीं हूँ। लेकिन जरा हमारी पाठशालाओं को तो देखिए। जुलाहा लड़के का पिता उसे पाठशाला में बुनाई सिखाने का तमाशा करनेवाले शिक्षक से बहुत अच्छी बुनाई जानता है। इतने पर भी हम लोगों को व्यवस्थित संस्थाओं के प्रति अंध-विश्वास हो गया है और इसलिए हम अपने बच्चों को वहाँ भेजते हैं। यदि आप समाज का वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो आप देखेंगे कि कुछ ऐसे बुनियादी धंधे हैं जो समाज का पोषण करते हैं और उन्हें कायम रखने के लिए आपको या तो कुछ पाठशालाएँ रखनी चाहिए या फिर पारिवारिक तालीम देनी चाहिए। कम आबादी-वाले देशों में तो औद्योगिक केंद्र खोल कर बच्चों को जरूरी तालीम देना और उन्हें विविध धंधे चालू रखने की शक्ति देना संभव होता है। लेकिन आज हमारे यहाँ औद्योगिक शिक्षा देनेवाली कुल कितनी संस्थाएं हैं? शहरों के कुछ लड़के इन संस्थाओं में जाकर तालीम लेते हैं और उसके बाद उसी धंधे में उत्पादक नहीं, बल्कि शिक्षक का काम करते हैं। क्या समाज के लिए इतना काफी है?

किसान के बच्चों को उनके जीवन के सभी जरूरी कामोंकी तालीम मिलनी चाहिए। उन्हें अपना खेती का काम सीखते रहना चाहिए और वह वे बचपन में ही सीख सकते हैं। इससे मेरी बात का खुलासा हो जाता है। आप उन्हें बहुत ही अच्छी शिक्षा दें पर साथ ही अपने धंधेकी तालीम भी लेने दें। आज आपके और मेरे बालक भी जो शिक्षा पा रहे हैं उसका बेहूदापन आपने उतना नहीं समझा है जितना मैंने समझा है। वह तमाम शिक्षा अवास्तविक और निरर्थक है। पुराने ढंग की शिक्षा पाने पर भी जीवन में जिन्होंने सफलता पायी है उनकी ओर आप शायद अंगुली दिखायेंगे। बात यह है कि कई कठिनाइयों के बावजूद मनुष्य की रचना इतनी परिपूर्ण है कि वह उसे सफलता दिला देती है। लेकिन काम किसी तरह चलता रहे इसकी बनिस्बत उसे अच्छी तरह करना कुछ अलग ही बात है। मैं समझता हूं कि बच्चों को पाठशाला में जो शिक्षा मिलती है वह प्रकृति के संपर्क से बहुत सुधारी जा सकती है जिसमें खेल और काम दोनों शामिल हैं। आज जो प्राथमिक शिक्षा बालकों को हम पाठशाला में देते हैं, वह सुधर सकती है, बशर्ते बालक उसके साथ किसी प्रकार का काम भी करें। और बालकों के लिए जो काम उनके घर या खेत में करने को मिलता है उससे अधिक योग्य और कौनसा काम हो सकता है?

(भारतीय विद्याभवन बंबई के भाषण से)

★

[शेष पृष्ठ २८४ का शेषांश]

का जहर पीकर उसके लिए अमृत की वर्षा करता रहता है, जिस की भलाई का पार नहीं है, जो सब के लिए सहारा बन कर जीता है, जो जीवन में बहुत ऊंचा उठता है, जिसकी निष्ठा कभी डिगती नहीं, जो कठिन श्रम करके अपनी जीविका चलाता है, जिसका शरीर सदा स्वस्थ और सशक्त रहता है, जो सद्‌गुणों का उपासक है, जो निर्वैर, निःसंग और निर्मल बन कर चलता है, जो दुनियादारी के फेर में नहीं पड़ता, जो विश्व मानव की भूमिका धारण करके सारे विश्व के साथ अपने परिवारका-सा व्यवहार करता है, वही नागरिक आज के संसार में और आनेवाले संसार में भी सब का सेवक, सहायक, शिरोमणि, साथी, मित्र और मंत्री बन कर सब के दिलों में सदा के लिए बस सकता है। अमरता इसी का नाम है।

आइए, हम अपने बीच ऐसा नागरिक खड़ा करने के लिए तप तपें, जप जपें, और जीवन को ऊंची साधना की ओर ले जायं। भारत को मानवता की यह जो भव्य विरासत मिली है, उसके अनुरूप हमारा सारा जीवन बने, यही इष्ट है, श्रेयस्कर है और जीवन की परिपूर्णता के लिए आवश्यक और अनिवार्य भी है।

★

काम के अनुभव

: १ :

ग्रामभारती, बरनपुर

सुदूर देहात में एक गांव बरनपुर के दक्षिणी-पूर्वी छोर पर मुख्य नहर के किनारे एक अधलेटा झोपड़ा और मिट्टी की कुछ उठती हुई दीवारें दिखाई पड़ती हैं जहाँ पूज्य धीरेंद्र भाई के शोध-पूर्ण जीवन की नवीनतम—(और शायद उनके ही शब्द में अंतिम भी)—देन "ग्रामभारती" की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास हो रहा है। इस बुनियादी कार्य में रत साथियों का प्रतिकूलताओं से संघर्ष करते हुए निरंतर उत्साह के साथ आगे बढ़ना एक प्रेरणा-प्रद स्थिति है।

ग्रामभारती, बरनपुर के कार्यकर्ता साथियों के साथ दो-तीन दिनों तक कार्य करने, उनके विचारों और भावनाओं से परिचित होने के बाद मेरे भावुक मन के सामने एक प्रश्नचिन्ह खड़ा हुआ—"लगभग तीन साल बाद जब खेतों का मेंड़ बनाने, दीवालें उठाने, लोगों से नये-नये परिचय प्राप्त करने, कार्यकर्ता परिवार को प्रशिक्षित करने आदि के काम पूरे हो जायगे, जब कृषि, गोपालन आदि कार्य एक सिलसिले में जम जायेंगे, कार्यकर्ता सपरिवार श्रमाधारित जीवन बिताने लगेंगे, बरनपुर और आसपास के गावों से सघन संपर्क स्थापित हो जायगा तो उसके बाद अनिवार्य रूप से सामने आनेवाली स्थिति–आपसी तनाव, गावों के लोगों के साथ अनेक बुनियादी मान्यताओं के प्रश्नों पर खींचतान, आदि उलझनों को लोक शिक्षण के प्रोजेक्ट मान कर उनके हल ढूढेंगे या इन उलझनों में फसकर अपने को क्रांति से दूर न होने देने के लिए फिर कोई नया कदम उठायेंगे और पिछले तीन सालों में किये गये प्राथमिक निर्माण कार्यों की पुनः एक नयी भूमिका के साथ पुनरावृत्ति करेंगे?

प्रश्न कुछ पूर्व धारणाओं के आधार पर सामने आया था, इसलिए कुछ संकोच हुआ। लेकिन चूंकि यह जानने की प्रबल जिज्ञासा थी कि इस कार्य में लगे साथियों की इस पर क्या राय है, अतएव मैं ने उन लोगों के सामने इसे रखा और यह जानकर मुझे बहुत संतोष हुआ कि वे लोग आपस में इस प्रश्न पर काफी चर्चा करते रहते हैं और इस दिशा में पूरी तरह सजग हैं।

आपस की ऐसी चर्चाओं में दो विषयों पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया। १. जिस काम में हम लगे हैं उसकी मूल प्रेरणा क्या है और उस काम की हमारे मन में क्या कल्पना है।

२ जिन पूर्व-संस्कारों, मान्यताओं के कारण आपस के तनाव बढ़ते हैं, उलझनें बढ़ती हैं, उनको छोड़ने, दबाने या खुद अलग होने की जगह उनसे होकर गुजरने के लिए हमारी क्या तैयारी है और किस सीमा तक?

वास्तव में हमारे सामने यह एक बुनियादी सवाल है, क्योंकि हम जिस विचार को दुनिया की हवा में व्याप्त करना चाहते हैं उसके लिए हमारे विचार, वाणी और चरित्र में ताकत चाहिए और उस ताकतको हासिल करने के लिए कोई ठोस आधार चाहिए। चूँकि हम आर्थिक सामाजिक, नैतिक जीवन के तीनों क्षेत्रों में परिवर्तन की आकांक्षा रखते हैं इस लिए उक्त आधार को प्राप्त करने के लिए-कृषि-गोपालन, खादी ग्रामोद्योग, शिक्षण प्रशिक्षण आदि जो भी काम शुरू करते हैं उसके साथ समग्र जीवन के प्रश्न

आ जुड़ते हैं। लेकिन जब हमारे पुराने जीवन-मूल्यों, मान्यताओं की टक्कर होती है, तनाव बढ़ते हैं, तो अक्सर हम उन्हें दबा देते हैं या हटा देते हैं और इस प्रकार हमारे आंदोलन का कोई 'शक्ति-केंद्र' नहीं बन पाता।

क्रांति की शैक्षणिक प्रक्रिया में चाहे हम समाज के किसी भी हिस्से को, किसी भी स्तर से, अपना कार्य क्षेत्र क्यों न बनायें यह आवश्यक है कि हमारे जीवन के मूल्य बदलें ताकि हमारी क्रियाएं हम जो कुछ कहते हैं उसके समर्थन में अपना प्रभाव डालें और इस प्रकार की क्रियाशीलता के लिए यह अनिवार्य है कि हमारी उलझनें, हमारे तनाव हमारे लिए 'एजुकेशनल प्रोजेक्ट्स' हों।

तब फिर प्रश्न यह है कि जब हम दो साथियों ने मिल कर एक साथ कोई काम शुरू किया तो प्रारम्भ में विचार के आवश्य में हम एक-दूसरे के पूरक दीखते थे, लेकिन आगे जा कर यह स्पष्ट हुआ कि हमारे विचारों में बहुत तीव्र विरोध है। ऐसी स्थिति में हम एक-साथ कैसे काम कर सकते हैं? और जब एक साथ काम नहीं कर सकते तो इस विरोधाभाव को 'एजुकेशनल प्राब्लम' के रूप में कैसे ले सकते हैं?

तब क्या कोई ऐसी मजबूत कड़ी है हमारे आपसी जीवन में जिसके सहारे, बावजूद हमारे सारे अंतर्विरोधों, उलझनों और तनावों के हम एक साथ रह कर इन्हें हो अपना पाठ बना सकें, क्योंकि इनके मूल में हमारी पुरानी मान्यताएं और जीवन मूल्य ही तो रहते हैं?

एक दूसरे की जिंदगी में गहरी दिलचस्पी और विचारों के आग्रह को लगाकर मानवीय सम्बन्धों का बोध-वृत्ति इन दो पटरियों पर चल कर सम्भव है हम आरोहण की दिशा में अग्रसर हो सकें। ग्राम भारती, बरनपुर के मित्रों से चर्चा करने पर पता लगा कि उक्त प्रकार के दो बीज उनके अंतर में अंकुरित हुए हैं। पूज्य धीरेन्द्र भाई ने एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह अपनी जिंदगी के सारे प्रयोगों से अहिंसक क्रांति के जो फार्मूला "ग्रामभारती" के रूप में हमारे सामने रखा है उनके आधार पर बरनपुर का प्रयोग आदों को एक नयी दिशा देगा ऐसी आशा की जा सकती है, क्योंकि वह एक व्यक्ति का नहीं, "कार्यकर्ताओं की एक टीम" का प्रयोग है।

—रामचन्द्र राही

२

१. कोई हर्ज नहीं लेकिन दुनियाँ मानती है!

कुछ मजदूरिनें खेत में मटर का फली तोड़ रही थीं। कूएं पर पानी पीने आयीं। मुझसे पानी पिलाने को कहा। मैंने कहा—'खींचकर पी लो'। यह कहकर मैं लोटा लेने आयी। वे रुकी रह गयीं, एक दूसरे का मुंह देखती रहीं। मैंने दुबारा कहा तो एक बोली—'हमलोगों को लोग डांटते हैं।' मेरे बार-बार कहने पर पानी खींचकर पीया। दूर से देख रहे थे। ने कहा—'आपके कहने के कारण हम चुप रहे, नहीं तो अच्छी तरह फटकारते।' ने कहा—'सब भ्रष्ट कर दिया, कोई धर्म कर्म नहीं रह गया।' कुछ देर तक इन लोगों से बातें हुईं। बाद में मान ता लिया कि 'कोई हर्ज नहीं है, लेकिन दुनियाँ मानता है।

२ विवाह क्या बला है!

मिला। हाथ पकड़कर घर में लिवा ले गयी। मां से अपने गहने और कपड़े लाकर दिखाने को कहा। कितनी खुश है अपने गहने और कपड़े देखकर। इससे अधिक यह जानती भी नहीं कि विवाह क्या बला है! इतना छोटी बच्ची जान भी क्या सकती है!

३. सास बनाम बहू!

शाम तीन बजे गयी। आज वहाँ की घर स्त्रियाँ मेला देखने गयी थीं। लेकिन गाँव की दो-तीन बूढ़ी स्त्रियाँ आ गयीं कुछ देर बैठीं। अपनी और अब की बहुओं की तुलना काम करने, त्यौहार मनाने और लड़ाई झगड़ा करने में कर रही थीं। पहिले गावों में त्यौहार कैसे मनाये जाते थे, लोगों को कितनी खुशी होती थी, अब तो लोगों को भार-जैसा लगता है। किसी को गाने-बजाने का शौक नहीं, चार-छः लोग एक जगह इकट्ठा होकर कुछ करते नहीं। बुढ़ियाँ अपना पहिले का हाल

[शेष पृष्ठ २८८ पर]

क्या यह जिम्मेदारी स्कूल की नहीं ?

श्री कादम्ब

असभ्यता

किसी की अपानवायु (पाद) निकले और दूसरा हँसे तो यह हँसना मुझे बुरा लगता है। हम छींकते हैं, खासते हैं, जभाई लेते हैं, डकार आती है उसी तरह पादते भी हैं ये सब शरीर की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। इस पर हँसने की क्या बात है ? यों हँसने की प्रथा कब और किस कारण चल पड़ी मालूम नहीं, पर मुझे यह असभ्यता मालूम होती है।

उस दिन अचला और उषा दोनों बैठकर कुछ लिख रही थीं। अचानक किसी की पाद आवाज के साथ निकल पड़ी। तुरत दोनों क्षण भर एक-दूसरे का चेहरा देखती रहीं और फिर फक से हस पड़ीं मानों कोई शरमनाक बात हो गयी।

इतने दिन हो गये, घर में ऐसा मैंने कभी देखा नहीं था। उस दिन देख कर मुझे विचित्र सा लगा। डाटने की इच्छा हुई। फिर भी सब्र के साथ मैंने यह जानने की कोशिश की कि वे क्यों हँसा ? विनोद के मूड में जब मैं बात करने लगा तो दोनों खुल कर कई घटनाएं सुनाने लगी कि स्कूल में कब किस लड़की की पाद निकली और दूसरी लड़कियाँ कैसे हँसीं आदि। मजेदार बात तो यह थी कि हर समय उनकी मास्टर नीजी भी बराबर हँसे बिना नहीं रहती।

बच्चियाँ यह सब सुनाते समय ऐसे खिल रही थीं कि डाटना चाहते हुए भी मैं डाट न सका, समझा कर चुप किया और आगे के लिए सचेत करके छोड़ दिया। मन ही मन मैं बड़ा क्षुब्ध रहा कि स्कूल का यह संस्कार है !

ईर्ष्या

उषा दो-चार दिन के लिए मेरे मित्र के साथ उन के गाँव गयी थी। घर में अचला थी, छोटा गुड्डू था। एक दिन अचला की मा अपनी मातार्जी को पत्र लिखने बैठी तो अचला ने भी नानी के नाम एक पत्र खुद लिखना चाहा और छोटा सा पत्र लिखा भी। और क्या लिखती ! 'मैं स्कूल जा रही हूं, गुड्डू मेरी कापी फाड़ देता है, पेन्सिल ले कर भाग जाता है। मुझे काम करने नहीं देता' आदि ये ही सारी बातें लिखीं। हमें पढ़ कर सुनाया। मैंने सहज ही कहा कि 'यह भी लिखो कि उषा गोलपुर गयी है, मेरा मन नहीं लगता।' यह बात सुनते ही अचला झट सिर हिला कर बोली कि 'ना, मैं यह नहीं लिखूँगी।' उसका भाव देख कर मैं दंग रह गया। अभी इसकी उम्र ही क्या है ! आठ साल की ही तो है। लेकिन अपनी छोटी बहन के प्रति इसके मन में इस तरह का असूया और असहिष्णुता पल रही थी यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत दुख हुआ। मैंने पूछा—'उषा घर में नहीं, तुम अकेली रहती हो, तो क्या तुम्हें बुरा नहीं लगता ?' अचला चुप रही। कुछ भी बोली नहीं। उसका मौन ही काफी था। मैं सोच में पड़ गया अचला की माँ से मशविरा किया। हमें एसा एक भी प्रसग याद नहीं आ रहा रहा था कि हम ने कभी दोनों बहनों में तुलना की हो या एक के मुकाबिले में दूसरी की निन्दा या तारीफ की हो। फिर यह ईर्ष्या आयी कहा से ? मुझे डर था कि मैं इसी समय इसको लेकर कुछ भी कहने जाऊँ तो असर उल्टा ही न हो जाय, ईर्ष्या मिटने के बजाय बढ़ने न लग जाय। इस

लिए चुप हो गया और अचला की माँ से कह रखा कि इसकी जड़ का पता लगायें।

कुछ दिन बाद बातों-बातों में मालूम हुआ कि यह ईर्ष्या का बीज स्कूल का ही बोया हुआ है। मास्टरनी हर एक गलती पर लड़कियों की तुलना करती रहती हैं और कहतीं हैं कि 'देखो, वह लड़की कितनी होशियार है, एक तू है निरी मोंदू।' आदि। बीज जीवन में बो दिया गया है तो जीवन भर में फलता-फूलता रहेगा ही! घरकी सगी बहन भी उसमें अपवाद कैसे हो?

जाति-भेद

चार-पाँच रोज पहले की बात है। शाम को टहलने जा रहा था। साथ में अचला, उषा दोनों थीं; गोद में गुड्डू भी था। थोड़ी दूर जाते ही देखा कि उस पार के फुटपाथ पर एक छोटा बच्चा खड़ा हमारी ओर टुकर-टुकर देख रहा था। मैंने गुड्डू से कहा—'देखो, वहाँ छोटा बच्चा खड़ा है। उसे 'जय' करो।' गुड्डू हाथ उठा कर 'जय' करने लगा।

इतने में अचला कहने लगी—"हट पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं! उस लड़के को मैं जानती हूँ, वह तो भगी का बच्चा है।" मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था। इस लड़की के दिमाग में यह बला कहाँ से आ घुसी! हम जिस जगह रहते हैं, कई सालों से साथ-साथ रहते हुए भी पड़ोसियों के बारे में हमे यह मालूम तक नहीं कि कौन किस जाति का है और अमुक जाति का होने के कारण ऊँच-नीच की बात भी हमारे मन में कभी नहीं आयी थी। आज मेरी ही बच्ची एक बच्चे को भंगी का बच्चा पहचान रही है और उससे बड़ी आसानी से नफरत भी करने लगी है।

तहकीकात करने पर मालूम हुआ कि यह संस्कार भी स्कूल का ही है। कोई एक मास्टरनी ब्राह्मणी है, वह स्कूल की हर लड़की से उसकी जाति पूछती रहती है और हरिजन की लड़कियों को दूर एक कोने में बैठने को कहती है।

समाज की दूषित भावनाओं से बचना 'घर' के लिए कठिन है बनिस्बत 'स्कूल' के। घर को बने-बनाये वातावरण में बने रहना होता है जब कि स्कूल विशिष्ट वातावरण प्राप्त कराने के लिए ही बना होता है। घरों में माता-पिता जो ज्ञान और जो संस्कार नहीं दे पाते हैं उसकी पूर्ति हो सकें यही स्कूल का हेतु है। खास कर बुनियादी शालाएँ तो जीवन शिक्षा को ही अपना 'सब-कुछ' मानती हैं। वहाँ भी आज यह वातावरण है! स्कूल कम से कम इतना तो करें कि अनिष्ट संस्कारों से बच्चों को दूषित और भ्रष्ट न करें। क्या यह ज़िम्मेदारी स्कूल की नहीं है?

●

[शेष पृष्ठ २७२ का शेषांश] [रा]

को मनुष्य से ज्यादा महत्त्व मिलने लगता है। व्यापक आयोजनों में मनुष्य का मनुष्य के नाते उतना अर्थ या प्रयोजन नहीं रहता जितना संख्या के रूप में होता है। जैसा पहले कहा गया है व्यक्ति के स्थान पर जब संख्या आ जाती है तो लोकतंत्र नाममात्र का रह जाता है।

कल्याणकारी राज्य को सही मानी में चरितार्थ करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं: एक, प्रत्येक व्यक्ति का चारित्र्य इस प्रकार विकसित करना होगा ताकि उसमें सामूहिक संकल्प और सामूहिक हित-साधन की वृत्ति जगे। सामूहिक प्रवृत्तियों में अक्सर व्यक्तिगत उदासीनता अधिकतर देखने में आती है, अतः उस ओर से सजग रहने की आवश्यकता है। दूसरी बात समाज की हर-एक प्रवृत्ति शिक्षा-मूलक हो यह भी आवश्यक है। शिक्षा में 'विशेषज्ञता' के स्थान पर 'समग्रता' पर बल दिया जाना चाहिए।

ये कुछ व्यापक खतरे हैं जिन के निवारण के लिए शिक्षा को ही अभिक्रम लेना होगा और मूलतः ये सब शिक्षा की ही समस्याएं हैं। इन सबके निवारणमें शासन का, उद्योगपतियों का, व्यापारियों का, वैज्ञानिकों का तथा

[शेष पृष्ठ २९५ पर]

परिस्थिति और प्रवृत्ति

१ एक स्तुत्य प्रसंग

अमेरीका और सोवियत रूस दोनों इस प्रयत्न में हैं कि अतरिक्ष विषयक सशोधनों पर आपस में मिल-जुल कर विचार करें ताकि प्रयोगों की सभावित पुनरावृत्ति को तथा अर्थ और शक्ति के अनावश्यक अपव्यय को रोक सकें। सभवत उनकी बैठक इसी मार्च में रोम में होनेवाली है।

हम यह भूल नहीं सकते कि अतरिक्ष सबधी सशोधन का उपयोग केवल ज्ञानवृद्धि में नहीं होता है, वह राष्ट्र की एक गुप्त सैनिक शक्ति भी है। आज ससार का कोई राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति की गुप्त बातें दूसरे पर प्रकट करने को तैयार नहीं हो सकता। इस परिस्थिति में रोम में होनेवाली उस विलक्षण बैठक से यह सकेत मिलता है कि दो राष्ट्र अपनी गुप्त बातों को गुप्त रखने के बावजूद जिन बातों में गुप्तता अनावश्यक है उन पर मिल जुलकर चर्चा, प्रयोग और एक-दूसरे की मदद कर सकते हैं।

कई मामलों में विरोध और मतभेदों के बावजूद सहयोग और मतैक्य का क्षेत्र चुन कर दो व्यक्ति, दो समाज तथा दो राष्ट्र अपना सामान्य कार्यक्रम बना सकते हैं यह सिद्धात यहाँ चरितार्थ होता दीखता है।

२ शिक्षा बनाम सिगरेट

ब्रिटेन की यह स्थिति है कि वहाँ १९५९-६० में शिक्षा पर (विद्य विद्यालयों सहित) कुल खर्च का बजट बना था ८५ करोड़ पाउण्ड का जब कि १९५९ में वहाँ केवल सिगरेट पर व्यक्तिगत खर्च की कुल रकम ९३ करोड़ पाउण्ड है।

उसी वर्ष वहाँ हर प्रकार के तबाकू की बिक्री (सिगरेट सहित) १०५ करोड़ पाउण्ड की तथा अन्य मादक पदार्थों की फुटकर बिक्री ६३ करोड़ ९ लाख पाउण्ड की हुई है।

भारत की स्थिति और भी चौंकानेवाली है। सन् १९५९-६० का केंद्रीय शिक्षा बजट ४८ करोड़ ५० लाख रुपयों का बना था और उस वर्ष तबाकू की (देश के अदर की) बिक्री ७२ करोड़ ६३ लाख रुपयों की हुई है। (बीड़ी, सिगरेट आदि रूप में तैयार माल की बिक्री का आकड़ा मिला नहीं है। वह आकड़ा इससे कई गुना अधिक ही होगा इसमें शक नहीं है।)

३ रूस में पुस्तक-प्रकाशन

ससार भर में प्रकाशित होनेवाली प्रति चार पुस्तकों में एक पुस्तक सोवियत सघ का है।

गतवर्ष सोवियेत सघ में कुल ७६,००० पुस्तकों की १२० करोड़ प्रतियाँ छापी गयी हैं।

टालस्टाय साहित्य के १९०० सस्करण हो चुके हैं और कुल प्रतिया साढे दस करोड है।

अलेक्झाण्डर पुश्किन के साहित्य के २००० सस्करण और ९ करोड़ प्रतियाँ प्रकाशित हैं।

मैक्सिम गोर्की साहित्य की कुल प्रकाशित प्रतियाँ ८ करोड़ ९० लाख हैं।

विदेशी साहित्य के प्रकाशन में भी सोवियत सघ की प्रगति उल्लेखनीय है। वहाँ प्रतिवर्ष विदेशी लेखकों की डेढ़ लाख पुस्तकें प्रकाशित होती हैं।

बाल-साहित्य के प्रकाशन में भी रूस आगे है। सैकड़ों संस्करण और करोड़ों प्रतियाँ अब तक छप चुकी हैं।

मार्क्स और एंजल्स की पुस्तकों के अब तक २१६६ संस्करण हुए हैं तथा लेनिन की पुस्तकों के ८३०० संस्करण हैं।

सोवियत् संघ में लगभग ४ लाख पुस्तकालय हैं जहाँ कुल २०० करोड़ पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ हैं।

४. हमारा भू धन और आयोजन

भारत की उत्पादक-संपत्ति के कुछ आंकड़े रिजर्व बैंक ने प्रकाशित किए हैं। उसमें माना गया है कि १९५० में एसा कुल संपत्ति ३४, ९४० करोड़ रुपयों की थी और द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक वह ५२,८०५ करोड़ रुपयों का होगी। उस अनुमानित आंकड़े का बँटवारा इस प्रकार है —

रुपये करोड़ों मे

१	कृषि के औजार	८६०
२	पशुधन	२,७०२
३	बगीचे-चाय का छोड़कर	३५
४	जंगल और मछली	४०
५	अन्य कृषि-सामग्री	५,१४६
६	खान	१८३
७	बिजली	१,१७४
८	चाय के बगीचे	२८२
९	निजी कारखाने	३,२३६
१०	सार्वजनिक कारखाने	७६७
११	लघु-उद्योग	१,२००
१२	वाहन के पशु	३९४
१३	रेलवे	२,७४६
१४	जहाजकंपनी	१३५
१५	सड़क और अन्य वाहन	८३७
१६	हवाई जहाज	१०६
१७	सरकारी प्रोजक्टों में लगी पूँजी	१,८१०
१८	व्यापार छोटे, बड़े	३,२६०
१९	*बैंक और बिमा कंपनी*	*१३८*
२०	शहरों में मकान	४,१८१
२१	गाँवों में मकान	२,०३२
२२	भू धन	२०,२४१
	कुल	५२,४०५

१ इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारत अभी भी बहुत बड़े पैमाने पर कृषि प्रधान देश है,

२ १९५० के आंकड़ों से तुलना करने पर निजी तथा सार्वजनिक कारखानों में वृद्धि दूनी से ज्यादा यानी जहाँ २,०९६ करोड़ थी वहाँ ५,२०३ करोड़ होगी,

३ प्रतिशत अंकों के अनुपात में देखें तो उत्पादक संपत्ति की कुल वृद्धि ५० प्रतिशत दीखता है लेकिन भूधन को छोड़ देने पर बाकी संपत्ति में १७,०८६ से ३२,१६४ करोड़ रुपयों की अर्थात् लगभग ९० प्रतिशत की वृद्धि होगी।

आयोजन में कृषि-योजना पर अधिक जोर देने का नारा बहुत सुना गया, पर आंकड़ों से कुछ और ही तथ्य सामने आ रहे हैं।

[शेष पृष्ठ २७२ का शेषांश] [ग]

धर्म-गुरुओं आदि सब का प्रयत्न आवश्यक है। शिक्षक अकेला सारी समस्याओं का सभी दृष्टियों से मुकाबिला नहीं कर सकता, फिर भी दूसरी सारी नियामक शक्तियों को भी प्रभावित करने की शक्ति शिक्षा में है, शिक्षक के हाथ में है और शिक्षा-संस्थानों के जीवन में है।

शिक्षकवर्ग शाला के बाहर समाज में भी कई ऐसी प्रवृत्तियाँ चला सकता है जिसका 'सैक्शन' समाज की नीति और सम्मति ही हो। उनके द्वारा वह लोकशिक्षण का अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है। इस मानी में शिक्षकवर्ग को वे प्रवृत्तियाँ जो शिक्षा प्रवृत्तियाँ होंगी वो सांस्कृतिक केन्द्र भी बन सकती हैं। शिक्षक इतना समझ ले कि कोई प्रवृत्ति ऐसी नहीं जो शिक्षा का विषय न हो, अतएव शिक्षक की पहुँच के बाहर हो।

पुस्तकें—

'भूदान और नव-निर्माण'

प्रकाशक उत्तर प्रदेश-भूदान यज्ञ-समिति, सेवापुरी, वाराणसी।

'नयी तालीम' के पाठक भूदान यज्ञ आन्दोलन से अपरिचित तो नहीं ही होंगे। विनोबा के द्वारा १९५१ में यह आन्दोलन हैदराबाद से शुरू हुआ और आज सब सतत प्रवाहित है। हां, इस समय इस आन्दोलन में शिथिलता जरूर आ गयी है।

उत्तर प्रदेश में विनोबा जी का दो बार शुभागमन हो चुका है। पहली बार ८ अक्तूबर, १९५१ से १३ सितम्बर १९५२ तक विनोबा यहां रहे और दूसरी बार असम के रास्ते में १९६० में यहां आये।

उत्तर प्रदेश में अक्तूबर १९५१ से १९६२ तक भूदान काम और नवनिर्माण के काम की पूरी जानकारी आंकड़ों के साथ इस पुस्तक में दी गयी है।

पहली यात्रा की अवधि में भूदान में ५ लाख एकड़ भूमि के दानपत्र विनोबा को मिले थे।

उत्तर प्रदेश की दूसरी पदयात्राओं का भी उल्लेख किया गया है। जिन जिलों के जितने गांवों ने दान दिया उन जिलों के नाम गांवों की संख्या के साथ दाता-संख्या और प्राप्त भूमि के आंकड़ों की पूरी पूरी जानकारी इस पुस्तक में दी गयी है। १९५१ से १९६२ तक ११,४८२ गांवों के २४ ८७३ दाताओं द्वारा ४,३३ ९७२ ७९ एकड़ भूमि मिली और १९६२ तक ६० ५८० आदाताओं में १ ८९ ११२ २३ एकड़ भूमि बटी है। ५६ गांवों का ग्रामदान हुआ। इन गांवों की पूरी जानकारी इसी पुस्तक में मिलेगी।

जिन गांवों का ग्रामदान हुआ और जिन गांवों में जमीन बांटी गयी है उन गांवों में नवनिर्माण के काम भी हुए हैं। इसके बारे में खुद प्रकाशक ने लिखा है—'अब सूखे चेहरों में दीप्ति डालकर पुरुषार्थ जहां देश को सबल बना रहा है उसकी झलक—अच्छा तो रहता कि कार्य स्थलों का निरीक्षण करके ली जाती, पर जो वहां न जा पायें, वे—आगे के पृष्ठों में अंकित वहां की सही-सच्ची रिपोर्ट से लें और भूदान गंगा के दूसरे कूल के सौन्दर्य दर्शन से अपना हृदय समृद्ध करें।'

'गांधी के पथपर'

'गांधी के पथ पर' उत्तर प्रदेश गांधी स्मारक निधि की तरफ से एक मासिक पत्रिका श्री अक्षय कुमार करण के सम्पादकत्व में सेवापुरी, वाराणसी से प्रकाशित होती है।

मुख्य रूप से गांव में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को ध्यान में रखकर ही यह पत्रिका प्रकाशित होती है। उत्तर प्रदेश में हो रहे रचनात्मक कार्यों की जानकारी बराबर होती रहती है इस पत्रिका से। इसलिए उत्तर प्रदेश के लिए ज्यादा उपयुक्त है।

जनवरी १९६३ का अंक 'सम्मेलन विशेषांक' प्रकाशित हुआ है। सेवापुरी में १९ से २१ दिसम्बर '६२ तक 'कार्यकर्ता सम्मेलन', २२ और २३ को 'नयी तालीम परिसंवाद' और २४, २५ को 'ग्रामस्वराज्य सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन के अवसर पर सम्मेलन में जितने प्रमुख लोग आये थे उनके भाषणों का संकलन इस अंक में प्रकाशित हुआ है।

पाठकों को इस अंक में एक साथ ही विभिन्न प्रकार के विचार पढ़ने को मिलेंगे। चीन भारत सीमा विवाद पर कार्यकर्ताओं ने अच्छी चर्चा की। चूंकि भारत के सामने भारत की रक्षा का सवाल मुख्य हो गया है इसलिए इसको छोड़कर कोई दूसरी चर्चा कर ही नहीं सकता।

चीन भारत सीमा विवाद पर चर्चा करते हुए एक भाषण में कहा गया है कि यह लड़ाई थोड़ी सी जमीन की नहीं बल्कि हमारे लोकतंत्र को खतम करने की लड़ाई है। हमें लोकतंत्र की रक्षा करनी है। इस विषय पर भाषण में काफी विस्तार से साफ साफ समझाया गया है।

चीन भारत सीमा विवाद के बारे में कई लोगों के विचार पढ़ने को मिलेंगे जो पठनीय और मननीय है।

गांधी स्मारक निधि, उ० प्र० के कामों के संक्षिप्त परिचय की भूमिका में बताया गया है कि किन किन केन्द्रों में कौन सा काम हो रहा है।

नयी तालीम पर श्री वेदभान राय, श्री अक्षयकुमार करण, श्री धीरेन्द्र मजूमदार और श्री राममूर्ति आदि के विचार प्रकाशित हैं।

कु० कुमार

१८ अप्रल, १९६३ के अवसर पर

"भूदान-यज्ञ" साप्ताहिक का एक संग्रहणीय विशेषांक

१२ वर्षों के समग्र घटनाक्रम और भूदान-आन्दोलन के एक युग का लेखा-जोखा

● पत्रिका का आकार डबलक्राउन अठपेजी (७½" × १०") तथा पृष्ठ-संख्या लगभग १०० होगी।

● बहुरंगी मुखपृष्ठ तथा आन्दोलन से सम्बधित कुछ प्रमुख व्यक्तियों के चित्र।

● नक्शे, चार्ट, आँकडे तथा प्रगति के बढ़ते चरण आदि की जानकारी।

● आन्दोलन की समस्त प्रवृत्तियों पर विशिष्ट विचारकों की, चिन्तन तथा उनकी अनुभव-प्रधान महत्वपूर्ण सामग्री का चयन।

● सर्व-सेवा-सघ का इतिहास, प्रवृत्तियों की गतिविधि, कार्यक्रमों का सिंहावलोकन तथा विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन।

● अक की एक प्रति का मूल्य दो रुपया।

● रुपया भेज कर अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें।

● यह विशेषाक आन्दोलन से लगे कायकर्ताओं, रचनात्मक सस्थाओ, अध्ययन-शील व्यक्तिया, विद्यार्थियों, सामान्य नागरिकों तथा पुस्तकालयों के लिए सामान्य रूप मे उपयोगी साबित होगा।

विज्ञापन

इस अक में भूदान यज्ञ पत्रिकाओ तथा सर्व सेवा-सघ प्रकाशन का पुस्तकों क विज्ञापन रहेंगे। इन विज्ञापनों के लिए दाताओं से दान प्राप्त करने क लिए दरें नीचे अनुसार रहेंगी और उनका स्थान उनक द्वारा पहले घोषित रहेगा।

पूरे पृष्ठ क विज्ञापन के लिए रु० ५००—००
आधे पृष्ठ के विज्ञापन के लिए रु० २५०—००

'भूदान यज्ञ' के जिन नये ग्राहकों का चदा हमारे पास ३१ मार्च '६३ तक आ जायेगा, उन्हें यह १८ अप्रैल का 'विशेषाक' नि:शुल्क दिया जायेगा।

—मत्री, अ० भा० सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

पुस्तकें—

'भूदान और नव-निर्माण'

प्रकाशक : उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ-समिति,
सेवापुरी, वाराणसी।

'नयी तालीम' के पाठक भूदान यज्ञ आन्दोलन से अपरिचित तो नहीं ही होंगे। विनोबा के द्वारा १९५१में यह आन्दोलन हैदराबाद से शुरू हुआ और आज तक सतत प्रवाहित है। हां, इस समय इस आन्दोलन में शिथिलता जरूर आ गयी है।

उत्तर प्रदेश में विनोबा जी का दो बार शुभागमन हो चुका है। पहली बार ८ अक्तूबर, १९५१ से १३ सितम्बर, १९५२ तक विनोबा यहां रहे और दूसरी बार असम के रास्ते में १९६० में यहां आये।

उत्तर प्रदेश में अक्तूबर १९५१ से १९६२ तक भूदान काम और नवनिर्माण के काम की पूरी जानकारी आंकड़ों के साथ इस पुस्तक में दी गयी है।

पहली यात्रा की अवधि में भूदान में ५ लाख एकड़ भूमि के दानपत्र विनोबा को मिले थे।

उत्तर प्रदेश की दूसरी पदयात्राओं का भी उल्लेख किया गया है। जिन जिलों के जितने गांवों ने दान दिया उन जिलों के नाम गांवों की संख्या के साथ दाता-संख्या और प्राप्त भूमि के आंकड़ों की पूरी पूरी जानकारी इस पुस्तक में दी गयी है। १९५१ से १९६२ तक ११,४८२ गांवों के ३४ ८७३ दाताओं द्वारा ४,१३,९७२ ७९ एकड़ भूमि मिली और १९६२ तक ६० ५८० आदाताओं में १ ८९ ११२ २३ एकड़ भूमि बंटी है। ५६ गांवों का ग्रामदान हुआ। इन गांवों की पूरी जानकारी इसी पुस्तक में मिलेगी।

जिन गांवों का ग्रामदान हुआ और जिन गांवों में जमीन बांटी गयी है उन गांवों में नवनिर्माण के काम भी हुए हैं। इसके बारे में खुद प्रकाशक ने लिखा है—'अब सूखे चेहरों में दीप्ति डालकर पुरुषार्थ जहां देश को सबल बना रहा है, उसकी झलक—अच्छा तो रहता कि कार्य-स्थलों का निरीक्षण करके ली जाती, पर जो वहां न जा पायें, वे—आगे के पृष्ठों में अंकित वहां की सही-सच्ची रिपोर्ट से लें और भूदान गंगा के दूसरे कूल के सौंदर्य दर्शन से अपना हृदय समृद्ध करें।'

'गांधी के पथपर'

'गांधी के पथ पर' उत्तर प्रदेश गांधी स्मारक निधि की तरफ से एक मासिक पत्रिका श्री प्रबोध कुमार करण के सम्पादकत्व में सेवापुरी, वाराणसी से प्रकाशित होती है।

मुख्य रूप से गांव में काम करनेवाले कार्यकर्ताओं को ध्यान में रखकर ही यह पत्रिका प्रकाशित होती है। उत्तर प्रदेश में हो रहे रचनात्मक कार्यों की जानकारी बराबर होती रहती है इस पत्रिका से। इसलिए उत्तर प्रदेश के लिए ज्यादा उपयुक्त है।

जनवरी १९६३ का अंक 'सम्मेलन विशेषांक' प्रकाशित हुआ है। सेवापुरी में १९ से २१ दिसम्बर '६२ तक 'कार्यकर्ता सम्मेलन', २२ और २३ को 'नयी तालीम परिसंवाद' और २४, २५ को 'ग्रामइकाई सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन के अवसर पर सम्मेलन में जितने प्रमुख लोग आये थे उनके भाषणों का संकलन इस अंक में प्रकाशित हुआ है।

पाठकों को इस अंक में एक साथ ही विभिन्न प्रकार के विचार पढ़ने को मिलेंगे। चीन भारत सीमा विवाद पर कार्यकर्ताओं ने अच्छी चर्चा की। चूंकि भारत के सामने भारत की रक्षा का सवाल मुख्य हो गया है इसलिए इसको छोड़कर कोई दूसरी चर्चा कर ही नहीं सकता।

चीन भारत सीमा विवाद पर चर्चा करते हुए एक भाषण में कहा गया है कि यह लड़ाई थोड़ी सी जमीन की नहीं बल्कि हमारे लोकतंत्र को खतम करने की लड़ाई है। हमें लोकतंत्र की रक्षा करनी है। इस विषय पर भाषण में काफी विस्तार से साफ साफ समझाया गया है।

चीन भारत सीमा विवाद के बारे में कई लोगों के विचार पढ़ने को मिलेंगे जो पठनीय और मननीय हैं।

गांधी स्मारक निधि, उ० प्र० के कामों के संक्षिप्त परिचय की भूमिका में बताया गया है कि किन किन केन्द्रों में कौन सा काम हो रहा है।

नयी तालीम पर श्री केशभान राय, श्री प्रबोधकुमार करण, श्रीधीरेन्द्र मजुमदार और श्री राममूर्ति आदि के विचार प्रकाशित हैं।

कृ० कुमार

१८ अप्रल, १९६३ के अवसर पर

"भूदान-यज्ञ" साप्ताहिक का एक संग्रहणीय विशेषांक

१२ वर्षों के समग्र घटनाक्रम और भूदान-आन्दोलन के एक युग का लेखा-जोखा

● पत्रिका का आकार डबलक्राउन अठपेजी (७½" × १०") तथा पृष्ठ-संख्या लगभग १०० होगी।

● बहुरंगी मुखपृष्ठ तथा आन्दोलन से सम्बधित कुछ प्रमुख व्यक्तियों के चित्र।

● नक्शे, चार्ट, आँकड़े तथा प्रगति के बढ़ते चरण आदि की जानकारी।

● आन्दोलन की समस्त प्रवृत्तियों पर विशिष्ट विचारकों की, चिन्तन तथा उनकी अनुभव-प्रधान महत्वपूर्ण सामग्री का चयन।

● सर्व-सेवा-संघ का इतिहास, प्रवृत्तियों की गतिविधि, कार्यक्रमों का सिंहावलोकन तथा विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन।

● अंक की एक प्रति का मूल्य दो रुपया।

● रुपया भेज कर अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें।

● यह विशेषांक आन्दोलन से लगे कार्यकर्ताओं, रचनात्मक संस्थाओं, अध्ययन-शील व्यक्तियों, विद्यार्थियों, सामान्य नागरिकों तथा पुस्तकालयों के लिए सामान्य रूप से उपयोगी साबित होगा।

विज्ञापन

इस अंक में भूदान पत्र पत्रिकाओं तथा सर्व सेवा-संघ प्रकाशन की पुस्तकों के विज्ञापन रहेंगे। इन विज्ञापनों के लिए दाताओं से दान प्राप्त करने के लिए दरें नीचे अनुसार रहेंगी और उतना स्थान उनके द्वारा प्रदत्त घोषित रहेगा।

पूरे पृष्ठ के विज्ञापन के लिए रु० ५००—००

आधे पृष्ठ के विज्ञापन के लिए रु० २५०—००

'भूदान यज्ञ' के जिन नये ग्राहकों का चंदा हमारे पास ३१ मार्च '६३ तक आ जायेगा, उन्हें यह १८ अप्रैल का 'विशेषांक' निःशुल्क दिया जायेगा।

—मंत्री, अ० भा० सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

लाइसेन्स नं० ४६

पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त

मार्च १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए० १७७३

भारी है तो क्या, भाई है

मसूरी के कैंपटी हाल की ओर जानेवाली सड़क पर एक छोटी-सी पुलिया है। मैंने देखा—एक बच्चा पुलिया पर खड़ा था, दूसरा नीचे जमीन पर। पहला लड़का था, पांच-छह साल का, खूब मोटा-ताजा; दूसरी लड़की थी, कुछ ही बड़ी, लेकिन शरीर से हल्की। लड़की लड़के को गोद मे उठा कर चलने की कोशिश कर रही थी लेकिन उसका बोझ संभाल नहीं पाती थी। एक बार, दो बार, तीन बार, लेकिन हर बार असफल। मैं और मेरे मित्र, दोनों खड़े-खड़े देखते रहे। देखते-देखते मैंने खीझ कर कहा—

'बहुत भारी है, क्या उठाती है, पैदल चलने दे।'

लड़की तपाक से बोली—

'भारी है तो क्या, भाई है।'

मैं देखता रह गया। बात १९३४ की है, लेकिन आज तक भूलती नहीं।

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा-संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित

केवल कवर—मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।

गत मास छपी प्रतियाँ ३,०००, इस मास छपी प्रतियाँ २,८००

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान सपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ९

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

अप्रैल १९६३

लाइसेन्स न० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
मार्च १९६३ नयी तालीम रजि० स० ए० १७२३

भारी है तो क्या, भाई है

मसूरी के कैंपटी हाल की ओर जानेवाली सडक पर एक छोटी-सी पुलिया है। मैंने देखा—एक बच्चा पुलिया पर खडा था, दूसरा नीचे जमीन पर। पहला लडका था, पाँच-छह साल का, खूब मोटा-ताजा; दूसरी लडकी थी, कुछ ही बडी, लेकिन शरीर से हल्की। लडकी लडके को गोद मे उठा कर चलने की कोशिश कर रही थी लेकिन उसका बोझ सभाल नही पाती थी। एक बार, दो बार, तीन बार, लेकिन हर बार असफल। मैं और मेरे मित्र, दोनो खडे-खडे देखते रह। देखते-देखते मैंने खीझ कर कहा —

'बहुत भारी है, क्या उठानी है, पैदल चलने दे।'

लडकी तपाक से बोली –

'भारी है तो क्या, भाई है।

मैं देखता रह गया। बात १९३४ की है, लेकिन आज तक भूलती नही।

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा-संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
केवल कवर-मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ ३,००० इस मास छपी प्रतियाँ २,८००

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान संपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

संपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ९

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

अप्रैल १९६३

नयी तालीम

अनुक्रम

पृष्ठ

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चंदा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।
- नयी तालीम का पता—

नयी तालीम
अ० भा० सर्व-सेवा संघ राजघाट,
वाराणसी-१

नयी तालीम

वर्ष–११] [अंक ६

नया मोड़ नहीं, नया छोर

कार्यकर्ता सपरिवार निधिमुक्त तभी हो सकता है जब वह मुख्यतः श्रम-आधारित हो सके। अब तक मैंने कृषि उद्योग को मूल उद्योग के रूप में माना है। दूसरे उद्योग सहायक उद्योग हों, ऐसा कहा है। अब ऐसा लगता है कि श्रमाधार के लिए अगर वस्त्र-उद्योग को मूल उद्योग माना जाय तो क्रांति के संदर्भ में वह अधिक तेजस्वी होगा। कृषि क्रांति का प्रतीक नहीं है। प्रचलित मान्यता कृषि-विरोधी है और हम कृषि के काम में लगते हों तो वह क्रांतिकारी काम होगा। पढ़े लिखे मध्यम वर्ग के नव जवान अपने हाथ से खेती करते हैं, यह भी कोई नयी बात नहीं है, भले ही भारत-जैसे देश में सामंतवादी तथा जातिवादी मानस के कारण, यहाँ साथियों का खेती से गुजारा करना एक नयी बात मालूम होती हो। लेकिन खरखा प्रचलित आर्थिक मान्यता के विरोध में एक चुनौती है। वस्तुतः हमारी क्रांति के संदर्भ में खादी और ग्रामदान ही बुनियादी कार्यक्रम है। खादी पूँजीवाद को चुनौती देती है और ग्रामदान राज्यवाद को।

अब नये मोड़ की चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो कुछ है, उसके मुड़ने की कोई गुंजाइश नहीं दिखता है। १९५४-५५ में वैचारिक संदर्भ में संस्थाएँ जब अधिक नरम थीं, तब अगर मुड़ नहीं सकीं तो आज जब इतनी सख्त हो गयी है तब मुड़ने की कोशिश में टूट भले ही जायँ, वह मुड़ेंगी नहीं, ऐसा दीखता है। इसलिए मेरा मन अब इस बात की ओर मुड़ रहा है कि 'नया मोड़' की कोशिश छोड़कर 'नया छोर' खोजने का प्रयास

करना चाहिए। इस दिशा में जितना ही सोचता हूँ, उतना ही इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि १९४४-४५ के 'नये संस्करण' के प्रस्ताव पर से ही 'नया छोर' पकड़ने की आवश्यकता है। अर्थात् इकाई-केन्द्रित संयोजन को छोड़ कर समग्र-ग्राम-सेवक-केन्द्रित संयोजन पर जाना होगा। बापू का वह आवाहन कि ७ लाख गांव में ७ लाख सेवक बैठ जायं और अपने श्रम तथा जनता के प्रेम के सहारे गुजारा करते हुए समग्र-ग्राम-सेवा करें, वह मेरे दिमाग में निरंतर गूंजता रहता है। समग्र ग्राम-सेवा का स्वरूप 'तालीम-मूलक-कृषि ग्रामोद्योग' का हो और वही कार्यक्रम सेवक के गुजारे का साधन भी हो। अर्थात् सेवक का जीवन-संघर्ष गांव वालों के जीवन-संघर्ष के साथ एक-रूप होने पर उसी के समवाय में तालीम का कार्यक्रम बने।

अगर सेवक कताई और बुनाई में लग्न हो जाय और पूरे साधन के साथ एक एकड़ जमीन अपने साथ रखे तो यह कार्यक्रम सफल हो सकता है। कार्यकर्ताओं का एक लक्ष्य गांववालों से जमीन का साधन लेकर तथा संस्थाओं से उद्योग का साधन प्राप्त कर कताई-बुनाई तथा थोड़ी खेती से अपने गुजारे के कार्यक्रम से शुरू कर गांव या क्षेत्र में फैलने की योजना रखे, तभी आगे चलकर यह ग्राम स्वराज्य की बुनियादी इकाई हो सकेगा। ऐसी इकाई, सरकार जनता के लिए जो सहूलियत देती हो, वह तो ले, लेकिन केन्द्र के लिए जो सब्सिडी आदि देती है, वह न ले। कार्यकर्ता गांव के लोगों से कह सकता है कि आप कातिए हम सिर्फ थोड़ा खर्च संस्था से लेकर मुफ्त उसकी बुनाई कर देंगे। और यह बुनाई कार्यकर्ता खुद कर दे और जैसे जैसे सूत की कताई बढ़े, वैसे-वैसे गांव के परिवारों में से कुछ को अपने संपर्क से बुनाई-परिवार में परिणत करे। कातनेवालों को अपने सूत का कपड़ा मिल जाने पर उसे इस्तेमाल करने के बाद जो कुछ बचे, उसे वह खुद अड़ोस-पड़ोस में बेच ले। हम खादी भंडार न खोलें और न प्रमाण-पत्र की आवश्यकता मानें।

—धीरेन्द्र मजूमदार

सद्ग्रन्थों का प्रभाव

बहुश्रुत परिव्राजकों का यह जमाना नहीं रहा; फिर भी गाव-गाव में सद्ग्रन्थों का सामूहिक श्रवण आज भी कम श्रेयस्कर नहीं है।

विनोबा

पुराने जमाने मे जब गाँव स्वाधीन थे तब जमीन गाँव की मालिकी में थी। उसे कोई बेच नही सकता था। वैसे ही गाय, कन्या और हरिकथा को कोई भी बेच नहीं सकता था। जमीन सबकी थी इसलिए गाँव में समृद्धि थी। गाँव में आवश्यक चीजें बनाने के उद्योग थे। स्कूल ग्राम पचायत की ओर से चलाये जाते थे। लोगो की जैसी इच्छा होती, वैसी तालीम दी जाती थी।

तालीम का रंग

तालीम का रग कैसा था? जहा कालिदास रहते वहाँ रामायण और जहाँ काशीराम रहते वहा महाभारत सुनाते होंगे। जैसा विद्वान् वैसी तालीम। पढना, लिखना और हिसाब करना, यह तीन चीजें सिखायी जाती थी। विद्वानो के मुताबिक विशेष विशेष विद्या विभाग थे। उन दिनो विद्वान और ज्ञानी केवल शहरो में ही नही रहते थे ऋषि, मुनि, तपस्वी और पण्डित छोटे-छोटे गावो में और खास कर नदी के किनारे रहते थे। वहाँ विशेष प्रकार का ज्ञान मिलता था। कुछ लोग उत्तरावस्था में घूमते थे। व चातुर्मास में कहीं एक जगह निवास करते थे। उस समय स्पेशल सेमिनार चलता था। घूमनवाले लोग सारे भारत में घूमते थे, उन्हें भूगोल, जडी-बूटी और सद्ग्रन्थो का ज्ञान रहता था ग्रामीण लोगो को सुन्दर विचार सुनने के लिए मिलते थे।

आज सारी स्थिति बदल गयी है। अब ग्राम सभा नहीं है। गाँव में उद्योग नही हैं। गाँव की, सबको अपनी जमीन भी नहीं है। ज्ञानी पण्डित तो देहात में आते ही नहीं। व शहर में ही रहते हैं। इसलिए जो लोग कालेज में जा सकते हैं वे ही ज्ञान के द्वार पर पहुँच सकते हैं। आज बगाल में बीस प्रतिशत लोग पढे लिखे हैं, उनमें से दस प्रतिशत चार पाँच क्लास तक ही पढे होंगे। जो अगूठे के बदले हस्ताक्षर करते हैं। आज उनकी गिनती भी पढे लिखों में हो गयी है। अंग्रेजी में ज्यादा पढे लिखे को वेल रेड कहते हैं। पहले उसे बहुश्रुत कहा जाता था। हर रोज हरिकथा होती थी और पुराण श्रवण होता था। इस श्रवण-व्यवस्था ने लोगो को ज्ञान दिया। इसलिए जो ज्यादा ज्ञानवाला होता, वह बहुश्रुत कहलाता था। देश की हर भाषा मे रामायण, भागवत और महाभारत ग्रंथ लिखे हुए हैं। इन ग्रथों के अध्ययन और श्रवण से सारा तत्व ज्ञान ग्रामों में पहुँचा है। जो लोग पढना लिखना नही जानते वे भी श्रवण से भारतीय तत्व ज्ञान समझ सकते थे।

भूदान ही तालीम का माध्यम

मैं पजाब से एकाएक राजस्थान गया। वहा एक ऐसा गाँव मिला—जहा एक भी आदमी पढा लिखा नही था। सभा में बहुत बडी सख्या में बहनें आयी थीं। वे नही जानती थी कि यह भूदानवाला बाबा आया है। उन्हें न भूगोल का ज्ञान था और न इतिहास का। तेलगाना क्या है और भूदान कैसे शुरु हुआ, इसका उन्हें पता नहीं था। मुझे लगा कि अब इन्हें कैसे समझाऊगा। आखिर भारत के तत्व ज्ञान का आश्रय लिया। मैंने पूछा—'मरने के बाद क्या होता है?' जवाब मिला—'दूसरा जन्म मिलता है।' फिर पूछा—'कैसे मिलेगा'? 'भला काम किया तो भला जन्म मिलेगा और बुरा

किया तो बुरा।' 'बुरे काम कौन कौन से हैं और भले कौन से ?' 'चोरी करना बुरा काम है और गरीबों की मदद देना अच्छा।'

ऐसे संवाद से उन्हें भूदान की विचार-धारा समझायी। ब्रह्मदेश की सीमा पर ठीक इससे उलटा अनुभव आया। आसाम और ब्रह्म देश की सीमा पर जंगल में एक गाँव है। वहां हमारी सभा में नागा लोग इकट्ठा हुए थे। उनकी भाषा ही दूसरी थी। हमने उनसे पूछा "मरने के बाद क्या होगा ?" बोले—'क्या होगा, कुछ भी नहीं होगा।' मैं घबरा गया—'कुछ तो जरूर होगा। अगर भला काम करेंगे तो भला होगा और अगर बुरा करेंगे तो बुरा।' फिर मैंने और भी बातें समझायी, लेकिन वहां कोई ज्ञानी नहीं था और ज्ञान की भूमिका भी नहीं थी। हमें मालूम हुआ कि वहां रामायण, महाभारत और भागवत जैसे ग्रंथ नहीं चलते।

ज्ञान प्रचार

रामायण, भागवत तथा महाभारत ग्रन्थों ने असाधारण ज्ञान प्रचार किया है। इनसे ब्रह्म विद्या का प्रचार हुआ। ज्ञान, कर्म, जन्म, पुनर्जन्म, मन बुद्धि, चित्त अहंकार आत्मा प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि सभी परिभाषाएं गांव गांव के लोगों को इन ग्रंथों ने समझायी। निद्रा जागृति, स्वप्न पुनर्जन्म, कर्म का परिणाम, स्वर्ग-नरक की व्यवस्था चौरासी लाख योनि, मनुष्य की विशेषता, आदि सारी भाव धारा और तत्वज्ञान इन ग्रंथों ने गांव गांव में पहुँचाया।

अंग्रेजी में आत्मा को सोल' कहेंगे या स्पिरिट' इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। मगर भारत के अनपढ़ लोग भी इन सारी परिभाषाओं को समझ सकते हैं।

निष्ठा

एक बार एक मिशनरी आये, वे कहने लगे—'हिन्दुस्तान में लोग अनेक भगवान् को मानते हैं।' उस गांव में कुछ बच्चे बैठे हुए थे। उनसे पूछा 'इस गांव में कितने मन्दिर हैं ?' बोले—'पांच'। 'हनुमान का, देवी का, विष्णु का और गणेश तथा शंकर का मन्दिर है।' हमने पूछा—'भगवान् कितने हैं ?' जवाब मिला—'एक।' छोटे छोटे बच्चे भी जानते हैं कि भगवान एक है तो हम ने उस मिशनरी से कहा कि आप यह मत समझना कि यहां के लोग अध्यात्म शून्य हैं, नरक के अधिकारी हैं, इन्हें क्रिश्चन की कहानी सुनाओगे तभी इनका उद्धार होगा। इसी धर्म में रहकर गांधी जी जैसे विश्वमान्य विश्वनेता बने हैं। आप निरहंकार बन कर सेवा कीजिए। 'प्रीच लेस एण्ड प्रेक्टिस मोर' यह बात हमने मिशनरी को कही।

गांव के लोग आध्यात्मिक विद्या सम्पन्न हैं, लेकिन अब यह परम्परा टूट रही है। आजकल कुरान, भागवत, रामायण, बाइबिल आदि धर्म ग्रन्थों का अध्ययन नहीं होता। यह अच्छी स्थिति नहीं है। हर रोज शाम को हरि-चर्चा होनी चाहिए। ग्रामदान के बाद क्या करेंगे यह सवाल हमारे सामने आता है। तो मैं कहता हूं कि कम से-कम हर रोज शाम को अच्छी-अच्छी बात सुनने की व्यवस्था होनी चाहिए। ग्रामदान के बाद इतना तो सर्वप्रथम होना ही चाहिए।

जो लोग सेवाभाव से गाँवों में बसे हैं, वे अपने सामने कठिनाइयों को देखकर हतोत्साह नहीं होते। वे तो इस बात को जानकर ही वहां जाते हैं कि अनेक कठिनाइयों में, यहां तक कि गांववालों की उदासीनता के होते हुए भी, उन्हें वहां काम करना है। अतः जिन्हें अपने मिशन और खुद अपने आपमें विश्वास है, वे ही गांववालों की सेवा करके उनके जीवन पर कुछ असर डाल सकेंगे। सादा जीवन बिताना खुद ऐसा सबक है, जिसका आसपास के लोगों पर जरूर असर पड़ता है।

—गांधीजी

मैं कहाँ पहुँचा हूँ ?

एक कार्यकर्ता

मुझे आज भी वह दिन अच्छी तरह याद है जब वर्षों पहले विनोबाजी पहली बार बनारस आये थे। दुबला, नंगा बदन, सिर पर हरे कपड़े का टुकड़ा, काले बाल, सफेद दाढ़ी—ऐसी शक्ल-सूरत का आदमी बापू के बाद पहली ही बार भारतीय जन जीवन में दिखायी पड़ा था। जब मैंने इस आदमी को देखा तो सबसे ज्यादा असर मेरे ऊपर उसकी असाधारण चाल का पड़ा। मेरे मन में बार-बार यह सवाल उठता था कि यह आदमी इतना तेज क्यों चलता है कि इसके साथ के दूसरे लोगों को दौड़ना पड़ता है, और बार-बार मेरा मन यह कहता था कि इस तरह विचार की डोरी में बांध कर जो दूसरों को दौड़ा सके उसमें कोई असाधारण तत्त्व जरूर है। अजीब शक्ल, अजीब चाल ढाल, अजीब बातें किसी चीज का 'प्रचलित' से कोई मेल ही नहीं बैठता था, फिर भी भारतीय जीवन की न जाने किस अज्ञात आकांक्षा का वह प्रतीक होकर आया था कि लोग उसे देखना चाहते थे, सुनना चाहते थे, और उसके करीब जाना चाहते थे। उसकी भाषा समझ में आती थी, लेकिन भाव गले के नीचे नहीं उतरते थे। सब मिलाकर यह स्पष्ट था कि मन को छूनेवाला कोई जादू कहीं था।

(२)

शाम को सार्वजनिक सभा थी। हजारों की भीड़ थी। औरों की तरह मेरे मन में भी यह कुतूहल था कि 'भूमिवाले बाबा' क्या कहता है। मैं सभा में श्रद्धा लेकर नहीं गया था, केवल कुछ जानने की जिज्ञासा लेकर गया था। दान का मार्ग और क्रान्ति की बात दोनों का मेल मैं नहीं बिठा पाता था। मैं यह मानता था कि दान दान है और क्रान्ति क्रान्ति, जो दोनों का मेल मिला सके वह या तो 'जीनियस' है या 'पागल'। मैं यह मानने को तैयार नहीं था कि समाज के विकास में वर्ग संघर्ष का भी कोई विकल्प हो सकता है। गांधी ने हिंसा का विकल्प तो दे दिया था, लेकिन क्या संघर्ष का भी कोई विकल्प हो सकता है ?

मैं सभा से लौटा। मुझे नहीं लगा कि सुनने वालों ने कुछ समझा भी, लेकिन 'बाबा को कुछ देना चाहिए' यह हवा जरूर महसूस हुई। मेरे मन में एक प्रश्न था—'आज तक मनुष्य ने लेने की प्रक्रिया में क्रान्ति देखी है, लेकिन यह आदमी कहता है कि नयी क्रान्ति देने की प्रक्रिया में से निकलेगी।'—यह कैसी क्रान्ति है ? इसका मनोविज्ञान क्या है ? क्या इसकी कोई ऐतिहासिकता भी है ? जिस देने की प्रक्रिया में क्रान्ति है, उसमें कुछ थोड़े ही लोगों के लिए स्थान है क्योंकि सत्ता हमेशा केन्द्रित ही होती है, लेकिन देने की क्रान्ति में हर व्यक्ति क्रान्तिकारी है क्योंकि हर एक के पास देने के लिए कुछ न कुछ है ही। लेकिन क्या क्रान्ति के मनोविज्ञान में इस दान के लिए गुंजाइश है कि हर आदमी देते देते यहां तक दे डाले कि उसके पास देने के लिए कुछ बच ही न जाय, यानी सत्ता और सम्पत्ति का प्रश्न अपने आप हल हो जाय ! क्या 'दान' की कोई 'सोशल डाइलेमिक्स' भी बन सकता है ? कुछ अजीब उलझन लेकर मैं लौटा, लेकिन यह अनुभूति जरूर हुई कि ऐसी उलझन पहले कभी नहीं हुई थी। आस्था नहीं जगी, लेकिन अनास्था पर प्रश्न चिह्न लग गया।

(३)

१३ अप्रैल १९५२ को सेवापुरी (वाराणसी) में सर्वोदय-सम्मेलन हुआ। उस दिन दिनभर मैं सेवापुरी

में ही रहा। पुराने कांग्रेस अधिवेशनों की याद आती थी। उसी तरह की चहल-पहल थी, जोश था, सारे वातावरण के मध्य में विनोबा कौतुक बनकर बैठे थे। सभा में होनेवाले भाषण तो बहुत समझ में नहीं आये क्योंकि उनकी भूमिका अपरिचित सी थी, लेकिन जब यह निर्णय हुआ कि भूमिहीनों के लिए पचीस लाख एकड़ भूमि इकट्ठा करनी है तो ऐसा लगा कि भारतीय आसमान पर आर पार चाँद और तारे अपनी भाषा में कुछ लिख रहे हैं जिसकी रोशनी मन को लुभाती है लेकिन क्या लिखा है, यह समझ में नहीं आता। जमीन मिले या न मिले किंतु मुझे यह लगा कि हिन्दुस्तान के किसी मंच से इस आवाज का निकलना कि भूमि में सबका समान हक है, उस पर मालिकी किसी की नहीं है, नये हिन्दुस्तान के नये इतिहास का पहला अध्याय लिखने की कोशिश था। क्या यह स्वराज्य के 'बुर्जुआ रेवोल्यूशन' के बाद 'प्रालिटैरियन रेवोल्यूशन' का शुभारंभ था?

इतिहास पढ़ना बहुत मजेदार है, लेकिन इतिहास बनाने में शरीक होना कहीं ज्यादा मजेदार है। तो फिर शरीक क्यों न हुआ जाय? मेरे मन में यह प्रश्न पैदा हुआ। देखते देखते जब मई '५२ में मगरौठ का 'पहला ग्रामदान' हुआ तो ऐसा लगा कि कौतुक का जमाना अभी गया नहीं है।

(४)

मन को एक मोहक खिलौना मिल गया। कभी कभी सपनों की एक सुनहली दुनिया आखों के सामने नाच उठती। फिर सवाल उठता 'क्या सचमुच माग मागकर जमीन इकट्ठा करने से मालिकी मिट जायगी?' मित्रों से चर्चा होती अखबार पढ़ा जाता, कुछ सोचने की क्रिया होती—सब मिलाकर दिमाग यह कोशिश करता कि इस विचार की संभावनाएं ज्यादा से ज्यादा दूर तक समझी जाय। वर्ग संघर्ष का नैतिक और शैक्षणिक विकल्प व विचार में बड़ा रोमांस दिखायी देने लगा। भूदान के नैतिक सामाजिक मूल्य आकर्षित करने लगे।

(५)

बिहार से खबर आती थी कि जमीन सैकड़ों नहीं, हजारों एकड़ मिल रही है। सुनकर मेरे 'समाजवादी' मन को बड़ा समाधान होता था। मैं मानता था कि अगर इस तरह मालिक अपनी मालिकी छोड़ते जाय, यहां तक कि पूरे देश में स्वामित्व समाप्त हो जाय तो दुनिया हृदय-परिवर्तन द्वारा विसर्जन को संघर्ष का विकल्प मान लेगा और भविष्य के जिस स्वर्ण युग की कल्पना मार्क्स ने की थी वह साकार हो उठेगी। कभी कभी यह भी लगता था कि जो भी जमीन मिल रही है वह संत-महिमा से और भय होता था कि भले ही विनोबा संत हों लेकिन देश के जन जीवन में 'पर्सनैल्टी कल्ट' शुरू करने का स्थायी परिणाम शायद बुरा ही होगा। कुछ भी हो, नंगी आखें अपने सामने यह कौतुक तो देख ही रही थी कि जमीन जैसी चीज भी 'दान' में मिल सकती है और मजदूर के लिए भी स्वाभिमानी किसान का जीवन संभव बनाया जा सकता है। मुझे याद है कि 'दान' का शक्ति का वर्णन करते हुए मैंने एक मित्र से कहा था कि गया जिले में जमीन की खरीद बिक्री करीब करीब खतम हो गयी है।

मैं सोचने लग गया कि इस काम में लगने लायक है। बिहार में श्रमभारती, खादीग्राम की स्थापना १९५२ में ही हो चुकी थी। धीरेन भाई से मेरा वर्षों का परिचय था। १९५३ की गर्मी में मैं वहां गया—गर्मी की लम्बी छुट्टी बिताने और यह देख लेने के लिए भी कि धीरेन भाई की श्रम साधना में मेरे जैसे आलसी, निकम्मे, अपने हाथ से अपना कपड़ा धोने को श्रम शक्ति का अपव्यय माननेवाले के लिए भी स्थान हो सकता है या नहीं। मेरे कई मित्र पहिले से धीरेन भाई के साथी बनकर मेरे लिए रास्ता खोल चुके थे। यह सब था फिर भी मुझे पक्का निर्णय करने में लगभग एक साल लग गया। १० मई १९५४ को मैं श्रमभारती में पूरा कार्यकर्त्ता बन गया। पहुँचते ही धीरेन भाई ने हाथ में टोकरी और फावड़ा दे दिया और कहा—'इस विश्वविद्यालय के बिल्कुल पहिले दर्जे में तुम्हारा नाम लिखा जा रहा है। देखना फेल मत होना।

[शेष पृष्ठ ३१८ पर]

बालवाड़ी में बच्चों की देखभाल

श्री बहराम एच. मेहता

बालकों की समस्या का निराकरण एव उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से दो मुख्य कार्यक्रम मानव समाज ने स्वीकार किये हैं—बच्चों की देखभाल और बच्चों की शिक्षा। देश के सुदृढ़ और स्वस्थ विकास के लिए उपर्युक्त दो बातों की ओर पूर्ण ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए जनसाधारण को बालकों की शिक्षा की तरफ आकृष्ट करना जरूरी हो जाता है। उसके लाभ तथा उसकी आवश्यकता स्वयं स्पष्ट हैं। इसी के साथ राज्य को भी इस शिक्षा की दृष्टि दी जानी चाहिए। अतः जनसाधारण को बच्चों की देखभाल की वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देना तथा उसके लाभों से परिचित कराना आवश्यक है। जब तक बच्चों की देखभाल नहीं की जाती तब तक शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

बालवाड़ी क्यों ?

प्लेटो और रूसो जैसे महान् शिक्षा शास्त्रियों ने प्राथमिक शिक्षा को राज्य का प्रथम कर्तव्य माना, और तब से ही राज्य बच्चों के प्राथमिक शिक्षण की ओर अधिक ध्यान देता आया है। सामन्त-युग में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के बालकों को मिलती थी। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति और खासकर रूसो ने समस्त बालकों की शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया परन्तु फिर भी लोकतन्त्रीय शिक्षा के आदर्शों पर बीसवीं सदी में ही प्रमुखता से विचार किया जा सका। "बच्चों की देखभाल"—एक व्यापक शब्द है, जिसमें शिशु कल्याण केन्द्र तथा बालवाड़ी—इन दो प्रवृत्तियों का समावेश होता है।

कुछ शिक्षा-शास्त्री, समाज-शास्त्री तथा अन्य वैज्ञानिकों ने बालवाड़ी के विचार को निरर्थक कहा है। क्योंकि उन्होंने बाल्यावस्था में बच्चों के लिए बाहरी सार-सम्भाल की अपेक्षा घर एव परिवार का सम्पर्क अधिक आवश्यक माना है। माता न केवल मानव समाज में, बल्कि पशु-पक्षी एवं प्राणी जगत में भी बच्चों, की, 'प्राकृतिक शिक्षिका' मानी गयी है। इसके अलावा बच्चों को जिस प्यार और सुरक्षा की जरूरत होती है, वह केवल माता-पिता एवं परिवार के द्वारा ही मिलना सम्भव है। आज भी ऐसे कई प्रगतिशील लोग हैं, जो बालवाड़ी तथा प्रशिक्षित बालसेविका की अपेक्षा बुद्धिवान्, स्नेहशील माता-पिता का सम्पर्क अधिक पसन्द करेंगे।

सामन्त-युग में औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ-काल में मनुष्य का जो सामान्य दृष्टिकोण बदला तथा जो सामाजिक उन्नति हुई उसका इस समस्या के हल किये जाने के तरीके पर भी प्रभाव पड़ा है। १९ वीं और २० वी सदी के राजनीतिक एव सामाजिक विचारधारा ने राज्य को 'बच्चों की देखभाल' तथा 'बालकों की शिक्षा' का महत्त्व स्वीकार करने के लिए विवश किया। फलतः कई राज्यों ने बाल कल्याण तथा बालकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व उठाना स्वीकार कर लिया है। जब तक समस्त बच्चों को स्वस्थ रूप से जीवित रहने और सब प्रकार से अपना विकास करने का पूरा-पूरा अवसर नहीं मिलता, तब तक सच्चे अर्थों में न स्वतन्त्रता का उपयोग और न सामाजिक समानता एव न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति ही सम्भव है। इन उद्देश्यों

को प्रत्यक्ष रूप में मान लेने पर अब बच्चों की शिक्षा और उनके कल्याण के लिए शासकीय कार्यवाही, व्यापक सगठन एव स्थानीय सस्थाओं के समुचित सचालन की आवश्यकता पैदा हुई है और इस तरह बालवाडी प्रवृत्ति समाज के शैक्षणिक कार्यक्रम का महत्वपूर्ण अग बन गयी है। बालवाड़ी का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि वह आरम्भ से ही बच्चों में कार्यक्षमता की नींव डाले, जिसमे समाज को कार्यक्षम श्रमिक ही नही, अपितु निपुण तन्त्रज्ञ, मान्त्रिक और प्रशासक भी प्राप्त हों।

गुण विकास का सक्षम साधन बालवाड़ी

प्राणिशास्त्र, शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान की उन्नति ने भी बालवाडी की आवश्यकता पर जोर दिया है। बच्चे के सम्पूर्ण विकास के लिए आज के परिवार एक माता पिता का ज्ञान पर्याप्त माना गया है। जिन मोहल्लों, घरो और झोपडियो में लाखो परिवार रहते हैं, उनका वातावरण बच्चे के सम्पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयुक्त नही है। मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि बच्चे की आदतों का, उसके वर्तावो का और उसकी कार्य प्रवृत्तियो का विकास घर के सीमित वातावरण में सभव नहीं है और व्यक्तित्व एव कल्पना के विकास के लिए तो उसे व्यक्तिगत देखभाल तथा बच्चों के मेल मिलाप की भी जरूरत रहती है। बालक का समग्र विकास उसके अपने अनुभवो से ही होता है और वे अनुभव विविध एव सृजनात्मक होने चाहिए।

समाज की प्राथमिक अवस्था में, उन्नत समाज सिर्फ जनसख्या के सख्यात्मक पहलू पर ही ध्यान देते थे। उसमें भी विशेषत यही देखा जाता था कि बच्चे जीवित रहें तथा स्वस्थ रहें, परन्तु आज समाज की या देश की उन्नति और महानता समाज के सख्यात्मक पहलू को अपेक्षा उसके गुणात्मक पहलू पर अधिक निर्भर है। 'गुणात्मक' पहलू तब तक नहीं आ सकता जब तक अपग और मूढ़ बच्चो का ही नहीं, शिशु मात्र की देखभाल और उसके सच्चे कल्याण की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता।

इससे भी अधिक गाँवो और आदिवासी क्षेत्र में तो बच्चों की समस्या तीन प्रकार की है—जन्म-दर कम करना, मृत्यु दर घटाना और सारे समाज को पूर्ण स्वस्थ बनाना। अत यहाँ बच्चों की देखभाल का नया अर्थ प्रकट होना चाहिए। ग्रामीण एवं आदिवासी क्षेत्र बहुत विस्तृत हैं, किंतु उनके साधन सीमित हैं और उनमें बच्चों के सम्पूर्ण विकास की क्षमता और बच्चो की प्रगति भी गाँव के तग एव सकुचित वातावरण के कारण अवरुद्ध रहती है।

भारत में बालवाडी प्रवृत्ति को प्रयोगात्मक ढग से शुरू करने की आवश्यकता है। साथ ही एक ऐसे वर्ग की जरूरत है जो ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्र में बालवाडी की देखभाल का भार उठाने के लिए प्रशिक्षण प्राप्त हो। वर्तमान परिस्थिति म तीन साल से कम उम्र के बच्चा की आवश्यकताए और समस्याए हल करना कठिन है। इसका अधिकाश भार परिवार और स्वास्थ्य सेवा सस्थाओ को उठाना होगा। तीन वर्ष की उम्र के बाद वे बच्चे बालवाडी में भरती किये जा सकते हैं, जहा उन्हें विकास की बुनियादी सुविधाए प्राप्त होंगी। बुनियादी सुविधाओ में विशेष वातावरण, स्वास्थ्य रक्षा, पौष्टिक आहार की सुविधा, योग्य साथ, वैज्ञानिक ढग से विकास की मुख्य बातों की ओर शास्त्रीय रीति से ध्यान वगैरह बातें सुलभ होंगी।

गाँव की आदर्श बालवाडी

कुल मिलाकर देखा जाय तो ग्रामीण वातावरण में स्वास्थ्य विकास अधिक अच्छी तरह हो सकता है। क्योंकि शहरी गदगी से मुक्त प्राकृतिक वातावरण उप लब्ध होता है। बालवाडी प्रवृत्ति के विचार का इस तरह से विकास किया जाना चाहिए कि जो सस्थाए बिना विशेष साधन सामग्री के कम खर्च मे दक्षतापूर्वक काम करती है उन्हें अधिक से अधिक सख्या में बच्चो की बालवाडियाँ चलाने का मौका दिया जाय। यह जरूरी नहीं कि ग्रामीण बालवाडिया शहर की सज धज का अनुकरण करें। गाँव से कुछ दूर दो एकड जमीन पर बालवाडी का आरभ किया जा सकता है। पास में कुआ या पानी का सोता होना जरूरी है, जिससे वैयक्तिक सफाई और आसपास की सफाई हो सके। ये दोनों ही बातें बच्चो कि स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

दो एकड़ जमीन पेड़ के नीचे खुले स्थल में कक्षा आरंभ करने के लिए पर्याप्त है तथा इसी पर काम चलाऊ छप्पर डालकर बरसात या जाड़े से बचने के लिए प्रबंध हो सकता है। इसी में छोटा-सा खेल का मैदान बनाकर उसमें वहीं के बढ़ई द्वारा बनाये गये सी सा, झूले, फिसलनी, जंगल जिम जैसे खेल के साधन लगा सकते हैं। एक अन्य खेल मैदान सामूहिक खेलकूद के लिए बना सकते हैं। प्राथमिक खेती बालवाड़ी की एक बुनियादी प्रवृत्ति है। इसमें बच्चे बगीचे में फूल और तरकारी-भाजी उगाते हैं। यहां मुर्गीपालन की भी व्यवस्था हो सकती है। बच्चे अन्य पालतू पशु पक्षियों की देखभाल भी स्वयं कर सकते हैं।

सद्भाग्य से ग्राम शिक्षिका से बिलकुल भिन्न अर्थ में बाल-सेविका शब्द का प्रचलन हो गया है। बाल-सेविका मुख्यतः बच्चों की मित्र और साथिन होती है। वह काम करती है। उसे शिक्षा-प्रणाली के पुराने तरीकों से ही संतोष नहीं होता। वह बच्चों के साथ खेलती है और दिन भर उनकी देखभाल करती रहती है तथा उनके जीवन में सक्रिय भाग लेती है।

बड़े-बड़े मकान और अन्य सामग्री पर बेकार खर्च न करना पड़े इसके लिए बालवाड़ी किस प्रकार चलाना है, इस बात को ठीक से सोच लेना चाहिए, जिससे अनुकूल ऋतुओं में बालवाड़ी के कार्यक्रम नियमित रूप से चलाये जा सकें। वर्षा व अत्यधिक शीत के दिन विशेष रूप से छोड़ देना चाहिए। बच्चे को साल में आठ नौ महीने बालवाड़ी में शिक्षा मिल जाये, तो फिर घर में भी उसका ठीक तरह से विकास हो सकेगा।

साधारणतया बालवाड़ी के कार्यक्रम में सुबह की सामूहिक प्रार्थना, स्नान, कलेवा और दो घंटे का विश्राम भी जोड़ना चाहिए। बालवाड़ी में कार्यक्रम सुबह से शाम तक इस तरह होना चाहिए कि बच्चे प्रसन्नता का भी अनुभव करें और सीखते भी जायं तथा अन्त में खेल-कूद कर घर जायं। सुबह की प्रार्थना से लेकर शाम के खेल कूद तक का साढ़े दस घंटे का कार्यक्रम अच्छे रोचक ढंग से बनाया जा सकता है।

बच्चे के लिए साढ़े दस घंटे का कार्यक्रम बहुत बोझिल होता है, यह दलील ठीक नहीं। बच्चे के दिन भर के कार्यक्रम में पढ़ाई के घंटे तो चार रहते हैं, शेष समय तो नाश्ता, आराम, निद्रा और मनोरंजन के लिए। साधारण तौर पर एक बाल सेविका अपनी सहायिका की मदद से २५ बच्चों की देखभाल कर सकती है। बालवाड़ी में बालक तीन वर्ष के दरमियान २४ से २७ माह तक उपस्थित रहेगा। ग्रामीण बालवाड़ी का कार्यक्रम सादा और सरल होना चाहिए। उसमें बालक की देख-भाल पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए, पढ़ाई की पद्धति पर नहीं।

बालवाड़ियों के भिन्न-भिन्न रूप

भारत-जैसे देश में जहां ऐतिहासिक परम्पराएं और रीतिरिवाज इतने भिन्न हैं, वहां सब राज्यों की बाल-वाड़ियों के लिए एक ही प्रकार का कार्यक्रम बनाना संभव नहीं है। यह केवल उपयुक्त साधनों का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि उपयुक्त साधनों को काम में लाने का भी प्रश्न है। इसलिए यदि राष्ट्रीय उन्नति के लिए बालक का सम्पूर्ण विकास करनेवाली उक्त प्रकार की साधन सम्पन्न दिन भर की बालवाड़ी संभव न हो, तो सादी और सरल प्रकार की ऐसी बालवाड़ी जिसे कम व्यय और कम परिश्रम से चलाया जा सके, आरंभ करनी चाहिए।

पहले प्रकार की बालवाड़ियां देश के बहुत से भागों में चल रही हैं, जिन्हें आधे दिन की बालवाड़ी कहते हैं। इसमें बच्चे सुबह आठ बजे एकत्रित होते हैं—प्रातःकालीन प्रार्थना से दिन आरंभ होता है। खेलकूद के पश्चात लगभग एक बजे नाश्ते के साथ उस दिन का कार्यक्रम समाप्त होता है। यह आधे दिन की बालवाड़ी सप्ताह में पांच दिन चलती है। दोपहर का विश्राम और नींद को छोड़कर आधे दिन की बालवाड़ी में पूरे दिन की बालवाड़ी के सभी कार्यक्रम सम्मिलित हैं। फिर भी ऐसी बालवाड़ी में बाल-सेविका और बालक का सम्पर्क उतना कारगर नहीं रहेगा और हो सकता है कि विभिन्न कार्यक्रम भी जल्दबाजी में किये जायें। फलतः पूरे दिन की बालवाड़ी के सदृश उच्च स्तर आधे दिन की बालवाड़ी में नहीं आयेगा। इतना अवश्य है कि ऐसी बालवाड़ी का संचालन व्यय कम होगा। क्योंकि ग्राम-सेविका से दिन में कुछ घंटे बाल-सेविका का कार्य

कराया जा सकता है और शाम को यह ग्राम सेविका का काम भी कर सकती है। तब भी, खेलकूद एवं शिक्षा सम्बन्धी सामान्य साधनों की सहायता से खुली हवा में बालवाड़ी आरंभ की जा सकती है जिससे आगे चलकर यदि पंचायत और ग्रामीण समाज बालवाड़ी का महत्व और उसकी उपयोगिता समझे, तो अधिक सहायता व साधन उपलब्ध कर आधे दिन की बालवाड़ी पूरे दिन की बालवाड़ी में परिवर्तित कर सकते हैं।

जहां इस प्रकार की आधे दिन की भी बालवाड़ी चलाना संभव न हो, यदि गांववाले बच्चों की शिक्षा में रुचि रखते हुए अनुभव करें कि शासन से इस दिशा में सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता है और न आधे दिन की बालवाड़ी चलाने लायक साधन सामग्री भी नहीं जुटा पा रहे हैं, तो वहां शिशु केन्द्र चलाया जा सकता है। यदि बगैर किसी खर्च के गांव वाले चाहें कि गांव के बच्चों की देखभाल का आयोजन हो और उसके हेतु गांववाले यदि एक कार्यकर्ता दे सकें, तब बच्चों के लिए या तो सुबह आठ से दस या शाम को तीन से पांच बजे तक दो घंटे का कार्यक्रम बनाया जा सकता है। बच्चे रोजाना एकत्रित हों, सप्ताह में दो दिन खेलें, अन्य दो दिनों में हस्तकौशल का काम करें और किसी एक दिन दोपहर या शाम को बच्चे सैर करने या घूमने फिरने जायें। इस प्रकार बारी-बारी से बच्चे उन कार्यक्रमों में भाग ले सकते हैं जो तीन से छह वर्ष की आयु तक के बालकों के शारीरिक, भावनात्मक एवं मानसिक विकास के लिए अपेक्षित हैं। वस्तुतः मनोरंजन के आधार पर रोचक और आकर्षक शिशु केन्द्रों का संगठन संभव है तभी समय समय पर गांववालों द्वारा आयोजित सामूहिक खेलकूद एवं विभिन्न कार्यक्रमों में बच्चे आनंद ले सकेंगे।

इसलिए हमारी राय है कि समाज में इस प्रकार की चेतना उत्पन्न की जाय जिससे माता पिता महसूस कर सकें कि घर पर बच्चों की उचित देखभाल करना बच्चों के ही हित में है। साथ ही वे शिशु विकास संबंधी संस्था के कार्यक्रमों में भाग लें ताकि वैज्ञानिक पद्धति से शिशु विकास संभव हो सके। माता पिता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो या नीचा यह तो गौण है। सबसे मुख्य ध्यान [illegible] योग्य बात यह है कि समाज अपने समस्त बच्चों के प्रति स्नेह रखे, उनके विकास में दिलचस्पी ले और उनकी सार सम्हाल करे। इसी से गांवों में सार्वजनिक चेतना उदित होती है।

आर्थिक पहलू

साधारण तौर पर पूरे दिन की पाठशाला २५ बालकों की बालवाड़ी का वार्षिक व्यय अधिक से अधिक ३००० से ४,००० रु० खर्च होता है। आधे दिन की बालवाड़ी आसानी से रु० २००० के खर्च से चलायी जा सकती है। जहां बच्चों के प्रति प्यार, ममता है, जहां बच्चों के लिए त्याग की भावना है, वहां आगामी दस वर्षों के अन्दर भारत के समस्त गांवों के बच्चों के कल्याण के लिए बालवाड़ियां बनाने में रुपए पैसे की कठिनाई कोई रुकावट नहीं डाल सकती। अतः इस दिशा में शीघ्र ही निश्चित और ठोस कदम उठाना अत्यन्त जरूरी है, जिससे तृतीय पंचवर्षीय योजना में कम से कम समय में शिशु कल्याण कार्य की नींव यथा संभव अच्छी तरह रखी जा सके।

यह स्मरण रहे कि यदि हमें शिशु-कल्याण कार्य उचित ढंग से आरंभ करना है और उसका एक विशिष्ट स्तर कायम रखना है तो जब तक गांव का प्रत्येक निवासी अपनी अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुपात में धन की सहायता नहीं करता और केन्द्रीय तथा प्रांतीय शासन, नगर पालिका एवं पंचायतों द्वारा सहयोग प्राप्त नहीं होता तब तक केवल प्राप्त साधनों द्वारा तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत देश के २० प्रतिशत बच्चों की भी व्यवस्था करना असंभव होगा।

और प्राथमिक शिक्षा ?

यह भी हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जब तक देश में प्राथमिक शिक्षा का पूरी तरह विकास नहीं होता, तब तक बालवाड़ी जैसी पूर्व शालेय शिशु संस्थाओं से प्राप्त लाभ पर्याप्त नहीं होंगे। जिनकी बालवाड़ी में निष्ठा है, और जो सचमुच ही बच्चों का हित चाहते हैं वे बालवाड़ी का महत्व अच्छी तरह जानते हैं। किंतु इसके साथ ही भारत में प्राथमिक शिक्षा का निम्न स्तर एवं एक स्वस्थ सुदृढ़ बुनियादी शिक्षा पद्धति की नींव डालने में शासन की असमर्थता देखकर उन्हें निराशा होती है।

यदि हम हर बच्चे को स्वस्थ और जीवन संघर्ष के योग्य बनाना चाहते हैं, आर्थिक दृष्टि से उन्हें कार्यक्षम बनाना चाहते हैं एवं घरेलू, पारिवारिक तथा वैवाहिक जीवन में सुखी और स्वस्थ देखना चाहते हैं, तो सुदृढ शिक्षा-नीति अपनानी ही होगी। साधारणत तीन वर्ष तक पद्धतिपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने के बाद यह जरूरी है कि बच्चे ऐसी प्राथमिक पाठशालाओं में भेजे जायँ जहां शिक्षा का स्तर सतोष जनक हो, तथा शिशु-कल्याण में वास्तविक रुचि रखने वाले सुयोग्य शिक्षकों द्वारा ही जहा शिक्षा दी जाती हो। अत यह बात उन लोगों की दृष्टि में यह भी जरूरी है कि गावों में कार्यक्षम बुनियादी पाठशालाएँ भी हो। यदि हम भावी पीढ़ी को विकसित, स्वस्थ और सुयोग्य नागरिक के रूप में देखना चाहते हैं तो दोनो प्रकार की शिक्षाओं को समान महत्व देना बहुत आवश्यक है।

बालवाड़ी जैसी पूर्व शालेय संस्था का प्रयोग यूरोप, अमेरिका, वियेना, जर्मनी, रूस, इग्लैड जैसे देशो मे किया गया। ये सभी देश इन्हीं तत्त्वों पर विशेष जोर देते है कि बच्चो को प्रेम, स्वच्छता, सादगी किंतु सहवास, सौंदर्यपूर्ण वातावरण, रचनात्मक कार्य, परस्पर सहयोगपूर्ण आनन्द, पौष्टिक भोजन एव विश्राति मिले। प्रकृति-निरीक्षण, सैर आदि कार्यक्रमो के द्वारा प्रकृति के साथ बालक का वास्तविक और निकट सम्पर्क स्थापित हो।

बालवाडी में बच्चे कई तरह से क्रियाशील रहते है, हाथ के काम करते हैं, शाला, बागवानी और खेती के कामो में सहयोग देते हैं। इनके अलावा बाहरी जीवन मे भी बच्चे ही क्रियाशील रहते है—जैसे सैर को जाना, पहाड़ी पर चढ़ना, तैरना, वगैरह। पूर्व शालेय बच्चों का जीवन हमेशा निर्विघ्न और मुक्त रहता है।

तीन वर्ष तक बच्चे का विकास पूर्णत शारीरिक, भावनात्मक और सामाजिक दिशा में होता है। कक्षाओं के कुछ घंटो में कहानी, गीत और नाटक आदि के द्वारा बालक की कल्पना शक्ति का, उसके मस्तिष्क का और धारणा शक्ति का बिना किसी प्रयत्न के विकास किया जा सकता है। बच्चे के शारीरिक विकास के लिए विशिष्ट कार्यक्रम होना चाहिए, जिससे उसकी ऊँचाई बढे, शरीर मजबूत हो और उसमें कार्यक्षमता पैदा हो। तीन वर्ष की आयु तक हर तीसरे माह बच्चे का स्वास्थ्य विवरण दर्ज करना चाहिए, जिसमें इन पांच बातों की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है—१ पौष्टिक आहार, २. खेल के मैदान में और बन में व्यायाम ३ रोगो से बचाव तथा स्वास्थ्य-सुरक्षा, ४. शारीरिक स्वच्छता व सार-संभाल ५. पर्याप्त विश्राम और भरपूर नींद।

दुर्भाग्य है कि ग्रामीण क्षेत्रो में, विशेषतः आदिवासी क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाएं प्रयाप्त मात्रा में उपलब्ध न होने के कारण, भौतिक एव मानव-सुलभ साधनो के अभाव में जितना करना चाहिए उतना हो नहीं पाता। स्वास्थ्य कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित बातो का समावेश होना चाहिए।

१ रोगो की रोकथाम के लिए टीके लगाना।

२ वार्षिक स्वास्थ्य परीक्षण।

३ बच्चे के शारीरिक विकास का विवरण रखना।

४ परीक्षण के बाद चिकित्सा-सेवाएं।

५ चिकित्सकों के मार्गदर्शन एव निरीक्षण में पौष्टिक आहार।

शिक्षा साधन

पूर्व-शालेय शिशु संस्थाओ में, प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत बालक का इन्द्रिय विकास, अच्छी आदतें, अच्छा व्यवहार आदि का समावेश है ही। इसके लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित बाल-सेविका तथा समुचित साधनो की आवश्यकता है। समस्त देश में विभिन्न क्षेत्रो में खेल-कूद या शिक्षा के लिए उपयुक्त सस्ते और सुलभ साधन निर्माण करने के लिए छोटे पैमाने पर ग्रामोद्योगों का सगठन किया जाना चाहिए। किंडर गार्टन या माण्टेसरी शालाओ म प्रयुक्त खर्चीले साधनों को सरल सुलभ बनाना होगा। ग्राम-वातावरण के अनुकूल सरल, शैक्षणिक-साधन उपलब्ध होने चाहिये, जिसमे बालक की स्वाभाविक कार्यकुशलता, क्षमता और अच्छी आदतों का विकास हो।

ग्रामीण क्षेत्रो की बालवाडियो या शिशु केन्द्रो मे शिक्षा-शास्त्रियों एवं बाल मनोवैज्ञानिको के सहयोग से हस्तकौशल का भलीभांति विकास होना चाहिए। गांवों में आसानी से प्राप्त होने वाली वस्तुएं-मिट्टी,

लकडी, पेड, पशु पक्षी आदि का उपयोग सूझ बूझ पूर्वक किया जाय तो उक्त प्रकार के प्राकृतिक साधन गांव में ही उपलब्ध होंगे। सामान्य साधनों के उपयोग द्वारा बच्चों की कार्य-कुशलता और कार्य क्षमता बढ़ जायेगी और वह उनके भावी जीवन में क्रमशः बढ़ती रहेगी। अपनी अपनी मातृभाषा में बालवाडी के बच्चों के लायक बाल-साहित्य निर्माण करने की आवश्यकता है। कहानी गीत, ऐतिहासिक कथाएं भूगोल का सामान्य ज्ञान और प्रकृति का निरीक्षण, भाषा एवं गणित का परिचय, ये कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें देश के बाल साहित्य प्रेमियों और कलाकारों का अथक परिश्रम अपेक्षित है। बाल साहित्य में रंग और चित्र अनिवार्य हैं। उचित मार्गदर्शन के अन्तर्गत ग्राम कलाकारों को बच्चों के लिए अपनी कला का सदुपयोग करने का अवसर मिल सकता है।

बाल कला

बच्चों की कला देश को संस्कृति को समृद्ध करती है। बच्चों के भावनात्मक विकास में चित्रकला, मिट्टी के खिलौने बनाना रंग भरना रंगोली बनाना, सामूहिक गीत नृत्य नाटकों आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। शैशव अवस्था में सौंदर्य ज्ञान तथा सौंदर्य विषयक दृष्टि का बड़ी ही आसानी से विकास होता है। उक्त कलात्मक प्रवृत्तियां बच्चों का जीवन अधिक सम्पन्न और सम्पूर्ण बनाती हैं और उन्हें आनन्द प्रदान करती हैं। फ्रोबेल ने हमें बच्चे के जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुभव माना है। बालवाडी में बालक जब अन्य बालकों के साथ रहता, खेलता और काम करता है, तब भी उसका भावनात्मक विकास होता है।

जबतक घर और माता पिता का बालवाडी तथा शिशु केन्द्रों के कार्यक्रम एवं आयोजना से सम्बन्ध स्थापित नहीं होता तब तक बालक का समुचित विकास सम्भव नहीं। यह पाया गया है कि माता बालवाडी या शिशु केन्द्रों के कार्यक्रमों में और अपने बच्चों के जीवन में अधिक दिलचस्पी लेती हैं। बालसेविका, ग्रामसेविका तथा महिला मंडल के पारस्परिक सहयोग से माता पिता तथा बालवाडी या शिशु केन्द्रों का सम्पर्क अनायास बढ़ाया जा सकता है। गांव के प्रत्येक घर में एक अच्छी बाल सेविका का सदा हितैषी मित्र की भांति स्वागत होता है। वह सामाजिक शिक्षिका है जो धीरे धीरे माताओं को शिशु संगोपन सिखाती है, जिससे उनके स्वास्थ्य और सुख में वृद्धि हो। वह माताओं में बच्चों के प्रति उत्साह और आकर्षण भी पैदा करती है।

यदि गांव के बच्चों की उचित देखभाल हो तो राष्ट्र अपनी सुरक्षा में सदा समर्थ रहेगा। बच्चों की देखभाल केवल माता पिता या बालवाडी या समाज को अकेले अकेले नहीं करनी है। इस कार्य के लिए घर, समाज, तथा बालवाडी का सहयोग एवं शासन का संरक्षण प्राप्त होना आवश्यक है जिससे राष्ट्रीय जीवन की सर्वांगीण प्रगति के लिए एक सुदृढ़ चारित्र्यवान शक्तिशाली नये समाज का निर्माण हो सके।

[कस्तूरबा स्मारक से साभार]

•

माँ-बाप अपने बालकों को जो सच्ची सम्पत्ति समान रूप से दे सकते हैं, वह है उनका अपना चरित्र और शिक्षा की सुविधाएं।

—गांधी

श्री रामभूषण

इंगलैंड की शिक्षा-पद्धति

(उत्तरार्ध)

बच्चों की शिक्षा

नया संगठन

१९४४ के एज्युकेशन ऐक्ट से इंग्लैण्ड के शिक्षा संगठन को जनतांत्रिक प्रणाली पर चलने का मार्ग प्रशस्त हो गया। ऐक्ट के अनुसार पब्लिक शिक्षा का कानूनी ढांचा तीन स्तरों पर संगठित हुआ, इसमें पहला है 'प्राइमरी शिक्षा' जिस में पांच से ११ या १२ वर्ष तक के बच्चों के पढ़ने की व्यवस्था है। प्राइमरी के तुरंत बाद सेकण्डरी एज्युकेशन का नंबर आता है जो सर्वसाधारण और विशिष्ट वर्ग के लिए शिक्षा की इस असंगत प्रणाली को समाप्त कर देता है।

शिक्षा का प्राइमरी स्तर स्वयं भी कई स्तरों में बंटा हुआ है। अगर नर्सरी स्कूल को भी शामिल कर लिया जाय तो पहला स्तर तो वह है जब अनिवार्य शिक्षा की उम्र शुरू होती है और आगे बढ़ कर इन्फेंट स्कूल में सात वर्ष की उम्र तक चलता है। और इसके बाद जूनियर स्कूल का नम्बर आता है जो ११ वर्ष की उम्र तक चलता है। जनता को इस प्रकार की शिक्षा अलग अलग स्कूलों में ही उपलब्ध है, हां, कुछ उन जगहों को छोड़ कर जहां नर्सरी क्लास इन्फेंट स्कूलों से जुड़े हुए हैं या उन जगहों में, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में, जहां इन्फेंट स्कूलों और जूनियर स्कूलों को अलग-अलग हटाना एक तरह से असंभव हो रहता है। किंडर गार्टन स्कूल तो हमेशा प्राइवेट ही चलाये गये हैं और जिन स्कूलों में पाए भी जाते हैं, उनको पब्लिक फण्ड से कोई सहायता नहीं मिलती। किंडर गार्टन के जो आधुनिक सिद्धांत हैं उन्होंने इन्फेंट स्कूलों में चलने वाली पद्धति पर भी असर डाला है।

नर्सरी स्कूल और नर्सरी क्लास

प्रथम विश्व महायुद्ध के बाद बच्चों की देखभाल के संबंध में कुछ आधुनिक तरीकों की परीक्षा ली गयी। उन के पहले तो बच्चों का जो क्लास चलता था वह शारीरिक या शैक्षणिक दोनों ही तरीकों से असंतोषजनक था। इस नयी भावना पर रैचेल और मार्गरेट मैकमिलन की रचनाओं का काफी प्रभाव पड़ा। इन महानुभावों ने १९०९ में लण्डन की गंदी बस्तीवाले इलाकों में एक नर्सरी स्कूल चला रखा था। १९१८ के शिक्षा एक्ट ने स्थानीय अधिकारियों को यह अधिकार दिया कि स्थानीय फण्ड से वे डे नर्सरी' या 'नर्सरी स्कूल' चलायें। लेकिन ऐसी कोई ड्यूटी नहीं बनायी गया। इस बात का भी प्रयत्न

> *इंग्लैण्ड को इस बात का श्रेय है कि वहां शिक्षा पर शासन का कम-से-कम नियंत्रण है, शिक्षा सर्व-सुलभ है और शिक्षा का प्रबंध अधिक से अधिक लोकतंत्रीय है।*

किया गया कि यदि ऐसे स्कूल चलाये ही जाते हैं तो उनका आधा खर्च बोर्ड आव एज्युकेशन देगा, लेकिन कई कारणों से, मुख्यतः आर्थिक कारणों से, पब्लिक नर्सरी स्कूलों और नर्सरी क्लास का संगठन बड़ा शिथिल रहा।

नर्सरी स्कूलों में शिक्षा पर जितना जोर दिया जाता है उतना ही बच्चे की शारीरिक दशा की देखभाल पर भी है। मेडिकल इन्स्पेक्शन और ट्रैण्ड शिक्षकों की सतर्क दृष्टि से बच्चे की कमजोरी या खराबी का पता प्रारम्भ में ही लगा कर स्कूली जीवन को अधिकाधिक सफल बनाने का प्रयास किया जाता है।

नर्सरी स्कूलों का महत्व तो केवल इस बात से समझा जा सकता है। कि उन की व्यवस्था करना उच्च स्थानीय शिक्षा अधिकारियों की ड्यूटी के अन्तर्गत आ गया है। १९४४ के एज्युकेशन ऐक्ट का आठवां पैराग्राफ अन्य चीजों के साथ यह भी व्यवस्था करता है कि अपने कर्तव्यों का पालन करते समय कोई स्थानीय शिक्षा अधिकारी इस बात का पूरा ध्यान रखे कि जिन बच्चों की उम्र अभी पांच वर्ष की नहीं हुई है उसके लिए नर्सरी स्कूल अवश्य स्थापित किये जाय या जहा ऐसे नर्सरी स्कूलों की स्थापना जरूरी न समझी जाय वहा कम से कम नर्सरी क्लासों की व्यवस्था तो की ही जाय। नर्सरी स्कूलों या नर्सरी क्लासों से यह उम्मीद की जाती है कि वे बच्चों के घरों से निकट सम्पर्क बनाये रखेंगे और साथ ही बच्चों की माताओं को यह जानने में मदद भी करते रहेंगे कि अच्छी तरह घर-बार चलाने और अच्छी जिंदगी बिताने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। नर्सरी स्कूल का उद्देश्य १९४५ में लंदन में प्रकाशित मिनिस्ट्री आव एज्युकेशन के पैम्फलेट न० १ (दी नेशनल स्कूल, देयर प्लान एण्ड परपज) में स्पष्ट बताया गया है—नर्सरी स्कूल का विशेष उद्देश्य है जिन बच्चों को जरूरत हो, मेडिकल सहायता करना, उन्हें अच्छी आदतों और ठीक बर्ताव की ट्रेनिंग देना और एक ऐसा वातावरण तैयार करना जिस में अपनी अवस्था के अनुरूप चीजें वे सीख सकें। इस प्रकार रचनात्मक, कल्पनात्मक तथा स्वय निर्मित किये हुए विभिन्न प्रकार के खेलों की व्यवस्था का प्रबन्ध नर्सरी स्कूल करता है और बच्चों को अपने शारीरिक विकास का पूरा अवसर देता है। अपने चारों तरफ बिखरी सार्वजनिक सम्पत्ति के संबंध में भी बच्चों को अनुभव मिले इसका भी उन्हें मौका दिया जाता है। उनके हाथों में हुनर आये और वे सीख सकें कि किस चीज के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है। आपस में तथा अपने बड़ों से बात करके वे भाषा का प्रयोग भी सीखते हैं।

इन्फैण्ट स्कूल—

बच्चे का स्कूली जिंदगी का दूसरा स्तर है इन्फैण्ट स्कूल जहा बच्चा अपनी अनिवार्य शिक्षा की शुरुआत पांच वर्ष की उम्र से करता है। इङ्गलैण्ड के इन्फैण्ट स्कूलों का इतिहास १४० वर्ष पुराना है। १८३७ में प्रकाशित हैंडबुक आव् आर्गनाइजेशन के पृष्ठ ९८ पर इन्फैण्ट स्कूल का यह रूप दिया गया है 'इन्फैण्ट स्कूल वह स्थान होगा जहाँ जीवन की शैशवावस्था का उसकी खामियों और विचित्रताओं के साथ स्पष्ट दर्शन होगा और जहा प्रत्येक कार्य एक जीवित भावना (स्पिरिट आव एड वेंचर) के साथ होगा, जहा बच्चों को अपना रुचि की अनेक चीजें मिलेंगी और अपनी अवस्था के अनुरूप उन्हें स्वतन्त्रता और अनुशासन दोनों मिलेगा और इस तरह उनकी समूहमें रहनेकी भावना का विकास होगा। इस स्कूल का पांच वर्ष का बच्चा अपने हम-उम्र बच्चों के मुकाबिले अधिक आत्मदृढ, उत्तरदायित्वपूर्ण, स्वतन्त्र और किसी काम में अपने को अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ लगा देने के अधिक योग्य होगा। साथ ही उस कार्य विशेष को करने का जो सही तरीका है उसके प्रति भी उसके मन में अन्य बच्चों के मुकाबिले अधिक आस्था होगा।''

जहाँ तक आँकड़ों का सम्बन्ध है, यहाँ केवल यह निर्देश किया जा सकेगा कि १९५३ में इङ्गलैण्ड के ५४७५ विभिन्न इन्फैण्ट स्कूलों में बच्चों की संख्या १,१४६,३५४ (५६१, ६८२ लड़के, और ५२८,२७२

लड़कियां) थी और जूनियर स्कूलों से लगे हुए स्कूलों में ५ से ७ वर्ष के बीच के बच्चों की संख्या ४७६, ६४६ थी।

जूनियर स्कूल

प्रायमरी शिक्षा में जो स्तर सम्मिलित हैं उनमें जूनियर स्कूल का नंबर तीसरा पड़ता है। जूनियर स्कूलों में बच्चे इन्फेण्ट स्कूलों से ७ वर्ष की उम्र में आते हैं और यहाँ से पढ़ कर वे किसी सेकेण्डरी स्कूल में ११ वर्ष की अवस्था में चले जाते हैं। जूनियर स्कूल की स्थापना का खास उद्देश्य है बच्चे के चतुर्मुखी विकास के लिए अवसर प्रदान करना तथा बच्चों की शिक्षा में एक ऐसा स्तर प्रदान करना जो उसे आगे आनेवाले स्तर के लिए तैयार करने का माध्यम बने।

जूनियर स्कूल हो या और कोई स्कूल, इंग्लैण्ड में सभी प्रकार के स्कूलों की यह एक बड़ी विशेषता है कि मिनिस्ट्री आव एज्युकेशन न तो 'करीक्यूलम' लादती है न 'स्टडी-कोर्स' और न 'मेथेड आव इन्स्ट्रक्शन' ही। उसे न इस बात की आकांक्षा ही रहती है कि १६४४ के एज्युकेशन एक्ट ने उसे जो अधिकार दिये हैं उनका वह कोई इस्तेमाल करे ही। प्रत्येक स्कूल का प्रशासन उसके हेडमास्टर द्वारा चलाया जाता है जो बच्चों का वर्गीकरण और स्कूलों के शिक्षकों का निरीक्षण करता है। वह अपने स्टाफ की सहायता के साथ या बिना उसके पढ़ाई का 'करीक्युलम' या 'कोर्स आव स्टडी' या 'सिलेबस' भी बनाता है। इन सब मामलों में स्कूलों को कितनी छूट है उसका पता इसी बात से चल जाता है कि कोई छपी-छपाई चीज इन सब चीजों के मार्गदर्शन के लिए नहीं है। यह बहुत संभव है कि एक स्कूल और दूसरे स्कूल के स्टैण्डर्ड में भिन्नता हो लेकिन काम करने की इतनी छूट और इतना मौका है कि जिनमें काम करने, आगे बढ़ने और दूसरे का मार्गदर्शन करने की योग्यता होती है उन्हें भरपूर अवसर मिलता है।

नर्सरी और इन्फण्ट स्कूलों की तरह प्राइमरी स्कूलों में भी कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। शायद सब से बड़ा परिवर्तन जो प्रथम विश्व-महायुद्ध के बाद हुआ है, यही है कि अब स्कूल डेमाक्रेसी का स्थान बन गया है। निरक्षरता दूर करने, बच्चों की मानसिक ट्रेनिंग, दिमाग में ज्ञान का कुछ स्टाक जमा कर लेना—इन चीजों पर अब तक जोर दिया जाता रहा था, उसके स्थान पर अब व्यक्ति के चतुर्दिक विकास पर जोर दिया जाने लगा है।

इसी प्रकार का परिवर्तन स्कूल का उद्देश्य निश्चित करने में भी हुआ है। कुछ विषयों की पढ़ाई के बदले अब स्कूल का काम है :

१ ऐसा वातावरण प्रदान करना जो व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही रूपों में विकास के उपयुक्त हो,

२ ऐसे उपयुक्त वातावरण में स्वस्थ विकास को प्रोत्साहित करना और उसका मार्गदर्शन करना,

३ बच्चों को इस योग्य बनाना कि उनमें ऐसी आदतों, हुनर, ज्ञान, रुचि और मानसिक रुझान का विकास हो जिनकी आवश्यकता उन्हें पूर्ण और उपयोगी जीवन बिताने के लिए पड़ेगी . और

४ व्यवहार, प्रयत्न और प्राप्ति का ऐसा मानदण्ड स्थापित करना जिससे वे अपने चरित्र की जांच स्वयं कर सकें।

आज तो इस बात पर ज्यादा से ज्यादा ज़ोर है। बच्चे को स्कूल में जो शिक्षा हो उसका सम्बन्ध स्कूल की बाहरी दुनिया के साथ भी हो। इसलिए स्कूल की यह ड्यूटी हो जाती है कि वह अपने बच्चों को बाहरी दुनिया देखने और समझने लायक बनाये। प्राइमरी स्कूल का मुख्य उद्देश्य है—"बच्चे जब तक बच्चे हैं उन्हें स्वस्थ रहने में मदद देना और जहा तक संभव हो उन्हें प्रसन्न रखना। वे शरीर से मजबूत और मन से जिंदादिल रहें ताकि अनुभव के साथ-साथ जैसे जैसे वे परिवार रूपी संस्था में पहुँचें, जीवन के लिए जो भी ज्ञान आवश्यक हो वे अच्छी तरह प्राप्त कर सकें और साथ ही जो भी योग्यता

पैदा करने की उन्हें आवश्यकता पड़े वे उसे पैदा कर सकें।"

युवकों की शिक्षा

सेकण्डरी शिक्षा सबके लिए

१९४४ के एजुकेशन एक्ट द्वारा "सेकेण्डरी शिक्षा सब के लिए" के आदर्श की पूर्ति होती है, और यह चीज इंग्लैंड की शिक्षा पद्धति के विकास क्रम में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्तर है। यह प्राप्ति उस आन्दोलन का परिणाम कही जा सकती है जो प्रथम महायुद्ध के दौरान ही किया गया था और जिसका पूर्वाभास १९१८ के फिशर ऐक्ट में मिलता है। यह फिशर ऐक्ट "इस बात को ध्यान में रखते हुए कि शिक्षा की ऐसी राष्ट्रीय व्यवस्था बनायी जाय जिससे वे सभी फायदा उठा सकें जो उठा सकने के योग्य हों", इस बात की व्यवस्था करता है कि "इस एक्ट के अन्तर्गत रखी गयी स्कीमों द्वारा एसी उपयुक्त व्यवस्था की जायगी जिससे बच्चे और युवक उस किसी भी शिक्षा से वंचित नहीं रखे जायेंगे, जिससे वे फायदा उठा सकते हैं, चाहे वे फीस देने में असमर्थ ही क्यों न हों।" इस ऐक्ट ने वैसे, शिक्षा के पूरे ढांचे के पुनर्गठन की व्यवस्था नहीं की।

सबको समान अवसर—

१९१८ का फिशर ऐक्ट बना तो जरूर लेकिन कोई प्रगतिशील कदम उठाने के पहिले ही लड़ाई शुरू हो गयी। फिर भी, दोनों बड़ी लड़ाइयों के बीच जिस सम्भावना ने जन्म लिया था उसे भुलाया भी कैसे जा सकता था? जिन आदर्शों के लिए युद्ध लड़ा जा रहा था और लड़ाई के बाद के वर्षों में जिन राष्ट्रीय आवश्यकताओं की योजना हुई थी इन दोनों ने ही पुनर्निर्माण की योजनाओं को एक नयी शक्ल दी। वह मूलभूत सिद्धांत जिस पर सभी योजनाएं आधारित थीं, या शिक्षा के लिए डिमाक्रेसी के अर्थ की पहिले किसी भी समय से अधिक प्रतीति। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक या आर्थिक, किसी भी व्यक्ति की योग्यता के अनुरूप शिक्षा के मार्ग की सभी बाधाओं की समाप्ति। राष्ट्र के हित के लिए भी शैक्षणिक अवसरों की समानता की व्यवस्था ताकि ऐसी प्रतिभाओं की खोज और उनका विकास सम्भव हो सके जो अब तक की शिक्षा की प्रचलित पद्धति में प्रकाश में आ नहीं सकी थीं। इसके अतिरिक्त, उद्योग धंधों और व्यापार में लगे लोगों की योग्यता बढ़ाने की दृष्टि से भी अधिकाधिक शैक्षणिक अवसरों की उपलब्धि आवश्यक हो गयी। और अन्त में, ऊँचे सांस्कृतिक स्तर की प्राप्ति के लिए भी, प्रजातन्त्र में रहने वाले नागरिकों को अधिकाधिक शैक्षणिक अवसर मिलने ही चाहिए। जन्म से लेकर मृत्यु तक शिक्षा अब जीवन पर्यंत एक विकास-क्रम बन गयी और राष्ट्र का यह उत्तरदायित्व हो गया कि वह इसे सभी के लिए उपलब्ध बनाये ताकि अपनी योग्यता के अनुसार सभी इससे लाभ उठा सकें। शिक्षा के इतिहास में कभी भी इस प्रकार की योजना की न तो कल्पना हुई या और न कभी कोई एसी चीज चरितार्थ हो हुई थी। ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास तथा विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के परिणाम स्वरूप सेकेण्डरी स्तर पर भी शिक्षा की उपेक्षा हो भी कैसे सकती थी?

१९४४ का एजुकेशन ऐक्ट—

कन्जरवेटिव, लेबर और लिबरल दलों की सम्मिलित सरकार ने १९४४ के एज्युकेशन ऐक्ट को जन्म दिया। ऐक्ट के सेक्शन आठ में स्थानीय शैक्षणिक अधिकारियों (एल० ई० एज०) की यह ड्यूटी बना दी गयी कि वे प्राइमरी और सेकण्डरी शिक्षा के लिए पर्याप्त स्कूलों की व्यवस्था करें। सेकेण्डरी स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती थी उसकी परिभाषा इस प्रकार थी "पूरे समय की शिक्षा जो सीनियर विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह शिक्षा पूरे समय की उस शिक्षा से अलग ही होगी जिसकी व्यवस्था इस ऐक्ट की धाराओं के अन्तर्गत सीनियर विद्यार्थियों की ऊँची शिक्षा के लिए की जा सकती है। सीनियर विद्यार्थी ग्यारह वर्ष की उम्र के ऊपर के लड़के-लड़कियों को कहा जा सकता है, अतः सेकण्डरी स्कूल के लिए व्यवस्था अनिवार्य है "इस प्रकार की शिक्षा या ट्रेनिंग की जो विभिन्न अवस्थाओं,

योग्यताओं, रुझान की दृष्टि से उपयोगी हो। साथ ही यह शिक्षा उन विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी हो जो अपनी व्यावहारिक शिक्षा और ट्रेनिंग दोनों ही दृष्टियों से अलग-अलग समय देकर स्कूल में शिक्षा ग्रहण करते है।"

१९४४ के एज्यूकेशन ऐक्ट के अन्तर्गत सेकेण्डरी शिक्षा—

१९४४ के एजुकेशन ऐक्ट और उसके रेगुलेशनों के परिणाम स्वरूप इंग्लैंड सेकेण्डरी शिक्षा पब्लिक द्वारा सरक्षित ग्रामर, टेकनिकल, माडर्न स्कूलों के द्वारा जो डाइरेक्ट ग्रान्ट स्कूलों के अन्तर्गत आते हैं, दी जाती है, और साथ ही यह ऐसे प्राइवेट या इण्डिपेण्डेण्ट स्कूलों में भी दी जाती है, जिनकी सख्या पर्याप्त है और जिनमें 'पब्लिक स्कूल" भी आ जाते हैं। पब्लिक द्वारा चलाये गये स्कूल "रेट" या स्थानीय टैक्स और सरकार की उस ग्राण्ट के आधार पर चलते हैं जो मिनिस्ट्री आव एजुकेशन के नियमों उप नियमों के अन्तर्गत दी जाती है। हर प्रकार के स्कूल में विद्यार्थी अपनी योग्यता और रुझान के हिसाब से भेजे जाते हैं। इस योग्यता और रुझान की जाच एक परीक्षा द्वारा तथा उन सूचनाओं के आधार पर की जाती है जिन्हें स्कूल बच्चों की ११ वर्ष की उम्र होने पर देते हैं।

हर प्रकार के स्कूल के निर्दिष्ट कार्य और उद्देश्य होते हैं जो उसे दूसरे स्कूलों से अलग करते हैं। लेकिन सभी स्कूलों के उद्देश्य ऐसे हैं जो सब पर समान रूप से लागू होते हैं। सबसे अधिक मूल्य और महत्व 'चरित्र' को प्रदान किया जाता है। कुछ धार्मिक शिक्षा और सामूहिक उपासना के साथ कार्यारम्भ स्कूलों के लिए अनिवार्य है, क्योंकि चरित्र के आध्यात्मिक पहलू के विकास के लिए इनकी उपादेयता बड़ी ही महत्वपूर्ण समझी जाती है।

लड़के-लड़कियों के ज्यादातर सेकण्डरी स्कूल अलग अलग ही होते हैं। इस बात से अधिकतर लोग सहमत हैं कि सेकण्डरी स्तर पर लड़के-लड़कियों के स्कूल अलग अलग ही हों। कई स्कूल ऐसे भी हैं जिनमें लड़के-लड़कियाँ दोनों ही पढ़ते हैं लेकिन उनमें से अधिकाश यह व्यवस्था तभी तक रखते हैं जबतक सख्या इतनी अधिक नहीं हो जाती है कि अलग-अलग व्यवस्था अनिवार्य हो जाय।

ग्रामर स्कूल

इन तीनों प्रकार के स्कूलों—ग्रामर, टेकनिकल और माडर्न के कई उद्देश्य तथा अन्य कई चीजें एक ही प्रकार की होंगी और पहले दो वर्षों में, विदेशी भाषाओं के पाठ्यक्रम को छोड़कर सबका पाठ्यक्रम भी समान ही होगा, जो विद्यार्थियों की विभिन्न योग्यताओं के अनुरूप होगा। फिर भी, विद्यार्थियों की विभिन्न अभिरुचि और योग्यता तथा स्कूल में उनके निवास-काल का ध्यान रखते हुए हर स्कूल का अपना पाठ्यक्रम होता है। ग्रामर स्कूल के कोर्स की अवधि (११ से १८) ७ वर्षों की होती है। जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, अनिवार्य उपस्थिति की सीमा तक पहुँचते ही काफी तादाद कम हो जाती है। स्कूल में जो विद्यार्थी बच जाते हैं, उनमें से अधिकतर किसी चीज में विशेष योग्यता प्राप्त करने की तैयारी में लग जाते हैं। ये विद्यार्थी सिक्सथ फार्म या छठे वर्ग में, जो सबसे ऊँचा दर्जा समझा जाता है, एक से लेकर तीन वर्ष तक का समय व्यतीत करते हैं और तब या तो विश्वविद्यालय, या टेकनिकल कालेजों या टीचर्स ट्रेनिंग कालेजों में चले जाते हैं।

ग्रामर स्कूल के पाठ्यक्रम में रेलिजस इन्स्ट्रक्शन, इंगलिश लैंगुएज एण्ड लिटरेचर, हिस्ट्री, जियाग्रफी, मैथेमेटिक्स, साइन्स, क्लासिकल और माडर्न लैंगुएजेज, आर्ट, म्यूज़िक, हैंडिक्रैफ्ट्स, डोमेस्टिक—(लड़कियों के लिए) और फीजिकल एजुकेशन सम्मिलित रहता है। प्रारम्भिक वर्षों में विद्यार्थी क्लासिकल या माडर्न लैंग्वेजेज का अध्ययन शुरू करते हैं और छठे वर्ग में पहुँचने तक वे उस स्टैण्डर्ड तक स्पेशलाइज कर लेते हैं जहाँ तक अमेरिकन हाई स्कूलों के विद्यार्थी क्लासिकल, लैटिन एण्ड माडर्न लैंग्वेजेज, साइन्सेज और मैथेमेटिक्स में नहीं पहुँचते। बड़े स्कूलों में

हिस्ट्री या ज्यामिती में भी स्पेशलाइज करने की सुविधा दी जाती है। दूसरे क्षेत्रों में, जैसे इन्जीनियरिंग के विषय, कमर्शल वर्क, आर्ट एण्ड क्राफ्ट्स या डोमेस्टिक विषयों में स्पेशलाइजेशन सम्भव तो है लेकिन ज्यादातर लोग इनमें करते नहीं।

यहाँ सिक्स्थ फार्म या छठे वर्ग के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना समीचीन होगा। सिक्स्थ फार्म स्कूल के फाईनल कोर्स से भी अधिक महत्त्व रखता है। इसका काम स्कूल के स्कॉलरली वर्क का एक निदर्शन समझा जाता है और स्कूल को एक कम्यूनिटी समझने और उसकी कारपोरेट लाइफ को दृष्टिगत रखते हुए, जैसे, रगबी के० आरनल्ड की परम्परा में, सीनियर विद्यार्थियों पर काफी जिम्मेदारी के काम छोड़े जाते हैं ताकि वे बौद्धिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में नेतृत्व उठा सकें। सिक्स्थ फार्म की कभी कभी अत्यधिक स्पेशलाइजेशन के लिए आलोचना भी की जाती है, फिर भी इंग्लिश सेकण्डरी एजुकेशन में आर्नल्ड के समय से ही इस सिक्स्थ फार्म का बड़ा ऊँचा स्थान रहा है। स्पेन्स कमेटी रिपोर्ट के निम्नलिखित शब्दों को अनेक प्रसिद्ध शिक्षाविदों ने अपनी स्वीकृति दी है, 'चरित्र के निर्माण और उत्तरदायित्व की भावना के विकास की दृष्टि से सिक्स्थ फार्म ग्रामर स्कूल का सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान अंग है और इसकी स्थिति पर ग्रामर स्कूल की परम्परा में जो कुछ सर्वोत्कृष्ट है, निर्भर करता है।' (पृष्ठ १६६)

डाइरेक्ट ग्रान्ट स्कूल

ज्यादातर विद्यार्थी, यदि वे किसी ग्रामर स्कूल के ढंग के सेकण्डरी स्कूल में पढ़ना चाहते हैं तो पब्लिक द्वारा परिचालित स्कूलों में ही जाते हैं। कुछ सीमा तक ग्रामर स्कूल की शिक्षा 'डाइरेक्ट ग्रान्ट स्कूलों' में बिना ट्यूशन फीस दिये भी मिल जाती है। ये एक तरह के ग्रामर स्कूल ही होते हैं जिनकी अपनी परम्परा होती है और अपनी गवर्निंग समितियाँ होती हैं जिनमें स्थानीय अधिकारियों का भी प्रतिनिधित्व होता है। इस प्रकार के कुछ स्कूल ऐसे भी होते हैं जो फीस भी लेते हैं। कुछ को राज्य की सहायता भी मिलती है लेकिन शर्त यह रहती है कि उनका इन्स्पेक्शन हर मैजेस्टीज इन्स्पेक्टर्स—एच० एम० आइज—के जरिये करवाते रहना पड़ता है और साथ ही वे ऐसे विद्यार्थियों को २५ प्रतिशत स्थान निःशुल्क देते हैं जो किसी पब्लिक प्राइमरी स्कूल में पढ़ चुके होते हैं। सेकेण्डरी एजुकेशन शिक्षा पद्धति में डाइरेक्ट ग्रान्ट स्कूलों का रखा जाना आलोचना का भी विषय रहा है और यह कहा जाता है कि ये वर्ग भेद और अलगाव को बढ़ावा देते हैं, क्योंकि ऐसे स्कूलों में अच्छे विद्यार्थी फीस देनेवाले होते हैं। मिनिस्टर आफ एजुकेशन, मिस्टर आर० ए० बटलर ने, जिन्होंने १९४४ में पार्लियामेंट में एजुकेशन बिल के ऐक्ट बन जाने तक मार्गदर्शन किया था, इस सम्बन्ध में कहा था, 'जिन मूलभूत आधारों पर यह बिल बना हुआ है उनमें से एक यह है कि स्कूलों के कई प्रकार रखे जायँगे, इन्हीं में से एक प्रकार का स्कूल जो मैं समझता हूँ सर्वथा न्यायसंगत भी है, वह होगा जिसमें माँ बाप या अभिभावकों को बच्चों की शिक्षा के लिए खर्च भार उठाना सम्भव हो सकेगा।'

स्कालरशिप

अंग्रेजी शिक्षा में स्कालरशिप का तरीका बड़ा ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बराबरी का स्तर बनाता है और अच्छे शिक्षार्थियों को विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। राज्य और लोकल एजुकेशन एथारिटीज के जरिये जो स्कालरशिप दी जाती है वह उनके अतिरिक्त होती है जो यूनिवर्सिटियाँ देती हैं या जो स्वयं स्कूल उन शिक्षार्थियों को देते हैं जो विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। राज्य द्वारा स्कालरशिप देने का तरीका प्रथम विश्व महायुद्ध के अन्त से शुरू किया गया और अब तो इन स्कालरशिपों की संख्या २०० से बढ़ कर २००० तक पहुँच गयी है। इन सब का परिणाम यह हुआ है कि इंग्लैण्ड में अब पैसा शिक्षा के लिए पासपोर्ट नहीं रह गया है। जिसे बुद्धि है वह बुद्धि-विकास के मौकों से फायदा उठा सकता है। समता

वादी समाज की स्थापना की ओर क्या यह एक महत्वपूर्ण कदम नहीं है !

१९५३-५४ के अकेडमिक ईयर के लिए दी गयी स्कालरशिपों की संख्या १३,१९५ थी जिस में से ३२६७ राज्य की ओर से थीं और ९९२८ लोकल एज्युकेशन अथारिटीज की ओर से। १९५३-५४ में विश्वविद्यालयों में भर्ता होनेवाले विद्यार्थियों की संख्या १८,०९२ थी जिस में से १,००० ओवरसीज़ स्टूडेण्ट्स थे जिन्हें स्कालरशिप नहीं दी गयी। लेकिन ७५ प्रतिशत विद्यार्थियों को कोई न कोई मदद दी गयी। स्कालरशिप एक विशिष्ट प्रकार की जाँच के अनुसार दी जाती है। जिन अभिभावकों की इनकम ४५० और २००० पाउण्ड के बीच होती है उन्हें विद्यार्थियों के खर्च का कुछ हिस्सा वहन करना पड़ता है।

टेक्निकल सेकेण्डरी स्कूल

प्राइमरी स्कूल स्टेज के बाद टेक्निकल शिक्षा जूनियर टेक्निकल स्कूलों में दी जाती रही है। ये स्कूल ऐसे लड़के और लड़कियों को जो एलिमेण्टरी स्कूलों में १३ वर्ष की अवस्था में भर्ती किये गये थे, दो या तीन वर्ष का कोर्स देते हैं। ऐसे स्कूल ज्यादातर ऐसे टेक्निकल कालेजों में चलते हैं जहाँ अन्य विद्यार्थी शाम को कालेज में पढ़ते हैं और दिन में काम करते हैं। इन कालेजों के कोर्स में गणित और विज्ञान की पढ़ाई सम्मिलित रहती है जो किसी खास उद्योग के अनुरूप ही रहती है और साथ ही कुछ सामान्य विषय, जैसे साहित्य, इतिहास, भूगोल आदि भी रहते हैं। ऐसे कालेजों के विद्यार्थी स्थानीय उद्योगों से निकट रूप में संबंधित हो कर चलते हैं। साधारणतः इंग्लैण्ड की शिक्षा पद्धति ऐसे स्कूलों का अपना ही प्रकार है, इसलिए जिन नियमों-उपनियमों से दूसरे प्रकार के स्कूल परिचालित होते हैं उन से इनके नियम उपनियम भी भिन्न ही हैं।

टेकनिकल स्कूलों संबंधी कमटी के अनुसार टेकनिकल स्कूल का करिक्युलम 'मोटे तौर पर इसी स्तर के दूसरे प्रकार के सेकण्डरी शिक्षा के स्कूलों का ही तरह होना चाहिए। विषय के शीर्षक तो ग्रामर स्कूल के ही हो सकते हैं लेकिन टेकनिकल स्कूल को करिक्युलम ग्रामर स्कूल के करिक्युलम से जिस चीज से अधिक भिन्न है वह है किसी विषय की पढ़ाई और उसे विद्यार्थियों तक पहुँचाने का ढंग। करिक्युलम में इंजीनियरिंग, ड्राइंग और वर्कशाप के प्रैक्टिकल क्राफ्ट्स सम्मिलित होंगे, लेकिन विज्ञान और उसका प्रयोग 'प्रेरणा के केंद्रबिंदु' के रूपमें रहेगा।'

सेकेण्डरी लेवल पर स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या के हिसाब से टेकनिकल स्कूलों की संख्या कम रही है। १९५३ में २९२ टेकनिकल स्कूल थे जिनमें विद्यार्थियों की कुल संख्या ७९, २१४ थी, जब कि १, १८४ ग्रामर स्कूलों में विद्यार्थियों की कुल संख्या ५१२,६१३ थी।

सेकेण्डरी माडर्न स्कूल

वैसे सिद्धांत में यह पूर्णरूप से अनोखा नहीं है, फिर भी इसका मुख्य काम अभिभावकों और जनता का विश्वास प्राप्त करना है। शिक्षा मन्त्रालय की पैम्फलेट 'दी न्यू सेकण्डरी एज्युकेशन' के पृष्ठ २९ पर जो स्टेटमेण्ट है वह इस संबंध में उपयुक्त है—'माडर्न स्कूल्स का उद्देश्य ऐसी चतुर्मुखी अच्छी सेकेण्डरी शिक्षा प्रदान करना है जिस पर स्कूल करिक्युलम से परम्परागत विषयों में अधिक जोर नहीं दिया गया है। यह शिक्षा उनके सामने आधुनिक दुनिया का विकसित चित्र प्रस्तुत करेगी और उन्हें अधिक से अधिक जीवन की ट्रेनिंग देगी-ऐसी ट्रेनिंग जिसमें अवकाश के सही उपयोग की भी शिक्षा रहेगी। स्वतन्त्रता और अनाग्रह इसके मुख्य तत्व हैं और साथ ही सब के लिए उपलब्ध इस शिक्षा में निहित महान अवसर भी।'

इस प्रकार माडर्न स्कूल का मुख्य कार्य है शिक्षार्थियों को पर्याप्त विकसित रूप में 'जनरल एज्युकेशन' प्रदान करना, यह जनरल एज्युकेशन उस प्रत्यक्ष वातावरण से निकट रूप से संबद्ध रहेगी जिसमें शिक्षार्थी रहते हैं और अपनी रुचि के अनुरूप अपना विकास खोजते हैं, करिक्युलम कोई 'वोकेशनल' नहीं रहेगा, लेकिन जीवन और अवकाश के लिए तैयारी

करने के उद्देश्य से 'प्रवृत्तियों' का विशाल दायरा (राइटरेंज) विद्यार्थियों के सामने रहेगा। करिक्युलम में साधारणतः जो विषय सम्मिलित होते हैं वे हैं: स्क्रिप्चर (धार्मिक ग्रंथ) इंग्लिश, इतिहास और भूगोल, या समाज विज्ञान, गणित, विज्ञान, कला, संगीत, प्रायोगिक प्रवृत्तियाँ और शारीरिक शिक्षा। परिस्थिति की अनुकूलता के अनुसार विदेशी भाषाओं को भी करिक्युलम में जोड़ा जा सकता है। चूंकि बाहरी इम्तहानों का दबाव शिक्षकों पर नहीं रहता, इसलिए शिक्षा और शिक्षा विषयों में अधिकाधिक स्वतंत्रता संभव रहती है।

स्कूल का जीवन

स्कूल-जीवन का एक पहलू जो सभी स्कूलों में पाया जा सकता है, वह है पाठ्यक्रम के बाहर शिक्षार्थियों के खेल कूद और विभिन्न क्रिया कलाप। ऐसी परंपरा पहले पब्लिक स्कूलों में विकसित हुई और धीरे-धीरे सभी स्कूलों ने उसे अपनाया। धीरे धीरे यह तथ्य भी ग्रहण किया गया कि स्कूल जीवन में भाग लेने से विद्यार्थियों के चरित्र का अधिक विकास संभव है। इसीलिए 'प्रीफेक्ट सिस्टेम' इंग्लिश सेकेण्डरी स्कूलों का एक अभिन्न अंग बन गया है। शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद आदि की स्कूलों में धूम रहती है, उसी तरह से जैसे अमेरिकन जीवन और वहाँ के हाई स्कूलों में रहती है। लेकिन इंग्लिश स्कूलों में अमेरिकी स्कूलों के मुकाबिले प्रतिस्पर्धा कम रहती है। विद्यार्थियों की रुचि और प्रतिभा को विकसित करने के लिए अन्य संगठन भी होते हैं, जैसे, डिबेटिंग, लिटरेरी और साइंटिफिक सोसायटीज़ आदि। नेचुरल हिस्ट्री, फोटोग्राफी, चेस, डाक टिकट-संग्रह आदि के लिए क्लब भी होते हैं। साथ ही ड्रैमेटिक सोसायटीज़, ग्ली क्लब्स, स्कूल आर्केस्ट्रा, लड़कों और लड़कियों का स्काउट आर्गेनाइजेशन, स्कूल मैगजीन तथा ऐसी अन्य चीजों की भी व्यवस्था रहती है।

शिक्षकों की शिक्षा

मौजूदा प्रणाली: एरिया ट्रेनिंग आर्गेनाइज़ेशन

बर्किंघम, ब्रिस्टल, कैम्ब्रिज, डुरहम, लीड्स, लिवरपूल, लन्डन, मैन्चेस्टर, नाटिंघम, आक्सफोर्ड, रीडिंग, शेफील्ड, साउथैम्पटन, वल्स और एक्सटर, हल और लीसेस्टर के विश्वविद्यालय कालेजों के सहयोग से सत्रह एरिया ट्रेनिंग आर्गेनाइज़ेशन्स बनाये गये। इनमें पन्द्रह ने 'ए' टाइप आर्गेनाइज़ेशन चुना और दो (कैम्ब्रिज और रीडिंग) ने 'बी' टाइप। इनमें से अधिकांश संगठन इंस्टिट्यूशन आव् एज्युकेशन कहे जाते हैं और दूसरे स्कूल्स आव् एज्युकेशन। जहां तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, 'ए' टाइप संगठन को यूनिवर्सिटी ग्राण्ट कमेटी से सहायता मिलती है और 'बी' टाइप को सीधे शिक्षा मन्त्रालय से।

प्रत्येक इंस्टिट्यूट आव एज्युकेशन या एरिया ट्रेनिंग आर्गेनाइजेशन का शासन एक काउन्सिल के हाथ में रहता है। इस काउन्सिल में संबंधित विश्वविद्यालय, ट्रेनिंग कालेजों, लोकल एज्युकेशन अथारिटीज़ तथा नौकरी में लगे शिक्षकों के प्रतिनिधि रहते हैं। प्रत्येक काउन्सिल में मिनिस्ट्री का प्रतिनिधित्व एक एड्‌मिनिस्ट्रेटिव आफीसर और एक इन्स्पेक्टर करता है जो कि दोनों ही वोट देने के अधिकारी नहीं होते। काउन्सिल के 'एकडेमिक बोर्ड' में मन्त्रालय का प्रतिनिधित्व दो इन्स्पेक्टर करते हैं। 'बी' टाइप के संगठन में ए० टी० ओ० मन्त्रालय से सीधे सम्बन्धित रहते हैं। 'ए' टाइप के संगठन अपने से सम्बन्धित विश्वविद्यालय के शासन के अन्तर्गत ही काम करते हैं।

१९५३ में मन्त्रालय के वार्षिक विवरण में एरिया ट्रेनिंग आर्गनाइजेशन्स का कार्य इस प्रकार दिया गया है 'सदस्य-कालेजों में पाठ्यक्रम का निरीक्षण करना और मन्त्री के पास योग्यता—प्राप्त शिक्षकों की भर्ती के लिए उन शिक्षार्थियों के सम्बन्ध में सिफारिश करना जिन्होंने अपना प्रशिक्षण संतोषजनक ढंग से पूरा कर लिया हो। इनका सम्बन्ध अपनी एरिया में प्रशिक्षण की सुविधाओं के विकास से भी है जिसके अन्तर्गत शिक्षार्थियों और नौकरी में लगे हुए शिक्षकों के उपयोग के लिए शैक्षणिक केंद्रों की तथा स्कूलों में

योग्यता-सम्पन्न शिक्षकों के आगे अध्ययन को व्यवस्था करना भी सम्मिलित है।"

नेशनल ऐडवाइजरी बाडीज

शिक्षा-मन्त्री ने शिक्षकों के प्रशिक्षण और उनकी उपलब्धि के लिए १९४९ में एक नेशनल एडवाइजरी काउन्सिल बनायी। इसके सदस्यों में एरिया ट्रेनिंग आर्गनाइजेशन, लोकल एज्युकेशन अथारिटीज, और नेशनल असोसियेशन आव टीचर्स सभी के प्रतिनिधि शामिल हैं। इसका काम है—"योग्य शिक्षकों के प्रशिक्षण और उनकी स्थिति के सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति को इंगित रखना और साथ ही स्कूलों तथा अन्य शैक्षणिक संस्थानों के उपयोग के लिए शिक्षकों की भर्ती और उनके विभाजन के सम्बन्ध में सलाह देते रहना।" यह काउन्सिल शिक्षा नीति के सामान्य प्रश्नों का निवारण करता है और इसमें दो स्टैंडिंग कमेटियाँ होती हैं एक ट्रेनिंग से सम्बन्धित और दूसरी भर्ती और सप्लाइ से।

शिक्षकों की तैयारी के लिए संस्थाएँ

ऊपर बताए गये 'ए' और 'बी' दोनों तरह के एरिया ट्रेनिंग आर्गनाइजेशन में विश्वविद्यालय और ट्रेनिंग कालेजों के शिक्षा विभाग सम्मिलित रहते हैं। दो वर्षों के ट्रेनिंग कोर्सवाले कालेज विशेषत इन्फेण्ट और प्राइमरी स्कूलों के लिए शिक्षक तैयार करते हैं। ऐसे कालेज उन ग्रेजुएटों के लिए एक वर्ष का ट्रेनिंग कोर्स भी देते हैं जो सेकेण्डरी स्कूलों में पढ़ाने के इच्छुक होते हैं और वे अपना दो वर्ष का कोर्स उन विद्यार्थियों के लिए एक वर्ष और बढ़ा सकते हैं जो विशेष योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं। विशेष योग्यता की शिक्षा देनेवाले ट्रेनिंग कालेज साधारणत तीन वर्ष का कोर्स रखते हैं।

विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग को आर्थिक सहायता यूनिवर्सिटी ग्राण्ट कमेटी द्वारा विश्वविद्यालयों को दी गयी सहायता से मिलती है। ट्रेनिंग कालेज चलाने वाले लोकल एज्युकेशन अथारिटीज को कालेज चलाने के सभी उपयुक्त खर्च का सौ फी सदी दिया जाता है। ट्रेनिंग कालेजों में विद्यार्थियों को प्रवेश जनरल सर्टिफिकेट आव एज्युकेशन के आधार पर मिलता है। यह सर्टिफिकेट सेकेण्डरी स्कूलों में विद्यार्थियों की परीक्षा के लिए १९५१ में शुरू किया गया था।

ट्रेनिंग कालेजों का कोर्स

ये कोर्स दो वर्ष के रखे जाते हैं जिसमें 'एकडेमिक' और 'प्रोफशनल' दोनों प्रकार का अध्ययन तथा 'प्रैक्टिस टीचिंग' सम्मिलित रहती है। कालेज के कोर्स में क्या-क्या हो इसके निर्णय के लिए प्रत्येक कालेज को स्वतन्त्रता रहती है, लेकिन यह जोस इंस्टिट्यूट का बोर्ड आव स्टडीज से जिसका स्वय कालेज भी एक सदस्य होता है, स्वीकृत होना चाहिए। प्रोफेशनल स्टडीज में शिक्षण सिद्धांत और व्यवहार, स्वास्थ्य शिक्षा, शिक्षा का इतिहास, और शिक्षा मनोविज्ञान सम्मिलित हैं। किसी विषय विशेष के सम्बंध में विशेष ढंग भी सिखाया जाता है। प्रैक्टिस टीचिंग म व्यवस्था अलग अलग प्रकार की है। शिशुओं का अध्ययन और मनोविज्ञान से सबधित कोर्स के लिए "आब्जर्वेशन विजिट्स' की व्यवस्था रहती है। कुछ कालेजों के साथ तो प्रैक्टिस के लिए स्कूल जुड़े होते हैं, लेकिन लोग इस कार्य के लिए स्थानीय स्कूलों को ही पसद करते हैं।

सेकेण्डरी स्कूलों के शिक्षकों की तैयारी

सेकेण्डरी स्कूलों के शिक्षकों की शिक्षा तो वैसे किसी विश्वविद्यालय म ही होती है, लेकिन ग्रेजुएट होने पर व किसी विश्वविद्यालय क शिक्षा विभाग या ट्रेनिंग कालेज में एक साल का कोर्स पूरा करते हैं। १९५१ तक तो चार साल का ग्राण्ट पाये हुए होने वाले शिक्षकों को एक प्रतिज्ञापत्र भरना पड़ता था जिसके अनुसार वे नैतिक रूप से शिक्षा को अपना कैरियर बनाने के लिए बाध्य होते थे। १९५१ में यह नियम तोड़ दिया गया, क्योंकि युवकों से इसक पहले कि वे अपने लिए अन्य सभावनाओं पर विचार कर सकें, ऐसा कोई प्रतिज्ञा-पत्र भरवाना अनैतिक समझा जाने लगा।

सर्टिफिकेट प्रदान करने की प्रणाली

एक निर्धारित कोर्स पूरा करनेवाले प्रशिक्षार्थियों को एक लिखित परीक्षा तथा कोर्स पूरा करने के समय में उनके कार्य के अनुसार सर्टिफिकेट प्रदान किया जाता है। यह दूसरा तरीका द्वितीय महायुद्ध के पहले इस्तेमाल किया जाता था, महायुद्ध के दौरान तो यह अनिवार्यतः इस्तेमाल किया जाने लगा। आज तो दोनों तरीके प्रचलित हैं।

वेतन और पेन्शन

वेतन वगैरह एक कमेटी तय करती है जिसे सामान्यतः बर्नहम कमेटी कहते हैं। यह कमेटी लार्ड बर्नहम की अध्यक्षता में १९१९ में गठित हुई थी। इस कमेटी में टीचर्स आर्गनाइजेशन, लोकल एज्यु-केशन अथारिटी और मंत्रालय के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। यह कमेटी शिक्षकों का जो भी वेतन-क्रम निश्चित कर देती है वही नौकरी देनेवाले अधिकारियों को देना पड़ता है।

शिक्षकों का शिक्षा-काल में प्रशिक्षण

एरिया आर्गनाइजेशन ने सेवा-कार्य में लगे शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की है। साथ ही ऊँची योग्यताओं की प्राप्ति के लिए भी शिक्षकों को सुविधा है। इस आर्गनाइजेशन ने जो एक और सुविधा की व्यवस्था कर दी है वह है संशोधन कार्य, जिसका द्वितीय महायुद्ध के बाद काफी विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त मंत्रालय द्वारा राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय स्केल पर निःशुल्क शार्ट रिफ्रेशर कोर्स का व्यवस्था है। शिक्षकों की सामाजिक स्थिति में जो विकास हुआ है उसका अधिकांश श्रेय शिक्षक-संगठनों (नेशनल यूनियन आव टीचर्स) आदि-पर है जिसके सदस्य प्राइमरी तथा सेकेण्डरी स्कूलों में पढ़ाते हैं। नेशनल यूनियन आव टीचर्स के साथ सेकेण्डरी एज्युकेशन का प्रतिनिधित्व करनेवाले अन्य संगठन—दी हेड मास्टर्स कान्फ्रेंस, दी असिस्टेण्ट मास्टर्स असोसियेशन, दी असिस्टेण्ट मिस्ट्रेसेज़ एसोसिएशन भी सहयोग करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करते समय शिक्षा मंत्रालय को एन० यू० टी० के सहयोग की सदा अपेक्षा रहती है। ●

[पृष्ठ ३०२ का शेषांश]

'५४ की गर्मी से '५६ के अंत तक का पूरा समय सरया में बीता। खूब श्रम हुआ। शिक्षण और सह-जीवन के नये-नये प्रयोग हुए। ऐसा लगता था जैसे हम लोगों ने उमर खैयाम की तरह अपने मन की दुनिया बसा ली है।

(६)

उन दिनों श्रम भारती में कार्यकर्ता प्रशिक्षण का काम जोरों से होता था। कई जगह से नये जीवनदानी साथी भी आते थे। कई कारणों से श्रमभारती कार्य-कर्ता प्रशिक्षण के लिए सबसे उपयुक्त स्थान मानी जाती थी। सुबह चार घण्टे पुरुषों और स्त्रियों का उत्पादक श्रम, बौद्धिक चर्चा, पद प्रतिज्ञा, लिंग और वेतन की समता, श्रम के माध्यम से ग्राम सम्पर्क, विकसित 'पुलिंग' व्यवस्था, आदि—सब मिलाकर ऐसा वातावरण था जो जीवन को नयी दृष्टि और गति दे सकता था। विनोबाजी उन दिनों लगभग ढाई वर्ष बिहार में रह चुके थे। उनके प्रवास के कारण जनता में जो जागृति आयी थी उसे शक्ति में परिणत करने की कला विकसित करने की कोशिश उन दिनों खादीग्राम में होती थी।

मैंने उस समय तक प्रत्यक्ष रूप से न जमीन मांगी थी, न बांटी थी, और न प्रचार का ही कोई काम किया था। मैंने भूदान यज्ञ को विचार के रूप में समझा था, आंदोलन के रूप में नहीं देखा था। 'जीवनदानी' कार्यकर्ताओं के द्वारा मुझे कार्यकर्ता-स्तर पर आन्दोलन को देखने का बहुत अच्छा अवसर मिला। बहुत कम 'कर्ता' ऐसे थे जिन्हें अपने कार्य के सही स्वरूप का पता था। जिसे 'क्रांति' कहते हैं उसका दर्शन धुंधला या स्पष्ट—इने-गिने लोगों को ही था। अपने कार्य में क्या क्रांति-तत्त्व है—इसके ज्ञान का सर्वथा अभाव उस समय कार्यकर्ता के जीवन का मुझे सबसे दुखद पहलू लगा। जमीन का निर्धारित कोटा पूरा कर लेने के सिवाय कोई दूसरी चीज उन्हें प्रायः मालूम ही नहीं थी। (क्रमशः)

शिक्षण और वातावरण

शाला की शिक्षा में जो भी विशेष है या जो भी प्रमुख है, वह वातावरण ही है और शिक्षक का काम इससे अधिक कुछ नहीं है कि बच्चों को अमुक वातावरण उपलब्ध करा दे और विद्यार्थियों को भी इतना ही काम है कि वे अमुक वातावरण में पलें, बढ़ें।

तिo नo आत्रेय

मानव के अन्दर दो गुण हैं—एक, वह स्वयं परिस्थिति के अनुरूप बन सकता है और दो, वह परिस्थिति को अपने अनुकूल बना ले सकता है। शिक्षा का अस्तित्व इन्हीं दो बातों पर सम्भव हुआ है। परिस्थिति या वातावरण के अनुकूल बनना मनुष्य का ही नहीं, सामान्यतः सृष्टिमात्र का स्वभाव है क्योंकि जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है। गिरगिट का रंग बदलना, मौसम के बदलते ही पक्षियों का स्थान बदलना आदि कई ऐसी घटनाएं हैं जो प्राकृतिक रूप से ही सृष्टि में होती रहती हैं, ये सारी प्रक्रियाएं अपने को प्रकृति के अनुकूल बना लेने की ही प्रक्रियाएं हैं। मानव समाज में भी हम देखते हैं जो आंखों से अंधा होता है उसकी दूसरी इन्द्रियां तेज होती हैं और वह आंख के बिना भी संसार में बने रहने लायक सुविधाएं प्राप्त कर ले सकता है। मनुष्य सहित सारे प्राणियों के लिए परिस्थिति का यह अनुसरण जहां स्वाभाविक है वहां मनुष्य इतना विवश भी नहीं है कि परिस्थिति के अनुरूप हमेशा *वह बदलता ही जाय। कुछ सीमा के बाद वह परि*स्थिति का मुकाबिला कर जाता है। उसमें ऐसी बुद्धि और शक्ति भी है कि परिस्थिति को ही अपने अनुकूल बना ले सके।

वातावरण क्या है ?

परिस्थिति या वातावरण किसे कहते हैं ? सामान्यतया वे सभी चीजें वातावरण में मानी जाती हैं जो हमारे चारों ओर हैं और जिनका प्रभाव हम पर पड़ता है। जैसे—नदी, पहाड़, समुद्र, जंगल, हवा-पानी आदि जो भौतिक चीजें हैं, जो प्राणी हैं, जो पेड़-पौधे हैं, और मनुष्य की दृष्टि से उसका समाज, उसका गांव, उसका शहर, उसके पड़ोसी, उसके साथी, घर, सार्वजनिक प्रवृत्तियां राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था आदि सभी चीजें वातावरण में शामिल हैं। यह एक सत्य है कि हम पर वातावरण का प्रभाव बहुत पड़ता है बहुत हद तक हम वही हैं जो हमारा वातावरण है।

यह वातावरण दो तरह का है—एक आंतरिक है, दूसरा बाह्य। अकसर हम इन दोनों में विरोध भी देखते हैं। पुराने समय में आंतरिक वातावरण को, जिसे पूर्व-संस्कार कहा जाता है अधिक महत्त्व दिया जाता था। उन लोगों की दृष्टि में पूर्वजन्म का संस्कार ही इस जन्म का स्वभाव और स्वरूप निर्धारित करने वाला था। पर इन दिनों वह विचार शिथिल हो गया है और यह माना जाने लगा है कि पूर्व संस्कार से अधिक प्रभावशाली और परिणामकारी संस्कार इसी जन्म का है, इस जन्म में ऐसा वातावरण और ऐसी

परिस्थिति निर्माण की जा सकती है कि चाहे जैसा रूप और भाव मनुष्य के चरित्र को दे सकें।

वातावरण पर मनुष्य का अधिकार

वातावरण के दो प्रकार और किये जा सकते हैं-- एक वह जो हमारे काबू में आ सकता है और दूसरा वह जो हमारे काबू मे परे हैं। काबू से परे वे चीजें हैं जो प्राकृतिक नियमों और सृष्टि से सम्बंधित हैं : जैसे, काल, आकाश, हवामान, ऋतु परिवर्तन, भौगोलिक स्थिति आदि। लेकिन इन के सम्बंध मे सही और गहरी जानकारी प्राप्त करने पर मनुष्य उनका प्रभाव कम ज्यादा जरूर कर ले सकता है, उनसे होने वाले खतरों से बच सकता है भले ही उन्हें पूरा पूरा बदल भी न सके। प्राणिजगत् और वनस्पति जगत् के गुणधर्मों के सही ज्ञान से मनुष्य लाभान्वित हो ही सकता है। आगे बढ़ कर मनुष्य अपने नित्य जीवन के भी कई नियम बना ले सकता है जिनसे वह अधिक सुखी और शांत जीवन बिता सकता है। इस प्रकार आज हम देख रहे हैं कि जिस वातावरण को पहले मनुष्य के काबू के बाहर माना जाता था उस पर भी बहुत हद तक मनुष्य आज काबू पा सका है और यह क्षेत्र निरंतर विस्तृत होता जा रहा है। सारांश यह कि मानव-समाज इस माने में भी परिवर्तनशील है कि मनुष्य अपने प्रयत्न से उसे चाहे जो रूप दे सकता है। शिक्षा के लिए यही महत्वपूर्ण आधार है।

आपसी सम्बन्धों में संशोधन

मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसका अर्थ यह है कि जहां वह अकेले उन्नति के शिखर तक पहुँच सकता है वहां दूसरों के साथ मिल-जुल कर रहने को भी बाध्य है। उसकी पूर्णता इसीमें है कि वह दूसरों के साथ प्रेम, सहकार, स्पर्धा और कभी कभी लड़ाई झगड़े आदि नाना प्रकार के सम्बन्धों से जुड़ा रहे। आज यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि इन्हीं हित सम्बन्धों से मनुष्य का चरित्र निर्माण होता है। हमारे अन्दर वे ही मूल्य, वे ही विचार, वे ही ध्येय और वे ही व्यवहार रूढ़ होते हैं जो हमारे उन सम्बधों में विकसित होते हैं। पुराना इतिहास, मानव जीवन सम्बंधी (व्यक्तिगत तथा सामाजिक) ज्ञान और लोक शिक्षण के नये नये विभिन्न साधन—ये सब इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य में वह शक्ति है जिससे वह उन सबधों का उचित संशोधन और सही संयोजन कर सकता है।

शालेय वातावरण

हम देख सकते हैं कि अमुक विचार, अमुक मूल्य और अमुक प्रकार के आचार-व्यवहार का ठोस विकास करने की दिशा में उपयुक्त और प्रभावशाली वातावरण उपलब्ध कराने में पाठशालाएं बहुत हद तक सफल रही हैं। इस में कोई संदेह नहीं कि शाला का अर्थ ही 'कृत्रिम वातावरण' है जो कि अमुक प्रकार की कला, विशेष मूल्य और अपेक्षित व्यवहार सिखाने के लिए बनाया जाता है। वह कृत्रिम इस माने में भी है कि खुले समाज में व्यक्ति और परिवार पर जो हानिकारक प्रभाव चारों ओर से पड़ सकता है उन सब से शाला की सुनियोजित रूप से बचाया जा सकता है अथवा कम-से-कम उन का प्रभाव वहां उस हद तक घटाया जा सकता है ताकि विशेष हानि न हो पाये। दूसरा यह कि पाठशाला का अपना मकान होता है, उसके अपने नियम होते हैं, उसका अपना प्रभाव होता है, पाठ्यक्रम और पढ़ाई आदि बातें भी हैं। ये सब शाला को बाहरी समाज से अलग करने वाले साधन हैं।

वातावरण की विशेषता

यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि शाला की शिक्षा में जो भी विशेष है या जो भी प्रमुख तत्व है वह वातावरण ही है और शिक्षक का काम इससे अधिक कुछ नहीं है कि बच्चों को अमुक वातावरण में पलें, बढ़ें। वातावरण इसलिए इतना प्रभावशाली होता है कि किसी बात के लिए आदेश नहीं देता है, संस्कार देता है। स्थूल पढ़ाई या आदेश की तरह संस्कार बोझिल नहीं होता है, बल्कि उन से अधिक ठोस होता है। इसी लिए बच्चे जो बात आदेश से मानने को तैयार नहीं होते वही बात संस्कार के रूप में बड़ी आसानी से, सहजभाव से ग्रहण कर लेते हैं।

संस्कार में विरोध करने की भावना को मौका ही नहीं मिलता जो आदेश सुनते ही जगती है।

शिक्षण-संस्था का उगम

शिक्षण-संस्था मानव समाज को पुरातन संस्थाओं में से एक है। मामूली सीधे-सादे परिवार में जहां खाने, पहनने और थोड़ी सी आड भर का ही प्रश्न है, आवश्यक कामों की शिक्षा बच्चों को देने का काम घर ही में हो जाता है। लड़कों को खेती-बाड़ी करना बाप सिखा देता है और घर गिरस्ती की बातें लड़कियों को मां सिखा देती है, लेकिन सभ्यता का विकास होते-होते जीवन में ऐसी कई नयी बातों का समावेश हो गया, जैसे लिखना, पढ़ना, हिसाब करना, कायदे-कानून, इंजीनियरी, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि, जिन सब को घर में ही, मां बाप ही सिखा सकें ऐसी स्थिति नहीं रही ये सब बातें सिखाने के लिए कुछ दूसरी ही व्यवस्था करनी पड़ी, दूसरे ही लोगों को नियुक्त करना पड़ा और उन लोगों की जीविका का भार माता-पिताओं को उठाना पड़ा और इस प्रकार शाला का प्रारंभ हुआ।

सामाज में शाला का स्थान

कुछ ही समय में यह महसूस किया गया कि शालाएं विद्या सिखाने के अतिरिक्त और भी बहुत सारे काम कर सकती हैं। सामाजिक परम्पराओं, मूल्यों और आदर्शों को बनाये रखने में भी शालाओं का योग महत्वपूर्ण हो सकता है। ऋषि मुनियों के तपोवनों और बाद में गुरुकुलों में यही सब होता रहा। फिर जब गुरुकुल-जैसी संस्थाएं नहीं रहीं, धार्मिक और सांप्रदायिक संगठन भी शिथिल हो गये तब भी समाज ने देखा कि पाठशालाओं के द्वारा परंपराओं का सिलसिला बनाये रखने का काम सहजता-पूर्वक हो सकता है। आज भी धार्मिक संस्थाओं द्वारा चलाये जानेवाली शालाओं में तो यह काम होता ही है, बल्कि सामान्यतया दूसरे स्कूलों में भी बहुत हद तक यही होता है।

इस प्रकार शिक्षण संस्था एक तो बहुत पुरातन है और दूसरा सभ्य-समाज का प्रमुख अंग बन गया है, इसलिए सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि विद्या और सामाजिक मूल्यों के प्रसार की दृष्टि से समाज का बहुत प्रमुख, बल्कि एकमात्र साधन शाला ही है। लेकिन यह सही नहीं है। विद्या ही सिखानी है तो उस उस विद्या में पारंगत व्यक्ति अलग-अलग या एक होकर विद्या सिखा सकते हैं और मूल्यों का प्रसार ही करना है तो भी वह काम शालाओं की अपेक्षा घरों और जातीय समाजों द्वारा अधिक अच्छे ढंग से हो सकता है। तो वास्तव में शाला का महत्व इन दो से भिन्न कुछ और ही कारण से है और वह यह कि बच्चों पर हम जिस प्रकार का संस्कार डालना चाहते हैं, जिन पारिवारिक और सामाजिक बुराइयों से उन्हें बचाना चाहते हैं वह संस्कार डालना और उन बुराइयों से बचाना पाठशालाओं से बढ़ कर शायद ही किसी दूसरी संस्था से हो सके।

वातावरण की विसंगति

आज तक शिक्षा-क्षेत्र में प्रायः हमारी यही बड़ी भूल रही है कि हम से बच्चों के चरित्र-निर्माण में सामाजिक वातावरण की इस हमान शक्ति से बेखबर रहे। वातावरण की शैक्षणिक क्षमता को हमने चरितार्थ होने नहीं दिया और शालाओं से अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होती देख कर निराश हुए। इस सामाजिक वातावरण के अंतर्गत कुछ बातें ऐसी हैं जिनपर हम अधिक नियंत्रण रख सकते हैं—जैसे शिक्षा-पद्धति, स्वास्थ्य नियम, सेवाकार्य आदि; और कुछ ऐसी बातें हैं जिन पर नियंत्रण कुछ कम ही रख पाते हैं, जैसे, साहित्य प्रसार, फिल्म, व्यापारिक विज्ञापन, रेडियो, शहर की तड़क-भड़क, तथा परिवार, मित्र और निकट के लोगों का संपर्क आदि इन सब का प्रभाव हमारे जीवन पर, व्यक्तित्व पर तथा हमारे विचार, हमारी रुचि, हमारी भावना और हमारे व्यवहारों पर बहुत पड़ता है। उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों का प्रभाव रचनात्मक होता है। अक्सर ऐसा देखने में आता है कि इन सब का संस्कार विरुद्ध हुआ करता है, एक का संस्कार दूसरे के संस्कार को काटता है। यह विरोध केवल इसलिए नहीं है कि दोनों के

परिणामों में अन्तर है, बल्कि इसलिए भी कि उन कम नियन्त्रणकारी चीजों पर जितना कुछ नियन्त्रण किया जा सकता हो उतना करने की हम कोशिश नहीं करते, बल्कि उसकी उपेक्षा ही करते हैं। सिर्फ एक उदाहरण लें:–मानव सबंधों में एक ओर तो हम प्रामाणिकता, उदारता, श्रमनिष्ठा, सहकार आदि बातों को महत्वपूर्ण कहते हैं। बच्चे प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक की प्रामाणिकता अक्सर समाज में बुद्धूपन सिद्ध होती है, साधुता मजाक का विषय बनती है, सम्पत्ति जुटाने में श्रमनिष्ठा के मुकाबिले सट्टा, जुआ या लाटरी जैसे सरल साधन बेरोक काम में लिये जाते हैं, तब बच्चे इन सस्कारों से कैसे बच पायेंगे और उन से ईमानदार और सुशील तथा श्रमनिष्ठ बनने की आशा कैसे की जाय?

विसगति का परिणाम

यह सघर्ष शाला और समाज के बीच का सघर्ष है। लेकिन सघर्ष क्यों पैदा हुआ? दोनों की दिशाएँ विरुद्ध क्यों हैं?

इसलिए कि शालाएँ अपने को समाज से अलग रख कर काम करती आयी हैं। समाज और शाला को एक मान कर, शाला को समाज का ही एक अग समझ कर शाला का काम चलाया गया होता तो यह सघर्ष न पैदा हुआ होता। उल्टा होता यह कि शाला के अन्दर बच्चों में जिन गुणों का विकास करने की कोशिश होती उन गुणों का विकास आसपास के समाज में करने की चिंता की जाती। शाला और समाज को एक न मानने का कारण भी यही है कि समूचे वातावरण को शिक्षा का साधन नहीं समझा गया। लेकिन अब जब यह मालूम हो गया है कि शिक्षा में वातावरण बहुत प्रामुख्य है तो फिर शिक्षकों का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि कम-से-कम अपने स्कूल के अन्दर की शिक्षा को सफल होने देने के लिए ही क्यों न हो, बाहरी समाज के लोगों को बतायें कि वे स्कूल के विरुद्ध व्यवहार न किया करें, जो बात बच्चों को स्कूल में बतायी जाती है उनसे उल्टी बात बच्चों के सस्कार में न आने दें। इसका अर्थ यह है कि शाला को समाज के अत्यन्त निकट संपर्क में आना होगा। तभी लोगों को स्कूल की बातों का महत्व समझाना, स्कूल का वातावरण बनाये रखने में लोगों का समर्थन और सहयोग प्राप्त करना और स्कूल के काम में लोगों की दिलचस्पी बढ़ाना सम्भव हो सकेगा। इसलिए शाला का क्षेत्र केवल शाला-भवन ही नहीं, सारा समाज ही बने, शाला का कर्त्तव्य बच्चों की आयु के थोड़े से वर्षों तक ही सीमित न होकर मनुष्य के समूचे जीवन तक निभे, तथा शिक्षक केवल विषय विशेष के शिक्षक न होकर जीवन-कला के शिक्षक बनें यह अनिवार्य है।

वातावरण की अनन्यता

बच्चों के लिए सामाजिक वातावरण कोई एक ही चीज हो सो नहीं है। उसमें कई बातें आती हैं। जैसे घर, परिवार, पड़ोसी, शाला, गाँव या शहर, प्रदेश, राष्ट्र, राष्ट्रों का समूह आदि। किसी का कम तो किसी का ज्यादा, पर इन का प्रभाव बच्चों के जीवन पर अवश्य पड़ता है। बच्चा इन से बच कर नहीं जी सकता।

वातावरण का पहला दायरा-घर

शिक्षण विचार में आज घर और परिवार को बुनियादी महत्व प्राप्त हो गया है। यह बात सत्य सिद्ध हो गयी है कि घर के लोगों में यदि तनाव और असतोष रहा तो उस घर में पलने वाले बच्चों में निश्चित ही विक्षिप्त भावनाएं और अपराधी मनोवृत्ति विकसित होंगी। समाज विज्ञान के विद्वान, सामाजिक कार्यकर्ता, शिक्षक और साधारण मनुष्य तक सभी इस बात से सहमत हैं कि घर के वातावरण का प्रभाव बच्चे के जीवन पर इतना गहरा होता है जो अन्त तक बना रहता है।

इस लिए बच्चों में जो भी गुण हम देखना चाहें पहले उन्हें अपने अन्दर विकसित करने का प्रयत्न घर के सभी सदस्यों को करना चाहिए। सब से बड़ी और पहली बात यह कि मनुष्य को मनुष्य के आदर देना हमें सीखना चाहिए, क्योंकि न्याय, प्रामाणिकता, दया दूसरों के सुख दुख की चिंता,

सहकारवृत्ति जिम्मेदारी की भावना, स्वानुशासन, नैतिक और शारीरिक शक्ति, श्रमनिष्ठा, उन्नत ध्येय, शोध और प्रयोग-वृत्ति आदि बाकी सभी गुण जो जीवन क आवश्यक गुण हैं, उसी एक मानवता का प्रतिष्ठा में से निकलते हैं। दुहराने का आवश्यकता नहीं कि ये सारे गुण आदेश देने से या सिखाने से आने वाले नहीं हैं, संस्कार रूप में हा आने वाले हैं जो सामान्यतया समाज के सहज वातावरण से और विशेषतया घर के वातावरण से प्राप्त होता है।

आदर्श परिवार

इस दृष्टि से जो आदर्श परिवार होगा उसमें माता या पिता का घर के दूसरे सदस्यों पर शासन नहीं चलेगा, बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों म व अपने लंबे अनुभव के कारण सब के मार्गदर्शक जरूर रहेंगे, लेकिन दूसरों का प्रतिभा और सूझ में बाधा नहीं पैदा करेंगे। अपने बच्चों को उनकी उम्र के लिहाज से और घर में उन का जो स्थान होगा उस दृष्टि से हा नहीं, बल्कि उन-उन की भावना और नैसर्गिक विषमताओं के ख्याल से भा उन्हें योग्य स्थान मान और आदर देंगे, घर के सामूहिक हित के लिए प्रत्येक को सोचने का और उसकी सिद्धि में हाथ बटाने का मौका देंगे, वे न चल घरवालों और मित्रों से बल्कि नौकरों से, दूकानदारों से, अर्थात् घर के काम आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के साथ केवल मनुष्य के नाते समान आदर के साथ कैसे पेश आया जाता है, उनका कैसे ख्याल किया जाता है और सब मिल कर परिवार का हित कैसे साधते हैं इस बात का पदार्थपाठ अपने दैनिक व्यवहारों से देंगे। विचार, बातचीत और व्यवहार तीनों में प्रामाणिकता का संस्कार व अपने बच्चों को देंगे। आदर्श परिवार में खेल-कूद, काम काज, लिखाई-पढ़ाई आदि सभी मामलों म सहयोग का, दूसरे का ख्याल रखने की वृत्ति का, योजना-पूर्वक काम हाथ में लेने और उसे पूरा करने का मौका प्रत्येक बच्चे को हर समय मिलेगा। बड़ों क व्यवहार से ही बच्चे अपनी रुचि को परिष्कृत कर लेंगे, घृणित विषयों के प्रति उन का ध्यान जायगा ही नहीं। इस प्रकार बच्चे का चरित्र निर्माण करने का पूरा पूरा भार घर और परिवार पर है जो उसे अपने सहज वातावरण के संस्कार द्वारा देना है।

परिस्थिति का विश्लेषण

सभव है एसा आदर्श-परिवार संसार में एक भा न हो, फिर भी यह आदर्श है जिस की ओर प्रत्येक परिवार जा सकता है, कई बातों में उस ओर काफी आगे बढे हुए परिवार आज भा हम देख सकते हैं। लेकिन खेद का बात तो यह है कि सामान्यत प्रत्यक्ष व्यवहार में आज भी यह बात बिल्कुल भुला दी गया है कि बच्चों के शिक्षण में घर का स्थान बहुत प्रमुख है। घर में बच्चों की किताबी पढ़ाइ जरूर होता होगी, लेकिन घर भा शिक्षण का एक माध्यम है यह बात लोगों क ध्यान स उतर गया है। इस क कइ कारण हो सकत हैं। शाज्य शिक्षा का व्यापक प्रचार होने लगा है, प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य कर दा ज रहा है। स्कूलों में साधन सामग्रा इतना अच्छा और इतनी ज्यादा मिल जाता है जो सर्व-साधारण घरों का पहुँच के बाहर का चाज है, स्कूला शिक्षा स प्राप्त होने वाली विद्या ही सही विद्या मानी जाती है आदि। सब से बढ़ कर एक कारण यह भी है कि घर आज खाने, पीने और सोने की जगह से अधिक कुछ रहा नहीं। कहीं किसी घर म लोग सहयोग पूर्वक रहें, साथ साथ काम करके आनन्द के साथ जिये तो कुछ तो विशेष सा लगने लगता है, यह घर का सामान्यस्थिति जैसा दीखता हा नहीं। सामान्य धारणा ही बन गया है कि कलह, द्वेष और ईर्ष्या हा घर का लक्षण है। स्त्री स्वातत्र्य क नाम पर शहरों में घर की मा-बहनें घर से बाहर नौकरी करने जाने लगीं—यह भी घर का उजाड़ने में कम कारण नहीं है।

घर और स्कूल का सबध—

लेकिन सभ्यता क इस बहाव का ओर तटस्थता से देखने की जरूरत है। यद्यपि स्कूलों का स्थान भा कोइ कम नहीं है, फिर भा अच्छा स अच्छा स्कूल भी सामान्य घर का काम नहीं कर सकता है और

उत्तम से उत्तम शिक्षक भी मात पिता का स्थान नहीं ले सकता। अकेला घर बच्चों की आवश्यकता का सारा ज्ञान देने में आज असमर्थ है इसलिए स्कूल भी रहें, पर घर का स्थान घर का है, स्कूल का स्थान स्कूल का। अतः शाला और घर दोनों को समझ बूझ कर सहकार करके चलना चाहिए और इस में घर अब तक अपनी जो जिम्मेदारी छोड़ बैठा था वह फिर से उसे उठानी होगी।

प्रौढ़-शिक्षण

इसका अर्थ है घरवालों और माता पिताओं को शिक्षा देना। उन्हें सिखाना होगा कि माता पिता बनने की जिम्मेदारी क्या होती है और बच्चों के जीवन में परिवार जीवन का कितना प्रमुख स्थान है। स्कूलों में गृह-विज्ञान के नाम से एक घण्टा पढ़ा देने मात्र से वास्तविक गृह विज्ञान सिखाया नहीं जा सकता, यह तो परिवारों से प्रत्यक्ष संपर्क रखने से, समझ बूझ कर प्रतिनित्य प्रयत्न करते रहने से ही संभव है।

वातावरण का दूसरा दायरा-समाज

बाल शिक्षण में जहां घर के वातावरण का इतना महत्व पूर्ण स्थान है वहां उससे भी बढ़ कर महत्व का स्थान उस समाज के वातावरण का है जिसमें बच्चा और बच्चे का घर रहता है, क्योंकि समाज का प्रभाव केवल बच्चे पर ही नहीं होता है, बच्चे के माता पिता पर भी होता है, और घर का वातावरण उस समाज के वातावरण से ही बना होता है। जाने अन जाने घर पर समाज का चारित्र्य इतना हावी रहता है कि घरवाले उस प्रभाव से अलग हो कर स्वतंत्र वातावरण बनाने की बात आसानी से सोच भी नहीं सकते।

समाज का बहु-मुखत्व

वास्तव में बच्चों का शिक्षक कौन है? सीधा सा उत्तर है समाज का प्रत्येक व्यक्ति बच्चे का शिक्षक है। बच्चे जिन जिन लोगों से, चाहे वे बड़े बूढ़े हों, जवान हों, चाहे बच्चे ही हों, मिलते हैं उन सब से सीखते ही हैं। बच्चों के असंख्य शिक्षक हैं— घर के सदस्य, गैर के साथी, गाड़ी चलानेवाले, दूकानदार कारीगर और बड़ी उम्र के साथी, एक साथ काम करनेवाले, एक साथ पढ़नेवाले तथा इन सभों पर अपना प्रभाव डालने वाला वह समाज, उसके उद्योग, उसके यातायात के साधन, उसका बाजार, उसके विज्ञापन, उसके अखबार, उसकी फिल्में, सारांश यह कि समाज का प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक व्यक्ति बच्चों का शिक्षक है। इस के होते २४ घण्टों में कुछ गिने-चुने घण्टों के लिए चहारदीवारी के अंदर बच्चों को रख कर उनके कान में कुछ ठूंस देने से ही या जबानी कुछ रटा देने से ही बच्चे उस बाहरी जगत् के प्रभाव से बच जायेंगे ऐसा समझना बड़ी भूल है।

वातावरण का संस्कार ही स्वभाव है

आज के संसार में समाज की व्यवस्था काफी व्यवस्थित है, समाज विज्ञान काफी परिचित हो गया है फिर भी समाज की किस बात का प्रभाव हम पर कब कैसे पड़ता है इसका हमें पूरा ज्ञान नहीं हो पाया है। कई बातों को हम अपना स्वभाव कह देते हैं, लेकिन यह स्वभाव आखिर क्या है? वातावरण के निरंतर प्रभाव और तज्जन्य संस्कार के सिवाय वह और कुछ नहीं है। किसी को पहाड़ प्रिय है, किसी को नदी प्यारी लगती है, किसी को हरियाली से लहलहाता हुआ गांव भाता है तो किसी को अट्टालिकाओं से सजा नगर अच्छा लगता है, यह सब किसी न किसी रूप में उस वातावरण का ही संस्कार है जिस की छाया में वह पलता है।

संस्कार देने की शक्ति केवल भौतिक वातावरण में ही नहीं है, हमारे विचारों ध्ययों, मान्यताओं, निष्ठाओं और हमारी कार्य-पद्धतियों में भी है। यह सब समाज में परंपरा प्रवाह से प्राप्त होते हैं, इन से बचकर कोई नहीं जा सकता, इस अनिवार्य परिस्थिति से शिक्षक इनकार नहीं कर सकता। –

संस्कारों का संघर्ष

इस देश के संस्कार में अति पुरातन काल से कई सद्गुण रक्तगत हो कर चले आये हैं। भूतदया,

अहिंसा, सत्यनिष्ठा, दान, त्याग, विचार-स्वातंत्र्य, समन्वय आदि गुण यहा की संस्कृति की विशेषता है, लेकिन इन को खतम करनेवाले कुछ विरोधी तत्व भी यहा घुस आये हैं। सभ्य समाज के अनिवार्य अग के रूप में उनका प्रचार किया जाता है। हार जीत प्रधान खेल-कूद से स्पर्धा-भावना को उत्तेजित किया जाता है, जीवन बीमा आदोलन से संग्रह वृत्ति को प्रश्रय दिया जाता है, अत्यन्त भीड़ भरे और दूर दूर तक फैले हुए शहरों के विकास से पड़ोसी से अपरिचित रहने को शान मानने के लिए विवश किया जाता है। व्यापार प्रधान समाज बना कर विज्ञापना और शहरी प्रलोभनों का शिकार बनाया जाता है और हर तरह से व्यक्ति को विवेकशून्य बनाया जाता है।

अतः नियंत्रण

इस प्रकार सामाजिक वातावरण यहाँ तक दूषित हुआ है कि शिक्षण से हम लोकतत्र के लिए अनुकूल जो वातावरण निर्माण करना चाहते हैं, व्यक्ति को प्रबुद्ध बनाने के लिए जो अनुकूल परिस्थिति तैयार करना चाहते हैं। आज वह वातावरण उसके बिल्कुल विपरीत ही बन गया है। अतः यहाँ नियत्रण आवश्यक हो जाता है। लोकतत्रीय राष्ट्र में भी इस प्रकार का नियत्रण अनिवार्य है। इन बुराइयों से बचने का प्रयत्न व्यक्ति और परिवार अलग-अलग भले ही कर ले सके पर नियत्रण लाने का काम सरकार का ही है। सरकार का काम इतना ही नहीं है कि शिक्षा-पद्धति तय कर दे, शिक्षक दे दे और दूसरे साधन जुटा दे, बल्कि यह देखना भी सरकार काम है कि शिक्षा उस समाज पर ठीक प्रकार से परिणाम कर सके और उसमें कोई बाधा न आने पाये।

पहला और आखिरी साधन-विवेक

साथ ही शाला के शिक्षकों और समाज के सेवकों का भी कर्तव्य है कि वे अपनी सारी शक्ति लगा कर बच्चों और बड़ों को सिखायें कि वे प्रत्येक मामले में विवेक से काम लें। विवेक बहुत बड़ा साधन है। बुद्धि जितनी विकसित होगी उतना ही विवेक विकसित होगा, अपरिपक्व बुद्धि के कारण विवेक भी सदोष हो सकता है, कभी कभी ऐसे सदोष विवेक से लिया जाने वाला निर्णय गलत भी हो सकता है, लेकिन निर्णय जो लिया वह गलत है या सही, इसकी अपेक्षा निर्णय लेने में विवेक से काम लिया या नहीं यह महत्व की बात है। विवेक से काम लेने की कला और क्षमता लोगों में पैदा करना ही एकमात्र प्रमुख काम है और वातावरण के दुष्प्रभावों से बचने का सही उपाय है। सरकार कानून द्वारा जितना भी प्रयत्न करे, समाज से दुष्प्रवृत्तियों को, स्वार्थ को तथा अन्याय को सर्वथा मिटा नहीं सकती। यह मान-कर ही चलना चाहिए कि समाज का वातावरण सौ फीसदी पवित्र और शुद्ध कभी होगा नहीं, अतः विवेक से काम लेने के सिवा शुद्ध जीवन जीने का दूसरा उपाय नहीं दीखता है। विवेक पूर्ण शुद्ध जीवन का अपना वातावरण बन सकता है जो बुरे वातावरण का प्रभाव घटा सके और शिक्षा का असली हेतु सिद्ध कर सके।

•

शिक्षक विद्यार्थी-परायण, विद्यार्थी शिक्षक-परायण, दोनों ज्ञान-परायण और ज्ञान सेवा-परायण—हमारी पाठशाला की यही योजना होगी। हम नये समाज के निर्माण का शिक्षण दें। प्रचलित शिक्षण देने के लिए अन्य अनेक पाठशालाएँ समर्थ हैं।

—विनोबा

मानव धर्मसार

सारा जीवन, सारा विचार, सारा शासन, और सारा व्यापार, यही नहीं, सारा शिक्षण भी आज स्वार्थ-केन्द्रित होकर चलता-सा दिख रहा है।...... ऐसी विकट स्थिति में 'ईशावास्य' का यह एक विचार ही हमें रास्ता बदलने और नयी मंजिल की दिशा में आगे बढ़ने की सही प्रेरणा दे रहा है।

• श्री काशिनाथ त्रिवेदी

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थ :—इस जगत् में जो भी कुछ जीवन है, वह सब ईश्वर का बसाया हुआ है।

इसलिए ईश्वर के नाम से त्याग करके यथा प्राप्त भोग किया कर। किसी के धन की वासना न रख।

भावार्थ :—हमारे देश में मानव धर्म को समझने के लिए पुराने जमाने के जो अनेकानेक ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें चार वेदों के बाद अठारह मुख्य उपनिषदों और अठारह मुख्य पुराणों के अलावा रामायण तथा महाभारत-जैसे ग्रन्थ प्रमुख हैं। यहाँ जिस मन्त्र की चर्चा हम कर रहे हैं वह उपनिषदों में भी 'ईशावास्य' नाम का जो सबसे छोटा उपनिषद् है, जिसमें केवल १८ मन्त्र दिये गये हैं, उसके पहले मन्त्र की कर रहे हैं। सन् १९३३-३४ के जमाने में जब गांधीजी ने हरिजनों की समस्या को लेकर सारे देश की यात्रा की थी, तब दक्षिण भारत के विद्वानों के साथ हुई चर्चा में उन्होंने ईशावास्योपनिषद् के इस पहले मन्त्र की चर्चा को बहुत ध्यान से सुना था। इस मन्त्र का विचार उन्हें इतना जँच गया कि उन्होंने इसे अपनी नित्य प्रार्थना में पहला स्थान दिया और अपने 'हरिजन' पत्रों में इसकी चर्चा करते हुए लिखा कि दुनिया के और देश के सारे धर्मग्रन्थ लुप्त हो जायें और केवल यह एक मन्त्र लोगों के ध्यान में रह जाय तथा इसके मर्म को समझ कर दुनिया के लोग चलने लगें तो न दुनिया को और न दुनियादारी को ही कभी कोई धोखा हो। गांधीजी ने जिस मन्त्र के महत्त्व को इतनी गहराई से जाना-माना था और जिसे अपने नित्य के चिंतन में स्थान दिया था, उसकी थोड़ी चर्चा यहाँ हम कर रहे हैं।

इस मन्त्र का पहला विचार यह कि दुनिया में जहाँ जहाँ भी जीवन है और जितना भी जीवन है उस सबमें भगवान विराजमान है। भगवान ने ही उसे बनाया है और बसाया है। सारी चराचर सृष्टि का वही स्वामी है, वही कर्ता, भर्ता और हर्ता है। उसके वैभव की कोई सीमा नहीं। उसकी महिमा का पार नहीं। उसकी शक्ति अनन्त है। उससे बढ़ कर कोई दाता नहीं। उसका दान प्रवाह अनादि काल से अखण्ड चला आया है। वह चींटी को चून, हाथी को रोट और मनुष्य को उसके लिए जरूरी अन्न जल आदि देता है। उसने सब के लिए समुचित व्यवस्था करके रखी है। इस परम समर्थ और एकमेवाद्वितीय परमात्मा की कृपा से हमें अपने जीवन धारण के लिए अन्न, जल आदि के रूप में जो भी कुछ मिलता है वह सब उसी का आशीर्वाद है। वह हमारा नहीं, उसी का है और हमारे पास तो वह उसके प्रसाद के रूप में आता है। हम अपने को उसका स्वामी नहीं मान सकते। इसलिए उसके इस प्रसाद को भी हम अपना न मानें। वह भी उसी का है, और इस

पर भी हमारा अधिकार तो उतने के लिए ही है जितने की हमें अपने रोज-रोज के जीवन के लिए जरूरत है। मतलब यह कि उसके प्रसाद का उपयोग भी हमें त्याग बुद्धि से, संयम और विवेक पूर्वक ही करना चाहिए। इसी में हमारा और हमारे समय के समूचे ससार का हित और कल्याण समाया हुआ है।

जो हमें नहीं मिला है, पर हमारे पड़ोसी को, साथी को, मित्र को, सगे सम्बन्धियों को अथवा हमारे किसी विरोधी को, दुश्मन को या हमारे देश प्रदेश से भिन्न किसी और देश-प्रदेश को मिला है, वह उसी का है, हमारा नहीं। इसलिए उसके प्रति हमारे मन में किसी प्रकार की लालसा, वासना, तृष्णा या लोभ नहीं रहना चाहिए। इसी विचार से इस मन्त्र के अन्त में कहा है कि किसी के धन की ओर हम गिद्ध की-सी लोभ-वृत्ति से न देखें। मतलब यह कि उसे छीनने, झपटने, नोचने, हड़पने या पचा जाने का कोई दुष्ट और अमंगल विचार हम पर कभी सवार न हो। यहाँ 'धन' शब्द अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धन से मतलब केवल रुपया-पैसा अथवा सोना-चाँदी नहीं। आशय यह है कि जो हमारे पास नहीं है, पर दूसरे के पास है, उसके लिए भी हमारे मन में कोई तृष्णा और लोभ न हो। स्वास्थ्य, सौंदर्य, विद्या, बुद्धि-शक्ति, भावना, भक्ति, कुशलता, क्षमता, सेवापरायणता, परोपकारिता, शील, संयम, सदाचार, निष्ठा, त्याग, तप, दान शीलता, आदि-आदि जो गुण हैं, वे भी मनुष्य के लिए धन-रूप हैं, वैभव-रूप हैं। इस मानवीय गुणवाले 'धन' के प्रति भी हमारे मन में किसी प्रकार का लोभ नहीं रहना चाहिए। जहाँ लोभ आता है, वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, युद्ध, हिंसा आदि उसके सारे सगे-सम्बन्धी आते ही हैं। इसीलिए इस मन्त्र में किसी के भी धन-वैभव को ललचाई निगाह से न देखने की बात अत्यन्त दृढ़ता के साथ कही गयी है। इस मन्त्र में 'धन' शब्द के द्वारा जो संकेत किया गया है, उसमें मानव-समाज की सब प्रकार की भौतिक सम्पत्ति के साथ ही आत्मिक अथवा आध्यात्मिक सम्पत्ति का भी समावेश होता है। इस विचार को इतनी गहराई तक समझाने के बाद कौन भला आदमी होगा, जो अपने नित्य के व्यवहार में किसी भी प्रकार की लूट खसोट को थोड़ी भी जगह देगा ? और जब मन में से तथा जीवन में से लूट-खसोट का सारा विचार ही सदा के लिए निकल जायगा, तो फिर मनुष्यों के बीच कलह के निमित्त ही क्यों खड़े होंगे ?

इस सारी चर्चा में बहुत गहराई से और सफाई से समझने की बात तो यह है कि इस दुनिया में जो कुछ है, वह हमारा नहीं, भगवान का है। हम खुद भी, हमारा यह साढ़े तीन हाथ का शरीर भी, हमारा नहीं, भगवान का है। जब तक वह इसे हमारे पास रहने देता है, तब तक उसकी प्रसादी के रूप में यह हमारा हो कर रह लेता है, पर जिस घड़ी उसका हुक्म छूटता है और वह अपनी चीज को वापस लेना चाहता है, हमें उसी घड़ी निरुपाय भाव से उसकी चीज उसे देनी पड़ती है। हम नहीं कह सकते कि इसे हम ने २५, ५०, ७५, या १०० बरस तक जतन से रखा है, इसलिए अब यह हमारा ही है और भगवान् को भी हक नहीं कि वह इसे हम से छीन ले। विचार बहुत गहरा और ऊँचा है। अगर सारी दुनिया के सब लोग इस विचार को इसकी इस ऊँचाई और गहराई के साथ पकड़कर चलें, जीयें और व्यवहार करें तो क्या दुनिया मानवता के लिए स्वर्ग से अधिक सुखद और श्रेयस्कर नहीं बन जायगी ? हम सोचें, समझें और तय करें !

आज अपने इस भारत देश में हम अपनी आजादी लेकर जी रहे हैं। लगभग १०० साल तक हम इस आजादी के लिए जूझे। जो चीज हम से छिन गयी थी, उसे हम ने लम्बी जद्दोजहद के बाद, बड़ी-बड़ी कुरबानियाँ देकर, तप, त्याग और बलिदान की भावना से भर कर, भारी मुसीबतों को झेलते हुए पाया। जब तक हमें अपनी आजादी नहीं मिली थी, हम उसकी रट लगाये रहे उसके लिए मरते, मिटते रहे। पर जब एक बार वह हमें मिल गयी और ऐसी रीति से मिली, जो सारी दुनिया के लिए उदाहरण बन गयी, तो हम फिर गफलत में पड़ गये। अपने सारे धर्म, नीति, कर्तव्य, विचार, तत्व, प्रतिज्ञा,

घोषणा, संकल्प, सब को भूल कर, अपनी मस्ती में बुरी तरह डूब गये। परिणाम यह हुआ कि आज आजादी के इस सोलहवें साल में भी इस देश के करोड़ों करोड़ लोग बेहिसाब गरीबी, गंदगी, गुलामी, बेकारी, भुखमरी, नासमझी, नालायकी और नाउम्मीदी का जीवन बिता रहे हैं। सारे देश में आर्थिक और सामाजिक विषमता इतने वेग से बढ़ रही है कि उसमें मनुष्य का विचार तक करने की फुरसत नहीं रह गयी है। सारा जीवन, सारा विचार, सारा शासन, और सारा व्यापार, यही नहीं, सारा शिक्षण भी आज स्वार्थ-केंद्रित होकर चलता-सा दीख रहा है। किसी को इसका भान तक नहीं रह गया है कि हम सब तो निमित्त हैं और ईश्वर की इस सृष्टि में ईश्वर के ही काम को आगे बढ़ाने के लिए हमें यह मनुष्य जीवन मिला है। हम पर कुछ ऐसा आसुरी भाव सा छा गया है कि अपनी दैवी संपद का क्षण भर को भी विचार करने की अनुकूलता आज हमारे मन-मस्तिष्क में रह नहीं गयी है। यह एक भयंकर और भारी विस्फोटक स्थिति है। किसी भी क्षण इस के बड़े गंभीर, भयावने और सर्व नाशकारी परिणाम निकल सकते हैं। देश की और दुनिया की ऐसी विकट स्थिति में 'ईशावास्य' का यह एक विचार ही हमें रास्ता बदलने और नयी मंजिल की दिशा में बढ़ने की सही प्रेरणा दे रहा है।

क्या हम इसे अपनाकर अपनी और अपने समय के संसार की रक्षा करेंगे?

●

स्वाधीनता के सूत्र

सिलोन के दौरे के समय बहुत से लोग मुझ से पूछते, "हम स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए?" मैं स्वभावतः स्वतंत्रता के आर्थिक पहलू में रस लेता हूँ, क्योंकि स्वतंत्रता और अर्थ-शास्त्र अविभाज्य है। मैंने उनसे कहा, "स्वतंत्रता पाने के पहले स्वातंत्र्य टिकाने की आप में शक्ति होनी चाहिए। बताइये कि आप क्या पैदा करते हैं, किस चीज का आयात करते हैं और किस पर गुजारा करते हैं?" उन्होंने बताया, "हम चावल पर अपना गुजारा करते हैं। सारा चावल बर्मा और स्याम से आता है। हमारे कपड़े के लिए कनाडा की मिलों का सूत आता है। हम यहां रबर चाय व काफी पैदा करते हैं और उसका निर्यात कर देते हैं।" तब मैंने कहा, "स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए पहली बात जो आप कर सकते हैं, वह यह है कि आप हाजमे को रबर खाने का आदी बनादें। यदि आप ऐसा नहीं करते, तो आप स्वतंत्र हो नहीं सकते। दूसरी चीज आपको यह करनी चाहिए कि चाय की पत्तियों से कपड़ा बनाने का कोई तरीका आप ढूंढ निकालें, वरना आपको कपड़े मिल नहीं सकते। क्योंकि कोलंबो बंदरगाह में एक जंगी जहाज आकर आपको नंगे और भूखे रहने के लिए मजबूर कर सकता है। प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में आपको आत्म निर्भर होना ही चाहिए।"

—जे० का० कुमारप्पा

बच्चों की कहानियाँ

श्री जुगतराम दवे

[श्री जुगतराम भाई बुनियादी शिक्षा-जगत् के लिए अपरिचित नहीं हैं। आपने गुजरात मे बालशिक्षण का अच्छा संगठन खडा किया है। उन्होंने गुजराती भाषा 'बालवाडी' में (पूर्व बुनियादी बालशिक्षण नाम से) एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इस पुस्तक का एक अंश हम यहा उद्धृत कर रहे हैं।—सं०]

बालको को जिस प्रकार इर्द गिर्द रहनेवाले मनुष्यो के जीवन का निरीक्षण उपलब्ध है, उसी प्रकार उन्हें उसके आसपास रहनेवाले पशु-पक्षियो के जीवन भी देखने को मिलते हैं। पशु-पक्षी उन्हें मनुष्य से भी अधिक प्रिय लगते हैं क्योंकि एक तरह से देखा जाय तो ये प्राणी बाल स्वभाव के ही होते है। चिडिया, कौआ, मोर, तोता आदि के पखो का शृङ्गार, उनका उडना, पेड पर बैठना और नीचे उतर कर दाना चुगना, नाचना, कूदना और सारा दिन कुछ न कुछ बोलते ही रहना क्या छोटे बालकों-जैसा व्यावहार नहीं है? पक्षी रोज दाना चुगने आते है और साथ अपने बच्चो को लाते है और चिड़िया तो अपने घर मे आकर घोसला भी बनाती है।

दूसरी तरफ से बिल्ली, कुत्ता, गिलहरी चूहा ये सभी बालकों के बडे दोस्त हैं। वे आहिस्ता आहिस्ता तो चलते ही नही, बालको के समान ही दौडते रहते हैं। जब बिल्ली और कुतिया के बच्चे पैदा होते हैं तब तो उनकी खुशी की कोई सीमा नही रहती। उनके साथ खेलना, उनको खिलाना, यह बालकों के लिए बडा दिलपसन्द काम हो जाता है। इन सब को मनुष्यो-जैसी वाणी नहीं है फिर भी बालक उनको उनके मन के भाव से समझ लेते हैं। कुत्ता पूछ हिलाते हुए और बिल्ली छलाग मारते हुए आये तो बालक समझ जाते हैं कि वे खुशी में आये है।

उसी प्रकार गायें और उनके बछडे, हिनहिनाते घोडे, डकरते बैल और चिल्लाते गधे बालको के परिचित है। घोडा और बैल तो गाडी म आते भी जाते हैं और उसमें बच्चो को बैठने को मिलता है। घोडे पर सवारी भी की जा सकती है। जिनका बिल्कुल डर नही लगता ऐसी बकरियां भी बालको को भाती हैं।

बालकों के इन सब प्यारे मित्रो के जीवन पर भांति-भांति की बाल-कथाएं रची जा सकती हैं। बालकों के इन पशु पक्षियो के जीवन की सादी, सरल वर्णनात्मक कहानियां, जो उनके अनुभव-जैसी होती हैं, बालवाडी के शुरुआत में बालको को बहुत ही पसद आती हैं। कहानियो में ये प्राणी मनुष्यो की तरह बोलेंगे और बात करेंगे। बालवाडी के बालकों में से कोई-कोई इस कथा के पात्र के रूप में काम करेंगे तब इस कथा का आनन्द और बढ जायेगा।

१—मोहन की चिरैया

मोहन के घर में चिरैया घोंसला बनाने आती है उसकी कहानी कही जा सकती है—

एक था घर। घर में मोहन झूले पर बैठकर झूल झूल रहा था। इतने में एक चिरैया बहन फर फर करती वहा आयी।

मोहन बोला—चिरैया बहन, चिरैया बहन, कैसे आना हुआ ?

चिरैया बोली—मोहन, मुझे तुम्हारे घर में घोसला बनाना है।

मोहन—हां, चिरैया बहन, खुशी से मेरे घर में घोसला बनाओ। लो, मै तुम्हारे लिए छोटी सी सफेद टोकरी लटका देता हूँ। फिर मोहन ने ऊपर चढ़कर छप्पर के बांस में एक रस्सी बांधी और उसके एक सिरे पर एक छोटा सी टोकरी बांध दी। उसमे थोड़ी-थोड़ी नरम-नरम रूई भी बिछा दी।

चिरैया बहन को यह छोटी टोकरी बहुत पसन्द आयी। बोली—मोहन तू कैसा होशियार लड़का है। इस बार मेरा घोसला बहुत सुन्दर होगा।

फिर वह चिरैया बहन चिरोंटे को बुला लायी और घोसला बनाने लगी।

उड़कर बाहर जायें और कुछ-न-कुछ ले आयें। घास के तिनके लायें, पत्ते लायें, लकड़ी के टुकड़े लायें और धागे के रेशे भी ले आयें।

पूरा दिन दोनों मेहनत करते रहे, जायें आयें, जायें आयें और चोंच में पकड़कर कुछ न कुछ ले आयें।

मोहन बोला—चिरौंटा भाई, चिरौंटा भाई, तुम तो बहुत मेहनत करते हो, तुम थकते नही ?

चिरौंटा—मोहन, मोहन, मेहनत बिना कहीं घर बनता है ? अभी तो घोसला आधा रह गया है। अब बचा काम हम कल करेंगे।

चिरैया और चिरौंटा दूसरे दिन भी घोसला बनाने का काम करते ही रहे।

चिरौंटा भाई घास के तिनके लाये और चिरैया बहन ने पांव की अंगुलियों से घोसला तैयार करे। फिर चिरौंटा भाई कुछ पत्ते लाये और चिरैया बहन पांव के अंगुलियों से उसे वहां रख दे। घोसला तैयार हुआ तो चिरैया ने उसमें दो अंडे दिये।

मोहन को अंडा देखने की बहुत इच्छा थी। पर मां ने कहा, बेटा, अंडा देखने के लिए ऊपर नही चढ़ना। हमारे घोसले के पास जाने से चिरैया को डर लगता है।

फिर तो कुछ दिनों के बाद अंडों में से दो छोटे छोटे बच्चे निकले। वे धीमे धीमे ची ची ची ची बोलने लगे।

पहले उनकी आँखें बन्द थी। उन्हें उड़ना भी नही आता था।

चिरौंटा और चिरैया कुछ-कुछ लाकर उनके मुंह में डालते है। मोहन जब खाता है तब चिरैया उसके पास जाती है, मोहन उसे भात का एक दाना देता है, चिरैया खुद उसे नहीं खाता है। वह घोसले में जाकर बच्चे को खिलाता है।

अब बच्चा की आखें खुली है। उनको उड़ना भी आता है। चिरैया चिरौंटा उनको लेकर मोहन के पास आते हैं। मोहन उनके सामने मुरमुरा और लावा फेंकता है, बच्चे दौड़-दौड़कर उन्हें खाते हैं।

कौआ कहां जाता है ?

अब हम एक कौए की कहानी लेंगे। यह भी बालक का परिचित ही है। पर बालक के घर वह घड़ी दो घड़ी के लिए ही आता है। कुछ खाने को मिला तो खाकर और थोड़ा कांव कांव कर उड़ जाता है। फिर पूरा दिन वह कहां फिरता होगा, उसका घोसला कहां होगा इसकी बालक को कुछ भी खबर नहीं। कौए के जीवन का यह अज्ञात पहलू बालक के सामने खोलेंगे तो बालक की कुतूहल वृत्ति जागृत होगी और वह दिलचस्पी से कहानी सुनेगा—

एक था कौआ।

नानू के घर छप्पर पर रोज सवेरे आकर वह कांव-कांव कांव कांव का गीत गाता था।

नानू बोला—कौआ भाई, कौआ भाई, तुम कहां से आये हो ?

कौआ बोला—मैं तो घाघरा नदी से आया हूँ।

नानू बोला—ओ हो, घाघरा नदी तो बहुत दूर है, इतने दूर से तुम आये हो।

कौआ बोला—वह बहुत दूर कहा है ? यहां से सिर्फ दो गांव ही तो होगा।

नानू बोला--दो गाँव कुछ थोड़ा अंतर हुआ ? इतना चलने के लिए तो हमें बहुत समय लगेगा।

कौआ बोला--मैं तुम्हारे जैसा पैदल नहीं आता। मैं तो उड़कर आता हूँ। इसलिए मैं तो थोड़े ही समय में आ गया।

नानू बोला--कौआ भाई, तुम घाघरा नदी किसलिए गये थे ?

कौआ बोला--घाघरा नदी पर मैं नहाने गया था। दूसरे सब कौएँ भी घाघरा नदी में नहाने आये थे। हम रोज सुबह नहाने आते हैं। पंख फड़फड़ा कर खूब नहाते हैं और खूब आनन्द लेते हैं। प्रातः स्नान किये बिना हमें अच्छा नहीं लगता।

नानू--फिर तो मैं तुमको काकऋषि कहूँगा। काकऋषि, काकऋषि, यहाँ से आप कहाँ जायेंगे ?

कौआ--स्नान करके मैं सबसे पहले तेरे घर आता हूँ। तेरी मा बहुत अच्छी है। वह मुझे रोज रोटी का टुकड़ा देती है। तेरे घर से मैं मुन्नी के घर जाऊँगा। उसके घर में सब बरतनों में बहुत-सा जूठा छोड़ा रहता है, वह सब वे लोग बगीचे में फेंक देते हैं। इसलिए मेरा काम बन जाता है। फिर मैं मनोहर हलवाई के दूकान में जाऊँगा। उसकी दूकान में सेव, चबेना, पेड़ा और दूसरी-दूसरी मिठाई बिकती है। किसी वक्त मनोहर सेठ का लड़का मुझे सेव, चबेना डाल देता है। और कभी-कभी तो मैं थालियों में झपट कर पेड़ा ही उठा ले आता हूँ।

नानू--कौआ भाई, तुम रोज हमारे घर आते हो ?

कौआ--हाँ, अपना घर मैंने तय कर लिया है। दूसरे कौओं ने भी अपने-अपने घर तय किये हैं। यहाँ तक कि हम तय किये हुए घरों में ही जाते हैं। फिर कोई घरवाला यदि हमको मारे या कष्ट दे तो उसका घर छोड़कर हमें दूसरा घर तय करना पड़ता है।

नानू--कौआ भाई, फिर तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--गाँव में से फिर मैं जग्गू भाई ठाकुर के खेत में जाऊँगा। उनके खेत में अभी मूँगफली उखाड़ी गयी है, पर भूमि पर बहुत फली रह गयी है। ये लोग देख नहीं सकते पर हम उड़ते उड़ते ऊँचाई से देख लेते हैं, इसलिए हमको तुरन्त वह मिल जाती है।

नानू--कौआ भाई, जग्गूभाई ठाकुर के खेत से फिर तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--उसके बाद मैं रमाकान्त त्रिपाठी के बगीचे में आता हूँ। वहाँ अमरूद और अनार खूब पके हैं। फिर वहीं एक पपीता भी पका है। उसकी किसी को खबर नहीं है, पर मैंने देख रखा है।

नानू--कौआ भाई, बगीचे से फिर तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--बगीचे से मैं चमारों की बस्ती में जाऊँगा। एक भैंस मर गयी है। उसका चमड़ा उन लोगों ने निकाला है। वहाँ मुझे मांस के टुकड़े मिलेंगे।

नानू--कौआ भाई, वहाँ से तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--इतने में तो शाम हो जायेगी। इसलिए मैं अपने गाँव जाऊँगा और अपने घोसले में जाकर सो जाऊँगा।

नानू--कौआ भाई, कौआ भाई, आपका गाँव कहाँ है ?

कौआ--जंगल में एक तालाब है, तालाब के किनारे बबूल की झाड़ी है। वहाँ कोई आता नहीं, जाता नहीं। उस झाड़ी में सब कौओं ने अपने मकान बनाये हैं, वही हमारा गाँव है। अच्छा तो अब राम-राम। अब मुझे देर हो रही है। अंधेरा हो जायेगा तो मुझे दीखेगा नहीं।

नानू--कौआ भाई, कल सबेरे मेरे घर जरूर आना.... जरूर आना।

★

एक था घर। घर में मोहन झूले पर बैठकर झूल झूल रहा था। इतने में एक चिरैया बहन फर-फर करती वहां आयी।

मोहन बोला—चिरैया बहन, चिरैया बहन, कैसे आना हुआ?

चिरैया बोली—मोहन, मुझे तुम्हारे घर में घोंसला बनाना है।

मोहन—हां, चिरैया बहन, खुशी से मेरे घर में घोंसला बनाओ। लो, मैं तुम्हारे लिए छोटी-सी सफेद टोकरी लटका देता हूं। फिर मोहन ने ऊंचा चढ़कर छप्पर के बांस में एक रस्सी बांधी और उसके एक सिरे पर एक छोटी-सी टोकरी बांध दी। उसमें थोड़ी-थोड़ी नरम-नरम रुई भी बिछा दी।

चिरैया बहन को यह छोटी टोकरी बहुत पसन्द आयी। बोली—मोहन तू कैसा होशियार लड़का है। इस बार मेरा घोंसला बहुत सुन्दर होगा।

फिर वह चिरैया बहन चिरौटे को बुला लायी और घोंसला बनाने लगी।

उड़कर बाहर जायें और कुछ-न-कुछ ले आयें। घास के तिनके लायें, पंख लायें, लकड़ी के टुकड़े लायें और धागे के रेशे भी ले आयें।

पूरा दिन दोनों मेहनत करते रहे, जायें आयें, जायें आयें और चोंच में पकड़कर कुछ-न कुछ ले आयें।

मोहन बोला—चिरौटा भाई, चिरौटा भाई, तुम तो बहुत मेहनत करते हो, तुम थकते नहीं?

चिरौटा—मोहन, मोहन, मेहनत किये बिना कहीं घर बनता है? अभी तो घोंसला आधा रह गया है। अब बचा काम हम कल करेंगे।

चिरैया और चिरौटा दूसरे दिन भी घोंसला बनाने का काम करते ही रहे।

चिरौटा भाई घास के तिनके लाये और चिरैया बहन ने चोंच के अंगुलियों से घोंसला तैयार करे। फिर चिरौटा भाई कुछ पत्ते लाये और चिरैया बहन चोंच के अंगुलियों से उसे वहां रख दे। घोंसला तैयार हुआ तो चिरैया ने उसमें दो अंडे दिये।

मोहन को अंडा देखने की बहुत इच्छा थी। पर मां ने कहा, बेटा, अंडा देखने के लिए ऊपर नहीं चढ़ना। हमारे घोंसले के पास जाने से चिरैया को डर लगता है।

फिर तो कुछ दिनों के बाद अंडों में से दो छोटे-छोटे बच्चे निकले। वे धीमे-धीमे चीं चीं चीं चीं बोलने लगे।

पहले उनकी आंखें बन्द थीं। उन्हें उड़ना भी नहीं आता था।

चिरौटा और चिरैया कुछ-कुछ लाकर उनके मुंह में डालते हैं। मोहन जब खाता है तब चिरैया उसके पास आती है, मोहन उसे भात का एक दाना देता है, चिरैया खुद उसे नहीं खाती है। वह घोंसले में जाकर बच्चे को खिलाता है।

अब बच्चों की आंखें खुली हैं। उनको उड़ना भी आता है। चिरैया चिरौटा उनको लेकर मोहन के पास आते हैं। मोहन उनके सामने मुरमुरा और लावा फेंकता है, बच्चे दौड़-दौड़कर उन्हें खाते हैं।

कौआ कहां जाता है?

अब हम एक कौए की कहानी लेंगे। वह भी बालकों का परिचित ही है। पर बालक के घर वह घड़ी दो घड़ी के लिए ही आता है। कुछ खाने को मिला तो खाकर और थोड़ा कांव-कांव कर उड़ जाता है। फिर पूरा दिन वह कहां फिरता होगा, उसका घोंसला कहां होगा इसकी बालक को कुछ भी खबर नहीं। कौए के जीवन का यह अज्ञात पहलू बालक के सामने खोलेंगे तो बालक की कुतूहल वृत्ति जागृत होगी और वह दिलचस्पी से कहानी सुनेगा—

एक था कौआ।

नानू के घर छप्पर पर रोज सबेरे आकर वह कांव-कांव कांव कांव का गीत गाता था।

नानू बोला—कौआ भाई, कौआ भाई, तुम कहां से आये हो?

कौआ बोला—मैं तो घाघरा नदी से आया हूं।

नानू बोला—ओ हो, घाघरा नदी तो बहुत दूर है, इतने दूर से तुम आये हो।

कौआ बोला—यह बहुत दूर कहां है? यहां से सिर्फ दो गांव ही तो होगा।

नानू बोला--दो गाँव कुछ थोड़ा अंतर हुआ ? इतना चलने के लिए तो हमें बहुत समय लगेगा।

कौआ बोला--मैं तुम्हारे जैसा पैदल नहीं आता। मैं तो उड़कर आता हूँ। इसलिए मैं तो थोड़े ही समय में आ गया।

नानू बोला--कौआ भाई, तुम घाघरा नदी किसलिए गये थे ?

कौआ बोला--घाघरा नदी पर मैं नहाने गया था। दूसरे सब कौए भी घाघरा नदी में नहाने आये थे। हम रोज सुबह नहाने जाते हैं। पंख फड़फड़ा कर खूब नहाते हैं और खूब आनन्द लेते हैं। प्रात स्नान किये बिना हमें अच्छा नहीं लगता।

नानू--फिर तो मैं तुमको काकऋषि कहूँगा। काकऋषि, काकऋषि, यहाँ से आप कहाँ जायेंगे ?

कौआ--स्नान करके मैं सबसे पहले तेरे घर आता हूँ। तेरी माँ बहुत अच्छी है। वह मुझे रोज रोटी का टुकड़ा देती है। तेरे घर से मैं मुन्नी के घर जाऊँगा। उसके घर में सब बरतनों में बहुत-सा जूठा छोड़ा रहता है, वह सब वे लोग बगीचे में फेंक देते हैं। इसलिए मेरा काम बन जाता है। फिर मैं मनोहर हलवाई के दुकान में जाऊँगा। उसकी दुकान में सेव, चवेना, पेड़ा और दूसरी दूसरी मिठाई बिकती है। किसी वक्त मनोहर सेठ का लड़का मुझे सेव, चवेना डाल देता है। और कभी-कभी तो मैं थालियों में झपट कर पेड़ा ही उठा ले जाता हूँ।

नानू--कौआ भाई, तुम रोज हमारे घर आते हो ?

कौआ--हाँ, अपना घर मैंने तय कर लिया है। दूसरे कौओं ने भी अपने-अपने घर तय किये हैं। यहाँ तक कि हम तय किये हुए घरों में ही जाते हैं। फिर कोई घरवाला यदि हमको मारे या कष्ट दे तो उसका घर छोड़कर हमें दूसरा घर तय करना पड़ता है।

नानू--कौआ भाई, फिर तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--गाँव में से फिर मैं जम्मू भाई ठाकुर के खेत में जाऊँगा। उनके खेत में अभी मूँगफली उखाड़ी गयी है, पर भूमि पर बहुत फली रह गयी है। ये लोग देख नहीं सकते पर हम उड़ते उड़ते ऊँचाई से देख लेते हैं, इसलिए हमको तुरन्त वह मिल जाती है।

नानू--कौआ भाई, जम्मूभाई ठाकुर के खेत से फिर तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--उसके बाद मैं रमाकान्त त्रिपाठी के बगीचे में जाता हूँ। वहाँ अमरूद और अनार खूब पके हैं। फिर वहीं एक पपीता भी पका है। उसकी किसी को खबर नहीं है, पर मैंने देख रखा है।

नानू--कौआ भाई, बगीचे से फिर तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--बगीचे से मैं चमारों की बस्ती में जाऊँगा। एक भैंस मर गयी है। उसका चमड़ा उन लोगों ने निकाला है। वहाँ मुझे मांस के टुकड़े मिलेंगे।

नानू--कौआ भाई, वहाँ से तुम कहाँ जाओगे ?

कौआ--इतने में तो शाम हो जायेगी। इसलिए मैं अपने गाँव आऊँगा और अपने घोंसले में जाकर सो जाऊँगा।

नानू--कौआ भाई, कौआ भाई, आपका गाँव कहाँ है ?

कौआ--जंगल में एक तालाब है, तालाब के किनारे बबूल की झाड़ी है। वहाँ कोई आता नहीं, जाता नहीं। उस झाड़ी में सब कौओं ने अपने मकान बनाये हैं, वही हमारा गाँव है। अच्छा तो अब राम-राम। अब मुझे देर हो रही है। अंधेरा हो जायगा तो मुझे दीखेगा नहीं।

नानू--कौआ भाई, कल सवेरे मेरे घर जरूर आना जरूर आना।

★

असम के एक अंचल का जन-जीवन

श्री रवीन्द्रनाथ

असम के ११ जिले, नेफा में ५ अंचल और मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैंड को मिलाकर कुल १६ भागों में हम असम को बांटते हैं।

१—इनमें मैदान के ६ जिले हैं। गुवालपाड़ा, कामरूप, दरंग, नौगांव, लखीमपुर, शिवसागर। ये ब्रह्मपुत्र के किनारे हैं। मिट्टी बड़ी अच्छी है। धान की दो फसल आम तौर से लेते हैं। एक, 'आहू' दूसरा, शाली धान। आहू को रोपते नहीं। खेत तैयार करना शुरू हो गया है। अभी तक ब्राडकास्टिंग करके बो देते हैं। शाली जैसे हमारे यहां होता है वैसे ही और उसी मौसम में यहां भी करते हैं। इसके अलावा दाल मूंग, उड़द की एक जाति जिसे माटी कलाई कहते हैं, और अरहर तथा खेसारी भी होता है पर बहुत ही कम। यहां का बीघा छोटा होता है। करीब तीन बीघे का एक एकड़ होता है। यहां के बीघे में प्रति बीघा १० से १५ मन तक धान आम तौर से होता है। अर्थात् ३० से ४५ मन प्रति एकड़ यहां की मिट्टी के कारण। पद्धति और औजार तो हम लोगों के देहातों से भी पिछड़ा हुआ है। सरसों की फसल भी अच्छी होती है।

२—इसी में हर घर में किचन गार्डन एक एकड़ के करीब मिलेगा। जिसमें आलू, हरी सब्जी, केला, बांस होता है। फल व सब्जी यहां के लोग खूब खाते हैं।

खेती में सिंचाई करना ये नहीं जानते। धान की सिंचाई होती है। नदी और नाले यहां हर कदम पर करीब-करीब जमीन के सतह पर बहते हैं। अतः सिंचाई की योजनाएं सस्ती होती हैं। पर धान के अतिरिक्त और कोई फसल ये नहीं सींचते। किचन गार्डन को तो कतई नहीं। घर में केला, बांस जंगल जैसा मिलेगा। इसी से घर के हाते की फेंसिंग करते हैं।

यहां चरागाहों के बड़े बड़े मैदान हैं—हजार हजार एकड़ के। यहां गाय चराने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता है। पशु रखने तथा बसने और सब्जी उगाने के लिए २ बीघा जमीन मिलती है, पर अतिक्रमण (इन्क्रोचमेंट) खूब होता है। गोपालक खेती भी काफी जमीन रखते हैं। गोपालन का पेशा मुख्य रूप से नेपाली लोग करते हैं। ये लोग आज ४०, ५० वर्ष से असम में बसे हैं, लेकिन मुस्तकिल नहीं।

इसी प्रकार इन मैदानों में से जमीन निकालकर बंगाली शरणार्थी तथा बाढ़ग्रस्त क्षेत्र के लोगों को दी गयी है। इस क्षेत्र में भी सरकारी अफसरों की ढिलाई के कारण लोगों को बड़ी कठिनाई होती है।

—नौकरों का नाम नहीं है। हर घर के लोग खुद खेती का सारा काम करते हैं।

—शिक्षा का प्रसार हो रहा है। पढ़ने वाले लड़के बाबू हो रहे हैं। हमारे यहां से भी ज्यादा।

—सारा आतिथ्य घर की स्त्री करती है।

—बूढ़े यहां के गांवों में दिखाई ही नहीं देते। पता नहीं क्या बात है। शायद उम्र कम होती है।

गायें दूध-बहुत कम देती हैं, एक सेर से दो सेर तक। भैंस भी जहां-तहां हैं। खेती में बैल ज्यादा हैं, भैंसा बहुत कम। बैल मोटे और चौड़े होते हैं, इसी तरह यहां के ट्राइबल लोग भी।

मैं जिस क्षेत्र में हूँ वह कामरूप जिले का उत्तर पश्चिमी भाग है—उत्तर में भूटान से सटा हुआ। भूटान की सीमा में भी जाने का अवसर मिलता है। आने जाने की कोई रोक नहीं है। बाजारों में भूटिया लोग आते जाते हैं। लोगों का कहना है कि लड़ाई के कारण भूटिया लोगों की चेकिंग होती रहती है ताकि भूटिया लोगों की वेश में चीनी न आ जाय। भूटिया और चीनी की शक्ल इतनी मिलती है कि अलग करना कठिन है—रंग रूप, कपड़ा सब।

असम ऐसी जगह है जहां कई धर्म कई जाति, तथा अनेक भाषा के लोग हर जगह हैं। ये जो इनके १६ भाग हैं व एक दूसरे से बहुत ही भिन्न हैं।

आदिवासी जिन्हें ट्राइबल कहा जाता है उनकी भी अनेक बोली हैं, एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न। पुरुषों की पोशाक तो धोती, कमीज, पैंट के कारण एक तरह की है, पर स्त्रियों को उनके कपड़े से, पहनने के ढंग से पहचाना जा सकता है कि वह किस हिस्से की स्त्री है। यहां की स्त्रियां साड़ी की जगह 'मेखला' पहनती हैं और ऊपर से चादर ओढ़ती हैं। वैसे आमतौर पर चादर नहीं ओढ़तीं। मेखला एक लुंगी समझिए जो सीने से पैर तक रहती है। इसी एक कपड़े से काम चलता है। आमतौर पर ब्लाउज पहनने का भी रिवाज नहीं है। २४ प्रतिशत पहनती हैं। बहुत कम कपड़े से इनका काम चलता है।

कपड़े की बुनाई घर घर में होती है। ९९ प्रतिशत घरों में बुनाई होती है। स्त्रियां अपना कपड़ा तो खुद ही बुन कर पहनती हैं किन्तु पुरुष आध से ज्यादा बाहर से खरीदते हैं। ये स्त्रियां डिजाइन और फूल वगैरा भी बुनती हैं। सारा कपड़ा मिल-सूत का होता है। अण्डी और मूगा भी जगह जगह बुना जाता है।

दाल, नमक, मिट्टी तेल मसाला जैसा ही चीजें खरीदते हैं। ये चीजें बाजारों में बड़ी महंगी मिलती हैं। यह बात मैं भीतर देहात की कर रहा हूँ।

इसी तरह महाजन इतना ज्यादा सूद लेते हैं कि गांव तबाह रहते हैं। उदाहरण रूप से ६ माह में २०) रु० का केवल सूद एक मन से डेढ़ मन धान होता है। इसके अलावा मूलधन कर्ज ही बना रहता है। कैश में ५० प्रतिशत सूद तो आम बात है।

सबके पास खेत है। अतः धान उपजाते हैं। सूद में दे देते हैं। यह लक्षण स्पष्ट होने लगे हैं कि कुछ दिनों में कर्ज के कारण जमीन इनके हाथ से निकल कर महाजनों के हाथ में चली जायगी।

यहाँ के गाँवों में न नाई हैं, न बढ़ई अपवाद रूप में ही हैं। सभी कारीगर छपरा, गोरखपुर, दरभंगा वगैरह के हैं। कुली भी पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के हैं, सड़क, स्टेशन, रिक्शा, खेत की मिट्टी काटना वगैरह काम सभी बाहर के मजदूर करते हैं। गावों में लोग केवल अपनी खेती और पशु देखते हैं। नौकरों का नाम नहीं है। हर घर के लोग खुद खेती का सारा काम करते हैं।

शिक्षा बहुत कम है। अब स्कूल खुल रहे हैं और शिक्षा का प्रसार हो रहा है। पढ़नेवाले लड़के बाबू हो रहे हैं हमारे यहाँ से भी ज्यादा।

चाय का बहुत रिवाज है। हर घर में चाय का बहुत खर्च है। परिवार पीछे तीन सेर चाय पत्ती का खर्च प्रति माह है। चाय ५ रु० से ६ रु० प्रति सेर यहाँ मिलती है। सम्भव नहीं है कि किसी घर में जाइए और बिना चाय के लौटिए। चाय के बाद ताम्बूल। ताम्बूल यहाँ कच्ची सुपाड़ी को कहते हैं। हर घर में २४ दर्जन सुपाड़ी के वृक्ष हैं। कच्ची सुपाड़ी ऐसी होती है कि हाथ से मसल देने पर कच्चे सिंघाड़े की तरह पिस जायगी। इसका पेड़ खजूर, ताड़ की तरह होता है—पतला और खूब लम्बा। ४ साल में फलना शुरू हो जाता है और साल में बारबार फलता रहता है—नैम कराता। सुपाड़ी का फल नारियल की शक्ल का होता है। खूब छोटा सा नारियल की कल्पना करने पर सुपाड़ी की कल्पना हम कर सकते हैं। नारियल की तरह इसपर भी जूला होता है। जूला हटाने पर सुपाड़ी भीतर से निकलती है।

[शेष पृष्ठ ३३६ पर]

ग्रामभारती योजना उपर्युक्त विचार के अनुसार समग्र नयी तालीम की योजना है। अतः दण्ड निरपेक्ष शक्ति द्वारा ही इसका संयोजन आवश्यक है। दण्ड निरपेक्ष सामाजिक शक्ति कानून के स्थान पर सामूहिक संकल्प तथा टैक्स (आर्थिक शक्ति) के स्थान पर दान (यज्ञ) ही हो सकती है। अतः ग्रामभारती उसी क्षेत्र में संगठित हो सकती है जहाँ की जनता इसके लिए संकल्प करे। इसका आर्थिक संयोजन भी सेवकों के श्रम, क्षेत्रीय जनता के अन्नदान तथा विभिन्न स्थान के मित्रों के धन दान के आधार पर ही हो सकता है।

उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले के ग्रामदानी गाँव बरनपुर के नागरिकों द्वारा ग्रामभारती के लिए सामूहिक संकल्प करने पर तथा क्षेत्र भर की स्वीकृति पर बरनपुर को केंद्र मान कर समग्र नयी तालीम का यह प्रयोग करने का निर्णय किया गया है।

प्रथम तीन वर्ष के लिए ग्रामभारती, बरनपुर का निम्न लिखित कार्यक्रम बना लिया गया है। फिर शक्ति तथा ग्राम साधनों के अनुसार धीरे धीरे पूरे क्षेत्र के सर्वांगीण विकास का कार्यक्रम बन जायगा।

प्रथम तीन वर्ष की समग्र नयी तालीम की योजना–

समग्र नयी तालीम-योजना एक पूरे क्षेत्र की शिक्षण-योजना है। केंद्र का कार्यक्रम मुख्यतः तीन हिस्सों में रहेगा :—

१. शिक्षण-क्षेत्र	—	एक ग्राम सभा का
२ सेवा-क्षेत्र	—	लगभग चालीस गाँव
३ संपर्क तथा प्रचार-क्षेत्र	--	एक विकासखण्ड अर्थात् १०७ ग्राम-सभाएँ।

कार्यक्रम :—

शिक्षण-क्षेत्र :—

क. कृषि शिक्षण तथा उत्पादन वृद्धि

ख. प्रौढ़ तथा बच्चों का शिक्षण—रात्रि पाठशाला के माध्यम से, गाँव की शक्ति तथा साधन से प्राथमिक पाठशाला का संगठन

ग. शिशु विहार तथा बालवाड़ी

घ स्वास्थ्य, सफाई तथा उपचार-व्यवस्था

ङ वस्त्र तथा अन्य उद्योग

सेवा क्षेत्र :—

क खेती-सुधार तथा उत्पादन वृद्धि

ख धर्मगोला का संगठन

ग स्वास्थ्य तथा सफाई

घ. वस्त्रोद्योग

संपर्क क्षेत्र —

क ग्राम स्वराज्य का विचार प्रचार

ख सामान्य कृषि-सुधार

ग नयी तालीम के विचार को फैलाना

घ योजना के लिए श्रमदान और सर्वोदय-पात्र का संगठन।

●

[पृष्ठ ३३३ का शेषांश]

यह सारा आतिथ्य घर में स्त्री ही करेगी। अगर स्त्री ने खुद नहीं खिलाया या प्यार नहीं दी तो अपमान होगा। किसी को घर के बाहर स्वागत करने का रिवाज नहीं है। जो आवेगा घर के आँगन में ही बैठेगा। बिहार-उत्तर-में खाना बाहर खिलाने का जो रिवाज है वह यहां के लोगों के लिए असभ्य है। यहाँ एक मित्र ... थीं हैं। अपना अनुभव-दुर्भाग्य का-बताते हुए कह रहे थे कि कई जगह इन्होंने इसी कारण आतिथ्य अस्वीकार कर दिया।

इनके घर भी हमारे यहाँ के घर से भिन्न हैं। मिट्टी ऐसी नहीं है कि दीवार बन सके। घर लकड़ी, बांस और ज्वार का बनता है। खपड़ा तो मैंने यहाँ देखा ही नहीं।

८-९ साल की बच्चियाँ अपनी पीठ पर गमछे में २-४ माह के बच्चों को बांध लेती हैं। ये बच्चे भी ऐसे आदी हैं कि गोद से ज्यादा पीठ पर बंधना ही पसन्द करते हैं। माताएँ इसी प्रकार बच्चों को पीठ पर लेकर पानी भरना या अन्य गृहस्थी का, रसोई, झाड़ू आदि का काम किया करती हैं।

बूढ़े तो यहाँ के गाँवों में दिखाई ही नहीं देते। पता नहीं क्या बात है। शायद उम्र कम होती हो।

●

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
अप्रैल १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

क्या जीना भी गुनाह है?

'एक पैसा देदो बाबू'–घिघियाते स्वर में कहते हुए भिखारी ने अपना घिनौना हाथ मेरी ओर बढ़ाया जो मेरे कुर्ते से करीब-करीब छू गया। मैंने उसे कुछ डपटते हुए कहा–'भीख भी मांगते हो, बद्तमीजी भी करते हो! शर्म नहीं आती तुम्हें मांगते हुए और वह भी तमीज के साथ नहीं!' मेरी डाँट से भिखारी सहम कर पीछे हट गया, लेकिन सम्भल कर बोला,–'तीन दीन से भूखा हूँ बाबू, एक पैसा दे दोगे तो तुम्हारा क्या बिगड़ जायगा? कितने का तो दिन में पान खाकर थूक देते होगे।'

'हाँ, पान तो खाकर जरूर थूक देता हूँ, लेकिन उस पान के लिए मेहनत भी तो करता हूँ, तुम क्या करते हो?'

'मेहनत की ही बात कहते हो तो बाबू, सुबह से शाम इस तरह मांगने में मेहनत कुछ कम नहीं होती, फिर भी दुनियाँ कहती है कि हम निठल्ले रहते है।'

'कुछ काम क्यों नहीं करते?'

'काम कहाँ धरा है बाबू, काम की ही तलाश में तो अब इस दशा में पहुँच गया हूँ कि कोई काम हो नहीं सकता!'

मुझे जल्दी थी, कौन समय खपाता? करुणा से तो कम, लेकिन उस घिनौनी शकल से पीछा छुड़ाने के उद्देश्य से मैंने पाँच नये पैसे का एक सिक्का उसकी तरफ फेंक दिया और चल पड़ा। जाते जाते सुना, भिखारी बड़बड़ा रहा था, मांगने पर कोई देना नहीं चाहता, न मांगे तो जिये कैसे? क्या जीना भी गुनाह है।'

× × ×

भिखारी को भिक्षा देकर उसकी कुछ तात्कालिन सहायता करना या किसी का पेट न काटते हुए ऐसी जिंदगी बिताना जो उस समाज के बनने में सहायक हो जिसमें कोई भिखारी न हो—दोनों में अच्छा क्या है?

—रामभूषण

भट्ट, अ० भा० सर्व सेवा संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
केवल कवर–मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २८०० इस मास छपी प्रतियाँ २०००

अ० भा० सर्व-सेवा-सघ का मासिक

प्रधान सपादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सपादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक १०

वार्षिक चंदा ६-००
एक प्रति ०-५०

मई १९६३

नयी तालीम

अनुक्रम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी माह से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्रव्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता :

नयी तालीम
अ० भा० सर्व सेवा संघ, राजघाट,
वाराणसी-१

नयी तालीम

वर्ष-११] [अंक १०

भाषा-कानून का संकेत

पिछले दिनों संसद् में दो बड़े महत्त्व की बिलें पास हुईं जो शीघ्र कानून बन जायेंगी। एक बिल संघ-सरकार की राज-भाषा के संबंध में है और दूसरी देश की अखण्डता और प्रभुसत्ता की रक्षा के संबंध में। भाषा के प्रश्न पर कानून द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि १९६५ के बाद भी अनिश्चित काल के लिए भारत-सरकार अपने कामों के लिए हिंदी के साथ अंग्रेजी का समान स्तर पर इस्तेमाल करती रहेगी और राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी अंग्रेजी का स्थान तभी लेगी जब अ-हिंदी क्षेत्रों के लोग हिंदी को स्वीकार कर लेंगे। सरकार का यह कहना है कि आज देश की जो स्थिति है उसमें अंग्रेजी के सिवाय दूसरी कोई ऐसी भाषा नहीं है जो देश के विभिन्न भागों को जोड़ सके। विशिष्ट समुदायों में अंग्रेजी हर जगह बोली जाती है इसलिए वह एक प्रकार से अखिल भारतीय भाषा है। अंग्रेजी अंग्रेजी जमाने से शासन और शिक्षा की भाषा रही है, इसलिए वह अधिक व्यापक और ग्राह्य है। राज्य-सरकारें अपनी क्षेत्रीय भाषामें काम करेंगी। इस नये कानून के लागू होने के दस वर्ष बाद संसद की एक समिति पूरे प्रश्न पर फिर विचार करेगी और राष्ट्रपति समिति की सिफारिश पर राज्य-सरकारों से राय लेकर अपना निर्णय देंगे।

दूसरी बिल का यह उद्देश्य है कि भाषण-स्वातन्त्र्य आदि के मूल अधिकारों की आड़ लेकर कोई नागरिक या दल भारत की अखण्डता या प्रभुसत्ता पर आघात न पहुँचाये अथवा भारत से अलग राज्य बनाने को चुनाव का प्रश्न न बना सके।

दोनों बिलों का मन्शा यही है कि भारत एक रहे। किसी देश के जीवन में एकता ऐसा तत्त्व है जिस के लिए कोई भी मूल्य बड़ा नहीं कहा जा सकता। और, आधुनिक भारत के इतिहास में यह पहला अवसर नहीं है जब एकता के लिए ऐसा मूल्य चुकाना पड़ रहा है जिसका समर्थन विवेक नहीं कर पा रहा है।

अंग्रेजी का प्रभुत्व स्वराज्य के लिए कलंक है, इसमें शक नहीं। स्वराज्य की पहचान यह है कि अपने देश में अपना राज हो, अपनी रोटी हो, और अपनी भाषा हो। अगर देश के शासन की पद्धति विदेशी हो भले ही शासक अपने हों, अगर अनाज विदेशी हो भले ही चूल्हा अपना हो, और अगर भाषा विदेशी हो भले ही उसे बोलनेवाले देशी हों, तो मानना चाहिए कि सच्चा स्वराज्य होने में देर है। अंग्रेजी इस देश के करोड़ों की भाषा नहीं है, और न कभी हो सकती है। अवश्य, अंग्रेजी दुनियां की महान् भाषाओं में से एक है, और उसका जानना आधुनिक ज्ञान प्राप्त करने और दुनिया से सम्पर्क रखने के लिए अत्यंत उपयोगी है। इसलिए जो लोग अंग्रेजी पढ़ना चाहते हैं वे जरूर पढ़ें विदेशों से सम्पर्क बढ़ायें और अधिक से अधिक आधुनिक ज्ञान प्राप्त करें। लेकिन जो शासन करोड़ों के लिए हो और जो करोड़ों के पैसे से चलता हो उसकी भाषा अंग्रेजी हो, इसका क्या अर्थ है? अगर इतना ही होता कि भारत में सब से अधिक बोली जानेवाली हिंदी को अ-हिंदी राज्यों के लोग नहीं मान रहे हैं तो कोई शिकायत न होती। सही या गलत, किसी की मर्जी के खिलाफ कोई भाषा उसके मत्थे नहीं मढ़ी जा सकती। कानून के बल पर हिंदी राष्ट्र की भाषा बने, यह न उचित है, न संभव। उसे अ-हिंदी जनता का प्रेम पाकर ही आगे बढ़ने की बात सोचनी चाहिए। ऐसी स्थिति में दो विकल्प हो सकते थे—एक यह कि हिंदी भारत सरकार की मुख्य भाषा होती और उसके साथ की दूसरी भाषा अंग्रेजी न होकर भारत की वे सब भाषाएं होतीं जो संविधान में मान्य हुई हैं और सरकारी कामों में हिंदी मूल का अनुवाद उन सब भाषाओं में होता। दूसरा विकल्प यह था कि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों चलें, यानी वस्तुतः अंग्रेजी ही चले। भाषा-बिल के नाम से यह दूसरा ही विकल्प मान्य हुआ है। आज एकता की दृष्टि से देश की जो स्थिति है उसमें दूसरा कुछ होना संभव नहीं था, इसे हम समझ सकते हैं, भले ही दुःख और शर्म के साथ समझना पड़े। राजाजी और उनकी तरह सोचनेवालों को इतने से भी संतोष नहीं है; वे भविष्य में भी किसी समय अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को नहीं देना चाहते।

इस मनोवृत्ति का क्या उत्तर है? और इसका क्या कारण है कि एकता के नाम में देश भर में छोटे बच्चों की शिक्षा में भी अंग्रेजी को फिर स्थान देने की योजना बनायी गयी है? क्या भारत की एकता, विकास और आधुनिकता के लिए हर बच्चे के सामने अंग्रेजी पढ़ने का

प्रलोभन प्रस्तुत करना आवश्यक है ? प्रधान मन्त्री बार-बार कहते हैं कि अंग्रेजी भारत की जनता की भाषा नहीं हो सकती; वह यह भी कहते हैं कि अंग्रेजीवालों की एक अलग 'जाति' बन गयी है जिसका जनता के साथ कोई भावनात्मक मेल नहीं है। अगर ऐसा है तो राज्यों में शिक्षा के जो 'सुधार' हो रहे हैं उनके द्वारा यह कुचक्र क्यों चलाया जा रहा है ? हमें चिंता यही देख कर हो रही है। जब हम पिछले पंद्रह वर्षों का इतिहास सामने रखते हैं तो देखते हैं कि विकास के नाम से ऐसी अर्थनीति चलायी जा रही है जिसमें बारह वर्षों के बाद भी जनता अपना स्थान नहीं पा रही है लोकशाही के नाम में ऐसी राजनीति बरती जा रही है जिसमें दिनों दिन लोक-विरोधी तत्वों का संगठन और नौकरशाही का बोलबाला होता जा रहा है; और राष्ट्र की भावनात्मक एकता के नाम में विदेशी भाषा के द्वारा करोड़ों बच्चों का सहज विकास कुण्ठित किया जा रहा है। यह देखकर सहज ही यह कहना पड़ रहा है कि भारत की अंग्रेजी और अंग्रेजियत-परस्त यह 'जाति' सरकार की शक्ति के माध्यम से बहुसंख्यक जनता पर हमेशा हावी रहना चाहती है। यह लोकतन्त्र के लिए अत्यन्त अशुभ संकेत है। हमें अंग्रेजी की प्रभुता के पीछे आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से लोकजीवन के विरुद्ध एक व्यापक षड्यन्त्र की छाया दिखायी दे रही है।

इस देश में जो लोग लोक-जीवन और जनता की सहकार-शक्ति को समृद्ध और सशक्त बनाना चाहते हैं उनके लिए यह संकेत खतरे की घण्टी है। रहे अंग्रेजी जहां वह रखी गयी है, लेकिन हम यह मान कर चलें कि भारतीय जनता और लोकतन्त्र की विविध समस्याएँ राज-नीति और कानून के पचड़ों से नहीं हल होंगी; उसका एक ही उपाय है—लोकशक्ति का विकास और संगठन जो राजनीति और कानून को सही जगह पर रख सके। लोकशक्ति का अर्थ है सत्ता और सम्पत्ति का अन्त, यानी संपूर्ण सामाजिक क्रांति। उसके द्वारा जब 'लोक' 'तन्त्र' से मुक्त होकर ऊपर आयेगा तब सच्चे स्वराज्य की शक्ति प्रकट होगी, और तभी जिसे हम जनता कहते हैं वह एक होगी, नेक होगी। वास्तव में आज भारतीय जीवन का मूल प्रश्न है लोकतन्त्र की रक्षा। इसी प्रश्न की भूमिका में सब दूसरे प्रश्नों को देखना चाहिए।

राममूर्ति

●

शिक्षा और सुरक्षा

दुःख है कि आज हमारे देश की शिक्षा में वातावरण सामंतवाद और प्रेरणा नौकरशाही की है। समाज की आवश्यकता और आकांक्षा से उसका कतई कोई संबंध नहीं है।

श्री राममूर्ति

जब से चीन का आक्रमण हुआ है लोगों का ध्यान राष्ट्रीय जीवन की उन कमजोरियों की ओर गया है जिन के कारण विदेशी आक्रमण संभव हुआ और जिनका निराकरण होने से ही आगे स्वतंत्रता की रक्षा संभव है। स्वभवतः नये सिरे से सेना के संगठन का ओर ध्यान सब से अधिक गया है, उस से कम महत्व आर्थिक विकास का नहीं माना जा रहा है क्यों कि आर्थिक दृष्टि से कमजोर देश यत्रों की लड़ाई में कभी मजबूत नहीं सिद्ध हो सकता। वास्तव में आज के जमाने में न विनाश आंशिक रह गया है और न विकास। दोनों 'टोटल' हैं—संपूर्ण और समग्र हैं। एक राष्ट्र अपनी टोटल शक्ति से विरोधी राष्ट्र की टोटल शक्ति का मुकाबिला करता है। इस लिए नये जमाने की भूमिका में सुरक्षा का अर्थ है अपनी संपूर्ण शक्ति का संयोजन, विकास और संगठन। इस लिए जहां संपूर्ण शक्ति के विकास का प्रश्न उपस्थित होता है वहा शिक्षा का प्रश्न सामने आ जाता है, क्योंकि शिक्षा के सिवाय विकास की दूसरी कोई प्रक्रिया संपूर्ण और समग्र नहीं होती। ऐसी हालत में स्वभाविक है कि अपने देश में शिक्षा के पुनर-संगठन की चर्चा जोरों से चल पड़ी है।

सुरक्षा के लिए सब से बड़ी तैयारी मनुष्य तैयारी है। सक्षम शरीर, सक्रिय, संतुलित बुद्धि, अपने से समाज को ऊपर रखनेवाला चरित्र तथा हुनर सीखी उंगलियाँ—ये चार चीजें मनुष्य की तैयारी के लिए जरूरी हैं। अगर ये न हों तो चाहे जो तैयारी की जाय वह कुछ बहुत टिकाऊ नहीं होती। और ये चार चीजें ऐसी हैं जो शिक्षा के सिवाय और किसी उपाय से पूरी भी नहीं की जा सकतीं। क्या हमारी शिक्षा इन चार में से किसी एक उद्देश्य की भी पूर्ति कर रही है? अगर नहीं तो संकट का यह उपयुक्त अवसर है कि हम देश के लिए उपयुक्त शिक्षा के प्रश्न पर नये सिरे से विचार करें।

सरकार के ऊपर सुरक्षा की जिम्मेदारी है इसलिए उसकी ओर से शिक्षा में सुधार के लिए सुझाव बराबर आ रहे हैं। गणित और विज्ञान की पढ़ाई तथा सैनिक शिक्षा पर जोर दिया जा रहा है। इसके अलावा यह भी कहा जा रहा है कि शिक्षा में उत्पादन के तत्व का भी समावेश किया जाय ताकि व्यापक पैमाने पर लोगों में हुनर फैले और उत्पादन बढ़े।

सुधार बहुत से सुझाये जा सकते हैं, लेकिन पहला प्रश्न यह तय हो जाना चाहिए कि हम देश के सामने विकास का क्या चित्र (इमेज) प्रस्तुत करना चाहते हैं। कोई भी सुधार या योजना हो उसे उस मूल 'इमेज' में फिट होना चाहिए। जो बात साफ है वह

यह है कि अधूरे सुधारों से अब काम नहीं चलेगा, उतना ही यह भी सही है कि गाव-गाव में फैली जनता के सदर्भ में ही सोचने से कोई स्पष्ट चित्र सामने आयेगा। वर्ग विशेष के लिए शिक्षा (क्लास एज्युकेशन) को चाहे जितना सुधारने की कोशिश की जाय उस में कमी विज्ञान और लोकतन्त्र क जमाने की माग पूरी करने की शक्ति नहीं आयेगी। दु ख है कि आज भी हमारे देश की शिक्षा में वातावरण सामतवाद और प्रेरणा नौकरशाही की है। समाज की आवश्यकता और आकाक्षा से उसका कतई कोई सम्बन्ध नहीं है।

बुनियादी शिक्षा के नाम में आज कितने वर्षों से यह माग की जा रही है कि जीवन की स्वाभाविक क्रियाओं (ऐक्टिविटीज) को ही शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए। अगर हम यह आधार नहीं स्वीकार करते तो शिक्षा में उत्पादन का क्या आधार बनेगा, क्योंकि करोड़ों लोगों की सब से मुख्य और व्यापक क्रिया उत्पादन ही है और अगर यह मूल बात मान ली जाय तो प्रकृति, समाज और उत्पादन के रूप में शिक्षा की नयी पौरन् तैयार हो जाय। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि जो शिक्षा चल रही है उस से समाधान नहीं है, और जो चलनी चाहिए उसे मानने और अपनाने की तैयारी नहीं है। नेता में कल्पना का अभाव है, शासक में भावना का, इस अभाव के कारण जनता की कोई योजना चल नहीं पा रही है।

सही शिक्षा कैसे विकसित होगी? कौन प्रयोग कर के बतायेगा कि क्या सही है, क्या सही नहीं है? आज सारी शिक्षा सरकारी है, इस लिए पूरे तौर पर 'रेजिमेण्टेड' है। सरकारी नियम-कानून, टेक्स्ट बुक तथा परीक्षा ने शिक्षा को जकड़ रखा है, इस बुरी तरह जकड रखा है कि वहा तक विज्ञान और लोकतन्त्र की ताजा हवा पहुँच ही नहीं पाती। इसलिए सुधार का पहला कदम यह होना चाहिए कि शिक्षा में अधिक से अधिक विविधता की छूट दी जाय ताकि कुछ जीवत प्रयोग हो सकें। अगर कोई व्यक्ति या सस्था किसी नये विचार को ले कर प्रयोग करना चाहे तो उसे छूट मिलनी चाहिए—छूट ही नहीं, प्रोत्साहन और सहायता भी। ऐसे प्रयोगों के लिए एक स्वायत्त सस्था द्वारा मान्यता की व्यवस्था की जाय। प्रयोग में सरकार अपने अभ्यासक्रम या दिनचर्या आदि का आग्रह न रखे, हाँ, मिडिल और हाइस्कूल आदि की परीक्षाओं का आग्रह रखा जा सकता है ताकि प्रयोग के विद्यार्थियों और उनके अभिभावकों को असन्तोष न हो। इतना मानते हुए प्रयोग-कर्ता अभ्यास की अवधि, क्रम, पाठ्यपुस्तक, शिक्षकों का पारिश्रमिक, विद्यालय की दिनचर्या आदि के बारे में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहे।

सरकार के शिक्षा विभागों से नहीं, इन प्रयोगों में से ही आगे की शिक्षा निकलेगी। इतनी बात तय है कि देश के जीवन के केवल एक पहलू में क्राति नहीं हो सकती। यह नहीं हो सकता कि केवल शिक्षा में क्रातिकारी परिवर्तन हो जाय, और राजनीति, आर्थिक रचना, धर्म, सामाजिक मान्यताए आदि ज्यों की त्यों बनी रहें। आज के जमाने की विधायक क्राति सम्पूर्ण और समग्र ही हो सकती है। शिक्षा के प्रयोग समाज-निर्माण का स्वरूप, गति और पद्धति स्थिर करेंगे। राष्ट्र को आगे बढाने क लिए राष्ट्र का शासन अगर इतना भी नहीं कर सकता तो मानना पड़ेगा कि ऊची बात करनेवालों की नीयत सही नहीं है, और जब नीयत सही नहीं है तो हिक्मत कभी सही नहीं हो सकती।

★

जिसे हम 'लोक-शिक्षण' कहते हैं और जिसमें हम अपने जीवन के अनेक विषयों का समावेश करते हैं, जीवन-शिक्षण भी जिसको नाम दे सकते हैं, वह वहीं हो सकती है, जहा एकरस समाज होता है।

—विनोबा
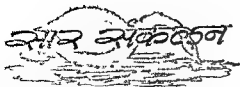
हमें सच्ची जरूरत तो ऐसे शिक्षकों की है, जिनमें नया-नया सर्जन करने की शक्ति हो, सच्चा उत्साह और जोश हो और रोज-रोज विद्यार्थी को क्या सिखायेंगे, यह सोचने की शक्ति हो।

समवाय की बुनियाद

गांधीजी

प्रश्न—हाथ द्वारा मन को किस प्रकार शिक्षा दी जा सकती है, यह आप समझायेंगे?

उत्तर- गांधी जी—

स्कूल में चलनेवाले सामान्य पाठ्य-क्रम में एकाध उद्योग जोड़ देना यह पुरानी कल्पना थी। अर्थात् उसमें हस्त उद्योग को शिक्षा से बिल्कुल अलग रखकर सिखलाने की बात थी। मुझे यह एक गंभीर भूल लगती है। शिक्षक को उद्योग सीख लेना चाहिए और अपने ज्ञान का अनुसंधान उस उद्योग के साथ करना चाहिए जिस से वह अपने पसंद किये हुए उद्योग द्वारा यह सारा ज्ञान विद्यार्थियों को दे सके।

कताई का उदाहरण लीजिए। जब तक मुझे गणित नहीं आयगा तब तक मैंने तकली पर कितने गज सूत काता या उसके कितने तार हुए या मेरे काते हुए सूत का अंक कितना है, यह मैं नहीं कह सकूंगा। इसे करने के लिए मुझे आंकड़े सीखने चाहिए और जोड़ बाकी, गुणा व भाग भी सीखने चाहिए। अटपटे हिसाब गिनने में मुझे अक्षरों का इस्तेमाल करना पड़ेगा अतः इस में से मैं अक्षर-गणित सीखूंगा। इस में भी मैं रोमन अक्षरों के बजाय हिन्दुस्तानी अक्षरों के उपयोग का आग्रह रखूंगा।

फिर ज्यामिति लीजिए। तकली की चकती से अधिक अच्छा गोलाई का प्रदर्शन और क्या हो सकता है? इस प्रकार मैं युक्लिड का नाम लिए बिना ही विद्यार्थी को वर्तुल या गोलाई के बारे में सब कुछ सिखा सकता हूँ।

फिर आप शायद पूछेंगे कि कताई द्वारा बालक को इतिहास भूगोल किस तरह सिखाये जा सकते हैं? थोड़े समय पहले 'कपास—मनुष्य का इतिहास' (कॉटन दि स्टोरी आव मैनकाईंड—) नामक पुस्तक मेरे देखने में आयी थी। उसे पढ़ने में मुझे बहुत ही आनन्द आया। वह एक उपन्यास जैसी लगी। उसके शुरू में प्राचीन काल का इतिहास दिया गया था। फिर कपास पहले-पहल किस प्रकार और कब बोयी गयी, उसका विकास किस तरह हुआ, अलग-अलग देशों के बीच रूई का व्यापार कैसे चलता है, आदि वस्तुओं का वर्णन था। अलग अलग देशों के नाम मैं बालक को सुनाऊंगा साथ ही स्वाभाविक रीति से उन देशों के इतिहास भूगोल के बारे में भी कुछ कहता जाऊंगा। अलग-अलग समय में अलग अलग व्यापारिक सन्धियां किस किसके राज्यकाल में हुईं? कुछ देशों में रूई महंगी पड़ती है, कुछ कपड़ा बाहर से मंगाना पड़ता

है, उसका क्या कारण है ? हर एक देश अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक रूई नहीं उगा सकता ! यह चर्चा मुझे अर्थशास्त्र और कृषिशास्त्र के मूलतत्वों पर ले जायगी। कपास की अलग-अलग जातियां कौन सी हैं, वे किस तरह की जमीन में उगती हैं, उन्हें कैसे उगाया जाय, वे कहां से प्राप्त की जा सकती हैं, वगैरा जानकारी मैं विद्यार्थी को दूंगा। इस तरह तकली कातने की बात पर से मैं ईस्ट इण्डिया कंपनी के सारे इतिहास पर आऊंगा। वह कंपनी यहां कैसे आयी, उसने हमारे कताई-उद्योगों को किस तरह नष्ट किया, अंग्रेज आर्थिक उद्देश्य से हमारे यहां आये और उसमें से राजनैतिक सत्ता जमाने की आकांक्षा वे क्यों रखने लगे; यह वस्तु मुगल और मराठों के पतन का, अंग्रेजी राज्य की स्थापना का और फिर वापस हमारे जमाने में जनसमूह के उत्थान का कारण कैसे हुई, यह सब भी मुझे वर्णन कर के बताना पड़ेगा। इस तरह इस नयी योजना में शिक्षा देने की अपार गुंजाइश है। और बालक यह सब उसके दिमाग और स्मरण-शक्ति पर अनावश्यक बोझ पड़े बिना ही अधिक जल्दी सीखेगा।

इस कल्पना को अधिक विस्तार से समझा दूं। जैसे किसी प्राणी-शास्त्री को अच्छा प्राणीशास्त्री बनने के लिए प्राणी-शास्त्र के अलावा दूसरे बहुत से शास्त्र सीखने चाहिए उसी प्रकार बुनियादी तालीम को यदि एक शास्त्र माना जाय, तो वह हमें ज्ञान की अनन्त धाराओं में ले जाता है। तकली का ही विस्तृत उदाहरण लिया जाय, तो जो शिक्षक-विद्यार्थी केवल कातने की यांत्रिक क्रिया पर ही अपना लक्ष्य एकाग्र नहीं करेगा, इस क्रिया में तो बेशक वह निष्णात होगा ही, बल्कि इस वस्तु का तत्व ग्रहण करने की कोशिश करेगा, वह तकली और उसके अंग-उपांग का अभ्यास करेगा। तकली की चकती पीतल की और सींक लोहे की क्यों होती है, यह प्रश्न अपने मन से पूछेगा। जो असली तकली थी, उसकी चकती चाहे जैसी बनायी जाती थी। इस से भी पहले की प्राचीन तकली में बांस की सींक और स्लेट या मिट्टी की चकती उपयोग में ली जाती थी। अब तकली का शास्त्रीय ढंग से विकास हुआ और जो चकती पीतल की और सींक लोहे की बनायी जाती है, वह सकारण है। यह कारण विद्यार्थी को ढूंढ निकालना चाहिए। उसके बाद विद्यार्थी को यह भी जांचना चाहिए कि इस चकती का व्यास इतना ही क्यों रखा जाता है, कम-ज्यादा क्यों नहीं रखा जाता ? इन प्रश्नों का संतोष-जनक हल ढूंढने के बाद इस वस्तु का गणित जान लिया कि आप का विद्यार्थी अच्छा इंजीनियर बन जाता है। तकली उसकी कामधेनु बनती है। इसके द्वारा अपार ज्ञान दिया जा सकता है। आप जितनी शक्ति और श्रद्धा से काम करेंगे, उतना ज्ञान इस के द्वारा दे सकेंगे।

मैंने कताई का उदाहरण विस्तार से बतलाया है, इसका कारण यह है कि मुझे उसका ज्ञान है। मैं बढ़ई होता, तो मेरे बालक को ये सब बातें बढ़ईगिरी के मारफत सिखाता। अथवा कार्ड-बोर्ड का काम करने वाला होता, तो उस काम के मारफत सिखाता।

हमें सच्ची जरूरत तो ऐसे शिक्षकों की है, जिन में नया नया सर्जन करने की और विचार करने की शक्ति हो, सच्चा उत्साह और जोश हो और रोज-रोज विद्यार्थी को क्या सिखायेंगे, यह सोचने की शक्ति हो। शिक्षक को यह ज्ञान पुराने पोथों में से नहीं मिलेगा। उसे अपनी निरीक्षण और विचार करने की शक्ति का उपयोग करना है और हस्त-उद्योग की मदद से जबान द्वारा बालक को ज्ञान देना है इसका अर्थ यह है कि शिक्षा पद्धति में क्रांति होनी चाहिए। शिक्षक की दृष्टि में क्रांति होनी चाहिए। आज तक आप निरीक्षकों (इंस्पेक्टरों) की रिपोर्टों से मार्ग-दर्शन पाते रहे हैं। आपने निरीक्षक को पसन्द आये वैसा करने की इच्छा रखी है, ताकि आप की अपनी तनख्वाह में बढ़ती हो। पर नया शिक्षक इस सब की परवाह नहीं करेगा। वह तो कहेगा, मैं यदि मेरे विद्यार्थी को अधिक अच्छा मनुष्य बनाऊं और वैसा करने में मेरी सब शक्ति लगाऊं, तो कहा जायगा कि मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया। मेरे लिए इतना ही काफी है।

मैं कहां पहुँचा हूँ ?

(२)

एक कार्यकर्ता

और, काटा पूरा करने में भी शुद्धता का ध्यान रखनेवाले बहुत कम थे। काम होना चाहिए, किसी तरह हो, यही आम मान्यता थी। भूदानयज्ञ आदोलनमें लक्ष्यांक पूरा करने की वृत्ति उस वक्त भी कई बुराइयों का कारण बनती थी, और अब भी बनती जा रही है। बात यह थी कि हमारे काम और उसको करने के तरीकों का क्रांति की साधना के साथ क्या सबध है, इसका न कार्यकर्ताओं को पता था, न उनमें समझने की क्षमता ही थी। समाज के विकास में आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का क्या स्थान होता है, इस की प्रतीति सामान्यतः उन को न तब था, न अब है। लेकिन एक बात था। जो साथी किसी राजनीतिक दल के कार्यकर्ता रह चुके थे या सीधे सामान्य समाज से आये थे उनमें अपेक्षाकृत जागरूकता और स्फूर्ति अधिक थी। वे समझते अधिक थे उनमें उत्कटता अधिक थी, और व गाव के लोगों में घुल मिल कर उन्हें प्रभावित भी अधिक कर लेते थे। मैंने देखा कि जो किसी आश्रम में रह चुके थे वे निष्ठा या आदर्श की चर्चा तो अधिक करते थे लेकिन गाव के मोर्चे पर कमजोर साबित होते थे। तब से मेरी निश्चित धारणा हो गयी है कि जो आचरण शैक्षणिक प्रक्रिया द्वारा चरित्र का अग नहीं बन जाता वह दम्भ का रूप लेता है या 'डिप्रेशन' का कारण बन कर चरित्र को कुण्ठित करता है।

शिक्षित कार्यकर्ताओं का, विशेष रूप से जिन के पास कोई डिग्री थी, गाव के अर्धशिक्षित साथियों के साथ मेल मिलना कठिन होता था। डिग्रीवाला यह नहीं मानता था कि जो खेती जानता है अथवा मकान बनाने या सफाई की कला में निपुण है, लेकिन उसके पास स्कूल या कालेज की उपाधि नहीं है, वह भी उस के मुकाबिले शिक्षित माना जा सकता है। डिग्रीवाले का अहकार और बिना-डिग्रीवाले का अति आत्म-विश्वास, दोनों को मिला कर एक चौड़ी खाई बन जाती थी और विद्यालय के वातावरण में बराबर विष पैदा होता रहता था। जो डिग्रीधारी था और कुछ बड़ी आमदनी छोड़ कर आया था उसके अहकार की तो सीमा ही नहीं होती थी। अहकार से मिल कर त्याग कितना असामाजिक हो जाता है, इसका ऐसा अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था।

मैं यह भी देखता था कि सस्था में कुछ दिन रह लेने के बाद साथियों को गाव के काम से अरुचि हो जाती था, और कई तो यह कोशिश करते थे कि प्रशिक्षण के बाद सस्था में ही जगह मिल जाय। यह बात उन्हीं पर लागू नहीं थी जो बेकारी के कारण काम की तलाश में प्रशिक्षण में आते थे, बल्कि उन पर भी लागू थी जो देखने म क्रांति की प्रेरणा लेकर आये थे। मुझे वहां यह अनुभव हुआ कि सामान्यतः मध्यम वर्ग के युवक का व्यक्तित्व तरह-तरह की पारिवारिक या अन्य उलझनों से कितना कुण्ठित होता है, इस लिए मुश्किल से सौ में एक दो ही ऐसे निकलते हैं जो जिंदगी को 'ऐडवेंचर' समझने का साहस करें। ऐसे युवक इने गिने थे—वे क्रांति की बात चाहे जितनी करें—जिनके जीवन-मूल्य नये हों और जो नयी आकांक्षाओं से प्रेरित हों। 'सर्वोदय' में जिस संपूर्ण क्रांति का बोध होता है उसका भान एक ही दो को था—हां, सैकड़ों में एक दो को।

मैं एक सस्था में—बहुत बड़ी सस्था में—काम करता था और अपनी पूरी शक्ति से अपने निर्धारित काम को पूरा करने का कोशिश करता था। सस्था में सुबह से शाम तक हम लोग श्रम, शिक्षण या कार्यालय

आदि के विभिन्न कामों में फसे रहते थे और सोचते थे कि सामान्य समाज से अलग, सस्था के विशिष्ट वातावरण मे रह कर हम लोग अपना पूर्ण वर्ग-परिवर्तन (डीक्लासिंग) कर डालेंगे, लेकिन वर्षों की रगड़ के बाद यह अनुभव हुआ कि सामान्य समाज से अलग रह कर कोई बड़ा और स्थायी अभ्यास नहीं किया जा सकता। चिंतन और ध्यान आदि की बात मैं नहीं कह सकता, लेकिन सामाजिक सद्गुणों के विवेकपूर्ण विकास के लिए सामान्य समाज का वातावरण आवश्यक है।

१९५४, '५५ और '५६ के तीन वर्ष सस्था के भीतर क्रांति के जीवन मूल्यों के सघन अभ्यास में बीत गये। इतना अवश्य हुआ कि सस्था में रहते रहते पड़ोस के गाँवों के साथ साप्ताहिक श्रमदान द्वारा 'श्रम की बिरादरी' अच्छी तरह जोड़ी गयी जिससे मुझ में यह प्रतीति जगी कि अगर गाँव के छोटे खेतिहरों तक पहुँचना है तो श्रम से अच्छा दूसरा माध्यम नहीं है। और श्रम ही एक ऐसी चीज है जो सर्वोदय को प्रचलित अर्थनीति, समाजनीति और राजनीति आदि से बहुत खूबी के साथ अलग कर देती है।

१९५६ के अंत में १९५७ की धूम मची। जिस तरह गांधीजी ने पहले असहयोग आंदोलन में 'एक साल में स्वराज्य' का नारा दिया था, उसी तरह '५७ में भूक्रांति का नारा मिला। अंतर यह था कि भूक्रांति का नारा कार्यकर्ताओं तक ही सीमित रहा, जनता में उस की कोई खास प्रतिक्रिया नहीं थी। लेकिन १८५७ के साथ जोड़ कर १९५७ के प्रति जनता में कुछ अस्पष्ट आशंका के भाव पैदा हो गये थे।

दिसंबर के अंतिम दिनों में हमारी सस्था में सर्व सेवा संघ की प्रबंध-समिति की बैठक थी। उसमें श्री जयप्रकाश जी आये थे। उस समय वह साल भर की अखण्ड पद-यात्रा के लिए समय दान मांग रहे थे। उन दिनों हम लोग मुख्य रूप से श्रमशाला-बुनियादी शाला से कुछ भिन्न-और उद्योग शाला चलाते थे। स्वाभाविक था कि जयप्रकाश जी के आह्वान का हम लोगों पर गहरा प्रभाव होता, और हुआ भी। बस १ जनवरी से निकल जाना है, यह उफान लोगों के मन में आ गया। उनका भाषण सुनकर सभा से मैं बाहर निकला। देखा सामने धीरेन भाई टहल रहे हैं। पूछा-'क्या करना है?' बोले-'जाना है। तैयार हो?' मैंने उत्तर दिया-'जी हां'। पद यात्रा में क्या करना है, क्या कहना है, कहां जाना है, आदि की कल्पना मुझे नहीं थी। सस्था में बेचैनी थी, सरगर्मी थी, सब जाने को उत्सुक थे, बस देर थी चल देने की। तय यह हुआ कि स्त्री पुरुष, बच्चे सब पदयात्रा में जायेंगे, केवल एक या दो साथी सस्था की थाती संभालने के लिए रह जायेंगे। अजीब अभियान था जिसकी व्यूह रचना के बारे में किसी को कुछ मालूम नहीं था, लेकिन जिस के लिए सब के मन में उत्साह था।

१ जनवरी १९५७ को उत्तर बुनियादी के विद्यार्थी जो सब १६ १७ १८ वर्ष के थे, सब से पहले निकले। कठोर सर्दी के दिन थे, खाने पीने रहने का ठिकाना नहीं था, लेकिन जवानी की उम्र थी, और दिल में क्रांति का जोश था।

हम लोग अपना अपना काम समेटने में लगे। बहनें अपनी गृहस्थी समेटने में लगीं। एक साल के लिए जाना था। लौटने पर क्या होगा, कौन जाने! धीरेन भाई ने अपने विदाई भाषण में कहा 'जिंदा मत लौटना, मर जाओगे तो लाश लाद कर ले आयेंगे।' जिंदा लौटने का सवाल ही क्या था! मन में उत्सर्ग था, पलायन नहीं।

सस्था से ३३ मील दूर एक कसबे के मिडिल स्कूल में २६ जनवरी १९५७ को सामूहिक अखण्ड पद यात्रा का शुभारंभ हुआ। नवबाबू ने आशीर्वाद दिया। धीरेन भाई ने उपस्थित जनता से कहा 'अपने इस छोटे परिवार को आज से जिले के बड़े परिवार में मिला रहा हूं।'

धीरे धीरे पदयात्रियों का जुलूस आगे बढ़ा। स्त्री, पुरुष, बच्चे, शिशु, सब मिला कर लगभग ६४ व्यक्ति थे। सब से छोटी बच्ची २ साल की भी नहीं थी। मैं अगुआ था। शाम को कहां खायेंगे कहां सोयेंगे, मालूम नहीं था। बस चलना अपना काम था।

क्रांति की एक बड़ी पहचान यह होती है कि वह छोटे आदमियों से भी बड़ा काम करा लेती है।

[क्रमश:]

हम और हमारे उत्सव

सगाई के समय सौदा, ब्याह के समय सौदा, जनेऊ के समय सौदा, मान मिन्नत के समय सौदा, पूजन, भजन, कीर्तन, जप, तप, यज्ञ, दान, पुण्य आदि के समय सौदा; हर जगह, हर चीज में सौदा। सौदेबाजी की इस बाढ़ में आज आदमी का ईमान, धरम, हया, शरम, शील, संकोच सब बुरी तरह बहा जा रहा है।

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

भगवान ने मनुष्य को ऐसा मन दिया है, जो हमेशा खुश रहना चाहता है और खुशी के मौके खोजने में लगा रहता है। खुशी बाहर की नहीं, अन्दर की चीज है। आदमी को सच्ची खुशी की तलाश रहती है और वह उसे अपने ही में मिल सकती है, बाहर कहीं नहीं। असली खुशी दिल ही की खुशी होती है। अगर दिल में खुशी है, तो गरीबी भी अमीरी में बदल जाती है, गम भी गलत हो जाता है और हार को भी जीत का रूप मिल जाता है। इस लिए कहा है कि दिल खुश, तो दुनिया खुश।

लेकिन मनुष्य के मन की बनावट में कुछ ऐसी खामी रह गयी है कि उसे अन्दर की चीज से पूरी तसल्ली नहीं होती। वह बाहर भी फैलना चाहता है और फैलते फैलते बाहर की माया में इतना उलझ जाता है कि अन्दर का आपा ही खो बैठता है। धीरे-धीरे अन्दर से खोखला और बाहर से सजा धजा, आदमी के मन का और उसके जीवन का ऐसा एक नक्शा सा बन जाता है। दिल दिमाग पर एक नशा-सा छाया रहता है और उसका असर यह होता है कि आदमी अपने असल रूप को भूल कर नकल में रम जाता है। नतीजा इसका यह होता है कि चार आदमी में अच्छा दीखने के लिए और चार लोगों के मुंह में अपनी तारीफ सुनने के लिए आदमी अपनी हैसियत के बाहर खर्च करने लगता है फजूल-खर्ची उसके जीवन का एक धरम बन जाती है। वह रोज रोज के अपने जीवन में फजूल-खर्ची करने के साथ ही वार-त्योहार और ब्याह शादी आदि के मौकों पर इतना फैयाज बन बैठता है और इतनी बेदर्दी से पैसा खर्च करता है कि जिसका कोई हिसाब नहीं है। वह इतना बेहोश बन जाता है कि उसे न तो अपनी हैसियत का ख्याल रहता है, न अपनी हालत का। करज करके भी खरच करने में वह अपनी शान और इज्जत समझता है और अपने ही हाथों अपनी बरबादी को न्योतता है और इस तरह वह खुद भी दुःखी होता है और पूरे घर-परिवार को भी दुःख की आंच में झोंक देता है। उसके तन का तौल, मन का तौल, और जीवन का तौल एक एक कर सब खतम हो जाता है। हयादारी, शरमदारी सब उसके जीवन को उजाड़कर उससे अपना नाता तोड़ लेती हैं। बेहिसाब और बेहद बेशरमी ही उसका स्वभाव और धरम बन जाती है। संयम, विवेक, मर्यादा, माया, ममता, स्नेह, सौजन्य, शील, सदाचार सब उसका साथ छोड़ देते हैं। उसके जीवन में एक भारी अभाव गहरा हो जाता है। उसे न घर में अच्छा लगता है, न बाहर में। न खाने में सुख, न पीने में सुख, न सोने-बैठने में सुख। जीवन वरदान नहीं, शाप बन कर उसके प्राणों को अन्दर ही अन्दर सुखाता चला जाता है। सुख चाहनेवाला हमारा यह आदमी बाहरी सुख के फेर में पड़ कर दुःख के

दलदल में इतना फस जाता है कि न खुद उबरने की ताकत रह जाती, न किसी का सहारा लेकर उबरने की हिम्मत रहती है।

समाज ने घर मे, गाव में और देश में उत्सवों का आरंभ सच-मुच तो मन के सुख, सन्तोष, सस्कार और समाधान के लिए किया। जीवन में आशा बना रहे, उत्साह, उमग, उल्लास और आनन्द बना रहे, इसी लिए मनुष्य ने अपने जीवन में उत्सवों को गूथ लिया। शुरू में उत्सवों ने उसका उत्साह बढ़ाया। उसे पुरुषार्थ के लिए प्रेरित किया। उसमें परमार्थ की वृत्ति का पोषण किया। पर धीरे धीरे उत्सवों का रूप बिगड़ा, रास्ता बिगड़ा, जो सुख सतोष, सस्कार और समाधान के साधन थे, वे असुख, असतोष, असस्कार और असमाधान के निमित्त बन गये। फलत जीवन भार रूप ही नही बना शाप रूप भी बन गया।

ब्याह शादी की बात को लीजिए अथवा मुण्डन, कर्णछेदन, जनेऊ गगापूजन, सत्यनारायण की कथा और मान मिन्नत जैसे आये दिन के छोटे-छोटे प्रसगों को लीजिए उत्तम सस्कार की भावना के कारण इन का हमारे घर और समाजमें श्रीगणेश हुआ, पर आज बिगड़ते बिगड़ते इनका रूप और इनकी रीति इतनी बिगड़ गयी है कि क्या अमीर और क्या गरीब, दोनों, इनके कारण अपने घरेलू जीवन में हर तरह बरबाद और बेआबरू होने चले जा रहे हैं। इन शुभ सस्कारों के आसपास मनुष्य ने इतना दिखावा, इतना ढोंग, इतना लोभ, इतना पाखड और इतनी फजूल खरची बढ़ा ली है कि देखकर भारी हैरानी और परेशानी हुए बिना नहीं रहती। बड़ी-बड़ी हैसियतवाले लोग आम जनता पर अपने धन-वैभव की छाप डालने और उसे चकाचौंध करने के लिए इतनी बेशरमी और बेदरदी से अपना धन लुटाते और खरच करते हैं कि देख कर मन खिन्न हो उठता है। लोग अपने ही देशवासियों को नाना प्रकार से लूट लूटकर घर में पाप का पैसा बटोरते हैं और फिर ब्याह शादी के मौकों पर अपने उस लाटे वैभव का भोंडा प्रदर्शन कर के गरीब जनता को लोग रास्ते जान के लिए न सिर्फ लल्चाते और मजबूर करते हैं, बल्कि जले पर नमक छिड़कते हैं। आज इस देश में जीवन के छोटे-बड़े सभी पवित्र सस्कार और कार्य हाट-बाजार के सौदों की पात में बैठ गये हैं। सगाई के समय में सौदा, ब्याह के समय सौदा, जनेऊ के समय सौदा, मान मिन्नत के समय सौदा, पूजन, भजन कीर्तन, जप, तप, यज्ञ, दान, पुण्य आदि के समय सौदा हर जगह, हर चीज में सौदा। सौदेबाजी की इस बाढ़ में आज आदमी का ईमान, धरम, हया, शरम, शील, सकोच सब बुरी तरह बहा जा रहा है। और आज का सीधा पढ़ा, खाता पीता, कमाता धमाता तथा इज्जत आबरूवाला आदमी भी इसी सौदेबाजी के फेर में पड़ कर बुरी तरह अपनी मानवता से गिर और फिसल रहा है।

जो शुभ सस्कार, शान्त, एकान्त, प्रसन्न और भरे पूरे वातावरण में मन की निर्मलता पवित्रता, नम्रता, तथा उज्ज्वलता के साथ सम्पन्न होने चाहिएँ, उनके निमित्त से हम अपने घर, गाव और मुहल्ले में इतना आडम्बर, कोलाहल, और दिखावा और तमाशा खड़ा कर लेते हैं कि नयी पीढ़ी के बालक-बालिकाओं को अपनी छोटी उमर में उत्तम सस्कार मिलने के बदले कुसस्कार ही अधिक मिलते हैं। जहा लोभ, लालच, दम्भ, पाखण्ड, बनाव सिंगार, और दिखावे तथा तमाशे का ही जोर हो उसी की इज्जत और उसी वाहवाही की हवा हो वहा नयी पीढ़ी के कोमल मति बालकों को पावन के उत्तम सस्कार मिलें तो कैसे मिलें और उनके जीवन में मानवता के शुभगुणों का विकास हो तो कैसे हो?

इस पाखण्ड और प्रदर्शन की हवा का आज समाज में इतना जोर है कि धनवानों का नकल किये बिना गरीबों को सन्तोष नहीं होता। धनवान दूसरों का लूटकर अपने वैभव का भोंडा प्रदर्शन करते हैं और गरीब अपने ईमान, धरम, घरबार, खेत खलिहान, गहने-गांठे आदि को बेच कर या गिरवी रखकर इस दौड़ में सब के आगे रहने की कोशिश करते हैं और अन्त में तन-मन धन से बरबाद होकर दीनता और हीनता का जीवन बिताते हैं। इस छोटी उत्सव प्रियता ने कितनों के घरों में और दिल-दिमागों में

आग लगायी है, कितनों को दर दर का भिखारी और मुहताज बनाया है कौन कह सकता है !

आज तो हालत यह है कि हमारे घर-परिवार के ये संस्कार-सूचक उत्सव ही नहीं बल्कि धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उत्सवों में भी आदमी अपना तौल खोकर बरतने लगा है। चाहे गणपति उत्सव हो, चाहे दशहरे दीवाली का उत्सव हो चाहे रामनवमी हो, चाहे कृष्णाष्टमी हो, चाहे हनुमान जयन्ती हो, चाहे महावीर जयन्ती, बड़ा दिन हो, चाहे छोटा दिन हो, गुरु पूजन हो, मयपूजन हो, चाहे पीर पैगम्बरों की याद के जल्से हों, चाहे उर्स हो या ईद हो, १५ अगस्त हो, २६ जनवरी हो अथवा २ अक्टूबर हो, सब कहीं एक ही बेसुरा राग और बेढंग दिखावा, नकल और तमाशा दिखायी पड़ता है। आज आदमी इतना बाहरी बनता जा रहा है कि अन्दर की गहरी चीजों से भी उसका कोई सरोकार है, ऐसा न तो उसकी बातों से लगता है, न रीत भाँति से और न ही चाल ढाल से।

इस जमाने में गांधी ही एक ऐसा आदमी हुआ, जिसने हर तरह के उत्सवों और त्योहारों को बाजारू दिखावों से दूर रखकर अन्तर की शोध और अन्तर की निर्मलता का साधन बनाया। गांधी ने ब्याह शादी और मौत के मौकों को इतना सादा और कम खर्च वाला बना दिया कि अगर हम लोग उस रास्ते चलते, तो इन ४० ५० सालों में तन मन और जीवन के क्षेत्र में बहुत ऊँचे उठ जाते और बहुत खरे पक्के बन जाते। गांधी के आश्रम में ब्याह का सारा खर्च पाँच रुपये के अन्दर निपट जाता था। पैंतालीस मिनट से ज्यादा वक्त नहीं लगता था। देन लेन कतई बन्द था। खान-पान और बड़े-बड़े भोजों, दावतों और ज्योनारों की तो बात कोई सोच भी नहीं सकता था। गरीब से-गरीब आदमी इस तरह बड़ी शांति, पवित्रता और निश्चिंतता से अपने घर का शुभ संस्कार कर करा सकता था। मौत के अवसर को भी उन्होंने इसी तरह सादगी, संयम, सेवा, स्वाध्याय आदि के जरिए बहुत ऊँचा उठा दिया था। न रोना धोना चलता था, न क्रिया काण्ड चलता था, न भोज होते थे। मृत व्यक्ति के निमित्त से अधिक श्रम यज्ञ किया जाता था। धर्म ग्रन्थों का पाठ होता था। सेवा के उत्तम कामों की व्यवस्था की जाती थी और मृत व्यक्ति के गुणों के चिन्तन के साथ उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना होती थी।

मनुष्य उत्सव प्रिय है, इसमें संदेह नहीं, पर उत्सव उसके लिए हैं, वह उत्सवों के लिए नहीं है। यदि वह उत्सवों का दास बन जाता है और अपना असल रूप खोकर नकली रूप धारण करता है, तो उत्सवों से उसे लाभ नहीं, हानि ही अधिक होती है।

आज के हमारे मेले ठेले, पर्व त्योहार, प्रदर्शन सम्मेलन आदि सब हमें हर तरह महँगे पड़ रहे हैं और हमारे ईमान, धरम तथा हमारी मनुष्यता को भारी आँच पहुँचा रहे हैं। हमें चाहिए कि हम सब सोचें, समझें और रास्ता बदलें।

●

जो काम मारने-पीटने से नहीं हो सकेगा वह किंचित् धमकाने से हो सकता है। जो काम धमकाने से नहीं हो सकेगा, वह समझाने से जरूर होगा। जो काम समझाने से नहीं होगा, वह प्रेमपूर्वक सेवा करने से जरूर होगा। जो काम प्रेम-पूर्वक सेवा करने से नहीं होगा, वह उसके लिए प्रेम-पूर्वक अधिक त्याग करने से जरूर होगा।

–विनोबा

रचनात्मक कार्य-ग्राम इकाई-ग्राम-स्वराज्य

श्री राममूर्ति

१. ग्राम इकाई की पृष्ठभूमि

१—गांधी जी का नाम जुड़ा हुआ होने के कारण हमारे देश में 'रचनात्मक कार्य' से विशेष अर्थ का बोध होता है। गांधी जी का नाम लेते ही रचनात्मक कार्य दमन की सत्ता से मुक्ति, स्वावलम्बन, और अन्त्योदय की भावना का द्योतक हो जाता है। यह क्रमशः उसकी राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति है। इस ऐतिहासिकता में ही हमारे रचनात्मक कार्य की विशिष्टता है, अन्यथा कोई युग नहीं, कोई देश नहीं, कोई शासन नहीं जिसके अन्तर्गत रचनात्मक कार्य न होता हो। वास्तव में रचनात्मक कार्य के बिना किसी समाज का जीवन एक दिन भी नहीं चल सकता। किसान, मजदूर, कारीगर, व्यापारी, शासक, शिक्षक, सेवक, पुरोहित, ये सब अपनी जगह एक तरह के रचनात्मक कार्यकर्ता ही हैं। जर्मनी में हिटलर के काम, इटली में मुसोलिनी या रूस में स्टालिन के काम उनकी अपनी दृष्टि से रचनात्मक ही थे। स्वयं भारत में क्या अंग्रेजी राज में कम रचनात्मक कार्य हुए? कल-कारखाने, रेल, तार-डाक, सड़कें, अदालतें, अस्पताल, स्कूल-कालेज, विश्व विद्यालय, आदि क्या विध्वंसात्मक कार्य थे? फिर भी हमने अंग्रेजी राज को शैतानी राज कहा, और दुनिया हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन को निर्माता नहीं, जालिम के नाम से याद करती है। क्यों? इसलिए कि यद्यपि इन कार्यों से जनता का कई तरह से बहुत कल्याण हुआ पर वह मुक्ति की दिशा में आगे नहीं बढ़ी; इसके विपरीत वह अधिकाधिक दमन और शोषण के ही शिकंजों में फँसती गयी। इसलिए गांधी जी ने शुरू से ही अपने रचनात्मक कार्य को मूलतः जनता की मुक्ति के साथ जोड़कर रखा। अगर मुक्ति न मिले तो रचना किस बात की?

२—पिछले बारह वर्षों से अपने देश में एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, पंचवर्षीय योजनाओं का सिलसिला जारी है। अरबों रुपये के खर्च से शहर-शहर, गाँव-गाँव में विकास-कार्यों का जाल तेजी से फैलता जा रहा है। बड़े-बड़े उद्योग खड़े हो रहे हैं, व्यापार बढ़ रहा है, लोगों का स्वास्थ्य सुधर रहा है, शिक्षा फैल रही है, राष्ट्र की आय ऊपर जा रही है। सब मिलाकर राष्ट्र आज पहिले से अधिक समृद्ध, सुसंगठित और सुरक्षित है। ऐसी हालत में कौन कह सकता है कि यह सारा काम रचनात्मक नहीं है? इतना होने पर भी हम अपने को रचनात्मक कार्यकर्ता कहने-वाले लोग पंचवर्षीय योजना से असन्तुष्ट क्यों हैं? आखिर, हम चाहते क्या हैं?

३—बात यह है कि हमारे संस्कार में गांधी जी का रचनात्मक कार्य बसा हुआ है, उन्हीं की तराजू में हम पंचवर्षीय योजना के व्यापक, विविध, विकास-कार्यों को तौलते हैं, और जब हमें उनमें गांधी की मुक्ति की क्रान्ति नहीं दिखायी देती तो निराशा होती है। सरकार के कल्याणकारी रचनात्मक कार्यों में हमें अन्त्योदय नहीं दिखायी देता, गाँव का स्वावलम्बन नहीं मिलता, मुक्ति का दर्शन नहीं होता। इन कार्यों में हम गांधी का सच्चा स्वराज्य या विनोबा का ग्राम-स्वराज्य देखना चाहते हैं, लेकिन दिखायी नहीं देता। इसमें पंचवर्षीय

योजना का क्या मंजूर है ? ये मूल्य गांधी के थे विनोबा के थे राष्ट्रीय योजना ने इन मूल्यों को कभी स्वीकार ही नहीं किया। पंचवर्षीय योजना के सामने राष्ट्र का चित्र है गाँव के स्वावलम्बन (सेल्फ-सफिशिएन्सी) को वह नहीं मानती।

४—गांधी जी के रचनात्मक काम के तीन पहलू थे एक जालिम सत्ता के मुकाबिले में जनता की प्रतिकार शक्ति (पावर आफ रेसिस्टेंस) विकसित करना दो समाज में न्यायपूर्ण साम्पत्तिक सम्बन्धों की स्थापना करना तीन मनुष्य के जीवन को अन्दर से शोषण-मुक्त करना। इस त्रिविध साधना से वह जन जन में छिपी शक्ति को प्रकट करना चाहते थे। अहिंसक शोषण मुक्त समतामूलक श्रमनिष्ठ उत्पादन पद्धति को वह नया समाज रचना की बुनियाद मानते थे इसलिए चर्खे जैसे लोहू-लकड़ी से बने एक तुच्छ उत्पादन-यंत्र को अहिंसा का प्रतीक कहते थे। अन्य क्रान्तियों की अपेक्षा गांधी के रचनात्मक काम की विशेषता यह थी कि उसमें श्रम की संगठित शक्ति से पूंजी के शोषण और जनता की संगठित सहकार शक्ति से सत्ता के दमन का समाप्त करने की व्यूह-रचना थी। इस तरह उनके रचनात्मक काम में सत्ता-परिवर्तन और समाज परिवर्तन की दुहरी समानान्तर प्रक्रिया थी।

५—१९४४ में जब गांधी जी जेल से छूटे तो उन्होंने देख लिया कि जहाँ तक अंग्रेजों का सम्बन्ध है स्वराज्य का प्रश्न हल होने के करीब है इसलिए अब जनता के सच्चे स्वराज्य की लड़ाई लड़ी जानी चाहिए। इसी दृष्टि से उन्होंने रचनात्मक काम को संस्थाओं के सीमित आधार से निकालकर जनाधारित करने की प्रक्रिया में साढ़े पाँच लाख गाँव में साढ़े पाँच लाख कार्यकर्ता जो अपने श्रम और जनता के प्रेम की कमाई पर रहनेवाले हों बिठाने की बात सोची। यह सारी योजना लोक शक्ति विकसित करने और रचनात्मक काम को जन आंदोलन का रूप देने की थी। और १९४८ में कांग्रेस को लोक सेवक संघ बनाने की बात कहकर तो उन्होंने सेवा सत्ता नेतृत्व और लोकतन्त्र के विचार में एक ऐसे तत्त्व का समावेश किया जो इतिहास में बिलकुल नया था। यह लोकशक्ति थी जिसे वह नागरिक शक्ति कहते थे मोर्चा बनाने का। लेकिन हुआ कुछ ऐसा कि हम सत्ताओं में जा घुसे और न सत्ता ही छोड़ सका। परिणाम यह हुआ कि देश में नया और कोई का मिलाकर शासन-कल्याणकारी राज्य की स्थापना हुई और संस्थाओं ने भी उसी कल्याणकारी राज्य में अन्तर्गत अपना स्थान मानकर काम करना शुरू कर दिया। इस प्रकार संस्थाओं व्यवस्था में अपने अंग गत शासन सत्ता और उद्योग तीनों चीज सब की शिक्षा अहिंसा न ही शासन का अंग था अब कोऑपरेटिव के नाम में पांचवीं चीज रोटी को भी लाने की कोशिश चल रही है। इसका अर्थ यह है कि अब विकास और कल्याण के नाम में समाज का पूरा जीवन सरकार और विविध अर्धसरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा संचालित नियमित होगा। समाज भाईचारा (ब्रदरहुड) नहीं रहेगा वह एक व्यापक इस्टेब्लिशमेन्ट का रूप ले लेगा। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में सर्वोदय लोकशाही के लिए स्थान नहीं है।

६—१९४४ से १९४८ के बीच गांधीजी ने देश के लोक जीवन को लोकतांत्रिक ढंग से संगठित करने की जो व्यूहरचना की थी उसके बुनियादी तत्त्व ये थे

एक देश के लोकतांत्रिक विकास में नागरिक शक्ति और सैनिक-शक्ति में टक्कर अनिवार्य है

दो संगठन अहिंसा की कसौटी है

तीन खादी को गांव गांव में बिखेर देना है और लोक जीवन को उसके चारों ओर संगठित करना है

चार सारे रचनात्मक काम नयी तालीम के समुद्र में विलीन होते हैं यानी अहिंसा की प्रक्रिया शिक्षण-मूलक है दमन मूलक नहीं।

पाँच आर्थिक समता अहिंसा की बुनियाद है इसलिए अगर सम्पत्तिवान स्वेच्छा से स्वामित्व नहीं छोड़ेंगे तो हिंसक क्रान्ति नहीं टल सकती।

७—गांधी जी के इन विचारों के सामने होते हुए भी १९४८ में स्वराज-सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति में यह घोषणा की कि देश की स्थिति को देखते हुए उत्पादन के यंत्र (प्रोडक्शन अपरेटस) में कोई मूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता। सीधी भाषा में इसका अर्थ यह होता है कि मुनाफाखोरों की अर्थनीति

(प्राफिट इकोनामी) चलती रहेगी; अब सरकार के नियन्त्रण में चलेगी। मुनाफाखोरी की अर्थनीति (प्राफिट इकोनामी) और सत्ता की राजनीति (पावर पालिटिक्स) का चोली-दामन का सम्बन्ध है; एक को छोड़कर दूसरी रह नही सकती। सरकार ने तय कर लिया कि लोकतन्त्र के लिए सत्ता की राजनीति आवश्यक है, और विकास के लिए मुनाफाखोरी की अर्थनीति, क्योंकि दल नहीं होंगे तो सरकार कैसे बनेगी और मुनाफा नही होगा तो पूँजी कैसे बनेगी!

८—१ अप्रैल १९५१ को जिस प्रथम पंचवर्षीय योजना, और भारत में योजना युग, का सूत्रपात हुआ उसमें न सत्ता (पावर) पर प्रहार था, न सम्पत्ति (प्रापर्टी) पर। उस में नागरिक शक्ति की प्रधानता नही थी, प्रधानता थी राज्य-शक्ति की। उसमें गाँव केवल कृपा और कल्याण का अधिकारी था, निर्णय का नहीं; उसमें जनता की रोटी की चिन्ता नहीं थी, व्यवस्था थी राष्ट्रीय उत्पादन-वृद्धि की। जिस दिन यह योजना शुरू हुई, मानना चाहिए कि, उसी दिन देश के हाथ से गांधी का रचनात्मक कार्य छूट गया। हम रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने भी अपने लिए सत्ता और सम्पत्ति पर आधारित व्यवस्था का संरक्षण स्वीकार कर लिया। फलतः आज रचनात्मक कार्य वस्तुतः सरकार के गैर-सरकारी फ्रन्ट के रूप में चल रहा है।

अकेले एक विनोबा, बापू के प्रथम सत्याग्रही, ने यह स्थिति नही स्वीकार की। उन्होंने अपने लिए वनवास तय किया, इसलिए 'पंचवर्षीय योजना के १७ दिन बाद १ अप्रैल १९५१ को उनकी पदयात्रा शुरू हुई। उनका भूदान-ग्रामदान आन्दोलन सत्ता और सम्पत्ति के विरुद्ध खुला, सौम्य, लोकतान्त्रिक विद्रोह था। *क्रांतिकारी हमेशा समाज का संरक्षण ढूँढ़ता है*, इसलिए विनोबा गांव-गांव में घूम रहे हैं। अभी क्रांति के अवतरण की, ईसामसीह के जन्म की तरह अंतरिक्ष में घोषणा ही हुई है, वह धरती पर अवतरित नहीं हुई है। नया इतिहास शायद किसी अदृश्य, अज्ञात पुस्तक में लिखा जा रहा है।

९—बारह साल हो गये, सरकार अपनी योजनाओं में और हम अपने रचनात्मक कार्यों में व्यस्त हैं। इन बारह वर्षों की निष्पत्ति क्या है? लेखा-जोखा लेनेवाला कहेगा कि बेकारी बढ़ रही है, विषमता बढ़ रही है, खेती का उत्पादन घट रहा है। उद्योगों में उत्पादित सामग्री को खपाने की क्रय-शक्ति देश की जनता में नहीं है। विकास का एक ऐसा चित्र उपस्थित हो रहा है जिसमें राष्ट्र का अर्थशास्त्र (नेशनल इकोनोमी) जनता के अर्थशास्त्र (पीपुल्स इकोनोमी) से तेजी के साथ अलग होता जा रहा है। जनता स्वतंत्र उत्पादक नहीं है, वह अपने कच्चे माल की विक्रेता और दूसरे के तैयार माल की खरीददार रह गयी है। तेजी से एक नये प्रकार की शहरी (मेट्रोपालिटन) और औपनिवेशिक (कालोनियल) अर्थनीति विकसित हो रही है। लगता है जैसे गाँवों में रहनेवाला हिन्दुस्तान शहरों में रहनेवाले हिन्दुस्तान का उपनिवेश है। कोई आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति में जनता अपने को राष्ट्र की योजना से अलग (लेफ्ट आउट) महसूस करती है? किस आश्वासनपर वह योजना के साथ उत्साहपूर्ण सहयोग करे? लोग कहते है कि तृतीय योजना का अन्त होते-होते दशकों के लिए हमारी किस्मत पर मुहर लग जायगी। संकेत स्पष्ट है।

दूसरी ओर रचनात्मक संस्थाओं का यह हाल है कि उनकी गोदामों और दूकानों में खादी पड़ी हुई है, कोई खरीददार नहीं है। चर्खे बढ़ेंगे तो सूत का क्या होगा? खादी कहाँ बिकेगी? सरकार रिबेट और सबसिडी उठा लेगी तो कोई ग्राहक भी बचेगा या नहीं? सरकार का सहारा और चर्खे का भय—यह हाल है हमारा चालीस वर्षों की रचनात्मक साधना के बाद। भण्डारों के और दफ्तरों के बाहर लोक-जीवन में कहीं हमारे रचनात्मक कार्य की जड़ नहीं है।

हमारी ही क्या, किसी की भी जड़ लोक-जीवन में नहीं है। नेता को मतलब है वोट से, शासक को मतलब है फाइल से, सेवक को मतलब है संस्था से। नतीजा यह है कि आज देश में गैर-सरकारी जीवन (नान-आफिशियल लाइफ) जैसी चीज रह ही नहीं गयी है। जहाँ राजनीतिक नेता दिन रात सत्ता की गोट बिठाने में व्यस्त हों, जहाँ पूँजीपति अपनी थैली से नेता, शासक और सेवक सबको

खरीदने का दम भरता हो, जहाँ सहकारी अधिकारी का स्थान लोक प्रतिनिधि से ऊँचा होता जाता हो, जहाँ श्रमिक निराश और उपेक्षित हो, जहाँ शिक्षितों में जीवन के ऊँचे मूल्यों के प्रति घोर शंका और अनास्था हो, जहाँ लोकतन्त्र और विकास के नाम में नीचे से ऊपर तक निहित स्वार्थों (वेस्टेड इंटरेस्ट्स) और प्रति-क्रियावादी तत्वों (रीऐक्शनरी एलिमेण्ट्स) का भयंकर संगठन हो रहा हो, तथा सबसे अधिक जहाँ सारी शक्तियों का स्रोत साक्षात जनता-जनार्दन में अन्याय, अनीति और अनाचार के विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति न हो, वहाँ इससे भिन्न स्थिति हो क्या सकती है ? स्वाभवत, खिन्न और निराश जनता ने अब जीवन को उसकी सारी कुरूपताओं के साथ अत्यन्त निम्नस्तर पर स्वीकार कर लिया है। दूसरा वह करे क्या? देश में कितनी जीवनी शक्ति है, इसका अंदाज चीनी आक्रमण में मिल गया। सैनिक शक्ति और नागरिक शक्ति दोनों में हम कहाँ हैं, इसका पता चल गया। इसलिए सब मिलाकर अगर कोई कहे कि राष्ट्रीय क्षितिज पर विघटन, अराजकता, या सैनिक शासन का छाया दिखायी देने लगी है तो शायद कुछ बहुत अनुचित नहीं होगी।

१०—आखिर, इस राष्ट्रीय ह्रास की जड़ें कहाँ हैं ? हमारे देश में सदियों से सामन्तवादी समाज रहा है। वर्णाश्रम धर्म ने हमें जाति दी, सामन्तवाद के बाद सीधा विदेशी साम्राज्यवाद आया तो उसने अपने चार मददगार तैयार किये—भूमि का मालिक, नया औद्योगिक पूँजीपति, कुर्सी पर बैठकर शासन चलानेवाला अधिकारी और शिक्षित युवक जो रुचि और आकांक्षा में पूर्णत विदेशी था। इन पर स्वराज्य ने 'नेताशाही' जोड़ी। यह हमारे समाज में 'ऐरिस्टाक्रेसी' का पचमेल है जिसके हाथ में आज देश के जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सूत्र हैं। इस ऐतिहासिक संदर्भ में वालिग मताधिकार द्वारा लोकतन्त्र का ढाँचा खड़ा किया गया है। हमने इंगलैंड की जनता की तरह एक एक कदम आगे बढ़ कर लोकतन्त्र की लड़ाई नहीं जीती है। हमारे लिए लोकतन्त्र नये मूल्यों का नाम नहीं है, बल्कि केवल जातिगत, वर्गगत, दलगत, प्रतिद्वन्द्विता प्रकट करने का तरीका है। बापू जानते थे कि ऐसे देश में लोकतन्त्र की समस्या अत्यन्त कठिन है। खादी ग्रामोद्योग द्वारा औद्योगिक पूँजीवाद को तोड़ना, शासन को गाँव गाँव में सहकारी व्यवस्था का रूप देना और नयी तालीम द्वारा दमन और शोषण के संस्कार मिटाकर श्रम और समता के संस्कार विकसित करना—यह हमारे देश में लोकतन्त्र की समस्या है। इस समस्या का समाधान है नागरिक-शक्ति का विकास। बापू रचनात्मक कार्य को नागरिक-शक्ति, अथवा लोकशक्ति, के संगठन का माध्यम बनाना चाहते थे।

११—प्रश्न यह है कि रचनात्मक कार्य अपने इस ऐतिहासिक मिशन को क्यों नहीं पहचान सका ?

[क्रमश]

★

अहिंसक सेना हथियार बन्द सैनिकों की तरह न केवल दंगे के वक्त बल्कि शान्ति के समय भी काम करेगी। संघर्षों को शान्त करने के लिए पर्याप्त संख्या में शान्ति सैनिक अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहेंगे। कुछ सौ या कुछ हजार ऐसी निर्दोष मृत्युएँ ऐसे संघर्षों को हमेशा के लिए समाप्त कर देंगी। जानबूझ कर क्रोध का शिकार होनेवाले कुछ सौ तरुण स्त्री-पुरुषों की आहुति ऐसे पागलपन का मुकाबला करने के लिए पुलिस और फौज के प्रदर्शन के बनिस्बत निश्चय ही किसी भी दिन एक सस्ता और बहादुराना उपाय होगा।

महात्मा गांधी

★

समवायी पाठ : एक सुझाव

कक्षा चार के लिए

श्री कमलापति

जून, जुलाई, अगस्त, सितम्बर

कहीं-कहीं जून के पहले सप्ताह में और कहीं कहीं तीसरे या आखिरी सप्ताह में वर्षा शुरू हो जाती है। ऋतु-परिवर्तन होता है और तपती हुई धरती की प्यास बुझती है। मौसम बदलता है और मौसम के साथ साथ हमारी क्रियाएं भी बदलती हैं। मई के तीसरे सप्ताह से धान-खेती की तैयारी होने लगती है। जो किसान अभी घर पर दिनभर बैठा रहता था वही अब खेतों में दिखायी पड़ने लगता है।

यह एक ऐसा अवसर है जब कि इसका लाभ शिक्षण के लिए लिया जा सकता है। लेकिन हम इन अवसरों का समुचित लाभ नहीं उठा पाते। जब भी समवायी पाठ की बात मन में आती है तब तुरंत हमारा दिमाग उलझ जाता है। आखिर समवाय किसका, किसके साथ? क्यों का जवाब तो मिला कि समवायी प्रक्रिया शिक्षण की आसान और सही प्रक्रिया है, लेकिन किसका किसका समवाय हो, यह साफ नहीं होता है। हमारे जितने स्कूल चलते हैं सब खेतों से दूर रहते हैं या गाँवों में रहते हुए भी गाँवों के वातावरण से अपरिचित होते हैं—अपने सारे रस्म रिवाज से अनभिज्ञ, और अपनी समस्याओं से दूर, बहुत दूर!

इसलिए यह पाठ उन बच्चों के लिए हो है जो खेतों में अपना कुछ समय शिक्षक के साथ बिताते हैं तथा गाव के वातावरण से परिचित हैं और विद्यालय भी उसका प्रयत्न करता है। शिक्षक खुद खेती में रुचि रखता है और कोशिश करता है कि बच्चों को आवश्यक सारी जानकारी प्रसंगों के माध्यम से मिल जाय और बच्चे आसानी से बिना किसी प्रकार के भार के जो सीखना है सीख सकें।

पाठ के आधार

१ प्रकृति

- अ० मौसम वर्षा
- आ० वनस्पतियां
- इ० जीव, कीड़े-मकोड़े आदि

२ उत्पादन (खेती)

- अ० धान
- आ० बरसाती सब्जियां
- इ० अन्य

३ सामाजिक पर्व और त्योहार

१ प्रकृति—

अ—बदलता मौसम—साल में कितने मौसम, कितनी ऋतुएं, हिंदी तथा अंग्रेजी महीनों का ज्ञान। कैलेंडर में पहले से तारीखें कैसे जान ली जाती हैं? कैलेंडर देखना, दिन, घंटा, मिनट, जोड़ घटाव आदि। गर्मी के बाद ही वर्षा क्यों? वर्षा कैसे? अपने देश में कहां कितनी वर्षा होती है और क्यों? वर्षा कैसे होता है? आकाश में पानी आता कहां से है? इतनी वर्षा होती है फिर पानी जाता कहां है? बादल आकाश में कैसे आये और चलते हुए क्यों दिखायी देते हैं?

अपने राज्य, भारत और दुनिया के नक्शे से परिचय करना। अपने जिले और प्रांत का अच्छा परिचय। नक्शा आदि बनाना।

आ—वनस्पतियाँ—वनस्पति किसे कहते हैं? आसपास की वनस्पतियों की पहचान। वन और वनस्पतियों की रक्षा क्यों आवश्यक है? इनका हमारे जीवन में क्या लाभ है? कुछ वनस्पतियों का सामान्य इस्तेमाल। जंगल का परिचय और जंगल में रहने वाले लोगों का परिचय।

इ—वनजीव—वन में रहनेवाले पशुओं का परिचय। साँप, साँप की जातियाँ। साँप से लाभ, हानि। विषवाले साँप और बिना विषवाले साँप। साँप के काटे जाने पर सामान्य उपचार।

बिच्छू की किस्में, विष, उपचार।

जंगली पशु—हिंसक—क्या हमारे निकट रहने वाले पशु भी कभी जंगली थे? वे हमारे निकट कैसे आ गये? अहिंसक पशुओं की किस्में और उनका परिचय। हिंसक पशुओं में कौन कौन शाकाहारी हैं और कौन-कौन मांसाहारी—दोनों की किस्में और परिचय। इन पशुओं के स्वभाव। नरभक्षी की आदतें तथा उसके जीवन की मनोरंजक कहानियाँ। किस प्रदेश में किस किस्म के जंगली पशु अधिक मिलते हैं।

२ खेती—

अ० धान—रोप के लिए खेत तैयार करना। प्रामाणिक लम्बाई चौड़ाई की क्यारियों की जानकारी। फीते से खेत की लम्बाई, चौड़ाई निकालना, उसका पैमाना मान कर कापी पर नक्शा बनाना। किनारे की नालियाँ, बीच की नाली तथा क्यारियों के बीच बीच में नालियों का आवश्यकता तथा उनका माप। बनाये हुए खेत का नक्शा कापी पर बनाना। श्रम के कितने घंटे लगे, यदि मजदूरी जोड़ी जाय तो कितना खर्च लगेगा? बीज का परिमाण। कितना बेड़ रोपने के लिए कितना खेत रोप में होना चाहिए। पुराने प्रचलित तरीके से हम लोग खेती क्यों नहीं करते? इसे 'जापानी' खेती क्यों कहते हैं? जापान के बारे में कहानी। पुरानी पद्धति से कितनी उपज होती है? नयी पद्धति से कितनी होगी? बीज की तुलना। जापानियों ने धान खेती कहाँ से सीखी? हमारे देश में धान खेती किस किस प्रदेश में अधिक होती है? अपने राज्य में कहाँ कहाँ होती है? सब नक्शे में दिखाना।

बेड़ बनाने के लिए किस किस साधन सामान की आवश्यकता पड़ेगी? बीज को नमक के पानी में घोना, क्यों? नमकीन पानी में चीजें क्यों नहीं डूबतीं? समुद्र का पानी नमकीन होता है, क्यों? बेड़ बनाने में जो साधन लगते हैं वे कहाँ कहाँ से आते हैं? रोप उखाड़ने का तरीका, रोप उखाड़ने में इतनी सावधानी क्यों? धान खेती के लिए जलवायु मिट्टी आदि। किस प्रकार के जलवायु में धान पैदा होता है वहाँ के लोगों का भोजन, वस्त्र, रहन-सहन आदि।

रोपने के लिए खेत तैयार करना। खेत की जोताई, किनारे की जमीन की छटाई। कितना पानी, चौकी देना। रोपाई के लिए साधन-सामान। कितने दिन बाद मोरी रोपते हैं।

रोपने का तरीका—

लाईन में, एक पौधे से दूसरे का फासला—इससे फायदा। श्रम, घंटे व मजदूरी का हिसाब जोड़ घटाव में। बीघा, बिस्वा, बिस्वांसी का हिसाब बनाना। जड़ों को धोकर, अंगुली पहले धँसाकर रोपना और उसका शास्त्र। खेत की गुड़ाई कितने समय बाद? बीच-बीच में कितने समय का अन्तर होना चाहिए।

खाद—

खाद की आवश्यकता क्यों? पौधों की खुराक, पौधे अपनी खुराक कैसे लेते हैं? कुछ पौधों को लेकर शीशे के गिलास में रंग आदि डालकर उसके प्रभाव से प्रमाणित करना कि पौधे अपनी खुराक कैसे लेते हैं? पौधों के अलग-अलग अंगों के क्या-क्या काम हैं। जड़ों के प्रकार व उनकी पहचान।

धान के रोग व उनका निवारण—

रोग के प्रकार, रोग लगा हो तो पहचानना या पहले से उसकी जानकारी करा देना। किस रोग में

[शेष पृष्ठ ३७० पर]

नागरिकता की शिक्षा

—शिक्षा-क्षेत्र का यह एक महत्त्वपूर्ण दायित्व स्पष्टतया आवश्यक हुआ है कि लोगों को अच्छा नागरिक बनाया जाय : यह जिम्मेदारी शिक्षक और शाला ले।

—बच्चों को ऐसे ढंग से शिक्षा देनी होगी जिससे वे अपनी कल्पना को विस्तृत सीमा तक फैला सकें, तथा उनके सामने उतना विशाल, समृद्ध और विविध कार्य-क्षेत्र प्रस्तुत करना होगा जहाँ वे अपनी उस कल्पना को कुछ आकार देने का प्रयत्न कर सकें।

ति० न० आत्रेय

शिक्षा के हेतु के सम्बन्ध में आज तक जो-जो विचार सामने आये हैं उनमें प्रमुख दो हैं—एक, समाज की जो कुछ विशेषता है, परम्परा से विकसित होती आयी संस्कृति का जो सार-तत्त्व है उसे बनाये रखना और समाज की एकता को मजबूत करना, दूसरा, समाज को अपनी उन परम्पराओं और संस्कृतियों को नये युग के अनुकूल नया रूप देने में सहायता करना ताकि समाज नये जमाने की चुनौतियों का मुकाबिला कर सके। इसे दूसरी भाषा में यों रखा जा सकता है कि शिक्षा दो प्रकार की है—एक, नागरिकता की शिक्षा और दूसरी, नेतृत्व की शिक्षा। आज समाज की जो आवश्यकता और आकांक्षा है उसकी पूर्ति के लिए एक ओर नागरिकों को अच्छे नागरिक बनाना है और दूसरी ओर लोक-नेतृत्व खड़ा करना है। समाज में हमेशा दो स्तर रहेगा हो—एक राह दिखानेवाला का, दूसरा उनके पीछे चलनेवालों का। जरूरी नहीं कि राह दिखानेवाले हमेशा राह दिखानेवाले ही रहें और पीछे चलनेवाले हमेशा पीछे चलनेवाले ही रहें। व्यक्ति बदल सकता है, परन्तु समाज की प्रगति की प्रक्रिया में ये दो कार्य अनिवार्य हैं—एक चलना, दूसरा ले चलना। चाहें तो यों कहें कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल चलना नहीं, बल्कि चलना और ले चलना दोनों क्रियाएँ मालूम होनी चाहिएँ। इसी को हमने नागरिकता और नेतृत्व ऐसे दो नाम दिये।

पहले हम नागरिकता की शिक्षा पर विचार करें।

नागरिक बनाम प्रजा

विषय आरम्भ करने से पहले स्पष्टता की दृष्टि से एक बात ध्यान में रख लेना उचित होगा। नागरिक

शब्द हमने जान बूझ कर प्रयोग किया है। यह नागरिकों का जमाना है, प्रजा का नहीं। चाहे पुरानी सामन्तशाही हो या आज की टोटॅलिटेरियन स्टेट हो जो शासन अधिनायक सत्तात्मक है वहाँ की जनता 'प्रजा' कहलाती है, लोकतन्त्रात्मक या उदारमतवादी शासन के अधीन जनता 'नागरिक' कहलाती है। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, क्योंकि दोनों राज्य व्यवस्थाएँ एक-दूसरे की बिल्कुल विरुद्ध हैं। अधिनायक-सत्तावाद कोरी सैद्धान्तिक कल्पनाओं और मान्यताओं पर आधारित है तो लोकतन्त्र व्यावहारिक अनुभवों और वास्तविकताओं पर खड़ा है। पहला तन्त्र अमूर्त विचारमात्र है, तो दूसरा व्यक्त और प्रत्यक्ष है। पहले की सारी शक्ति (संगठन) सैनिक शक्ति है और दण्डभय की शक्ति है, तो दूसरे की शक्ति सामाजिक न्याय की शक्ति है। पहला तन्त्र राष्ट्र के लोगों के समूचे जीवन पर अपना नियन्त्रण रखता है और अपने लाभ के लिए ही लोक शक्ति का उपयोग करता है, तो दूसरा तन्त्र अपने अधिकारों का उपयोग राष्ट्र के लोगों के हित और कल्याण के लिए तथा उस कल्याण की सिद्धि में आड़े आनेवाले रोड़ों को दूर करने में करता है, और वह भी लोक-सम्मति से करता है। अधिनायक वाद में राष्ट्र ही सर्वोपरि है, वही अन्तिम ध्येय है, लोकतन्त्र में राष्ट्र लोगों की समृद्धि और सम्पन्नता सिद्ध करने का एक साधन मात्र है।

शिक्षा का एक स्वतन्त्र विषय

पिछले जमाने में 'नागरिकता की शिक्षा' की आवश्यकता आज की तरह स्पष्ट और व्यक्त नहीं थी, जब कि समाज आज की तरह ज्यादा जटिल नहीं था, इसलिए प्रौढ़ों को अच्छे नागरिक के रूप में रहना खास तौर पर सिखाना नहीं पड़ता था। पारिवारिक जीवन से और दूसरे-दूसरे प्रकारों से हर कोई यह जान जाता था कि समाज एक है और वह उसका ही एक सदस्य है। बच्चे शुरू से ही उस समाज की जीवन-पद्धति, उसके दृष्टिकोण, उसकी श्रद्धाएं और उसके सोचने और काम करने के तरीकों से सहजभाव से परिचित हो जाते थे और उन्हें सहज अपना लेते थे। लेकिन इन दिनों करीब-करीब यह विचार ही खतम हो गया है कि परिवार और समाज भी शिक्षण का एक प्रमुख माध्यम है। इसके अलावा समाज भी आज इतना विशाल और विविधतापूर्ण हो गया है कि परिवार की या समाज की वह क्षमता भी घट गयी कि वह बच्चों को सुनिश्चित संस्कार सहज दे सके। इसीलिए शिक्षा-क्षेत्र का यह एक महत्वपूर्ण दायित्व स्पष्टतया आवश्यक हुआ है कि लोगों को अच्छा नागरिक बनाया जाय, यह जिम्मेदारी शिक्षक और शाला ले।

नागरिकता की मर्यादा

'नागरिकता की शिक्षा' कहते ही यह कहना होगा कि अमुक समाज की नागरिकता की शिक्षा। क्योंकि एक ही नाम की राज्यव्यवस्था का स्वरूप हर कहीं, समान ही होता हो सो नहीं है। लोकतन्त्र नाम एक है, पर संसार भर में जितने लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र हैं सबका लोकतन्त्र एक ही प्रकार का नहीं है, अमेरीकी लोकतन्त्र का एक रूप है तो इंग्लिश लोकतन्त्र का दूसरा, वह भी १९ वीं शताब्दी का लोकतन्त्र एक प्रकार का तो २० वीं शताब्दी का उससे भिन्न प्रकार का। इसलिए नागरिकता की शिक्षा देने से पहले यह स्पष्ट कर लेना होगा कि हम किस प्रकार के समाज की नागरिकता की शिक्षा देने जा रहे हैं यह समाज कैसा होगा जिसमें आज के बच्चे नागरिक कहलाएंगे, और उस समाज के 'अच्छे नागरिक' का क्या अर्थ होगा, ताकि उससे उस समाज को पूरा समाधान हो सके।

फिर भी लोकतन्त्र के कुछ स्थायी मूल्य हैं जिनकी चर्चा पहले का जा चुकी है, उन का विकास हर एक समय में और हर एक लोकतंत्रीय राष्ट्र में प्रत्येक नागरिक के अंदर करना है इतना तो निश्चित ही है। उन के अतिरिक्त दो एक बातें हैं जिन का विवेचन यहां करेंगे।

नागरिकता का बहिरंग

नागरिकता की शिक्षा के दो स्वरूप हैं—एक यह कि प्रत्येक नागरिक को अपने-अपने समाज की प्रशासनिक व्यवस्था संबंधी तथ्यों की जानकारी स्पष्ट रूप से करायी जाय। शासन-तन्त्र किस प्रकार से काम करता है यह जाने बगैर नागरिक को उसमें अपनी ओर से जितना

और जैसा योग देना होगा वह उतना नहीं दे पायेगा। प्रत्येक नागरिक को कम से कम इतनी जानकारी तो होनी ही चाहिए कि सरकार कैसे बनती है, लोक-सभा क्या है, सरकार के क्या-क्या काम हैं, विरोधी पक्ष क्या होता है, मंत्रिमण्डल का क्या काम है, चुनाव की पद्धति और तंत्र कैसा है, आदि। उसे यह भी मालूम होना चाहिए, केवल प्रौढ़ों के लिए ही नहीं, बच्चों को भी पूरा-पूरा परिचय कराना शायद अधिक आवश्यक हो, कि स्थानीय प्रशासन कैसे चलता है, ग्राम-पंचायत, पंचायत-परिषद्, न्याय-पंचायत, बड़े शहरों में नगर पालिका और उसके विभिन्न विभाग आदि के काम-काज क्या हैं और उन के काम में जनता को कहां-कहां और किस रूप में सहयोग करना होता है आदि। नागरिक को यदि अपने समाज के काम में उत्साह के साथ उसका कर्तव्य निभाना है तो इतनी जानकारी उसके लिए निश्चित ही आवश्यक है।

इसकी शिक्षा कैसे दी जाय यह प्रयोग करके देखने की चीज है। शालाओं में सिविक्स (नागरिकशास्त्र) पढ़ाते समय या इतिहास के अंदर इन विषयों को तफ-सील से पढ़ाया जा सकता है; बल्कि पंचायतों और नगर पालिकाओं में बच्चों को प्रत्यक्ष ले जा कर वहां के अधिकारियों से बात-चीत के द्वारा और समय-समय पर विभिन्न प्रसंगों में प्रत्यक्ष कार्य के साथ संपर्क रख कर यह सब किया जा सकता है।

नागरिकता की शिक्षा के इस पहलू का महत्त्व मिडिल या हाईस्कूल के स्टेज में होता है, क्यों कि बच्चों को तभी अपने समाज का भान होने लगता है और वे उस उम्र में महसूस करने लगते हैं कि यह स्कूल और यह घर ही नहीं, वह समाज भी उन का अपना है और वे उसके भी सदस्य हैं।

नागरिकता का अंतरंग

नागरिकता की शिक्षा का दूसरा स्वरूप है—बच्चों को लोक-तंत्रीय नागरिक-जीवन जीने की कला सिखाना। अपेक्षाकृत यह अधिक महत्त्व का काम है। बच्चों को लोक-तंत्र के मूल सिद्धांतों को समझना होगा और यह भी जानना होगा कि दैनिक जीवन में उन सिद्धांतों को कैसे लागू किया जाय। बच्चों को इस चीज के लिए भी तैयार करना होगा कि वे समाज से लाभ उठाने के साथ-साथ समाज के सर्व-साधारण हित के लिए भी काम करें। लेकिन ये बातें स्कूल में बैठा कर किताब से पढ़ा कर सिखायी नहीं जा सकतीं, बल्कि इसके लिए बच्चों को वैसे एक सामूहिक जीवन का वातावरण उपलब्ध कराना होगा जहां लोकतंत्र के आदर्श और व्यवहार नित्य-जीवन के अविभाज्य अंग बने हों। स्कूल यदि बच्चों को लोक-तंत्रात्मक समाज की नागरिकता सिखाना चाहता है तो उसे स्वयं लोकतंत्रात्मक जीवन जीना होगा और वह भी केवल मिडिल या हाइस्कूल के स्टेज में नहीं, बल्कि बाल-मंदिर और नर्सरी स्कूल के स्टेज से ही वह संस्कार उन्हें देना होगा। स्वस्थ समाज के अच्छे नागरिक बनाने की दृष्टि से बच्चों को सिखाना यह होगा कि वे परस्पर संबंध अच्छा रखें, सर्व-साधारण के हित के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग करने को सदा इच्छुक रहें, खुल कर चर्चा करें, कोई बात मनवानी हो तो तथ्य और युक्तियों द्वारा ही मनवायें, किसी बाहरी दबाव का सहारा लें नहीं, दुराग्रह न रखते हुए समझौता करने की वृत्ति बनाये रखें, और उन में निरपेक्ष व्यवहार, न्याय, प्रामाणिकता, कठिन श्रम, आत्म-संयम आदि गुण बढ़ें।

ये सब गुण बड़ों के आपसी व्यवहार को देख कर ही सीखे जा सकते हैं। बड़े लोग आपस में तथा अपने छात्रों के साथ कैसे पेश आते हैं, व्यवस्था और नियम के अंदर रहते हुए या सद्व्यवहार करना उनका स्वभावगत स्वभाव कैसे बन गया है, खेल-कूदों में, शैक्षणिक प्रवास में और ऐसे ही विविध कार्यक्रमों में सब शिक्षक कैसे घुल-मिल कर रहते हैं, सब के हित का ध्यान में रख कर अपना-अपना कर्तव्य ठीक ढंग से कैसे निभाते जाते हैं—इन सब बातों का प्रत्यक्ष देखकर बच्चे जितना सहज भाव से आत्मसात् कर सकते हैं उतना पढ़ाने से या डरा-धमकाने से नहीं।

विसंगति का कारण—मनोवृत्ति

आज की हमारी शालाएं क्या ऐसी शिक्षा दे पाती हैं? बच्चों को लोकतंत्रीय समाज का नागरिक बनाने में स्कूल-कालेज कहां तक प्रयत्न करते हैं? सामान्यतया यही कहना होगा कि हमारे स्कूल-कालेजों की स्थिति आज कभी लोकतंत्रात्मक नहीं, अधिकारवादी (अथारिटेरियन)

ही है। विषयों को पढ़ाने में ही नहीं, शिक्षकों के दैनिक व्यवहार में भी कहीं लोकतन्त्र की गंध भी नहीं है। आज भी प्रधानाध्यापक और सहायक अध्यापकों के बीच बड़े और छोटे का ही नाता है, आदेश से ही काम लिया जाता है, धाक जमाने की ही कोशिश चलती है और व्यवस्था की आलोचना कोई सामान्य शिक्षक करे तो उसे विद्रोह का प्रथम चरण ही माना जाता है। बच्चों के विकास के संबंध में माता पिताओं या अभिभावकों को जितना महत्त्व मिलना चाहिए या उन का जितना सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए उस पर भी ध्यान नहीं गया है। जब यह स्थिति है, तब हम कैसे कहें कि बच्चों को लोकतन्त्र की नागरिकता की शिक्षा मिल रही है?

एक बड़ा दोष यह अभी तक जारी है कि बच्चों में प्रतिस्पर्धा की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है। स्पर्धा का नशा बड़ा भयानक होता है। शरीर और मन दोनों पर उसका बुरा असर पड़ता है और जीवन का जो अनमोल गुण है—सहकार—उसी को वह खतम कर देती है।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रतियोगिता हर तरह से बुरी ही हो सो बात नहीं है, न केवल शिक्षा में, बल्कि कई दूसरे विषयों में भी प्रतियोगिता की भावना मनुष्य की प्रगति का प्रेरकतत्त्व बनती है। अपनी ही पूर्वापर स्थिति की तुलना करके मनुष्य जो प्रगति कर सकता होगा उससे अधिक अच्छी प्रगति दूसरे व्यक्ति के काम की तुलना अपने काम से करके वह कर सकता है।

फिर भी लोकतन्त्र का यह तकाजा है कि व्यक्ति को समाज के हित के लिए विवेकपूर्वक और स्वेच्छा से अपना स्वार्थ छोड़ना होगा, और ऐसे प्रसंग नित्य कई आते रहते हैं। इस लिए इस उदारता को शिक्षा में योग्य स्थान मिलना चाहिए। प्रतियोगिता का आधान भाग अपनाने से पहले इस उदारता और सहयोग का अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए। प्रतियोगिता की वृत्ति को सर्वथा समाप्त नहीं हो की जा सकती हो तो भी सहयोग और स्वार्थ त्याग के साथ उसका सन्तुलन बिठाना निश्चित ही आवश्यक है।

पद्धति का महत्त्व

नागरिकता की शिक्षा में शिक्षा पद्धति का कम महत्त्व नहीं है। यद्यपि स्कूल के सामूहिक-जीवन के साथ पढ़ाई के तरीके का कोई सीधा संबंध नहीं है, फिर भी पढ़ाई के तरीके को देख कर हम यह आंक सकेंगे कि व्यक्ति व्यक्ति के बीच कैसा संबंध विकसित किया जा रहा है। नागरिकता की शिक्षा की दृष्टि से 'उत्तम शिक्षक वह है जो अपने को शून्य बना डालने में पूरा सफल हो जाय।' जो शिक्षक अधिकारवादी (अथारिटेरियन) होगा और बच्चों में वही जानकारी ठूसने का प्रयत्न करेगा जो वह जरूरी और उत्तम समझता है, और बच्चों से यह अपेक्षा रखेगा कि वह जो कुछ पढ़ाये उसे व आंख मूंदकर घोखते जाय और अपना डालें, वह निश्चित ही बच्चों को बौद्धिक और नैतिक शिक्षण नहीं देता है बल्कि उन्हें जिम्मेदार और सृजनशील नागरिक बनाने के बजाय पराधीनता और आज्ञाकारिता का ही पाठ पढ़ाता है जो लोकतन्त्र के लिए घातक गुण हैं। बच्चों को टोलियों में बैठकर सह विचार और सह-कार्य की पद्धति से यानी ऐक्टिविटी मेथड से पढ़ाना चाहिए निश्चित कार्य हाथ में लेकर उसे पूरा करने की और उसे जांच-परख कर आगे बढ़ने की प्रक्रिया से काम लेना चाहिए। इससे बच्चे हर बात के लिए शिक्षक पर निर्भर न रहकर खुद जिम्मेदारी उठाने-योग्य बनेंगे और साथ ही इससे इन्हें अभिक्रम, सहयोग जैसे अमूल्य गुणों के विकास के लिए भी प्रोत्साहन मिलेगा।

सैद्धांतिक अधिष्ठान

जहां बच्चों को गलत ढंग के सामाजिक अनुभवों से बचाना जरूरी है वहां सही ढंग के अनुभव देना भी उतना ही जरूरी है। सही ढंग का अनुभव तभी दिया जा सकेगा जब कि लोकतन्त्र के मूल सिद्धांतों को दृढ़तापूर्वक मानें, खास 'मनुष्य को व्यक्ति के नाते मूल्यवान' समझने के सिद्धान्त को सबसे बढ़कर प्रमुखता दें। इस सिद्धान्त को मानने का अर्थ होगा—स्कूल में प्रत्येक लड़के या लड़की को, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मनुष्य के नाते ही पूरा आदर दिया जायगा, उनमें जो भी विचार भेद या मत भेद हो उसको तरफ पूरे आदर से देखा जायगा भले ही उनका वह भिन्न विचार आगे चलकर उनके अकल्याण का कारण सिद्ध हो। तब शिक्षक का केवल यही कर्तव्य होता है कि वह बच्चों का सजगता और धीरज के साथ अध्ययन कर, कोई बच्चा एकदम

मन्द बुद्धि दीखे तो भी उसमें कोई न कोई दूसरे प्रकार की जो भी क्षमता और योग्यता होगी उसे विकसित करे ताकि वह भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन्नति के शिखर तक पहुँच सके। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे कमजोर बच्चों को ज्यादा लाड किया जाय या जरूरत से ज्यादा दुलराया जाय, बल्कि ऐसा करना भी गलत ही होगा, क्योंकि प्रत्येक को आदर समुचित मात्रा में ही मिलना चाहिए, न कम, न ज्यादा। उल्टा मनुष्य में निहित सारतत्व को या विशिष्ट गुणों को पहचानने के लिए यह भी जरूरी होता है कि उसे कई धक्के खाने पड़ें और कई विफलताओं में से गुजरना पड़े। समानता का मतलब इतना ही है कि चाहे बौद्धिक क्षेत्र हो खेल कूद का मैदान हो या नित्य जीवन हो, हर कहीं प्रत्येक को अपना विकास करने का मुक्त अवसर मिले।

एक शिक्षा शास्त्री ने कहा है— शिक्षा के सही तत्व का जानकार वही है जो बच्चों की भावना को सहजभाव से पलने दे, सक्रिय होने दे और किसी बन्धन में बाँधे नहीं, और साथ ही बच्चों को समय समय पर सचेत करता रहे जहाँ वे अपने अहित को न पहचानते हुए मनमानी करने लगें अर्थात् स्वतन्त्रता और नियन्त्रण का सन्तुलन ठीक रख सके।'

शालेय जीवन में ये बातें ओत प्रोत होनी चाहिए कि कोई निर्णय लिया जाता है तो खूब-सलाह मशविरे के बाद, तथ्यों के आधार पर, सत्यनिष्ठा से प्रेरित होकर और मनाव की पद्धति से ही लिया जाय। लोकतन्त्र के सही नागरिक को तैयार करने में शालाओं का यह स्वरूप अत्यन्त आवश्यक है। शालाओं को यह जान लेना चाहिए कि यह उनको नागरिक तैयार करने के लिए मिला हुआ एक अवसर है, न कि बेरोक अधिकार चलाने का क्षेत्र।

तन्त्र मुक्ति

शिक्षा का दूसरा भी एक कर्तव्य है। लोकतान्त्रिक नागरिक तैयार करने के अपने लक्ष्य को यदि सिद्ध करना है तो शिक्षा को अपना वह दूसरा कर्तव्य भी निभाना ही होगा, और वह है शिक्षा स्वयं किसी बने बनाये ढाँचे में बँध न जाय। यह इसलिए आवश्यक है कि जीवन का विकास हर तरह के ढाँचे से परे है और शिक्षा है जीवन के विकास के लिए। अधिनायकवादी (टोटलिटेरियन) राज्य में और लोकतन्त्रात्मक राज्य में यही तो बड़ा अन्तर है। बच्चों को यह तो जानना चाहिए कि उनका समाज किन सिद्धान्तों और तत्वों की नींव पर खड़ा है और उस समाज में जीना है तो उन्हें किस प्रकार अपनी वृत्तियों को मोड़ना है, पर उनसे बधना नहीं है, जड़ नहीं बनना है। बल्कि उस प्राचीन संस्कृति का आधार बनाये रखते हुए भी वर्तमान जीवन की गति विधियों का छानबीन करने और आवश्यकतानुसार उस पर कैंची चलाने की भी हिम्मत होनी चाहिए। जीवन के भावी स्वरूप को निर्धारित करने की क्षमता उनमें होनी चाहिए। यह सारा तभी होगा जब प्रत्येक नागरिक का विकास तन्त्र-मुक्त हो, शिक्षण साँचे से परे हो।

कसौटी

सच्चा नागरिक तैयार करने की दृष्टि से शिक्षक के लिए शायद सबसे ज्यादा कठिन काम बच्चों में अभिक्रम और सृजन शीलता का विकास करना ही है। क्योंकि आगे चलकर समाज में जो सृजनशील व्यापक परिवर्तन (क्रियेटिव चेंजज) दाखिल होंगे उन सबका आधार यही है। सृजनशीलता और अभिक्रम ये ही दो गुण हैं जिनके मूल से योग्य परिवर्तन की स्वस्थ परंपरा पड़ती है। इन दो गुणों को सक्रिय होने में दिशा-दर्शन करनेवाला गुण है भावी समाज का सयुक्तिक ऊहापोह करने की शक्ति। वर्तमान को सजाने सँवारने का निर्देशक तत्व भी भविष्य की कल्पना और उसे साकार करने की महत्वाकांक्षा ही है। इसका अर्थ यह कि बच्चों को ऐसे ढंग से शिक्षा देनी होगी जिसमें वे अपनी कल्पना को विस्तृत सीमा तक फैला सकें, तथा उनके सामने उतना विशाल, समृद्ध और विविध कार्यक्षेत्र प्रस्तुत करना होगा जहाँ वे अपनी उस कल्पना को कुछ आकार देने का प्रयत्न कर सकें। इसका अर्थ उनमें रचनात्मक ढंग से विवेचन करने की वृत्ति को प्रोत्साहित करना होगा और उन्हें वर्तमान पर नजर रखना सिखाना होगा, वर्तमान पर नजर रखना, आगे पीछे की सुध-बुध खोकर

में खो जाना नहीं है, बल्कि वर्तमान को भविष्य की प्रगति के लिए पिछली सीढ़ी के रूप में देखना। इसी का यह भी अर्थ है कि स्वतन्त्रता और प्रभुता (अथारिटी) के सन्तुलन का अभ्यास, जिसमें बच्चों को प्राचीन संस्कृति और प्रचलित जीवन मूल्यों के दायरे में नयी-नयी सृष्टि और प्रगति करने का पूरा अवसर मिल सके। इसी का अर्थ है प्रत्येक बच्चे को उसकी जाति, वर्ण, धर्म आदि भेद छोड़कर समान मानना, उन्हें व्यक्ति के नाते विभूति समझना और जिम्मेदार नागरिक बनने की पूरी क्षमता-युक्त व्यक्ति जानना।

अर्हता का प्रश्न

नागरिकता की शिक्षा को लेकर शिक्षा शास्त्रियों के बीच काफी मन्थन चला है। शिक्षा शास्त्रियों का एक पक्ष ऐसा है जो मानता है कि नागरिकता की शिक्षा वास्तव में बच्चों के लिए नहीं है, केवल बड़ों के लिए ही है क्योंकि वे कहते हैं बच्चे पूरे अर्थ में नागरिक हैं नहीं, वे नाबालिग हैं। राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से वे कुछ भी पैदा नहीं करते हैं। स्थानीय या राष्ट्रीय राजनैतिक मामलों में वे कुछ भी सक्रिय हिस्सा नहीं ले सकते तब क्या वे नागरिकता को समझ पायेंगे? अगर नहीं, तो उन्हें नागरिकता का पाठ पढ़ाने से क्या लाभ?

यह दलील एक हद तक सही है। जैसा किसी ने कहा है—'राष्ट्र की किसी भी नीति में कोई व्यक्ति तब तक स्वेच्छा से रुचि लेता नहीं जब तक उस नीति का सम्बन्ध उसकी जेब से नहीं होता।' फिर हर कोई व्यक्ति राष्ट्र के मामलों में क्यों ख्वाह ■ ख्वाह दखल दे?

लेकिन यह विषय इतनी आसानी से टालने जैसा नहीं है। नागरिकता के जिस पहलू का हम विचार कर रहे हैं ■■ संस्कार से सम्बन्धित है। यह संस्कार जितनी प्रारम्भिक अवस्था से डाला जा सके उतना अच्छा। अतः शिक्षकों को इसका पहल अपनी ओर से करना चाहिए। बच्चा को सक्रिय और सृजनशील बनाने की दिशा में शिक्षक या स्कूल कुछ कर सकते हैं तो यही कि बच्चा में यह अनुभूति जगा दें कि वे उस समाज के ही अंग हैं।

संकुचितता

नागरिकता की शिक्षा में दो एक खतरे भी हैं। पहला यह कि नागरिकता के आदर्श को सही-सही रूप में प्रस्तुत न कर पायें और उससे संकुचितता को ही प्रोत्साहन मिलने लगे तो वह मानवता के लिए ही खतरा बनेगा। मानव-समाज का जिस रूप में विकास होता आया है उसकी आज माँग है कि सब के हृदय विशाल हों और राष्ट्रों की रेखाओं से विश्व के टुकड़े न बनें। नागरिकता की शिक्षा को इन भावनाओं की बाधक न होने देना आवश्यक है। आज, यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि, राष्ट्रीयता विश्वशान्ति के लिए बड़ा रोड़ा बनी है।

जड़ता

दूसरा खतरा यह है कि चूँकि 'नागरिकता' का अर्थ ही एक नमूना है, प्रकार विशेष है, इसलिए नागरिकता की शिक्षा की प्रधानता देने के आवेश में व्यक्ति को किसी साँचे में न ढालने की मूल नीति पर प्रहार हो जा सकता है। समाज मानस का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि समाज जहाँ परंपरा प्रिय है वहाँ निरंतर प्रगति के रास्ते में गतिरोध को भी वह बरदाश्त नहीं करता है। उसे नित्य नया परिवर्तन पसंद है। परंपरा उसे वहीं तक प्रिय है जहाँ तक समाज का अस्तित्व अक्षुण्ण रहे, बाकी वह किसी भी प्रकार के रूपांतर का स्वागत ही करेगा। इसलिए नागरिकता की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह संस्कृति की रक्षा करने के अपने कर्तव्य से च्युत न होते हुए भी समाज को गति दे सके और नयी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दे सके। अतः नागरिकता की शिक्षा के नाम पर यदि किसी बने-बनाये साँचे में डालने का ही काम चलता है तो समाज गतिशील नहीं रह पायेगा, निश्चित ही उसमें जड़ता घुस आयेगी।

ध्यान रखने की बात यह है कि जहाँ व्यक्ति एक नागरिक है वहाँ वह एक मनुष्य भी है। लोकतंत्र का आदर्श है मनुष्य को मनुष्य के रूप में विकसित होने देना। राष्ट्र की दृष्टि से नागरिकता चाहे जितना महत्वपूर्ण हो फिर भी वह मनुष्यत्व के विकास में बाधक न हो इस बात की सावधानी रखनी होगी।

श्रमभारती का विसर्जन

वर्ग-निराकरण का अभ्यास

(३)

निर्माण और विसर्जन, ये दोनों एक ही उपासना की दो क्रियाएँ हैं। दोनों को मिलाकर उपासना पूरी होती है। अगर विसर्जन न हो तो उपासना अधूरी रह जायगी।

श्रमभारती का निर्माण किस लिए हुआ था और विसर्जन क्यों हुआ, यह प्रश्न अपने बहुत से मित्रों और शुभचिंतकों के मन में है। इस प्रश्न का सार्वजनिक महत्व इसलिए हो जाता है क्योंकि जहाँ तक मेरी जानकारी है जीवन के नये सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से श्रमभारती का प्रयोग देश के जीवन में असाधारण रहा है। शायद इसीलिए कुछ लोगों को दु:ख भी हुआ है कि ऐसा प्रयोग टूट गया, लेकिन सन्तोष यह है कि अगर तोड़ा तो उसी ने तोड़ा जिसने जोड़ा था, इसलिए मानना चाहिए कि बिगाड़ने में भी बनाने की कोई योजना अवश्य रही होगी। कलाकार ने कला नहीं छोड़ी, केवल कला का स्वरूप बदल दिया।

श्रमभारती में किस चीज का प्रयोग था? शिक्षण और प्रशिक्षण को श्रमभारती ने प्रवृत्तियों के रूप में अपनाया था, इन प्रवृत्तियों के पीछे तत्व दूसरे थे।

एक दिन—शायद १९५६ की बात है—एक सज्जन श्रमभारती देखने आये थे। धीरेन भाई को देखकर पूछने लगे—'यहाँ क्या-क्या होता है?' धीरेन भाई बोले—'यह हजूर से मजूर बनाने का कारखाना है, और ये युवक कारखाने के कच्चे माल हैं।' यह कह कर कुछ देर तक धीरेन भाई उस मित्र को वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया समझाते रहे।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं श्रमभारती को हमेशा वर्ग निराकरण की ही प्रयोगशाला मानता रहा। उत्पादक-श्रम वर्ग निराकरण का माध्यम, साम्य वर्ग-निराकरण का लक्ष्य, नयी तालीम वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया—यह कल्पना और योजना श्रमभारती की थी। धीरेन भाई सोचते थे कि अगर अहिंसक समाज बनाना है तो क्रांति भी अहिंसक होनी चाहिए और क्रांति को अहिंसक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्ग-संघर्ष की भूमिका मिटे। विज्ञान और लोकतंत्र के इस युग में संघर्ष की, चाहे वह देखने में कितना भी शांतिपूर्ण हो, निष्पत्ति कभी अहिंसक नहीं हो सकती। इसलिए संघर्षमुक्त क्रांति का रास्ता यह है कि मध्यम वर्ग, जिसके हाथ में आज शासन और शोषण के सूत्र हैं, अपने परिवर्तन की प्रक्रिया ग्रहण करे। कम्यूनिस्ट जिसे वर्ग-परिवर्तन (डीक्लासिंग) कहते हैं वह केवल बौद्धिक होती है और सत्ता मिलने तक सीमित रहती है, लेकिन अहिंसा में बौद्धिक प्रतीति के साथ-साथ जीवन-परिवर्तन भी आवश्यक है, क्योंकि अहिंसक क्रांति में क्रांति क्रांतिकारी के अपने जीवन से शुरू हो जाती है।

खादीग्राम में हम लोगों ने वर्ग-निराकरण की दृष्टि से जीवन-परिवर्तन के दो मूलतत्व ग्रहण किये थे—श्रम और साम्य। हमारी मान्यता थी कि वास्तविक वर्गविहीन समाज तब होगा जब हर एक उत्पादक होगा। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक बुद्धि और श्रम का संघर्ष निरन्तर चलता रहेगा, भले ही सामूहिक स्वामित्व द्वारा पूँजी के साथ होनेवाला संघर्ष मिट जाय। यह

सोचकर हम लोगों ने सबके लिए चार घण्टे का उत्पादक श्रम अनिवार्य माना। जीविका के लिए आठ घंटे का काम हर एक को करना ही चाहिए, जिसमें चार घण्टा उत्पादक-श्रम हो और बाकी चार घण्टा शिक्षण या व्यवस्था में लगे।

शुरू में अपेक्षा यह थी कि हर सदस्य उत्पादन, शिक्षण और व्यवस्था, तीनों काम करे, लेकिन बाद को जब शिक्षण और व्यवस्था दोनों को साथ निभाना कठिन हो गया तो उत्पादन के अलावा इन दोनों में से कोई एक मान्य किया गया।

उत्पादक श्रम में हम लोगों ने पहला स्थान भूमि सेवा, यानी खेती-गोसेवा और भूमि सुधार को दिया। गृह निर्माण, वृक्ष-सेवा, उद्योग और गृह-सेवा, यानी सफाई और रसोई का भी स्थान उत्पादक श्रम के अन्तर्गत था। कताई को हम उत्पादक तो मानते थे लेकिन श्रम नहीं मानते थे। साधारण चर्खे की कताई में कोई खास शारीरिक श्रम होता भी नहीं। श्रम न करने का संस्कार बदलने की दृष्टि से हम लोग शरीर श्रम पर बहुत अधिक जोर देते थे, इसलिए मिट्टी खोदने और सिर पर टोकरी ढोने का महत्त्व सबसे अधिक था। हाथ से टट्टी की सफाई करना, खाना बनाना, मिट्टी खोदना आदि कामों से सामान्यतः पुरुष बचता है इसलिए हम लोग इनको आग्रहपूर्वक ऊँचा स्थान देते थे। सारी कोशिश इस बात की थी कि बाबूगीरी दिमाग से निकल जाय।

उत्पादक-श्रम पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्रियों के लिए भी अनिवार्य था। घर की रसोई या शिशु-पालन उत्पादक श्रम का विकल्प नहीं था। बच्चों के लिए शिशु विहार और बालमंदिर था। सामूहिक भोजनालय से अलग अगर किसी को अपनी रसोई बनानी हो—बाद को निजी भोजनालय की छूट दे दी गयी थी—तो श्रम के समय के बाद बनाये। शुरू में ८ घंटे का काम स्त्रियों के लिए भी जरूरी था बाद को ६ घंटा कर दिया गया, लेकिन कमाई भी दो रुपये से डेढ़ रुपया कर दी गयी।

जान-बूझ कर कार्यक्रम और दिनचर्या की ऐसी व्यूहरचना की गयी थी कि लोगों में यह संस्कार बने कि जीविका के लिए पसीना बहाना है। समाज में कुछ भी हो, हमें अपना जीवन शोषणमुक्त बना लेना था।

हममें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसे खादीग्राम आने के पहिले से नियमित श्रम करने का अभ्यास रहा हो। फावड़ा चलाने और टोकरी ढोने से शरीर बहुत दुखता था, लेकिन नींद भी खूब आती थी, और आज भी १९५५ और ५६ के उन्हीं दिनों की याद सबसे अधिक आती है जब लोग खेत से मिट्टी में सने हुए लौटते थे और रात को चारपाई पर मुर्दे की तरह अचेत पड़ जाते थे।

जीविका के लिए उत्पादक—श्रम अनिवार्य तो था, लेकिन उत्पादन पर जीविका निर्भर नहीं थी। हर तरह के श्रम का समान मूल्य रखा गया था, और श्रम के घण्टे गिनकर 'मजदूरी' मिलती थी। 'मजदूरी' शब्द का ही व्यवहार होता था ताकि दिमाग से 'मालिकी' का कीड़ा निकल जाय। श्रम, शिक्षण या व्यवस्था के एक घण्टे की चार आने मजदूरी रखी गयी थी। हम लोग आठ घण्टे के काम के लिए दो रुपये रोज की 'मजदूरी' पाते थे। अगर काम के घण्टे कम हुए तो मजदूरी कट जाती थी, लेकिन अगर अधिक हो गये तो अतिरिक्त कमाई की गुंजाइश नहीं रखी गयी थी। यह मान लिया गया था कि कोई भी ६०) रुपये से अधिक क्यों ले, विशेष रूप से वह जो श्रम और समता में विश्वास करता है?

श्रमभारती सर्व-सेवा-संघ की संस्था थी। सारा पैसा वहीं से ही आता था। श्रम की यह सब जो रचना हुई थी वह श्रमिकों के प्रत्यक्ष उत्पादन पर नहीं चलती थी बल्कि सर्व-सेवा संघ से प्राप्त 'सब्सिडी' पर टिकी हुई था। और श्रमभारती में जो खेती-बारी और उद्योग होता था उसके लिए हम कार्यकर्ताओं का चार घण्टे का श्रम पर्याप्त भी नहीं होता था, उसके लिए गाँव के मजदूर रख गये थे। वे ही सारे उत्पादन की रीढ़ थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रम का अभ्यास खूब हुआ। अभी उस दिन साथ स्टेशन जाते हुए घीनू कह रहा था 'भैया, उन दिनों आप लोगों का काम देखकर हम लोग डरने लगे थे कि अब हमारा क्या होगा?'

[शेष पृष्ठ ३७४ पर]

मैत्रेय का शिक्षक-दल

श्री रावी

एक बार धरती के एक चक्रवर्ती सम्राट ने अपने राज्य के शिक्षाध्यक्ष-पद पर मैत्रेय ऋषि को नियुक्त किया। प्रजाजनों के लौकिक और पारलौकिक विकास के लिए शिक्षा-क्रमों का निर्माण तथा शिक्षकों और प्रचारकों के प्रशिक्षण एवं नियुक्ति का कार्य इस पदाधिकारी द्वारा ही किया जाता था। राज्य की आय का एक तिहाई भाग इस शिक्षा-विभाग में ही व्यय होता था।

मैत्रेय ने अपने कार्य का दायित्व तो स्वीकार कर लिया किंतु किसी भी शिक्षक और प्रचारक की नियुक्ति नहीं की, उन के प्रशिक्षण का कोई शिविर नहीं खोला और न किसी शिक्षा-क्रम की ही राज्य में घोषणा की। फलतः राज्य-कोष से इन कार्यों के लिए उन्होंने कोई धन भी नहीं लिया और वे अपने पर्वत-प्रदेशीय आश्रमों में ही रहे।

जब दस वर्ष इसी प्रकार बीत गये तो राजा को चिंता हुई, और प्रजा को भी शिक्षकों के अभाव में असन्तोष और आशंकाओं का भय होने लगा। राजा और प्रजा दोनों की ओर से एक शिष्ट-मण्डल मैत्रेय के आश्रम में उन से मिलने गया।

'आप लोग कैसी बात कहते हैं!' मैत्रेय ने उन की बात सुन कर आश्चर्य के स्वर में कहा, 'मैं ने तो इन दस वर्षों में शिक्षकों की एक बड़ी संख्या आप के राज्य में भेज दी है। जाइये, खोजिए, आप उन्हें पा जायेंगे।'

शिष्ट-मण्डल लौट आया, लेकिन उसे या राज्य के किसी भी नागरिक को एक भी शिक्षक कहीं नहीं दीख पड़ा। दुबारा वह मण्डल मैत्रेय के पास पहुँचा।

'आपने उन की खोज नहीं की। इस समय तक कोई भी घर ऐसा नहीं जिसमें वे पहुँच न गये हों। क्या नगरों की गलियों में, हाटों के झूलों में, माताओं की गोदों में आप ने उन्हें अभी तक नहीं देखा!' कह कर मैत्रेय ने उन्हें वापस कर दिया।

नगरों की गलियों, हाटों के झूलों और माताओं की गोदों में नागरिकों के बालक-बालिकाओं से भिन्न और किस की ओर मैत्रेय का संकेत हो सकता था! विद्वान अर्थकारों ने समझा कि ये प्रौढ़-नागरिकों के शिक्षक हैं और मैत्रेय ऋषि ने उन्हें ही आवश्यक ज्ञान-दान की क्षमता से सपन्न कर दिया है।

लोग बालकों से भांति-भांति के प्रश्न पूछने, शंकाओं का समाधान मांगने और ज्ञान-दान की याचना करने लगे। किंतु वे बालक उन्हें कुछ भी न बता सके। लोगों ने बच्चों के व्यवहारों का अपने पारस्परिक व्यवहार में अनुकरण करने का भी प्रयत्न किया, किंतु उस का फल भी अत्यन्त असुविधा-जनक रहा। विवश हो तीसरी बार जब वह शिष्ट-मण्डल मैत्रेय ऋषि की सेवा में उपस्थित हुआ तब उन्होंने कहा:

'आप लोगों ने मेरा अभिप्राय ठीक ही समझा। किंतु प्रश्नों के उत्तर देने, शंकाओं का समाधान करने और व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करनेवाले शिक्षक एक साधारण सीमा के आगे आप का पथ प्रदर्शन नहीं कर सकते। आप लौटकर अपने बच्चों के और भी निकट संपर्क में आने का प्रयत्न कीजिए। उन के व्यवहारों का अनुकरण न कीजिए बल्कि अपने प्रति जैसे व्यवहारों के लिए वे आपको प्रेरित और

[शेष पृष्ठ ३६८ पर]

संयुक्त राज्य अमेरीका की शिक्षा-पद्धति

(श्री वॉटलिंग के लेख के आधार पर)

संयुक्त राज्य अमेरीका की शिक्षा का एक बहुत बड़ा उद्देश्य यह है कि उस शिक्षा के द्वारा वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुरूप उन्नति करने का पूरा अवसर मिले। यह वहा के नागरिक का नैतिक हक माना जाता है। अमेरीका ने अपनी भावी प्रगति का आधार मुख्यतः व्यक्ति की विज्ञता और कुशलता को ही माना है और वहां के राष्ट्र-निर्माताओं ने इसी बात पर बराबर जोर दिया है कि वहा का नागरिक प्रबुद्ध और सक्रिय हो।

लगभग तीन सौ वर्ष पहले जब दूसरे उपनिवेशों के लोग यहाँ आकर बसने लगे तो वहाँ व्यापक सार्वजनिक शिक्षा का विचार विकसित हुआ। ये सारे लोग अपनी मातृभूमि में राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक बंधनों के कारण बुरी तरह पीड़ित थे, इसलिए अमेरीका में आकर बसे तो उन्होंने निश्चय कर लिया कि नये स्थान में उस प्रकार का कोई बंधन या अवरोध न रहने पाये। परिणाम स्वरूप उन्होने अपने पुराने अनुभवों का लाभ उठा कर नये मूल्यों के आधार पर शुरू से ही एसी शिक्षा-व्यवस्था कायम की जिससे उस समय की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

चूंकि उन्होंने अपना यह लक्ष्य बना लिया था कि प्रत्येक परिवार के प्रत्येक बच्चे को शिक्षा देनी ही है, इसलिए उनको इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा कि शिक्षा की व्यवस्था सार्वजनिक सहायता (पब्लिक सपोर्ट) से ही करनी है। १७८५ में एक भूमि विधेयक स्वीकृत हुआ और तीन वर्ष बाद दूसरा एक विधेयक 'पश्चिमोत्तर विधेयक' (नार्थवेस्ट फ्रांण्टियर ऐक्ट) के नाम से पास हुआ। ये दोनों ऐतिहासिक विधेयक माने जाते हैं। दोनों में यह स्पष्टतया निर्देश दिया गया था कि पब्लिक स्कूलों को आवश्यक सहायता देना समाज का कर्तव्य है, यह समाज की ही जिम्मेदारी है। शिक्षा पर केंद्रीय सरकार का नियंत्रण किसी प्रकार न रहे यह प्रयत्न आरंभ से ही हुआ और १७८९ मे जो संविधान लागू हुआ उसमें भी सार्वजनिक शिक्षा को केंद्रीय शासन के नियंत्रण से मुक्त ही रखा गया। साथ ही हर एक राज्य ने अपने यहा की शिक्षा का भार स्वयं मान्य किया और यह तय किया कि सार्वजनिक शिक्षा नि शुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए। तब से इसी दिशा में वहा शिक्षा का विकास होता आया है।

जब शिक्षा पर केंद्रीय नियंत्रण नहीं रहा और राज्यों को ही सारा विचार अपनी ओर से करना पड़ा तो सहज ही प्रत्येक राज्य की शिक्षा में कुछ न कुछ विविधता भी आयी। प्रत्येक जगह की भौगोलिक, धार्मिक, जातीय और वैचारिक भिन्नताओं का प्रभाव वहा के स्कूलों के लक्ष्य, कार्यक्रम और गतिविधि पर पड़ा। यद्यपि बाद में समूचे राष्ट्र की दृष्टि से कुछ

विषयों में समानता लाने का प्रयत्न हुआ और आज भी वैसी कुछ सर्व-सामान्य पद्धति राष्ट्रभर में देखने को मिलती है, फिर भी हर तरह से विविधता खतम हो गयी हो, ऐसा नहीं है।

इस प्रकार के विकेंद्रीकरण से शिक्षा के संबंध में सोचने और उसका नियंत्रण करने का भार बच्चों के माता पिता और अभिभावकों के ऊपर अधिक आता है। केवल माता पिता ही नहीं, सामान्य नागरिक भी उसकी नीति और लक्ष्य निर्धारित करने में भाग ले सकते हैं और अमेरीका में आज वैसा हो रहा है। राज्य और स्थानीय शासन भी अपने स्कूलों को अधिकाधिक स्वतंत्रता देते हैं ताकि वे स्थानीय समुदायों और क्षेत्रों की आवश्यकता पूरी करने में सफल हो सकें। इस प्रकार विकेंद्रीकरण के कारण विविधता को प्रोत्साहन मिलता है।

विकेंद्रीकरण में एक खतरा भी है और वह यह कि नीति, लक्ष्य और कार्यक्रम में विविधता को प्रोत्साहन मिल जाने से समूचे राष्ट्र की दृष्टि से जो एक समान गुण-स्तर और समान कार्यक्रम आवश्यक है वह नहीं रह पाता है। साथ ही यह भी हो सकता है कि जो कुछ सुविधाएं मिलती हैं उनका सही उपयोग करने के लिए उचित योजना सब जगह ठीक-ठीक न बन पाये और धन-राशि का अपव्यय हो जाय। जो डिग्रियां या उपाधियाँ सभी राज्यों में दी जाती हैं उनके संबंध में यह भय पैदा होता है कि उन डिग्रियों और उपाधियों को पानेवाले स्नातकों की योग्यता समान नहीं भी हो सकती है।

दर्शन और लक्ष्य

शिक्षा राष्ट्र के सांस्कृतिक मूल्यों को नयी पीढ़ी के लोगों तक पहुंचाने और उनके जीवन में स्थापित करने का एक साधन है। दर्शन का काम यद्यपि मूल्यों की स्थापना और विवेचन करना ही है, फिर भी अमेरीका की शिक्षा का विकास करने में वहां के दर्शन के अंतर्गत शिक्षा सम्बन्धी सिद्धांतों का बड़ा हाथ रहा है। वहां शिक्षा का लक्ष्य क्या रहे, पाठ्यक्रम में किन किन विषयों का समावेश हो, शिक्षा-पद्धति कैसी हो, शिक्षा-कार्य का मूल्यांकन कैसे किया जाय, आदि बातें तय करने में उन तत्वों का जबरदस्त हाथ रहा है।

अमेरीका में प्रचलित शिक्षा सिद्धांतों का उद्गम प्राचीन विश्व संस्कृति ही है, परंतु वहां उसका जो व्यावहारिक रूप है वह विशेषतः यूरोप की पद्धति के अनुसार है। वहां के शैक्षणिक मूल्यों पर लेबनीज, काण्ट, हेगल, शोपेनहावर आदि जर्मन शिक्षा शास्त्रियों का बड़ा प्रभाव रहा है, इंग्लैण्ड के हब, ल्यूक, बर्कले, ह्यूम आदि शिक्षाविदों का योगदान भी ठोस है, और प्रारंभिक काल की विचारधारा रूसो के विचारों से तो प्रभावित है ही।

अमेरीका जब एक राष्ट्र बना और नये संदर्भ में सारी बातों पर विचार करने लगा तब कई नये विचारों और मूल्यों का जन्म हुआ। अमेरीका राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए सफल संघर्ष कर चुका था, और भौतिक जगत् की चुनौती में भी वह काफी अग्रणी रहा। इन्हीं सारी सफलताओं ने आगे जा कर नये दार्शनिक मूल्यों का रूप लिया।

यह एक नया दर्शन था। उसे व्यवहारवाद (प्रेग्मेटिज्म) अथवा प्रयोगवाद (एक्सपेरिमेण्टलिज्म) कहते हैं। वह पुराने और नये दोनों दिमागों की उपज है। इस विशिष्ट विचार-सरणि का विकास और परिष्कार करने का श्रेय अमेरिका के मनीषी विलियम जेम्स, चार्ल्स पियर्स और जोन डूई को है। आदर्शवाद (आइडियालिज्म) और यथार्थवाद (रीयालिज्म) आदि पुराने दर्शनों के सारे गुणात्मक मूल्य पहुँच के बाहर थे जब कि इस नये दर्शन ने सिद्ध किया कि सत्य सापेक्ष है और नैतिक मूल्य भी कोई अपरिवर्तनीय या शाश्वत नहीं हैं, परिस्थिति और संदर्भ के अनुसार उनका रूप बदल सकता है।

इस व्यवहारवाद की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें विविधता में एकता का दर्शन करने की क्षमता है। तभी शिक्षा का लक्ष्य यह नहीं माना गया कि व्यक्ति को एकमात्र समाज की सेवा के लिए ही तैयार किया जाय, बल्कि यह ...। कि चूंकि

व्यक्ति और समाज दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है अतः दोनों के विकास के लिए समान रूप से प्रयत्न किया जाय व्यक्ति के वैयक्तिक गुणों और विशेषताओं को निखारने का प्रयत्न किया जाय और व्यक्ति और समाज दोनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में विकसित किया जाय।

यद्यपि अमरीका की शिक्षा पर इस व्यवहारवाद का रंग सन् १९०० से ही चढ़ा है फिर भी यह कहना शायद गलत होगा कि वहां की शिक्षा पर इसी का प्रभाव सार्वभौम रहा है। वस्तुतः शिक्षा के तत्वों को अमल में लाते समय अलग-अलग दर्शन के तत्व उसमें घुस आते हैं और कुछ हद तक सब को अपना कर चलना होता है। अमेरीका में इसे एक प्रकार का सारसंग्रहवाद (एक्लेक्टिसिज्म) कहते हैं। कुछ लोग इसे अच्छा और उपयोगी मानते हैं तो कुछ इसे कमजोरी का लक्षण कहते हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों को लेकर आज अमेरीका में सर्वत्र मतभेद और काफी वाद विवाद चलता रहता है।

अमेरीका की शिक्षा पर लोकतंत्र के सिद्धांतों का एक समवेत जीवन (असोसियेटेड लिविंग) के रूप में बड़ा प्रभाव पड़ा है। जब वहां के संविधान ने लोकतंत्र को मान्य कर उस पर जोर देना शुरू किया तो समूचे शिक्षण विचार और शिक्षा सिद्धांतों पर वह छा गया। लोकतंत्र ने यह सिद्धांत जोरों से पेश किया कि व्यक्ति स्वयं व्यक्ति के नाते मूल्यवान है और प्रतिष्ठित है प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता और समानता का पूरा अवसर समान रूप से मिलना चाहिए और किसी भी संघर्ष को मिटाने का एक मात्र साधन विचार है। इन सिद्धांतों की वजह से अमरीका के समाज में, खास कर शिक्षा में एक जबरदस्त नया मोड़ आया और शिक्षा इन सब आदर्शों की पूर्ति की दिशा में उत्तरोत्तर प्रभावशाली योगदान देने को बाध्य हुई।

गत कई दशकों में शिक्षा के लक्ष्य और हेतु को लेकर वहाँ के शिक्षा शास्त्रियों में काफी मंथन चला है। सन् १९१८ में सेकेण्डरी शिक्षा के पुनः संगठन के संबंध में विचार करने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ था जिसने 'कार्डिनल प्रिंसिपल्स' के नाम से कुछ लक्ष्य देश के सामने रखे और १९१८ में शिक्षा हेतुओं की एक लम्बी सूची प्रकाशित हुई। इन वक्तव्यों का प्रभाव काफी गहरा हुआ, क्योंकि इनमें बार बार यही बात दोहरायी गयी थी कि प्रत्येक बालक को अपनी क्षमता के अनुसार पूरा प्रगति और उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिए ताकि राष्ट्र को संस्कृति को सम्पन्न और समृद्ध करने में कोई व्यक्ति वंचित न रह जाय और इस शिक्षा की व्यवस्था सार्वजनिक स्रोतों (पब्लिक सपोर्ट) से ही होनी चाहिए।

संगठन और सहायता

यद्यपि केंद्रीय शासन राष्ट्र की शिक्षा के लिए किसी प्रकार के कानून के सामने जिम्मेदार नहीं है, फिर भी राष्ट्र भर में रचना मक शिक्षा के विकास के लिए उसने भारी प्रोत्साहन दिया है। गत दो सौ सालों में लगभग बीसों कारवाइयां केंद्र सरकार की ओर से हुई हैं और इस समय समूचे शिक्षा-व्यय का चार प्रतिशत हिस्सा केंद्रीय सरकार से आता है। शिक्षा क्षेत्र में काम करनेवालों के मार्गदर्शन के लिए कुछ खास जिम्मेदारियां देकर १८६७ में एक नेशनल ब्यूरो की स्थापना की गयी थी जिसे इस समय आफिस आव एज्युकेशन कहते हैं। इस कार्यालय के हाथों में शिक्षा का नियंत्रण आदि का कोई कानूनी अधिकार नहीं है बल्कि विभिन्न स्कूलों का अध्ययन कर आवश्यक आंकड़े इकट्ठा करना, उनका विश्लेषण करना सब जगह स्कूलों से संबंधित जानकारी पहुँचाना संगठन पाठ्यक्रम शिक्षा पद्धति, शिक्षकों की तैयारी उनका स्थान-मान और इसी प्रकार की सब के लिए उपयोगी जानकारी देते रहना आदि कामों के द्वारा वह राज्यों तथा जिलों की मदद करता है। वह कभी-कभी सर्वेक्षण भी करता है शाला-व्यवस्था के संबंध में सलाह मशविरा देता है विशिष्ट सेवाओं के लिए केंद्रीय सरकार से मिलनेवाली आर्थिक सहायता का वितरण करता है। केंद्रीय सरकार से व्यावसायिक शिक्षण, राष्ट्रीय सुरक्षा, व्यावसायिक

पुनर्वास और ऐसे राष्ट्र हित के अन्य कार्यों के लिए सहायता मिलती है।

यद्यपि शिक्षा मुख्यतः राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में मानी जाती है फिर भी कई राज्य मिलकर कुछ संमिलित योजनायें बनाते हैं और उन योजनाओं के लिए कुछ सहायताओं की व्यवस्था करते हैं। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक अधिकार एक बोर्ड को दिये जाते हैं जिसका गठन गवर्नर करता है या जनता करती है। यह स्टेट-बोर्ड नीति तय करता है, न्यूनतम स्तर निर्धारित करता है, आर्थिक सहायताओं के विनियोग की योजना बनाता है, और राज्य के अन्दर शिक्षा का काम करनेवाली सभी संस्थाओं का समन्वय करता है। उस बोर्ड को यह भी अधिकार है कि अपने राज्य में चलनेवाले शिक्षा क्रम को प्रमाणित करे, स्थानीय परीक्षण और प्रयोग को प्रोत्साहन दे, शोध कराए, स्थानीय स्कूलों के रूप में मार्गदर्शन दे और केंद्र की धनराशि का योग्य वितरण करे। राज्य-बोर्डों का संबंध प्रमुख रूप से प्राथमिक और माध्यमिक (एलिमेन्टरी और सेकेन्डरी) शिक्षा से ही रहता है। कालेज और विश्व विद्यालयों के लिए अलग बोर्ड होते हैं।

हर राज्य में कुछ कर्मचारियों का एक स्टाफ होता है जो राज्य के शाला-संबंधी कानून के अनुसार राज्य-बोर्ड की नीतियों का कार्यान्वित करता है। एक प्रमुख शाला-अधिकारी को छोड़कर बाकी सब कर्मचारी एक प्रकार से स्थायी नौकर हैं, लेकिन वे भी विषय-स्तर की योग्यतावाले ही होते हैं। उनको इस बात का ध्यान रखना होता है कि राष्ट्र का कोई बच्चा—चाहे वह किसी भी जाति का हो, किसी भी राज्य का नागरिक हो, उसकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो—अपनी क्षमता और आकांक्षा के अनुसार पूरी प्रगति के अवसरों से वंचित न रह जाय।

शालाओं के व्यय के लिए राज्य और स्थानीय दोनों स्तरों से कर वसूल करके भारी सहायता दी जाती है। अमीरों और गरीबों के बीच शिक्षा के अवसरों की विषमता न आने देने की दृष्टि से कई राज्यों ने बुनियादी कार्यक्रमों (फाउन्डेशन प्रोग्राम) की स्थापना की है। इसके द्वारा एक सुनियोजित पद्धति से राज्य से प्राप्त होनेवाले करों का अधिक भाग गरीब इलाकों में और कम हिस्सा अमीर इलाकों में बांटा जाता है। लेकिन राज्य की सहायता चाहे कम मिले या अधिक, परन्तु सब को शिक्षा का एक विशिष्ट स्तर समान रूप से बनाये रखना अनिवार्य है।

शाला व्यवस्था से संबंधित प्रमुख जिम्मेदारी और अधिकार स्थानीय शालाओं व जिले के हाथ में होता है। १० साल पहले तक अमेरिका में ऐसे स्थानीय जिले (लोकल डिस्ट्रिक्ट) एक लाख साठ हजार थे। गत कुछ वर्षों में कुछ जिलों को एक-दूसरे में मिला कर यह संख्या कुछ कम की गयी है। एक स्कूल-जिले का क्षेत्र सब जगह समान नहीं है, कहीं उस जिले में पूरा राज्य आ जाता है तो कहीं एक शहर आता है, कहीं एक गांव हो तो कहीं छोटा सा देहाती इलाका आता है। कुछ जिले तो इतने छोटे हैं कि वहां के सभी बच्चों को पढ़ाने के लिए केवल एक शिक्षक ही पर्याप्त होता है।

प्रत्येक जिले का एक बोर्ड आफ एज्युकेशन होता है जिसका निर्वाचन वहां के लोग स्वयं करते हैं। ये बोर्ड अपने सदस्यों में से किसी एक को बारी-बारी से अपना नेता या सुपरिन्टेन्डेन्ट चुनते हैं जो अकेले या बोर्ड के सहयोग से शालाओं का स्टाफ नियुक्त करता है। उस स्टाफ के परामर्श से बोर्ड स्थानीय शिक्षा-नीति तय करता है और उसके लिए आवश्यक धनराशि स्वीकार करता है। सामान्यतया ये बोर्ड बच्चों के माता पिता और अभिभावकों की इच्छा के अनुसार ही सारा विचार किया करते हैं, साथ ही राज्य के कानून के दायरे में ही रह कर काम करते हैं। आम तौर पर ये बोर्ड क्षेत्रीय संगठनों द्वारा तय किये गये गुणस्तर के अनुसार ही अपनी रीति-नीति तय करते हैं, यद्यपि रीजनल संगठनों के निर्णय केवल सुझाव के रूप ही होते हैं, आदेश के रूप में नहीं। इस चौखट के अन्दर ही रह कर ये बोर्ड यह तय करते हैं कि बच्चों को क्या पढ़ाया जाय, सार्वजनिक धन-राशि में कितना धन अपने लिए प्राप्त किया जाय और पढ़ाई का विशिष्ट स्तर क्या माना जाय। इसके

अलावा ये बोर्ड स्कूलों के लिए मकान देते हैं, साधन-सामग्री देते हैं, शिक्षक देते हैं, अभ्यासक्रम की अवधि और पढ़ाई के घण्टे तय करते हैं, अनिवार्य उपस्थिति पर जोर देते हैं और सहायता में प्राप्त धन के विनियोग की व्यवस्था देखते हैं। इतनी गहरी दिलचस्पी लेने के कारण ही स्थानीय शिक्षा का स्तर राज्य द्वारा निर्धारित स्तर से शायद ही कभी पीछे रहता है, बल्कि स्थानीय लोग जितनी अपेक्षा रखते हैं उससे भी कुछ आगे ही जाता है, और सभी लोग उसके लिए धन देने को तैयार होते हैं।

चूंकि अमेरीका ने यह तय कर लिया है कि वहा के प्रत्येक बच्चे को शिक्षा की सुविधा देनी ही है, अत इस समय वहा आर्थिक सहायता का प्रश्न कुछ विकट हो चला है, क्योंकि खास द्वितीय महायुद्ध के बाद वहा की जन सख्या निरतर बढ़ता जा रही है। प्राथमिक और माध्यमिक शालाओं म प्रवेश पानेवाले बच्चों की सख्या १९५९–६० में ४ करोड़ २७ लाख थी जो इससे पहले कभी नहीं थी। वहा इस समय एक बच्चे के पीछे औसत सालाना खर्च ३९० डालर है अर्थात् लगभग १८५० रुपये हैं और बच्चों की पढ़ाई का कुल खर्च १६०० करोड़ डालर से भी अधिक है। बड़े लड़कों और लड़कियों के खर्च की कुल औसत के अनुपात में देखें तो बच्चों का यह खर्च प्रति बच्चा ९० डालर अधिक है। उच्च शिक्षा को भी जोड़ लें तो राष्ट्र की आमदनी का खर्च लगभग ५ ५॥ प्रतिशत भाग शिक्षा पर ही रहा है। आज अमेरिका में यह एक विवादास्पद विषय बना हुआ है कि राष्ट्र के इतने महत्वपूर्ण विभाग पर–शिक्षा पर–इतना ही व्यय करना क्या पर्याप्त है। गत १८ वर्षों से यह प्रतिशत निरंतर बढ़ता ही आ रहा है।

स्थानीय स्रोतों से प्राप्त धन राशि का लगभग ५५ प्रतिशत शिक्षा पर ही व्यय होता है। यह सारा धन मकान, खेती और व्यवसाय पर कर लगाकर प्राप्त किया जाता है। ४० प्रतिशत तक सहायता राज्य सरकारें देती हैं। राज्य-सरकारें बिक्री तथा अन्य करों से कुछ अंकित राशि देती हैं और कुछ हिस्सा राजस्व कर से भी देती हैं। सभी राज्यों की आर्थिक सपन्नता समान नहीं है, इसी लिए शिक्षा पर व्यय की जानेवाली धनराशि में भी राज्यों के बीच काफी अंतर रहता है। इस लिए भी केन्द्रीय सरकार से अधिक मात्रा में सहायता लेना आवश्यक हुआ है। इस लिए केंद्रीय सरकार ने राष्ट्र क प्रत्येक नागरिक से उस की निजी आमदनी के हिसाब से–चाहे वह आमदनी उसकी अकेले की हो चाहे साझे की–टैक्स लेने की नीति लागू की है और यह सभी राज्यों का स्तर अधिकाधिक एक-रूप बनाये रखने में काफी मददगार साबित हुआ है। इस समय नेशनल कांग्रेस पर भी अधिक दबाव डाला जा रहा है कि वह सार्वजनिक शिक्षा के लिए अधिक सहायता दे।

क्रमश.

[पृष्ठ ३६१ का शेषांश]

बाध्य कर देते हैं, उन का अध्ययन कीजिए और उन्हें ही अपने पारस्परिक व्यवहार में भी लाइए। इससे बढ़ कर शिक्षा आपको अन्यत्र नहीं मिलेगी।'

उसी रात राज्य के प्रत्येक गृहस्थ ने—किसी ने स्वप्न और किसी ने जाग्रत अवस्थाओं में अपने आगन में एक निर्वर्णीय सुन्दर बाल-मूर्ति के प्रकट हो कर कहते सुना ‑

'जैसा स्निग्ध, निष्कपट, उदार, क्षमापूर्ण एव न्याय-अधिकार और आदान प्रदान की तुलनाओं से मुक्त व्यवहार तुम मेरे साथ करते हो वैसा ही आपस में भी करने की प्रेरणा में तुम्हें देता हूं। जिस दिन तुम इस प्रेरणा को ग्रहण कर सकोगे उसी दिन से तुम्हें लोक-व्यवहार का कोई अन्य पाठ सीखने की जरूरत न रह जायगी।'

मैत्रेय ऋषि की शिक्षण व्यवस्था की यह कथा किसी इतिहास पुराण में अभी तक नहीं आयी है किंतु सुना है कि मानव जनों की शिक्षा-व्यवस्था से अब भी उन का कुछ विशेष सम्बन्ध बना हुआ है और मानव-शिशुओं को वे अब भी एक विशेष स्नेह-सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

बालक और संस्कार

बात को तूल दिया जाय तो बहुत बड़ी है, नहीं तो हँसकर टाल सकते हैं। बचों की बातें यों टाली ही जाती हैं।

श्री जमनालाल जैन

बच्चे का स्कूल और पिता का दफ्तर पास-पास ही है। पर और स्कूल के बीच रेलवे लाइन पड़ती है। आवागमन के लिए बढ़िया पुल भी है। पुल से आना-जाना सुविधाजनक, सुरक्षित होता है। लेकिन आदमी का स्वभाव कुछ विचित्र, जल्दबाज या शार्टकट पसंद भी होता है। सो लोग पुल के बजाय रेलवे लाइन लांघकर आते-जाते हैं। मैंने एक दिन बच्चे से कहा कि देखो, रेलवे लाइन से मत आया-जाया करो। कभी-कभी धोखा हो जाने का डर है। लेकिन एक दिन उसने मुझे रेलवे लाइनलांघकर दफ्तर जाते देख लिया। वह स्कूल से लौट रहा था। उस समय तो हम दोनों अपनी अपनी राह चल निकले—एक दूसरे को देखते हुए; लेकिन शाम को वह पूछ बैठा, बाबू जी, आज आप पटरी पर से क्यों गये?

प्रश्न ऐसा था कि मेरे पास कोई उत्तर नहीं था और मैं था कि उसके चेहरे पर अपने मन की बहुत कुछ बातें पढ़ गया।

बात को दिया तूल दिया जाय तो बहुत बड़ी है, नहीं तो हंसकर टाल सकते हैं। बच्चों की बातें यों टाली ही जाती हैं।

टाल तो सकते है, लेकिन टालने से प्रश्न खतम तो नहीं होता है। प्रश्न यह है कि व्यवहार की गाड़ी पर सवार होकर जब हम जीवन की सड़क पर बढ़ चलते हैं, तब पग-पग पर जो समस्याएँ आती हैं, उनको कैसे निपटाया जाय?

सबेरे उठने से लेकर रात को नींद की गोद में पहुँचने तक का एक एक क्षण अनगिनत 'उतार-चढ़ावों से गुजरता है। और यों क्षणों पर क्षण बीतते' रहते हैं, जिंदगी की राह पूरी होती रहती है। पर समस्याएँ हैं कि उभरती-मिटती रह कर भी सदा-सदा के लिए बनी रहती हैं।

तुलसीदास जी बड़े पते की बात कह गये हैं कि सब से भले वे मूढ़ हैं जिन्हें जगत की कोई गति नहीं व्यापती, कोई समस्या नहीं छूती। तो क्या हम मूढ़ बन जायें? जगत की समस्याओं में यों उलझना तो कोई नहीं चाहता, पर उलझने के चक्कर में सभी दिखाई देते हैं। जड़ हम नहीं हैं, पर समझदार भी हैं क्या?

मैं भी बच्चे के उस प्रश्न को लेकर भीतर-भीतर टटोलता रहा। मैंने कहा न कि बात को तूल दिया जाय तो बड़ी बन जा सकती है। मैं भी इसमें उलझ गया और सो न सका।

यों बात संस्कारों पर जा टिकी। हम-आप सभी चाहते हैं कि बालक सस्कारी बनें, सभ्य और बुद्धिमान बनें। कल्पनाएँ करते हैं कि ऐसे सिखाया जाय, ऐसे पढ़ाया जाय, यह बताया जाय, वह दिखाया जाय। फिर भी बात कुछ बहुत बन नहीं पाती।

अपने को ही लूँ। क्या 'मैं' वही हूँ जो दिखाई देता है? मेरी शिष्टता, सभ्यता, मधुरता, मिलनसारिता जो दिखाई देती है, उसके पीछे कुछ ऐसा नहीं है जिसे दबाना, ढँकना, जरूरी हो? धर्म और अध्यात्म के बड़े-बड़े ग्रंथ मेरे सिरहाने रहते हैं, व्रत नियम, पूजा-पाठ का कमरा भी है, लेकिन क्या मेरा भीतर भी किसीने देखा है? जो खाने को मिल जाता है, वह इस तरह खा लेता हूँ कि आप समझें कि बड़े प्रेम से गले उतर गया है। आँखें तो भावुक हैं, पर कान तो बेचारे कुछ भी व्यक्त नहीं कर पाते! उनको पढ़ना तो टेढ़ी खीर है और मन? इसकी तो पूछिए ही मत। वह तो एक ही ठग है।

आदमी का भला-बुरापन और कौन जान सकता है? कहते हैं, आदमी अपने को ही नहीं जान पाता। मैं क्या अपने को बुरा समझता हूँ? अपनी रचना किसे अच्छी नहीं लगती? जब आदमी को बुराई का दर्शन

करने लगते हैं तब लगता है, कि उसमें अच्छाई भी होनी है ! जीवन क्या सचमुच उलटबांसी ही नहीं है ? सत्य का मुख सोन से ढका कहा जाता है पर क्या जीवन का चित्र भी परतों में दबा नहीं है ?

चाहते हैं कि बच्चा सस्कारी बने। लेकिन सस्कार उसमें डाले कैसे जायें ? माँ दूध पिलाती है खाना खिलाती है, नहलाती धुलाती है, प्यार पुचकार भी करती है। बच्चे को डाँटती भी है चाँटे भी लगाती, धमकाती, रुलाती भी है। क्या इन्हें सस्कार कहा जाय ?

बच्चा कुछ बड़ा होता है, तब पढ़ने लगता है। स्कूल जाता है। किताबें खरीदी जाती हैं। कथा-कहानियाँ, चरित्र कथानक पढ़ता है। गीता रामायण, कथा-पुराण का पाठ कराया जाता है। अहिंसा, सत्य आदि गुणों का महात्म्य समझाया जाता है। सामाजिक शिष्टाचार, लोक व्यवहार की सीख दी जाती है। कहते है इनसे जीवन का निर्माण होता है, आदमी का एक ढाँचा तैयार होता है, स्वरूप निखरता है। यों पत्थर का टुकड़ा प्राणवान मूर्ति बन जाता है। यह निखार भी सस्कार ही माना जाता है शायद।

लेकिन पोथियों का भार लाद कर भी प्रेम का ढाई अक्षर पच नहीं पाता है। लाख लाख यत्न करके भी समझ में नहीं आता है। शिकायतें सुनने को मिलती हैं कि रोज-ब रोज दुघटनाएँ ऐसी होती हैं कि आदमियत शर्मा जाय। कमियों दुर्गुणों और दुर्बलताओं की कहाँ कमी है ? हजारों वर्षों का ज्ञान ? सचित करके भी आदमियत पर शोध बढ़ती जा रही है।

सोचता हूँ कि सोचना सब बेकार है। कानून बनते हैं धर्म-ग्रंथ रास्ता बताते हैं माँ-बाप की निगरानी रहती है फिर भी आदमी है कि आपे से बाहर हुआ जाता है। कहीं किसी की पटती नहीं कहीं किसी का सहयोग नहीं। सब अपने म अपने को लेकर ही परेशान।

एक सस्कार यह भी है कि बच्चे स्वच्छता, सुघड़ता नियमितता सीखें। सीखते तो होंगे ही। किंतु सीख सीख कर भी वैर जहाँ के तहाँ ठिठके दीखते हैं। सब के चेहरे अलग, भावनाएँ अलग-अलग। हर माँ-बाप परेशान कि उनका लड़का कहे में नहीं।

हम बालक पर गुस्सा हों तो वह क्या सीखेगा ? हमारा गाली गलौज उसे क्या बनायेगा ?

ऐसी सैकड़ों चीजें वह हम से ही पाता है। इनकी सीख हम नहीं देते हैं, पर वह ग्रहण करता है। क्योंकि हमारे लिए ऐसी क्रियाओं में अस्वाभाविकता नहीं रह गयी। हम बच्चों को डराते हैं क्योंकि हम स्वय ही इन से डरते हैं। यह हमारी स्वच्छन्दता की बाढ़ होता है।

सस्कारों की परतें इतनी अधिक है कि उधेड़ते जाइए हाथ कुछ नहीं लगता। ऊँची दुकान और फीका पकवान। पहाड़ खोदिए मरी चुहिया भी शायद न मिले। दो सगे भाइयों का स्वरूप भी एक दूसरे से अनोखा, भिन्न मिलेगा। सस्कारों का फार्मूला या नियमावली बनाकर गले में टांग देना ऐसा ही है जैसे गधे की पीठ पर शक्कर की बोरी लाद देना।

घर गृहस्थी के काम-काज, परिवार के व्यवहार और रहन सहन से ही बालक अपने जीवन का भवन खड़ा करता है।

अपने दिमाग पर से कल्पित 'सस्कारों' का बोझ उतार दें, तब देखिए हमारा असली स्वरूप कितना सुहाना, कितना रम्य हो उठता है। चट्टान की मूर्ति बना कर उसकी पूजा ही की जा सकती है ! वह न उठायी जा सकती है, न उपयोग में ही आ सकती है। अपनी रुचि का जामा पहना कर हम हर चीज की स्वाभाविकता और सौंदय खतम कर डालन म कुशल हैं। हम पाता है कि व्यक्तित्व स्वय सस्कार है बाकी सब तो समय के साथ बह जानेवाली बातें हैं।

कबीर ने कहा था कि भाषा तो बहता नीर है। उसे कूप-जल नहीं बनने देना चाहिए। यही बात हमारे जीवन पर भी लागू होती ह। हम अपने सतान को क्या बनाना चाहते हैं ? बनाने का मत सोचिए। उ हें अपन आप बनने दीजिए। उनके बनने म आपकी कृतियाँ आपका व्यवहार आपकी हर प्रवृत्ति उ हें आंदोलित, गतिशील बनाती है।

असल में तो बालक ही हमें बनाता है। हम बुनियाद ह, वह कलश। हमारे घिसन, दबने म ही उसका चमकना ह। हमार मिटने म ही उसका विकास है। हमको भुला देन म ही उसका गौरव ह।

●

कभी-कभी बेचारी मा को चम्मच और कटोरी लेकर बच्चे के पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता है। बच्चे की यह शरारत मां के लिए समस्या बन जाती है। वह सोच नहीं पाती कि क्या करे।

प्रेम का जुल्म

श्री राममूर्ति

खिलाने पिलाने के मामले में हम लोग अक्सर बच्चों पर प्रेम का जुल्म करते हैं। रुचि, समय या मात्रा का ध्यान न रख कर खिलाते जाना अविवेक का काम है। कई माताएं पीट-पीटकर खिलाती हैं। कभी-कभी बच्चा कै तक कर देता है फिर भी खिलाती जाती हैं। पूरा खाना खिला देने के बाद भी जेब में खाने की कोई चीज भर कर बाहर खेलने के लिए भेजना सामान्य अनुभव की बात है। कई बार बच्चे को अन्न से या दूध से या और किसी चीज से अरुचि हो जाती है, ऐसे समय जबरदस्ती करना अत्यन्त अहितकर है। ऐसा भी होता है कि अगर बच्चे ने कम दूध पिया तो हम चिन्तित हो उठते हैं। दूध बहुत अच्छी चीज है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मात्रा का ध्यान न रखा जाय। १२ छटाक दूध एक से लेकर ३ वर्ष तक के किसी भी बच्चे के लिए काफी है। इससे अधिक पिलाने की क्यों जिद की जाय? दूध के लिए समय समय पर अरुचि हो जाना सामान्य बात है, उसकी वजह से चिंता नहीं होनी चाहिए। दो-चार दिन में रुचि वापस आ जाती है, और अगर न आये तो दही, मठा या दूध की कोई दूसरी चीज बना कर देनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे को कोई चीज फुसला कर या दबाव डाल कर खिलाने की कोशिश न की जाय। जरूर अगर बच्चा ज्यादा दिन तक खालिस या किसी दूसरे रूप में दूध न ले तो डाक्टर से पूछ कर 'कैल्शियम' देना चाहिए, नहीं तो स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है।

बच्चे के जीवन में भोजन की समस्याएं सब से अधिक एक और दो वर्ष की आयु के बीच में होती हैं। इस उम्र में बच्चे के खान-पान को लेकर मा जितना ही अधिक परेशान होती और खीझती है उतना ही अधिक बच्चा उसे परेशान करता है। मा और बच्चे के बीच का यह तनाव कभी-कभी वर्षों तक जारी रहता है और कई तरह के दूसरे तनावों का कारण बनता है।

खाना खाने के बारे में सही रुख यह है कि बच्चे को यह महसूस कराया जाय कि भोजन के बारे में सब से अधिक खुद उसको चिंता होनी चाहिए। ऐसा क्यों हो कि मा खिलाने के लिए पीछे-पीछे दौड़ती फिरे और बच्चों को उसे परेशान करने में मजा आये? एक काम यह करना चाहिए कि जो चीजें उसे पसंद हैं उनकी कुछ अधिक मात्रा बना कर दी जाय। क्या खाया जाय और क्या नहीं, इसका निर्णय बच्चा प्राय खुद कर लेता है। मा को इस के लिए तैयार रहना चाहिए कि बच्चे का पसंद जल्दी जल्दी बदलता है। कुछ भी हो, अगर विशेष शारीरिक या मनोवैज्ञानिक उलझन नहीं है तो कुछ हेर फेर के साथ बच्चा अपने लिए संतुलित भोजन तय कर ही लेता है। अगर ऐसा नहीं होता है तो डाक्टर से राय लेनी चाहिए।

मा के लिए एक बड़ी समस्या तब हो जाती है जब बच्चा खाना तो चाहता है लेकिन खेलना नहीं छोड़ना चाहता। कभी-कभी बेचारी माँ को चम्मच और कटोरी लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता है। बच्चे की यह शरारत माँ के लिए समस्या बन जाती है। वह सोच नहीं पाती कि क्या करे। देखा यह जाता है कि ज्यों ही बच्चों के पेट में कुछ पड़ जाता है उसे खेल सूझने लगता है, जब तक पेट खाली

रहता है, खेल आदि कुछ नहीं सूझता। इस लिए जब यह मालूम हो जाय कि बच्चे की रुचि खाने से अधिक खेल में हो रही है तो खाना उसके सामने से हटा लेना चाहिए। ऐसा करने पर बच्चा हठ जरूर करेगा, लेकिन दृढ़ता से काम लेना चाहिए। अगर यह मालूम हो कि बच्चा सचमुच दुबारा खाना चाहता है तो एक मौका और दे दीजिए लेकिन इस बार भी उसका वही हाल रहे तो दूसरा मौका मत दीजिए। ऐसा करने से यह होगा कि बच्चे को आदत पड़ेगी कि वह पहले जरूरत-भर भोजन कर ले, उस के बाद खेल में लगे। कभी-कभी एक साल का बच्चा खाने की किसी चीज में उंगली डाल देता है। यह मत सोचिए कि ऐसा वह शरारत के मारे कर रहा है; सचमुच उसके इंद्रिय-ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है। वह समझने की कोशिश कर रहा है कि जिस खाने को उसे खिलाया जाता है वह छूने में कैसा है।

इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि बच्चा जल्द से जल्द अपने हाथ से खाने लगे। अपने हाथ से खाने की क्षमता एक साल से कम के बच्चे में भी आ जाती है, और दो साल के बच्चे में भी नहीं आती। शुरू की शिक्षा में अपने-आप भोजन करने का अभ्यास बहुत महत्व का स्थान रखता है। माता-पिता ध्यान रखें तो अधिकांश बच्चे डेढ़ साल की उम्र तक अपने-आप खाने लगेंगे। जब अभ्यासक्रम में बच्चा कुछ खाना गिरायेगा, कपड़े खराब करेगा, लेकिन इन सब बातों को धैर्य के साथ बरदाश्त करना चाहिए और उसे इस कला को सीखने का पूरा मौका देना चाहिए। थोड़ा वह खुद खाए और थोड़ा मां खिलाये, यह नीति ठीक नहीं है। जब वह एक चीज खुद खा सकता है, तो बाकी चीजें भी हमें उसी को खाने देना चाहिए। मुख्य बात यह है कि बच्चा इस कला को सीखना चाहता है और हमें चाहिए कि हम उसे पूरा अवसर दें। ●

[पृष्ठ १५३ का शेषांश]

कौन सी दवा दी जायेगी, तथा उस दवा के क्या गुण-दोष हैं। वे उपलब्ध कहां से होती हैं? क्या उनके निवारण का कोई देशी तरीका भी है?

धान के पौधे का हवा और वर्षा से गिरना तथा उनसे बचाव के उपाय। धान की कटाई, ढुलाई दवाई के तरीके, मजदूरी व काम का हिसाब। कुल पैदावार। प्रति एकड़ उपज तथा कितने खर्च में कितना धान हुआ?

आ० बरसाती सब्जियां—

अपने यहां जितनी सब्जियां बोयी जायगी उनकी जानकारी करना। किस सब्जी के लिए कैसी भूमि चाहिए। बरसात में और कौन-कौन सी सब्जी हो सकती है पर यहां नहीं होती। यहां पर जो सब्जियां होंगी उनके गुण-दोष बताना तथा कौन सी सब्जी किस हालत में गुणकारी और किस हालत में अवगुणकारी होती है। किस सब्जी को कैसे पकायें तथा ... दोष का शमन कैसे हो?

२—सामाजिक पर्व व उत्सव

इन चार महीनों में जितने भी उत्सव पड़ें उनकी जानकारी कराना। वे उत्सव निम्नलिखित हैं—

१–१ जून—दादाभाई नौरोजी, पुण्यतिथि
२–२ जून—मुहर्रम
३–७ जून—संत कबीर जयन्ती
४–१८ जून—रानी लक्ष्मीबाई उत्सर्ग दिवस
५–६ जुलाई—चन्द्रग्रहण
६–२५ जुलाई—नागपंचमी
७–२७ जुलाई—तुलसीदास जयन्ती
८–१ अगस्त—लोकमान्य तिलक पुण्यतिथि
९–५ अगस्त—रक्षा बन्धन
१०–७ अगस्त—रवीन्द्र पुण्यतिथि
११–९ अगस्त—"भारत छोड़ो" आन्दोलन दिवस
१२–१२ अगस्त—श्री कृष्ण जन्माष्टमी
१३–१५ अगस्त—स्वतन्त्रता दिवस
१४–११ सितम्बर—विनोबा जयन्ती
१५–२८ सितम्बर—विजयादशमी

इन उत्सवों के प्रसंग में संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, आदि की सामान्य जानकारी दी जा सकती है। ★

गुरुजी की छड़ी

हम बच्चे को बनाना क्या चाहते हैं— कायर या साहसी ?

श्री कृष्ण कुमार

माँ के बहुत कहने पर रमेश स्कूल जाने को तैयार हुआ। उसे स्कूल तक पहुँचाने के लिए मा को भी उस के साथ जाना पड़ा। मा रमेश को स्कूल में गुरु जी को सुपुर्द कर के चली आयी।

रमेश के लिए स्कूल का वातावरण अपरिचित, स्कूल के लड़के अपरिचित, हाथ का स्लेट और पैंसिल, सब अपरिचित, इस अपरिचित वातावरण में वह खुद खो जाता है। किसी से बोले भी कैसे! शर्मीला जो ठहरा। आँख उठा कर किसी को देखना चाहते हुए भी देखता नही है। अवसर पा कर कनखियों से, कभी-कभी गुरुजी को देख लिया करता है।

गुरु जी ने रमेश को बैठने के लिए एक जगह बता दी। वह अपने साथ लाये बोरे के टुकड़े पर बैठ गया। गुरु जी ने उसे क, ख, ग, घ, स्लेट पर लिख कर दे दिया है। वह स्लेट पर लिखे अक्षरों को देखता है लेकिन लिख नहीं पाता है। पहले वह इस नये वातावरण से परिचित होना चाहता है। उसने देखा कि गुरु जी छड़ी लिए उसकी ओर आ रहे हैं। लेकिन वह उसके पास न आ कर उसकी बगल में बठे लड़के के पास आये। उन्होंने उस लड़के से कुछ पूछा जिसे रमेश ने नहीं समझा। इतने में रमेश ने देखा कि गुरु जी उस लड़के को पीट रहे हैं, और डाट-डाट कर कह रहे हैं—'कल अगर पाठ याद करके नही आया तो चमड़ी उधेड़ दूंगा।'

चार बजा। स्कूल की छुट्टी हुई। रमेश घर आया। आते ही उसने अपनी मा से कहा, 'कल से मैं स्कूल नही जाऊंगा।' 'क्यों' ? 'क्योंकि गुरु जी छड़ी से मारते हैं।' 'क्या तुमको उन्होंने मारा है ?' 'नहीं, एक दूसरे लड़के को मार रहे थे। मुझे भी मारेंगे।'

स्कूल के पहले दिन का पाठ क्या मिला ? गुरु जी की छड़ी का भय। दूसरे दिन स्कूल न जाने पर मा ने उसे पीटा और उसे स्कूल पहुंचा आयी। एक तरफ स्कूल में गुरु जी की छड़ी का भय और दूसरी तरफ मा के थप्पड़ का भय। पाठ याद नहीं है-छड़ी बच्चे आपस में लड़ पड़े-छड़ी, समय से स्कूल नहीं पहुँचे-छड़ी जब देखो, छड़ी ही छड़ी।

सोचना यह है कि आखिर हम बच्चे को बनाना क्या चाहते हैं। बच्चे को कायर बनाना चाहते हैं या साहसी ? और साहसी बनाना चाहते है तो उस की प्रक्रिया क्या यही होगी ? छड़ी का भय कायरपन ही सिखा सकता है, वीरता नही।

लोअर प्राइमरी स्कूल हो, या मिडिल स्कूल हो या हाई स्कूल—शायद ही ऐसा कोई स्कूल हो जहा छड़ी का इस्तेमाल न होता हो। कुछ ऐसे स्कूल होंगे जहा छड़ी का उपयोग कम होता होगा, और कुछ ऐसे शिक्षक होंगे जो छड़ी को उपयोग या तो कम करते होंगे या बिल्कुल ही नहीं करते होंग, लेकिन आमतौर से ऐसा नही है।

कोई भी शिक्षा शास्त्री आज यह कहने को तैयार नही होता कि छड़ी का उपयोग शिक्षा का आवश्यक अंग है, बल्कि अब तो यही कोशिश हो रही है कि छड़ी का इस्तेमाल कम से कम हो या बिल्कुल न हो। और यह बड़ी खुशी की बात है कि इसका इस्तेमाल कम हो रहा है। लेकिन सवाल यह है कि छड़ी का इस्तेमाल कम किया जाय या छड़ी शिक्षक के हाथ में कभी आये ही नही। छड़ी नाम की कोई चीज शिक्षक के हाथ में हो ही क्यों ? क्या वह जानवरों की रखवाली कर रहा है कि डंडे की आवश्यकता हो ? एक स्कूल नही, अनेक स्कूलों में जाने

: दूसरा चित्र :

१ कृषियोग्य भूमि में वृद्धि	७ प्रतिशत
सिंचित क्षेत्र में वृद्धि	११ प्रतिशत
दो फसलवाले क्षेत्र में वृद्धि	१५ प्रतिशत
जन-संख्या में वृद्धि	४१ प्रतिशत

२ देश की कुल कार्यकारी शक्ति का खेती में उपयोग—

१९०१ में ६२ प्रतिशत

१९५१ में ७० प्रतिशत। केवल ग्रामीण जनता की शक्ति का अनुपात निकालें तो वह ८७ प्रतिशत है।

३ शक्ति का अपव्यय—

आज जितना उत्पादन हो रहा है उतने के लिए आज लग रही शक्ति का ६५ से ७५ प्रतिशत ही पर्याप्त है अर्थात् आज कृषि पर कुल लगभग ६ करोड़ ८० लाख लोगों का अतिरिक्त भार है जो अनावश्यक है।

४ लाभकारी काम का अनुपात—

काम कर सकनेवाले कुल लोगों में लाभदायी काम आज—

२ करोड़ लोगों के पास	प्रतिदिन १ घण्टे से कम है
४ करोड़ ५० लाख लोगों के पास	प्रतिदिन ४ घण्टे से कम है,
३ करोड़ के पास	महीने में ५ दिन से कम है,
३ करोड़ ९० लाख लोगों के पास	महीने में १० दिन से कम है,
५ करोड़ ३० लाख लोगों के पास	महीने में १५ दिन से कम है।

५ कृषि-श्रमिकों के पास काम—

	१९५१ में	१९५६ में
पारिश्रमिक पर काम के दिन	२००	२०७
स्वतंत्र धंधे के दिन	७५	४०
बेकारी के दिन	९०	११८

६ खेतिहर मजदूर की आमदनी—

	१९५१ में	१९५६ में
वार्षिक आमदनी	रु० १०४	रु० ९९४

१५ प्रतिशत आबादी की आमदनी आज २५ नये पैसे दिन से कम है।

(राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण रिपोर्ट के आधार पर)

●

: दूसरा चित्र :

१ कृषियोग्य भूमि में वृद्धि — ७ प्रतिशत
सिंचित क्षेत्र में वृद्धि — ११ प्रतिशत
दो फसलवाले क्षेत्र में वृद्धि — १५ प्रतिशत
जन-संख्या में वृद्धि — ४१ प्रतिशत

२ देश की कुल कार्यकारी शक्ति का खेती में उपयोग—

१९०१ में ६२ प्रतिशत

१९५१ में ७० प्रतिशत। केवल ग्रामीण जनता की शक्ति का अनुपात निकालें तो वह ८७ प्रतिशत है।

३ शक्ति का अपव्यय—

आज जितना उत्पादन हो रहा है उतने के लिए आज लग रही शक्ति का ६५ से ७५ प्रतिशत ही पर्याप्त है अर्थात् आज कृषि पर कुल लगभग ६ करोड़ ८० लाख लोगों का अतिरिक्त भार है जो अनावश्यक है।

४ लाभकारी काम का अनुपात—

काम कर सकनेवाले कुल लोगों में लाभदायी काम आज—

२ करोड़ लोगों के पास	प्रतिदिन १ घण्टे से कम है,
४ करोड़ ५० लाख लोगों के पास	प्रतिदिन ४ घण्टे से कम है,
३ करोड़ के पास	महीने में ५ दिन से कम है,
३ करोड़ ९० लाख लोगों के पास	महीने में १० दिन से कम है,
५ करोड़ ३० लाख लोगों के पास	महीने में १५ दिन से कम है।

५ कृषि श्रमिकों के पास काम—

	१९५१ में	१९५६ में
पारिश्रमिक पर काम के दिन	२००	२०७
स्वतन्त्र धंधे के दिन	७५	४०
बेकारी के दिन	९०	११८

६ खेतिहर मजदूर की आमदनी—

	१९५१ में	१९५६ में
वार्षिक आमदनी	रु० १०४	रु० ९९४

१५ प्रतिशत आबादी की आमदनी आज २५ नये पैसे दिन से कम है।

(राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण रिपोर्ट के आधार पर)

सर्व-सेवा-संघ का नया साहित्य

आश्रम दिग्दर्शन : विनोबा

जुलाई १९६२ में विनोबाजीने आश्रम-वासियों के बीच विविध दृष्टिकोणों से अपने विचार रखे थे। उन्हीं प्रवचनों को विषयवार सुसंपादित और संकलित करके यह पुस्तिका प्रकाशित की गयी है। इसमें आश्रम-जीवन के महत्त्व, व्रत-विचार, प्रार्थना, साधना, कर्मयोग, दिनचर्या आदि पर सूक्ष्म और प्रेरक विचार हैं। पृष्ठ ११४, मूल्य रु० १-००

चीन-भारत सीमा-संघर्ष : विनोबा

चीन-भारत संघर्ष के सम्बन्ध में विनोबाजी के विचारों का यह संकलन पहली बार प्रकाशित हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में, अहिंसा की खोज की दिशा में विनोबाजी के विचारों को जानने की जिज्ञासा आज जन-मानस में तीव्र है। अहिंसक शक्ति की खोज में आज के शस्त्रास्त्र और युद्ध कैसे बेकार हैं, यह अनुभूति विनोबाजी के विचारों से सहज होती है। पृष्ठ ८०, मूल्य रु० ०-५०

रुहुल कुरान (उर्दू) : विनोबा

विनोबाजी ने इधर काफी समय लगाकर कुरान का जो सार तैयार किया है, उसका उर्दू संस्करण प्रेस में है और वह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। अंग्रेजी के दो संस्करण हाथोंहाथ बिक गये।
लगभग ४०० पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक का दाम सिर्फ रु० ५-००

जातिवाद और कौमवाद : श्रीकृष्णदत्त भट्ट

विषय नाम से स्पष्ट है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखनी के धनी श्री भट्टजी ने जातिवाद और कौमवाद पर खुले मन से विचार किया है और बताया है कि इसके कारण भारतीय समाज को कब-कब कितनी हानियाँ उठानी पड़ी हैं। पृष्ठ ७२, मूल्य रु० ०-५०

भूदान-यज्ञ का युग-विशेषांक निःशुल्क लीजिए

भूदान यज्ञ हिन्दी के नये बनने वाले ग्राहकों को यह २) मूल्य का ११२ पृष्ठ का महत्त्वपूर्ण विशेषांक निःशुल्क दिया जा रहा है। प्रतियाँ सीमित हैं। ग्राहक शीघ्रता करें। वार्षिक शुल्क रु० ६·००

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
मई १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

बस, इतनी ही मांग?

रात को जब गाँव में लगभग सोना पड़ गया तो एक आदमी आया। मैं सोने जा रहा था।

'कहाँ से आये हो?' मैंने पूछा।

'मुसहर टोले से।'

'किस लिए आये हो?'

'आप से हाथ जोड़ कर यह कहने कि कल सुबह हमार टोले में सूरज निकलने निकलते आइएगा। क्या आइएगा?'

'जरूर आऊँगा।'

मैं 'नहीं' नहीं कह सका, इस लिए 'हां' कह दिया।

कुछ देर तक मैं सोचता रहा, फिर सो गया। सुबह मुसहर टोले में गया तो देखता हूँ कि चारपाई बिछी हुई है और बीस पचीस मर्द, औरत, बच्चे घेरकर बैठे हुए हैं। मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। पहुँचते ही लोटे का पानी मिला, गिलास भर दूध आया।

'क्या तुम्हारे यहाँ दूध होता है?' मैंने आश्चर्य के साथ पूछा।

'नहीं, खरीद लाये हैं।'

पैसा पास था?'

'नहीं आठ आना उधार लाये थे।'

'कर्ज क्यों लिया?'

'कर्ज में तो जिंदगी ही बीत रही है, लेकिन आप तो रोज नहीं आयेंगे।

इस तर्क का क्या जवाब था?

'अच्छा बताओ, क्यों बुलाया है?'

'एक माँग है।'

'क्या?'

'माँग इतनी ही है कि हम सब लोग गाँव से भाग जाना चाहते हैं लेकिन मालिक जाने नहीं देते। रात को यहाँ पहरा बिठा देते हैं।'

'आखिर भागने की क्या बात है?'

सब चुप हो गये। कुछ देर बाद बुढ़िया बोली—'सहते सहते कलेजा फट गया। बाबू, अब नहीं सहा जाता तो सोचते हैं भाग ही जाँय।'

पूछा—'बस इतनी ही माँग है?'

'हां इतनी ही।'

'कौन मालिक है?'

जो शाम को आप की सभा में सभापति थे, सामने उनकी कोठी है'—एक बीस इक्कीस साल का जवान बोला।

मैं जानता तो नहीं पर शायद ही उन मुसहरों की माँग पूरी हुई हो। —राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अ० भा० सर्व सेवा संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
केवल कवर-मुद्रक खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ २००० इस मास छपी प्रतियाँ १८५०

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सम्पादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक ११

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-५०

जून १९६३

नयी तालीम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरंभ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता

नयी तालीम
अ० भा० सर्व सेवा संघ राजघाट,
वाराणसी-१

अनुक्रम

वर्ष : ११]

नयी तालीम

[अंक : ११

बुनियादी शिक्षा असफल क्यों ?

ता० ११ से १४ जून तक भारतीय कृषि-अनुसन्धान-परिषद की ओर से शिमला में बुनियादी शिक्षा पर एक परिसंवाद का आयोजन हो रहा है। इस परिसंवाद में बुनियादी शिक्षा के माध्यम के रूप में कृषि को दाखिल करने के प्रश्न पर चर्चा होगी। यह एक शुभ-सूचना है। आशा है, विद्वद्जनों की इस गोष्ठी का परिणाम देश की शिक्षा पर अच्छा होगा।

पिछले दो साल से देश के नेता यह महसूस कर रहे हैं कि बुनियादी तालीम या तो ठीक, से चलायी नहीं गयी और चलायी गयी तो उसमें सफलता नहीं मिली। अभी उस दिन पार्लियामेंट में चर्चा के दौरान केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री डा. के. एल. श्रीमाली ने कहा कि बुनियादी शिक्षा सफल नहीं हुई है। चर्चा में जितने कारण बताये गये हैं उनमें मुख्य कारण यह रह गया है कि बुनियादी शिक्षा की जो परिकल्पना थी उसे ठीक ढंग से अमल में नहीं लाया गया और उसके अमल में लाने के लिए योग्य शिक्षकों का अभाव रहा।

प्रारम्भ से ही बुनियादी शिक्षा के प्रश्न पर नेताओं तथा राज्यकर्ताओं में मतभेद रहा है; लेकिन आज असन्तोष उनमें भी है, जो बुनियादी शिक्षा के कायल थे। देश के उपराष्ट्रपति डा० जाकिर हुसेन साहब तो योजना के जन्मदाताओं में से एक हैं। डा० श्रीमाली बुनियादी शिक्षा के निष्ठावान सेवक रहे हैं। आज भी इस शिक्षा-पद्धति पर उनकी निष्ठा भरपूर है। ऐसे लोगों का असन्तोष निस्सन्देह एक गम्भीर विचार का प्रश्न हो गया है।

जब शिक्षा-जगत के नेता बुनियादी शिक्षा पर पुनर्विचार करने बैठे हैं तो उन्हें इस शिक्षा की बुनियाद पर से ही सोचना होगा। शिक्षा के माध्यम के रूप में कौन सा उद्योग होगा ? अभ्यासक्रम तथा पाठ्यक्रम में कहाँ कहाँ परिवर्तन करना चाहिए ? शिक्षकों की योग्यता क्या हो इत्यादि प्रश्न महत्व के हैं, लेकिन मुख्य नहीं हैं। मुख्य प्रश्न है—शिक्षा का लक्ष्य और उसके पीछे का सामाजिक विचार। वस्तुतः बुनियादी शिक्षा की असफलता का कारण योग्य शिक्षकों का अभाव उतना नहीं है, जितना सही लक्ष्य तथा सामाजिक विचार का अभाव।

हर देश और काल में शिक्षा-पद्धति की परिकल्पना सामाजिक विचार के आधार पर ही की जाती है। हमने अपने देश में लोकतन्त्र को ही अपना सामाजिक विचार माना है। लोकतन्त्र में दो मुख्य आवश्यकताएँ मानी गयी हैं—

१. प्रत्येक बालिग का बौद्धिक तथा वैचारिक स्तर कम-से-कम इतना हो, जिससे वह विभिन्न व्यक्ति और पक्ष द्वारा घोषित नीतियों का विश्लेषण कर राय कायम कर सके।

२. चुने हुए लोगों के अधिकार पर चले जाने के बाद उस अधिकार के दुरुपयोग पर जनता में उसके प्रतिरोध की शक्ति हो।

अर्थात हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जिससे हरेक बालिग लोकतन्त्र के लिए

सुशिक्षित नागरिक हो सके। इसके लिए आवश्यक होगा कि देश का आर्थिक तथा राजनीतिक ढाँचा क्या हो, यह स्पष्टता के साथ स्थिर हो। गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा की परिकल्पना अपनी सामाजिक कल्पना के आधार पर की थी। उन्होंने लोकतन्त्र का अर्थ यही माना था कि जनता अपने नित्य जीवन के लिए किसी केन्द्र के नियन्त्रण में न रहे, क्योंकि वे मानते थे कि जब तक समाज अपने नित्य जीवन के लिए केन्द्र निरपेक्ष न हो जाय तब तक वह केन्द्रीय अधिकार के उपयोग पर प्रत्यक्ष प्रतिरोध की शक्ति हासिल नहीं कर सकेगा। अतः उन्होंने हिन्द-स्वराज्य की अर्थ-नीति विकेन्द्रित औद्योगीकरण हो, ऐसा कहा और उसी को अपने परिकल्पित शिक्षा का माध्यम बनाया। निस्सन्देह ऐसे औद्योगीकरण का अनुबन्ध कृषि से ही हो सकता है क्योंकि भारत की विशिष्ट परिस्थिति में जनता का आर्थिक जीवन कृषि मूलक ही रहेगा, अतः शिमला के परिसंवाद में शिक्षा के माध्यम के रूप में कृषि को मूल उद्योग मानकर चर्चा रखी गयी है, यह उचित ही है।

लेकिन इतना काफी नहीं है। आज जनता और राज्यकर्त्ता की मान्यता ऐसी नहीं है कि देश में शिक्षा का ध्येय स्वतन्त्र नागरिक बनने का हो। वे शिक्षा की परिकल्पना नौकरी के ध्येय को ही रखकर बनाते हैं। ऐसा न हुआ होता तो पाठ्यक्रम में तीसरे दर्जे में ही अंग्रेजी का समावेश न हुआ होता। जबतक यह मान्यता बदली नहीं जायेगी तब तक शिक्षण-काल में कृषि या अन्य किसी उद्योग में दक्षता हासिल करने की दिलचस्पी नहीं होगी। अगर शिक्षा समाप्ति के बाद नौकरी ही करनी है तो कृषि तथा उद्योग में लगाकर समय का अपव्यय क्यों किया जाय, ऐसा सोचना स्वाभाविक होगा। आज इस चिन्तन के फलस्वरूप शिक्षाक्रम में जो कुछ समय कृषि आदि उद्योगों के लिए दिया जायेगा वह अभिभावक, शिक्षक तथा छात्र सबके लिए भाररूप होगा। इस प्रकार भाररूप कार्यक्रम शिक्षा का माध्यम नहीं हो सकता है, यह स्पष्ट है।

मान्यता परिवर्तन के लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि देश के नेता मुल्क में ऐसा वातावरण बनायें, जिससे कृषि-उद्योग आधारित जिन्दगी समाज में प्रतिष्ठित हो। यह तभी हो सकेगा जब समाज के प्रतिष्ठित जन इन कार्यक्रमों को अपने जीवन का पेशा बना सकेंगे। प्रतिष्ठा श्रम को टालने में हो और शिक्षा का मूल आधार श्रम हो, यह विसंगति नहीं चल सकती।

दूसरी आवश्यकता यह है कि जनता के मन में इस बात का विश्वास हो कि कृषिमूलक औद्योगिक जीवन आर्थिक समृद्धि का जरिया हो सकता है। यह तभी होगा जब देश के वैज्ञानिक तथा दूसरे विद्वान पैसे के रूप में इसे अपना कर आकर्षक जीवन स्तर का प्रदर्शन कर सकें।

जनता की मान्यता यह है कि "उत्तम चाकरी मध्यम बान, निषिद्ध खेती भीख निदान। इस मान्यता के बदले जब तक उत्तम खेती की मान्यता अधिष्ठित नहीं होगी तब तक शिक्षा के माध्यम के रूप में कृषि को अपनाना आकर्षक नहीं होगा।

मुझे आशा है, शिमला के परिसंवाद में जहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप में कृषि को अपनाने पर चर्चा होगी वहाँ उपर्युक्त सामाजिक पहलू पर भी गम्भीर चर्चा हो सकेगी और देश के नेता तथा विद्वद्जन कृषिमूलक औद्योगिक जीवन के लिए अग्रसर होकर जनता का सही नेतृत्व कर सकेंगे।

—धीरेन्द्र मजूमदार

★

देश के संकट के सन्दर्भ में

राष्ट्रीय शिक्षा में उत्पादक श्रम

श्री राधाकृष्ण

सामाजिक न्याय, सदाचार और सहकारिता से ओतप्रोत जीवन की शिक्षा को हमारी शिक्षा-योजना का प्राणतत्व होना चाहिए और शिक्षा का सम्बन्ध देश की गरीबी, भूख और विषमता के साथ, उन्हें दूर करने के कारगर साधन के रूप में होना चाहिए।

भारत-चीन संघर्ष से उत्पन्न संकट के कारण शिक्षा और विकास-कार्यों के व्यय में भी कटौती करने का विचार देख कर शिक्षा-जगत को धक्का लगना स्वाभाविक था, लेकिन राष्ट्र-नेताओं के ध्यान में आया कि देश को मजबूत बनाने की दृष्टि से शिक्षा-व्यय में कमी करना उचित नहीं है। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि यदि भारतीय समाज को 'उद्योगशील' बनाये रखना है तो शिक्षा का अनुबन्ध उत्पादक श्रम के साथ जोड़ना भी आवश्यक है। यह निर्णय सराहनीय है और इसके लिए सरकार धन्यवाद की पात्र है।

वातावरण की अनुकूलता

गांधीजी के समय से ही उत्पादक श्रम को शिक्षा का माध्यम बनाने के विचार पर रचनात्मक क्षेत्र में काफी जोर दिया जाता रहा, लेकिन स्वावलम्बन, उत्पादन-कुशलता आदि सभी पहलुओं से बुनियादी शिक्षा की सफलता जिस मात्रा में अपेक्षित थी उस मात्रा में वह देखने में नहीं आयी और व्यापक पैमाने पर उस ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। आज देश के संकट कालीन स्थिति के कारण ही क्यों न हो, शिक्षा में उत्पादक श्रम को स्थान देने का विचार कार्यरूप लेने जा रहा है, निश्चय ही यह स्वागत के योग्य है। प्रौढ़शालाओं में उत्पादक श्रम पर जोर देने से माध्यमिक शालाओं के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो सकेगा और धीरे धीरे उत्पादक श्रम को शिक्षा का प्रमुख अंग ही नहीं, शिक्षा का माध्यम भी स्वीकार किया जा सकेगा।

राष्ट्रीय विकास और उद्योग

उच्च कक्षाओं में उत्पादक श्रम दाखिल करने के प्रश्न पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। इससे पहले बुनियादी शालाओं में उद्योग दाखिल करने के लिए जिन बातों का विचार किया जाता रहा है, आज उच्च शालाओं में उद्योग दाखिल करने की दृष्टि से उनसे भिन्न कुछ दूसरी ही बातों का विचार करना होगा। बुनियादी शालाओं म ऐसे ही उद्योग चुनने का आग्रह रहा है, जिनमें शिक्षा के विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालने योग्य क्षमता हो, समाजके उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन हो और जिन के द्वारा बच्चों के अवयव अधिक कार्यकुशल और पटु हों।

आज की स्थिति में उच्च शिक्षा के साथ उद्योग जोड़ने की दृष्टि से शर्तें पर्याप्त नहीं होंगी। समवाय, कुछ वस्तुओं का उत्पादन और कला को ही प्राधान्य देकर इने गिने चार-छ उद्योगों को हम चुनें तो इतने से आज की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकेगा।

समवाय सधे, वस्तुओं का उत्पादन हो और इन्द्रियों की कला का विकास हो, यह कम महत्व का नहीं है, लेकिन आज के सन्दर्भ में उद्योगों का स्वरूप यहीं तक सीमित नहीं रह सकता, क्योंकि उच्च शिक्षा के साथ उद्योगों को जोड़ने का जो विचार आया है उसका उद्देश्य दूसरा ही है, समवाय और इन्द्रियों की कुशलता के स्थान पर राष्ट्र उद्योगशील कैसे बने और राष्ट्रीय सम्पत्ति का विकास और वृद्धि कैसे हो, यही लक्ष्य माना गया है और इस माने में इसका लक्ष्य यहीं तक सीमित है। अत हम यहाँ इसी दृष्टि से विचार करेंगे।

राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि

आज उच्च शालाओं के लिए ऐसे उद्योग चुने जाने चाहिए, जो राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में सहायक हों। कृषि का उदाहरण लें। शालाएँ कृषि को अपना उद्योग स्वीकार करती हैं तो उनका पहला प्रयत्न यह होगा कि कृषि का साधन यानी भूमि अधिकाधिक उपजाऊ कैसे बने। केवल रुपये की आमदनी की बात हम नहीं कह रहे हैं क्योंकि वैसे भी खाद्यान्न के स्थान पर आर्थिक फसल उगाने से खेती की आमदनी बढ़ती है। देहाती इलाके की भूमि से अधिक आमदनी हो सकती है, लेकिन इससे यह नहीं माना जा सकता कि राष्ट्रीय सम्पत्ति में कोई वृद्धि हुई। भूमि का सुधार हो, कटाव रुके, मेड़-बन्दी हो, खादों का उपयोग बढ़े, सिंचाई का अच्छा और सस्ता प्रबन्ध हो और इसी प्रकार अन्यान्य सुधारों से भूमि की उत्पादन क्षमता बढ़ती है तो माना जा सकेगा कि राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि हुई। शैक्षणिक उद्योगों का यह एक प्रमुख पहलू माना जाना चाहिए।

समाज से एकरूपता

शालाएँ अपने अधीन कुछ भूमि लेकर स्वतन्त्र रूप से चाहे जितनी पूँजी लगा कर अपना प्रयोग चलाती जायँ और प्रगति करती जायँ, यह पर्याप्त नहीं माना जायेगा। प्रत्येक शाला को अपने आस पास के गाँवों या कसबों के साथ एकरूप होकर काम करना चाहिए। गाँवों की आवश्यकता, सामर्थ्य और भावनाओं को ही अपनी आवश्यकता, सामर्थ्य और भावना मान कर उसी में अपना प्रयोग और विकास करना चाहिए, ताकि शाला का काम उस क्षेत्र का काम हो सके और क्षेत्र के विकास में शाला के अनुभवों का आसानी से सहारा लिया जा सके। अत शैक्षणिक उद्योगों के चुनाव का दूसरा पहलू क्षेत्रीय परिस्थिति की अनुरूपता होनी चाहिए।

सामूहिकता

तीसरा एक और पहलू है, जो बहुत महत्व का है। वह यह कि ऐसे उद्योग चुने जाने चाहिए, जिनके माध्यम से न केवल शाला के अन्दर, बल्कि शाला के इर्द गिर्द के वातावरण में भी लोगों में सहकारिता की वृत्ति का विकास किया जा सके। यह काम की पद्धति का भी प्रश्न है और काम के स्वरूप का भी। लोग सामूहिक रूप से बैठकर सोचें विचारें, सामूहिक रूप से निर्णय करें, सामूहिक हित के लिए कार्यक्रम बना कर सहयोग के साथ उसे अन्त तक ले जायें। यह बहुत आवश्यक तत्व है, जो देश को अधिक मजबूत बनाने के लिए अनिवार्य है। शालाओं का यह कर्तव्य होना चाहिए कि विद्यार्थियों में इस प्रकार सामूहिक वृत्ति का विकास करें और इसके लिए योग्य आयोजन करें, जिसका परिणाम बाहरी समाज पर हो सके।

तब और अब

बुनियादी शालाओं के उद्योगों में और आज के अपेक्षित उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से अपनाये जाने वाले उद्योगों में जो विवेक किया जाना चाहिए वह संक्षेप में यों है—पहले जहाँ पाठ्य विषयों के साथ उद्योगों के समवाय की बात सोची जाती थी वहाँ आज समाज की आवश्यकता और समृद्धि के साथ समवाय की बात सोची जानी चाहिए। पहले जहाँ बच्चों के अवयवों की कुशलता विकसित करने पर जोर दिया जाता रहा है वहाँ आज सहकारिता की कला को विकसित करने पर जोर देना चाहिए तथा जहाँ पहले उद्योगों के चुनाव में उनकी शैक्षणिक

क्षमता पर ध्यान रखा जाता रहा है वहाँ आज राष्ट्रीय परिस्थिति से एकरूप होने का बात का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए।

सम्भावनाओं का सकेत

उदाहरण क लिए हम ने यहाँ खेती का निर्देश किया है। इसी प्रकार बहुत से काम चुने जा सकते हैं। जैसे जगल लगाने का काम है। जगल लगाना राष्ट्र की बहुत आगे तक का योजना का एक विषय है। इसके माध्यम से लोगों के अन्दर एक विशाल दृष्टि निर्माण किया जा सकता है। यह समाज की एक आवश्यकता है ही। इन दिनों हर प्रदेश म हर साल कहीं न कहीं बाढ़ के कारण भारी हानि होती रहती है। शालाओं के अभिक्रम से नदियों के नियत्रण का काम चलाया जा सकता है। पिछले दिनों देश के कुछ प्रदेशों में ऐसा हुआ भी है। बड़े शहरों में गन्दी गलियों का सुधार और सुघड़ता लाने का एक बहुत विशाल क्षेत्र है। कसबों में आम मण्डियों या साप्ताहिक हाटों की व्यवस्था, सफाई आदि काम के द्वारा ग्राम-समाज को सम्पन्न करने क साथ लोक शिक्षण का काम भा शालाएँ कर सकती हैं।

आशय यह है कि जिन प्रवृत्तियों म प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर समाज और देश की समृद्धि और सम्पन्नता के लिए कुछ करने की वृत्ति जगाने की क्षमता हो, जिससे राष्ट्र का मजबूता बढ़ सके और जिनमें शाला की ओर साधन सामग्री के लिए अधिक पैसा लगाने का आवश्यकता न पड़े, एसे कामों को शिक्षा में प्राथमिकता देनी चाहिए।

'हाबी-क्लब'

हमारे देश में कुछ इने गिने स्कूलों को छोड कर आम तौर पर कहीं भी विद्यार्थियों क अपने ऐसे क्लब नहीं हैं, जहाँ व आपस में मिल कर स्वच्छा से कुछ बनायें, बिगाडें, यन्त्रों को खोल खाल कर जोड़ें और इस प्रकार अपनी नैसर्गिक रचनात्मक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट कर सकें और अपनी रुचि या दिलचस्पी का विकास कर सकें। बच्चे निर्भीक हो कर यह सब करेंगे तभी उनमें कुशलता और कारीगरी पनप सकती है। हमारे गरीब देश में यह अपेक्षा की ही नहीं जा सकती कि घर घर में बच्चों को ऐसी सुविधा मिले, इसलिए ऐसे रचनात्मक तोड़ फोड़ के काम के लिए स्कूल की ओर से मुक्त अवसर उन्हें मिलना चाहिए। ८–१० साल में समाज के सक्रिय नागरिक बननेवाले आज के विद्यार्थियों को अधिक कुशल, अधिक अभिक्रमशील और अधिक उद्यमी बनाने की दृष्टि से हाबी-स्कूल' की एसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

पढाई का भार बनाम देश निष्ठा

इस प्रसग म एक प्रश्न यह आता है कि ऊपर जिस प्रकार क काम का हमने निर्देशन किया है उसमें प्रामाणिकता के साथ लगने पर शिक्षा के दूसरे पहलू को—पाठ्य विषयों के ज्ञान के परिमाण को कुछ कम करना होगा।

लेकिन आज हमारा शिक्षा का मूल्य मापन हम उस परीक्षा से करते हैं, जिसका लक्ष्य एकागी है। अध्यन का एक माना हुआ स्तर है, और ज्ञान का कितना क्या भार रहे उसकी एक कल्पना है, जिसे अमुक एक पद्धति की परीक्षाओं से हम बनाये रखते आये हैं। (आज हमारे यहाँ वह स्तर यों भी तजी के साथ गिरता जा रहा है।) लेकिन विद्यार्थियों में समाज और देश के साथ एकात्म बनने की भावना क विकास को क्या उस पुस्तकीय अध्ययन से कम महत्व का समझा जाय? खास कर देश को मजबूत बनाना जहाँ सर्वाधिक महत्व की समस्या बना हुआ हो वहाँ देश के सुख दुख के साथ ओतप्रोत होने की बात पर देश मे कहीं दो राय नहीं हो सकती, और यह सकट का काल कोई तात्कालिक नहीं है, आगे भा बहुत समय तक बना रहने वाला है, इसलिए हमारी नम्र राय है कि पुस्तकीय अध्ययन का भार कुछ कम करके भी उपर्युक्त सुझावों पर विचार करना चाहिए और राष्ट्र की समृद्धि और राष्ट्र क विकास के प्रति एकरूपता साधने का दिशा में उद्योग और शरीर-श्रम का मेल बैठाना चाहिए।

अनुशासन नहीं, स्वयंस्फूर्ति

नागरिकों में राष्ट्र निष्ठा पैदा करने का प्रयत्न संसार के सभी राष्ट्रों में चलता ही है। रूस और चीन का एक तरीका सर्व विदित है, लेकिन केवल अधिनायकवादी (टोटलिटेरियन) राष्ट्र ही नहीं, घाना, टांगानिका जैसे अभी हाल में स्वतंत्र हुए प्रजातान्त्रीय राष्ट्र भी करीब करीब वही सख्ती की पद्धति अपना रहे हैं। डिक्टेटर नाम भले बदनाम हुआ हो, लेकिन डिक्टेटरी पद्धति सभी को आसान और लाभदायी दीखती है और इसलिए उसका आकर्षण अधिक है, लेकिन हमें विश्वास है कि भारत में यह तानाशाही कभी नहीं आने दी जायेगी, विवेक-पूर्वक उस खतरे से बचने का प्राणपण से प्रयत्न किया जायेगा।

सख्ती की पद्धति छोड़ देते हैं तो शिक्षा ही एक साधन रह जाती है, जिससे देश के प्रत्येक नागरिक को स्वयं प्रेरणा से देशनिष्ठ बनाया जा सके। हम स्पष्ट कहना चाहते हैं कि देश में व्यापक समाज निष्ठा और उसके अनुकूल सहयोगात्मक जीवन पद्धति की एक प्रथा, एक तन्त्र और एक सिलसिला कायम करने का महत्वपूर्ण काम अनुशासन के नाम पर केवल कवायद कराने या आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ा देने से होने वाला नहीं है। सामाजिक न्याय और सदाचार तथा सहकारिता से ओतप्रोत जीवन की शिक्षा हमारी शिक्षा-योजना का प्राणतत्व होना चाहिए और शिक्षा का सम्बन्ध देश की गरीबी, भूख और विषमता के साथ उन्हें दूर करने के कारगर साधन के रूप में होना चाहिए। तभी न केवल राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ेगी, बल्कि विद्यार्थियों में सहकारी अभिक्रम से स्वानुशासन की नींव डाली जा सकेगी, जो आज राष्ट्र की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

★

मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपट रहूँगा, जैसे अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जिंदगी देनेवाला दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को उसकी जगह प्यार करता हूँ, लेकिन अगर वह उस जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी हकदार नहीं है तो मैं उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुई है कि अँग्रेजी आज सारी दुनिया की भाषा बन गयी है? इसलिए मैं उसे दूसरी भाषा के तौर पर जगह दूँगा—लेकिन युनिवरसिटी के कोर्स में, स्कूलों में नहीं। यह कुछ लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखों-करोड़ों की नहीं। आज जब हमारे पास प्राथमिक शिक्षा को भी देश में अनिवार्य बनाने के साधन नहीं हैं तो हम अँग्रेजी सिखाने के जरिये कहाँ से जुटा सकते हैं? रूस ने बिना अँग्रेजी के ही विज्ञान में तरक्की की है। आज अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही हम यह मानने लगे हैं कि अँग्रेजी के बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता। मैं इस चीज को नहीं मानता।

—गांधीजी

★

शिक्षा की योजना क्यों और कैसे ?

श्री त्रिलोकीनाथ अग्रवाल

आज विद्यालय में शिक्षा का सम्बन्ध समाज से नहीं है। इस आलोचना का महत्व आज हम अपने स्वतन्त्र भारत में अनुभव करते हैं; क्योंकि आज का विद्यार्थी विद्या-अध्ययन के उपरान्त समाज में अपने को भिन्न परिस्थिति में पाता है।

गांधीजी की बुनियादी शिक्षा का महत्व हमारे देश के लिए इस युग में अत्यधिक है, क्योंकि इस शिक्षा का सम्बन्ध बालक के विकास से सम्बन्धित है। यद्यपि प्रचलित शिक्षा का भी यही राग है कि बालक का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास होता है; परन्तु वास्तव में आज का बालक क्या होता है, इसको समाज प्रतिदिन देखता है। बालक नियमित जीवन नहीं व्यतीत कर पाते हैं, न उनमें गुरु और माता-पिता की सेवा का भाव ही उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, उनको समाज का वास्तविक ज्ञान भी नहीं हो पाता है। पुस्तक का ज्ञान भी ४० प्रतिशत ही होता है, क्योंकि सफलता का मापदण्ड केवल ३३ अंकों पर निर्भर है।

आज विद्यार्थी के जीवन में कोई उद्देश्य नहीं है। विद्यालय में प्रवेश हो जाने के उपरान्त उनका जीवन वहाँ की मान्यताओं के अनुसार विकसित होता है। आज विद्यालयों में विद्यार्थी को पुस्तकीय ज्ञान दे दिया जाता है, लेकिन वह भी विद्यार्थी की ही इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि कक्षा में छात्र अधिक होते हैं और उपस्थिति देकर किसी प्रकार वहाँ से चले जाते हैं। इस प्रकार का आचरण छोटी कक्षाओं में भी प्रचलित हो गया है। छोटे बालक पुस्तकीय ज्ञान से घबरा कर कक्षा के बाहर प्राकृतिक वातावरण में साँस लेते हैं।

आज पाठशालाओं में बालक को नीरस वातावरण मिलता है। वे वहाँ केवल निष्क्रिय श्रोता होते हैं। मेरा स्वयं का अनुभव है कि बालक एक वर्ष की अवस्था में ही क्रियाशील हो जाते हैं। वे प्रत्येक वस्तु को स्वयं उठाकर, फेंककर और तोड़कर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। जब तक वे स्कूल नहीं जाते हैं, बराबर कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, इसलिए बालकों को प्रारम्भ से ही इस प्रकार की क्रियाओं में व्यस्त करना चाहिए, जहाँ वे सोच कर स्वयं कार्य कर सकें।

आज विद्यालय में शिक्षा का सम्बन्ध समाज से नहीं है। इस आलोचना का महत्व आज हम अपने स्वतन्त्र भारत में अनुभव करते हैं, क्योंकि आज के विद्यार्थी विद्या-अध्ययन के उपरान्त समाज में अपने को भिन्न परिस्थिति में पाते हैं। उनका वह पुस्तकीय ज्ञान, जिसको उन्होंने अबतक प्राप्त किया था, इस वास्तविक परिस्थिति में सहयोग नहीं देता है। इसमें विद्यार्थियों का कोई भी दोष नहीं है। उन्होंने तो परीक्षा में किसी प्रकार सफलता पायी है। वे समाज की वास्तविक परिस्थिति को नहीं जानते हैं। वे दैनिक जीवन की समस्याओं को भी नहीं सुलझा पाते। इतना ही नहीं, उनमें व्यावहारिकता का भी अभाव होता है। शिक्षा-काल में वे अपने को समाज का एक अंग नहीं मानते हैं। वे अपने को भिन्न

समझते हैं, इसलिए वे समाज में ऐसे कार्य करते हैं, जो अनिश्चित हैं। समाज में तोड़-फोड़, अनुशासनहीनता और अन्य इसी प्रकार के कार्य करते रहते हैं। वे नहीं समझते कि जो हानि कर रहे हैं उसका प्रभाव उन पर भी पड़ता है। आर्थिक हानि उनके संरक्षकों की और चारित्रिक हानि उनको होती है।

आज की प्राय शिक्षा विधियाँ रूढ़िग्रस्त हो गयी हैं। उनमें कोई नवीनता नहीं है। अध्यापक किसी प्रकार उन रूढ़ियों के आधार पर शिक्षा देता है। उन विधियों को भी वह पूर्ण रूप से प्रयोग में नहीं ला सकता है, क्योंकि उसे विद्यालय के अन्य कार्यों से ही अवकाश प्राप्त नहीं होता है। अगर वह किसी प्रकार कार्य करना भी चाहता है तो उसके पास साधन नहीं है। कक्षाओं में भी अनुशासन का अर्थ है—शान्त बैठना। अगर विद्यार्थी प्रश्न पूछता है और अध्यापक उत्तर देता है तो निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा नहीं होता है, इसलिए अध्यापक अपने को विद्यार्थी की जिज्ञासा शान्त करने में असमर्थ पाता है। इस प्रकार विद्यार्थियों की आवश्यकता और जिज्ञासा पूर्ण नहीं हो पाती है।

गांधीजी के विचार से बालकों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय, जिसमें उनका मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक विकास हो, इसलिए उन्होंने शिक्षा का सम्बन्ध समाज से और उद्योग से जोड़ा। बालक बुनियादीशाला में क्रिया करके और समाज से सम्बन्ध स्थापित करके शिक्षा प्राप्त करते हैं। बुनियादीशाला में योजना के आधार पर शिक्षा ग्रहण की जाती है।

योजना की कतिपय विशेषताएँ

१—बालक के समक्ष समस्या होती है और उस कक्षा के सब बालक मिलकर उस समस्या को सुलझाने लग जाते हैं। वे तत्परता से कार्य करते हैं। कार्य करते समय उन्हें वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस ज्ञान को स्मरण रखने के लिए उन्हें अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता है।

२—योजना में बालक क्रियाशील होते हैं। अध्यापक के सहयोग से वे उस समस्या को क्रियात्मक रूप देते हैं। इस क्रिया के करने में बालक का उत्साह बढ़ता है। उनमें कार्य करने की क्षमता उत्पन्न होती है। वे विचार करके अपने अन्य सहयोगों को परामर्श देते हैं और इन्हीं आधारों पर वे सब तर्क करते हैं। तर्क करके वे समस्या को कम से कम समय में पूर्ण करते हैं। इस प्रकार बालकों में आत्म विश्वास उत्पन्न होता है।

३—बालकों का परिचय वास्तविकता से होता है। वे कार्य को वास्तविक परिस्थिति में करते हैं। उन्हें कार्य का सम्बन्ध जीवन से अनुभव होता है। जैसे—बालकों को डाकघर के बारे में ज्ञान देना है तो वे डाकघर जाकर देखेंगे और उसके उपरान्त कक्षा में ज्ञान प्राप्त करेंगे। इस प्रकार बालक कार्य में रुचि लेते हैं। वे एक निष्क्रिय श्रोता न होकर सक्रिय कार्यकर्ता हो जाते हैं। उसे ज्ञान प्राप्त करने में आनन्द आता है। उनकी जिज्ञासा का समाधान मिल जाता है और वह उसी आधार पर अध्यापक से प्रश्न पूछते हैं। इससे उनके ज्ञान की वृद्धि होती है। उनके पुस्तकीय ज्ञान का सम्बन्ध जीवन के अनुभव से होता है, क्योंकि वे पुस्तकों में पढ़ते हैं, परन्तु वास्तविक परिस्थिति में उसका अनुभव नहीं करते हैं।

४—योजना में उपयोगिता की विशेषता है—बालक उन्हीं योजनाओं में रस लेते हैं। जिनमें वे अपनी आवश्यकता अनुभव करते हैं। रुचि के साथ-साथ उनका ध्यान एकाग्र होता है और इस प्रकार वे स्वत ही अपना ध्यान कार्य में केंद्रित कर लेते हैं।

५—योजना में बालक कार्य चुनने में स्वतन्त्र होते हैं। वे स्वयं अध्यापक के सामने समयानुसार प्रस्ताव रखते हैं कि हमें यह कार्य करना है। इससे समय-सारणी का बन्धन नहीं होता और बालक की रुचि के कारण कार्य की प्रगति होती है।

योजना पद्धति मेरे विचार से कोई नयी पद्धति नहीं है। प्रत्येक युग में मानव ने अपना ध्येय बनाकर ही कार्य किया है। हम स्वयं अपने जीवन में देखते हैं कि किसी कार्य के करने से पहले उसके बारे में सोच लेते हैं कि वह कैसे किया जायगा। हमारे घरों में प्रतिदिन ही योजना बना करती है। प्रत्येक कार्य करने से पहले उसके बारे में दिन, समय और अर्थ आदि की व्यवस्था की

जाती है और उस के आधार पर कार्य का वितरण कर दिया जाता है। कार्य करने में, जो भी कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें वितरण करने के लिए विचार विमर्श किया जाता है और इस प्रकार प्रतिदिन जीवन के कार्य किये जाते हैं। इसी आधार पर महात्मा गांधी का विचार था कि जो योजना हमारे क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है क्यों न हम उसी का शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करें।

आपने देखा है कि व्यापारी वर्ग के बालक आरम्भ से ही अपनी दुकानों पर जाने लगते हैं। वे कार्यारम्भ निरीक्षण से करते हैं। उनके पिताजी किस प्रकार ग्राहक से बात करते हैं, किस प्रकार उसको विश्वास दिलाते हैं कि वह वस्तु अच्छी और सस्ती है। उसको वहाँ पर वास्तविक ज्ञान वास्तविक परिस्थिति में मिलता है, जिसके लिए उसे अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। दो-एक वर्ष के अनुभव के उपरान्त वही बालक अपने पिता की अनुपस्थिति में दुकान पर बैठने लगता है।

आज के युग में यह प्रचलित है कि योजना-पद्धति के जन्मदाता श्री डब्लू. एच किल पैट्रिक हैं। आपने डुवी के प्रयोगवाद पर ही योजना पद्धति का निर्माण किया। उनके विचार से प्रोजेक्ट की परिभाषा इस प्रकार है—'प्रोजेक्ट वह सहृदय उद्देश्य पूर्ण कार्य है, जो पूर्ण सलग्नता से सामाजिक वातावरण में किया जाय।' इस परिभाषा से प्रतीत होता है कि कार्य हृदय से हो। उपयोगिता, कार्य और ध्यान के साथ वास्तविक परिस्थिति में हो, जिससे बालक का ध्यान स्वत ही केन्द्रित होता है, क्योंकि प्रस्ताव बालक की रुचि के अनुसार है।

योजना कैसे—

बुनियादी शालाओं में वर्ष भर की योजना बनायी जाती है। यह योजना साधन, विद्यार्थी और परिस्थितियों के आधार पर निर्मित होती है। ऐसा क्यों? कार्यकर्ताओं के सामने उद्देश्य है—बालक का सर्वांगीण विकास करके उन्हें समाज के लिए उपयोगी बनाना। उनका विकास किस प्रकार किया जाय, जिससे उद्देश्य की प्राप्ति हो जाय। इसी प्रकार से योजना पद्धति में निम्नलिखित अवस्थाएँ आती हैं—

१—परिस्थिति (सिचुएशन)
२—योजना (प्रोजेक्ट)
३—कार्यक्रम (प्लैनिंग)
४—कार्यक्रम को क्रियान्वित करना (एक्सक्यूशन आव दि प्रोग्राम)
५—मूल्यांकन (अप्रेजल)
६—लेखा (रेकार्ड)

परिस्थिति—

जीवन में जैसी परिस्थितियाँ आती हैं उन्हीं के अनुसार कार्य किया जाता है। इसी प्रकार बुनियादी-शालाओं में परिस्थिति के अनुसार बालक में कार्य करने की टेव डाली जाती है। यह परिस्थिति व्यक्तिगत भी होती है और सामाजिक भी। व्यक्तिगत परिस्थिति में बालक अपने बारे में सोचता है। सामाजिक परिस्थिति मे सभी बालक भाग लेते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति के बालकों में सामाजिकता और नागरिकता के गुणों का विकास होता है।

बालक उन समस्याओं पर विचार करते हैं। घरों में त्योहार मनाते हैं तो स्वयं ही उस त्योहार के बारे में पूछते हैं। क्या-क्या करना है, बाजार से क्या लाना है इत्यादि। इस प्रकार वह स्वयं क्रियाशील होकर कार्य करते हैं। इसी प्रकार विद्यालय में किसी महापुरुष की जयन्ती मनानी है तो उसके बारे में बालक योजनाएँ प्रस्तावित करेंगे। इस प्रकार बालक और अध्यापक विचार-विमर्श करके उस परिस्थिति के बारे में निर्णय करेंगे।

योजना—

बुनियादीशाला में इस प्रकार का वातावरण हो कि बालक ही उन योजनाओं को अध्यापक के समक्ष रखें, जिनको उसे शाला में क्रियान्वित करना है। जैसे, बालक घर में सुन लेता है कि होली के त्योहार पर रंग खेला जाता है तो वह अपनी माँ से उस दिन के लिए बराबर पूछता है। इस प्रकार से शाला में ऐसा वातावरण हो, जिसमें बालक स्वयं ही अध्यापक के समक्ष प्रस्ताव रखे। अध्यापक का कर्तव्य एक पथ प्रदर्शक का होगा। वह बालकों से कक्षा में वाद विवाद करेगा। बालक अपने-अपने मत रखेंगे। अन्त में जिस योजना के बारे में सब बालकों के मत एक हों, उसे चुन लिया जायेगा।

मेरा विचार है कि अध्यापक को सभी योजना के चुनाव करते समय अपना विचार और प्रभुत्व नहीं रखना चाहिए। अगर किसी योजना को अध्यापक चाहता है तो उसके लिए इस प्रकार का वातावरण हो कि विद्यार्थी उस योजना का स्वयं प्रस्ताव रखें। वातावरण वाद-विवाद से, उदाहरण देकर, उपयोगिता बताकर, पुस्तकों से लेख पढ़कर आदि अनेक प्रकार से तैयार हो सकता है। यह अध्यापक की कुशलता पर निर्भर है।

कार्यक्रम बनाना—

योजना बन जाने के बाद उस योजना का कार्यक्रम बनाया जाता है। कार्यक्रम में भी बालक स्वतन्त्र रूप से परामर्श देंगे। उस परामर्श के आधार पर कार्यक्रम बनेगा। यह कार्यक्रम विभिन्न भागों में बाँट दिया जायगा। इन कार्यों को करने के लिए बालक स्वयं कार्य के अनुसार भाग लेंगे। इस प्रकार प्रत्येक बालक अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार योजना में कार्य करेगा।

कार्यक्रम को क्रियान्वित करना—

बालक स्वयं ही काम करते हैं, क्योंकि उनको मालूम है कि उन्हें क्या-क्या, किस कार्यक्रम के अनुसार करना है। इस प्रकार वे क्रिया द्वारा सीखते हैं। करना और सीखना ही मुख्य सिद्धान्त है। इस पद्धति से बालक को अधिक प्रयास करना पड़ता है, परन्तु उसे कोई कष्ट नहीं होता। ज्ञान प्राप्त करना भार स्वरूप नहीं होता, क्योंकि उसे उस कार्य में रुचि होती है। कार्य को पूरा करने में लिखना-पढ़ना, निरीक्षण करना, घूमना और अन्य कार्यकर्ताओं से सहयोग लेना होता है। बालक में कार्य करने से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। अगर कार्य में परिवर्तन होगा या कठिनाई होगी तो अध्यापक उसमें पथ-प्रदर्शन करेगा।

मूल्यांकन—

कार्य करने के बाद बालक और अध्यापक यह निर्णय करते हैं कि उस कार्य को करने में क्या-क्या कठिनाइयाँ आयीं और कहाँ तक कार्य में सफलता प्राप्त हुई। निर्णय बालकों के परामर्श से होगा। इसी आधार पर आगामी योजनाओं में भी ध्यान रखा जायगा। बालक अपनी-अपनी त्रुटियों का अनुभव करते हैं। इस प्रकार वे वास्तविक परिस्थिति की आलोचना करना भी सीखते हैं। यह आलोचना तथ्यों पर आधारित होती है, कल्पना पर नहीं।

कार्य का लेखा—

बालक जो कुछ भी कार्य करते हैं उसे अपनी कापी में लिख लेते हैं। इसी आधार पर अध्यापक बालकों को अभ्यास के लिए कार्य देते हैं। इस प्रकार बालक क्रियाशील रहते हैं। लेखन में बालक आलोचना भी लिखेगा, वह अपने अनुभव भी व्यक्त करेगा, जो उसने कार्य करते समय प्राप्त किये हैं।

पूरे विद्यालय में निश्चित समय के लिए योजना बनायी जाती है। इस योजना में स्कूल के सभी छात्र और अध्यापक मिलकर योजना बनाते हैं। उस योजना के कार्यक्रम को कक्षा के अनुसार विभक्त कर लेते हैं। उस निश्चित समय में प्रत्येक कक्षा अपनी योजना के कार्यक्रम को पूर्ण करती है। जैसे—१४ नवम्बर मनाना, २६ जनवरी मनाना, त्योहार मनाना। ये योजनाएँ अन्य निश्चित तिथि से एक या दो सप्ताह पूर्व ही बच्चे प्रारम्भ कर देते हैं और निश्चित तिथि को उसका मूल्यांकन करते हैं।

होली का त्योहार हमारे देश में महत्वपूर्ण है। ग्रामीण शाला एक सामाजिक केन्द्र है। इसी भावना को लेकर होली मनाने की योजना स्कूल में प्रस्तावित की जायगी, उसी आधार पर स्कूल में कार्यक्रम बनेगा और निश्चित दिन ग्रामीण एकत्र होकर होली का त्योहार मनायेंगे। इससे त्योहार का भी महत्व बढ़ जायेगा। गाँव में एकता और प्रेम का प्रभाव होगा और सब एक स्थान पर बैठकर आनन्द मनायेंगे। गाँव वाले भी शाला में ही मनोरंजन करेंगे और अपनी कला का प्रदर्शन करेंगे। बालक तो अपनी कला का प्रदर्शन करेंगे ही। इस प्रकार वे ग्रामीणों का (सरक्षकों) प्रदर्शन देख कर अपने ज्ञान का विस्तार करेंगे।

विस्तृत पाठ्यक्रम—

क्रिया—होली मनाना।

[शेष पृष्ठ ४०७ पर]

रचनात्मक कार्य : ग्राम-इकाई ग्राम-स्वराज्य

अगर संस्थाओं के संचालक, इकाइयों के संगठक सर्वेयर और फाइल या रचनात्मक कार्य के कुछ पिटे पिटाये आइटेम तक ही सीमित रह गये और सारी जिम्मेदारी ग्राम सहायकों पर मढ़ दी गयी तो मुझे सन्देह है कि योजना शुरू में ही कुंठित होने से नहीं बचेगी।

श्री राममूर्ति

स्वराज्य की लड़ाई के दिनों में रचनात्मक कार्य का संगठन कांग्रेस के तत्वावधान में स्वराज्य-संग्राम की व्यूहरचना के अंग के रूप में हुआ था। कांग्रेस मध्यमवर्गीय थी, पूरा स्वराज-आन्दोलन ही मध्यमवर्गीय था, इसलिए रचनात्मक कार्य के मूल्य भी प्रगतिशील मध्यमवर्गीय ही हुए। ऐसा होना उस समय की परिस्थिति में, मुख्यतः जब देश में नागरिक जीवन की परम्परा नहीं थी, अनिवार्य था। कांग्रेस का सारा ध्यान अँग्रेजी राज से छुटकारा पाने पर था, दमन या शोषण से मुक्ति गांधी तथा कुछ अन्य व्यक्तियों के मन में भले ही रही हो, देश के जीवन में किसी मूल्य के रूप में नहीं प्रकट हुई थी।

१९४४ में चरखा संघ के नवसंस्करण के रूप में बापू ने वर्गनिराकरण और शोषण-मुक्ति को रचनात्मक कार्य का मूल्य बनाना चाहा, लेकिन रचनात्मक कार्य के मध्यमवर्गीय, कल्याणकारी स्वरूप (Class Charecter)ने इस परिवर्तन को हठ पूर्वक अस्वीकार कर दिया। तबतक स्वराज्य आ गया। स्वराज्य की विभीषिका गांधी को खा गयी और सत्ता, सेवा को हजम कर गयी। राज्य की शक्ति मध्यमवर्गीय कांग्रेस के हाथ में आयी। गांधी की दीक्षा और जमाने की माँग का इतना असर हुआ कि देश में बालिग मताधिकार के आधार पर चलनेवाली संसदीय लोकतन्त्र की प्रणाली कायम हुई। वोट का अधिकार पाकर जनता की आकांक्षाएँ बढ़ीं। कल्याणकारी राज्य ने आकांक्षाओं की पूर्ति का बीड़ा उठाया।

सरकार में जाने से कांग्रेस का राजनीतिक लक्ष्य तो पूरा हो गया, लेकिन रचनात्मक कार्य के लिए गांधी की जो वसीयत थी कि वह क्रान्ति के दूसरे चरण को पूरा करे यानी 'बुर्जुआ रेवोल्यूशन' को 'प्रालटैरियन रेवोल्यूशन' का रूप दे, वह नहीं पूरी हुई। जब सरकार ने कल्याण करने का बीड़ा उठा लिया तो कौन से ऐसे रचनात्मक कार्य थे, जो जनता की कल्पना को जगा सकते थे, और कौन ऐसे रचनात्मक कार्यकर्ता थे, जो बड़े पैमाने पर जनता का विश्वास प्राप्त कर सकते थे? तात्कालिक कल्याण से भिन्न क्रान्ति की दृष्टि और शक्ति के अभाव में रचनात्मक कार्य सत्ता का आश्रित होकर सरकारी पंचवर्षीय योजना का अंग बन गया।

१२-१९५१ से ही लोक कल्याण के क्षेत्र में सरकार और रचनात्मक कार्य की साझेदारी चल रही है। रचनात्मक कार्य सरकार की कृपा पर आश्रित है, जनता की सद्भावना पर नहीं। इस कृपा का मूल्य उसे चुकाना पड़ रहा है या शायद मूल्य देकर ही वह अपने अस्तित्व को कायम रख रहा है। सरकार के कारण उसकी आकांक्षा अब भी गांधी और विनोबा के साथ जुड़ी हुई है, लेकिन पैर उसके पाछे फँसे हुए हैं। इस द्वैत से शायद हित की जगह अहित अधिक हो रहा है।

१३–१९५१ के बाद कई वर्षों तक, सम्भवत १९५७ तक, रचनात्मक कार्य ने विनोबा के साथ चलने की कोशिश की। विनोबा ने रचनात्मक कार्य को नया मोड़ देने की कोशिश की थी। उन्होंने रचनात्मक कार्य को उस छोर से पकड़ा था, जिसकी १९४८ में गांधीजी ने कल्पना की थी। विनोबा ने रचनात्मक कार्य का जो नया संस्करण शुरू किया उसके दो मुख्य पहलू थे–आर्थिक तथा राजनीतिक स्वामित्व का अन्त एवं लोक शिक्षण द्वारा लोक मानस में नये सामाजिक मूल्यों का प्रवेश। इस कार्यक्रम में मुक्ति द्वारा कल्याण था, क्रान्ति द्वारा राहत थी, लेकिन पुराना रचनात्मक कार्य जिस तरह १९४८ में गांधी के साथ नहीं चल सका उसी तरह विनोबा के नये संस्करण के साथ भी दूर तक नहीं जा सका। रचनात्मक कार्य का विनोबा के साथ जो भी सम्बन्ध रहा वह मुख्यत भावनात्मक था। रचनात्मक कार्य भूदान, ग्रामदान का पूरक नहीं हुआ। अगर हम विश्वास और विवेक के साथ नये कार्यक्रम में लगे होते तो हमारी सारी शक्ति भूदान को किसान कारीगर (Peasant Craftsman) बनाने तथा उसके और पुराने मालिक के बीच रचनात्मक साझेदारी (Constructive partnership) कायम करने के काम में लगते, लेकिन स्वामित्व मिलने और उत्पादकों का समाज बनाने की प्रेरणा हम अपने अन्दर नहीं भर सके। वास्तव में हमारा अपना ही वर्ग–निराकरण (Declassing) नहीं हुआ। भावनाओं में हम चाहे जहाँ भी हों लेकिन इतिहास ने हमें गांधी की सामाजिक क्रान्ति से अलग कर दिया है, यह तथ्य हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। स्वीकृति से हमारे विचारों में स्पष्टता आयेगी और द्वैत (Split) से मुक्त होकर सुनिश्चित दिशा ■ हमारा पुरुषार्थ भी बढ़ेगा।

१४—एक और बात है। कमीशन के नेतृत्व में शायद हम रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने यह मान लिया कि बेकारी निवारण की जिम्मेदारी हमारी है और उसकी शक्ति भी हममें है। यह अनहोनी बात है कि किसी स्वतन्त्र देश की गैरसरकारी संस्थायें, जो ॰॰ की आर्थिक नीति को प्रभावित न कर सकें, यह दावा करें कि बेकारी या अर्द्धरोजगारी का उपाय उनके पास है। यह कभी सम्भव नहीं है। गैरसरकारी प्रयत्न किसी सम्भावना का केवल प्रदर्शन (Demo nstration) कर सकता है, इससे अधिक नहीं। सम्भावना को व्यापक बनाने का काम सरकार का है। अगर हम सरकारी योजना के अन्तर्गत अपने लिए उत्पादन का लक्ष्यांक स्वीकार करते हैं तो हमें साफ-साफ अपनी स्थिति और शक्ति समझ लेनी चाहिए। आज भी हमें इस बात की खोज करनी चाहिए कि चरखा परिवार की आय बढ़ाता है या केवल कत्तिन की, और अगर बढ़ाता है तो कहाँ तक, चरखे की खेती के साथ पूरक या खेती के स्थान पर मुख्य उद्योग बनने की सामर्थ्य कितनी है तथा चरखे की कमाई कत्तिन के द्वारा किस तरह खर्च होता है आदि। हमें यह देखना चाहिए कि हमारे कार्यों से कितना विकास हो रहा है और कितना परिवर्तन। विकास और परिवर्तन एक चीज़ नहीं है। अपने ही देश में नहीं, तमाम अविकसित देशों में विकास बनाम परिवर्तन (Development versess change) की समस्या उपस्थित हो गयी है। हम अपनी आँखों से भी देखते हैं कि जिस गाँव में घर घर चरखा चलता है उसकी सामाजिक रचना में, वहाँ के लोगों के 'ऐटीच्यूड' में कोई खास अन्तर नहीं पड़ता बल्कि देश के कई क्षेत्रों में जिनमें सरकार की ओर से नमूने का विकास कार्य हुआ है वे परिवर्तन की दृष्टि से पीछे गये हैं। अगर हम परिवर्तन को अपने कार्य की कसौटी मानें तो हमें अपने कार्यक्रम और कार्य पद्धति पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता हो सकती है।

१५–परिवर्तन की बात जाने दीजिए। १९५१ से देश में जो लोक कल्याणकारी विकास कार्य शुरू हुए उनमें भी हम आगे नहीं बढ़ सके। सरकार ने देखा कि उसका विकास कार्य अँधेरी गली में पहुँच गया है। हमारे अपने रचनात्मक कार्य की स्थिति इससे जरा भी भिन्न नहीं है। बात यह है कि आज के जमाने में विकास केवल पैसे और प्रोग्राम के भरोसे एक सीमा के आगे नहीं जा सकता। विकास को निरन्तर आगे

बढ़ाने के लिए समाज की रचना में उपर्युक्त परिवर्तन आवश्यक होता है। सामन्तवाद, पूँजीवाद और सरकारवाद ये तीनों हमारे देश में विकास के बाधक तत्व हैं। कारण चाहे जो हो, लेकिन अगर करोड़ रुपये खर्च करने पर सामान्य लोक कल्याण का काम भी न सधे तो स्वाभाविक है कि सरकार को चिन्ता होगी और हमें भी। इस चिन्ता में हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हमारे काम के ढंग में कमी है। दो बुनियादी कमियाँ दिखायी पड़ीं—एक यह कि जनता हमारे और सरकार दोनों के काम से अलग रहती है, दूसरी यह कि दोनों के काम एकांगी सिद्ध होते हैं, जनता के समग्र जीवन को नहीं प्रभावित करते और सरकार इस नतीजे पर पहुँची कि उसके ढंग में कमी है। इस पर दोनों ने सोचा कि अगर पंचायत के स्तर पर विकास के सब कार्यक्रम एक सूत्र में बाँधे जायँ और सब साधन 'पूल' किये जायँ तो शायद कुछ अनुकूल परिणाम आये। आर्थिक योजना की दृष्टि से शायद गाँव छोटा पड़ता है और पंचायत में सरकार की ओर से पंचायत के रूप में एक व्यवस्था पहिले से मौजूद है, इसलिए पंचायत को आधार माना गया। इस तरह हमने और सरकार दोनों ने देख लिया कि स्थानीय अभिक्रम के बिना काम नहीं चलेगा, स्थानीय विकास के साधनों को पूल किये बिना काम नहीं चलेगा और गाँव के समग्र जीवन को छूये बिना काम नहीं चलेगा। इस त्रिवेणी का नाम है ग्राम इकाई और संगम के बेड़े का नाम है ग्राम-सहायक।

इस पृष्ठभूमि में ग्रामइकाई का जन्म हुआ है। ग्राम इकाई के पीछे रचनात्मक कार्य का यह लम्बा इतिहास और परम्परा है। ग्राम इकाई राष्ट्रीय निर्माण की उस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे अर्थशास्त्र में व्यापक लोक-कल्याण (mass welfare) कहते हैं।

जब हम इसे इतिहास और परम्परा, देश की आज की परिस्थिति, समाज के विकास की आवश्यकता, संस्थाओं की स्थिति, सरकार की राष्ट्रीयता, योजना और जनता की विवशता और उसकी आकांक्षा को सामने रखते हैं तो ग्रामइकाई का कार्यक्रम बहुत उलझा हुआ दिखायी देता है। शायद इसीलिए जन्म से ही ग्रामइकाई के लक्ष्य, कार्यक्रम, संगठन, और कार्य पद्धति के बारे में विविध और कभी कभी परस्पर विरोधी विचार प्रकट हुए हैं; लेकिन कार्य के लिए यह आवश्यक है कि हमारे विचार में अधिक से अधिक स्पष्टता हो। एक बात तुरन्त साफ समझ में आती है कि समाज के सुनियोजित विकास के लिए जनता का सक्रिय होना आवश्यक है, इसलिए कार्यक्रम अप्रोच, कार्यपद्धति, आन्दोलन आदि चाहे जो हो उसका पहला लक्ष्य है जनता को सक्रिय (active) बनाना।

१६—ग्रामइकाई के कार्यक्रम में प्रशिक्षण सर्व-सेवा संघ के हाथ में है, पैसा कमीशन के कोआर्डिनेशन (कहीं-कहीं कंट्रोल) स्टेट बोर्ड के और कार्यान्वयन संस्था के हाथ में है। क्या ये चारों आवश्यक हैं? और संस्थाओं में भी सब एक सी नहीं हैं। सरकार ने भी ग्रामइकाइयाँ लेकर अपने रचनात्मक होने का प्रमाण दे दिया है। क्या इस विविधता में विचार और कार्य की एकता लायी जा सकती है?

एकता किसी कार्यक्रम की सफलता की मूल शर्त है। सर्व सेवा संघ और कमीशन के दृष्टिकोण में एकता नहीं है। कमीशन गाँव स्तर पर कोआपरेटिव, सब्सिडी, उत्पादन के लक्ष्य आदि के सन्दर्भ में सोचता है। सर्व सेवा-संघ कोआपरेटिव के पहिले कोआपरेशन, अनुदान के पहिले दान, ग्रामकोष, शैक्षणिक प्रक्रिया आदि की भाषा का प्रयोग करता है। एक का अप्रोच इन्स्टीच्यूशनल है, दूसरे का 'ह्यूमन' है। दोनों में बहुत अन्तर है। एक के मन में विकास है, दूसरे के मन में परिवर्तन है। परिवर्तन (Change) से ही विकास सम्भव है, यह मान्यता सर्व-सेवा-संघ की है। विकास होगा तो परिवर्तन भी हो जायगा, यह आशा कमीशन की है। हमें इस प्रश्न पर स्पष्ट होना चाहिए।

दोनों का मेल मिलाने की दृष्टि से प्रारम्भिक कदम के रूप में दो बातों पर ध्यान देने की सिफारिश सर्व-सेवा संघ की ओर से हुई है। एक यह कि गाँव के ८० प्रतिशत परिवार ग्राम कोष में अपने निर्णय से शरीक हों। दूसरी यह कि निर्णय ऐसी ग्रामसभा के

द्वारा हो, जो हर परिवार के एक बालिग को मिलाकर बनी हो। आवश्यक यह इसलिए है, ताकि हमारा नया कार्यक्रम गाँव के निचले समुदाय को अबतक के कार्यक्रमों की तरह न छोड़ दे और गाँव धीरे-धीरे सामूहिक स्वामित्व और सामूहिक सुरक्षा (ग्रामदान) की दिशा में जाय। गाँव में नयी-नयी संस्थाएँ खड़ी करके आर्थिक कार्यक्रम चलाने का जो 'अप्रोच' है उसमें नीचे के लोगों का छूट जाना अनिवार्य है; क्योंकि कोआपरेटिव, ग्रामोदय-समिति, सर्वोदय समिति या किसी दूसरे नाम से कोई संस्था बनाकर काम शुरू करने का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि विकास का कार्य उन्हीं लोगों के हाथ में चला जाता है, जिनके पास जाति, धन, डण्डे या अधिकार की शक्ति होती है। ऐसे लोग हमेशा परिवर्तन यानी समता और लोकतन्त्र के सही मूल्यों को कभी सामने नहीं आने देते। इसलिए ह्यूमन अप्रोच का आग्रह है कि हम परिवार को ही इकाई मानकर शुरू करें और धीरे-धीरे सहकार की परिधि बढ़ाते जायँ। ऐसा करने से कुछ (Activisation, Revitalisation) बिल्कुल नीचे से शुरू हो सकेगा। परिवार को छोड़कर पूरे गाँव या पूरी पंचायत को जबरदस्ती इकाई मानकर काम करने का अर्थ है—नये नेतृत्व को मुट्ठी भर लोगों में केन्द्रित कर देना। यह मूलतः लोकतन्त्र और अहिंसक समाज की प्रक्रिया के विरुद्ध है। हम जानते हैं कि पंचायत की कौन कहे, गाँव भी एक इकाई नहीं, घरों का समूह मात्र है। उसे इकाई बनाना ही ग्रामइकाई योजना का काम है। अगर गाँव में कुछ जान आती है तो वह उत्पादन में अवश्य प्रकट होगी। सर्व-सेवा-संघ की कल्पना में ग्रामइकाई का कार्यक्रम गाँवों में नवजागरण (Renaissance) का एक माध्यम है, अवसर है। वह स्वयं क्रान्ति नहीं है, उसमें क्रांति के पहिले की सहायक प्रक्रिया बनने की सम्भावना है, जो समाज को क्रान्ति के प्रति संवेदनशील (Receptive) बना सकती है। इस अप्रोच की दृष्टि से बीघा-कट्ठा, श्रम-सहकार, और ग्रामकोष अनिवार्य प्रारम्भिक कदम हो जाते हैं।

१७—लक्ष्य स्थिर हो जाने पर कार्यक्रम स्थिर करना सरल हो जाता है। देश की आज की उलझी हुई परिस्थिति में एक पहला कदम ठीक उठा लेना कुछ कम बात नहीं है; लेकिन कदम उठाने के पहिले दृष्टि और अप्रोच स्थिर करना आवश्यक है। हम परिवार को बुनियादी इकाई मानकर सहकार की परिधि बढ़ायेंगे या गाँव के 'नेताओं' को लेकर एक तथा-कथित सहकारी संस्था बनाकर नकली उत्पादन-वृद्धि का कार्यक्रम चलायेंगे, यह तय हो जाना चाहिए।

अभी तक हो यह रहा है कि जो प्रवर्त्तो संस्था जो काम जिस ढंग से कर रही है उसी में ग्राम सहायक को लगा लेती है और अपने टोटल वेतन बिल का एक भाग कमीशन के मत्थे ठोंक देती है। ऐसा करना किसी दृष्टि से उचित नहीं है। होना यह चाहिए कि संस्था का खादी ग्रामोद्योग का काम ग्रामइकाई कार्यक्रम का अंग बन जाय, न कि यह कि इसके विपरीत संस्था ग्रामइकाई को अपने में समेट ले।

हर ग्रामइकाई के लिए समान कार्यक्रम तय करना स्थानीय अभिक्रम और जिम्मेदारी के विचार के विरुद्ध है। हर ग्रामइकाई को नहीं, हर गाँव और टोले को, बल्कि टोले के विभिन्न समुदायों को अपनी आवश्यकता और आकांक्षा के अनुसार कार्य सोचने और करने की छूट होनी चाहिए।

इस दृष्टि से यह सम्भव है कि एक ही गाँव में एक साथ कई कार्यक्रम चलें, जिनमें अलग-अलग परिवारों, समूहों या व्यक्तियों की रुचि हो। नाटक से लेकर ईंट के भट्ठे तक, भजन कीर्तन से लेकर खेती, चरखे और खाद बनाने तक काम ही काम हैं। इसका अर्थ यह है कि जो जहाँ है वहाँ से अपनी रुचि के अनुसार आगे बढ़ने के लिए सक्रिय हो, सचेष्ट हो। इसे 'marginal approach' कहते हैं।

गाँव में थोड़ी भी सक्रियता आती है तो कई ऐसे मित्र निकल आते हैं, जिनके द्वारा गाँव-स्तर पर सामूहिक कार्य की भूमिका तैयार होने लगती है। पुस्तकालय या स्कूल का निर्माण, सड़क की मरम्मत, कोई उत्सव या किसी मान्य अन्याय का प्रतिकार आदि ऐसे प्रसंग हैं, जो ग्रामीण जीवन के टूटे हुए धागों को जोड़ने का काम कर सकते हैं।

१८—कार्यक्रम की सफलता बहुत कुछ अनुकूल सगठन पर निर्भर है। सगठन के तीन तत्व हैं :— (क) स्वय इकाई का तन्त्र, (ख) ग्राम सहायक-सहायक संगठक का व्यक्तित्व और परस्पर सम्बन्ध, (ग) स्थानीय पचायत, कोआपरेटिव स्कूल तथा क्षेत्र का ब्लाक।

यद्यपि ग्रामइकाई कार्यक्रम अर्द्ध सरकारी है, फिर भी हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि वातावरण अधिक से अधिक गैर सरकारी रहे। सगठक, सहायक सगठक और ग्राम सहायक के पद और वेतन की नियमता एक बाधक तत्व है। होना यह चाहिए था कि ग्राम सहायकों में से ही लोग अनुभव और क्षमता के आधार पर सहायक सगठक बनते और धीरे धीरे सगठन का विकास होता, लेकिन तन्त्र पहिले बन गया और काम का विकास अब हो रहा है। फिर भी हमारा यह प्रयत्न रहे कि ग्रामइकाई में कागज और लाल-फीते की प्रधानता न होने दें और ग्राम सहायक को दूसरा V. L W होने से बचाये। इसके दो उपाय हैं—एक यह कि सस्थाएँ अपने अनुभवी, अवस्था प्राप्त कार्यकर्ता गाँव के लिए निकालें, सस्था के पदाधिकारी खुद भी किसी ग्रामइकाई को अपना प्रत्यक्ष कार्य क्षेत्र बनाये। इसके अलावा ग्रामइकाई शुरू करने के पहले पूर्व तैयारी के रूप में लोकसम्मति प्राप्त करने का आग्रह रखा जाय, ताकि जब ग्रामसहायक इकाई में जाय तो स्थानीय जनता उसे एक नये विचार, नये मूल्य, नयी पद्धति के प्रतिनिधि क रूप मे स्वीकार करे और उसे केवल मददगार माने।

हर एक सहायक सगठक ग्रामसहायक के साथ किसी ग्राम इकाई को अपनी माने, ताकि वह अपने विचारों को प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर कस सके।

स्टेट बोर्ड या राज्य सरकार से मिलकर यह काम होना चाहिए कि जिस ब्लाक में ग्रामइकाइयाँ हों वहाँ ब्लाक-स्तर पर ब्लाक-अधिकारियों, पचायतों, कोआपरेटिव और स्कूलों के प्रतिनिधियों की समय-समय पर बैठकें हों और वे क्षेत्र के विकास के बारे में विचार करें। कोई मिली जुली समिति भी बनायी जा सकती है।

ग्रामसहायकों के चुनाव के बारे में बहुत अधिक सतर्कता बरतने की जरूरत है। आज जिस तरह के नये युवक प्रायः लिये जा रहे हैं। वे इस काम को उठाने में समर्थ नहीं होंगे। हमारे अच्छे से अच्छे लोगों को इस काम के लिए सामने आना चाहिए।

१९—अगर हम ग्रामइकाई के कार्यक्रम को नव-जागरण का अग और माध्यम मानते हैं तो हमारी पद्धति शैक्षणिक ही हो सकती है, उपदेश या दबाव की नहीं। कार्यकर्ता गाँव का मित्र होगा और इस नाते वह गाँव के जीवन में सम्मिलित होकर, अपनी नेक सलाह से और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से काम करने की कोशिश करेगा। वह श्रम की बिरादरी कायम करेगा। खेल में, उत्सव में, सारे सुख दुख में गाँव का साथी होगा। बीमारी में प्राथमिक चिकित्सक होगा। खेती, खाद, खादी के लिए शिक्षक होगा। शान्ति रक्षा के तथा मान्य अन्याय के प्रतिकार के लिए निष्पक्ष, कठोर मित्र होगा।

हमारी पद्धति चेतन से चेतन को जोड़ने की होनी चाहिए, सस्था बना कर गाँव वालों से कायदा-कानून मनवाने की नहीं। जल्दी कुछ कर लेने की अधीरता में विकास का बुनियादी तत्व छूट जाता है। हमें सबसे अधिक गाँव के लोगों में काम के प्रति, पड़ोसी के प्रति, समाज की समस्याओं के प्रति नया ऐटीच्यूड पैदा करना है। वह कायदे-कानून से नहीं पैदा होगा। उसके लिए शिक्षण और सहकार की ही कोई प्रक्रिया निकालनी होगी, ताकि गाँव के लोग सामूहिक हित में अपना और अपने परिवार का हित देखने का अभ्यास कर सकें। मुझे लगता है कि जिसे 'इंस्टिट्यूशनल अप्रोच' कहते हैं यह गाँव के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है, अनुपयुक्त ही नहीं, बल्कि लोकतन्त्र के विकास के लिए अहितकर है। अगर हमने काम का यही ढग रखा तो मुझे भय है कि जो भी थोड़ी गैरसरकारी चेतना और शक्ति बची है वह समाप्त हो जायगी और देश में सर्वाधिकारी राज्य (Totalitarian state) के लिए रास्ता साफ हो जायगा। 'mass welfare' की अर्थनीति की यह अनिवार्य राजनीतिक निष्पत्ति होती है।

इतना तो न हो कि हमारी असावधानी से साम्यवाद या फासिस्टवाद के लिए अवसर मिल जाय।

मित्रो, ग्राम इकाई की समस्या सरल नहीं है, अत्यन्त कठिन है। हिन्दुस्तान के गाँवों की समस्या इस देश के पुरुषार्थ के लिए एक चुनौती है। इसी देश के गाँवों में साम्यवाद और सर्वोदय का अन्तिम निर्णय होने वाला है और ४५ करोड़ नर नारियों की बढ़ती हुई आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती तो लोकतन्त्र को समाप्त समझिए, अगर नागरिक शक्ति संगठित नहीं होती तो स्वतन्त्रता को समाप्त समझिए। कौन, किस तरह इन उठती हुई आकांक्षाओं की पूर्ति करेगा? कौन नागरिक शक्ति को संगठित करेगा? चावजूद चेतावनी के हमारी मध्यम वर्गीय लीडरशिप देश की अर्थनीति और राजनीति को तेजी ऐसे बिन्दु पर पहुँचा रही है, जहाँ ग्रामीण हितों और शहरी व्यापार और केन्द्रित उद्योगों में घातक संघर्ष अनिवार्य होता जा रहा है। जातिगत दमन और वर्गगत शोषण के साथ साथ अगर दलगत तनाव और ग्रामीण और शहरी हितों का संघर्ष भी जुड़ जाय तो इस देश का क्या हाल होगा, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

लेकिन घने बादलों में छिपी प्रकाश की रेखा भी है। वह रेखा यह है कि आज औसत व्यक्ति भी परिवर्तन चाहने लगा है और मन से परिवर्तन के लिए तैयार हो रहा है। युद्ध की ललकार के बीच भी वह शान्ति निर्माण की बात सुनने से इनकार नहीं करता। चीन के आन्दोलन ने भारतीय आत्मा में मन्थन पैदा कर दिया है।

इसलिए आवश्यकता है एक व्यापक ग्रामीण नेतृत्व (रूरल लीडरशिप) निर्माण करने की जो करोड़ों को दिशा दे, जो टूटते दिलों में नयी जान फूँक सके। क्या ग्रामइकाई यह चुनौती स्वीकार करेगी?

नेतृत्व पैदा करने की प्रक्रिया क्या होगी? हम मुख्य रूप से उत्पादन के क्षेत्र पर काम करना चाहते हैं तो हमारी टेक्नालोजी क्या है, पूँजी के अभाव में अगर श्रम की प्रचुरता का इस्तेमाल उत्पादन के लिए करना हो तो श्रम प्रधान टेक्नालोजी का अभ्यास कहाँ होगा? और अगर समाज में श्रम की प्रचुरता का प्रयोग करना हो तो श्रमिक और पूँजीपति का सम्बन्ध क्या होगा?

इन प्रश्नों का उत्तर केवल एक सीमित आर्थिक विकास के कार्यक्रम से नहीं मिलेगा। इसका उत्तर हमें अध्ययन, शोध, अनुभव से ढूँढ़ना है, लेकिन हम ढूँढ़ने में सफल भी तभी होंगे जब हम समग्र विकास की भूमिका में सोचेंगे। श्रम और साम्य के मूल्यों को साहस के साथ घोषित करेंगे और ग्रामइकाई के कार्यक्रम को लोकतान्त्रिक नवजागरण के साथ जोड़ेंगे।

ग्रामइकाई ग्राम स्वराज्य के लिए हवा तैयार कर सकती है। कम से कम उसमें ऐसा करने की सम्भावना है, लेकिन वह ऐसा कर सकेगी या नहीं, यह बहुत कुछ प्रवर्तो संस्थाओं पर निर्भर है। अगर संस्थाओं के संचालक, इकाइयों के संगठन, सर्कुलर और फाइल या रचनात्मक कार्य के कुछ पिटे पिटाये आइटेम तक ही सीमित रह गये और सारी जिम्मेदारी ग्रामसहायकों पर मढ़ दी गयी तो मुझे सन्देह है कि योजना शुरू में ही कुंठित होने से नहीं बचेगी।

ग्रामस्वराज्य आज एक स्वप्न है—वह भी इने-गिने पागलों तक सीमित, इसे नारा बनाना है। इसके लिए लोक-सम्मति प्राप्त करनी है। सम्मति बन जायगी तो शक्ति बनते देर नहीं लगेगी। इसके लिए ग्रामइकाई शायद अन्तिम खुला शान्तिपूर्ण अवसर सिद्ध हो। क्या हमलोग इतिहास के इस संकेत को समझेंगे।

[समाप्त]

●

मूँछोंवाली 'माँ' का पुण्य स्मरण

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

सन् १९२६ की बात है। उन दिनों मैं इन्दौर के क्रिश्चियन कालेज में इण्टर का विद्यार्थी था। गरमी की छुट्टियों में मुझे हाल ही खुले एक गुरुकुल में काम करने का मौका मिला। गुरुकुल इन्दौर के पास राऊ में खुला था। नाम था—मालव विद्यापीठ। इसी गुरुकुल में मैंने श्रद्धेय श्री गोपीवल्लभजी उपाध्याय के पास भावनगर की दक्षिणामूर्ति संस्था का कुछ गुजराती साहित्य पहले पहल देखा। 'शिक्षण-पत्रिका' और 'छात्रालय' नाम के मासिकों तथा 'दक्षिणामूर्ति' नामक त्रैमासिक के अंक भी वहीं पहली बार पढ़ने को मिले। 'शिक्षण पत्रिका' के अंकों ने मुझे बहुत प्रभावित, प्रेरित और आकर्षित किया। तभी से मैं उसका एक नियमित पाठक बन गया। स्वर्गीय श्री गिजुभाई बधेका के प्रत्यक्ष दर्शन का और उनके सत्संग तथा सीधे मार्गदर्शन का लाभ तो मुझे १९३१ के सितम्बर महीने के लगभग मिला, पर उनके प्राणवान साहित्य का रसास्वादन और उसका अध्ययन अनुशीलन मैं सन् '२६ के मई महीने से ही करने लगा था। उनके विचारों ने और उनकी लेखन-शैली ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला। मेरे जीवन को नयी दिशा और नया मोड़ देने में गिजुभाई के साहित्य का पर्याप्त योग रहा।

पहली जनवरी, १९२९ को मैं साबरमती आश्रम पहुँचा। वहाँ मुझे गांधीजी के हिन्दी साप्ताहिक 'हिन्दी नवजीवन' के सहायक सम्पादक का और हिन्दी-अध्यापन का काम मिला। आश्रम के पुस्तकालय और वाचनालय में दक्षिणामूर्ति का साहित्य बराबर आता रहता था, इसलिए मैं वहाँ भी अनायास ही सर्व श्री गिजुभाई, नानाभाई, ताराबहन और हरभाई की रचनाओं को बराबर रुचि पूर्वक और ध्यान-पूर्वक पढ़ता रहा। शिक्षा के क्षेत्र में जो एक अनूठा, तेजस्वी और मौलिक प्रयोग उन दिनों दक्षिणामूर्ति संस्था कर रही थी, राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में उसका अपना एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान था। उस महान और अद्भुत प्रयोग ने सारे गुजरात सौराष्ट्र की नयी-पुरानी दोनों पीढ़ियों को आन्दोलित, प्रभावित और प्रेरित कर रखा था। उस जमाने में शिक्षा का वैसा प्राणवान प्रयोग देश में और कहीं इतनी क्रान्त दृष्टि और वृत्ति के साथ शायद हो भी नहीं रहा था। इसलिए बापू के आश्रम में रहते हुए भी मैं दक्षिणामूर्ति के इन प्रयोगों को बड़ी श्रद्धा और भावना से पढ़ा, सुना और देखा करता था।

स्वर्गीय श्री गिजुभाई ने उन दिनों बाल-जीवन और बाल शिक्षण के सम्बन्ध में जो क्रान्त चिन्तन किया था और गुजरात-सौराष्ट्र के जन मानस को अपने विचारों तथा प्रयोगों से जिस प्रकार प्रभावित किया था, वह उस जमाने की उनकी अपनी एक अद्भुत और अलौकिक सिद्धि ही थी। स्वयं गिजुभाई भी बालोपासना के अपने इस युग कार्य में एक साधक की-सी श्रद्धा, निष्ठा, उत्कटता और तन्मयता से जुट गये थे।

सन् १९१६ के लगभग उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बदला। अच्छी, जमी जमाई और चलती हुई वकालत छोड़ने का निश्चय किया। उन्होंने अनुभव किया कि उनका अपना स्वधर्म शिक्षा है, इसलिए स्वधर्म पालन का व्रत धारण करके वे वकील से शिक्षक बने। शिक्षा के क्षेत्र में भी छोटे बच्चों की शिक्षा को उन्होंने अपना जीवन कार्य बनाया और वे उसमें अद्भुत एकाग्रता के साथ रम गये। लगातार तेईस वर्षों तक उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रचण्ड पुरुषार्थ किया। बाल शिक्षा के तो वे भगीरथ ही बन गये। उनकी सी निष्ठा और उनका-सा क्रान्तिकारी चिन्तन, अनुशीलन और प्रयोग, अपने समय में उन्हीं की अपनी चीज रही। वे अपने क्षेत्र में अद्वितीय सिद्ध हुए।

उन्होंने अपने समय के समाज में छोटे बच्चों की प्रतिष्ठा, पूजा और उपासना का जो विचार फैलाया और प्रत्यक्ष जीवन में उसे जिस तरह स्वयं सिद्ध किया तथा दूसरों से सिद्ध करवाया, उसकी अपनी एक अद्भुत-रम्य कथा है। शब्दों में उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। जिन्होंने उन दिनों गिजुभाई को अपनी सुध बुध खोकर काम करते देखा है, वे ही जानते हैं, समझते हैं और वे ही हमें बता सकते हैं कि गिजुभाई बाल जीवन के पीछे, उसे स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने के लिए कितने पागल थे, कितने अधीर उत्सुक और उत्कण्ठ थे। जो निष्ठा कर्मठता और एकाग्रता धनुर्धारी अर्जुन के जीवन में प्रकट हुई थी, बाल शिक्षा के क्षेत्र में उसी को गिजुभाई ने अपने जीवन में बहुत दूर तक सिद्ध कर दिखाया था। यही कारण है कि वे अपने समय में बाल शिक्षा के सबसे बड़े ज्योतिर्धर सिद्ध हुए।

वैसे तो बाल जीवन और बाल शिक्षा के मर्म को गिजुभाई ने इटली निवासिनी मेरिया मोण्टेसोरी के ग्रन्थों से पकड़ा और आत्मसात किया था पर इस विषय में उनकी अपनी प्रतिभा और मौलिकता ने भी बहुत बड़ा और गहरा काम किया। भारतीय वातावरण में, भारतीय लोकजीवन की उस समय की परिस्थिति को ध्यान में रखकर, बाल शिक्षा की दिशा में गिजुभाई ने जो मौलिक चिन्तन किया और बालजीवन को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के लिए, विपरीत वातावरण में भी जैसे साहस पूर्ण और सूझ बूझ भरे प्रयोग किये वे सब तो भारत के लिए, भारत-वासियों के लिए अनमोल देन ही बने।

अपने जीवन काल में गिजुभाई माता मोण्टेसोरी को प्रत्यक्ष देख नहीं सके। उन्होंने केवल बाल जीवन और बाल शिक्षण-सम्बन्धी उनके ग्रन्थों का गहन अध्ययन और अनुशीलन ही किया था, पर उनकी प्रेरक प्रतिभा उन्हें इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा ले गयी। यदि हम यह कहें कि बाल शिक्षा के क्षेत्र में गिजुभाई ने एकलव्य की सी अद्भुत निष्ठा, एकाग्रता और सिद्धि पायी थी तो मेरे नम्र विचार में इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी।

सन् १९२० में गिजुभाई ने भावनगर में अपना सबसे पहला बालमन्दिर आरम्भ किया। माता कस्तूरबा गांधी ने उसका उद्घाटन किया और उसे अपने अन्तर का आशीर्वाद दिया। गिजुभाई का यह बालमन्दिर दिन दूना, रात चौगुना बढ़ता ही चला गया। देखते देखते उसकी सुवास चारों ओर फैल गयी। बालशिक्षा का यह एक तीर्थ ही बन गया। यात्रियों का ताँता-सा लग गया। गिजुभाई का उत्साह और उनकी उपासना दोनों में भारी सकामकता थी। उन दिनों जो भी उनके निकट सम्पर्क में आया, जिस किसी ने भी उनको बाल सेवा और बालोपासना करते देखा, वही उनके साथ हो लिया और उनके जीवन कार्य को सिद्ध करने में उनका साथी-सहयोगी बन गया।

उन दिनों जो भी उनके साथी सहयोगी बने, उनमें साधना, सेवा और समर्पण की उत्कटता पायी गयी। प्राय वे सब अपने समूचे जीवन के लिए बाल सेवक बन गये। उनमें श्रीमती ताराबहन मोडक का नाम सबसे पहले आता है। हमारे देशमें गिजुभाई के बाद बाल शिक्षा के विचार को अनन्य भाव से पकड़ कर उस पर अपना सारा जीवन न्योछावर करने वालों में ताराबहन अद्वितीय हैं। आज भी लगभग ७५ साल की उम्र में वे महाराष्ट्र के जिले के आदिवासी क्षेत्र में, पहाड़ों और जंगलों के बीच बड़ी उत्कटता, धीरता,

और अनन्यता के साथ बाल जीवन की गहराइयों को नापने में लगी हैं।

एक समय था, जब गिजुभाई और तारावहन का नाम सारे गुजरात, काठियावाड़ में 'राधा कृष्ण' के नाम की तरह घर घर फैला हुआ था और नित्य-स्मरणीय बन गया था। बाल-सेवा के काम में ये दोनों मित्र इतने ओतप्रोत हो गये थे कि इनकी एक अटूट जोड़ी ही बन गयी थी। आज भी गुजरात काठियावाड़ की जनता इन दो नामों को बड़ी श्रद्धा से सुनती है और बड़े भाव से इनका स्मरण करती है।

वर्षों तक बाल शिक्षा के क्षेत्र में नाना प्रकार के क्रान्तिकारी प्रयोग करने के बाद गिजुभाई ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। बार बार के प्रयोगों से जो साहित्य बच्चों में बहुत चला, जिसे बच्चों ने बड़ी रुचि से सुना, पढ़ा और आत्मसात किया, उसे गिजुभाई ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में छापना शुरू किया। सबसे पहले उन्होंने ढाई से छ बरस के बच्चों के लिए लोककथाओं पर आधारित बालवार्तायें पाँच भागों में लिखीं। फिर 'बाल-साहित्य-माला' के नाम से अस्सी पुस्तकों का एक सेट क्रमशः प्रकाशित किया। उसे हम उस समय के बालकों के लिए एक छोटा बाल विश्वकोष कहें तो शायद वह गलत न होगा। गुजराती भाषी समाज में उन दिनों ये छोटी छोटी पुस्तिकायें बहुत लोकप्रिय हुईं और खूब चलीं।

बच्चों के साथ ही बड़ों ने भी इन पुस्तिकाओं के द्वारा बहुत कुछ नया और प्रेरणा देने वाला विचार पाया। फिर गिजुभाई ने कुछ बड़े बच्चों के लिए किशोर साहित्य की रचना की। दो भागों में लिखी हुई उनकी 'किशोर कथायें' खूब चलीं। बाद में 'बाल-साहित्य-गुच्छ' के नाम से गिजुभाई ने स्वयं २५ किशोरोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इसमें कुछ खुद उनकी लिखी थीं और कुछ तारावहन, गिरीशभाई आदि उनके साथियों की। 'बाल-साहित्य-गुच्छ' के बाद उन्होंने 'बाल-साहित्य वाटिका' के नाम से १०८ पुस्तकें निकालने का एक महान सङ्कल्प किया और अपने साथियों के सहयोग से अपने जीवन-काल में लगभग ४० पुस्तकें विविध विषयों पर निकालीं भी। यदि भगवान के घर से उन्हें जल्दी बुलाया न जाता तो वे अपना यह सङ्कल्प भी अवश्य ही पूरा करते। उनके मन में एक 'बाल विश्वकोश' की रचना का विचार रूप ले चुका था। वे उसकी तैयारी में लग भी चुके थे। यदि भगवान की ओर से उन्हें दस-बारह वर्ष का समय और मिल जाता तो इसमें सन्देह नहीं कि इस देश के बालकों को गुजराती के माध्यम से एक अनूठी भाषा शैलीवाला, ऊँचे दरजे का 'बाल विश्व-कोश' मिल जाता, किन्तु शायद दैव को वह स्वीकार न था, इसलिए गिजुभाई का वह मनोरथ सिद्ध न हो सका।

बालकों के लिए गिजुभाई ने स्वयं जितना कुछ लिखा और जितना कुछ अपने साथियों से लिखवाया, उससे भी अधिक उन्होंने बालकों के पालकों और शिक्षकों के लिए लिखा और लिखवाया। गुजराती में उनकी लिखी ये पुस्तकें आज भी बड़े चाव से और मनोयोग पूर्वक पढ़ी जाती हैं। उन्होंने माता पिताओं और शिक्षकों का दिल दिमाग तैयार करने के लिए गुजराती में 'शिक्षण-पत्रिका' के नाम से एक मासिक पत्र निकालना शुरू किया था, जो गुजराती और मराठी भाषा में आज भी निकल रहा है। अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने 'शिक्षण पत्रिका' के माध्यम से गुजरात के माता पिताओं और शिक्षकों के लिए जो मौलिक और विविध साहित्य प्रस्तुत किया, उसे हम बिना किसी सङ्कोच के शाश्वत साहित्य की श्रेणी में रख सकते हैं। उसकी अधिकांश रचनाएँ तो ऐसी हैं, जो किसी भी समय में, और किसी भी समाज के बीच, उतनी ही रुचि के साथ पढ़ी जायेंगी जितनी वे गिजुभाई के जीवन काल में उस समय के गुजराती समाज में पढ़ी गयीं। हमारा दुर्भाग्य है कि हम अपनी राष्ट्र भाषा हिन्दी में अब तक गिजुभाई के उस साहित्य को उतार नहीं पाये।

जैसे जैसे गिजुभाई का अनुभव और विश्वास बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके अन्दर बैठा हुआ मिश नरी भाव जोर पकड़ता गया और वे अपने मिशन को व्यापक बनाने के प्रयत्न में लग गये। उन्होंने जगह-जगह माता-पिताओं, शिक्षकों और शासकों आदि को

प्रेरित तथा प्रोत्साहित करके ढाई से छ वर्ष की उम्र के बच्चों के लिए शहरों, कस्बों और गाँवों में सैकड़ों बाल-मन्दिर खुलवाये और इन बाल-मन्दिरों में मिश नरी वृत्ति से काम करने वाले निष्ठावान शिक्षक शिक्षिकाओं को तैयार करने के लिए उन्होंने भावनगर के दक्षिणामूर्ति भवन में एक बाल अध्यापन मन्दिर का श्री गणेश किया। गिजुभाई स्वयं इसके आचार्य बने।

उन्होंने अपने जीवन-काल में इस अध्यापन-मन्दिर के कई सत्र कड़े परिश्रम और बड़ी सफलता के साथ चलाये। गुजरात काठियावाड़ के कोने-कोने से नयी उम्र के शिक्षक भाई बहन गिजुभाई के अध्यापन मन्दिर में इकट्ठा होने लगे और उनके तथा तारा बहन मोडक के चरणों में बैठकर बाल-जीवन और बाल शिक्षण की गहराइयों को मनोयोग पूर्वक समझने लगे। इस प्रकार लगभग ६०० भाई-बहन बालोपासना की नयी दीक्षा लेकर सारे गुजरात और काठियावाड़ में फैल गये। इन सबका परिणाम यह हुआ कि समूचे भारत में आज गुजरात ही एक ऐसा प्रान्त है, जहाँ माध्यमिक से पहले की शिक्षा बहुत बड़े पैमाने पर गाँवों, कस्बों और शहरों में फैली हुई मिलती है। विशेषता यह है कि इन बाल शिक्षा-संस्थाओं का सारा काम मुख्यतः अशासकीय संस्थाओं द्वारा जन सहयोग के आधार पर चलाया जा रहा है।

सन् १९३४ में गिजुभाई ने निश्चय किया कि बाल शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारों और प्रयोगों की जानकारी गुजरात के बाहर भी फैलनी चाहिए। इसके लिए उन्होंने अपनी 'शिक्षण-पत्रिका' को हिन्दी में भी प्रकाशित करने का फैसला किया। जून, १९३४ में 'हिन्दी शिक्षण पत्रिका' का पहला अंक इन्दौर से प्रकाशित हुआ। उसके सम्पादन और प्रकाशन की जिम्मेदारी उन्होंने मुझे सौंपी। जून, १९३४ से अप्रैल १९५७ तक हिन्दी में 'शिक्षण पत्रिका' निकलती रही। '५२ तक मैं उसका सम्पादक प्रकाशक बना रहा। बाद में परिस्थितिवश मुझे पत्रिका की सेवा से अपना हाथ खींच लेना पड़ा। गिजुभाई चाहते थे कि देश की सभी प्रान्तीय भाषाओं में बाल शिक्षा का विचार फैले और उसका व्यापक अध्ययन अनुशीलन हो, किन्तु साधनों और सहयोगियों के अभाव में उनका यह मनोरथ पूरा नहीं हो पाया, पर इस विषय में उनके मन में जो उत्कटता थी वह तो अन्त तक बनी ही रही।

गिजुभाई दक्षिणामूर्ति संस्था के आजीवन सेवक बन गये थे। सन् '३८ में वे दक्षिणामूर्ति की सेवा से निवृत्त हुए और स्वतन्त्र सेवा के अपने सँजोने में रम गये। उनकी आकांक्षाओं का कोई पार नहीं था। बच्चों के लिए वे अपना सर्वस्व लुटाने को तैयार रहते थे। बाल सेवा और बालोपासना के विचार ने उन्हें इतनी मजबूती से पकड़ लिया था कि उसके अलावा उन्हें जीवन में और किसी काम के लिए कोई रस शायद रह ही नहीं गया। वे दिन रात बाल-सेवा के ही सपने नाना प्रकार से देखा करते थे। निवृत्त होने पर भी वे चुप नहीं बैठे। उनकी निवृत्ति के अवसर पर गुजरात की जनता ने उनका बड़े भाव के साथ सार्वजनिक सम्मान किया। उन्हें दस हजार रुपयों की एक थैली भेंट की गयी।

गिजुभाई ने जनता के इस प्रेमोपहार को भी अपने बाल भगवान के चरणों में चढ़ा दिया। बाल साहित्य के क्षेत्र में उनकी मौलिक और मूल्यवान सेवाओं की बड़ी कद्र की गयी। उन्हें रणजीतराम स्वर्ण पदक भेंट किया गया, किन्तु स्वयं गिजुभाई इन सब सम्मानों से अलिप्त रहे। उन्होंने अपनी जीवन साधना को कभी क्षीण नहीं होने दिया। निवृत्ति के कुछ समय बाद से ही उनका शरीर थकने लगा था।

जिस मनुष्य ने अपने उपास्य के लिए 'पीर बबर्ची भिश्ती खर' की भूमिका धारण करके दिन को दिन नहीं समझा, रात को रात नहीं समझा और लगातार २० वर्षों तक भूत की सी गति से प्रचण्ड पुरुषार्थ किया, शरीर से कहीं अधिक चिन्ता अपने सेवा कार्य की रखी। यदि अति श्रम के कारण निवृत्ति के बाद उसके शरीर ने साथ देना कम कर दिया तो उसने अनुचित किया ? शरीर ने अपना धर्म ही पाला। गिजुभाई ने भी अपने धर्म की रक्षा की।

धीरे धीरे शरीर इस योग्य नहीं रहा कि वह कड़ा परिश्रम कर सके। शरीर की चेतावनियों को गिजुभाई

ने चेतावनी नहीं माना। अस्वस्थ दशा में भी वे भावी बाल-शिक्षकों की एक टोली के साथ मेहनत करते ही रहे। बीमारीः के बिछौने पर लेटे-लेटे उनके प्रवचन होते रहे। आखिर जब शरीर बहुत ही लड़खड़ा गया तो वे निरुपाय हो गये। उन्हें उपचार के लिए बम्बई ले जाना पड़ा। वहाँ वे हरकिशनदास अस्पताल में भर्ती हुए। डाक्टरों के भी बस का नहीं रहा। जिस भगवान को गिजुभाई ने बाल-रूप में पूजा था, उसने उन्हें अपने पास बुला लिया। उनका नश्वर शरीर पंच तत्त्वों में विलीन हो गया। २३ जून, १९३९ के दिन उन्हें भगवान के घर का बुलावा आया और वे केवल ५४ साल की उम्र में अपना परम प्रिय सेवा-कार्य छोड़कर हम सबसे सदा के लिए विदा हो गये।

इसमें सन्देह नहीं कि वे आज हमारे बीच नहीं हैं। हम से बिछुड़े उन्हें २४ साल पूरे हो रहे हैं। इसी २३ जून को उन्हें जानने-मानने वाले देश में उनकी २५ वीं पुण्यतिथि मनायेंगे और उनकी महान तथा अद्भुत बाल-सेवा के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति चढ़ायेंगे। हमें विश्वास है कि जब तक देश में बाल-शिक्षा का प्रश्न रहेगा और बाल-शिक्षा का चिन्तन-मनन, अनुशासन-परिशोधन चलता रहेगा, तब तक गिजुभाई की प्रेरणाएँ अमर बनी रहेंगी और उनका छोड़ा अधूरा काम क्रम क्रम से पूरा होता रहेगा।

अपने जमाने के सन्दर्भ में गिजुभाई ने बाल-सेवा और बाल-शिक्षा के क्षेत्र में जो भी कुछ सोचा, किया और कराया, वह अपनी जगह अद्भुत और अपूर्व था। उसमें व्यापक क्रान्ति की सम्भावनाएँ थीं। यही कारण था कि उस जमाने में गिजुभाई के आस-पास क्रान्ति-कार्य के लिए सैकड़ों भाई-बहन इकट्ठा हो गये थे। उन दिनों हम अपने देश में दूसरों के गुलाम थे। गिजुभाई ने भावनगर-जैसी एक प्रगतिशील रियासत में रहकर अपना सारा चिन्तन और प्रयोग किया था। फिर भी देश में जो दासता छायी हुई थी, उसके प्रभाव और परिणाम से वे अछूते नहीं रह सके थे। जिस व्यक्ति ने पराधीन भारत में इतनी तेजस्विता और स्वतन्त्रता के साथ बाल शिक्षा के सफल प्रयोग किये, वह व्यक्ति किसी स्वतन्त्र देश में पैदा हुआ होता तो अपने बाल देवता के लिए क्या-क्या नहीं करता और करा लेता! सौभाग्य से आज देश स्वतन्त्र है; पर देश के पास कोई गिजुभाई नहीं है, जो ४५ करोड़ भारतवासियों के बच्चों को स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, स्वावलम्बन, सामर्थ्य और समृद्धि की दीक्षा दे सके और सारी बाल-जाति को मानवता का नया मार्ग सिखा सके। यदि हम चाहते हैं कि हमारे इस स्वाधीन देश में नया निर्भीक, स्वावलम्बी और स्वतन्त्रचेता नागरिक खड़ा हो, तो उसके लिए हमें अपने बीच एक नहीं, अनेक गिजुभाइयों का आवाहन करना होगा अथवा स्वयं गिजुभाई बनना होगा और इस समय के अपने बाल-देवताओं की उपासना-आराधना गिजुभाई की-सी उत्कटता और अनन्यता के साथ करनी होगी। काश, हम सब ऐसा कर सकें!

मैंने इस लेख का नाम 'मूँछोंवाली माँ का पुण्य स्मरण' रखा है। पाठक पूछेंगे कि यह मूँछोंवाली माँ कौन थी? मेरा निवेदन यह है कि गिजुभाई पूरे गुजरात-काठियावाड़ में बालदेवता की अपनी अनन्य उपासना के कारण इसी नाम से याद किये जाते थे। भगवान ने उन्हें पुरुष का शरीर दिया था, पर उनका मन माँ का था। जो प्यार-दुलार एक माँ अपने बच्चों को देती है, उससे अधिक ऊँचा प्यार-दुलार उन्हें देने की शक्ति और भक्ति भगवान ने गिजुभाई को दी थी। बड़ी-बड़ी मूँछों से घिरा हुआ उनका भरा-पूरा चेहरा बच्चों के लिए माँ का ही चेहरा बन गया था; इसीलिए गिजुभाई को निकट से जानने और बाल-सेवा की उनकी लगन को समझनेवाले उनके साथी-संगी उन्हें कभी विनोद में तो कभी सच्चे हृदय से 'मूँछोंवाली माँ' कह कर पुकारते थे और इस प्रकार उनकी बालोपासना के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते थे। ऐसे मातृ वात्सल्य से भरे-पूरे एक महान जीवन शास्त्री और शिक्षा-शास्त्री के पुण्य स्मरण का लाभ 'नयी तालीम' के सम्पादक जी की प्रेरणा से मुझे इस बार मिला और मैं स्व० श्री गिजुभाई के चरणों में अपनी श्रद्धा के ये कुछ

[शेष पृष्ठ ४०९ पर]

दोषी कौन ?

स्व० श्री गिजुभाई

कई घर देख कर आया · दुःख का बोझा लेकर आया ।

एक घर पहुँचा—

बाप मजदूरी पर था । माँ पानी भरने गयी थी । घर में बालक रो रहा था । सिसक-सिसक कर रो रहा था । दरवाजा बाहर से बन्द था ।

दूसरे घर पहुँचा—

मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । बालक पड़ा पड़ा रो रहा था । पालने में हगा हुआ था । घर में कचरा पड़ा हुआ था । माँ खाना पका रही थी । बाप बीड़ी पी रहा था । माँ पर नाराज हो रहा था । बालक खूब रो रहा था । उसे उठाने वाला कोई न था ।

तीसरे घर पहुँचा—

घर बिल्कुल सूना पड़ा था । न बरतन भांड़े थे, न कपड़े-लत्ते थे । विधवा माँ थी । तीन उसके बच्चे थे । घर में पेट भर खाने को न था । बदन पर फटे फुटे कपड़े थे । मुट्ठी मुट्ठी अनाज माँग कर लायी थी । बालक आपस में लड़ रहे थे । माँ की आँखें डबडबायी हुई थीं ।

चौथे घर पहुँचा—

बाप आँखें दिखा रहा था । लड़का पाठ पढ़ रहा था । माँ बुरा भला कह रही थी । बहन को उलाहने सुना रही थी । बहन नीचा सिर किये सुन रही थी । मन ही मन मुसमुसा रही थी ।

पाँचवें घर पहुँचा—

माँ-बाप झगड़ रहे थे । लड़के उन्हें देख रहे थे । दोनों चिल्ला चिल्ला कर बोल रहे थे । हाथ दिखा दिखाकर बोल रहे थे । एक दूसरे को गालियाँ दे रहे थे ।

छठे घर पहुँचा —

सास-बहू का झगड़ा था । ननद बात बढ़ा रही थी । नन्हा बालक रो रहा था । बहू ने उसे पीट दिया था । ससुर बहू को बुरा भला कह रहे थे । पतिदेव कहीं बाहर गये थे ।

सातवें घर पहुँचा—

बालक बीमार था। खिड़की दरवाजे सब बन्द थे। हवा-उजेले का नाम न था। घर में ओझा बैठा था। धूप धाप कर रहा था। भोले माता-पिता देख रहे थे। बालक घबरा रहा था। दवा कोई लाता न था। 'माताजी' की मनाही थी।

आठवें घर पहुँचा—

घर में सन्नाटा था। अम्माजी बाहर गयी थीं। बाबूजी अखबार पढ़ रहे थे। बालक बैठे पढ़ रहे थे। शिक्षक पत्थर की तरह गुमसुम बैठे थे। शिक्षक से सब डरते थे। झट-झट पाठ रट रहे थे। शिक्षक तमकीर सूँघ रहे थे। सिर खुजला रहे थे।

नवें घर पहुँचा—

बालक देहली पर ही मिल गये। नौकरों के साथ खेल रहे थे। नौकर गन्दी बोली बोल रहे थे। लड़के गन्दी बातें सुन रहे थे। नौकर बीड़ी पी रहे थे। लड़कों को चूमा दे रहे थे। नौकर डरा रहे थे। लड़के चुपचाप बैठे थे।

दसवें घर पहुँचा—

आँगन में लड़के खेल रहे थे। गन्दी धूल में खेल रहे थे। घर घर खेल रहे थे। दुल्हा दुल्हिन खेल रहे थे। गन्दी बातें कर रहे थे। कोई उन्हें कुछ कहता न था। किसी को उनकी परवाह न थी।

माँ से न हीं बोलूँगा

'मैं माँ से न हींबोलूँगा।'

माँ कहती हैं—'तुझे पूड़ी न बेलने दूँगी। तू टेढ़ी-मेढ़ी बनाता है।'

'जरा टेढ़ी मेढ़ी तो बनेंगी ही न ! मैं अभी बच्चा जो हूँ।'

माँ कहती हैं—'तुझे पानी न भरने दूँगी, तू पानी फैलाता है।'

'तो थोड़ा पानी तो फैलेगा ही न ! मैं तो अभी बच्चा हूँ।'

माँ कहती है—'साग न काटने दूँगी, अँगुली कट जायगी।'

'कभी कट भी गयी तो क्या हुआ ! मैं अभी बच्चा हूँ न !'

माँ कहती हैं—'साबुन न लगाने दूँगी, तुझे लगाने नहीं आता।'

'तो बगैर लगाये आयेगा कैसे ! और मैं अभी बच्चा जो हूँ।'

'मैं माँ से नहीं बोलूँगा।'

अब किसी से कुछ पूछूँगा ही नहीं !

मैंने माँ से कहा— देखो तो, यह कीड़ा कैसा टेढ़ा चलता है !'

माँ बोलीं—'फेंक दे उसे। कोई छूता भी है !'

मैंने बाबूजी से कहा—'देखिए तो, मैंने यह अक लिखे हैं।'

बाबूजी बोले—'ये तो सब शून्य हैं। वाह, क्या कहने हैं, इस अंक के! मूर्ख कहीं का!'
भैया से मैंने कहा—'देखो तो दद्दा, यह गुल्दस्ता कैसा बना है!'
दद्दा बोले—'बना क्या है, तुम्हारा सिर। गुल्दस्ते ऐसे बनते होंगे!'
जीजी से मैंने पूछा—'जीजी, देखो तो, यह कटोरी मैंने कितनी साफ माँजी है! खूब घिस घिस कर माँजी है, भला।'
जीजी बोली—'इस पर ये दाग क्यों हैं। यह भी कोई माँजना हुआ!'
जमुना चाची से मैंने कहा—'देखो चाची, मैंने अपने बाल कैसे सँवारे हैं! खुद अपने हाथों सँवारे हैं, भला!'
काकी बोलीं—'इतनी उमर हो गयी, फिर भी बाल सँवारना न आया तुझे। जरा आईने में तो देख!'

माँ को फ़ुर्सत है

'माँ तुम आओगी न! देखो, हमने ये घर बनाये हैं।'
'हाँ, लेकिन ये माँजे हुए बरतन ऊपर चढ़ा दो तो तुरत आ जाऊँगी।'
'माँ, चलो-चलो, तुम्हें रामू का तमाशा दिखाऊँ। देखो न, वह जाली से लटका है और हँस रहा है।'
'चलो, यह आयी। झाड़ू लौट कर दे लूँगी!'
'माँ, आज साँझ को हमारे साथ घूमने चलोगी!'
'हाँ चलूँगी, पर जरा इसे ठीक से जमा दोगे तो जल्दी फुरसत पा जाऊँगी और झट चली चलूँगी।'
'माँ, आज हम चाँदनी में खेलेंगे। तुम आना, भला।'
'भई, जरा यह जूठन साफ कर दो तो काम जल्दी हो जाय और मैं जल्दी चलूँ।'

माँ को फ़ुरसत नहीं

'माँ माँ, देखो तो! मैंने मोतियों की यह कैसी सुन्दर माला पिरोयी है!'
'भाई, मुझे फ़ुरसत नहीं है। दूर हटो। मुझे बरतन माँजने दो।'
'माँ-माँ, इधर तो आओ। इस पेड़ पर कितने सारे पपीते लगे हैं। और, इसे तो देखो, कितना बड़ा है!'
'भाई, मुझे फ़ुरसत नहीं है। तुम्हीं देखो। मैं तो जूठन साफ कर रही हूँ।'
'माँ, तुम आज हमारा खेल देखने आओगी! आज हम एक नया खेल खेलेंगे।'
'भाई, मुझे फ़ुरसत कहाँ। मैं तो कपड़े धोऊँगी।'
'माँ, ओ माँ! चलो, देखो तो, भैया ने एक सुन्दर बँगला बनाया है। देखने लायक है।'
'तुम देखा करो। मुझे फ़ुरसत नहीं। मुझे अभी कपड़े सुखाने हैं।'
'ओ माँ, माँ! चलो, तुम्हें एक तमाशा बताऊँ। मुन्नी हँस रही है—देखो तो, कैसी खिल-खिला कर हँस रही है।'
'भाई, मैं ना देख सकूँगी। साँझ पड़ने को है, और मुझे घर बुहारना है।'

प्रभाकर बाबू से कहा—'देखो प्रभाकर बाबू, मैंने इस कागज की कैसी सुन्दर बेल बनायी है!'

वह बोले—'ऐसी तो सभी बना लेंगे। इसमें तारीफ की क्या बात हुई! बड़े सयाने चले हैं!'

'सब मुझे टेढ़े-टेढ़े जवाब देते हैं। मैं अब किसी से कुछ पूछूँगा ही नहीं।'

बालक को न मारिए!

बच्चे तो बच्चे हैं। वे हमसे बढ़कर और बलवान नहीं हैं। हमारा सामना करने योग्य भी नहीं हैं। यदि हमने उन्हें मारा भी तो वे रोकर बैठे रहेंगे। सिसक-सिसक कर सो जायेंगे। भूखे-प्यासे सो जायेंगे।

मारने से पहले शरमाइए—

निर्बल को सताने में शोभा क्या?

कमजोर को मारने में बहादुरी क्या?

गुलाम को पीटने में पुरुषार्थ क्या?

जो भली-भाँति बोल नहीं सकता और न जो अपनी बात समझा सकता है, उसे मारने में बहादुरी क्या?

मारने से कुछ नहीं होता—

मारने से उन्हें अक्ल नहीं आती।
मारने से उनमें समझ नहीं आती।
मारने से उन्हें याद नहीं होता।
मारने से बिगड़ी बात नहीं सुधरती।
मारने से वे चतुर नहीं बनते।

लेकिन—

मारने से बालक बीमार पड़ता है।
मारने से बालक मार-प्रूफ बनता है।
मार खाने से बालक मारनेवाला बनता है।
मार खाने से बालक बेहया बनता है।
मार खाने से बालक डरपोक बनता है।
मार खाने से बालक झूठ बोलता है।
मार खाने से बालक गुण्डा बनता है।
न मारिये! बालक को न मारिये!!

साहब, याद नहीं रहता

विट्ठल सुतार था। अभी लड़का ही था, मगर लकड़ी चीरना और रन्दा चलाना जान गया था। छोटी-मोटी चीजें भी बना लेता था; लेकिन इतिहास भूगोल थे कि उसे कभी याद ही न होते थे। बेचारा रट-रट कर परेशान हो जाता था।

बाबूजी बोले—'ये तो सब शून्य हैं। वाह, क्या कहने हैं, इस अक्ल के! मूर्ख कहीं का!'
भैया से मैंने कहा—'देखो तो दद्दा, यह गुलदस्ता कैसा बना है!'
दद्दा बोले—'बना क्या है, तुम्हारा सिर। गुलदस्ते ऐसे बनते होंगे!'
जीजी से मैंने पूछा—'जीजी, देखो तो, यह कटोरी मैंने कितनी साफ़ माँजी है! खूब घिस घिस कर माँजी है, भला!'
जीजी बोलीं—'इस पर ये दाग जो हैं! यह भी कोई माँजना हुआ!'
जमुना चाची से मैंने कहा—'देखो चाची, मैंने अपने बाल कैसे सँवारे हैं! खुद अपने हाथों सँवारे हैं, भला!'
काकी बोलीं—'इतनी उमर हो गयी, फिर भी बाल सँवारना न आया तुझे। ज़रा आईने में तो देख!'

माँ को फ़ुर्सत है

'माँ तुम आओगी न? देखो, हमने ये घर बनाये हैं।'
'हाँ, लेकिन ये माँजे हुए बरतन ऊपर चढ़ा दो तो तुरत आ जाऊँगी।'
'माँ, चलो-चलो, तुम्हें रामू का तमाशा दिखाऊँ। देखो न, वह डाली से लटका है और हँस रहा है।'
'चलो, यह आयी। झाड़ू लौट कर दे दूँगी!'
'माँ, आज साँझ को हमारे साथ घूमने चलोगी?'
'हाँ चलूँगी, पर ज़रा इसे ठीक से जमा दोगे तो जल्दी फुरसत पा जाऊँगी और झट चली चलूँगी।'
'माँ, आज हम चाँदनी में खेलेंगे। तुम आना, भला।'
'भई, ज़रा यह जूठन साफ़ कर दो तो काम जल्दी हो जाय और मैं जल्दी चलूँ।'

माँ को फ़ुरसत नहीं

'माँ माँ, देखो तो! मैंने मोतियों की यह कैसी सुन्दर माला पिरोयी है!'
'भाई, मुझे फ़ुरसत नहीं है। दूर हटो! मुझे बरतन माँजने दो।'
'माँ-माँ, इधर तो आओ। इस पेड़ पर कितने सारे पपीते लगे हैं। और, इसे तो देखो, कितना बड़ा है!'
'भाई मुझे फ़ुरसत नहीं है। तुम्हीं देखो। मैं तो जूठन साफ़ कर रही हूँ।'
माँ, तुम आज हमारा खेल देखने आओगी? आज हम एक नया खेल खेलेंगे।'
'भाई मुझे फ़ुरसत कहाँ। मैं तो कपड़े धोऊँगी।'
'माँ, ओ माँ! चलो, देखो तो, भैया ने एक सुन्दर बँगला बनाया है। देखने लायक है।'
'तुम देखा करो। मुझे फ़ुरसत नहीं। मुझे अभी कपड़े सुखाने हैं।'
'ओ माँ, माँ! चलो तुम्हें एक तमाशा बताऊँ। मुन्नी हँस रही है—देखो तो, कैसी खिल खिला कर हँस रही है।'
'भाई मैं ना देख सकूँगी। साँझ पड़ने को है, और मुझे घर बुहारना है।'

प्रभाकर बाबू से कहा—'देखो प्रभाकर बाबू, मैंने इस कागज की कैसी सुन्दर बेल बनायी है !'

वह बोले—'ऐसी तो सभी बना लेंगे। इसमें तारीफ की क्या बात हुई ! बड़े बताने चले हैं !'

'सब मुझे टेढ़े-टेढ़े जवाब देते हैं। मैं अब किसी से कुछ पूछूँगा ही नहीं।'

बालक को न मारिए !

बच्चे तो बच्चे हैं। वे हमसे बढ़कर और बलवान नहीं हैं। हमारा सामना करने योग्य भी नहीं हैं। यदि हमने उन्हें मारा भी तो वे रोकर बैठे रहेंगे। सिसक-सिसक कर सो जायेंगे। भूखे-प्यासे सो जायेंगे।

मारने से पहले शरमाइए—

निर्बल को सताने में शोभा क्या !
कमजोर को मारने में बहादुरी क्या !
गुलाम को पीटने में पुरुषार्थ क्या !

जो भली-भाँति बोल नहीं सकता और न जो अपनी बात समझा सकता है, उसे मारने में बहादुरी क्या !

मारने से कुछ नहीं होता—

मारने से उन्हें अक्ल नहीं आती।
मारने से उनमें समझ नहीं आती।
मारने से उन्हें याद नहीं होता।
मारने से बिगड़ी बात नहीं सुधरती।
मारने से वे चतुर नहीं बनते।

लेकिन—

मारने से बालक बीमार पड़ता है।
मारने से बालक मार-प्रूफ बनता है।
मार खाने से बालक मारनेवाला बनता है।
मार खाने से बालक बेहया बनता है।
मार खाने से बालक डरपोक बनता है।
मार खाने से बालक झूठ बोलता है।
मार खाने से बालक गुण्डा बनता है।
न मारिये ! बालक को न मारिये !!

साहब, याद नहीं रहता

विठल सुतार था। अभी लड़का ही था; मगर लकड़ी चीरना और रन्दा चलाना जान गया था। छोटी-मोटी चीजें भी बना लेता था; लेकिन इतिहास-भूगोल ये कि उसे कभी याद ही न होते थे। बेचारा रट-रट कर परेशान हो जाता था।

और गुरुजी थे, जो विट्ठल ऐसों को या तो डाँटते-डपटते थे या पीटते थे। विट्ठल की तो गालियाँ भी सुननी पड़तीं और मार भी खानी पड़ती। गुरुजी विट्ठल से कहते—टाँगों में से हाथ निकालकर कान पकड़ और जब वह कान पकड़ लेता तो ऊपर से जोरों का एक घूँसा जड़ देते।

बेचारा विट्ठल 'चीं' बोल जाता और गिड़गिड़ा कर कहता' साहब, मैं क्या करूँ, मुझे याद ही नहीं रहता।'

और विट्ठल को अखीर तक इतिहास याद न हुआ। वह तो सुतार बनने के लिए जनमा था, आज वह एक अच्छे सुतारों में है—कारीगर माना जाता है।

गुरुजी थे, जो पढ़ाते थे और पीटते थे।

बालक बहुत नहीं चाहता

अपने विकास के लिए बालक हमसे बहुत नहीं चाहता। सबसे पहले वह हमसे सम्मान की अपेक्षा रखता है। यदि हम उससे कहते हैं—'तुझसे यह न हो सकेगा। अरे, तू क्या कर सकता है! तुझे तो छाछ पीनी ही न चाहिए।' तो हमारे ये सब वचन बालक का अपमान करनेवाले हैं। बालक को ये सब अच्छे नहीं लगते। हम कुछ कर रहे हों या करना चाहते हों और कोई तीसरा आकर उसमें रुकावट डाल दे तो कहिए हमें वह कैसा लगेगा!

बालक के विषय में प्रायः हमारा यह ख्याल रहता है कि ऊँहूँ, वह इसमें क्या समझता है! अपनी इस धारणा के कारण जब जब वह हमसे कुछ पूछता-परछता है, हम उससे कहते हैं—यह तेरे समझने की बात नहीं है, तू अभी नहीं समझ सकेगा। बालक के लिए अवश्य ही यह एक अपमानजनक स्थिति है। यदि हम किसी से कुछ पूछें और वह हमें दुत्कार दे तो हम उसे कहाँ तक पसन्द करेंगे!

विशाल शिक्षक

जिस शिक्षक का ज्ञान पाठ्य पुस्तक के अन्तिम पाठ तक ही परिमित है, जो शिक्षक बिना पाठ्य पुस्तक के भूगोल नहीं सिखा सकता, जिसका विज्ञान सम्बन्धी, संसार सम्बन्धी और व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान इतना कम है कि इन विषयों के प्रश्नों का उत्तर वह या तो हमेशा सिर खुजलाकर या प्रश्नकर्ता पर झुँझलाकर देता है, उसे हम पोखर-पाँडे या कूप मण्डूक शिक्षक कह सकते हैं। पोखर का यह मेंढक अपने पुराने और परिमित ज्ञान के अन्धकार में सड़ता रहता है। पोखर में रहते हुए उसे न नया प्रकाश मिलता है, न नवीनता, शुद्धि और ताजगी के दर्शन होते हैं। जिस कुएँ या पोखर में नया पानी नहीं आता, उसमें कीड़े बिलबिलाने लगते हैं, गिद्ध और कौए उस पर मँडराने लगते हैं। कोई प्यासा राहगीर उधर नहीं आता और अमृत-सा मीठा जल पीकर उसे आशीर्वाद नहीं देता। शिक्षक को तो अमृत का झरना बनना चाहिए। उसके ज्ञान की विशालता अनन्त और उसकी बुद्धि श्रेष्ठ होनी चाहिए। शिक्षक का नाम तभी सार्थक है, जब उसकी ज्ञान गंगा के अखण्ड प्रवाह के किनारे बैठकर छात्रगण अपनी प्यास इतनी बुझा लें कि छक जायँ। शिक्षक का ज्ञान भण्डार सागर की तरह अथाह और अनन्त होना चाहिए। उसका ज्ञान और उसकी दृष्टि जितनी पैनी, गहरी और विशाल होगी, गुरु-पद को

उसकी पात्रता भी उतनी ही अधिक होगी। यह एक कसौटी है, हमें सोचना चाहिए कि हम सब शिक्षक, भाई-बहन इस पर कितने सच्चे उतरते हैं!

कुशल शिक्षक!

बालक एक कतार में बैठे हैं। शिक्षक उन्हें कुछ सुना रहे हैं। वह बोलने में बड़े कुशल हैं। बालक एकटक उनको—उनके मुँह को, उनके हाव भाव को—देखने में तल्लीन हैं। शिक्षक की वाणी ने सबको मन्त्र मुग्ध-सा कर रखा है। शिक्षक भला आदमी है। उसने कूट पीस कर, मिर्च-मसाला मिला कर कई चीजें तैयार की हैं। अपनी इन तैयार चीजों को वह बड़े प्रेम से बच्चों के सामने परसता है। बालकों को ये चीजें न तो चबानी पड़ती हैं, न निगलने की मेहनत करनी पड़ती है। सब कुछ सटासट गले के नीचे उतरता जाता है। शिक्षक पूछता है—'क्यों, समझे?' बालक कहते हैं, 'जी हाँ—अच्छी तरह समझ गये।' शिक्षक पूछता है—'क्या समझे?' बालक ने जो सुना है, वही फिर सुना देता है। शिक्षक पूछता है—'लेकिन यह ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण क्या है?'

बालक कार्य-कारण की उस परम्परा को, जो उन्हें शिक्षक से मिली थी, फिर यथावत शिक्षक को सुना देते हैं। शिक्षक सोचता है—'आज काम बहुत अच्छा हुआ।' विद्यार्थी सोचते हैं—'आज हमने बहुत सीखा।'

परीक्षक आते हैं और एक सीधा सादा नया सवाल पूछते हैं। लड़के बगलें झाँकने लगते हैं—किसी से कुछ बन नहीं पड़ता। परीक्षक अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं—'विद्यार्थी समझदार हैं। याददाश्त भी अच्छी है। पका-पकाया खाने की शक्ति है, पर खुद पकाने की ताकत नहीं, स्वय-बुद्धि नहीं, कल्पना नहीं।'

शिक्षक सोचता है—'यह मेरी प्रशंसा है या निन्दा?'

जिस दिन गिजुभाई देवलोक सिधारे उस दिन मैंने अस्पताल जाने का इरादा किया था, परन्तु दैव ने कुछ और ही सोच रखा था। बाल शिक्षा के क्षेत्र में गिजुभाई की अनुपस्थिति हर घड़ी खटकती रहेगी। जो गिजुभाई के मन्त्र को ग्रहण कर सके हैं, उनका धर्म है कि वे अपने कार्यों द्वारा उनकी क्षति को कम से कम खटकने दें।

—गांधीजी

●

बालवाड़ी में भाषा-शिक्षा

श्री जुगतराम दवे

बालवाड़ी में ३ से ५–७ वर्ष की उम्र के बालक आते हैं। उनका स्वभाव देखकर यह प्रतीत होता है कि वे उछलें कूदें, घूमें फिरें, भाँति भाँति के जीवन के लिए स्वावलम्बन पूर्वक आवश्यक काम काज करना सीखें, सुन्दर-सुन्दर चीजें निर्मित कर अपनी कुशलता बढ़ायें। यह वृत्ति उनके लिए स्वाभाविक समझनी चाहिए। इस उम्र के बच्चों के जीवन में बैठाऊ जीवन की आदत डलवाना, किसी भी राष्ट्र के लिए घातक मानना चाहिए।

यदि इतनी छोटी उम्र में बालकों की पढ़ने-लिखने की ओर रुचि पैदा करेंगे तो उनके जीवन के प्रारम्भ में ही छाया में, घर के अन्दर बन्द होकर बैठे बैठे पूरा दिन गुजारने की टेव पड़ जायगी। इस कारण बड़े होने पर बालकों को बाहर निकलने और हाथ पाँव से काम करने में कठिनाई महसूस होगी। उनके हाथ पैर तुरत थक जायेंगे और उनकी अँगुलियों को विविध कलाकौशल के काम करने का शिक्षण न मिलने से सब कामों से वह अनभिज्ञ रह जायेंगे। यह किसी भी बालक के लिए कितनी बड़ी हानिकर वस्तु है!

आज की राष्ट्रीय शिक्षा की आयोजना करने वाले लोग अधिकतर मेज-कुरसी या गादी-तकियों का जीवन गुजारने वाले विद्वान, राजनीतिक नेता और व्यापारी या कारकुन वर्ग के आदमी हैं। उन्हें अपने देश की मुख्य बस्ती–किसान और कारीगर–के जीवन का और उनकी आवश्यकताओं का पूरा ख्याल नहीं है, इसलिए उनके द्वारा आयोजित शिक्षण में किसान और कारीगरों की आवश्यकताओं को स्थान नहीं मिलता। गादी-तकिये के अपने जीवन की आवश्यकताओं को ही उन्होंने शिक्षण में स्थान दिया है। इसके फलस्वरूप पाठशालाओं में जितने बालक सीखते हैं वे सब शरीर श्रम से करने वाले कलाकौशल से वंचित और गादी तकियों की नौकरियाँ ढूंढने वाले होते हैं।

मनुष्य का सच्चा और स्वाभाविक जीवन क्या है, इस विषय में भी राष्ट्रीय शिक्षण की योजना करने वाले विद्वान और राजनीतिक पुरुषों को यथार्थ कल्पना नहीं होती। थोड़े गादी-तकियों वाले दुनिया में हों और करोड़ों उनके लिए मेहनत-मजदूरी का जीवन जीने वाले मजदूर हों, यह आज की स्थिति स्वाभाविक और ईश्वर निर्मित है, ऐसा वे मानते हैं। आज जो कुछ सुख-सुविधाएं मिलती हैं, वह गादी तकियोंवालों को ही मिलती हैं। करोड़ों मजदूरों के लिए उसकी आवश्यकता मानी ही नहीं जाती।

हम मानते हैं बालवाड़ी में उगती उम्र के बालकों में ऐसे राष्ट्र घातक जीवन की टेव नहीं डलवानी चाहिए। उलटे पाठशालाओं ने जो भूल की है, वह सुधार लेने का प्रयत्न करना चाहिए। बालवाड़ी ही में बालक को सुन्दर और उसके लायक जीवन की आदतें डलवायी जायें कि आगे ऊपर की पाठशालाओं में जाने पर वह वहाँ बैठा ठाला शिक्षण पसन्द नहीं करे और मनुष्योचित शिक्षण और कामों की माँग करे। ऐसे सुदृढ़, चपल और कुशल बालकों को सारा दिन बैठा ठाला शिक्षण देते हुए उनके

शिक्षकों को शर्म आयेगी। ऐसे शिक्षण की योजना करने वालों को भी इसका भान होगा कि वे बड़ा अपराध कर रहे हैं।

प्राथमिक शालाओं के प्रारम्भिक वर्षों में जब बालकों की अँगुलियाँ अभी नाज़ुक, अस्थिर और बिना काबू के होती हैं। ऐसे समय उन्हें लिखना सिखाने पर जोर दिया जाता है। उससे बालकों के अक्षर बिगड़ते चले जाते हैं, ऐसा आज कल सामान्यतः सर्वत्र देखने में आता है। फिर बाल वाड़ी में भी यदि लिखने का काम कराया गया तो क्या स्थिति होगी? छोटे बच्चों की अँगुलियाँ बाल-वाड़ी की उम्र में उससे भी अधिक नाज़ुक और अशक्त होती हैं, यह देखा जाता है। उनसे अंगुलियों द्वारा या पेन्सिल पकड़कर दृढ़ता से रेखाएँ खींचने की आशा नहीं रखी जा सकती।

फिर लिपि के अक्षरों में सामान्य रेखाएँ नहीं हैं। उनके आकार मे भिन्न भिन्न विचित्र बाँक, कोने और उलझाव होते हैं। छोटे बालको की अँगुलियाँ स्थिरता-पूर्वक ऐसे आकार कैसे बना सकेंगी? अक्षर कमजोर और काँपे हुए हों और उनमें यदि बाँक साफ न आ सके तो उसमें आश्चर्य क्या है?

फिर छोटे बच्चों की आँखें भी प्रशिक्षित नहीं होतीं। लिपि के विचित्र अक्षरों के उलझाव से भरे हुए आकार देखकर उन्हें याद रखने की शक्ति उनमें नहीं होती। कोई भी शिक्षक समझ सकेगा कि जब तक अक्षरों का आकार बालकों की बुद्धि पर अंकित नहीं होगा तब तक वे कागज या स्लेट पर सही सुडौल अक्षर चित्रित कर ही नहीं सकते।

इसलिए बालवाड़ी के दिनों में अक्षर लिखवाने के बदले बालकों में अलग-अलग हाथ के चित्र निकालने का रस निर्माण करना अधिक अच्छा है। ये चित्र भी पेन्सिल से कागज पर न निकाले जायँ, क्योंकि उनमें पेन्सिल दृढ़ता से पकड़ने की शक्ति आने में अभी देर है। अँगुलियों में या हाथ में एक सलाई या छोटी लकड़ी पकड़ कर खड़े-खड़े और लम्बे हाथ से भूमि पर मोटी मोटी रेखाएँ और वर्तुल, फूल पान और झाड़ झंखाड़, घर दरवाजा और गाय घोड़ा तथा मनुष्यों के चित्र निकालने की दिलचस्पी उनमें लानी चाहिए। इस प्रकार प्रशिक्षित आँखों के मार्गदर्शन में बालकों की अँगुलियाँ आगे जाकर जब कागज पर लेखनी या मोटी पेन्सिल से अक्षर लिखना शुरू करेंगी तब वह स्वाभाविक रीति से ही सुडौल मोड़वाले सुन्दर अक्षर चित्रित कर सकेंगी। यहाँ हम पाठकों को गलत न समझने की प्रार्थना करते हैं। पढ़ने लिखने के शिक्षण का हमने निषेध किया है। यानी हमने भाषा शिक्षण का निषेध किया है, ऐसा अर्थ कोई न करे। पढ़ना लिखना यह कोई यथार्थ भाषा शिक्षण नहीं है। बालक द्वारा ललित एवं भावपूर्वक भाषा बोलना सही भाषा शिक्षण है। अपने छोटे से मन में उठते चित्र, विचार, उसी प्रकार की सुन्दर वाणी में सामने वाले मनुष्य से कहना, मधुर कण्ठ से शुद्ध उच्चारण के साथ गाना, दूसरे लोग जो कहते हैं उसे कान देकर सुनना और उत्तम रीति से उसे समझकर ठीक जवाब देना अथवा उस प्रकार का काम बिना किसी भूलचूक के करना, सच्चा भाषा-शिक्षण है।

बालवाड़ी में शिक्षिकाएँ गीत गवातीं और कहानियाँ कहती हैं। नाटक कराती हैं और कुछ कुछ पढ़कर सुनाती हैं, उसमें क्या भाषा शिक्षण नहीं होता है? यदि बालक उसमें आने वाले शब्द तथा भाव नहीं समझे होंगे तो वे उस सब गानों और बोलों के साथ बराबर मेल बिठाने वाला अभिनय किस प्रकार कर सकेंगे। क्या स्वयं बालक विचारों को उन्हीं ऐसी ही दिलचस्प रीति और ऐसे ही मनोहर हाव भाव के साथ बोलकर नहीं बताते हैं? इस पर से यह यक़ीन होता है कि बालवाड़ी के कार्यक्रम, बालकों को भाषा-शिक्षण उत्तम रीति से देते ही हैं।

बच्चों को पता भी नहीं चलता कि उन्होंने कब कितनी भाषा शक्ति प्राप्त की है। जैसे, बालक अपने प्रारम्भ के डेढ़ दो वर्षों में, बिलकुल न जानते हुए और किसी तरह के बोझ के बिना बोलना सीख गया, उसी प्रकार बालवाड़ी के कार्यक्रम योग्य रीति से चलायेंगे तो बालक, न जानते हुए और बिना बोझ के भाषा स्वामी बन सकेंगे। मुँह के शब्द से भाषा शिक्षण देने के

प्राकृतिक क्रम को छोड़कर बालवाड़ी के बच्चों को छपी हुई पुस्तक द्वारा शिक्षण देंगे, ऐसी रीति अपनाते जायेंगे तो बच्चों का शिक्षण कितना आहिस्ता और थकाने वाला हो जायेगा, इसका अनुभव करके देखें, बालक के मन में और उसके जीवन में प्रवेश कर देखें।

भाषा शिक्षण का यह प्रकरण समाप्त करने के पहले बाल शिक्षिकाओं को एक सूचना देने की इच्छा होती है।

बालवाड़ी में जो भी प्रवृत्ति चलाओ, उसमें तुम्हारे मन में हमेशा यह विचार रहे कि तुम्हारे बच्चे जो कुछ करते हैं, उनमें उन्हें रस मिलता है। उसके साथ भाषा के नये नये शब्द और नये नये भाव समझ लेने का रस भी उनके स्वभाव में पड़ा हुआ है। वे नये शब्द और नये भाषा प्रयोगों की तुम्हारे साथ चर्चा करने नहीं बैठते अथवा उसका व्याकरण जानने नहीं बैठते पर स्वाभाविक रीति से ही वह उनकी बुद्धि में अंकित हो जाता है।

बाल-स्वभाव की यह खूबी समझकर शिक्षिकाओं को चाहिए कि वे बालवाड़ी की सब प्रवृत्तियों में अन्य कई विषयों के साथ बालकों को भाषा में कुछ न कुछ नित्य नया बताने की इच्छा रखें।

इसका ऐसा अर्थ नहीं कि उन्हें नये भाषा प्रयोगों के बारे में विवेचन और व्याख्यान करने हैं। इस विषय में बालकों का ध्यान खींचकर उन्हें उसका भान कराना ही नहीं चाहिए परन्तु शिक्षिका के मन में इतना रहना चाहिए कि आज मुझे बच्चों को अमुक शब्द और अमुक भाषा प्रयोग बताने हैं।

उदाहरण के लिए शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के नाम बालकों को जानने को मिले तो भाषा का प्रभुत्व प्राप्त करने की दृष्टि से उनके लिए वह अच्छा रहेगा। उसके लिए वे लम्बी फेहरिस्त कण्ठ नहीं कर सकेंगे परन्तु सहज प्रसंग आयेंगे और उसका लाभ लेकर शिक्षिका कई नाम धीरे धीरे बच्चों को सिखा सकती है।

मानो, 'बगल और दाढ़ी' ये दो अवयवों के नाम बच्चों को सिखाने हैं। तो जब नहाने धोने का काम चलेगा उस समय शिक्षिका कुछ न कुछ कारण निकाल कर उन शब्दों का पुन पुन प्रयोग करेगी और समय-समय पर बच्चों से पूछती भी रहेगा।

"कल्लू ने बगल ठीक से धोया है या नहीं !"

"बगल में पसीना बहुत होता है, इसलिए बगल को ठीक ठीक धो लो।"

'टल्ली, मुँह भली भाँति धो लो, तुम अपनी दाढ़ी भी ठीक ठीक साफ करो।"

इसी तरह शरीर पोंछते समय भी इन नये शब्दों का बार बार प्रयोग किया जाय।

फिर कहानियाँ कहने या बातचीत करने का प्रसंग आये तब भी उन नये शब्दों के प्रयोग करने का ध्यान रखा जाय।

"कल्लू चाचा की हजामत बनाने नाई आया। बगल में धोपटी (जिसमें हजामत का सामान रखा जाता है) वह लेकर आया। चाचा की दाढ़ी बहुत बढ़ गयी थी। नाई ने उस्तरा निकाला और चाचा की दाढ़ी बनाने लगा।"

सामान्यतः कहानियों में ऐसे शब्दों के प्रयोग की कोई खास जरूरत नहीं होगी, फिर भी ये शब्द बच्चों को सिखाने हों तो थोड़ा विषयान्तर करके उन शब्दों का प्रयोग करना होगा।

उसके बाद खेल के मैदान में जाने का प्रसंग आयेगा तब भी शिक्षिका के ध्यान में बगल और दाढ़ी शब्द होंगे ही।

देखो, कोड़ा पीठ पर ही मारना है, सामने से नहीं मारो नहीं तो किसी की दाढ़ी में लग जायगा।

"कुड़वा (कोड़ा) मैंने छुपा दिया है, चलो ढूँढ निकालो।'

बच्चे कहेंगे—"यह देखो तुम्हारी बगल में है।"

उसी प्रकार शिक्षिका भाषा के नये नये प्रयोग भी बच्चों के ध्यान में ला सकती है।

उदाहरण के लिए—'अरे जाओ' कोई न मानने जैसी बात करता है तब हम उसे यह नहीं कहते कि तेरी बात मानने जैसी नहीं है। यही भाव प्रकट करने के लिए हम उसे सुनाते हैं 'अरे जाओ।'

मान लो शिक्षिका की यह इच्छा है कि वह सुन्दर खेलों के जरिए भाषा प्रयोग सिखाये तो बालवाड़ी

की जो भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ चल रही होंगी, उनमें भाषा प्रयोग के इस्तेमाल का प्रसग वह ढूँढ लेगी।

सफाई का काम चलता है, छोटा मुन्ना कहता है—"मेरी बारी पानी छिड़कने की है।" शिक्षिका सामान्य परिस्थिति में उसे याद दिलायेगी कि तुमने कल पानी छिड़का है, इसलिए आज तुझे झाड़ू देना है, पर उसे तो आज 'अरे जाओ' का प्रयोग करके दिखाना है, इसलिए वह दूसरी रीति से बात करेगी। वह कहेगी 'अरे जाओ' रोज-रोज कहीं पानी छिड़का जाता है! आज तो तू झाड़ू लेकर जमीन बुहार। मल्लू किसे कहता है, अरे आज रामजी नहीं आये।

शिक्षिका भाषा प्रयोग के इस्तेमाल का अवसर पा लेती है और कहती है—"अरे जाओ, क्या बात करते हो, रामजी तो उस कुँएँ पर पानी खींच रहा है।"

फिर "बाघ आया की कहानी चलती है" बाघ आया की आवाज सुनकर बिहारीजी दौड़े आये। गड़ेरिया कहता है—अरे जाओ, यहाँ कहाँ बाघ है?

जब सचमुच बाघ आया तो गड़ेरिया फिर चिल्लाया।

बिहारीजी बोले—"अरे जाओ, तू तो हमें ठगता है।"

इस प्रकार धीरे धीरे और बालक को थोड़ा भी भान न हो, इस प्रकार हम उसके छोटे से शब्द भण्डार में वृद्धि कर सकते हैं। वैसे ही उनकी विचार प्रकट करने की शक्ति विकसित कर सकते हैं। यही भाषा का यथार्थ शिक्षण है। इस प्रकार के भाषा शिक्षण का निषेध नहीं है, उसे तो प्रोत्साहन देना ही है। भाषा शिक्षण को छोड़कर असमय वाचन, लेखन की शिक्षा को शिक्षण क्रम में प्रवेश देने का निषेध अलबत्ता जरूर है।

●

[पृष्ठ ३८६ का शेषांश]

उपक्रिया—१—नियोजन तथा कवियों का चुनाव,

२—पुस्तिका का आयोजन,

३—प्रदर्शन के द्वारा ऋतुओं का ज्ञान,

४—होली के साधन व सामग्री का ज्ञान।

यह योजना ४ कक्षाओं में विभक्त की जा सकती है और इसको कक्षाओं के अनुसार छोटा या बड़ा भी किया जा सकता है। योजना-पद्धति में अध्यापक और बालक स्वतन्त्र हैं। वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार किसी भी क्रिया की योजना बनायी जा सकती है। जो योजना ऊपर दी गयी है वह अपने स्कूल के वातावरण के अनुसार परिवर्तित की जा सकती है।

समयानुसार योजना छोटी भी हो सकती है, परन्तु वह वर्ष भर तक चल सकती है। जैसे, भूगोल का बोर्ड से अर्थ है कि एक बोर्ड पर बालक सप्ताह में किये हुए कार्य का प्रदर्शन करते हैं। वे एक नक्शा स्वयं बनाते हैं। उस पर लिखने का कार्य तथा अन्य स्थानों का लेखन होता है। उस देश के बारे में अध्ययन करके संक्षेप में विवरण दिया जाता है। इस प्रकार के कार्य में ५ से लेकर ६ या ७ तक के विद्यार्थी कार्य करते हैं। इस प्रकार से "न्यूज बोर्ड पर भी कार्य होता है, यह दैनिक योजना है। इसमें बालक अध्यापक की सहायता से अखबार से समाचार पढ़ते हैं। मुख्य-मुख्य समाचारों को काट कर निकाल लेते हैं। फिर बोर्ड पर लगे हुए नक्शे पर वे उन समाचारों को डोरे और पिन की सहायता से विवरण सहित उस स्थान को संकेत करते हुए लगा देते हैं। इस प्रकार वे प्रतिदिन अपना कार्य एक निश्चित समय में करते हैं।

●

बच्चे का दूसरा साल

श्री राममूर्ति

दूसरा साल पूरा होते ही बच्चा प्रौढ़ का लघु संस्करण बन जाता है। डाक्टर का बच्चा स्टेथेसकोप उठाकर अपनी छाती पर लगाता है, अपने पिता के जूतों में पैर डालकर चलने की कोशिश करता है, घर पर माँ झाड़ू लगाती है तो वह भी लगाने लगता है, साथ साथ झाड़ने से कुरसी-मेज पोंछता है; मुँह धोते देखकर मुँह धोने लगता है। वह जो कुछ करते देखता है उसी को करने की कोशिश करता है और पूरी संजीदगी के साथ करने की कोशिश करता है। यह प्रारम्भ है अनुकरण द्वारा चीजों को समझने और सीखने का। इस तरह बच्चा क्रियाशीलता की दुनिया में अपना स्थान बनाता है।

इस उम्र में एक तरफ तो वह अधिक क्रियाशील होता दिखायी देता है; लेकिन दूसरी ओर माँ पर पहिले से अधिक आश्रित होता दिखायी देता है। वह हर वक्त माँ से चिपका रहना चाहता है। वह घर से किसी को जाते देखता है तो उसे बुरा लगता है। वह नहीं चाहता कि किसी भी समय माँ से अलग हो। यह एक खास बात है, जिसे बराबर ध्यान में रखना चाहिए।

दो साल के बच्चे बहुत ज्यादा एक दूसरे के साथ नहीं खेलते; बल्कि दिखायी यह देता है कि वे एक दूसरे से अलग अलग खेलते हैं। एक दूसरे को खेलते देखते हैं; लेकिन मिलकर नहीं खेलते। ऐसे समय माता पिता को चाहिए कि जहाँ और बच्चे खेलते हों वहाँ अपने दो साल के बच्चे को बार-बार ले जायँ और दिखायें, ताकि उसके अन्दर साथियों के साथ रहने और खेलने की चाह पैदा हो। सामाजिकता के इस जरा-से अभ्यास में कभी-कभी महीनों लग जाते हैं; लेकिन यह अभ्यास जरूरी है। यह नहीं सोचना चाहिए कि मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है; इसलिए बिना अभ्यास के उसके सामाजिक तत्व सही ढंग से विकसित हो जायेंगे।

पौने दो से सवा दो साल के बच्चे को कई दृष्टियों से बहुत सँभालना पड़ता है। कभी-कभी माँ से अचानक अलग हो जाने का उसके ऊपर गहरा असर पड़ता है। वह किसी तरह माँ से अलग नहीं होना चाहता। कभी-कभी ऐसा होता है कि माँ को अचानक कुछ दिनों के लिए बाहर चला जाना पड़ता है। ऐसे समय जब माँ लौटती है तो बच्चा बुरी तरह उसके साथ चिपकने की कोशिश करता है। विशेष रूप से सोने के समय उसकी चिन्ता सबसे अधिक प्रकट होती है। डरा हुआ बच्चा किसी तरह सोना नहीं चाहता। उसके मन में यह भय रहता है कि माँ उसे सोता छोड़कर कहीं चली न जाय। कभी-कभी वह घण्टों रोता रहता है। यह भी देखने में आता है कि माँ जब तक बैठी रहती है, बच्चा चुपचाप पड़ा रहता है; लेकिन ज्यों ही वह चारपाई से उठ जाती है वह भी उठ बैठता है और रोने लगता है।

एक और बात होती है। बच्चा बार-बार पेशाब करने के लिए कहता है। पेशाब के लिए जो भी शब्द उसे आता है उसका वह उच्चारण करता है—ऐसा वह दो कारणों से करता है। एक कारण तो यह है कि वह माँ को अपने पास रखने का बहाना ढूँढता

रहता है; लेकिन दूसरा कारण ज्यादा दिलचस्प है। उसके मन में यह भय भी रहता है कि अगर वह बिस्तर पर पेशाब कर देगा तो माँ नाराज हो जायगी और उसे अकेला छोड़ देगी। इस भय के कारण भी वह बिस्तर पर पेशाब करने के जोखिम से बचने की कोशिश करता है।

इस दृष्टि से अच्छा होता है कि बिल्कुल शुरू से बच्चे को विभिन्न लोगों के साथ रहने तथा विभिन्न स्थानों में आने जाने का अवसर मिले। कुछ भी हो, बच्चे को अचानक किसी अपरिचित व्यक्ति के साथ या अपरिचित स्थान पर छोड़ना जरूरी हो तो दो-तीन हफ्ते पहले से आदत डालनी चाहिए। इस उम्र में बच्चे को किसी नये स्थान या व्यक्ति की आदत डालने में काफी समय लगता है।

अगर बच्चा किसी अवसर पर अकेला रहने के कारण डर गया हो तो उसे होशियारी के साथ सम्भालना चाहिए। बहुत जरूरी यह है कि सोते समय माँ बच्चे के पास उस वक्त तक बैठी या लेटी रहे, जब तक वह सो न जाय। उसे कच्ची नींद में छोड़कर कभी नहीं हटना चाहिए। चाहे भय निराकरण की इस प्रक्रिया में हफ्तों लग जायँ; लेकिन ऊबना नहीं चाहिए। यह मानकर चलना चाहिए कि ऐसा करने से अन्त में बच्चे का भय दूर हो जायगा। अगर भय का कारण यह था कि माँ कहीं चली गयी थी तो फिर बहुत दिनों तक कहीं जाना नहीं चाहिए। बाहर अगर काम की ऐसी स्थिति हो कि रोज जाना जरूरी हो तो जाते समय बच्चे को प्यार करना चाहिए और उसे खुश और आश्वस्त छोड़कर ही हटना चाहिए। बच्चा शक्ल देखकर मन की स्थिति का अन्दाज लगा लेता है।

दवा देकर सुलाना या दिन में इस नीयत से जगाये रखना कि रात को वह सो जायगा, प्रायः बेकार होता है। भय के प्रभाव में बच्चा थका रहने पर भी घंटों जगा रह सकता है। मुख्य बात यह है कि उसके मन से भय निकाला जाय।

अगर बच्चा इसलिए घबराया है कि उससे बिस्तर पर पेशाब हो जाता है तो उसे आश्वस्त कर देना चाहिए कि ऐसा करने के कारण वह माँ के प्यार से वंचित नहीं किया जायगा। माँ का प्यार न पाना उसके लिए सबसे बड़ा दण्ड है। इस दण्ड की नौबत नहीं आने देनी चाहिए।

●

[पृष्ठ ३९७ का शेषांश]

सुमन चढ़ा सका, इससे मैं सहज ही एक कृतार्थता का अनुभव करता हूँ और सम्पादकजी का अन्तर से आभार मानता हूँ।

भगवान हम सबको स्व० श्री गिजुभाई के पावन और प्रेरणाप्रद चरण-चिह्नों पर चलने की और अपनी शक्तिभर बाल सेवा तथा बालोपासना करने की सामर्थ्य दे!

★

संयुक्त राज्य अमेरिका की शिक्षा-पद्धति

गतांक से आगे

पिछले अंक में संयुक्तराज्य अमेरिका की शिक्षा-पद्धति के विकास का इतिहास, संगठन और स्वरूप के सम्बन्ध में सामान्य चर्चा की गयी थी। इस अंक में विभिन्न श्रेणियों की शिक्षा का संक्षिप्त विवेचन श्री वाटलिंग के लेख के आधार पर किया गया है।

बाल-मन्दिर

वैसे अमेरिका की शिक्षा-पद्धति को प्रमुख चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, जिसमें पहला है बाल-शिक्षा। सामान्यतया ३ से ६ वर्ष तक की अवस्था के बालकों के लिए नर्सरी स्कूल और किंडरगार्टन स्कूल होते हैं, लेकिन बड़े शहरों में या सम्पन्न इलाकों में ही ऐसे स्कूलों की व्यवस्था है। इनका संचालन शिक्षा-बोर्ड के अधीन नहीं होता है, वरन माता-पिता और अभिभावक मिल कर स्वयं सारा संयोजन कर लेते हैं, आवश्यक निधि जुटा लेते हैं और योग्य शिक्षक भी रख लेते हैं।

प्राथमिक शिक्षा

दूसरी श्रेणी प्राथमिक (एलिमेण्टरी) शिक्षा की है। अमेरिका की शिक्षा-पद्धति की बुनियाद इन्हीं एलिमेंटरी स्कूलों में है, जहाँ ७ से १४ साल तक के बच्चे दाखिल किये जाते हैं। शुरू में इस पद्धति को चालू करने में बड़ी कठिनाइयाँ आयीं। निःशुल्क पढ़ाई की सुविधा प्राप्त करने के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ा और अन्त में सफलता मिली। यहीं से अनिवार्य उपस्थिति का नियम समान रूप से अमल में लाया गया है कि ६-७ साल से लेकर १४-१५ साल तक की पढ़ाई में सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से स्कूल में उपस्थित होना ही है।

इन एलिमेण्टरी स्कूलों से यह अपेक्षा रखी जाती है कि प्रत्येक बच्चे को शक्तिशाली लोकतन्त्र के नागरिक के लिए आवश्यक भावना, समझदारी, कुशलता और बुनियादी ज्ञान मिले ही। ये स्कूल विभिन्न जाति के और अलग-अलग भाषाओं के बच्चों को एक सार्वभौम संस्कृति के ही अभिन्न अंग ■ रूप में एक-दूसरे के साथ समरस होने की चित्तवृत्ति विकसित करने के माध्यम माने जाते हैं। यह एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, फिर भी वहाँ के एलिमेण्टरी स्कूल इस काम में उल्लेखनीय यश प्राप्त कर रहे हैं।

पहले एलिमेण्टरी स्कूलों में ८ साल की पढ़ाई होती थी। उनमें एक ही शिक्षक को निश्चित अभ्यास-क्रम के अनुसार सभी विषय पढ़ाने पड़ते थे। जहाँ जूनियर हाईस्कूल होते थे वहाँ एलिमेण्टरी स्कूलों की पढ़ाई केवल ६ वर्षों की रहती थी। पिछले दिनों जब छात्रों की संख्या बढ़ने लगी तो एक शिक्षक के बदले शिक्षकों का एक छोटा-सा दल (टीम) नियुक्त किया जाने लगा। वह दल पूरे अभ्यासक्रम को प्राइमरी, मिडिल, अपर, एलिमेण्टरी आदि दो-तीन स्तर (स्टेज) में बाँट कर पढ़ाता है। सालाना परीक्षा की जगह स्तरीय शिक्षण के अन्त में एक परीक्षा ली जाती है और अगले स्टेज में प्रोमोशन दिया जाता है।

कौन छात्र किस संस्था से आया है, इसका बिलकुल ख्याल नहीं किया जाता, बल्कि उस छात्र की क्या क्षमता है, वह किस क्षेत्र में आगे बढ़ने योग्य है, यह देखकर उसके लायक पाठ्य पुस्तकें और अन्य साधनों की व्यवस्था की जाती है। रोजाना ५ या ६ घण्टे की पढ़ाई होती है जिसमें १॥ २ घण्टे के पीरियड होते हैं। स्थानीय नियमों के अनुसार साल भर में पढ़ाई १७५ से २०० दिनों तक होती है।

इस समय १ से ८ वें स्टेज तक के वर्गों में २ करोड़ ५० लाख बच्चे पढ़ते हैं। इनमें लगभग १० प्रतिशत बच्चे स्वतन्त्र संस्थाओं और चर्चों द्वारा चलाये जाने वाले स्कूलों में पढ़ते हैं। कुल ९५ हजार स्कूल हैं। ८ लाख ५० हजार शिक्षक हैं, जिनमें ७९ प्रतिशत शिक्षक उच्च पदवी प्राप्त हैं। १९६० में एलिमेण्टरी स्कूलों के शिक्षकों का औसत वेतन ५,२०० डालर वार्षिक था।

सेकेण्डरी शिक्षा

अमेरिका के हाई स्कूल अपने ढंग के उत्कृष्ट स्कूल हैं। वहाँ राष्ट्र के लगभग ९० प्रतिशत लड़के लड़कियाँ, जिनकी अवस्था १३ से १८ वर्ष के बीच की है, इन स्कूलों में पढ़ती हैं। शिक्षा-शुल्क के रूप में इन शालाओं को सहायता दी जाती है, जो टैक्स के रूप में इकट्ठा की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को विकास का मुक्त अवसर मिले और अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार पूरी उन्नति का मौका मिले—यह तो राष्ट्र का आदर्श है और ये स्कूल गोया उसके संक्षिप्त संस्करण हैं। लोकतन्त्रीय नागरिकता विकसित करने और राष्ट्र की बुनियादी मनुष्य-शक्ति आवश्यक परिणाम में उपलब्ध कराने में राष्ट्र को इन स्कूलों से सब से अधिक अपेक्षाएँ हैं।

इन आधुनिक हाई स्कूलों का रूप लगभग ३०० वर्ष के विकास का परिणत रूप और यूरोप की देन है। अमेरिका का पहला सेकेण्डरी स्कूल १६३५ में बोस्टन लैटिन ग्रामर स्कूल के नाम से स्थापित हुआ था। तब उच्च शिक्षण की पूर्व तैयारी करना उसका उद्देश्य था। दूसरे स्कूलों का भी वर्षों तक यही उद्देश्य रहा। प्राइवेट ट्यूशन परिषदों की स्थापना इस सिलसिले का दूसरा कदम थी, जो लगभग १७५० में हुई। उन परिषदों के पाठ्यक्रम को प्रात्यक्षिक और वैज्ञानिक विषयों को जोड़ कर समृद्ध बनाया गया था, ताकि उस समय के विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों के लायक कर्मचारी तैयार किये जा सकें। उसके बाद आज के ट्यूशन फी सेकेण्डरी स्कूल की स्थापना १८२१ में हुई, जिसके द्वारा प्रत्येक लड़के को अधिक प्रात्यक्षिक शिक्षा देने का प्रयास होने लगा। तब से आज तक उसमें जो विकास और प्रगति होती आयी है वह सर्वविदित है। इस समय अमेरिका में लगभग २७ हजार ५ सौ सेकेण्डरी स्कूल हैं, जिनमें १ करोड़ १२ लाख ५० हजार के करीब लड़के पढ़ते हैं। १९५९-६० में इन स्कूलों से १८ लाख युवक तैयार होकर बाहर आये।

संगठन की दृष्टि से सेकेण्डरी स्कूलों के दो भाग हैं—जूनियर और सीनियर। जूनियर स्कूलों में ७, ८ और ९ की कक्षाएँ होती हैं, सीनियर में १०, ११ और १२ की। हाईस्कूल की पढ़ाई सामान्यतया १८ वें वर्ष में समाप्त होती है।

पहले सेकेण्डरी स्कूलों का पाठ्यक्रम कुछ खास विषयों के अध्ययन का होता था, जो कालेज में प्रवेश पाने की योग्यता के लिए जरूरी था। उसके लिए भाषा, गणित, विज्ञान और सामाजिक अध्ययन के विषयों की पढ़ाई का क्रम था। अभी हाल में इस अभ्यासक्रम को काफी व्यापक बना दिया है और उसमें कला, स्वास्थ्य, शिक्षा, घरेलू अर्थशास्त्र के अलावा कई प्रकार के व्यावसायिक विषयों का भी समावेश कर दिया है। विद्यार्थियों को कालेजों के लिए तैयार करना ही आज का उद्देश्य नहीं रहा। आज लोकतान्त्रिक जीवन बिताने की क्षमता और साधारण व्यावसायिक क्षेत्र में भी अच्छी स्थिति हासिल करने की योग्यता लाने का प्रयत्न हो रहा है। इन दिनों आधुनिक उद्योगमय समाज में किसी भी धन्धे का प्रारम्भ करने के लिए सामान्यतया हाई-स्कूल तक की पढ़ाई आवश्यक होती ही है। धन्धों के लिए आवश्यक कुशलता का भी शिक्षण वहाँ मिलता है। यह सही है कि टेक्निकल शिक्षण को ही प्रधानता देने वाले सेकेण्डरी स्कूलों में किसी खास धन्धे के लिए आवश्यक कुशलता ही सिखायी जाती है, फिर भी इधर कुछ नये ढंग के सेकेण्डरी स्कूल खुलने लगे हैं, जहाँ दोनों प्रकार

के लोग—कालेज को पढाई के लिए आवश्यक योग्यता-वाले और व्यवसाय के लिए आवश्यक योग्यतावाले—निर्माण किये जा सकें। इन्हें काम्प्रेहेंसिव स्कूल्या मल्टी परपज स्कूल कहते हैं।

आज अमेरिका में हाईस्कूलों के शिक्षकों की संख्या लगभग ५ लाख ३० हजार है। इसमें ४४ प्रतिशत लोग एम० ए० हैं, बाकी बी०ए०।

बच्चों में रुचि का विकास करने के लिए शिक्षक कई तरीके काम में लाते हैं। लड़कों को स्वतन्त्र रूप से कोई न कोई कार्यक्रम हाथ में लेने को कहते हैं, जो उपयोगी हो, सार्थक हों, फिर उसमें जरूरी मार्गदर्शन देते हैं। पहले स्थिति यह थी कि अधिकतर विद्यार्थी सेकेण्डरी स्कूल की पढ़ाई समाप्त होने से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते थे, लेकिन इन दिनों स्थिति कुछ सुधरी है। प्राथमिक शिक्षा समाप्त करनेवाले प्रति हजार लड़कों में ८८५ लड़के सेकेण्डरी में आते हैं और उनमें से लगभग ५८४ लड़के वहाँ की पढ़ाई सफलता पूर्वक समाप्त करके कालेजों में आते हैं।

उच्च शिक्षण

१९३६ में हार्वर्ड में पहला कालेज खुला। तब से अमेरिका का उच्च शिक्षण काफी प्रभावशाली होता गया। १७७६ में अमेरिका स्वतन्त्र राष्ट्र बना, तब तक लगभग ९ कालेज बन चुके थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शुरू शुरू में कालेजों के सामने एक मात्र उद्देश्य था—शासन कार्य में उपयोगी हो सकने वाले ग्रेजुएट तैयार करना। इन कालेजों का सचालन धार्मिक संस्थाएँ करती थीं, लेकिन ज्यों-ज्यों राष्ट्र अन्य मामलों में विकास करता गया त्यों-त्यों उच्च शिक्षण के ध्येयों को विशाल-तर बनाया गया और कालेजों का सगठन भी कुछ मजबूत बनाया गया।

आज अमेरिका में उच्च शिक्षा की संस्थाएँ लगभग १९०० हैं, जिनमें लगभग ४० लाख विद्यार्थी अर्थात १८ से २१ वर्ष तक की अवस्था के कुल युवकों का लगभग ४० प्रतिशत पढ़ते हैं। यद्यपि इन कालेजों में विविधता काफी है फिर भी अधिकतर कालेजों में कला और विज्ञान की पढ़ाई का समय चार वर्ष का ही होता है, जिसको पूर्ण करने पर बैचलर की पदवी दी जाती है। एक दूसरे प्रकार के भी विश्वविद्यालय हैं जिनके अन्तर्गत सामान्यत: कई कालेज होते हैं। वहाँ सामान्य शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण और प्रौढ़-शिक्षण तीनों की व्यवस्था रहती है। कई राजकीय विश्व विद्यालय भी हैं, जहाँ २० हजार से अधिक छात्र हैं, जो पूरा समय वहीं रह कर पढ़ते हैं। उनके अतिरिक्त आंशिक समय के लिए आ कर पढ़ने वाला की संख्या भी कई हजार है। एक तीसरे प्रकार के कालेज भी हैं, जहाँ कानून, वैद्यक, संगीत, नीतिशास्त्र अध्यापन और टेक्नालोजी आदि विविध पेशों की शिक्षा दी जाती है। इनमें कई कालेजों को आर्थिक सहायता प्राइवेट स्रोतों से मिलती है। ऐसे कालेजों में कई तो विश्व विख्यात हैं। हर एक राज्य-सरकार कम से कम विश्व-विद्यालय अपनी ओर से चलाती ही है।

कालेज और विश्वविद्यालय अधिकतर स्वायत्त संस्था के होते हैं, शासन का हस्तक्षेप उनमें नहीं के बराबर होता है। उनके सचालन के लिए सामान्यतया एक-एक ट्रस्टीमण्डल होता है, जो नीति तय करता है, कार्यक्रम मजूर करता है और पदवी प्रदान करता है।

इन दिनों उच्च शिक्षा के उम्मीदवारों की संख्या बढ़ती जा रही है, इसलिए आर्थिक प्रश्न कुछ जटिल होता जा रहा है। आज कुल वार्षिक खर्च लगभग ३ अरब ९१ करोड़ डालर है, जिसमें ५ प्रतिशत सार्वजनिक चदे से, ५ प्रतिशत ऐच्छिक दान से, २० से ५ प्रतिशत छात्रों द्वारा प्राप्त शुल्क से और बाकी ६०-६५ प्रतिशत सरकारी स्रोतों से प्राप्त होता है। नि:शुल्क शिक्षा के प्रश्न को लेकर आज काफी चर्चा हो रही है।

अमेरिका के विश्वविद्यालयों में शिक्षा का ध्येय और कार्यक्रम को लेकर काफी मतभेद है, फिर भी सभी विश्वविद्यालयों में सामान्यतया तीन काम तो होते ही हैं—पढ़ाई, शोध और विस्तार-कार्य। १९५९-६० में सभी विश्वविद्यालयों में कुल मिलाकर ४१००० बैचलर पदवियाँ, ७६ हजार मास्टर पदवियाँ और ९७ सौ डाक्टर पदवियाँ दी गयी हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शोधकार्य का महत्त्व बढ़ गया है। शोधकार्य का मुख्य लक्ष्य यह है कि नये ज्ञान की खोज करना और वर्तमान ज्ञान का नयी परिस्थितियों के अनुसार विकास करना। इस कार्य पर लगभग २ अरब ५० करोड़ डालर का वार्षिक व्यय होता है।

यह कार्य सुदक्ष विद्वानों और ग्रेज्युएट विद्यार्थियों द्वारा सम्पन्न होता है। ये अपने-अपने दूसरे कार्मों को करते हुए भी उसी के एक अभिन्न अंग के रूप में यह कार्य करते हैं।

सेवा और विस्तार-कार्य की सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से चलनेवाले कालेजों की एक विशेष जिम्मेदारी मानी जाती है। इन सेवाओं के अन्तर्गत राज्य या क्षेत्र की महत्वपूर्ण समस्याओं का अध्ययन, क्षेत्रीय कार्यकर्ता-प्रशिक्षण की दृष्टि से शिविर-सम्मेलनों का आयोजन उद्योग-शालाओं (वर्क शाप) का संगठन तथा विस्तार कार्य के वर्गों का संचालन शामिल है।

चूँकि शिक्षा के नियन्त्रण में केन्द्रीय हस्तक्षेप नहीं के बराबर है; इसलिए शिक्षा का गुण और स्तर बनाये रखने के लिए दूसरा उपाय अपनाया गया है। कई कालेज मिल कर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की क्षेत्रीय समिति बना लेते हैं, जिसके सदस्य स्वेच्छा से स्तर की ओर विशेष ध्यान देते हैं। जिन कालेजों में पर्याप्त साधन-सामग्री सन्तोष-जनक रूप में नहीं हैं उन्हें समिति अलग कर देती है। किसी कालेज का स्तर किसी कारण से गिरता है तो उसे भी समिति की सदस्यता से वंचित होना पड़ता है। यह समिति एक काम यह करती है कि विशिष्ट काम करनेवाली जो राष्ट्र स्तर की संस्थाएँ होती हैं उनसे अपेक्षित स्तर का निश्चय करा लेती है और जो कालेज अपने यहाँ वह स्तर लायें उन्हीं को अपना सदस्य बनाती है। अमेरिकन मेडिकल असोसियेशन राष्ट्रस्तर पर काम करनेवाली एक संस्था है और आज राष्ट्र भर में चलने वाली मेडिकल ट्रेनिंग पर उस संस्था का जबरदस्त प्रभाव है।

अमेरिका में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अब नाजुक समय आनेवाला है। १९७० तक लगभग राष्ट्र के ७१ प्रतिशत युवक उच्च शिक्षा के लिए तैयार होंगे, ऐसा अन्दाज है। एक ओर अर्थाभाव तो है ही, दूसरी तरफ भौतिक और सामाजिक क्षेत्रों में शोध अत्यन्त आवश्यक है और जिसे सुशिक्षित अपार मानव-शक्ति में उपलब्ध कराना है—इनमें भी विश्व विद्यालयों को काफी शक्ति लगानी होगी। इस दृष्टि से अभी से प्रशिक्षण के नये तरीके अपनाये जाने लगे हैं, सुधरी हुई शिक्षा-पद्धतियाँ काम में ली जा रही हैं, भवन तथा अन्य साधन सामग्रियों की सुविधा भी बढ़ायी जा रही है और इसी प्रकार के और भी कई प्रबन्ध होते जा रहे हैं, ताकि विद्यार्थी उत्पादक कामों के लिए अधिक से अधिक योग्य हों।

अमेरिका में प्रौढ़ शिक्षा का भी तीव्र गति से विकास हो रहा है। उसके पीछे धारणा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि सुखी रहना चाहे और समाज का एक उप-योगी और उत्पादक सदस्य बनना चाहे तो उसे जीवन-भर शिक्षा ग्रहण करते रहना होगा। अमेरिका में जब से सामाजिक और तकनीकी सुधार तेजी से होने लगे हैं तब से अधिकांश प्रौढ़-समाज स्वेच्छा से शिक्षा ग्रहण करने के लिए आगे आया है।

प्रौढ़-शिक्षा के लिए सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत धनराशि लगभग ५-६ करोड़ तक आज प्राप्त होती है। इससे प्रति वर्ष ५-६ करोड़ लोग शिक्षित हो रहे हैं। प्रौढ़ों के लिए कई प्रकार के अभ्यासक्रम चलाये जाते हैं, फिर भी सामान्यतः टेकनिकल, व्यावसायिक और व्याव-हारिक शिक्षण अधिक लोकप्रिय रहे हैं। प्रौढ़ शिक्षा का यह आन्दोलन भी वहाँ की शिक्षा-योजना का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण अंग बना हुआ है।

उपसंहार करते हुए यह कहना ठीक रहेगा कि अमेरिका की शिक्षा परिवर्तन की एक अखण्ड प्रक्रिया है। केवल इसलिए नहीं कि सुविधाएँ बढ़ती जा रही हैं, बल्कि इसलिए भी कि अपेक्षित परिणामों को कम से कम समय में प्राप्त करने के लिए नये-नये तरीके बराबर अपनाये जा रहे हैं। यहाँ के समाचार पत्र, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ, विशाल साहित्य का प्रकाशन तथा रेडियो, टेलिविजन आदि अन्यान्य लोक-सम्पर्क के साधन भी शिक्षण की ओर जनता की रुचि बढ़ाने में बहुत मददगार हो रहे हैं। इन्हीं सब कारणों से अमेरिका का विकास निश्चित गति से हो रहा है और राष्ट्र शक्तिशाली होता जा रहा है। (समाप्त)

उत्तम बुनियादी महाविद्यालय सेवाग्राम

प्रो० ठाकुरदास बंग

राष्ट्रपति से लेकर सामान्य नागरिक तक सब लोग आज की शिक्षा पद्धति को दोष देते हैं। यह हमारी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती, यह बरसों के अनुभवों ने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। आज की शिक्षा-पद्धति से केवल किताबी और शौकीन स्नातक बाहर निकलते हैं। शरीर तथा मन की अनन्त शक्तियाँ हैं। इनमें से केवल स्मरण शक्ति की ही परीक्षा आज की शिक्षा पद्धति में होती है। परिणामस्वरूप सच्चा ज्ञान मिलने के बजाय रटनविद्या शुरू हो गयी। शारीरिक शक्ति बढ़ने के बजाय घटती ही जा रही है। नैतिक शिक्षण के अभाव के कारण हृदय का विकास तथा मन का सन्तुलन नहीं सधता। स्कूल कालेज की पढ़ाई पूरी करने पर नौकरी न मिली तो जीवन अन्धकारमय बन जाता है। आज की शिक्षा-पद्धति अत्यन्त खर्चीली होने से पालक परेशान हो जाते हैं। विद्यार्थी के रहनसहन का दर्जा ऊंचा हो जाता है किन्तु अपने पैरों पर खड़े रहने का आत्मविश्वास उनमें पैदा नहीं होने से उसके जीवन में घोर निराशा छा जाती है। पुराने जमाने की तरह अपना पीढ़ीगत धन्धा भी आज के विद्यार्थी जानते नहीं। अतः नौकरी न मिली तो उनकी सारी जिन्दगी बरबाद हो जाती है।

भविष्य में सब के सब बच्चे शिक्षण लेने वाले हैं, लेकिन आज की तरह 'शिक्षण बराबर नौकरी' यह समीकरण यदि कायम रहेगा तो इन सब बच्चों को क्या कोई राष्ट्र नौकरियाँ दे सकता है? और यदि नौकरी न मिली तो इनकी जिन्दगी चालू शिक्षा पाकर घोर निराशा में डूब जायेगी। इसलिए विद्यार्थी अपने पैरों पर जीवन में खड़ा रह सकें, ऐसा ज्ञान और आत्मविश्वास निर्माण हो, ऐसी शिक्षा पद्धति चालू करना आज अत्यन्त आवश्यक हो गया है। आज भी अनेक शिक्षित तरुण बेकार हैं। अतः आज की शिक्षा-पद्धति में आमूलाग्र क्रान्ति होनी ही चाहिए।

भारत का मुख्य धन्धा खेती है। अतः खेती के उद्योग को माध्यम मानकर सेवाग्राम में १५ जून १९६३ से उत्तम बुनियादी का खेती में कृषि कालेज की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। चालू शिक्षा के दोष टालकर गांधी जी ने मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित करने की दृष्टि से नयी तालीम शिक्षा पद्धति शुरू की। चरित्र निर्माण और स्वावलम्बन इन दो बातों पर उनका बहुत जोर था, इसलिए सेवाग्राम में चलनेवाली इस नयी तालीम शिक्षा पद्धति में जीवन जीते जीते और जीवन के लिए शिक्षा दी जाती है। जीवन और शिक्षा ऐसे जीवन के दो टुकड़े न मानकर जीवन जीते जाते ही विद्यार्थी शिक्षा पाता जाता है। न्यायाधारित सहयोगी समाज के निर्माण के लिए उपयुक्त मानव निर्माण की दृष्टि से यहाँ शिक्षण का सारा काम चलता है। अतः सिर्फ स्मरण शक्ति के बल पर ली गयी वार्षिक परीक्षा का यहाँ अवलम्बन नहीं किया गया है। विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास करने का सालभर प्रयत्न किया जाता है और उसी से उसकी प्रगति नापी जाती है।

उत्तम बुनियादी में पढ़ने वाला विद्यार्थी अपने शरीरश्रम में से अपना भोजन एवं कपड़े का खर्च निकाल सके, ऐसा लक्ष्य शुरू में रहेगा। 'कमाओ और पढ़ो' (अर्न ऐण्ड लर्न) यह उत्तम बुनियादी का प्रात्यक्षिक पाठ्यक्रम होगा। तीन. साल का उत्तम बुनियादी का पाठ्यक्रम सफलतापूर्वक समाप्त करने पर स्नातक खेती पर काम करके १००।१५० रु० मासिक आमदनी प्राप्त कर सके, इतना बौद्धिक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना इसका अन्तिम लक्ष्य रहेगा।

उत्तम बुनियादी का पाठ्यक्रम तीन साल का है। पढ़ाई का माध्यम हिन्दी है।

प्रवेश

उत्तम बुनियादी में निम्न प्रकार के विद्यार्थियों को प्रवेश मिल सकेगा।

(१) उत्तर बुनियादी उत्तीर्ण (कृषि विषय लेकर)

(२) हायर मैट्रिक उत्तीर्ण (कृषि विषय लेकर)

जिन विद्यार्थियों ने उत्तर बुनियादी में या मैट्रिक में कृषि विषय न लिया हो उन्हें एक साल ज्यादा देना होगा। इस वर्ष सिर्फ दस विद्यार्थी प्रथम वर्ष में लिये जायेंगे, जिससे हर विद्यार्थी की ओर विशेष ध्यान दिया जा सके।

जो भाई प्रवेश चाहते हैं वे अपना आवेदन पत्र ३० जून तक भेज सकते हैं। वह मजूर होते ही सूचित किया जायेगा। प्रवेश शुल्क १० रु० देना होगा।

विद्यार्थी को छात्रालय में रहना अनिवार्य होगा और छात्रालय के सब नियमों का पालन करना होगा। यहाँ खादी पहनना अनिवार्य है। हर माह २० रु० भोजन खर्च आवेगा। आते समय साथ में चरखा, थाली, दो कटोरी, लोटा, लालटेन, पेटी आवश्यक सामान लावें।

इस बारे में पत्रव्यवहार आचार्य, उत्तम बुनियादी, सर्व सेवा संघ, सेवाग्राम, जि०-वर्धा (महाराष्ट्र), इस पते पर करें।

●

यदि हमें उस दुनिया में सच्ची शान्ति प्राप्त करना है और यदि हमें युद्ध के खिलाफ सचमुच युद्ध चलाना है तो हमें अपने कार्य का आरम्भ बालकों से करना होगा।

–महात्मा गांधी

●

१९६०–६१ में देश के कुल कर दाता केवल ८.२८००० थे अर्थात कुल जन संख्या का ०.२ प्रतिशत के लगभग।

उसमें १६६४ व्यक्ति ऐसे हैं, जिनकी वार्षिक आय १ से २ लाख तक है, जो अपनी आय की औसत ५८% कर में देते हैं।

२५७	व्यक्तियों की आय	२ से ३ लाख है,	६१%	कर देते हैं।
१०३	"	३ से ४ "	६८%	"
४०	"	४ से ५ "	७२%	"

बाकी सब की आय १ लाख से कम है।

सम्पत्ति कर, व्यय कर और उपहार कर सब मिला कर कुल ९.९९ करोड़ का कर जमा होता है, जो कुल कर का लगभग ३% है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना बनने के पहले कर से वसूल होने वाली धनराशि राष्ट्र की कुल आमदनी का ८% से भी कम ही थी।

प्रथम योजना में सार्वजनिक उद्योगों के लिए १ अरब ८५ करोड़ से ४ अरब ८० करोड़ तक की धन राशि करों द्वारा प्राप्त करने की योजना बनी अर्थात करों से लगभग ४१ से ७० प्रतिशत भाग इकट्ठा करने का लक्ष्य था।

दूसरी योजना में वह धनराशि ४ अरब ८० करोड़से बढ़कर १० अरब ५० करोड़ रुपये की अर्थात १२० प्रतिशत आँकी गयी।

अब तीसरी योजना में लगभग १७ अरब १० करोड़ रुपयों के अतिरिक्त कर की योजना बनायी गयी है, जो दूसरी योजना के अतिरिक्त कर से लगभग दूनी से भी अधिक है।

भारत में सहकारिता का विकास

एक चित्र

सन्	समिति संख्या	सदस्य संख्या	संचालन पूँजी
१९१५	११ ७९०	५ लाख ४८ हजार	५ करोड़ ४८ लाख
१९२०	२८४८०	११ लाख २१ हजार	१५ " १८ "
१९३०	८१ ९४०	३६ लाख ८१ हजार	७४ " ८९ "
१९४०	१,१६,९६०	५० लाख ७७ हजार	१ अरब २४ " ६८ "
१९५०	१,५१,६१०	१ अरब ७७ लाख २८ हजार	२ अरब ०५ " ८९ "
१९६०	३,१३,४९०	३ अरब ९३ लाख २१ हजार	१० अरब ८३ " ४७ "

दूसरा चित्र

	१९५१–५२	१९५५–५६
प्राथमिक सहकारी भण्डार	९,५७९	७,३५९
सदस्यता	१८,३९,०००	१४,१४,०००
खरीद (मूल्य) रु०	७९ करोड़ ६० लाख	१३ करोड़ ६१ लाख
बिक्री (मूल्य) रु०	८३ करोड़ ७५ लाख	१४ करोड़ ४८ लाख

नये प्रकाशन

रुहुल कुरान (उर्दू)—विनोबा

कुरान का यह सार उर्दू जनता की सुविधा के लिए प्रकाशित हुआ है। सरल-सुबोध शैली और सुवाच्य लिपि में प्रकाशित ४०० पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक का दाम केवल— मूल्य ४ ००

रुहुल कुरान (उर्दू भाषा, नागरी लिपि)—विनोबा

उर्दू रुहुल कुरान का यह नागरी लिपि का संस्करण उन पाठकों के लिए प्रकाशित किया गया है जो उर्दू भाषी तो हैं पर जिनके सामने लिपि की कठिनाई रहती है। इसे हिन्दी भाषी जनता भी सरलता पूर्वक पढ़ सकेगी। उर्दू शब्दों के हिन्दी अर्थ भी पाद-टिप्पणियों में दिये गये हैं। मूल्य २ ००

नशाबंदी : क्यों और कैसे ?—रमावल्लभ चतुर्वेदी

नशाबंदी भारत की संस्कृति और सभ्यता की माँग है और इसलिए गांधीजी ने अपने कार्यक्रमों में जीवन भर नशाबंदी पर जोर दिया। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने भी अपने संविधान में इसे स्वीकार किया। किन्तु १५ वर्ष बीतने पर भी देश में पूरी तरह नशाबंदी नहीं हो पायी है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने नशाबंदी का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक महत्व बताते हुए उसके आर्थिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और सिद्ध किया है कि भारत-जैसे गरीब देश में तथा यहाँ की जलवायु में नशाबंदी के बिना निस्तार नहीं है। इस दिशा में सरकार और सरकारी तन्त्र के रवैये की, उसके उत्तरदायित्व की खुले मन से विस्तृत विवेचना की गयी है।

नशाबंदी विषय में दिलचस्पी रखनेवाले कार्यकर्ताओं तथा समाज हितैषियों को तो इस में पर्याप्त जानकारी मिलेगी ही, नशे और व्यसन में फँसे हुए लोग भी इसे पढ़कर मुक्ति की राह पा सकेंगे। मूल्य ० ६०

अहिंसक शक्ति की खोज—विनोबा

सर्व सेवा-संघ के आराम बाग अधिवेशन में दिये गये विनोबा जी के महत्वपूर्ण प्रवचनों का संकलन, चीन भारत संघर्ष, सत्याग्रह, मैत्री यात्रा, युद्ध-निषेध, सर्वोदय और साम्यवाद, सर्व सेवा-संघ के विसर्जन आदि विषयों पर विनोबाजी का सूक्ष्म विश्लेषण चिंतन की राह खोलता है। सर्व सेवा-संघ का निवेदन तथा प्रस्ताव भी जोड़ दिये गये हैं। मूल्य ० ७५

जीवन-दृष्टि—विनोबा

प्रस्तुत पुस्तक में विनोबाजी के उन लेखों, विचारों और भाषणों का संकलन है जो उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के पूर्व लिखे या व्यक्त किये थे। उनकी तात्त्विक भूमिका और गंभीरता आज भी पाठक को ताजगी देता है।

जीवन को जाने की क्रान्ति-निष्ठ दृष्टि प्रदान करने वाली मधुर रचना— मूल्य १ २५

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-१

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
जून १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

मुझे भी जैसे होश आ गया

मसूरी की वह शाम अपना सोना बखेर देने के बाद छुप जाना चाहती थी। बस-स्टैण्ड के पास रिक्शा-कुलियों के बीच सरगर्मी देखकर हमलोगों को कुतूहल हुआ, अत हमलोग उसी तरफ बढ़े। पास पहुँचने पर एक जवान कुली ने बताया, 'साहब पाँच रुपये तय करके आये थे, यहाँ आने पर सिर्फ चार देकर देखिये चले जा रहे हैं। कहते हैं यहाँ तक के पाँच रुपये बहुत ज्यादा हैं। हमलोगों ने जान देकर इतनी जल्दी पहुँचाया है, लेकिन अब दिल इतना छोटा हो रहा है। बड़े अमीर बनते हैं, कभी मौका लगा तो मजा चखा दिया जायगा।'

'तो तुम लोगों ने वह रुपया कबूल ही क्यों किया ? न लेते फिर देखा जाता !'

'न लेते तो वह रुपया भी हाथ से जाता। तब फिर खाते क्या, बाल-बच्चे क्या करते। कोई नयी बात नहीं है बाबू, यह सब तो होता ही रहता है'। ढलती उम्र के दूसरे कुली ने जवाब दिया।

'तुम पैसा छोड़ देते तो बिना पूरा पैसा दिये उनकी हिम्मत न पड़ती ऐसे जाने की।'

'इन लोगों के शरम कहाँ है बाबू ? भलमनसी होती तो ऐसा बर्ताव ही क्यों करते'— पहला कुली अपने को रोक नहीं सका।

'रहने दो भाई ! कड़ी जबान कहने से क्या फायदा ? भगवान् उसका भला करे और उन्हें अच्छी समझ दे ताकि वह भी जमाने की रफ्तार पहचान सकें'—कहते हुए दूसरे ने उसे समझाने की कोशिश की।

उस साधारण कुली की इस सद्भावनापूर्ण बात से तो मुझे भी जैसे होश आ गया।

× × × ×

समाज-परिवर्तन की दिशा में केवल गरीब ही नहीं अमीर भी हमारी सहानुभूति के पात्र हैं, इस तथ्य को वह कुली पहचान गया था, हम कब पहचानेंगे ?

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अ० भा० सर्व सेवा संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित
कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ १८५० इस मास छपी प्रतियाँ १८००

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ का मासिक

प्रधान सम्पादक
धीरेन्द्र मजूमदार

सम्पादक
आचार्य राममूर्ति

वर्ष ११ अंक १२

वार्षिक चन्दा ६-००
एक प्रति ०-५०

जुलाई १९६३

नयी तालीम

सलाहकार मण्डल

अनुक्रम

सूचनाएँ

- 'नयी तालीम' का वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है।
- किसी भी मास से ग्राहक बन सकते हैं।
- पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।
- चन्दा भेजते समय अपना पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें।

नयी तालीम का पता

नयी तालीम
अ० भा० सर्व सेवा संघ राजघाट,
वाराणसी-१

नयी तालीम

वर्ष : ११] [अंक : १२

आ गयी जुलाई

जब अपने बचपन के दिन याद आते हैं तो आज भी यह सोचकर बहुत बुरा लगता है कि उसी समय जब आमों का पेड़ से टपकना जोर पकड़ता था हम लोगों की छुट्टी खत्म हो जाती थी। जी चाहता था कि बरसते पानी में भीगें, खेलें, बाग में दौड़ दौड़कर आम बीनें, भैया के साथ खेत में बीज बोयें; लेकिन उसी वक्त स्कूल की याद आ जाती थी। आठ-दस वर्ष की उम्र के हम लगभग पचास बच्चे एक साथ छात्रावास में रहते थे। हम लोग आपस में कभी-कभी कहते थे कि अगर स्कूल गरमी के लिए बन्द हो सकता है तो वर्षा, आम, झूले, खेती और कबड्डी के लिए क्यों नहीं बन्द हो सकता?

ये यादें और ये बातें आज की नहीं हैं; पैंतीस चालीस साल पहिले की हैं। उस वक्त मेरे जैसे बच्चे का दिमाग शिक्षा और प्रकृति के अनुबन्ध को नहीं समझता था, लेकिन दिल पानी और पत्तों के साथ खेलने को तरसता था। मैं सोचता हूँ कि चालीस वर्षों में ये स्कूल कितने बदले हैं? और बदले भी हैं या नहीं? आज भी किताब और कुदरत में कहीं कोई लगाव दिखायी देता है? जमाना बदला, विज्ञान बदला, मनुष्य की आशाएँ, आवश्यकताएँ और वासनाएँ बदलीं, लेकिन 'पढ़ाई' न बदली, न बदली!

शिक्षा के लिए तो पुस्तक, परीक्षा और नौकरी के सिवाय जैसे चौथी कोई चीज ही नहीं है। उँगलियों का हुनर, प्रकृति के प्रति सम्वेदनशीलता, सामाजिक चेतना आदि चीजें शिक्षा के शासक और उसके अधीन काम करने वाले शिक्षक के लिए जैसे कोई अर्थ ही नहीं रखतीं। वही पिटाई, वही रटाई, वही पढ़ाई चलती चली जा रही है।

कितनी जुलाइयाँ बीत गयीं और नयी जुलाई फिर आ गयी। स्कूल, कालेज, विश्व-विद्यालय, सब खुल गये। हजारों लाखों बच्चों और तरुणों से शालाएँ आबाद हो गयीं। शालाएँ ही नहीं, होटल, बाजार, सिनेमा की चहल-पहल बढ़ गयी। एक साथ गाँव से करोड़ों रुपयों का शहर में आ जाना, जो कभी वापस नहीं जायगा, कोई मामूली बात नहीं है। शादी हो या श्राद्ध, शिक्षा हो या स्वास्थ्य, हर मौका और हर आदमी पैसे को गाँव से शहर की ओर खींचता है। माँ बाप सोचते हैं कि चौदह-पन्द्रह साल बाद जब बच्चा सयाना हो जायगा और पढ़-लिख लेगा तो एक साथ सब खर्च वसूल हो जायगा—कुछ तनख्वाह से, कुछ ऊपरी आमदनी से; इसलिए वे तकलीफ उठाते जाते हैं, पैसा लगाते जाते हैं; लेकिन बेचारे शायद जानते नहीं कि अपने देश की पढ़ाई वह सौदा है, जो या तो सूद दर-सूद के साथ लौटेगा या लागत को भी डुबा देगा। शिक्षा सचमुच एक व्यवसाय बन गयी है, और चूँकि यह व्यवसाय है; इसलिए उसका भी सत्ता और सम्पत्ति के साथ उसी तरह का सम्बन्ध है जैसा और व्यवसायों का। वह भी बाजार के ही नियमों से प्रभावित है–भर्ती में, किताबों में, परीक्षा में वही भ्रष्टाचार, वही मुनाफा-खोरी। यही कारण है कि ऊपर से आदर्श की चाहे जो बातें कही जायँ, पढ़ाई और परीक्षा के लिए चाहे जो अभ्यासक्रम बनाया जाय, शिक्षा विभाग के अधिकारियों की संख्या चाहे जो हो जाय तथा संस्थाएँ चाहे जितनी खुल जायँ, किसी से शिक्षा का कोई वास्तविक सुधार हो नहीं पाता। बातें, बातें ही रह जाती हैं। युद्ध की तरह शिक्षा भी एक भयंकर बर्बादी है। यह शिक्षा कब बदलेगी, कहना कठिन है।

ये बच्चे क्या जानें कि सही शिक्षा उन्हें क्या बना सकती थी और आज की इस शिक्षा में वे क्या होकर रह जायँगे; ये तरुण क्या जानें कि विज्ञान और लोकतन्त्र की आकांक्षा रखनेवाला यह देश, जो अपने पसीने से उन्हें पाल रहा है, उनसे क्या अपेक्षा रखता है और किस तरह यह शिक्षा हर कदम पर उस अपेक्षा को खंडित कर रही है?

अभी तक देश ने शिक्षा में जो लागत लगायी उसके बदले में उसे क्या मिला? शिक्षा बढ़ी, लेकिन साथ साथ अनास्था, विवेकहीनता, बेकारी और बदनीयती भी बढ़ी। शिक्षा से शासक मिले, और भरपूर मिले; लेकिन शिक्षा से देश को निर्माण की शक्ति नहीं मिली; बल्कि यह हुआ कि जिसने जितनी ही ज्यादा शिक्षा पायी वह उतना ही अधिक अपने दिल और दिमाग से अपने ही देश में पराया हो गया–परम्पराओं से अनभिज्ञ, समस्याओं से अपरिचित आकांक्षाओं से उदासीन। प्रचलित शिक्षा और देश के जीवन में कहीं कोई अनुबन्ध भी है, यह दिखायी नहीं देता, और इस क्रम में गाँवों को तो दुहरी मार खानी पड़ रही है। व्यवसाय गाँव का पैसा ले रहा है, कारखाने उसकी श्रम शक्ति और कारीगरी को खींच रहे हैं, और शिक्षा उसकी बचीखुची बुद्धि को ही निकाल रही है।

गुलामी का झंडा १५ अगस्त १९४७ को बदला। तब से १६ जुलाइयाँ आ चुकीं। गुलामी की यह शिक्षा कब बदलेगी?

—राममूर्ति

*

बरसात का पहला दिन

•

श्री रुद्रभान

बरसात का समय बच्चों के लिए खुशी, जिज्ञासा और चंचलता का होता है। वे बरसते पानी में भीगना और उछलना-कूदना चाहते हैं और ज़रा-सा भी मौका मिलते ही घर के बाहर नजर आते हैं।

अध्यापक बच्चों को पढ़ा रहा हो, इसी बीच पानी बरसने लगे तो पढ़ाई का सिलसिला जारी रखना बहुत कठिन हो जाता है। बच्चों का मन उस समय बरसात के तरह-तरह के दृश्यों की ओर रम जाता है। ऐसे समय में बच्चों का ध्यान पुस्तक, कापी या श्यामपट की ओर लगाये रखना प्रारम्भिक कक्षाओं के कुशल शिक्षक के लिए टेढ़ी खीर हो जाता है। एक जागरूक और समझदार शिक्षक ऐसे अवसर पर क्या करे!

कम से कम बरसात के पहले दिन प्रारम्भिक कक्षाओं के शिक्षकों को अपनी चालू पढ़ाई के सिलसिले पर रोक लगा देनी चाहिए।

पाठशाला में आये हुए बच्चों को बरसात के पानी में भीगने की छूट दी जाय या नहीं, इसमें लोगों की अलग अलग रायें हो सकती हैं; लेकिन उस समय छोटे बच्चों को किसी पूर्व निश्चित कार्यक्रम में न उलझा रखा जाय, इस पर दो रायें नहीं होंगी। बच्चे उमड़ते घुमड़ते बादल, वर्षा और आसमान में चमकने वाली बिजली के मोहक दृश्य को खुलकर देख सकें, उसका आनन्द लूट सकें और शिक्षक से उसके बारे में मनमाने सवाल पूछ सकें, इसका उन्हें मौका मिलना ही चाहिए।

पाठशाला के आस-पास कहीं छोटी या बड़ी नदी बहती हो तब तो बरसात थमते ही बच्चों की टोली के साथ नदी-किनारे पहुँचने का सुनहला मौका हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। उस समय नदी के किनारे पहुँचने पर बच्चों को प्रादेशिक और राष्ट्रीय भूगोल सम्बन्धी अनेक सहज सवालों का परिचय प्राप्त होगा।

नदी की ओर जाते समय रास्ते में छोटी-मोटी नालियाँ, बड़ी नालियाँ और नाले पड़ेंगे। नदी के किनारे पहुँचते ही बच्चों का दिल खुशी से उछल पड़ेगा। एक दिन की बरसात से नदी के पानी और उसके बहाव में कितना परिवर्तन आ जाता है, यह दृश्य वे आसानी से नहीं भूल सकेंगे।

बरसात के पहले नदी का पानी न इतना मटमैला था, न उसकी धारा ही इतनी तेज थी। बरसात होने से नदी का पानी मटमैला हो गया है। नदी के बहाव के साथ साथ पेड़ की सूखी पत्तियाँ, सफेद झाग और छोटी-छोटी टहनियाँ बहती दीख पड़ती हैं। कभी-कभी पेड़ की बड़ी डाल या जड़ समेत पूरा पेड़ ही नदी की धारा में बहता दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी सूखी घास, जलकुम्भी, बाँस के टुकड़े और लकड़ी के तख्ते भी बहते नजर आते हैं। पानी की

तेज धारा में एकाध बार साँप, बतखें या अन्य छोटे-मोटे जानवर भी बहते दीख पड़ते हैं।

बच्चों ने अब तक जो कुछ देखा है उससे सम्बन्धित कुछ बहुत सहज और सीधे सवाल उनके सामने उठाये जा सकते हैं। जैसे—

१ नदी में इतना पानी कहाँ से आया? यह पानी वर्षा से आया, इतना ही उत्तर काफी नहीं है। यह पानी नदी में क्यों और कैसे पहुँचा, यह भी कहना होगा। वर्षा का पानी नदी के रूप में कैसे बहने लगता है?

२ बरसात का पानी आया कहाँ से? वर्षा के पहले आसमान साफ था, फिर बादल घिर आये, बिजली चमकी और पानी बरसने लगा। बच्चे इतना तो जान लेते हैं कि पानी बादलों ने बरसाया लेकिन बादल कहाँ से आये और उनमें पानी कहाँ से आया और फिर वह धरती पर कैसे बरसा, यह वे नहीं जानते।

३ नदी का पानी एक ही तरफ क्यों बहता चला जाता है? वर्षा के पहले नदी का पानी जिधर बहता था, वर्षा के बाद भी उधर ही जोरदार बहाव के साथ क्यों बहता जाता है?

४ वर्षा के पहले नदी का पानी इतना शुद्ध और साफ था, लेकिन वर्षा के बाद इतना मटमैला क्यों हो गया? नदी का थोड़ा-सा मटमैला पानी किसी शीशी या गिलास में साथ लेते आयें। दूसरे दिन बच्चों को यह पानी देखने दें। साफ पानी ऊपर दीख पड़ेगा और पेंदी में मिट्टी या कीचड़ की एक पतली तह रहेगी। शीशी या गिलास के हिला देने पर पानी पुन पहले जैसा मटमैला हो जायेगा। इस मिट्टी या कीचड़ के कारण ही नदी का पानी मटमैला होता है, यह बच्चे समझ जायेंगे। यह मिट्टी पानी में कैसे आयी?

५ नदी हमेशा से एक ही ओर बह रही है। बरसात में उसमें हमेशा मिट्टी बहती जाती है। इस बहते पानी और उसमें की मिट्टी का अन्त कहाँ और किस रूप में होता है?

६ वर्षा छोटी-बड़ी सभी नदियों में बाढ़ ले आती है। हमारे देश में ऐसी न जाने कितनी छोटी-बड़ी नदियाँ हैं। दुनिया भर में ऐसी हजारों नदियाँ होंगी। सभी नदियों में बरसात में बाढ़ आती है। और, वे हजारों वर्षों से पानी और मिट्टी को बहाकर ऊँचाई से ढाल की ओर ले जा रही हैं।

वर्षा के अवसर पर बच्चों ने अब तक जो कुछ देखा और इस सिलसिले में उनके सामने जो सहज प्रश्न उठाये गये उनका सम्बन्ध प्राय. एक ही विषय—भूगोल—से रहा है।

इस अवसर पर वर्षा सम्बन्धी छोटी छोटी कविताएँ बच्चों को आसानी से बतायी जा सकती हैं।

बच्चों की अवस्था तथा कक्षा के अनुसार कई अन्य विषयों की चर्चा भी आसानी से हो सकेगी। यथा—कितने समय में कितने सेंटीमीटर पानी बरसा? ऊमस क्यों मालूम होती है और उसके बाद प्राय. (वर्षा के पहले) आँधी क्यों आती है? वर्षा का पानी नदियों के अलावा और कहाँ कहाँ जाता है? वर्षा के दिनों में किन किन बीमारियों का प्रकोप बढ़ता है और इसके कारण क्या हैं? बरसात के दिनों में कहीं कम और कहीं अधिक पानी क्यों बरसता है? वर्षा से पेड़-पौधों तथा खेती का क्या सम्बन्ध है इत्यादि।

★

धरती-माँ ने हरे रंग की साड़ी पहन ली है। पक्षी, मेढक, मोर अपने अपने स्वरों से बादलों का दिन-रात स्वागत करते हैं। यही है वर्षा ऋतु और यही है इसका सौन्दर्य। ऐसे समय बच्चों को घर में बिठ रखने वाले प्रकृति-रौंदर्य के दुश्मन हैं, वे बालकों के दुश्मन हैं और वे उनकी प्रगति के घातक हैं।

—स्व० गिजुभाई

●

खुल गया कुदरत का स्कूल

•

श्री 'नरेन्द्र'

वैसे बुद्धि के अनेक गुण हैं; लेकिन आज के शिक्षण में उन गुणों का समग्र विकास नहीं हो पाता है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि शिक्षण का आधार व्यक्ति की स्वाभाविक परिस्थिति और जिज्ञासा को न मान कर, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों को माना जाता है, जिससे मनुष्य का सर्वाङ्गीण और समग्र विकास नहीं हो पाता। इतना ही नहीं है; बल्कि मनुष्य में प्रकृति प्रदत्त गुणों के भी क्षीण होने की आशंका बनी रहती है।

निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करके सीखने का गुण मनुष्य को प्रकृति की एक बहुत बड़ी देन है। इसी गुण के बल पर मनुष्य पाषाण-युग से अणु-युग तक पहुँचा है। तालीम का सारा दारोमदार इसी गुण के उपयोग करने पर है। इस गुण का जितना अधिक विकास होगा उतना ही मनुष्य में समग्रता और सर्वाङ्गीणता आयेगी। जो भी साथी शिक्षक का काम करते हैं उनको इस बात का पर्याप्त ध्यान रखना होगा कि बच्चे को योग्य और सभ्य बनाने के फेर में कहीं उसके इस गुण को नष्ट तो नहीं कर रहे हैं।

पच्चीस बरसात पहिले की बात है। मैं एक छोटा लड़का था। चौथी कक्षा में पढ़ता था। एक दिन रात को खूब जोर से पानी बरसा था। गाँव में टट्टी तो खुले मैदान में जाना पड़ता ही है। घर से बाहर निकलते ही देखा कि पूरा रास्ता केंचुओं से भरा पड़ा है। हम इनको उन दिनों 'गिंडोया' कहते थे। बस, अब तो मजा आ गया। एक लकड़ी ली और तेजी से सरकते हुए केंचुए को छू दिया। बेचारा सिकुड़ कर जरा-सा हो गया। एक, दो, तीन करके साथी आ गये। उनको लकड़ी छुआ कर सिकोड़ने का यह खेल बड़ा भला लग रहा था।

"दुष्ट लड़को! क्यों सता रहे हो इस जीव को!" —स्कूल के पण्डितजी की इस कड़कड़ाती आवाज से हम सब में खलबली मच गयी। सब तितर-बितर हो गये। मैं भी भागने की कोशिश में था कि पैर फिसल गया और कीचड़ में आ गिरा। चोट तो लगी थी, परन्तु पण्डितजी के डर के मारे रोने की हिम्मत नहीं हो रही थी।

"दूसरे जीवों को सताने का मजा चख लो"— यह कहते हुए मुझे पण्डितजी ने उठाया और उपदेश करते हुए कहा—"अब मत सताना किसी जीव को।"

मैं क्या कहता! मेरे मन में तो अब दूसरा ही सवाल खड़ा हो गया था। कल तक जिस केंचुए की शक्ल भी नहीं देखी थी, आज सुबह ही सुबह बारिश होने के बाद वह कहाँ से आ टपका! कुदरत में इस सिलसिले जीव की क्या जरूरत है, आदि-आदि। पण्डितजी से तो इस प्रकार के सवाल पूछने की हिम्मत

ही नहीं थी; क्योंकि सवाल पूछने का अधिकार तो पण्डितजी को ही था। हम ठीक ठीक जवाब न दें तो भी पण्डितजी की छड़ी पीठ पर पड़ने का डर और अगर इस तरह के उटपटांग सवाल पूछें तो भी पण्डितजी की डाँट या छड़ी पीठ पर पड़ती थी।

"क्या अटपटाँग बातें पूछते हो! तुमको पढ़ाई से कुछ मतलब है कि नहीं? न इतिहास याद करोगे न भूगोल-गणित के प्रश्न हल करोगे। आजकल के लड़के इधर-उधर की बातें ही अधिक बनाते हैं, पढ़ने के नाम पर जीरो हैं। बैठ जाओ, करो चुपचाप अपना काम।"—बस यही रटा रटाया उत्तर हमेशा पण्डितजी से मिलता था।

न अकबर को देखा, न क्लाइव के दर्शन किये, थागटीसीक्याग तो कुछ समझ में ही नहीं आती, जेबरा भी मालूम नहीं, लेकिन इनकी जानकारी दिमाग में ठूँस ठूँस कर भरनी जरूरी है और वह भी बिना किसी प्रसंग के, क्योंकि यह सब तो पाठ्यक्रम में शामिल है; लेकिन केंचुआ न तो पाठ्यक्रम में है, न पाठ्यपुस्तक में ही। यह तो रास्ते में पड़ा है मेरी आँखों के सामने। उसको जानने की मेरी जिज्ञासा है; लेकिन कोई नहीं बतायेगा उसके बारे में। जब पाठ्यक्रम के अनुसार उसका क्रम आयेगा वह मेरी आँख के सामने से ओझल हो जायेगा, उस समय डिसेक्शन के लिए गड्ढे खोद-खोद कर उसे खोज कर लाना होगा।

आखिर मैंने अपनी जिज्ञासा अपने ताऊजी के सामने प्रकट की। "ताऊजी, यह गिंडोया कहाँ से आता है?" वे बेचारे कर्मकाण्डी पण्डित, आस पास की देहात में उनकी बड़ी धाक। कहने लगे—'बेटा यह सब भगवान की माया है। उसकी इस सृष्टि में बड़े ही विचित्र विचित्र जीव हैं। सब अपने अपने कर्मों का फल भोगने के लिए धरती पर जन्म लेते हैं।"

मुझे समाधान न हुआ। दादी से पूछा। उन्होंने सीधा सादा उत्तर दिया—"बेटा इसे रामजी बरसाते हैं। जब बारिश होती है तो गिंडोया भी बरसता है।"

दो चार दिन बाद जब एक दिन तेजी से बारिश हो रही थी तो मैं चुपके से घर से निकला। एक टोकरी साथ में ली। खुले मैदान में टोकरी रख दी। बहुत देर तक मैदान में टोकरी रखी रही; परन्तु उसमें एक भी केंचुआ नहीं आया। निराश होकर घर लौट आया। बात कुछ समझ में न आयी।

इसके बाद एक-एक करके आठ बरसातें बीत गयीं। केंचुए के बारे में जानने की उत्सुकता भी प्रायः समाप्त हो गयी; लेकिन प्रयोगशाला में एक दिन केंचुए से फिर मुलाकात हुई। पुरानी घटना की स्मृति भी नहीं रह गयी थी। केंचुए का डिसेक्शन किया। *उसकी उत्पत्ति, जीवन-क्रम, और अन्दरूनी* रचना के बारे में पढ़ा। परीक्षा दिया, पास हुआ। अब पिछली घटना विस्मृति के गर्त में पड़ गयी।

बंसी में केंचुआ लगा कर मछली पकड़ने के लिए बच्चे केंचुआ चुन रहे थे। जुलाई '६३ की इस बरसात ने बचपन की उस घटना को ताजा कर दिया। केंचुआ उठाते हुए बच्चों को कई बार छेड़ा। जानना चाहा कि उनमें से किसी को उसके बारे में जानने की उत्सुकता है क्या? परन्तु जब मैंने पूछा कि जानते हो, केंचुआ बरसात में कहाँ से आ जाता है? कुछ ने लापरवाही से कहा कि आसमान से बरसता है, कुछ ने उससे भी अधिक लापरवाही से कहा—जमीन में रहता है।

पूर्णिया जिले के बलिया गाँव में भी धीरेन्द्र भाई के मार्गदर्शन में नयी तालीम का यह प्रयोग चल रहा था। प्रकृति, समाज और काम के अनुबन्ध से ज्ञान किस प्रकार देना चाहिए, इसके अनेक प्रयोग वहाँ किये जा रहे थे। बस, बरसात शुरू हुई, जमीन पर केंचुआ दिखाई दिया, आसमान में उमड़ घुमड़कर बादल मँडराने लगे। खुल गया कुदरत का स्कूल और उसकी किताबों के पन्ने। काम करते-करते बीच में आराम के समय तथा रात को एक-दो घण्टे बच्चे, किसान, मजदूर सब बैठ जाते थे। उनको सहज और स्वाभाविक ढंग से इन सब घटनाओं से अनुबन्धित

(शेष पृष्ठ ४२९ पर)

बच्चों की नयी दुनिया

•

श्री अब्दुल रज्जाक

डंडे का प्रवेश ही विद्यालय को अशुद्ध बना देता है। कहाँ सरस्वती की सुकोमल सरस वाणी से गूँजता विद्या-मन्दिर और कहाँ रणचंडी की विभीषिका साथ लिये आया क्रूर डंडा। दोनों का समन्वय न हुआ है, न हो सकता है।

जब मैं प्राइमरी स्कूल में पढ़ता था उस समय लेजिम, लाठी और कबड्डी आदि खेल खेलाये जाते थे। मैं स्वभाव से ही खेलाड़ी रहा हूँ। खेल के सामने पढ़ाई क्या अपने तक को भूल जाया करता था। ऐसे अनेक मौके आये हैं, जब हमारे कई साथी पढ़ाई के घंटे में दरजे से पेशाब करने के बहाने उठे हैं और मैदान में जाकर कबड्डी, गुल्ली-डंडा, आती पाती ऐसे विभिन्न खेलों में जुट गये हैं। हमें याद है कि हमारी संख्या बीच-बीच में बढ़ती गयी है। बढ़ते बढ़ते यहाँ तक हुआ है कि गुरुजी को भी क्लास छोड़ देना पड़ा है। कभी खुश हुए तो आकर खेल में रस लेने लगे, कभी रंज हुए तो हम पर बेभाव की पड़ी है। सारी घटनाएँ जैसे नयी सी लग रही हैं। अभी कितने दिन हुए हो, जुमा-जुमा आठ दिन। ये १६-१७ साल कब चल गये, पता न चला।

हमीं नहीं, हमारी तरह के जितने भी बच्चे हैं, ऐसी उम्र में खेल बहुत पसन्द करते हैं। छोटा बच्चा माँ की गोद में खेलने को मचल उठता है। अपना हाथ पैर बार बार झटकता, फेंकता, किल्कारियाँ भरता और निरंतर या माँ की गोद को रौंद डाल्ता है। छोटे भाई-बहन उसके साथ एकरूप होकर उसके खेल में हाथ बँटाते हैं। कभी झुनझुना, तो कभी चिड़िया या गुड़िया, कुछ नहीं हुआ तो अपनी पढ़ने की किताब, पेंसिल कापी वगैरह बच्चे के हाथ में देकर घंटों उससे खेला करते हैं। माँ की गोद से उतर कर मुन्ना जमीन पर घुटने के बल चलने लगा, अपने नन्हें-नन्हें पैरों को सँभालता हुआ उठने, चलने, फिर दौड़ने भी लगा। अब उसके खेल की सीमा बढ़ी, क्षेत्र बढ़ा और साथ ही साथ खेल के नये साथी भी उसने ढूँढ़ने शुरू कर दिये। अपने अनेक मित्रों के बीच खेलते हुए बच्चा खाना खाना तक भूल जाता है।

बच्चा स्कूल पहुँचा। उसे मिली नयी दुनिया। यहाँ उसकी उम्र के बच्चों की लम्बी कतार पहले से ही सभी सँवरी इन्तजार कर रही है। घर पर तो कभी साथी के अभाव में अकेले ही मनमारे इधर-उधर घूमना पड़ता था। यहाँ घूमने का सवाल ही नहीं पैदा होता। इच्छा की, साथी हाजिर। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ गयी कि इच्छा न होते हुए भी अपने साथी की इच्छा पर मैदान में दौड़ जाना पड़ता है।

छोटे छोटे नन्हें मुन्नें अपने माँ-बाप से ४,६ और आठ-आठ घंटे के लिए अलग होकर आते हैं। उनके वे माँ-बाप जो अपने बच्चों को पल भर के लिए भी आँखों से ओझल होने नहीं देते थ, बच्चे का मन प्रसन्न रखने के लिए हर क्षण प्रयास करते थे, आज दिन दिन भर की जुदाई सहने को तैयार हो गये। ऐसा क्यों ? इसका भी एक खास कारण है। गुरुजी का स्थान माँ बाप की निगाह में अपने समकक्ष ठहरता है। माँ समझती है—बच्चा हमसे दूर नहीं, पास ही है। पिता समझता है—मुन्ना अपने नये पिता के पास विद्या अर्जन करने गया है। हमने आज तक खिला-पिलाकर उसके शारीरिक अवयव को पुष्ट किया है। गुरुजी उन अवयवों में शक्ति भरेंगे; मन में, बुद्धि में प्रबल प्रताप पैदा करेंगे।

ऐसी है कल्पना इन नौनिहालों को शाला भेजने के पीछे। हम इसे पूरा करें, यह हमारा कर्तव्य है पर कैसे ? यह है हमारे प्रेम वात्सल्य तथा सम्पूर्ण जागरूकता दिखाने का अच्छा अवसर। हमारे गुरुजन जितने ही अधिक सजग और सचेत होंगे बच्चों का विकास उसी गति से हो पायगा।

एक बात और। आखिर गुरुजी भी तो आदमी हैं। दया प्रेम, क्रोध, सारी भावनाएँ उनमें भी तो आती ही होंगी। लगातार शरारत करने वाले बच्चों की लम्बी टोली जब परेशान करेगी तो कभी न कभी उनके मन को असन्तुलित बना ही देगी। झिड़की और चपत लगाने तक को जी चाहने लगता होगा। पुराने जमाने में तो कहावत सा बन गयी थी कि डंडा से काम न लें तो बच्चे बिगड़ते हैं। मार और पढ़ाई दोनों में चोली दामन का साथ बताया जाता था।

आज अनेक प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि पुरानी बात थोड़ी बहुत नहीं, आमूल गलत है। डंडे का प्रयत्न ही विद्यालय को अशुद्ध बना देता है। कहाँ सरस्वती की कोमल सरस वाणी से गूँजता विद्या मन्दिर और कहाँ रणचण्डी की विभीषिका साथ लिये आया क्रूर डंडा। दोनों का समन्वय न हुआ है, न हो सकता है।

कहानी ! क्या पूछने !! नानी दादी की कहानियों में रस लेनेवाले बच्चे स्कूल में भी कहानी-कहानी चिल्ला उठते हैं। कहानियों की कहानी भी निराली है। कहानियाँ भूत प्रेत की हो सकती हैं, द्वेष तथा घृणा पैदा करनेवाली कहानियों की भी कमी नहीं है पर हम क्या ऐसी ही कहानियाँ अपने भावी राष्ट्र निर्माताओं को सुनायें ? नहीं कभी नहीं। हमें तो चरित्र निर्माण, देश प्रेम, वीरता तथा उत्साह से ओत प्रोत कहानियाँ स्वयं पढ़नी, आवश्यकता पड़ने पर नयी गढ़ना और अपने बच्चों को सुनानी चाहिए।

मेरा अपना अनुभव है कि जब मैं एक वर्ग के विद्यार्थियों को महाभारत का कहानियाँ सुनाने बैठ जाता तो धीरे धीरे पेशाब करने के बहाने दूसरे वर्ग के भी विद्यार्थी उठ उठकर हमारी कक्षा में आने जाने और भीम के किस्से सुन सुनकर वर्ग में सीना तानकर कहते हम भी भीम बनेंगे। न डर होगा, न भय। कर्तव्य भावना का विकास करने के लिए कहानियों से अच्छा माध्यम आजतक मैं दूसरा नहीं समझ पाया।

पहले दिन घर के स्नेहिल वातावरण से हटकर बच्चा अपने जैसे दूसरे एक समूह में प्रवेश करता है। समूह के दूसरे बच्चे कद में उसके जैसे होने पर भी चेहरे मोहरे, रूप रंग, पहनावा और आपसी व्यवहार में अलहदा ढंग से दीखते हैं। घर पर माँ-बाप, भाई-बहन सबका प्यार दुलार उसे अपने आप मिलता था। यहाँ आकर वह समूह में खो जाता है। स्कूल का नया वातावरण, नये-नये चेहरे और छोटे बड़े बच्चों की भीड़ कभी कभी अपने घर के लिए उसे विह्वल बना देती है। वह अनमना सा हो जाता है। सुस्त चेहरे से हँसी गायब-सी हो जाती है और कोई कोई तो फूट फूट कर रोने भी लगता है। ऐसी अवस्था में गुरु जी का उसे बुलाकर प्रेम से दो चार बातें पूछ लेना, व्यक्तिगत स्नेह देना, हँसा बुला कर सारी चिन्ताओं से मुक्त करा कर फिर से समूह में रहने योग्य बना देना, कम कीमत नहीं रखता।

आमतौर से छोटे बच्चे अपने वय भाव के साथ अपने उनके ही वर्ग में जा बैठते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसका भी कारण है। कुछ बच्चे स्वभाव से ही लज्जालु प्रकृति के होते हैं, कुछ दूसरों से मिलने जुलने में हिचकते हैं पर कुछ तो ऐसे भी होते हैं, जो दोस्त बनाने फिरते हैं। इन अनेक किस्म के बच्चों को अलग-अलग व्यक्तिगत चर्चाओं द्वारा इस प्रकार मोड़ लेना चाहिए जैसे उसे ऐसा लगे कि गुरुजी सबसे ज्यादा हमीं से प्रेम करते हैं। स्कूल में एकदम पारिवारिक वातावरण पैदा करना भले ही आसान न हो पर उससे बच्चे का मन न ऊबे, इतनी कोशिश करना कठिन नहीं है। स्कूल का परिवार से भिन्न एक अपना आकर्षण भी होता है। बच्चा उसे जितनी जल्दी महसूस कर सके जितना उसमें रम सके उतना ही उसे स्कूल पसन्द आयेगा। स्कूल में बच्चे को खेल कूद की जगह दोस्ती के लिए दूसरे और बच्चों का सुख साथ मिलता है।

(शेषांश पृष्ठ ४३९ पर)

बच्चों को
नोट कैसे लिखायें ?

• श्री कृष्ण कुमार

बात पुरानी तो है, लेकिन ताजी भी कम नहीं। मुझे अच्छी तरह याद है, उस समय मैं आठवीं कक्षा में पढ़ता था। हमारे शिक्षक, जो हमें अँग्रेजी पढ़ाते थे, उन्हें हम लोग बहुत योग्य मानते थे। उन्हें व्याकरण पढ़ाने का बड़ा शौक था। वे जब व्याकरण पढ़ाना शुरू करते तो प्रायः पूरे 'पीरियड' तक पढ़ाते रह जाते। वह बोल कर नहीं पढ़ाते थे, बल्कि श्यामपाट पर पूरा लिख देते थे और नकल करने को कहते थे। श्यामपाट पर शायद इसलिए लिखते थे कि हम सही-सही नकल कर सकें।

उनका यह तरीका मुझे पसन्द नहीं था। कुछ समझ में नहीं आता था कि वह क्या लिखाये जा रहे हैं। हमारी पूरी कापी भर गयी, फिर भी हम कुछ समझ नहीं पाये। एक दिन मैंने उनसे पूछा—"मास्टर साहब, आप यह सब क्या लिखा रहे हैं ?" उन्होंने बताया—"अभी पूछो मत, लिखते जाओ, खुद समझ में आ जायेगा।"

चूँकि मास्टर साहब लिखा रहे थे; इसलिए लिखना था; लेकिन लिखने की इच्छा नहीं होती थी। अन्त तक मेरी समझ में यह नहीं आया कि उन्होंने यह सब किसलिए लिखाया था। शायद वह चाहते थे कि अंग्रेजी का पूरा व्याकरण हमें कण्ठस्थ हो जाय। हम उसके पण्डित हो जायँ, लेकिन कम से कम मेरे पल्ले वह चीज नहीं हो पड़ी।

बारह साल बीत गये—आज भी स्कूलों में नोट लिखाने की वही पद्धति चालू है। शिक्षक जो कुछ लिखाता है, बच्चे उसे लिखते हैं। जो शिक्षक नहीं लिखाता, वह अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। जो जितना ही अधिक लिखाता है वह उतना ही अधिक योग्य और परिश्रमी माना जाता है।

यह है विद्यार्थियों की दृष्टि में आज के शिक्षक की योग्यता का प्रचलित माप-दण्ड। कभी-कभी तो विद्यार्थी स्वयं नोट लिखाने की माँग करते हैं। हर विषय के नोट लिखा दिये जायँ और उन्हें कुञ्जी मिल जाय, ताकि उन्हें अधिक परिश्रम न करना पड़े, यही वे चाहते हैं।

अगर जाँच करके देखा जाय तो परीक्षार्थियों का अधिक प्रतिशत कुञ्जी से पढ़ता पाया जायेगा। कुञ्जी का प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। छोटे बड़े सभी दर्जों में यह महारोग समान रूप से फैल चुका है। विद्यार्थी मूल पुस्तक देखने की आवश्यकता नहीं महसूस करते। बाजार में जाकर चावल, दाल, सब्जी खरीदने और उसके भाव जानने तथा भोजन पकाने में समय गँवाने की तकलीफ क्यों की जाय, जबकि पका-पकाया भोजन मिल जाता है। ऐसी मनोदशा हमारे विद्यार्थियों की बन गयी है। इस मनस्थिति के निर्माण में मूल किसकी मानी जाय, बच्चों की या शिक्षक की ?

इस भयानक भूल का परिणाम क्या हो रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है। हम शिक्षक हों या मा बाप, सब कहते हैं कि पढ़ाई का स्तर गिरता जा रहा है। ऐसा क्यों? इसीलिए न, कि छात्रों का बौद्धिक विकास अत्यन्त सीमित होता जा रहा है, उनकी कूप मण्डूकता बढ़ती जा रही है, बाह्य ज्ञान की बात तो दूर, उन्हें अपने पठित विषयों की जानकारी भी बहुत कम रहती है।

अगर हम-आप बच्चों का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाना चाहते हैं तो उनकी कुञ्जी से पढ़ने की आदत छुड़ानी होगी। इसके साथ ही हमें कोशिश करनी होगी कि विद्यार्थी की दृष्टि व्यापक बने। वह अपने पाठ का नोट खुद बना सके, ऐसी क्षमता उसमें होनी ही चाहिए और इसका अभ्यास शिक्षक को कराना होगा।

पहली श्रेणी में तो नोट लिखाने का सवाल नहीं उठता। दूसरी श्रेणी में, पूरे पाठ को समझाते हुए उसका सारांश लिखा देना जरूरी है। वर्ग तीन और चार तक पाठों का सारांश तथा प्रश्नोत्तर लिखाया जा सकता है, नोट नहीं परन्तु वह सारांश बच्चे को कण्ठस्थ हो, ऐसा आग्रह नहीं होना चाहिए। शिक्षक न इसकी अपेक्षा रखे और न अधिक जोर ही दे। सारांश लिखाने का मतलब इतना ही है कि बच्चा समझे कि बड़े पाठ को थोड़े में कैसे लिख सकते हैं और कैसे कह सकते हैं।

वर्ग दो से वर्ग चार तक जो पाठ पढ़ाये जायें उनके सम्बन्ध में छोटे छोटे प्रश्न देकर बच्चों से जवाब लिखवा सकते हैं या जवाब पूछ सकते हैं। ये प्रश्न इतने छोटे छोटे हों कि इनके जवाब चार पाँच छ , वाक्यों में ही पूरे हो जायें। अलग अलग कक्षाओं में उनके स्तर के अनुसार प्रश्नों का स्तर भी बढ़ता जायगा।

चौथे वर्ग तक के बच्चों को नोट लिखाने से कोई खास लाभ नहीं होने वाला है बल्कि उन्हें अधिक लाभ मिलेगा—छोटे छोटे प्रश्नों के हल से।

मैंने ऊपर बताया कि वर्ग चार तक नोट न लिखाकर सारांश लिखाया जाय और वह सारांश प्रश्नोत्तरी पद्धति पर आधारित होना चाहिए। पाँचवें वर्ग से नोट लिखाना शुरू किया जा सकता है। नोट से पढ़ना एक बात है और नोट बनाकर उसकी मदद लेना दूसरी। वर्ग पाँच में कुछ नोट के नमूने बताना होगा। इसी वर्ग से प्रश्नोत्तरी लिखाना बन्द कर देना चाहिए। होना यह चाहिए कि जो पाठ पढ़ा दिया गया उसका नोट विद्यार्थी स्वयं तैयार करें। उनका तैयार किया हुआ नोट शिक्षक देखे। श्यामपट्ट पर उस पाठ का नोट बनाकर बता दे। इस तरह बार बार अभ्यास हो तो धीरे धीरे नोट लिखने का तरीका विद्यार्थियों को मालूम हो जायेगा और वे वर्ग आठ में जाते जाते नोट तैयार करने में पूर्ण स्वावलम्बी हो जायेंगे। विद्यार्थी खुद नोट लिखना सीख लेंगे तो न शिक्षक को नोट लिखाना पड़ेगा और न विद्यार्थी ही उसकी माँग करेंगे।

एक बात की ओर यहाँ और ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पाठ्य पुस्तकों से प्रश्नों का उत्तर ढूँढना कठिन काम होता है। इसके लिए पूरी पुस्तक पढ़नी पड़ती है। इसमें समय ज्यादा लगता है, इसलिए विद्यार्थी के लिए आसान होता है कि वह कुञ्जी उठाये और कुछ मुख्य प्रश्नों के उत्तर रट ले, उन्हें इससे ज्यादा आसान और कुछ नहीं दीखता। यह रटने की कला अच्छी मानी जाने लगी है। इससे विद्यार्थी भले ही परीक्षा पास हो जाय, किन्तु उसकी बुद्धि का ठीक विकास नहीं होता है। इसलिए नोट लिखने के अभ्यास के साथ-साथ प्रश्नों का जवाब भी सही सही ढूँढ लें, इसका भी अभ्यास कराना होगा।

अक्सर विद्यार्थी नोट लिखने के बावजूद प्रश्नों का सही जवाब नहीं दे पाते। इसका अभ्यास कराने के लिए विद्यार्थियों को प्रश्न लिखा दें। उन्हें यह छूट दें कि वे उन प्रश्नों का जवाब किताब देखकर भी दे सकते हैं। ऐसे अभ्यास से प्रश्न का सही उत्तर देना आ जायेगा। सवालों का सही जवाब वे पुस्तकों में ढूँढ पायेंगे।

★

धरती-माँ की खुली किताब

•

शिरीष

जेठ की तपन खत्म हुई। आ गया असाढ़ और आ गये बरसाती बादल। कुछ काले, कुछ सफेद। कहीं मरे मन से, कहीं बेमन से बरस गये। जाते जाते वे ठहर-ठहर कर बरसात न भूल सके। सूखी धरती का आँचल लहर उठा। नये अँखुए कुनमुना उठे।

गरमी की छुट्टी भी बीत गयी। ब्याह-बरातों की धूम-धाम भी न रही। किसान खेती में जुट गये। शिक्षक शालाओं में पहुँच गये।

कमरों की नये सिरे से सफाई हुई। झाड़ पोंछ कर बैठकें ठीक हुईं। बच्चों के नये-पुराने चेहरे शिक्षक की ओर उठ गये। उसका मन उल्लास से भर गया। उल्लास भी ऐसा-वैसा नहीं, कर्तृत्व शक्ति से ओतप्रोत। "तुमने छुट्टी कैसे बितायी?"—शिक्षक की मधुर ध्वनि गूँज उठी। एक-एक छात्र बारी बारी अपने अनुभव बताने लगा। कुछ देर तक चर्चा चलती रही। खत्म हुई।

"अब क्या करना है?"—शिक्षक का दूसरा सवाल था।

"अब हम लोग पढ़ेंगे, खूब मन से पढ़ेंगे।"—कई बच्चों का समवेत स्वर अभी गूँज ही रहा था कि एक कोने से—'लेकिन'—एक स्वर प्रश्नचिह्न बनकर अटक गया।

"हाँ-हाँ मोहन क्या बात है?"—स्नेह भरे स्वर में शिक्षक ने कहा।

"अभी हम लोगों के पास कापियाँ-किताबें नहीं हैं। पढ़ाई-लिखाई कैसे शुरू करेंगे?"

शिक्षक मुसकरा उठा।

"मेरे बच्चो!"—वह बोल उठा—"हमारी पढ़ाई लिखाई कापी किताब पर ही निर्भर नहीं है। धरती-माँ की खुली किताब तो हमारे सामने है ही। माँ अपने बच्चों को सिखाने में कोताही नहीं करती।"

"धरती माँ हमें क्या सिखायेगी?"—एक बच्चे ने पूछा।

"बहुत कुछ, तुम जिन्दगी भर सीखकर भी पूरा न सीख सकोगे। इस धरती पर जब से पहला जीव आया तब से धरती माँ उसे और उसकी सन्तानों को अनवरत सिखा रही है। सीखते-सीखते आज का आदमी 'अणु युग' तक पहुँच गया है; लेकिन क्या उसके जानने की और धरती के जनाने की यही सीमा है? नहीं, अभी तो अनन्त ज्ञान का खजाना लिये माँ बैठी है। ललकार रही है तुम्हें सीखने के लिए। सीखो, जी भर कर सीखो।"

"धरती-माँ हमें क्या सिखाना चाहती है गुरुजी?"

"यह तो शायद वह भी नहीं जानती!"

"ऐसा क्यों ?"

"इसलिए कि तुम घोड़े को पानी के पास तक ले जा सकते हो; लेकिन उसे जबरदस्ती पानी नहीं पिला सकते। पानी तो वह तभी पियेगा जब उसे प्यास लगेगी और उसकी इच्छा होगी। इसी तरह तुम धरती-माँ से क्या सीखना-समझना चाहते हो, यह उसके ऊपर नहीं, तुम्हारे ऊपर निर्भर है। अब तुम्हीं सोच कर बताओ—तुम क्या जानना चाहते हो ?"

क्षण भर के लिए एक प्रकार की शान्ति छा जाती है। कई लड़के एक-दूसरे का मुँह देखने लगते हैं। शिक्षक शान्त भाव से बच्चों को बारी बारी देखता है, फिर अनुभव करता है कि चर्चा की ऊँचाई बढ़ती जा रही है। ऐसा सोचकर उसने पूछा—"अच्छा, पहले यह बताओ कि पारसाल तुम लोगों ने शाला-खेती में क्या क्या बोया था ?"

"शाक सब्जी, धान आदि-आदि।"

"इस खेती से तुम ने क्या क्या सीखा ?"

लड़के चुप रहते हैं।

"तुमने बहुत कम सीखा या कुछ खास नहीं सीखा—यही कहना चाहते हो न ?"

"जी हाँ।"—एक लड़के ने धीरे से कहा।

"तुम बहुत हद तक ठीक कहते हो। इसके लिए मैं ही दोषी हूँ। गये साल हमने व्यवस्थित ढंग से योजना नहीं बनायी थी। इस साल हम साल भर की पूरी योजना बना कर ही काम करेंगे। हमें क्या करना है, कैसे करना है, तय कर लेंगे। वैसे तो हमारे लिए खाने-पीने के बाद सबसे जरूरी रहने के लिए मकान है, लेकिन अगर मकान भी न रहे, तोभी कुछ दिन गुजर बसर तो किया ही जा सकता है, लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं, जिनके बिना काम नहीं हो चलता। उनमें कपड़ा भी है। बताओ तो—यह कपड़ा तुम्हें कहाँ से मिलता है ?"

"दुकान से, मिलों से आदि विभिन्न उत्तर मिलने पर शिक्षक पूछता है—"यह कपड़ा बनता किस चीज से है ?"

"कपास से।"

"कपास का पौधा तुम में से कितने-कितने देखा है ?"

"नहीं देखा है।"—एक साथ ही कई लड़के बोल उठते हैं।

"तुम सभी कपड़ा पहनते हो और कपास का पौधा किसी ने नहीं देखा। बोलो यह कितने आश्चर्य की बात है। मैंने सोचा है कि इस साल हम लोग शाक-सब्जी के साथ साथ कपास की भी खेती करेंगे। कपास से हमें रुई मिलेगी। तकली और चरखे पर हम सूत कातेंगे, ताना करेंगे, बुनेंगे और अपने पहनने के लिए तैयार करेंगे कपड़ा। हमें संकल्प लेना है कि हम लोग घर वालों पर कपड़े का बोझ इस साल से ही कम करना शुरू कर देंगे और कुछ ही दिनों में अपने लिए पूरा पूरा कपड़ा तैयार कर लेंगे। तब हम वस्त्र-स्वावलम्बी होंगे। फिर देखोगे, तुम्हें धरती माता इस कपास के अँखुआ फूटने से कपड़ा तैयार होने तक कितनी नयी-नयी बातें सिखाती है।"

बच्चों के चेहरों पर खुशी की लहर दौड़ जाती है।

"हम सब जरूर कपास लगायेंगे गुरुजी; लेकिन कपास की खेती शुरू कब होती है ?"

"जून और जुलाई इसकी बुआई का समय है। हमें खेत तैयार करने में शीघ्र लग जाना है।"

"लेकिन बीज कहाँ से आयेगा ?"

"बीज मैं सेवापुरी आश्रम से लाया हूँ। इसके बीज को 'बिनौला' कहते हैं।"

आलमारी से निकालकर शिक्षक उन्हें बिनौला दिखाता है। लड़के उत्सुक होकर उससे तरह तरह के सवाल करने लगते हैं।

एक लड़का पूछता है—"गुरुजी, क्या कपास की कई किस्में होती हैं ?"

"वैसे तो इसकी बहुत-सी किस्में हैं; लेकिन हमारे यहाँ खास तौर पर दो तरह की कपास उगायी जाती है। पहली वृक्ष कपास और दूसरी, खेत कपास। एक तीसरे किस्म की भी कपास होती है, जिसे झाड़ी कपास कहते हैं।"

"इन्हें पहचानते कैसे हैं ?"

"इन्हें हम फल-फूल-पत्ते और पेड़ देखकर आसानी से पहचान सकते हैं।"

"बिनौला देखकर क्या नहीं पहचान सकते ?"

शिक्षक के चेहरे पर प्रसन्नता दौड़ जाती है। वह कहता है—"तुमने बहुत अच्छा सवाल किया, बिनौला देखकर भी हम कपास पहचान सकते हैं। दोनों तरह के बिनौलों को दिखाकर—"इनमें कोई फर्क है ?"

"हाँ, एक बड़ा है और दूसरा छोटा।"

"ठीक है, बड़ा वाला बिनौला वृक्ष कपास का है और छोटा बिनौला खेत कपास का।"

"ध्यान से देखकर बताओ—दोनों में और कोई अन्तर है ?"

"जी हाँ, खेत कपास के सभी बिनौलों में रेशे चिपके हुए हैं और वृक्ष कपास में कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें बिलकुल रेशे नहीं हैं।"

'ठीक है पेड़ कपास के बिनौले दोनों किस्म के होते हैं।"

"और कोई बात ?"

"और कोई अन्तर तो समझ में नहीं आता"

"अच्छा एक बात और समझ लो कि वृक्ष कपास के बिनौलों में बड़े होने हुए भी तेल कम निकलता है और खेत कपास के छोटे बिनौलों में अधिक।

"इन्हें दुधारू जानवरों को खिलाने से दूध बढ़ता है। विदेशों में कुछ ऐसे कड़े बिनौले भी पाये जाते हैं, जिन्हें पशु नहीं खाते, बल्कि उनकी खाद बनाते हैं।

"इसे बोते कैसे हैं गुरुजी ?"

"खेत तैयार करके इसे कतार में बोते हैं। एक साथ दो दो बीज डालते हैं। करीब एक इंच की गहराई में बीज बोते हैं। दो कतारों के बीच का फासला कम से कम ३ फीट और अगर जमीन अच्छी हो तो वृक्ष कपास के लिए ६ से ८ फीट तक का फासला रखना चाहिए।"

"एक पौधे से दूसरे पौधे की दूरी कितनी होनी चाहिए गुरुजी ?"

"सामान्यतः पौधों का आपसी अन्तर १२" से १६" तक रखते हैं, लेकिन अच्छी जमीन और वृक्ष कपास होनेपर यह दूरी और अधिक रखनी चाहिए।"

चर्चा के बाद शिक्षक के साथ बच्चों की टोली फावड़ा कुदाल और खुरपी लेकर खुशी खुशी निकल पड़ती है।

(पृष्ठ ४२२ का शेषांश)

ज्ञान कराया जाता था। अब जब कभी बरसात होती है तो मन में ये पंक्तियाँ गूंज उठती हैं—

केंचुआ कहाँ निरर्थक होता,
यह कुदरत का हल है।
यह छोटा-सा जीव सही,
पर यह किसान का बल है॥

प्रकृति में वर्षा-ऋतु का बड़ा ही महत्व है। वनस्पति-जगत के लिए तो यह मौसम प्राण ही है। वर्षा-ऋतु शुरू होते ही प्रकृति में देखते-देखते बहुत परिवर्तन हो जाते हैं, सारी सृष्टि बदल गयी, ऐसा लगने लगता है।

बच्चे, बड़े, बूढ़े, स्त्री और पुरुष के जिज्ञासु मन को निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण करने का एक अपार खजाना खुल जाता है। शिक्षक और विद्यार्थी के लिए तो प्रकृति की पुस्तकों के पन्ने ही खुल जाते हैं।

★

बालवाड़ी में गणित-शिक्षण

•

श्री जुगतराम दवे

पाठशालाओं में गणित की शिक्षा का अर्थ आमतौर पर आँकड़े बोलना जोड़ने घटाने की रीति सिखाना आदि ही समझा जाता है। ऐसा चलता रहे और इसमें बच्चे होशियार हो जायँ तो वह पाठशाला बहुत अच्छी चल रही है ऐसा संतोष निरीक्षक को होता है इसलिए लोगों का अपेक्षा रहती है कि बालवाड़ी में भी इसी ढंग से गणित की शिक्षा दी जानी चाहिए।

बालवाड़ी में गणित की शिक्षा अवश्य होगी परन्तु जो ऊपर बताया गया है, क्या उसमें गणित जैसी कोई चीज है भी ? पाठशालाओं में बालक आँकड़े याद करता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह 'सात पने पैंतीस' का अर्थ समझता है। इसका इतना ही अर्थ होता है कि उसने एक प्रकार की कविता कण्ठस्थ की। दूसरी कविताओं का कुछ अर्थ भी समझता है पर इसका तो कुछ भी अर्थ नहीं समझता। शिक्षक सिखा रहा है और हम चूँकि सीखने आये हैं इसलिए अर्थ समझें या न समझें, इसे कण्ठस्थ तो करना ही है, ऐसा बालक मानते हैं।

मनुष्य की स्मरण शक्ति एक अद्भुत शक्ति है। बार बार वही बात बोलते रहें तो वह बालकों को कण्ठस्थ हो जाती है। समझें या न समझें, पर कण्ठस्थ हो ही जाती है। बालवाड़ी के बालक भी पाँच वर्ष की उम्र में इस प्रकार समझे या बिना समझे याद कर सकते हैं। आँकड़े बोलते हैं तो तोते की तरह बोल सकते हैं। इसका इतना ही अर्थ होगा कि बच्चे ने याद कर लिया परन्तु उन्हें गणित का ज्ञान हुआ इसका यह अर्थ नहीं होगा।

उसी प्रकार बालक अंक लिखकर जोड़ना और घटाना सीख जाते हैं। बार बार देख सुनकर एक प्रकार की युक्ति अथवा रीति को उनकी बुद्धि पकड़ लेती है। इकाई के आँकड़ों को जोड़ना और शेष आँकड़ों का दहाई के आँकड़ों में जोड़ने की कला वे सीख लेते हैं। थोड़े ही समय में वे पाँच सात दस संख्या तक जोड़ करने लगते हैं।

छोटे छोटे बच्चे जिस प्रकार स्मरण शक्ति की अद्भुत कला दिखाते हैं उसी प्रकार व गणित की विविध रीतियाँ और तदबीरें जानकर लम्बे लम्बे गणित के प्रश्न हल करते हैं। उन्हें ऐसा करते देख कर बड़े लोग खुश हो जाते हैं। वे कहते हैं—बच्चे को बहुत अच्छा गणित आ गया, इसे बहुत अच्छी शिक्षा मिली है, लेकिन यह उनका निरा भ्रम है।

दूसरी तरफ बच्चों का भी ध्यान अपनी स्मरण शक्ति की ओर जाता है तब उन्हें उसमें रस आने लगता है और वे गणित के भिन्न भिन्न तरीके जान कर उसे बार बार करना चाहते हैं।

यह देखकर बड़े लोगों के मन पर यह छाप पड़ती है कि बालक गणित में रम गये हैं और आगे चलकर

बड़े गणित शास्त्री होंगे, पर ऊपर जैसा हमने कहा है-- बच्चे गणित में रमे नहीं हैं, बल्कि किन्हीं और चीजों में रमे हैं और वह चीजें हैं--नयी नयी युक्तियाँ और नये-नये तरीके।

बच्चे इस तरह रम जायँ और अपने आन्तरिक आनन्द से स्मरण शक्ति और कला कौशल के पराक्रम दिखायें, यह अच्छा अवश्य है और उन्हें प्रोत्साहन देकर विकसित करने जैसा है, परन्तु स्मरण शक्ति का विकास करने के लिए जिसका अर्थ ही वे नहीं समझते, ऐसा बेमतलब परिश्रम कराना उचित नहीं। इसके बजाय वे समझ सकें और उनके जीवन को रसमय बनायें, ऐसे गीत श्लोक वे याद रखें तो उनमें उनकी अभिरुचि उत्पन्न होगी। यह उनके लिए अधिक हितकर होगा। जो आँकड़े उनकी समझ में आते नहीं, उन्हीं में उनकी बुद्धि आन्तरिक रीति से काम करे और उसी में वे तन्मय हों, यह कराने के बदले यदि उन्हें मिट्टी के भिन्न भिन्न आकार बनाने की रीतियाँ या नाजुक अँगुलियों से कपास से बीज निकालना सिखाया जाय तो वह कितना आनन्दमय और ज्ञानवर्द्धक होगा।

गणित के नाम से भ्रम में डालकर बालकों को उलझाया न जाय, इस विषय में हमने यह विवेचन किया, लेकिन सही गणित तो बालवाड़ी में चलना ही चाहिए। बालक के मन में बुद्धि की चमक ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वह गणित ज्यादा समझने लगता है। इस बच्चे से यह बच्चा छोटा है और उस बालक से वह बालक बड़ा है, बालक जब से यह समझने लगा तब से उसके मस्तिष्क में गणित का आरम्भ हो चुका, ऐसा हमें समझना चाहिए। यह घड़ा भारी है और यह हलका है, यह समझने में भी उसके मन में गणित काम कर रहा है, हमें यह समझना चाहिए। उसी प्रकार इस ओर कम पौधे हैं और उस ओर ज्यादा हैं, जब बालक यह बोलता है तब मानना चाहिए कि वह गणित बोल रहा है।

बालवाड़ी की उम्र तक बालक को पहिले २ ३ तक, आगे चलकर ६ ७ तक और फिर थोड़े आगे चलकर ८ १० तक की संख्या समझ में आने लगती है। उस वक्त उसे उतनी संख्या तक वस्तुएँ गिनते रहने में मार्गदर्शन करना चाहिए। ऐसा करते हुए उसके छोटे मस्तिष्क में नया गणित का द्वार खुलगा मानो उसमें गणित की एक नवीन इन्द्रिय ही फूट निकलेगी। वे पेड़ गिनेंगे, खम्भे गिनेंगे, मनुष्य गिनेंगे, गिनते ही रहेंगे, गिनते गिनते थकेंगे नहीं।

इस तरह संख्या गिनते गिनते उन्हें लम्बे आँकड़ों की गिनती करने में दिलचस्पी पैदा करना सरल होगा। दो कदम आगे बढ़ो, चार कदम पीछे हटो, फिर दस कदम आगे बढ़ो, इस प्रकार का गणित उनके मन में आने लगेगा। बगीचे के सिरे एक दूसरे से कितना दूर हैं, यह गिनने को उनका मन होगा। खम्भे कितने दूर हैं, उन्हें वह नापने लग जाते हैं। इस तरह करते करते कुछ दिनों में उनमें गणित का उदय होगा और उनके छोटे कदमों से, बालिश्त से या हाथ से नाप लेकर वे कहने लगेंगे--चलो, हम आप दो दो हाथ दूर बैठेंगे, फिर तीन-तीन बालिश्त नजदीक आयेंगे आदि।

बाद में वे पानी नापने लगेंगे। एक लोटा पानी, तीन लोटा पानी, पाँच लोटा पानी। अगर वे बगीचे को पानी देते होंगे तो उनके अन्दर उदित हुआ गणित शास्त्री कहेगा-- 'इस क्यारी को मैंने दो 'हजारा' पानी दिया। वह क्यारी बड़ा है, इसलिए चार हजारा पानी दिया।" कुएँ पर से बालक पानी भर लाते होंगे तो मन ही मन वे गिनती करेंगे कि मैंने तीन घड़ा पानी भरा, चार घड़ा पानी भरा। कुछ दिनों बाद एक नवीन शोध जैसा उनके मन में स्फुरण होगा--"इस घड़े में पाँच लोटा पानी और उस घड़े में सात लोटा।"

छोटी सी चक्की पर पीसने या दलने जायँगे तो छोटे माप से अनाज लेंगे। एक कहेगा 'हमने दो माप पीसे', दूसरा कहेगा--'हमने तीन माप पीसे', ऐसा बताकर वे बेहद खुश होंगे।

खानेवाले खाते खाते भी गणित में रस लेने लगेंगे। मैंने चार खजूर खायी, मैंने दो गिलास दूध पिया और तीन चम्मच खीर खायी। ऐसा करने से उन्हें खाने में ज्यादा मजा आया या गणित में?

ऐसा करते करते बालक का गणिती मन कुछ दिनों में अचानक खड़ा हुआ दिखायी देगा। वह शिक्षिका के पास जाकर कहेगा—"हम पाँच बच्चे हैं, हमें पाँच आम दीजिए।"

कभी खुशी से कहेंगे—"दो आम दे दिये, अब तीन बाक़ी रहे और बच्चे भी तो तीन ही हैं।"

बाल मन्दिर में छोटे-छोटे तराज़ू भी टाँगे जायँ इनसे बच्चे गणित के भिन्न भिन्न खेल खेलेंगे। दो पलड़ों में दो लड्डू डाल कर तोलेंगे। अमुक लड्डू भारी है और अमुक हलका। एक पलड़े में पत्थर डालकर दूसरे में रेत डालेंगे। इस तरह तोलने का खेल खेलते रहेंगे।

गिनत गिनते बच्चे आधी रोटी और पाव रोटी भी समझ लेंगे। दूध का माप दो जनों में बाँटना होगा तो वे कल्पना से दो भाग करके आधा करेंगे और चार को देना है तो चार भाग करके बाँट लेंगे। तीन को बाँटना हो तो भी झिझकेंगे नहीं, तीन भाग करके तीनों ले लेंगे।

चतुर बाल शिक्षिका इस प्रकार आँकड़े कण्ठ कराये बिना या संख्या लिखाये बिना या पहाड़ा पूछे बिना बालक को गणित के आनन्द में आहिस्ता आहिस्ता प्रवेश करायेगी। गणित में बच्चों का आनन्द बढ़े, इसलिए शिक्षिका को चाहिए कि जहाँ बच्चों का अलग अलग काम चलता है वहाँ कुछ तख्तियाँ लटका दे। वहाँ बच्चों के अलग अलग निशान चित्रित कर बच्चों से कहे कि वे जितना काम करेंगे उतनी लकीरें उस निशान के नीचे खींचें। चक्की के पास एक तख्ती पर वह एक शून्य बनायें दूसरा लें तो दूसरा बनायें।

पानी के घड़े के पास एक तख्ती टाँग कर कह दिया जाय कि बड़े घड़े में एक घड़ा पानी डालो तो एक निशान बना दो। टोकरी में रेती लेकर जमीन पर फैलाते हुए वहाँ टँगी तख्ता पर एक लकीर खींचो और दूसरी टोकरी पर दूसरी लकीर।

जिन बच्चों ने गणित का स्वाद पहले ही चखा होगा वे शिक्षिका का इशारा तुरंत समझ लेंगे और एक एक काम करते हुए वहाँ की पाटियों या तख्तियों पर बिना गल्ती के लकीर खींच देंगे।

चक्की पीसते हुए उसकी धुन में अगर शून्य का चिह्न करना भूल जायेंगे तो याद आते ही वहाँ से उठ कर शून्य का चिह्न लगायेंगे। बच्चे बीच-बीच में उठ कर अपने कितने शून्य हुए, उसकी गिनती करते रहेंगे। अपने साथियों के कितने शून्य हुए, उन्हें भी गिनेंगे और उसकी तुलना करेंगे। मेरे पाँच हुए, तुम्हारे तीन हुए—ऐसा कहते मिलेंगे और बहुत खुशी में आयेंगे तो शिक्षिका का हाथ पकड़ कर उसे बुला लायेंगे और उसको अपने काम का हिसाब बतायेंगे।

इस प्रकार आप बालक की उगती हुई बुद्धि को गणित का विविधता से भरा स्वाद चखा सकते हैं। यह सब आँकड़े कण्ठ करने या जोड़ घटाव के जंजाल में बच्चों को डाले बिना हम कर सकते हैं। इन रीतियों के ये जाल जंजाल गणित जैसा नजर आते हुए भी सही तौर से कुछ अलग ही वस्तु हैं। यह सब और दूसरा भी बहुत कुछ बालक की छोटी सी दुनिया की मर्यादा में रह कर अर्थात ५, ७ और बहुत हुआ तो १० की संख्या की मर्यादा में रह कर, कर सकते हैं।

और इस नवीन गणित शिक्षण का परिणाम क्या आयेगा? बालक की छोटी सी बुद्धि उससे चमकने लगेगी। वे जो कुछ देखेंगे उसे वे गिनेंगे नापेंगे और तौलेंगे। ऐसा किये बिना उनकी बुद्धि को चैन नहीं पड़ेगा। ऐसा करने में उन्हें थकान नहीं आयेगी, उकताहट नहीं होगी, बल्कि एक प्रकार का अद्भुत आनन्द होगा। सही गणित करना, मनुष्य का स्वभाव है उसका गुण है। इस कारण उस काम से अरुचि या अनिच्छा नहीं होती। उसमें तो उसे खुशी ही खुशी है। इस बात को हम समझ लें कि हम बालक को गणित के एक अद्भुत और आनन्द दायक संसार में सैर करायेंगे।

★

बच्चा कहता है · मैं खुद करूँगा
माँ कहती है मैं कर दूँगी

प्यार बनाम पुरुषार्थ

•

श्री राममूर्ति

एक माँ बच्चे को गोद में अधिक से अधिक रखती है। नीचे इसलिए नहीं उतारती कि धूल लग जायगी, या हो सकता है, यह भी सोचती हो कि हर वक्त छाती से चिपटा कर रखने में ही बच्चे का सच्चा प्यार है। कई स्त्रियों में यह धारणा होती है कि जबतक दूसरा बच्चा गोद में न आ जाय तबतक पहले बच्चे को गोद से नहीं उतारना चाहिए, क्योंकि गोद सूनी हो जायेगी और सूनी गोद स्त्री के लिए शोभा की चीज नहीं है।

इस तरह की धारणाओं से प्रेरित होकर जो प्रेम प्रकट होता है उसमें मोह और मूर्खता की मात्रा अधिक होती है, जिससे बच्चे का बड़ा अहित होता है। यह बात नहीं है कि मूर्खता अशिक्षितों और गरीबों तक ही सीमित है, शिक्षित और सम्पन्न लोगों में भी बच्चों के सम्बन्ध में कम अविवेक नहीं होता। हमें यह जान लेना चाहिए कि हमारा 'प्यार' भी बच्चे के लिए विष बन सकता है। अति प्यार के कारण हम बच्चों में तरह तरह के भय पैदा कर देते हैं। थोड़ी देर के लिए भी बच्चा अलग हो गया तो अनावश्यक चिन्ता प्रकट करना, रात को खींच खाँच कर छाती से लगा कर रखना, जरा तबियत खराब हो गयी तो सिर पर आसमान उठा लेना आदि माँ की ओर से होने वाली ऐसी बातें हैं, जो निश्चित रूप से बच्चे को भीरु बनाती हैं। बच्चा सोचने लगता है कि अगर सचमुच भय का कारण न होता तो माँ इतनी परेशान क्यों होती !

माँ को दो कोशिशें एक साथ करनी चाहिए। एक ओर यह आवश्यक है कि वह बच्चे को आश्वस्त रखे, वह सोने जाय तो थोड़ी देर उसके पास बैठी रहे और दूसरी ओर यह भी जरूरी है कि वह अपना भय और चिन्ता दिखा कर बच्चे को भीरु न बनाये। अगर माँ स्वयं प्रसन्न, आश्वस्त और भय-मुक्त रहेगी तो बच्चे में आत्म विश्वास आवेगा। वास्तव में माँ को इसकी चिन्ता रखनी चाहिए कि बच्चे में आत्म विश्वास और आत्म निर्भरता पैदा करने का कोई अवसर न खोये बल्कि अगर बच्चा आत्म निर्भर होने की जरा भी यह तैयारी दिखाता है तो उसे प्रोत्साहित करे। माता पिता का बच्चे को अपने पर अतिनिर्भर बनाकर रखना उसके व्यक्तित्व के विकास में कई गम्भीर समस्याओं का कारण बन जाता है।

कई माता पिता जो कोमल हृदय के होते हैं यह सोचने लगते हैं कि अगर प्यार में जरा भी कमी

आयी तो वे अपनी ही नजर में दोषी सिद्ध होने लगेंगे। कैसी भी माँ हो, और कैसा भी पिता हो, ऐसा नहीं हो सकता कि उनके मन में बच्चे के लिए उपेक्षा या क्रोध का भाव कभी आये ही न। कभी कभी अच्छा होता है कि अवस्था देख कर बच्चे के सामने अपना असली भाव स्वीकार कर लिया जाय और बच्चे को भी अपने मन की बात प्रकट करने दी जाय।

अगर बच्चा किसी कुत्ते से, गहरे पानी से या बस में चढ़ने से घबराता है तो माता पिता को तुरन्त भय मुक्ति का अभियान शुरू करने की जरूरत नहीं है। कई चीजों का भय बच्चा धीरे धीरे स्वयं छोड़ देता है। अगर बच्चा बाल मन्दिर या स्कूल में जाने की उम्र का है तो छोटे मोटे भयों के कारण उसे जाने से, रोकना नहीं चाहिए। भय से बचाने के लिए बच्चे का रात के समय अपने पास सुलाना बिल्कुल गलत है। कोशिश यह होनी चाहिए कि बच्चा अलग सोये, लेकिन दूसरे तरीकों से उसे आश्वस्त रखा जाय।

बच्चे के लिए यह स्वाभाविक होता है कि वह माँ के पास अधिक से अधिक रहने की कोशिश करे इसलिए तरह-तरह के बहाने बना कर वह उसे अपने पास से अलग नहीं होने देना चाहता। अभी पेशाब करके आया है, फिर कहता है—'पेशाब करेंगे।' अभी पानी पिया है, फिर चिल्लाता है—'पानी-पानी।' यह क्रिया क्यों है? इसलिए कि उसकी कोशिश है कि माँ किसी न किसी बहाने पास बनी रहे। ऐसी स्थिति में माँ को क्या करना चाहिए? करना यह चाहिए कि माँ प्यार से, लेकिन दृढ़ता के साथ बच्चे से कह दे—"तुम ने पानी पी लिया, पेशाब कर लिया, अब आराम के साथ सो जाओ।" और यह कहकर कमरा छोड़ दे। उसे जरा भी भय या चिन्ता नहीं प्रकट करनी चाहिए। ऐसा करने पर अगर बच्चा थोड़ा रोता भी है तो रो लेने देना चाहिए। रोकर वह सीख लेगा कि बेवकूफी करने से प्यार नहीं मिलता। कभी कभी दो साल का बच्चा बार बार बिस्तर पर उठ खड़ा होता है और माँ को अपनी बाल लीलाओं से भुलावे में रखता है। ऐसी हालत में उसे समझा बुझाकर मसहरी के अन्दर रख देना अच्छा होता है। यह सोचना कि ऐसे छोटे बच्चे को क्या समझाया जाय, गलत है। समझाने का असर होना ही है और समझाने का धैर्य माता पिता में होना ही चाहिए, लेकिन अगर बच्चा सचमुच बहुत डरा हुआ हो तो यह उपाय सही नहीं साबित होगा। ३ साल के बच्चों को कभी कभी घिरी हुई जगहों का बड़ा भय होता है, इसलिए उनके लिए इस उपाय का प्रयोग जहाँ तक हो सके, न किया जाय। कभी कभी दूसरे भाई या बहन को बगल में चारपाई डालकर सुला देने से समस्या हल हो जाती है।

२ से ३ साल के बीच अक्सर बच्चे में एक बात बहुत दिखायी देती है। बात नयी नहीं है, पुरानी है, लेकिन उसके नये रूप प्रकट होते रहते हैं। अक्सर एक साल का बच्चा अपनी माँ की बात काटता है। ढाई साल का बच्चा माँ की बात तो काटता ही है, अपनी बात भी काटता है। ऐसा लगता है जैसे वह निर्णय ही न कर पा रहा हो। एक ही काम को कभी इस तरह करता है, कभी दूसरी तरह। हर काम अपने ढंग से करना चाहता है, हर चीज अपने ढंग से रखना चाहता है, और अगर किसी ने जरा भी छेड़ छाड़ की तो नाराज हो जाता है। बात यह है कि २ ३ साल के बीच बच्चे का स्वभाव उसे स्वतन्त्र निर्णय शक्ति विकसित करने की दिशा में प्रेरित करता है। ऐसी स्थिति में अगर माता पिता जरा हुक्म जमाने वाले हुए तो बच्चा तरह तरह के तनावों का शिकार हो जाता है। यही बात ६ से ९ साल के बच्चों के साथ होती है जब वह माता पिता की निर्भरता छोड़ने के लिए उतावला हो जाता है।

२ से ३ की अवस्था कठिन होती है। कठिनाई का एक ही उपाय है—धैर्य। इस बात का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे की क्रियाओं में कम से कम छेड़छाड़ की जाय। बच्चा अपने आप कपड़ा पहनना चाहेगा, अपने आप कूद कूद कर नहाना चाहेगा, अपने आप खाना चाहेगा आदि। उसे ऐसा करने देना चाहिए। सोने के समय या कहीं

(शेष पृष्ठ ४३७ पर)

हालैंड

की

प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली

•

डा० तारकेश्वर प्रसाद सिंह

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसकी उन्नति से ही देश, जाति तथा समाज की उन्नति सम्भव है, इसलिए प्रत्येक देश की सरकार का सर्व प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने यहाँ की शिक्षा-व्यवस्था की ओर ध्यान दे, उसे सुदृढ़, व्यावहारिक एवं विकास शील रूप देने का सतत प्रयास करे। किसी भी देश की शिक्षा प्रणाली की अपनी अलग अलग विशेषताएँ होती हैं और उसकी उन्नति तथा अवनति में वहाँ की सरकार का पूरा पूरा हाथ रहता है।

हालैंड में दो प्रकार के प्रारम्भिक विद्यालय होते हैं। प्रथम प्रकार के वे हैं, जिनका निर्माण जनता द्वारा होता है, और दूसरे प्रकार के अन्तर्गत वे विद्यालय आते हैं, जो किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा व्यक्तिगत रूप से निर्मित होते हैं। इन दोनों प्रकार के विद्यालयों में आपस का सम्बन्ध भी होता है। वह पारस्परिक सम्बन्ध कई क्षेत्रों में अन्य देशों से भिन्न है।

शिक्षण की स्वतन्त्रता

जनता के विद्यालयों की शिक्षा-व्यवस्था सरकार या नगरपालिका प्रशासन द्वारा होती है। दूसरे प्रकार के निजी शिक्षा विद्यालयों की व्यवस्था व्यक्तिगत संस्थाओं तथा सम्प्रदायों द्वारा की जाती है। इस तरह शिक्षा सम्बन्धी समुदाय तथा संस्थाएँ धार्मिक या धर्म निरपेक्ष दोनों प्रकार की हो सकती हैं।

इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था तथा उपर्युक्त विद्या केन्द्रों द्वारा शिक्षा के प्रसार से नैतिकता के विकास में भरपूर योग मिलता है। माता पिता का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे जिस तरह चाहें अपने बालकों को शिक्षित करें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपर्युक्त दो प्रकार के प्रारम्भिक विद्यालयों की व्यवस्था की गयी है। उन विद्यालयों द्वारा बालकों की प्रतिभा का अपेक्षित बहुमुखी विकास होता है।

व्यक्तिगत शिक्षण संस्थाओं को भी आर्थिक सहायता दी जाती है, लेकिन दोनों प्रकार के विद्यालयों में किसी भी प्रकार का संघर्ष न हो और उनमें सन्तुलन बना रहे, ऐसी व्यवस्था रहती है। उनका सन्तुलन एक प्रकार से उनका मेरुदण्ड होता है।

व्यक्तिगत शिक्षा से जनता द्वारा निर्मित विद्यालयों की स्थिति में भिन्नता होती है। संविधान के

अनुसार जनता की निर्मित शिक्षा प्रणाली कानून द्वारा नियन्त्रित की जाती है । व्यक्तिगत शिक्षा की अर्थ व्यवस्था का भार सरकार या नगरपालिका पर रहता है । कानून की ओर से ऐसा प्रतिबन्ध और प्रबन्ध रहता है कि दोनों प्रकार की शिक्षा प्रणालियाँ सुचारु रूप से अपना आर्थिक प्रबन्ध चला सकती हैं । इसमें शर्त रहती है कि किस प्रकार अर्थ-व्यवस्था दी जायगी । जब ऐसी शर्तें बनायी जाती हैं तो इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि व्यक्तिगत शिक्षा के व्यवस्थापकों को व्यक्तिगत शिक्षा के निर्देशन की पूरी स्वतन्त्रता रहे । इस प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रयोग शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षकों की नियुक्ति में किया जाता है । इस प्रकार यहाँ के संविधान में शिक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी है ।

पूर्व प्राथमिक शिक्षा

पूर्व प्राथमिक शिक्षा विद्यालयों में ८० प्रतिशत विद्यालयों को हालैंड में व्यक्तिगत संस्थाएँ चलाती हैं । साधारण प्राथमिक शिक्षा में यह उपयुक्त संस्थाएँ ७० प्रतिशत विद्यालयों का संचालन करता है । यहाँ प्राथमिक उच्चतर शिक्षा ६० प्रतिशत तथा बेसिक, सैकड़े ९० हैं ।

हालैंड की शिक्षा प्रणाली में स्वतन्त्रता होने से यहाँ विभिन्न प्रकार के विद्यालयों तथा विभिन्न प्रकार की शिक्षा-पद्धतियों का विकास हुआ है । इससे शिक्षा के बहुमुखी विकास में योग मिला है । शिक्षा अधिकारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता है । यहाँ कोई भी ऐसा केन्द्रीय प्रशासक या अधिकारी नहीं, जो विद्यालयों को नियन्त्रित करे तथा उनके कार्य कलापों पर नियन्त्रण रखे । विद्यालयों की प्रशासकीय समितियों को असीम अधिकार दिये गये हैं । शिक्षा मन्त्री तथा उस विभाग के अधिकारी यहाँ के जनता विद्यालयों में पर्याप्त हस्तक्षेप कर सकते हैं, लेकिन निजी शिक्षा प्रणाली में अधिकारी किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते । केवल अधिकारी इस पर दृष्टि रखते हैं कि निजी शिक्षा व्यवस्था में अर्थ-व्यवस्था की शर्तें मानी जा रही हैं या नहीं । अधिकारी अपनी राय देते हैं, निजी शिक्षा विधि के संरक्षकों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वे उनकी मन्त्रणा या बात को मानें या नहीं मानें ।

जब शिक्षा के पाठ्यक्रम का निर्णय होता है तो जिन विद्यालयों को आर्थिक अनुदान मिलता है उनके लिए एक नियम यह होता है कि पाठ्यक्रम का निर्माण विद्यालय की प्रशासन समिति करे ।

विधान के अनुसार जनता के विद्यालय सभी प्रकार की धार्मिक भावनाओं तथा विश्वासों की प्रतिष्ठा करते हैं । इससे बालकों की बहुमुखी उन्नति में पर्याप्त योग मिलता है । सभी बच्चों के अभिभावक यह चाहते हैं कि उनको धार्मिक शिक्षा भी मिले । इसके लिए प्रबन्ध भी करना होता है । जहाँ तक व्यक्तिगत विद्यालय हैं वे भी धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध जैसा चाहते हैं, करते हैं ।

नीदरलैंड्स में साढ़ेसात तथा साढ़ेचौदह वर्ष के बच्चों के लिए शिक्षा अनिवार्य है और निःशुल्क भी । इस प्रकार की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था होने से प्रत्येक साढ़ेचौदह वर्ष का बालक सरकारी अनुदान पर शिक्षित होकर राष्ट्र की उन्नति में पर्याप्त योग देता है । वहाँ वाले ऐसी आशा करते हैं कि उपर्युक्त शिक्षा की अवधि और बढ़ा दी जायगी ।

प्रायः बच्चे अपनी शिक्षा छठे वर्ष की अवस्था से शुरू करके १२ वें वर्ष तक समाप्त कर लेते हैं । उसके बाद व उससे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए ग्रामर स्कूल (ग्रीक और लैटिन की शिक्षा देने वाला विद्यालय) में प्रवेश पाते हैं । इन स्कूलों के अलावा वे ग्रामर स्कूल के शिक्षकों के प्रशिक्षण विद्यालयों, प्रगतिशील बेसिक विद्यालयों, औद्योगिक विद्यालयों, कृषि विद्यालयों में या रसोईशास्त्र के विद्यालयों में जहाँ चाहे प्रवेश करते हैं । बहुत बड़ी संख्या में बालक बेसिक विद्यालयों में ही शिक्षा का सातवाँ या आठवाँ वर्ष बिता देते हैं । ६० प्रतिशत बच्चों को बेसिक स्कूल के प्रथम वर्षों में प्रवेश मिलता है । वे क्रमिक कक्षाओं को समाप्त किये बिना भी छठी कक्षा में पहुँच जाते हैं । ८ से १५ वर्ष के बीच की उम्र वाले लगभग १५ प्रतिशत बालक छठी से निचली कक्षा तक ही पढ़ कर स्कूल छोड़ देते हैं ।

निम्न प्रकार के बच्चे अनिवार्य शिक्षा से वंचित रहते हैं—

१ जो सदा स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास नहीं करते,

२ विद्यालय दूर होने के कारण जिन बच्चों के अभिभावक बच्चों को स्कूल भेजना नहीं चाहते और

३ जो लिखित डाक्टरी जाँच के अनुसार विद्यालय जाने में असमर्थ हैं।

बच्चों का विद्यालय

इसमें चार वर्ष की अवस्था से ७ वर्ष की अवस्था तक के बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था है किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। कभी कभी डाक्टर के प्रमाणित करने पर बच्चों को ८ वर्ष तक वहाँ रहने दिया जाता है। इसके लिए १९५६ के पूर्व कोई आर्थिक अनुदान प्राप्य नहीं था। इस पर भी इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था ने पर्याप्त उन्नति की है। १९५९ की जनवरी में ३,७२,७९१ बच्चे, जो कि ५ वर्ष की अवस्था वाले कुल बच्चो का ७० प्रतिशत थे, उपर्युक्त विद्यालयों में प्रवेश करते थे। माता पिता को अपने बच्चों की इस प्रकार की शिक्षा के लिए साल में १८ गिल्डर (१ गिल्डर = करीब १ रु० ३२ न० पै०) देना पड़ता है। जिन की आय कम है उन्हें विद्यालय का शुल्क नहीं देना पड़ता। जब एक ही परिवार से दो या अधिक बच्चे आते हैं तब उनकी फीस में कमी कर दी जाती है।

जनता-बाल विद्यालयों में बालकों तथा शिक्षकों में वह घनिष्ट सम्पर्क नहीं होता, जो इन व्यक्तिगत बाल विद्यालयों के बच्चों और शिक्षकों में होता है, जोकि भिन्न भिन्न प्रकार की संस्थाओं तथा समितियों द्वारा संचालित होते हैं, इसलिए जनता के हर विद्यालय में अपनी, अभिभावकों की एकसमिति होती है, जो विद्यालय के सम्बन्ध में नगरपालिका के सदस्यों तथा नगरपालिका की प्रबन्ध समिति से परामर्श तथा विचार विनिमय करती है। यदि नगरपालिका में एक से अधिक अभिभावकों की समिति है तो यह अभिभावक समितियाँ एक 'अभिभावक सभा' भी बना सकती हैं।

जहाँ भी एक प्रमुख न्यूनतम संख्या में बच्चे आ सकते हैं, वहां बच्चों का विद्यालय प्रारम्भ किया जा सकता है। ऐसी नगरपालिकाओं में जिनकी संख्या एक लाख से अधिक है वहाँ एक स्थान में बच्चों का विद्यालय तभी खोला जा सकता है, जबकि कम से कम ७० बच्चे वहाँ नित्य प्रति आने वाले हों। जहाँ की जनसंख्या ५० हजार से ऊपर है और एक लाख से नीचे है, वहाँ बच्चों की संख्या स्कूल आने के लिए ६० हो। छोटी नगरपालिका में यह संख्या ३० है। विशेष परिस्थितियों में यह संख्या कम भी की जा सकती है, पर किसी भी अवस्था में २० से कम बच्चों के लिए बाल विद्यालय की स्थापना नहीं हो सकती।

१९५६ से बच्चों के विद्यालय के लिए सभी खर्च राज्यकोष से प्राप्त होता है। १९५७ में बच्चों के विद्यालय पर कुल व्यय ८ करोड़ ८० लाख गिल्डर था। इस में सरकार ने ८ करोड़ ५० लाख गिल्डर खर्च किये तथा नगरपालिकाओं ने बाकी ३० लाख गिल्डर।

(अपूर्ण)

✩

(पृष्ठ ४२४ का शेषांश)

जाने के समय उससे प्यार की बातें कहनी चाहिए, ताकि वह मचले न, जिद न करे। जहाँ तक हो सके, उससे हुज्जत की नौबत न आने दी जाए।

इस सम्बन्ध में एक अन्तिम बात यह है कि जब कभी बच्चा यह देखता है कि माता और पिता दोनों मिलकर उस अकेले को डाँट रहे हैं, या उसकी किसी क्रिया में बाधा डाल रहे हैं तो वह भयभीत हो जाता है। पिता को ऐसी स्थिति में अपने ऊपर अंकुश रखना चाहिए। माता पिता को बहुत धैर्य पूर्वक बच्चे में यह प्रतीति जगानी चाहिए कि वे दोनों एक हैं, अटूट प्रेम-सूत्र में बँधे हुए हैं, और उसे दोनों का प्रेम और संरक्षण समान रूप से प्राप्त है।

✩

एक कार्यकर्त्ता मित्र का प्रश्न

•

श्री राममूर्ति

प्रश्न—क्या यह सही है कि गाँव में रहनेवाला सामान्य मनुष्य सामुदायिक विकास (कम्युनिटी डेवलप्मेंट) का इतना ही अर्थ लगाता है कि इसके जरिये उसे कुछ शहरी सुविधाएँ प्राप्त होंगी? यदि हाँ, तो उसका ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—किसी विचार या योजना के सम्बन्ध में गाँव में रहनेवाली जनता की क्या प्रतिक्रिया होती है, इसे आँकने समय एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि गाँव में एक ही सांस्कृतिक, सामाजिक या आर्थिक स्तर के लोग नहीं रहते। किसी प्रश्न पर विभिन्न स्तर के लोगों की समान प्रतिक्रिया नहीं होती। और, यह भी नहीं है कि एक बार जो प्रतिक्रिया हो गयी वह बराबर बनी रहती है। इसके कारण अनेक हैं लेकिन यह वस्तुस्थिति है। इस दृष्टि से पहिले यह सोचना पड़ेगा कि जो 'सामान्य मनुष्य' आपके सामने है वह किस समुदाय—जाति वर्ग, धर्म, लिंग आदि—और किस सामाजिक आर्थिक स्तर का है।

मजदूर सोचता है कि विकास की ओर से स्कूल, सड़क, पुल आदि बनाने या लड़जा देने के कुछ ऐसे काम होते हैं, जिनमें उसे मजदूरी के लिए काम मिल जाता है आदिवासी प्रायः कुछ सोचता ही नहीं साधारण किसान बीज, खाद आदि से आगे नहीं जाता बड़े किसान का दिमाग खेती के व्यापारिक पहलू तक जाता है दस्तकार देखता है कि विकास की ओर से अधिक से अधिक कोआपरेटिव सोसाइटी बन जाती है, इसके आगे शायद और कुछ नहीं। इस तरह हर एक अपनी अपनी भूमिका से देखता है। विकास के कामों में शुरू में ज्यादा जोर निर्माण पर था, अब कुछ अधिक ध्यान उत्पादन की ओर गया है।

गाँव के गरीब दिमाग में यह बात घुस गयी है कि सुख, सफाई, सुविधा शहर के जीवन के लक्षण हैं, गाँव में तो गरीबी है, गन्दगी है, असुविधा है। कभी एक दिन गाँव की एक औरत रचनात्मक कार्य के एक केन्द्र में लिपाई कर रही थी। उसकी लिपाई देखकर एक कार्यकर्ता ने कहा—"टेढ़ा मेढ़ा क्यों लीपती हो, सीधा क्यों नहीं लीपती ?" मैं सुन रहा था। उस औरत ने तुरन्त उत्तर दिया—"बाबू, हम शहरी ढंग नाहीं जानित"। उसके इन बेरसी भरे शब्दों में उसकी मनोभूमिका प्रकट हो जाती है। इसके अलावा गाँव वाला देखता है कि गाँव के जिन लोगों को विकास से लाभ पहुँचता है उनके घरों में कुछ शहरी प्रसाधन पहुँचते हैं, और उनका रहन सहन शहरी होने लगता है। आप सोचें, विकास 'सामुदायिक' है, इसका क्या लक्षण गाँववाला देखता है? क्या वह देखता है कि पूरे ग्रामसमुदाय का विकास हो रहा है? क्या हमारी विकास योजनाएँ गाँव के निचले वर्गों को छूती हैं? बावजूद इतने वर्षों के विकास कार्यों के समाज में साम्पत्तिक सम्बन्ध जैसे थे उसी तरह हैं। जो मालिक था वह मालिक है, जो मजदूर था वह मजदूर है। सामाजिक सीढ़ी पर जो ऊपर बैठा हुआ था वह ऊपर है, जो नीचे था वह नीचे है। दुर्भाग्य यह है कि सामुदायिक विकास में न प्रयत्न सामुदायिक है, न परिणाम सामुदायिक है।

किसी विकास-योजना को सामुदायिक बनाने के लिए सत्ता और सम्पत्ति का प्रश्न उठाना ही पड़ेगा। सत्ता में सबका स्थान हो, सम्पत्ति में सबको अवसर हो, जबतक यह नहीं होगा तबतक जाति, सम्पत्ति और सांस्कृतिक स्तर के भेद किसी चीज को सामुदायिक होने नहीं देंगे। विनोबा ठीक ही कहते हैं कि जब समुदाय ही नहीं है तो सामुदायिक विकास कैसा ? इसलिए ग्रामदान ग्रामस्वराज्य विनोबा के दिमाग का फितूर नहीं है, भारत—जैसे अविकसित देशों की रोटी और स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। क्या सामुदायिक विकास, समस्या के इस बुनियादी पहलू को छोड़ नहीं देता ? अगर हाँ, तो क्या आश्चर्य कि गाँव का सामान्य आदमी विकास को भी शहरी सरकार, शहरी बाजार और शहरी शिक्षा प्राप्त लोगों द्वारा चलता हुआ कारबार समझता है। इसके विपरीत सरकार यह मानकर चलती है कि समुदाय तो है ही, केवल उसका विकास करना है। यह भयंकर भ्रम है। यही कारण है कि भावना के पूर्ण अभाव में सहकार के नाम में चलनेवाले कार्यक्रम, जैसे पंचायत तथा खेती और उद्योग के क्षेत्र में सहकारी समितियों का संगठन आदि, असफल हो रहे हैं। यह सब देखते हुए अब हमें निश्चित रूप से सोचना चाहिए कि हमारे देश में विकास का मूल प्रश्न क्या है। हमारी समझ में यह मूल प्रश्न यह है कि अलग अलग लाखों गाँवों और शहरों में 'जन-संख्या' को 'जन समुदाय' कैसे बनाया जाय। एकता (इन्टीग्रेशन) की इस प्रक्रिया में से सामुदायिक विकास की सामुदायिक शक्ति प्रकट होगी। यह व्यापक पैमाने पर लोक शिक्षण की एक सूक्ष्म प्रक्रिया ही हो सकती है, लेकिन यह शिक्षण प्रक्रिया तब सफल होगी जब साथ-साथ सत्ता और सम्पत्ति का फौलादी पंजा हटे तथा सरकार और बाजार दोनों दमन और शोषण का रास्ता छोड़कर लोकहित के पोषण और और संरक्षण में प्रवृत्त हों।

अन्त में विज्ञान और लोकतन्त्र की भूमिका में सामुदायिक विकास का प्रश्न केन्द्रित सरकार शक्ति के स्थान पर सामुदायिक लोकशक्ति के विकास का प्रश्न बन जाता है अन्यथा सामुदायिक विकास का यह नारा भी विषमतापूर्ण समाज में विशिष्ट तत्वों का कल्याणवाद (वेलफेयरिज्म) होकर रह जायगा, और इस कल्याणवाद से समुदाय का वास्तविक विकास न होकर सरकार और उसके साथ चलनेवाला दमन और शोषण की ही शक्तियों का विकास होगा। पिछले वर्षों में उच्च मध्यम वर्ग के मुकाबिले छोटे किसान, श्रमिक और उत्पादक का क्या हाल हुआ है ? निश्चित ही एक के विकास और दूसरे के ह्रास को सामुदायिक विकास नहीं कहेंगे। हमारा विकास 'साम्य' के तत्व से रहित है ऐसी विकास नीति से सहकारी समाज का विकास कैसे होगा ?

★

• लीलाधर सिंह

तीन चुनौतियाँ

मैं 'टेंकडीह' गाँव गया। वहाँ के युवक संघ के समापति से मिला। उनसे मैंने अपने दो महीने के काम का अनुभव बताया। गाँव में कितने चरखे चलते हैं, कितनी कत्तिनें हैं और कितना सूत होता है आदि। समापतिजी की मदद से आज फिर उनके साथ घर घर घूमा। विवाह के कारण कइयों के घर में सूत पड़ा हुआ था। 'बीट' पर सूत ले जानेवाला कोई नहीं है। चरखे बन्द होने के और कई कारण बताये गये। उनकी सारी कठिनाइयाँ दूर की जायँ, ताकि व फिर से चलाये जायँ, ऐसा आश्वासन मैंने दिया और गाँव को ज्यादा समय देने का निश्चय कर लिया।

तब से मैं प्रतिदिन करीब दो बजे गाँव मे जाता हूँ। मुझे अधिक लोग सोये या ताश खेलते मिलते हैं। लोग मुझसे पूछते हैं—"आप इतनी धूप में क्यों घूमते हैं?" मैं कहता हूँ—"आप लोगों से बात करने आ जाता हूँ और यह भी देखना चाहता हूँ कि कहीं किसी दोष के कारण कोई चरखा बन्द तो नहीं पड़ा है।"

प्रत्येक रविवार को गाँव की सफाई होती है। जिस रविवार को मैं किसी कारण वश नहीं जा पाता उस रोज सफाई नहीं होती है।

इधर कुछ दिनों से मैं भूदान के काम में लगा था। इस गाँव वालों के पास अपनी जमीन बहुत कम है। सब दूसरे गाँव की बटाई करते हैं। ब्राह्मण जाति के लोग इस गाँव में रहते हैं परन्तु अपना पेशा खेती बताते हैं, हालाँकि यजमानी खूब चलती है।

यह छोटा सा गाँव ३५ घरों का है। इसमें तीन घर कुम्हारों के हैं, जो अपना धंधा आज भी करते हैं, गाँववाले उन्नत किस्म की खेती करना चाहते हैं। पास पड़ोस में गत वर्ष की जापानी ढंग से की गयी धान खेती का अच्छा असर पड़ा है।

दूसरा गाँव 'गादी बुकार' है। इसमें भी कुछ काम हुआ है। सम्पर्क अच्छा है। शाम को गाँव के बच्चे इकट्ठा होते हैं और उन्हें खेल खेलाता हूँ। यह क्रम कभी कभी ही टूट पाता है।

इस इलाके में सबसे अच्छा गुड़ इसी गाँव में बनता है। जब गुड़ की चर्चा करता हूँ तो शरबत जरूर मिलता है। गाँववाले कहते हैं—"हम आपसे चरखे की नहीं, खेती की बात सुनना चाहते हैं।"

यहाँ कुछ कम्पोस्टपिट बने हैं। और बनेंगे। गन्ने में दीमक न लगे, दूसरे नये कीड़े न लगें, अच्छी खाद मिले आदि कुछ ऐसी चीजें हैं, जिनके लिए वे हमसे अपेक्षा रखते हैं।

चूँकि यहाँ की मुख्य फसल गन्ना है, इसलिए इन्हें इसी को बचाने की चिन्ता रहती है। नये ढंग से गन्ने की खेती करने को तैयार हैं। यहाँ ग्रामोद्योगी चानी का उद्योग अच्छा चलेगा।

इस गाँव की महिलाएँ चरखा खरीदना चाहती हैं लेकिन कहती हैं—"पैसा बाद में देंगे।"

तीसरा गाँव 'पुराना बुकार' है। इसमें तीन पार्टियाँ हैं। गाँव के बड़े आदमी पार्टी के नेता बने हुए हैं। एक भाई बी० ए० पास हैं। वह भी एक पार्टी के नेता हैं। मैं तो सब पार्टीवालों से समानरूप से मिलता हूँ। बराबर इस बात का ध्यान रखता हूँ कि किसी विशेष पार्टीवालों के साथ ज्यादा उठना बैठना न हो जाय। जब कभी पार्टियों के मेल की बात करता हूँ तो वे मुझे नेता कहने लगते हैं और कहते हैं कि आप क्या, नेहरूजी भी आयें तो मेल होना सम्भव नहीं है। यह सुनकर मुझे चुप हो जाना पड़ता है।

महिलाएँ अपने पुरुषों की ही पार्टी में घूमती हैं और बच्चे भी उसी पार्टीवालों के बच्चों के साथ खेलते हैं।

★

नेतृत्व की शिक्षा

•

श्री ति न आत्रेय

समाज ऐसा हो, जहाँ योग्य समय पर, योग्य काम के लिए, योग्य व्यक्ति मिल सकें; यानी यह नेता का प्रश्न नहीं है, व्यक्तिमात्र के अन्दर अधिक मात्रा में योग्यता और चरित्र निर्माण करने का प्रश्न है, जो हर एक स्थिति में जमाने की माँग की पूर्ति कर सके।

समाज में हमेशा नेतृत्व की आवश्यकता रही है, आगे भी रहेगी—इसमें कभी दो राय नहीं रही है, लेकिन नेतृत्व के स्वरूप को लेकर काफी चर्चा हुई है। नेता में क्या क्या गुण होने चाहिए और उसे किस प्रकार के नेतृत्व की शिक्षा मिलनी चाहिए—यह चर्चा का विषय रहा है।

भारत भी अब महसूस करने लगा है कि ग्राम नेतृत्व का विकसित किये बिना राष्ट्र का सही विकास नहीं होगा। लगभग १५ सौ साल पहले प्लेटो ने इससे मिलती-जुलती बात कही थी। प्लेटो कोई लोकतन्त्र का समर्थक नहीं था, पर उसने देखा कि एक ओर सामान्य जनता में इतनी अक्ल नहीं है, न नैतिक शक्ति ही है कि वह समाज का सचालन कर सके, दूसरी ओर सत्ताधारी इतने स्वार्थ और भ्रष्ट हैं, आपस में ही इतने लड़ते झगड़ते हैं कि राष्ट्र का सचालन ठीक नहीं हो पाता, इसलिए उसने सुझाया था कि समाज के सर्व-साधारण लोगों में से कुछ लोगों को चुनकर उन्हें सन्तुलित शिक्षा देकर नेतृत्व के लिए तैयार किया जाय, ताकि शिक्षा पूरी होने के बाद राष्ट्र सचालन का सारी प्रक्रिया को वे ठीक समझ सकें, उसके अनुसार शासन की बागडोर अपने हाथ में ले सकें और इस प्रकार राष्ट्र की एकता और स्थिरता बनाये रख सकें। इंग्लैण्ड में भी इस प्रकार का प्रयत्न हुआ है कि सामान्य वर्ग के लोगों से कुछ प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को चुनकर शासन चक्र सँभालने योग्य शिक्षा दी जाय।

नेतृत्व आवश्यक क्यों ?

इन दिनों ससार भर में 'नेतृत्व' बहुत प्रतिष्ठित नहीं रहा। लोग नेतृत्व की कल्पना से चौंकते हैं। इसके मुख्य तीन कारण हैं। पहला कारण यह कि एक लम्बे अरसे से नेतृत्व का उपयोग तानाशाही में ही अधिकतर हुआ है इसलिए सामान्य व्यक्ति के मन में 'नेतृत्व' शब्द ही खटकने लगा है। दूसरा कारण यह कि गत दो तीन शतकों में लोकतन्त्र का विचार जोर पकड़ता आया है, जिसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य और व्यक्तिगत अधिकारों का विशेष समर्थन किया गया है, इसलिए सामान्यतः कोई भी व्यक्ति अपने ऊपर किसी दूसरे का अंकुश सहन करने की स्थिति में नहीं है। तीसरा कारण यह है कि इन दिनों सबको समान देखने की वृत्ति सर्वत्र विकसित हुई है। व्यक्ति विशेष की विशिष्टता पर भरोसा नहीं रहा है और इसलिए सबको खींच-तानकर एक स्तर में बैठाने की कोशिश चली है।

लेकिन, जैसे किसी ने कहा है—'नेतृत्व के प्रति यह जो चिढ़ दिखाई देती है यही इस बात का समर्थन है कि आज सही नेतृत्व की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि आज सभ्यता बहुत जटिल हो गयी है इस युग में सत्ताधारी में बहुत ऊँचे दर्जे की क्षमता की जरूरत है। एक तो इसलिए कि उनके सामने जो अक्सर और विविध प्रश्न खड़े होते हैं उन्हें सही-सही समझने की शक्ति उनमें होनी चाहिए दूसरा इसलिए कि वे किसी भी प्रश्न पर जो भी निर्णय

लेंगे उसके परिणाम बहुत दूरगामी होनेवाले हैं। आज विज्ञान और टेक्नालोजी के विकास के कारण लोगों में जो भौतिकता का मादा विशेष प्रभावशाली होता जा रहा है, उसको ठीक नियन्त्रित करने के लिए उच्च नैतिक नेतृत्व की नितान्त आवश्यकता है। एक शिक्षाशास्त्री का कहना है कि आज की इस बढ़ती हुई भौतिकता का एकमात्र इलाज यही है कि समाज में कुछ लोग ऐसे रहें, जो अपने सद्‌गुणों और नैतिक मूल्यों के बल पर समाज के अधिकांश लोगों के मन में उन्नत नैतिक जीवन के प्रति श्रद्धा जगा सकें।

लोकतन्त्र में सही नेता कौन ?

लेकिन, ये नेता कैसे हों ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत महत्व का है। नेता तानाशाही ढंग का न हो, इतना तो निश्चित ही है क्योंकि दूसरों के साथ तानाशाही वाले नेता का सम्बन्ध डराने धमकाने का ही होता है और यह प्रक्रिया लोकतन्त्र के बिल्कुल विरुद्ध है। जबकि लोकतन्त्र कुलीनता तक को, वह चाहे हित चिन्तक ही क्यों न हो, बरदाश्त नहीं करता सब व्यक्ति को व्यक्ति के नाते समान अवसर दिलाने से वंचित करने वाले अधिसत्तावादी नेता को वह कैसे पसन्द करे ! 'सत्ता चलाना' और 'शक्ति जगाना' ये दो अलग अलग काम हैं। सत्ता चलानेवाला नेता दूसरों मे विवशता पैदा करता है और शक्ति जगाने वाला नेता दूसरों को आदेश देने के बदले परिस्थिति से आदेश ग्रहण करता है। परिस्थिति का अध्ययन करने तथा आगे के काम के संयोजन में वह सभी साथियों का सहयोग प्राप्त करता है। इस प्रकार शक्ति जगाने वाला नेता लोकतन्त्र का सही नेता है और यही नेतृत्व आज आवश्यक है।

नेता और शिक्षक में अभेद

एक विचारक ने तो नेता और शिक्षक के बीच अभेद ही मान लिया है। वह कहता है—लोकतन्त्रीय नेता और अच्छे शिक्षक में कई गुण समान होते हैं। जैसे—वह स्वयं ही किसी पर किसी प्रकार की पाबन्दी नहीं लगाता डिक्टेटर की तरह किसी पर कोई चीज नहीं लादता, या किसी परिवर्तन को नहीं रोकता। वह सहयोग का स्वागत करता है, किसी भी प्रकार के मतभेद या असहमति से डरता नहीं, धीरज के साथ सब सहता है। मतभेदों को हमेशा किसी न किसी नये समझौते की ओर मोड़ने का ही वह प्रयत्न करता है। वह विवेक और समझदारी से लोगों को अपने साथ ले चलता है, शासन या दबाव से नहीं। वह सत्ता के लिए आकांक्षी नहीं होता बल्कि जो सत्ता उसके हाथ में सहज आ जाये उसका सबके हित में ही उपयोग करता है। सबसे बड़ी विशेषता उसकी यह है कि वह जिनका नेता है उन लोगों के विचारों और आदर्शों को प्रश्रय देते हुए उनके साथ निकटता बनाये रखता है और उनके लक्ष्यों का आदर ही करता है। उस समाज के साथ उस नेता का सम्बन्ध शुद्ध मैत्री का होता है, जिसमें भय का लवलेश भी नहीं रहता।

नेता की परख

लार्ड जेम्स एक विख्यात शिक्षाशास्त्री हैं। उनके अनुसार नेता में श्रेष्ठ प्रज्ञा होनी चाहिए, समन्वय, धीरज, निर्णयशक्ति, दृढ़ता, कार्यकुशलता, सहिष्णुता आदि नैतिक तथा भावनात्मक गुण होने चाहिए, बड़े पैमाने पर सहानुभूति होनी चाहिए, व्यक्तिगत मूल्यों का सही निरीक्षण करने की शक्ति होनी चाहिए, और अत्यन्त विनम्रता होनी चाहिए क्योंकि नेताओं में अक्सर सत्ता लोभ का जो रोग होता है उसे दूर करने का रामबाण औषध यही है।

प्लेटो तथा अन्य विचारकों ने भी लगभग इसी प्रकार की अपेक्षा नेता के सम्बन्ध में व्यक्त की है।

सर्व सुलभ नेतृत्व

लेकिन, इससे भिन्न एक विचार और है। उपर्युक्त विचार में और सामान्यतया 'नेतृत्व की शिक्षा' के नाम से ही सहज रूप से यह कल्पना आती है कि जिस व्यक्ति को नेतृत्व की शिक्षा दी गयी है उसे किसी भी क्षेत्र में नेतृत्व ही करना होगा लेकिन यह गलत धारणा है। समाज में किसी भी व्यक्ति का स्थान हमेशा एक-सा नहीं रहना चाहिए। वास्तव में अलग अलग प्रसंगों में व्यक्ति का अलग अलग स्थान

और मान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कोई प्रोफेसर पढ़ाई के समय छात्रों का मार्गदर्शन जरूर करेगा पर वही जब खेल के मैदान में आता है तो वहाँ खेल के मुखिया के नेतृत्व को मान्यता देगा। कोई पुरातत्ववेत्ता अपने घर की गाय के बारे में मामूली किसान की हिदायतें मानने से इनकार नहीं करेगा। कोई बूढ़ा समाजशास्त्री किसी नये समाजशास्त्र के युवक विद्वान की लोक सम्बन्धी धारणाओं का आदर करने में हिचकिचायेगा नहीं।

सही समाज तो वही है, जहाँ किसी मामले में पुश्तैनी अधिकार की कोई जड़ रेखा खींची हुई नहीं होती बल्कि यह अधिकार, प्रतिभा, क्षमता और विवेक का अनुसरण करके सर्वदा अपना आधार बदलता रहता है। भारत की जन्मगत जातिप्रथा इस दृष्टि से पुनर्विचार करने योग्य हो जाता है। रूढ़ि से जो भी व्यक्ति जातिगत प्रतिष्ठा का पात्र रहा हो उसे भी इतना तो विवेक करना सीखना होगा कि वह किस विषय में अधिकारपूर्वक बोल सकता है और किस में नहीं क्योंकि जो व्यक्ति एक विषय में नेता बन सकता है उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि दूसरे विषयों का भी नेतृत्व करने की क्षमता उसमें हो ही। यदि वह अनुभव करे कि अमुक काम उसकी अपेक्षा अधिक सही ढंग से दूसरा व्यक्ति कर सकता है तो उसे वहाँ अपना नेतृत्व समेट लेना होगा और दूसरे सामान्य लोगों से अपनी विद्वत्ता जताने या अधिक प्रदर्शित करने से बचाना होगा।

समाज का संचालक

साथ ही इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज के नेतृत्व का काम सब के बस का नहीं है। कोई प्रोफेसर या इन्जिनियर चाहे तो किसान के काम को उससे भी अच्छा सीख सकता है लेकिन एक किसान, जिसकी बुद्धि मँजी हुई नहीं है, किसी भी प्रकार से उन विद्वानों का काम नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में कहना है तो बात यह है कि उद्योग व्यापार, राजनीति आदि शास्त्र विषयों का एक जगत है, जहाँ कुछ खास योग्यता की आवश्यकता अनिवार्य है, जो सर्व-साधारण में नहीं पायी जाती। आज के युग में समाज की व्यवस्था का भार ऐसे ही विशिष्ट लोगों को लेना होगा क्योंकि देश-व्यापी नीति निर्धारण करना है संशोधन कार्यों का संचालन करना है समस्याओं को जानना है, निर्णय लेना है—यानी सारे समाज का नेतृत्व करना है तो ऐसे ही लोग कर सकते हैं। तो क्या ऐसे लोगों के शिक्षण की व्यवस्था अलग से करनी होगी? अगर अलग से करना है तो कैसे और कहाँ?

स्वतन्त्र व्यवस्था पर आक्षेप

बहुत विवादास्पद विषय यही है। इस सम्बन्ध में सब का मत एक नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि इस तरह की नेतृत्व की शिक्षा की धारणा ही मूलतः गलत है क्योंकि नेतृत्व की शिक्षा लोकतन्त्रात्मक समाज का चीज नहीं है, वह नौकरशाही कल्पना की उपज है क्योंकि यह सब उस समाज में चलता है, जो वर्गों में बँटा हुआ हो और कुछ लोग आगे आगे चलनेवाले और बाकी उसके पीछे-पीछे चलनेवाले होते हैं। इसके विपरीत लोकतन्त्र में तो नेता बनाने का विचार ही गलत माना जाता है। अलग अलग विषयों के प्रतिभावान जिस काम को क्षमता से निभा सकते हैं उस काम का नेतृत्व उनके पास अपने आप आ जाता है। अब सभी कामों में नेतृत्व करने के लिए खास चुने हुए व्यक्तियों को हमेशा के लिए नियुक्त करना या उसके लिए तैयार करना ठीक नहीं है।

आक्षेप पर आपत्ति

कुछ लोग कहते हैं कि यह सुझाव खतरों से भरा हुआ है क्योंकि लोग भले ही अमुक काम में सक्षम हों, खूब दक्ष हों, फिर भी वे अपनी उस क्षमता का उपयोग सही ढंग से कर पायेंगे ही, यह कोई निश्चित नहीं है। नेता में तो नम्रता चाहिए, लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति की महानता को उसकी पूरी गहराई के साथ पहचानने की जो ताकत चाहिए तथा सहानुभूति और धैर्य चाहिए, वह सारा विवेक सक्षम व्यक्ति में होगा ही, इसका क्या भरोसा?

इसलिए नेतृत्व के लिए अत्यावश्यक क्षमता जिन लोगों में हो उन्हें चुनकर मामूली प्रशिक्षण देकर उनके हाथों में समाज का नेतृत्व सौंपना ही ठीक होगा।

काम्प्रेहेन्सिव स्कूल

नेतृत्व के सम्बन्ध में दो प्रकार का कल्पना रखनेवाले लोग स्कूल-कालेजों के सम्बन्ध में भी दो प्रकार की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। नेतृत्व की स्वतन्त्रशिक्षा का निषेध करनेवाले लोग ऐसे स्कूल की सिफारिश करते हैं, जिसमें सभी विषयों को सिखाने की व्यवस्था (काम्प्रेहेन्सिव) हो। कम से कम कुछ वर्षों तक तो यह सर्वतोमुखी शिक्षा प्रत्येक छात्र को मिले हा। इस स्थिति में विद्यार्थियों की विभिन्न प्रतिभाओं का स्पष्ट दर्शन हो सकेगा, न केवल बौद्धिक क्षत्र में वल्कि खेल कूद, संगीत, नाटक, परिश्रम आदि सभी प्रवृत्तियों में वे अपनी अपनी क्षमता के अनुसार निखर आयेंगे। इसमें नेता के नाम से कोई अलग वर्ग का निर्माण नहीं होगा, वे कोई विशेष 'देन' वाले हैं और इसलिए सर्वसाधारण से कुछ ऊँचे हैं, एसी भावना को अवसर नहीं मिलेगा। इसके विपरीत लोकतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को एक-दूसरे का पूरक बनने का मौका मिलेगा। एक व्यक्ति एक क्षेत्र में दूसरों का अगुआ बनता है तो वही दूसरे क्षेत्र में दूसरे की अगुआई स्वीकार करके चलेगा। इस प्रकार नेतृत्व और अनुगमन समय समय पर बदलता रहेगा।

विशिष्ट स्कूल

दूसरा पक्ष कहता है कि जिन बच्चों में कुछ विशेषता पायी जाती है उन्हें कम से कम सेकेण्डरी स्कूल की शिक्षा तक अलग ही व्यवस्था करनी चाहिए वरना सब लड़के एक साथ रहेंगे तो दूसरे मन्द विद्यार्थियों के सम्पर्क में उनकी विशेषता कुण्ठित हो जाने का भय है। इन लोगों का कहना है कि उन विशिष्ट लड़कों को अमुक एक दर्जे तक बाहरी समाज के दूषित वातावरण से भी बचाकर रखना चाहिए। पुराने जमाने में राजकुमारों और बड़े बड़े रईसों के बच्चों की पढ़ाई के लिए इसी प्रकार अलग शिक्षा का प्रबन्ध हुआ करता था।

निष्कर्ष

इन सब मत मतान्तरों के बावजूद कुछ सर्व सम्मत निष्कर्ष हम स्पष्ट देखते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

पहली बात यह कि समाज जीवन के सभी पहलुओं में कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता सभी महसूस करते हैं, जो उच्च कोटि के गुणों से सम्पन्न हों। उच्च कोटि के वे गुण क्या हैं, यह प्रत्येक समाज को अपने समय के सामाजिक मूल्यों के अनुसार समय समय पर निर्धारित करना होगा। जो लोग सत्ता, राजनीति तथा शिक्षा-क्षेत्र में हैं उनके बारे में तो निश्चित ही यह अपेक्षा रहती है कि वे उच्च कोटि के लोग हों। एक बात जरूर है-उन सबको 'नेता' कहना बहुतों को खल सकता है और कुछ हद तक उस शब्द से गलत फहमी भी बढ़ सकती है क्योंकि 'नेता' शब्द से अकसर यही बोध होता है कि नेता तो कुछ ही लोग हो सकते हैं बाकी सबको उनके इशारे पर चलना पड़ता है। अतः उन्हें नेता कहने के बदले सेवक कहें, शिक्षक कहें कुछ भी कहें पर इतना जरूर है कि ऐसे कुछ लोगों की आवश्यकता है।

दूसरी बात यह कि ऐसे लोगों के हाथ में जो अधिकार आयेगा उन्हें उस अधिकार का उपयोग लोकतान्त्रिक जीवन को बनाये रखने में और यह भी सम्पूर्ण समाज में सामूहिक अभिक्रम और शक्ति जगाने में ही करना होगा।

तीसरी बात यह कि लोकतन्त्र का ही यह भी तकाजा है कि नेताओं में उत्तरदायित्व, अभिक्रम नम्रता आदि जिन गुणों का होना अनिवार्य है उन सब गुणों का कुछ न कुछ विकास जन साधारण में भी हो ही। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति उन नेताओं के बराबर उतनी ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकेगा कि नहीं, यह कहा नहीं जा सकता फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूरी शक्ति से जिस ऊँचाई तक चढ़ सकता हो, वहाँ तक तो जरूर ही चढ़े, ऐसा अवसर उसे मिलना चाहिए।

(शेष पृष्ठ ४४८ पर)

अनुशासन

•

श्री हरप्रसाद विद्यार्थी

जो स्वातन्त्र्य अनुशासन का पोषक नहीं, वह स्वातन्त्र्य नहीं। जो अनुशासन स्वातन्त्र्य का अपहरण करता है, वह अनुशासन नहीं। अनुशासन और स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध बीज और वृक्ष जैसा है। बीज में से वृक्ष की उत्पत्ति होती है और वृक्ष बीज का जनक है। इसी प्रकार स्वातन्त्र्य में से अनुशासन की उत्पत्ति होती है और अनुशासन स्वातन्त्र्य का पोषक है।

अनुशासन एक स्वयंभू वस्तु है, इसलिए इसे ऊपर से लादना सरासर अन्याय है। यह बात सही है कि बालक को अनुशासन की आवश्यकता है किन्तु हम तो उस पर यह अनुशासन ऊपर से लादने का प्रयत्न करते हैं। हमें इस बात का विश्वास ही नहीं है कि बालक समय आने पर स्वयं ही अनुशासन को अपनायेगा। हम शिक्षक अनेक प्रकार के अनुभवों और विचित्र परिस्थितियों से गुजरे हैं। फलतः हम अनुशासन के महत्व को समझते हैं और इसलिए हम व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में अनुशासन को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं, किन्तु हमारे अन्दर यह अनुभव श्रद्धा तो पैदा करता है और बालक को स्वानुभव के मार्ग पर जाने से रोकता है। भावी जीवन में जिस अनुशासन की अत्यन्त आवश्यकता होगी, उसको हम आज ही पैदा कर देने के लिए निकल पड़ते हैं, किन्तु जो वस्तु स्वयंभू है, यानी स्वतः उत्पन्न होनेवाली है, वह दूसरों के द्वारा कैसे पैदा की जा सकती है? इस तरीके से तो अनुशासन ग्रहण करनेवाला और अनुशासन प्रदान करनेवाला दोनों ही हानि उठाते हैं, किन्तु वर्तमान शिक्षण संस्थाओं में उक्त अवाञ्छनीय प्रयत्नों से ही काम लिया जाता दिखाई पड़ता है।

स्वभावतः प्रारम्भिक दशा में मनुष्य को अपनी उन्नति के आवश्यक साधनों का ज्ञान नहीं होता और इन साधनों के विकृत होने के कारण बालक या तो इनकी निन्दा करता है या इनको विकृत रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी बाल्यावस्था में उत्कृष्ट साधनों को बहुत कम और उनके विकृत रूप को अधिक अपनाता है, इसलिए शिक्षकों को इस बात पर अधीर नहीं हो जाना चाहिए कि प्राथमिक दशा में से गुजरता हुआ बालक उत्तम साधनों के विकृत रूप को स्वीकार कर लेता है। प्रारम्भिक दशा में बालक सदैव स्थूल साधनों का ही विचार करता है और उन्हीं को काम में लाता है। अतः ऐसी स्थिति में ये स्थूल साधन जितने अविकृत रह सकें, उतना ही श्रेयस्कर है।

बालक ज्यों ज्यों प्राथमिक स्थिति से गुजरता जाता है त्यों-त्यों ये स्थूल साधन विरल होते हैं और धीरे धीरे सूक्ष्म साधन उसके सामने आते जाते हैं। अतः प्रत्येक शिक्षक को पढ़ाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

यदि हम इस चीज को समझ लें तो उन्नति के सूक्ष्म साधनों को प्रस्तुत करने के लिए हम कभी आतुर न होंगे। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि अनुशासन जितना सुन्दर साधन है उतना ही सूक्ष्म भी। प्राथमिक दशा से निकलते ही मनुष्य अनुशासन को अपने जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार

करता ही है। यह स्वीकृति किस उम्र में और कितने विकास के बाद होगी, व्यक्तिगत कब और समष्टिगत कब होगी, इस सवाल का जवाब मनुष्य की विकसित शक्तियों पर अधिक निर्भर है। इसके लिए न तो स्थिर नियम बनाये जा सकते हैं और न कोई निर्णय ही लिया जा सकता है। हमें तो केवल इतना समझ लेना चाहिए कि अनुशासन प्रत्येक आत्मा की अनिवार्य आवश्यकता है। इतना समझने पर ही हम ऐसा वातावरण और परिस्थिति उत्पन्न करने का विशेष प्रयत्न करेंगे, जिससे बालक को शीघ्र ही अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान हो सके और तभी हम कुसमय और गलत ढंग से अनुशासन लादने की बुरी प्रथा को तिलांजलि दे सकेंगे।

जीवन में सन्तुलन बनाये रखने के लिए किये गये प्रयत्नों के पीछे उसकी निश्चित दृष्टि भले ही न हो, किन्तु किसी अगम्य प्रेरणा के बल से वह इन प्रयत्नों द्वारा आवश्यक अनुशासन उत्पन्न करने की चेष्टा अवश्य करता रहता है। उसकी इस चेष्टा को हम उसके अनेक प्रकार के कार्यों द्वारा प्रकट होता हुआ देख सकते हैं। अनुशासन प्राप्ति के लिए किये गये उसके इन प्रयत्नों को मन्थनकाल के प्रयत्नों के रूप में स्वीकार करते हुए हमें सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए, लेकिन ऐसा न करके हम तो विद्यार्थी को अपनी ही कसौटी पर कसने के लिए तैयार हो जाते हैं। आज तो हमारी यह धारणा है कि जिस वस्तु का उपयोग हम नहीं करते उसका उपयोग विद्यार्थी को भी नहीं करना चाहिए। इस धारणा के प्रतिकूल यदि कोई छात्र काम करता है तो हम यह समझने लगते हैं कि उसने जान बूझकर अनुशासन भंग किया है। इस बात के अनेक उदाहरण हमारे और विद्यार्थी के नित्य प्रति के व्यवहार में मिल सकते हैं।

अव्यवस्था का तनिक भी विचार किये बिना अगर कोई बालक व्यवस्था तन्त्र के साधारण नियमों को भंग कर देता है तो तुरन्त ही हम उसे अनुशासन-विरोधी मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। सामाजिक नियमों को भग करने का लेशमात्र भी विचार न रखते हुए, अगर विद्यार्थी अनजाने कोई ऐसा आचरण कर बैठे, जो समाज के अनुकूल न हो, तब भी हम उसे अनुशासन का शत्रु मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। हमारा ज्ञान हमें इस बात का परामर्श देता है कि विद्यार्थी का यह मन्थनकाल है और इसी काल में उसको अपने प्रयत्नों द्वारा सन्मार्ग की खोज करनी है; लेकिन फिर भी हम अपनी अन्तरात्मा की आवाज की उपेक्षा कर, अपने विकारों के वशीभूत हो, बालक को अनुशासन विरोधी-नियमभंग करनेवाला और अपराधी मानते हैं।

यह सत्य है कि विद्यार्थी के आज के व्यवहार में अनुशासन और नियम-पालन की भावना दिखाई नहीं देती, किन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि अनुशासन एवं नियम भंग-दुष्ट वृत्तियों से प्रेरित होकर निश्चयपूर्वक किया गया है, बाल-स्वभाव सम्बन्धी हमारे अज्ञान का सूचक है। बालक के आचरण में संकल्प का पुट बहुत कम होता है। हम वयस्क पुरुष बिना कारण उस पर संकल्प का आरोपण करके अनेक बार संकल्प की भावना उसमें पैदा कर देते हैं। यह वस्तुस्थिति भविष्य में ऐसा विषम रूप धारण करती है कि बालक के प्रत्येक अनिष्टकर काम के पीछे संकल्प का भाव पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में निश्चय पूर्वक अनुशासन का या नियमों का भंग होना सम्भव है।

हम इस बात को भूल जाते हैं कि इस प्रकार जबरदस्ती अनुशासन एवं व्यवस्था उत्पन्न करके हम विद्यार्थी के मन में अव्यवस्था और अनुशासन-भंग का बीजारोपण करते हैं। इस तरह एक अनर्थ में से दूसरे अनर्थ का जन्म होकर विद्यार्थी और शिक्षक के व्यवहार में अनर्थ परम्परा का दौरा दौरा शुरू हो जाता है। यही कारण है कि आज की शिक्षण-संस्थाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों के अनुचित व्यवहार के पीछे संकल्प की भावना पायी जाती है। शिक्षक इस व्यवहार को घृणा की दृष्टि से देखता है और दमन-नीति से काम लेता है। इस प्रकार विद्यार्थी और शिक्षक में द्वेष भाव बढ़ता रहता है और इसी पूर्ण अविश्वास के वातावरण में उनका काम चलता रहता

है। ऐसी स्थिति में सहानुभूति, सहयोग और प्रेम का अभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

यदि विद्यार्थी के प्रति हमारी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाये तो वही विद्यार्थी, जो आज अनुशासन विरोधी प्रतीत होता है, भविष्य में अनुशासन और नियम पालन के लिए प्रयत्नशील दिखाई देगा। यह हो सकता है कि विद्यार्थी के आज के व्यवहार में हमारी कल्पना के अनुसार चाहे अनुशासन और व्यवस्था का अभाव हो, किन्तु यदि हम यह मान लें कि जिसे हम अनुशासन भंग और अव्यवस्था कहते हैं, वह अनुशासन और व्यवस्था प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न है तो विद्यार्थी के प्रति हमारे व्यवहार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकता है।

विद्यार्थी जीवन में अनुशासन पैदा करने की अपनी भावना को मनोविज्ञान की दृष्टि से अवलोकन करने की जरूरत है। जैसा व्यवहार हम खुद करते हैं उसी प्रकार के व्यवहार की हम दूसरों से आशा रखते हैं। इच्छा रखते हुए भी किसी बात की सिद्धि में असमर्थ होने पर हम अपने किसी आत्मीय द्वारा उसकी सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। व्यक्तिगत तथा समष्टिगत जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चल जायेगा कि हम अपने पारस्परिक तथा सामाजिक जीवन में अनेक बार अनुशासन और व्यवस्था भंग करते हैं। ऐसे व्यवहार से हमारे हृदय पर चोट भी लगती है और यह भी स्वाभाविक है कि हम अपने उस व्यवहार और तज्जन्य दुख के प्रतिकार का प्रयत्न करते हैं। उसका प्रतिकार हम अपने जीवन पर किसी प्रकार का दबाव डालकर या जबरदस्ती नियम या अनुशासन का पालन करके अथवा अपने आत्मीयों से उसी प्रकार का अनुशासन एवं नियम पालन करा कर करते हैं।

हम सब जानते हैं कि जब हम किसी शुभ घड़ी में अकेले बैठे होते हैं तब अपने शिथिल व्यवहार पर घृणा करते हुए प्रभु को साक्षी मानकर, हृदय से यह निर्णय करते हैं कि हमारे आपसी और निजी जीवन में किसी न किसी प्रकार का अनुशासन एवं नियम पालन तो होना ही चाहिए। हम यह भी जानते हैं कि जब हम किसी समाज में बैठे हों या कोई काम करते हों तब हमारी ऐसी धारणा होती है कि उस समय अमुक प्रकार का अनुशासन और नियम-पालन करके समाज के एक सदस्य के नाते हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इसीलिए व्यक्ति पारस्परिक व्यवहार के लिए एक प्रकार की नियमावली की आवश्यकता स्वीकार करता है और उसी के अनुसार चलता है। समाज को भी कुछ निश्चित व्यावहारिक नियम बनाने और स्वीकार करने पड़ते हैं। व्यक्ति को समष्टि के लिए कुछ त्याग करना पड़ता है और समष्टि को व्यक्ति से ऐसे त्याग की अपेक्षा भी रहती है।

व्यक्तिगत तथा समष्टिगत व्यवहार में मनुष्य जहाँ जहाँ अपनी अपूर्णताओं को देखता है वहाँ वहाँ वह अपने आत्मीयों से उन कमियों को पूरा करने की इच्छा रखता है, मानों अपनी ही अपूर्णताओं का प्रतिकार करता है। इस विचार शैली से प्रेरित होकर हम अपने बालकों और विद्यार्थियों से अनुशासन पालन का आग्रह करते हैं। इसे बदले की दृष्टि कहते हैं। जरा गम्भीरता से विचार करने पर हमें पता चल जायगा कि अनुशासन सम्बन्धी जिन जिन बातों पर हम खुद अमल नहीं कर सकते, उन सब बातों पर अमल करने के लिए हम अपने विद्यार्थियों को विवश करते हैं। अपनी इस मनोवृत्ति को समझने पर ही हम बालकों की मनोवृत्ति को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

मनोविज्ञान का एक नियम है कि आत्मनिरीक्षण करनेवाला मनुष्य ही दूसरे की मनोदशा को यथार्थ रूप से समझ सकता है। अनुशासन के सम्बन्ध में यह नियम पूर्णतया लागू होता है। विद्यार्थियों से कठोर अनुशासन-पालन की आशा रखनेवाले शिक्षक इस तथ्य को भली प्रकार समझ लें तो विद्यार्थी के प्रति उनकी दृष्टि में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाय।

अब हमें यह देखना है कि जो विद्यार्थी अनुशासन पालन के लिए प्रयत्नशील दिखाई नहीं देते, उन्हें इस ओर आकृष्ट करने के लिए हमें क्या करना चाहिए। यह बताया जा चुका है कि विद्यार्थी जान-बूझकर

अनुशासन भंग नहीं करता। अनुशासन सम्बन्धी हमारी और विद्यार्थियों की कल्पनाएँ और विचार भिन्न भिन्न होते हैं। जिसे हम अनुशासन मानते हैं, विद्यार्थी उसे बन्धन मानता है। जिसे हम अनुशासन-भंग मानते हैं, विद्यार्थी उसे स्वातन्त्र्य मानता है। बन्धन और स्वातन्त्र्य सम्बन्धी इन धारणाओं की अपनी कुछ उपयोगी मर्यादाएँ हैं, जो मानव जीवन की प्रगति के लिए हितकर हैं। इन्हें यथार्थरूप से समझकर, विद्यार्थी को सन्मार्ग पर ले जाना हम शिक्षकों का परम कर्त्तव्य है। हमें यह देखते रहना चाहिए कि अनुशासन स्थापित करते हुए विद्यार्थी कहीं बन्धन में तो नहीं पड़ रहा है। साथ ही इस बात की भी सावधानी रखना चाहिए कि स्वातन्त्र्य प्राप्त करते हुए विद्यार्थी कहीं अनुशासन-विरोधी और स्वच्छन्द तो नहीं बनता है।

इस प्रचलित धारणा में कि स्वातन्त्र्य अनुशासन का शत्रु है, जरा भी तथ्य नहीं है। जो स्वातन्त्र्य अनुशासन का पोषक नहीं, वह स्वातन्त्र्य नहीं। जो अनुशासन स्वातन्त्र्य का अपहरण करता है, वह अनुशासन नहीं। अनुशासन और स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध बीज और वृक्ष जैसा है। बीज में से वृक्ष की उत्पत्ति होती है और वृक्ष बीज का जनक है। इसी प्रकार स्वातन्त्र्य में से अनुशासन की उत्पत्ति होती है और अनुशासन स्वातन्त्र्य का पोषक है। इस सिद्धान्त को भली प्रकार समझ लेने पर स्वातन्त्र्य को लेशमात्र भी हानि न पहुँचाकर हम विद्यार्थी को अनुशासन के मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं।

यदि वर्तमान घर, समाज या शाला को अनुशासन-भंग करनेवाले विद्यार्थियों से छुटकारा पाना है तो ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि जबतक विद्यार्थी घर में रहे, तबतक वह योग्य, रुचिकर और रसिक प्रवृत्तियों में संलग्न रहे। इसी प्रकार शाला में भी रुचिकर और स्वास्थ्यप्रद प्रवृत्तियों का प्रबन्ध होना चाहिए और यदि विद्यार्थी को किसी सामाजिक प्रवृत्ति में भाग लेना पड़े तो वहाँ भी ऐसी प्रवृत्तियों और कार्यक्रमों का आयोजन होना चाहिए, जिससे उसके व्यक्तित्व को सम्मान और अवकाश मिले। इस प्रकार घर, शाला और समाज बालक के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझ लें और उसके व्यक्तित्व का सम्मान करना सीख लें तो अनुशासन भंग और अव्यवस्था की जो पुकार आज सुनाई देती है, बन्द हो जाय। ['जीवन शिक्षण' से साभार]

(पृष्ठ ४४४ का शेषांश)

अन्तिम बात यह कि यदि हम नेता और नेतागिरी दोनों शब्दों को भूल सकें तो बड़ा अच्छा हो। उसके बदले इतना ही करें कि हम में ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में हों, जो प्रत्येक प्रसंग में योग्य और आवश्यक जिम्मेदारी उठा सकें, समस्या का मुकाबला कर सकें और समाज को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकें। आवश्यकता इस बात की है कि समाज ऐसा हो, जहाँ योग्य समय पर, योग्य काम के लिए, योग्य व्यक्ति मिल सकें, यानी यह नेता का प्रश्न नहीं है, व्यक्तिमात्र के अन्दर अधिक मात्रा में योग्यता और चरित्र निर्माण करने का प्रश्न है, जो हर एक स्थिति में जमाने की माँग की पूर्ति कर सके। इस अर्थ में नागरिक शिक्षा और नेतृत्व शिक्षा जैसी दो चीजें नहीं रह जाती हैं, दोनों एक ही लोक शिक्षण के दो पहलू बन जाते हैं।

समाज निर्माण और शिक्षा के क्षेत्र में आज हम अभी प्रयोगावस्था में हैं। हमें हर प्रकार से प्रयोग करके देखना होगा कि शिक्षा और लोकतन्त्र का मेल सधता कैसे है और व्यक्ति एक साथ नागरिक और मनुष्य दोनों कैसे रह सकता है। ऐसी तालीम निश्चित ही नयी तालीम होगी और नये जमाने के लिए नयी तालीम अनिवार्य होगी।

—मुदायिक विकास के लिए प्रशिक्षण

•

रामभूषण

यदि इतिहास का सहारा लिया जाय तो हमें पता चलेगा कि सामुदायिक विकास की शुरुआत तो उसी समय से हो गयी थी जब आदमी ने छोटे-छोटे समूहों में रहना शुरू किया था और इस तरह सामाजिक विकास की गाड़ी प्रगति पथ पर गतिमान हो उठी थी। अपनी उसी छोटी शुरुआत से आगे बढ़ते बढ़ते आदमी आज विशाल संगठनों में रहने का आदी हो गया है। आज वह देश और राष्ट्र ही नहीं, अन्तर राष्ट्रीय और जागतिक रूप में विकास की बात सोच रहा है। विज्ञान और डिमोक्रेसी के नित नये बढ़ते चरण आदमी को आज किसी खास समुदाय के ही नहीं, सबके विकास की बात सोचने के लिए मजबूर कर रहे हैं। सामुदायिक और सामूहिक विकास के चाहे जितने बड़े रूप आज हमें दिखायी दे रहे हों, यह निश्चित है, उनकी शुरुआत दूर अतीत में अत्यन्त छोटे रूप में ही हुई थी।

सामुदायिक विकास वैसे तो दुनिया के हर देश में होता रहा है, लेकिन आज हम जिन्हें अर्ध विकसित या अविकसित देश कहते हैं उनकी अपेक्षा विकसित देशों में सामुदायिक विकास की गति अधिक तेज रही है। आधुनिक काल में अर्ध विकसित देशों के लिए सामुदायिक विकास की बड़ी ही उपयोगिता मानी जाती है। सुसंगठित और सुव्यवस्थित रूपों में सामुदायिक विकास की योजना को कार्यरूप में परिणत करने पर अर्ध विकसित देशों के विकास की सम्भावनाएँ बहुत ही अधिक बढ़ जाती हैं, ऐसा आज अनेक देशों में अनुभव किया जा रहा है। देश देश में, राष्ट्र राष्ट्र में, आदमी के चतुर्दिक विकास की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए, जो चीज प्रयत्नशील है उसे हम कुछ और विशिष्ट रूप में समझने का प्रयास करें।

सामुदायिक विकास की कुछ परिभाषाएँ

सामुदायिक विकास का प्रयोग आज विशिष्ट अर्थों में होने लगा है इसलिए उसकी परिभाषा देने की भी अनेक कोशिशें हुई हैं। सामुदायिक विकास की कल्पना 'समाज शिक्षण' का शाब्दिक प्रयोग इंग्लैंड के 'सेक्रेटरी आव स्टेट' को सलाह देनेवाली समिति ने १९४४ में प्रकाशित अपनी 'मॉस एजुकेशन इन ऐफ्रिकन सोसाइटी' शीर्षक रिपोर्ट में किया था। इस रिपोर्ट

के प्रकाश में हम सरकारी नीति के एक अंग के रूप में सामुदायिक विकास को स्थान दिया जाना मान सकते हैं।

अफ्रीकी प्रशासन के सम्बन्ध में १९४८ की गर्मियों में बुलायी गयी कैम्ब्रिज कान्फ्रेंस ने सामुदायिक विकास की निम्न शब्दों में परिभाषा की—

"एक ऐसा आन्दोलन, जो सारे समुदाय के विकास को दृष्टि में रख कर चलाया गया हो, जिसमें सभी लोगों का सक्रिय सहयोग हो और यदि सम्भव हो तो समुदाय की ही प्रेरणा और उसके ही सक्रिय कदम पर उसकी शुरुआत हुई हो, लेकिन यदि यह सक्रिय कदम स्वयं समुदाय की तरफ से न उठाया जा सके तो ऐसे माध्यमों का सहारा लिया जाय, जिससे आन्दोलन को गति मिल सके।"

१९५४ में ऐशरिज कान्फ्रेंस आन सोशल डवलपमेंट ने कैम्ब्रिज कान्फ्रेंस की इस परिभाषा को ठीक तो मान लिया लेकिन उसने एक संक्षिप्त परिभाषा अधिक पसन्द की, जो बाद में मलाया की एक कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृत भी हुई। यह परिभाषा इस प्रकार थी—'सामुदायिक विकास सारे समुदाय के विकास के लिए चलाया गया वह आन्दोलन है जो समुदाय के सक्रिय सहयोग और उसकी स्वतः प्रेरणा पर आधारित हो।

एक दूसरी परिभाषा इस प्रकार है— सामुदायिक विकास का प्रयोग विभिन्न सरकारों द्वारा प्रयुक्त उन उपायों के वर्णन के लिए किया जाता है, जिनका सहारा गाँव के लोगों तक पहुँचने और अच्छे जीवन मान और अधिक उत्पादन की दृष्टि से स्थानीय कार्य शक्ति का सही उपयोग करने की दिशा में लिया जाता है। दूसरे अर्थों में, सामुदायिक विकास सामाजिक-कार्यों की वह प्रक्रिया है जिसमें किसी समुदाय के लोग अपने को आयोजन और कार्य सिद्धि के लिए संगठित करते हैं और साथ ही अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं और समस्याओं को भी स्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा करते हैं।

सामुदायिक विकास की ये परिभाषाएँ विकास की एक तसवीर सामने रखने की कोशिश करती हैं। वैसे काम चलाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संगठन द्वारा निम्नलिखित परिभाषा अपनायी गयी—

"वह प्रक्रिया, जिसके द्वारा समुदायों की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों के साथ लोगों के प्रयत्नों का भी मेल हो, साथ ही जिसके द्वारा इन समुदायों का जीवन राष्ट्र के पूरे जीवन के साथ एकाकार हो और जो उन समुदायों को उस पूरे जीवन में अपना योग दान देने के लिए पूर्ण सक्षम बनाती हो।"

सामुदायिक विकास का विभिन्न लक्ष्यों और संगठनों ने कुछ इस रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है—

परिवर्तन की वह प्रक्रिया, जो ग्रामीण समुदायों को उनके परम्परागत जीवन से विकसित तरीके की ओर ले जाये, वह तरीका, जो लोगों को अपनी योग्यताओं और शक्तियों के बल पर आगे बढ़ाने में सहायक बने, वह कार्यक्रम, जिसके द्वारा ग्रामीण लोगों के कल्याण के लिए विभिन्न कार्यक्षेत्रों में कुछ उपलब्धियाँ हों, वह आन्दोलन, जिसमें कुछ आदर्शों के साथ विकास की ओर बढ़ा जाय। इस प्रकार सामुदायिक विकास प्रक्रिया, ढंग, कार्यक्रम और आन्दोलन इन चार तत्त्वों से परिपूर्ण एक ऐसा आदर्शपूर्ण आन्दोलन माना गया है, जिसमें समुदाय स्वयं अपनी प्रेरणा और क्रिया शक्ति से विकास की ओर बढ़ता है।

यदि सामुदायिक विकास के दो ही मूल तत्त्वों की ओर निर्देश करना हो तो पहला यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक सम्भव हो अपना जीवन-स्तर उठाने के लिए लोगों की अपनी प्रेरणा और अपनी मेहनत, दूसरे, तकनीकी तथा अन्य सुविधाओं की इस प्रकार आयोजना जो कार्य प्रेरणा आत्मनिर्भरता तथा पारस्परिक सहायता को अधिकाधिक बढ़ाते और समुदाय के विकास के अन्य और भी तत्त्व हैं, जिनमें से खास ये हैं—ग्रामीण जनता की कार्यक्षमता पर विश्वास, छोटे समुदायों का महत्त्व, डिमोक्रेसी, साइंस, टेक्नालोजी, सामाजिक न्याय में विश्वास और ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर अधिकाधिक बल।

सामुदायिक विकास की कुछ सीमाएँ

सामुदायिक विकास एक ऐसे कार्यक्रम की कल्पना है, जिसके द्वारा लोगों को प्रेरित करके कुछ परिवर्तन की ओर ले जाया जाता है, लेकिन परिवर्तन के लिए लोगों को तैयार कर लेना कोई आसान चीज तो है नहीं, और यदि परिवर्तन के लिए लोग तैयार भी हुए तो वह परिवर्तन भी लोग जल्दी-जल्दी ही करेंगे, इसकी भी कोई गारंटी तो है नहीं, इसलिए योजना कितनी भी सक्षम हो, उसका सफल कार्यान्वय ही प्रमुख समस्या है। समस्या का समाधान कैसे हो, यह आग तिज चिन्तन का विषय है, और चिन्तन हो भी रहा है।

ऐसा अक्सर देखा जाता है, लोग किसी भी परिवर्तन का पहले विरोध करते हैं। यह विरोध उन लोगों की तरफ से ज्यादा होता है, जो सकीर्ण विचार के होते हैं और जो अपने को समाज के हित अहित के लिए एक तरह से जिम्मेदार समझते हैं। दूसरे, परिवर्तन से जिन लोगों के निश्चित स्वार्थों पर आघात पहुँचता है वे भी उसका विरोध करते हैं, इसलिए, परिवर्तन लाने के लिए बड़े ही योग्य कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। ऐसे कार्यकर्ता, जो यह समझते हों कि परिवर्तन की प्रक्रियाएँ क्या-क्या हैं, और साथ ही यह भी जानते हों कि लोगों को किस तरह की मदद पहुँचाया जाय कि वह अपने आप परिवर्तन कर लें। साफ है, एसे कार्यकर्ताओं को तैयार करना सरल नही है, और इसीलिए सामुदायिक विकास क मार्ग म यह समस्या एक प्रश्नचिह्न बन कर खड़ी हो जाती है।

अविकसित और अर्ध विकसित देशों की सभी समस्याओं का हल सामुदायिक विकास से हो जाय, ऐसी बात भी नहीं है। अर्ध विकसित देशों में, जहाँ तकनीकी और प्रशासनिक सेवाएँ आवश्यकतानुसार उपलब्ध नहीं हैं, सरकारी और बाहरी माध्यमों के ऊपर अत्यधिक निर्भरता के कारण आत्म निर्भरता और आत्म परिपूर्णता की स्थिति की ओर बड़ी ही धीमी प्रगति होती है और ऐसी स्थिति में लोगों में निराशा और कार्यक्रम के प्रति दुराव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

यह मान लेना बड़ा मुश्किल है कि सामुदायिक विकास स्थानीय साधनों के आधार पर सफल हो सकेगा, क्योंकि वह कभी भी पर्याप्त नहीं होते। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक कौन्सिल की एक रिपोर्ट से कुछ शब्द यहाँ दे देना समीचीन होगा—

"पूर्ण रूप से प्रभावशाली होने के लिए सामुदायिक विकास कार्यों को सरकार की विस्तृत और गहरी दोनों प्रकार की सहायता की जरूरत है सामुदायिक विकास-कार्यक्रम की राष्ट्रीय स्तर पर सफलता के लिए निश्चित नीतियों, विशिष्ट प्रकार के प्रशासनिक प्रबन्धों, *योग्य लोगों की भर्ती और उनकी व्यवस्थित ट्रेनिंग*, स्थानीय और प्राकृतिक साधनों का उचित प्रयोग, अनुसन्धान और मूल्यांकन, इन सभी चीजों की जरूरत है स्थानीय स्तर पर आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विस्तृत और राष्ट्रीय स्तर पर भी समानान्तर जैसा ही विकास हो।"

सामुदायिक विकास की अधुनातन कल्पना

ऊपर की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सामुदायिक विकास के कार्यक्रम, समुदाय क विकास की दृष्टि से वांछित फल का प्राप्ति नही करा सकते फिर हिन्दुस्तान-जैसे विशाल देश में तो सख्या का भी एक बड़ा प्रश्न है। सरकार की हजार शक्ति हो, फिर भी वह इस महादेश के इतने लोगों के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अलावा, जो शक्ति उपलब्ध भी है वह तमाम लोगों तक पहुँचायी कैसे जाय? इसलिए यह निश्चित है कि सामुदायिक विकास के वर्तमान *कार्यक्रम हमें एक ऐसी स्थिति तक ही* पहुँचायेंगे, जहाँ फिर किसी विकास की बात सम्भव नहीं हो सकेगी। उन्हीं बातों पर बार-बार जोर देने से लाभ ही क्या, जब हमें पहले से ही यह मालूम हो कि हमारी तमाम उछल-कूद का अन्तिम परिणाम असफलता ही होने वाला है, इसलिए आज की तात्कालिक आवश्यकता केवल विकास ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सामाजिक उलटफेर और परिवर्तन है।

★

पुस्तक-समीक्षा

नाम पुस्तक : दिवास्वप्न
प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा

लेखक : स्व० गिजु भाई

प्रकाशक व अनुवादक : श्री काशिनाथ त्रिवेदी
ग्राम भारती आश्रम, टवलाई घाट (म० प्र०)

"यद्यपि लगभग ३० वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा शिक्षा' दोनों आज भी उतनी ही ताजी, उतनी ही प्रेरक और मार्गदर्शक हैं, जितनी ३०–३५ साल पहले थीं। प्राथमिक पाठशालाओं की पढ़ाई में जो भारी दोष आ घुसे हैं, उनकी ओर इशारा करके उसके रूप स्वरूप को बदलने की अत्यन्त मूलगामी, मूल्यवान और व्यावहारिक सूचनाएँ इन दोनों मौलिक पुस्तकों में भरी पड़ी हैं।"

स्व० आचार्य गिजु भाई की इन दो पुस्तकों का अनुवाद श्री काशिनाथ त्रिवेदी ने किया है। शायद ही कोई हो, जो गिजु भाई की इन दो पुस्तकों को पढ़े और अनुवादक के इस दावे से सहमत न हो। ३० ३५ साल पहले गिजु भाई ने प्रयोग किये वे आज भी हमारे लिए नये हैं। क्यों नये हैं? इसलिए कि हमारी शिक्षा इन वर्षों में जहाँ थी वहीं रह गयी। अगर हम ने और प्रयोग किये होते तथा लोकतन्त्र और विज्ञान की भूमिका में शिक्षा का दर्शन और पद्धति विकसित की होती तो हम कह सकते थे कि गिजु भाई के प्रयोग पुराने पड़ गये और हम आगे बढ़ गये, लेकिन बात ऐसी हुई नहीं। यह बात नहीं है कि सभ्य संसार में बाल शिक्षण के क्षेत्र में नया विचार नहीं हुआ या कोई नया अनुभव हाथ नहीं आया, लेकिन अपने देश में बाल शिक्षा सामान्यतः आज भी बच्चों के लिए यातना और हमारे स्कूल यातना-गृह जैसे हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि हमारे विद्यालयों में विद्या का क्षय अधिक होता है। 'दिवास्वप्न' को पढ़ कर विश्वास हो जाता है कि अभ्यासक्रम कुछ भी हो, साधन भले ही अपूर्ण हों लेकिन शिक्षा के शासक में सहानुभूति हो और शिक्षक में कला और हृदय हो तो हमारी शालाओं में नया जीवन पैदा किया जा सकता है। लेकिन, ये दोनों शर्तें कितनी कठिन हैं! प्रगतिशील शासक और निष्ठावान शिक्षक ये दोनों वस्तुएँ शिक्षा जगत में दुर्लभ होती जा रही हैं। शिक्षा के मौलिक, प्रयोग, ऐसा लगता है, शासन-मुक्त शिक्षा में ही सम्भव है।

ये दोनों पुस्तकें हर बाल शिक्षक और बाल शिक्षा प्रेमी को पढ़नी चाहिए। इन्हें पढ़ने से यह मालूम होगा कि बाल शिक्षा में बच्चों की बुद्धि को जगाना और उनके हृदय को जीतना, एक ही प्रक्रिया है और यही बाल शिक्षण की मुख्य समस्या भी है।

इन पुस्तकों में गिजु भाई के विलक्षण व्यक्तित्व की स्पष्ट झाँकी है। ऐसी पुस्तकें उपलब्ध कराने के लिए अनुवादक और प्रकाशक दोनों शिक्षाजगत के धन्यवाद के पात्र हैं।

–एक समालोचक

★

आज की माँग और शिक्षा

१

देश की उन्नति में वैज्ञानिकों और टेकनीशियनों का अत्यधिक आवश्यक्ता मानी जाती है; लेकिन ३१ मार्च १९६१ में देश के छात्रों की संख्या निम्न प्रकार रही है—

स्तर	विज्ञानके छात्र,	कला के छात्र,	कामर्स के छात्र
प्री यूनिवर्षिटी	९१.६३६	१.४१.५२७	२३.७८७
इण्टर मीडिएट	२६.८८६	२.११ ५४५	
बेचिलर स्टेज	१.३०.६६५	१ ९१.८७९	५१.८७८
पोस्ट ग्रेज्युएट	१२.०६२	३४.७६०	५.३८१

२

भारत के शहर और उनकी आबादी

सन्	कुल शहर	कुल आबादी
१९०१ में	१.९१०	२ करोड़ ६० लाख
१६२१ में	२ ०५०	२ करोड़ ८० लाख
१९४१ में	२ ४२७	४ करोड़ ५० लाख
१९६१ में	२.६९०	७ करोड़ ९० लाख

शहरों की वृद्धि का यह अनुपात भारतीय जन-मानस का सामान्य परिचय करा देता है; लेकिन क्या देश के सही विकास का यह लक्षण है ?

३

विश्व में बोली जाने वाली भाषाएं

१. मदारियन (चीन)	४५ ७० करोड़
२. अंग्रेजी	२८. १० करोड़
३. हिन्दी	१८ ८० करोड़
४. रूसी	१५. २० करोड़
५ बंगला	९ ०० करोड़
६. मलयालम्	६. ९० करोड़
■ उर्दू	५ ७० करोड़
८. तेलुगु	३ ९० करोड़
९. तामिल	३. ६० करोड़

बहु संख्यक लोगों से बोली जानेवाली भाषाओं में हिन्दी का स्थान तीसरा है, जब कि कुछ निहित स्वार्थी उसे भारत की राज्य भाषा भी बनाने के विरोधी हैं।

४

भारत में साक्षरता--प्रति हजार

१. केरल	४६८	२. मद्रास	३१३
३. गुजरात	३०५	४. बंगाल	२९२
५. महाराष्ट्र	२९२	६. उत्कल	२७७
७. असम	२७४	८. मैसूर	२५४
९. पंजाब	२४२	१०. आन्ध्र	२१२
११. बिहार	१८४	१२. उत्तर प्रदेश	१७६
१३. मध्य प्रदेश	१७१	१४. राजस्थान	१५२
१५. कश्मीर	११०		

यह साक्षरता की प्रशस्ति है या साक्षरों के लिए चुनौती ?

★

नयी तालीम

११ वें वर्ष की लेख-सूची

· विषयवार :

१ कार्यकर्त्ता की डायरी

२ कार्रवाई तथा प्रस्ताव

३ ग्राम-रचना

४ ग्रामभारती

१३ भाषा

१४ रचनात्मक कार्य

१५ लघु कथा

१६ लोकतंत्र

१७ शांति-सेना

१८ शिक्षा के अनुभव

१९ शिक्षा दर्शन

नयी तालीम

११ वें वर्ष की लेख-सूची

लेखकवार

★

लाइसेन्स नं० ४६
पहले से डाक व्यय दिये बिना भेजने की अनुमति प्राप्त
जुलाई १९६३ नयी तालीम रजि० सं० ए १७२३

'तब दिल एक था, अब दिल दो हैं'

'क्यो, भाई, तब खुश थे या अब खुश हो ? यह सवाल मैंने उदयपुर के एक तांगे वाले से किया। पहिले राणा का राज था, अब जनता का राज है, इसलिए मेरे मन मे पहिले से था कि तांगवाले को क्या जवाब देना चाहिए।

''बाबूजी, तांगा तब भी चलाता था, अब भी चलाता हूँ। मेहनतवाले के लिए क्या तब और क्या अब ?'

यह जवाब मुझे अच्छा नही लगा। मैंने सोचा, मनहूस के लिए भी क्या तब और क्या अब ? इसी बीच वह फिर बोला—'लेकिन एक बात हुई है।'

'वह क्या ?' मैंने उत्सुकता के साथ पूछा।

'वह यह कि तब इस शहर मे दिल एक था, अब दिल दो है। हिन्दू हिन्दू है, मुसल्मान, मुसल्मान।

इसके बाद पूछने को कुछ रह नहीं गया।

—राममूर्ति

श्रीकृष्णदत्त भट्ट, अ० भा० सर्व सेवा संघ, की ओर से शिव प्रेस, प्रह्लादघाट, वाराणसी में मुद्रित तथा प्रकाशित कवर मुद्रक—खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर, वाराणसी।
गत मास छपी प्रतियाँ १५०० इस मास छपी प्रतियाँ २०००